

# जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(प्रथम भाग)

तीर्थंकर खण्ड



आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज

## कुछ नये तथ्य : कुछ विशेषताएँ :

- ✦ भगवान् ऋषभ से भ. महावीर तक के युग का गवेषणापूर्णचित्रण ।
- ✦ मानव सभ्यता के आद्य-प्रवर्तक के रूपमें भगवान् ऋषभ का रोचकविवेचन ।
- ✦ भगवान् अरिष्टनेमि और उनके युग के सम्बन्धमें नवीनस्वोजपूर्णतथ्य ।
- ✦ भगवान् पार्श्वनाथ के पुरुषादानीय स्वरूप और तत्कालीन इतर धार्मिक परम्पराओंका विशिष्टपरिचय ।
- ✦ भगवान् महावीर के जीवन, साधना, प्रभाव और सम्बद्ध युग का व्यापक तथा गौशालक के जीवन और महावीर व बुद्ध के काल-निर्णय के सम्बन्ध में नवीनतम प्रामाणितदिग्दर्शन ।



जैन धर्म  
का  
मौलिक  
इतिहास  
(प्रथम भाग)





# जैन धर्म का मौलिक इतिहास

प्रथम भाग  
(तीर्थंकर खण्ड)

लेखक एवं निदेशक :  
आचार्यश्री हस्तीमलजी महाराज

सम्पादक-मण्डल :  
श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री, पं. रत्न मुनिश्री लक्ष्मीचन्दजी म.,  
पं. शशिकान्त झा, डॉ. नरेन्द्र भानावत,  
गजसिंह राठौड़, जैन न्यायतीर्थ

प्रकाशक :

जैन इतिहास समिति  
लाल भवन, चौड़ा रास्ता,  
जयपुर-302 004 (राज.)

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल  
बापू बाजार, जयपुर (राज.)  
फोन : 565997

प्रकाशक :

**1. जैन इतिहास समिति**

लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-3 (राज.)

**2. सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल**

बापू बाजार, जयपुर (राज.)

फोन : 565997



सर्वाधिकार सुरक्षित



प्रथम संस्करण : 1971

द्वितीय संस्करण : 1981

तृतीय संस्करण : 1988

चतुर्थ संस्करण : 1999



मूल्य : रु. 500/- मात्र



मुद्रक :

दी डायमण्ड प्रिन्टिंग प्रेस

मोतीसिंह भोमियो का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर

फोन : 562929, 564771

## विषय सूची

प्रकाशकीय	....	....	
सम्पादकीय	....	....	
कालखण्ड और कुलकर :	....	....	१
पूर्वकालीन स्थिति और कुलकर काल	....	....	३
कुलकर : एक विश्लेषण	....	....	५
भगवान् ऋषभदेव :			
तीर्थंकर पद प्राप्ति के साधन	....	....	६
भगवान् ऋषभदेव के पूर्वभव और साधना	....	....	१०
जन्म	....	....	१३
भगवान् ऋषभ का जन्मकाल	....	....	१४
जन्माभिषेक और जन्म-महोत्सव	....	....	१४
प्रथम जिनेश्वर का नामकरण	....	....	१६
बालक ऋषभ का आहार	....	....	२१
शिशु-लीला व योगलिक की प्रकाल मृत्यु	....	....	२२
वंश और गोत्र-स्थापना	....	....	२३
तीर्थेशो जगतां गुरुः	....	....	२४
भगवान् ऋषभदेव का विवाह	....	....	२४
भोगभूमि और कर्मभूमि का सन्धिकाल	....	....	२५
पन्द्रहवें कुलकर के रूप में	....	....	२६
भगवान् ऋषभदेव की सन्तति	....	....	२८
सन्तति को प्रशिक्षण	....	....	३०
प्रभु ऋषभ का राज्याभिषेक	....	....	३१
सम्राज्य का निर्माण	....	....	३५
प्रजा की प्रशिक्षण	....	....	३६
ग्रामों, नगरों आदि का निर्माण	....	....	३७
लोकस्थिति, कलाज्ञान एवं लोक-कल्याण	....	....	३८
बहतर कलाएँ	....	....	३८
भगवान् ऋषभदेव द्वारा वर्णा-व्यवस्था का प्रारम्भ	....	....	४२
आदिराजा आदिनाथ का अनुपम राज्य	....	....	४३
ऋषभकालीन भारत और भारतवासियों की गरिमा	....	....	४३
ऋषभकालीन विशाल भारत	....	....	४४

प्रव्रज्या का संकल्प और वर्षादान	....	....	४५
अभिनिष्क्रमण-श्रमणदीक्षा	....	....	४५
विद्याधरों की उत्पत्ति	....	....	४६
विहार चर्या	....	....	४७
भगवान् का प्रथम पारणा	....	....	४७
केवलज्ञान की प्राप्ति	....	....	६०
तीर्थंकरों की विशेषता	....	....	६१
तीर्थंकरों के चौतीस अतिशय	....	....	६१
श्वेताम्बर व दिगम्बर परम्पराओं का तुलनात्मक विवेचन	....	....	६५
तीर्थंकर की वाणी के ३५ गुण	....	....	६६
भरत का विवेक	....	....	६७
आदिप्रभु का समवसरण	....	....	६८
भगवद् दर्शन से मरुदेवी की मुक्ति	....	....	७१
देशना और तीर्थ-स्थापना	....	....	७२
<b>प्रथम चक्रवर्ती भरत :</b>			
संवर्द्धन और शिक्षा	....	....	७६
<b>भरत चक्रवर्ती :</b>			
भरत की अनामक्ति	....	....	११२
भरत का स्वरूप-दर्शन	....	....	११४
परिव्राजक मत का प्रारम्भ	....	....	११५
ब्राह्मी और सुन्दरी	....	....	११७
पुत्रों को प्रतिबोध	....	....	१२०
अहिंसात्मक युद्ध	....	....	१२१
भरत-बाहुवली युद्ध पर शास्त्रीय दृष्टि	....	....	१२३
बाहुवली का घोर तप और केवलज्ञान	....	....	१२३
भरत द्वारा ब्राह्मण वर्ण की स्थापना	....	....	२४
भगवान् ऋषभदेव का धर्मपरिवार	....	....	१२७
भ. ऋषभदेव के कल्याणक	....	....	१२६
प्रभु ऋषभदेव का अप्रतिहत विहार	....	....	१२६
आश्चर्य, निर्वाण महोत्सव	....	....	१३०
जनेतर साहित्य में ऋषभदेव	....	....	१३२
भगवान् ऋषभदेव और भरत का जनेतर पुराणादि में उल्लेख	....	....	१३६
भगवान् ऋषभदेव और ब्रह्मा	....	....	१३८
सार्वभौम आदि नायक के रूप में लोकव्यापी कीर्ति	....	....	१३६



**भगवान् श्री अजितनाथ :**

पूर्वभव	....	....	१४२
तीर्थंकर नाम, गोत्र, कर्म का उपाजन	....	....	१४७
माता-पिता, च्यवन और गर्भ में आगमन	....	....	१४७
दूसरे चक्रवर्ती का गर्भ में आगमन, जन्म	....	....	१४८
नामकरण	....	....	१४९
प्रभु अजित का राज्याभिषेक	....	....	१५२
पिता की प्रब्रज्या, केवलज्ञान और मोक्ष	....	....	१५२
महाराजा अजित का आदर्श शासन	....	....	१५२
धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन के लिये लोकान्तिक देवों द्वारा प्रार्थना	....	....	१५३
वर्षोदान	....	....	१५४
दीक्षा, छद्मस्थ काल	....	....	१५५
शालिग्राम निवासियों का उद्धार	....	....	१५७
धर्म परिवार	....	....	१६२
परिनिर्वाण	....	....	१६३
चक्रवर्ती सगर	....	....	१६५

**भगवान् श्री संभवनाथ :**

पूर्वभव, जन्म	....	....	१६८
नामकरण, विवाह और राज्य, दीक्षा	....	....	१६९
विहार और पारणा, केवलज्ञान, धर्मपरिवार	....	....	१७०
परिनिर्वाण	....	....	१७१

**भगवान् श्री अमितन्दन :**

पूर्वभव, जन्म, नामकरण, विवाह और राज्य	....	....	१७२
दीक्षा और पारणा	....	....	१७३
केवलज्ञान	....	....	१७३
धर्मपरिवार, परिनिर्वाण	....	....	१७४

**भगवान् श्री सुमतिनाथ :**

भ० सुमतिनाथ का पूर्वभव	....	....	१७५
लोक का स्वरूप, अधोलोक	....	....	१८२
मध्यलोक	....	....	१८४
ऊर्ध्वलोक	....	....	१८६
जन्म, नामकरण	....	....	१९३
विवाह और राज्य	....	....	१९४
दीक्षा और पारणा	....	....	१९५
केवलज्ञान व देशना	....	....	१९५

धर्मपरिवार	....	....	१६५
परिनिर्वाण	....	....	१६५
<b>भगवान् श्री पद्मप्रभ :</b>			
पूर्वभ्रव, जन्म, नामकरण	....	....	१६६
विवाह और राज्य	....	....	१६७
दीक्षा और पारणा	....	....	१६७
केवलज्ञान	....	....	१६७
धर्मपरिवार	....	....	१६७
परिनिर्वाण	....	....	१६८
<b>भगवान् श्री सुपाश्वनाथ :</b>			
पूर्वभ्रव, जन्म, नामकरण, विवाह और राज्य,			
दीक्षा और पारणा	....	....	१६६
केवलज्ञान, धर्मपरिवार	....	....	२००
परिनिर्वाण	....	....	२०१
<b>भगवान् श्री चन्द्रप्रभ स्वामी :</b>			
पूर्वभ्रव, जन्म, नामकरण	....	....	२०२
विवाह और राज्य, दीक्षा और पारणा, केवलज्ञान,			
धर्मपरिवार	....	....	२०३
परिनिर्वाण	....	....	२०४
<b>भगवान् श्री सुविधिनाथ :</b>			
पूर्वभ्रव, जन्म, नामकरण	....	....	२०५
विवाह और राज्य, दीक्षा और पारणा,			
केवलज्ञान, धर्मपरिवार	....	....	२०६
परिनिर्वाण	....	....	२०७
<b>भगवान् श्री शीतलनाथ :</b>			
पूर्वभ्रव, जन्म, नामकरण	....	....	२०८
विवाह और राज्य, दीक्षा और प्रथम पारणा,			
केवलज्ञान, धर्मपरिवार	....	....	२०६
परिनिर्वाण	....	....	२१०
<b>भगवान् श्री श्रेयांसनाथ :</b>			
पूर्वभ्रव, जन्म, नामकरण, विवाह और राज्य	....	....	२११
दीक्षा और पारणा	....	....	२१२
केवलज्ञान	....	....	२१२
राज्य-शासन पर श्रेयांस का प्रभाव	....	....	२१२
धर्मपरिवार	....	....	२१५
परिनिर्वाण	....	....	२१६

**भगवान् श्री कामुपुण्ड्र :**

पूर्वभव, जन्म, नामकरण, विवाह और राज्य	....	२१७
दीक्षा और पारणा	....	२१८
केवलज्ञान, धर्मपरिवार	....	२१९
राज्यशासन पर धर्म प्रभाव	....	२१९
परिनिर्वाण	....	२२०

**भगवान् श्री विमलनाथ :**

पूर्वभव, जन्म, नामकरण	....	२२१
विवाह और राज्य, दीक्षा और पारणा,	....	....
केवलज्ञान, धर्मपरिवार	....	२२२
राज्य शासन पर धर्म-प्रभाव, परिनिर्वाण	....	२२३

**भगवान् श्री अनन्तनाथ :**

पूर्वभव, जन्म, नामकरण	....	२२४
विवाह और राज्य, दीक्षा और पारणा,	....	....
केवलज्ञान, धर्मपरिवार	....	२२५
राज्य शासन पर धर्म प्रभाव, परिनिर्वाण	....	२२६

**भगवान् श्री धर्मनाथ :**

पूर्वभव, जन्म, नामकरण	....	२२७
विवाह और राज्य, दीक्षा और पारणा, केवलज्ञान	....	२२८
भगवान् धर्मनाथ के शासन के तेजस्वी रत्न	....	२२९
धर्मपरिवार व परिनिर्वाण	....	२३३
चक्रवर्ती मघवा	....	२३४

**भगवान् श्री शान्तिनाथ :**

पूर्वभव	....	२३६
जन्म, नामकरण, विवाह और राज्य	....	२३९
दीक्षा और पारणा, केवलज्ञान	....	२४०
धर्मपरिवार, परिनिर्वाण	....	२४१

**भगवान् श्री कुंथुनाथ :**

पूर्वभव, जन्म, नामकरण, विवाह और राज्य	....	२४२
दीक्षा और पारणा, केवलज्ञान, धर्मपरिवार	....	२४३
परिनिर्वाण	....	२४४

**भगवान् श्री अरनाथ :**

पूर्वभव, जन्म, नामकरण	....	२४५
विवाह और राज्य, दीक्षा और पारणा, केवलज्ञान	....	२४६

धर्मपरिवार, परिनिर्वाण	....	....	२४७
<b>भगवान् श्री मल्लिनाथ :</b>			
पूर्वभव	....	....	२४६
महाबल का जीवन वृत्त	....	....	२४१
अचल आदि ६ मित्रों का जयन्त विमान से च्यवन	....	....	२४५
भगवान् मल्लिनाथ का गर्भ में आगमन	....	....	२४५
अलौकिक सौन्दर्य की ख्याति, कौशलाधीश- प्रतिबुद्धि का अनुराग	....	....	२६१
अरहन्नक द्वारा दिव्य कुण्डल-युगल की भेंट	....	....	२६२
कुशालाधिपति रूपी का अनुराग	....	....	२६६
काशो जनपद के महाराजा शंख का अनुराग	....	....	२६६
कुरुराज अदीनशशु का अनुराग	....	....	२७०
पांचाल नरेश जितशशु का अनुराग	....	....	२७१
युद्ध और पराजय	....	....	२७६
जितशशु आदि को प्रतिबोध	....	....	२७७
छहों राजाओं को जाति स्मरण	....	....	२८०
भगवती मल्ली द्वारा वर्षादान	....	....	२८२
अभिनिष्क्रमण एवं दीक्षा	....	....	२८४
केवलज्ञान	....	....	२८५
प्रथम देशना एवं तीर्थ-स्थापना	....	....	२८६
धर्म-परिवार	....	....	२८७
परिनिर्वाण	....	....	२८८
सुभूम चक्रवर्ती	....	....	२९०
<b>भगवान् श्री मुनिसुवत :</b>			
पूर्वभव, जन्म, नामकरण, विवाह और राज्य	....	....	२९८
दीक्षा और पारणा, केवलज्ञान, धर्म-परिवार	....	....	२९९
परिनिर्वाण	....	....	३००
चक्रवर्ती महापद्य	....	....	३०१
<b>भगवान् नमिनाथ :</b>			
पूर्वभव, जन्म, नामकरण	....	....	३०७
विवाह और राज्य, दीक्षा और पारणा	....	....	३०८
केवलज्ञान, धर्मपरिवार	....	....	३०८
परिनिर्वाण	....	....	३०९
चक्रवर्ती हरिषेण	....	....	३१०
चक्रवर्ती जयसेन	....	....	३१०



## भगवान् श्री अरिष्टनेमि :

पूर्वभव	....	....	३१३
जन्म	....	....	३१४
शारीरिक स्थिति और नामकरण	....	....	३१५
हरिवंश की उत्पत्ति	....	....	३१५
हरिवंश की परम्परा	....	....	३१७
उपरिचर वसु	....	....	३१८
महाभारत में उपरिचर वसु का उपाख्यान	....	....	३२४
वसु का हिंसा-रहित यज्ञ	....	....	३२५
"अज्ञैर्यष्टव्यम्" को लेकर विवाद	....	....	३२७
वसु द्वारा हिंसापूर्ण यज्ञ का समर्थन व रसातल-प्रवेश	....	....	३२८
भगवान् नेमिनाथ का पैतृक कुल	....	....	३३०
वसुदेव का पूर्वभव और बाल्यकाल	....	....	३३०
वसुदेव की सेवा में कंस	....	....	३३१
वसुदेव का युद्ध-कौशल	....	....	३३२
कंस का जीवयशा से विवाह	....	....	३३२
वसुदेव का सम्मोहक व्यक्तित्व	....	....	३३३
वसुदेव-देवकी-विवाह और कंस को वचन-दान	....	....	३४०
कंस के वध से जरासन्ध का प्रकोप	....	....	३४३
कालकुमार द्वारा यादवों का पीछा और अग्नि-प्रवेश	....	....	३४३
द्वारिका नगरी का निर्माण	....	....	३४५
द्वारिका की स्थिति	....	....	३४५
बालक अरिष्टनेमि की अलौकिक बाल लीलाएँ	....	....	३४६
जरासन्ध के दूत का यादव-सभा में आगमन	....	....	३४७
उस समय की राजनीति	....	....	३४८
दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ	....	....	३५०
अमात्य हंस की जरासन्ध को सलाह	....	....	३५२
दोनों सेनाओं की व्यवह-रचना	....	....	३५३
अरिष्टनेमि का शौर्य-प्रदर्शन और कृष्ण द्वारा जरासन्ध-वध	....	....	३५८
अरिष्टनेमि का अलौकिक बल	....	....	३६२
रुक्मिणी आदि का नेमिकुमार के साथ वसन्तोत्सव	....	....	३६६
रानियों द्वारा नेमिनाथ को भोगमार्ग की-			
ओर मोड़ने का यत्न	....	....	३६७
निष्क्रमणोत्सव एवं दीक्षा	....	....	३७६
पारणा	....	....	३७८
रथनेमि का राजीमती के प्रति मोह	....	....	३७८

केवलज्ञान	....	....	३८०
समवसरण और प्रथम देशना	....	....	३८०
तीर्थ-स्थापना	....	....	३८१
राजीमती की प्रव्रज्या	....	....	३८२
रथनेमि का आकर्षण	....	....	३८३
अरिष्टनेमि द्वारा अद्भुत रहस्य का उद्घाटन	....	....	३८४
क्षमार्थी महामुनि गज सुकुमाल	....	....	३८३
गज सुकुमाल के लिए कृष्ण की जिज्ञासा	....	....	३८७
नेमिनाथ के मुनिसंघ में सर्वोत्कृष्ट मुनि	....	....	३८८
भगवान् अरिष्टनेमि के समय का महान् आश्चर्य	....	....	४०१
द्वारिका का भविष्य	....	....	४०७
द्वारिका के रक्षार्थं मद्य-निषेध	....	....	४०८
श्री कृष्ण द्वारा रक्षा के उपाय	....	....	४१०
श्री कृष्ण की चिन्ता और प्रभु द्वारा आश्वासन	....	....	४१०
द्वैपायन द्वारा द्वारिका-दाह	....	....	४१२
बलदेव की विरक्ति और कठोर संयम-साधना	....	....	४१४
महामुनि धावच्छापुर	....	....	४१६
अरिष्टनेमि का द्वारिका-विहार और भव्यों का उद्धार	....	....	४२५
पाण्डवों का वैराग्य और मुक्ति	....	....	४२६
धर्म-परिवार	....	....	४२७
परिनिर्वाण	....	....	४२८
ऐतिहासिक परिपाश्वं	....	....	४२८
वैदिक साहित्य में अरिष्टनेमि और उनका वंश-वर्णन	....	....	४३१
वंशवृक्ष-जैन परम्परा	....	....	४३४
वंशवृक्ष-वैदिक परम्परा	....	....	४३५
यादव वंशवृक्ष, हर्यश्व	....	....	४३५
अश्वत्थ चक्रवर्ती	....	....	४३८
प्राचीन इतिहास की एक भग्न कड़ी	....	....	४७०
<b>भगवान् श्री पार्श्वनाथ :</b>			
भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व धार्मिक स्थिति	....	....	४७६
पूर्वभ्रम की साधना	....	....	४७७
विविध ग्रन्थों में पूर्वभ्रम	....	....	४८०
जन्म और माता-पिता	....	....	४८१
वंश एवं कुल, नामकरण	....	....	४८२
बाल-लीला	....	....	४८३
पार्श्व की वीरता और विवाह	....	....	४८३

भगवान् पार्श्व के विवाह के विषय में	....	....	४८६
आचार्यों का मतभेद	....	....	४८७
नाग का उद्धार	....	....	४८६
वैराग्य और भुनि-दीक्षा	....	....	४९०
प्रथम पारणा	....	....	४९१
अभिग्रह	....	....	४९१
भगवान् पार्श्वनाथ की साधना और उपसर्ग	....	....	४९३
केवलज्ञान	....	....	४९३
देशना और संघ-स्थापना	....	....	४९४
पार्श्व के गणधर	....	....	४९५
पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म	....	....	४९५
विहार और धर्म-प्रचार	....	....	४९५
भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता	....	....	५०१
भगवान् पार्श्वनाथ का धर्म-परिवार	....	....	५०२
परिनिर्वाण	....	....	५०२
श्रमण-परम्परा और पार्श्व	....	....	५०३
भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक प्रभाव	....	....	५०५
बुद्ध पर पार्श्व-मत का प्रभाव	....	....	५०७
पार्श्व भक्त राजन्यवर्ग	....	....	५०७
भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य ज्योतिमण्डल में	....	....	५०६
श्रमणोपासक सोमिल	....	....	५१३
बहुपुत्रिका देवी के रूप में पार्श्वनाथ की आर्या	....	....	५१६
भगवान् पार्श्वनाथ की साध्वियाँ विशिष्ट	....	....	५२३
देवियों के रूप में	....	....	५२५
भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक और अमित प्रभाव	....	....	५२६
भगवान् पार्श्वनाथ की आचार्य-परम्परा	....	....	५२७
आर्य शुभदत्त	....	....	५२७
आर्य हरिदत्त	....	....	५२७
आर्य समुद्रसूरि	....	....	५२७
आर्य केशी श्रमण	....	....	५२७
<b>भगवान् श्री महावीर :</b>			
महावीरकालीन देश दशा	....	....	५३३
पूर्वभव की साधना	....	....	५४१
भगवान् महावीर के कल्याणक	....	....	५४१
च्यवन और गर्भ में आगमन	....	....	५४३
इन्द्र का अवधिज्ञान से देखना	....	....	५४३

इन्द्र की चिन्ता और हरिराँगमेषी का आदेश	....	५४३
हरिराँगमेषी द्वारा गर्भापहार	....	५४४
गर्भापहार-विधि	....	५४४
गर्भापहार असंभव नहीं, आश्चर्य है	....	५४५
वैज्ञानिक दृष्टि से गर्भापहार	....	५४८
त्रिशला के यहाँ	....	५४९
महावीर का गर्भ में अभिग्रह	....	५५०
जन्म-महिमा	....	५५१
जन्मस्थान	....	५५६
महावीर के माता-पिता	....	५५८
नामकरण	....	५६०
संगोपन और बालक्रीड़ा	....	५६१
तीर्थंकर का अतुल बल	....	५६३
महावीर और कलाचार्य	....	५६४
यशोदा से विवाह	....	५६४
माता-पिता का स्वर्गवास	....	५६६
त्याग की ओर	....	५६७
दीक्षा	....	५६९
महावीर का अभिग्रह और विहार	....	५७०
प्रथम उपसर्ग और प्रथम प्रारणा	....	५७०
भगवान् महावीर की साधना	....	५७२
साधना का प्रथम वर्ष	....	५७३
अस्थिग्राम में यक्ष का उपद्रव	....	५७५
निद्रा और स्वप्नदर्शन	....	५७७
निमित्तज्ञ द्वारा स्वप्न-फल कथन	....	५७८
साधना का दूसरा वर्ष	....	५७९
चण्डकोशिक को प्रतिबोध	....	५८०
विहार और नौकारोहण	....	५८४
पुण्य निमित्तज्ञ का समाधान	....	५८४
गोशालक का प्रभु-सेवा में आगमन	....	५८५
साधना का तीसरा वर्ष	....	५८६
नियतिवाद	....	५८७
साधना का चतुर्थ वर्ष	....	५८७
गोशालक का शाप-प्रदान	....	५८८
साधना का पंचम वर्ष	....	५९०
अनार्य क्षेत्र के उपसर्ग	....	५९२



साधना का छठा वर्ष	....	....	५६३
व्यंतरी का उपद्रव और विशिष्टावधि लाभ	....	....	५६४
साधना का सप्तम वर्ष	....	....	५६५
साधना का अष्टम वर्ष	....	....	५६५
साधना का नवम वर्ष	....	....	५६६
साधना का दशम वर्ष	....	....	५६६
साधना का ग्यारहवाँ वर्ष	....	....	५६६
संगम देव के उपसर्ग	....	....	५६६
जीर्ण सेठ की भावना	....	....	६०४
साधना का बारहवाँ वर्ष : चमरेन्द्र द्वारा शरण-ग्रहण	....	....	६०४
कठोर अभिग्रह	....	....	६०६
उपासिका नन्दा की चिन्ता	....	....	६०६
जनपद में विहार	....	....	६०७
स्वातिदत्त के तात्त्विक प्रश्न	....	....	६०८
श्राले द्वारा कानों में कील ठोकना	....	....	६०८
उपसर्ग और सहिष्णुता	....	....	६०९
छद्मस्थकालीन तप	....	....	६०९
महावीर की उपमा	....	....	६१०
केवलज्ञान	....	....	६११
प्रथम देशना	....	....	६११
मध्यमा पावा में समवसरण	....	....	६१२
इन्द्रभूति का आगमन	....	....	६१३
इन्द्रभूति का शंका-समाधान	....	....	६१३
दिगम्बर परम्परा की मान्यता	....	....	६१४
तीर्थ-स्थापना	....	....	६१६
महावीर की भाषा	....	....	६१६
केवलीचर्या का प्रथम वर्ष	....	....	६१७
नन्दिषेण की दीक्षा	....	....	६१८
केवलीचर्या का द्वितीय वर्ष	....	....	६१९
ऋषभदत्त और देवानन्दा को प्रतिबोध	....	....	६१९
राजकुमार जमालि की दीक्षा	....	....	६१९
केवलीचर्या का तृतीय वर्ष	....	....	६२०
जयन्ती के धार्मिक प्रश्न	....	....	६२०
भगवान् का विहार और उपकार	....	....	६२२
केवलीचर्या का चतुर्थ वर्ष	....	....	६२२
शालिभद्र का वैराग्य	....	....	६२२

केवलीचर्या का पंचम वर्ष	....	....	६२३
संकटकाल में भी कल्परक्षार्थ कल्पनीय तक का परित्याग	....	....	६२३
केवलीचर्या का छठा वर्ष	....	....	६२४
पुद्गल परिव्राजक का बोध	....	....	६२४
केवलीचर्या का सातवाँ वर्ष	....	....	६२५
केवलीचर्या का आठवाँ वर्ष	....	....	६२६
केवलीचर्या का नवम वर्ष	....	....	६२७
केवलीचर्या का दशम वर्ष	....	....	६२८
केवलीचर्या का ग्यारहवाँ वर्ष	....	....	६३०
स्कंदक के प्रश्नोत्तर	....	....	६३०
केवलीचर्या का बारहवाँ वर्ष	....	....	६३२
केवलीचर्या का तेरहवाँ वर्ष	....	....	६३२
केवलीचर्या का चौदहवाँ वर्ष	....	....	६३३
काली आदि रानियों को बोध	....	....	६३३
केवलीचर्या का पन्द्रहवाँ वर्ष	....	....	६३४
गोशालक का आनन्द मुनि को भयभीत करना	....	....	६३४
आनन्द मुनि का भगवान् से समाधान	....	....	६३६
गोशालक का आगमन	....	....	६३६
सर्वानुभूति के वचन से गोशालक का रोष	....	....	६३८
गोशालक की अन्तिम चर्या	....	....	६३९
झंका समाधान	....	....	६४१
भगवान् का विहार	....	....	६४२
भगवान् की रोगमुक्ति	....	....	६४३
कुतर्कपूर्ण भ्रम	....	....	६४३
गौतम की जिज्ञासा का समाधान	....	....	६४९
केवलीचर्या का सोलहवाँ वर्ष	....	....	६४९
केशी-गौतम-मिलन	....	....	६५०
शिव राजर्षि	....	....	६५४
केवलीचर्या का सत्रहवाँ वर्ष	....	....	६५६
केवलीचर्या का अठारहवाँ वर्ष	....	....	६५७
दशाणुभद्र की प्रतिबोध	....	....	६५८
सोमिल के प्रश्नोत्तर	....	....	६५८
केवलीचर्या का उन्नीसवाँ वर्ष	....	....	६६०
अम्बड़ की चर्या	....	....	६६१
केवलीचर्या का बीसवाँ वर्ष	....	....	६६२

केवलीचर्या का इक्कीसवाँ वर्ष	....	....	६६३
केवलीचर्या का बाईसवाँ वर्ष	....	....	६६४
उदक पेढाल और गौतम	....	....	६६६
केवलीचर्या का तेईसवाँ वर्ष	....	....	६६८
गौतम और आनन्द श्रावक	....	....	६६८
केवलीचर्या का चौबीसवाँ वर्ष	....	....	६७०
केवलीचर्या का पच्चीसवाँ वर्ष	....	....	६७१
कालोदायी के प्रश्न	....	....	६७१
अचित्त पुद्गलों का प्रकाश	....	....	६७२
केवलीचर्या का छब्बीसवाँ वर्ष	....	....	६७३
केवलीचर्या का सत्ताईसवाँ वर्ष	....	....	६७३
केवलीचर्या का अट्ठाईसवाँ वर्ष	....	....	६७४
केवलीचर्या का उनत्तीसवाँ वर्ष	....	....	६७४
केवलीचर्या का तीसवाँ वर्ष	....	....	६७६
दुःषमा-दुःषम काल का वर्णन	....	....	६७६
कालचक्र का वर्णन	....	....	६७८
उत्सर्पिणीकाल	....	....	६८७
शक्र द्वारा आयुवृद्धि की प्रार्थना	....	....	६९०
परिनिर्वाण	....	....	६९१
देवादिकृत शरीर-क्रिया	....	....	६९३
भगवान् महावीर की आयु	....	....	६९४
भगवान् महावीर के चातुर्मास	....	....	६९४
भगवान् महावीर का धर्म-परिवार	....	....	६९४
गणेश्वर	....	....	६९५
इन्द्रभूति	....	....	६९६
अग्निभूति	....	....	६९६
वायुभूति	....	....	६९६
आर्य व्यक्त	....	....	६९६
सुषर्मा	....	....	६९७
मंडित	....	....	६९७
मौर्य पुत्र	....	....	६९७
अकम्पित	....	....	६९८
अचल भ्राता	....	....	६९८
मेतार्य	....	....	६९८
प्रभास	....	....	६९८
दिगम्बर परम्परा में गौतम आदि का परिचय	....	....	६९९

इन्द्रभूति	....	....	६६६
अग्निभूति	....	....	६६६
वायुभूति	....	....	६६६
एक बहुत बड़ा भ्रम	....	....	७००
भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या	....	....	७०२
धारिणी के मरण का कारण—वचन या बलात्	....	....	७०४
भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर का शासन-भेद	....	....	७०८
चारित्र्य	....	....	७०९
सप्रतिक्रमण धर्म	....	....	७१३
स्थित कल्प	....	....	७१४
भगवान् महावीर के निन्हव	....	....	७१४
जमालि	....	....	७१४
(निन्हव) तिष्यगुप्त	....	....	७१८
महावीर और गोशालक	....	....	७१९
गोशालक का नामकरण	....	....	७१९
जैनागमों की मौलिकता	....	....	७२५
गोशालक से महावीर का सम्पर्क	....	....	७२६
शिष्यत्व की ओर	....	....	७२७
विरुद्धाचरण	....	....	७२७
आजीवक नाम की सार्थकता	....	....	७२८
आजीवकचर्या	....	....	७२९
आजीवक मत का प्रवर्तक	....	....	७३०
जैन शास्त्र की प्रामाणिकता	....	....	७३१
आजीवक वेष	....	....	७३२
महावीर का प्रभाव	....	....	७३२
निर्ग्रन्थों के भेद	....	....	७३३
आजीवक का सिद्धान्त	....	....	७३३
दिगम्बर परम्परा में गोशालक	....	....	७३४
आजीवक और पामस्थ	....	....	७३५
महावीर कालीन धर्म परम्पराएं	....	....	७३६
क्रियावादी	....	....	७३७
अक्रियावादी	....	....	७३७
अज्ञानवादी	....	....	७३८
विनयवादी	....	....	७३८
बिम्बसार—श्रेणिक	....	....	७३९
श्रेणिक की धर्मनिष्ठा	....	....	७४०

राजा चेटक	....	....	७४२
अजातशत्रु कूणिक	....	....	७४३
कूणिक द्वारा वैशाली पर आक्रमण	....	....	७४६
महाशिला-कटक युद्ध	....	....	७५०
रथमूसल संग्राम	....	....	७५०
महाराजा उदायन	....	....	७५७
भ० महावीर के कुछ अविस्मरणीय संस्मरण	....	....	७६०
राजगृही के प्रांगण से अभयकुमार	....	....	७६२
ऐतिहासिक दृष्टि से निर्वाणकाल	....	....	७६५
भ० महावीर और बुद्ध के निर्वाण का	....	....	७७५
ऐतिहासिक विश्लेषण	....	....	७७५
निर्वाणस्थली	....	....	७८४
परिशिष्ट-१	....	....	७८७
परिशिष्ट २	....	....	८३६
परिशिष्ट ३	....	....	८४५
संदभ ग्रन्थों की सूची	....	....	८८४
शुद्धि-पत्र	....	....	८८६



## प्रकाशकीय

इतिहास वस्तुतः विश्व के धर्म, देश, संस्कृति, समाज अथवा जाति के प्राचीन से प्राचीनतम अतीत के परोक्ष स्वरूप को प्रत्यक्ष की भाँति देखने का दर्पण तुल्य एकमात्र वैज्ञानिक साधन है। किसी भी धर्म, संस्कृति, राष्ट्र, समाज एवं जाति के अभ्युदय, उत्थान, पतन, पुनरुत्थान, आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं अपकर्ष में निमित्त बनने वाले लोक-नायकों के जीवनवृत्त आदि के क्रमबद्ध शृंखलाबद्ध संकलन-आलेखन का नाम ही इतिहास है। अभ्युदय, उत्थान, पतन की पृष्ठभूमि का एवं उत्कर्ष तथा अपकर्ष की कारणभूत घटनाओं का निधान होने के कारण इतिहास मानवता के लिए, भावी पीढ़ियों के लिए दिव्य प्रकाश-स्तम्भ के समान दिशावबोधक-मार्गदर्शक माना गया है। भूतकाल में सुदीर्घ अतीत से लेकर अद्यावधि किस धर्म, संस्कृति, राष्ट्र, समाज, जाति अथवा व्यक्ति ने किस प्रशस्त पथ पर आरूढ़ हो उस पर निरन्तर प्रगति करते हुए उत्कर्ष के, परमोत्कर्ष के उच्चतम शिखर पर अपने आपको अधिष्ठित किया और किसने कब-कब किस-किस प्रकार की खलनाएँ कर, किस प्रकार कुपथ पर आरूढ़ हो धर्म, संस्कृति, राष्ट्र, समाज, जाति अथवा अपने आपका अधःपतन किया, रसातल की ओर प्रयाण किया— इतिहास में निहित इन तथ्यों से मार्गदर्शन प्राप्त कर प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज, प्रत्येक जाति, प्रत्येक राष्ट्र प्रगति के प्रशस्त पथ पर आरूढ़ हो अपने आपको, अपनी संस्कृति को और अपने धर्म को उन्नति के उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठापित कर समष्टि का कल्याण करने में सक्षम हो सकता है। यही कारण है कि मानव सभ्यता में इतिहास का आदि काल से अद्यावधि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। संक्षेप में कहा जाय तो इतिहास वस्तुतः अतीत के अवलोकन का चक्षु है।

जिस व्यक्ति को, अपनी संस्कृति, अपने धर्म, राष्ट्र, समाज अथवा जाति के इतिहास का ज्ञान नहीं, उसे यदि किसी सीमा तक चक्षुविहीन की संज्ञा दे दी जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिस प्रकार चक्षुविहीन व्यक्ति को पथ, सुपथ, कुपथ, विपथ का ज्ञान नहीं होने के कारण पग-पग पर स्थलनाओं एवं विपत्तियों का दुःख उठाना अथवा पराश्रित होकर रहना पड़ता है, उसी प्रकार अपने धर्म, समाज, संस्कृति और जाति के इतिहास से नितान्त अनभिज्ञ व्यक्ति भी न स्वयं उत्कर्ष के पथ पर आरूढ़ हो सकता है और न ही अपनी संस्कृति, अपने धर्म, समाज अथवा जाति को अभ्युत्थान की ओर अग्रसर करने में अपना योगदान कर सकता है।

इन सब तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी धर्म, समाज, संस्कृति अथवा जाति की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए प्रेरणा के प्रमुख स्रोत उसके सर्वांगीण शृंखलाबद्ध इतिहास का होना अनिवार्य रूप से परमावश्यक है।

जैनाचार्य प्रारम्भ से ही इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे। श्रुतशास्त्र-पारगामी उन महान् आचार्यों ने प्रथमानुयोग, गण्डिकानुयोग, नामावलि आदि ग्रन्थों में जैन धर्म के सर्वांगपूर्ण इतिहास को सुरक्षित रखा। उन ग्रन्थों में से यद्यपि आज एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। ये तीनों ही कालप्रभाव से विस्मृति के गहन गर्त में विलुप्त हो गये तथापि उन विलुप्त ग्रन्थों में जैन धर्म के इतिहास से सम्बन्धित किन्-किन् तथ्यों का प्रतिपादन किया गया था, इसका स्पष्ट उल्लेख समवायांग सूत्र, नन्दिसूत्र और पउमचरियं में अद्यावधि उपलब्ध है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी इस दिशा में समय-समय पर सजग रहते हुए निर्युक्तियों, चूर्णियों, चरित्रों, पुराणों, प्रबन्धकोषों, प्रकीर्णकों, कल्पों, स्थविरावलियों आदि की रचना कर प्राचीन जैन इतिहास की थाती को सुरक्षित रखने में अपनी ओर से किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी। उन इतिहास ग्रन्थों में प्रमुख हैं— पउम चरियं, कहावली, तित्थोगाली पड्नय, वसुदेव हिंडी, चउवन्न महापुरिस-चरियं, आवश्यक चूर्णि, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, परिशिष्ट पर्व, हरिवंश पुराण, महापुराण, आदि पुराण, महाकवि पुष्यदन्त का अपभ्रंश भाषा में महापुराण, हिमवन्त स्थविरावली, प्रभावक चरित्र, कल्पसूत्रीया स्थविरावली, नन्दीसूत्रीया स्थविरावली, दुस्समा समणसंघथयं आदि। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त खारवेल के हाथीगुम्फा के शिलालेख और विविध स्थानों से उपलब्ध सहस्रों शिलालेखों, ताम्रपत्रों आदि में जैन इतिहास के महत्त्वपूर्ण तथ्य यत्र-तत्र



सुरक्षित रखे अथवा बिखरे पड़े हैं। इन ग्रन्थों एवं शिलालेखों की भाषा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन कन्नड़, तमिल, तेलगु, मलयालम आदि प्राचीन प्रान्तीय भाषाएँ हैं, जो सर्वसाधारण की समझ से परे हैं। उपरिलिखित इतिहासग्रन्थों में अपने-अपने ढंग से तत्कालीन शैलियों में जिन ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख किया गया है, उन सबके समीचीन व क्षीर-नीर विवेकपूर्वक अध्ययन-चिन्तन मनन के पश्चात् उन सब में ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की सामग्री को कालक्रम एवं शृंखलाबद्ध रूप से चुन-चुन कर सार रूप में लिपिबद्ध करने पर तीर्थकरकालीन जैन धर्म का इतिहास तो सर्वांगपूर्ण एवं अतीव सुन्दर रूप में उभर कर सामने आता है किन्तु तीर्थकर काल से उत्तरवर्ती काल का, विशेषतः देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पश्चात् का लगभग ७ शताब्दियों तक का जैन धर्म का इतिहास ऐसा प्रच्छन्न, विशृंखल, अन्धकारपूर्ण, अज्ञात अथवा अस्पष्ट है कि उसको प्रकाश में लाने का साहस कोई विद्वान् नहीं कर सका। जिस किसी विद्वान् ने इस अवधि के तिमिराच्छन्न जैन इतिहास को प्रकाश में लाने का प्रयास किया, उसी ने पर्याप्त प्रयास के पश्चात् हतोत्साह हो यही लिख कर अथवा कह कर विश्राम लिया कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पश्चात् का पाँच-छह शताब्दी का जैन इतिहास नितान्त अन्धकारपूर्ण है, उसे प्रकाश में लाने के स्रोत वर्तमान काल में कहीं उपलब्ध नहीं हो रहे हैं।

इन्हीं सब कारणों के परिणामस्वरूप पिछले लम्बे समय से अनेक बार प्रयास किये जाने के उपरान्त भी वर्तमान दशक से पूर्व जैन धर्म का सर्वांगपूर्ण क्रमबद्ध इतिहास समाज को उपलब्ध नहीं कराया जा सका। जैनधर्म के सर्वांगीण क्रमबद्ध इतिहास का यह अभाव वस्तुतः बड़े लम्बे समय से चतुर्विध संघ के सभी विज्ञ सदस्यों के हृदय में खटकता आ रहा था। सन् १९३३ की ५ अप्रैल से २९ अप्रैल तक अजमेर में जब वृहद् साधु सम्मेलन हुआ तो उसमें भी बड़े-बड़े आचार्यों, सन्तों, साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं ने जैन धर्म के इतिहास के निर्माण की दिशा में प्रयास करने का निर्णय लिया। जैन कान्फ्रेंस ने भी अपने वार्षिक अधिवेशनों में इस कमी को पूरा करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव भी अनेक बार पारित किये किन्तु समुद्र मन्थन तुल्य नितान्त दुस्साध्य इस इतिहास-लेखन कार्य को हाथ में लेने का किसी ने साहस नहीं किया, क्योंकि इस महान् कार्य को अथ से इति तक सम्पन्न करने के लिए वर्षों तक भगीरथ तुल्य श्रम करने वाले, साधना करने वाले किसी भगीरथ की ही आवश्यकता थी। इस सब के परिणामस्वरूप इतिहास निर्माण की अनिवार्य आवश्यकता को एक स्वर से समाज द्वारा स्वीकार कर लिए जाने के उपरान्त भी प्रस्ताव पारित कर

लेने के अतिरिक्त इस दिशा में किसी प्रकार की प्रगति नहीं हो सकी।

अन्ततोगत्वा सन् १९६५ में यशस्विनी रत्नवंश श्रमण परम्परा के आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज ने समुद्र मन्थन तुल्य श्रमसाध्य, समयसाध्य, इतिहास-निर्माण के इस अतीव दुष्कर कार्य को दृढ़ संकल्प के साथ अपने हाथ में लिया। संवत् १९२२ (सन् १९६५) के बालोतरा चातुर्मासावास काल में संस्कृत, प्राकृत, आगम, आगमिक साहित्य और इतिहास के महामनीषी लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा. के उद्बोधनों एवं निर्देशन में न्यायमूर्ति श्री इन्द्रनाथ मोदी, उच्चकोटि के जैन विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, डॉ. नरेन्द्र भानावत आदि से परामर्श के साथ इतिहास समिति का निर्माण किया गया। इतिहास-समिति का अध्यक्ष न्यायमूर्ति श्री इन्द्रनाथ मोदी को, मंत्री श्री सोहनमलजी कोठारी को और कोषाध्यक्ष श्री पूनमचन्द्रजी बड़ेर को सर्वसम्मति से मनोनीत किया गया। इतिहास-निर्माण के इस कठिन कार्य में सक्रिय सहयोग देने के लिए इतिहास-समिति द्वारा अनेक विद्वान् सन्तों की सेवा में अनेक बार विनम्र प्रार्थनाएं की गईं।

बालोतरा चातुर्मासावास की अवधि के समाप्त होते ही आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा. ने स्वेच्छापूर्वक अपने हाथ में लिये गये इस गुरुतर कार्य को पूरा करने के दृढ़-संकल्प के साथ बालोतरा से गुजरात की ओर विहार किया। मरुस्थल एवं गुजरात प्रदेश में ग्रामानुग्राम अप्रतिहत विहार करते हुए आपने पाटन, सिद्धपुर, पालनपुर, कलोल, खेड़ा, खम्भात, लींबडी, बड़ौदा, अहमदाबाद आदि नगरों के शास्त्रागारों, प्राचीन हस्तलिखित ज्ञान भण्डारों के अथाह ज्ञान समुद्र का मन्थन किया, प्राचीन जैन वाङ्मय का आलोडन किया और सहस्रों प्राचीन ग्रन्थों से सारभूत ऐतिहासिक सामग्री का अथक श्रम के साथ संकलन किया। वह सम्पूर्ण संकलन हमारी अनमोल ऐतिहासिक थाती के रूप में आज श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, शोध-संस्थान, लाल भवन, जयपुर में सुरक्षित है।

संवत् २०२३ तदनुसार सन् १९६६ के अहमदाबाद चातुर्मास में विधिवत् इतिहास-लेखन का कार्य प्रारम्भ किया गया। तदनन्तर एक चातुर्मासावासावधि में इतिहास समिति ने एक सुशिक्षित नवयुवक को विद्वान् मुनिश्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री की सेवा में भी इस कार्य को गति देने के लिए रखा। किन्तु सन् १९७० के जून मास तक इस कार्य में अपेक्षित प्रगति नहीं हो पाई। इसका एक बहुत

बड़ा कारण यह था कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पुरानी राजस्थानी (राजस्थानी गुजराती मिश्रित) इन सभी प्राच्य भारतीय भाषाओं में समान रूप से निर्बाध गति रखने वाला कोई ऐसा विद्वान् इतिहास-समिति को नहीं मिला, जो इन भाषाओं के अगाध साहित्य का ऐतिहासिक शोध-दृष्टि से निष्ठापूर्वक अहर्निश अध्ययन कर सारभूत ऐतिहासिक सामग्री को आचार्यश्री के समक्ष प्रस्तुत कर सके। इतना सब कुछ होते हुए भी आचार्यश्री ऐतिहासिक सामग्री के संकलन, आलेखन एवं चिन्तन-मनन में निरत रहे। आप श्री ने मरुस्थल से सागर तट तक के गुजरात प्रदेश के विहार काल में विभिन्न ज्ञान भण्डारों से उपलब्ध महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पट्टावलियों का चयन संशोधन किया। उनके आधार पर एक सारभूत क्रमबद्ध एवं संक्षिप्त ऐतिहासिक काव्य की रचना की। उन पट्टावलियों में से आधी के लगभग पट्टावलियों का इतिहास समिति ने डॉ. नरेन्द्र भानावत से सम्पादन करवा कर सन् १९६८ में "पट्टावली प्रबन्ध संग्रह" नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया।

१९७० के मई मास के अन्त में आचार्यश्री के जयपुर नगर में शुभागमन पर, "महापुरुषों द्वारा चिंतित समष्टिहित के कार्य अधिक समय तक अवरुद्ध नहीं रहते, अगतिमान नहीं रहते"— यह चिर सत्य चरितार्थ हुआ। जैन प्राकृत, अपभ्रंश आदि सभी प्राच्य भाषाओं में समान गति रखने वाले जिस विद्वान् की विगत पाँच-छः वर्षों से खोज थी, वह आचार्यश्री को जयपुर आने पर अनायास ही मिल गया। इतिहास-समिति की मांग पर श्री प्रेमराजजी बोगावत, राजस्थान विधानसभा से उन्हीं दिनों अवकाश प्राप्त श्री गजसिंह राठौड़, जैन-न्याय-व्याकरण तीर्थ को आचार्यश्री की सेवा में दर्शनार्थ लाये। बातचीत के पश्चात् आचार्यश्री द्वारा रचित जैन इतिहास की काव्य कृति— "आचार्य चरितावली" सम्पादनार्थ एवं टंकणार्थ इतिहास-समिति ने श्री राठौड़ को दी। इसके सम्पादन एवं इतिहास विषयक पारस्परिक बातचीत से प्रमुदित हो आचार्यश्री ने फरमाया— "इसका सम्पादन आपने बहुत शीघ्र और समुचित रूप से सम्पन्न कर दिया, गजसा! हमारा एक बहुत बड़ा कार्य पाँच-छः वर्षों से रुका सा पड़ा है, आप इसे गति देने में सहयोग दीजिये।"

जून, १९७० में श्री राठौड़ ने इतिहास के सम्पादन का कार्य सम्भाला। समवायांग, आचारांग, विवाह प्रज्ञप्ति आदि शास्त्रों, आवश्यक चूर्ण, चउवन्न महापुरिस चरियं, वसुदेव हिण्डी, तिलोय पण्णत्ती, सत्तरिसय द्वार, पउम चरियं गच्छाचार पइण्णय, अभिधान राजेन्द्र (७ भाग) षट्खण्डागम, धवला, जय धवला

आदि प्राकृत ग्रन्थों, सर मोन्योर की मोन्योर-मोन्योर संस्कृत टू इंग्लिश डिक्शनेरी आदि आंग्ल भाषा के ग्रन्थों, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, आदि पुराण, महापुराण, वेदव्यास के सभी पुराणों के साथ-साथ हरिवंश पुराण आदि संस्कृत ग्रन्थों और पुष्यदन्त के महापुराण आदि अपभ्रंश के ग्रन्थों का आलोडन किया गया और पर्युषण पर्व से पूर्व ही "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" पहला भाग की पाण्डुलिपि का चतुर्थांश और मेड़ता चातुर्मासावासावधि के समाप्त होते-होते पाण्डुलिपि का शेष अन्तिम अंश भी प्रेस में दे दिया गया। प्रथम भाग के पूर्ण होते ही मेड़ता धर्म स्थानक में इतिहास के द्वितीय भाग का आलेखन भी प्रारम्भ कर दिया गया। जैन धर्म के इतिहास के अभाव की चतुर्थांश पूर्ति से आचार्यश्री को बड़ा प्रमोद हुआ, जैन समाज में हर्ष की लहर तरंगित हो उठी और इतिहास-समिति का उत्साह शतगुणित हो अभिवृद्ध हुआ। प्रथम भाग के प्रकाशन के साथ-साथ ही इतिहास-समिति ने इसी के अन्तिम अंश को "ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थकर" नाम से एक पृथक् ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित करवाया। सन् १९७१ के वर्षावास काल में ये दोनों ग्रन्थ मुद्रित हो सर्वतः सुन्दर रूप लिये समाज, इतिहासज्ञों और इतिहास प्रेमियों के करकमलों में पहुंचे। सन्तों, सतियों, श्रावकों, श्राविकाओं, श्वेताम्बर, दिगम्बर, जैन-अजैन सभी परम्पराओं के विद्वानों ने भावपूर्ण शब्दों में मुक्तकण्ठ से इस ऐतिहासिक कृति की और आचार्यश्री की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

आचार्यश्री की लेखनी में एक ऐसा अद्भुत चमत्कार है कि आपने इतिहास जैसे शुष्क-नीरस विषय को ऐसा सरस-रोचक एवं सम्मोहक बना दिया है कि सहस्रों श्रद्धालु और सैकड़ों स्वाध्यायी प्रतिदिन इसका पारायण करते हैं।

सन् १९७४ में आचार्यश्री ने "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" दूसरा भाग भी पूर्ण कर दिया। १९७५ में इतिहास-समिति ने इसे प्रकाशित किया। इसकी भी प्रथम भाग की ही तरह भूरि-भूरि प्रशंसा और हर्ष के साथ समाज में स्वागत किया गया। आचार्यश्री के अथाह ज्ञान, अथक श्रम और इस इतिहास ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं सर्वांगपूर्णता के सम्बन्ध में एक शब्द भी कहने के स्थान पर इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में जैन समाज के सर्वमान्य उच्च कोटि के विद्वान् श्री दलसुख भाई मालवणियां के आन्तरिक उद्गार ही उद्धृत कर देना हम पर्याप्त समझते हैं। श्री मालवणियां ने लिखा है—

“आचार्यश्री !

सादर बहुमान पूर्वक वन्दना। “जैन धर्म का मौलिक इतिहास” के रोचक प्रकरण एवं आपकी प्रस्तावना पढ़ी।..... आपने इस ग्रन्थ में जैन इतिहास की गुत्थियों को सुलझाने में जो परिश्रम किया है, जैसी तटस्थता दिखाई है, वह दुर्लभ है। बहुत काल तक आपका यह इतिहास-ग्रन्थ प्रामाणिक इतिहास के रूप में कायम रहेगा। नये तथ्यों की संभावना अब कम ही है। जो तथ्य आपने एकत्र किये हैं और उनको यथास्थान सजाया है, वह एक सुज्ञ इतिहास के विद्वान् के योग्य कार्य है। इस ग्रन्थ को पढ़कर आपके प्रति जो आदर था, वह और भी बढ़ गया है। आशा है, ऐसा ही आगे के भागों में भी आप करेंगे।

ये हैं लब्ध-प्रतिष्ठ शोधकर्ता विद्वान् दलसुख भाई मालवणियों के इस अमर ऐतिहासिक कृति और इसके रचनाकार इतिहास-मार्तण्ड आचार्यश्री के भागीरथ प्रयास के सम्बन्ध में हार्दिक उद्गार ! एक गवेषक विद्वान् ही गवेषक विद्वान् के श्रम का सही आंकलन कर सकता है। यह पराकाष्ठा है सही मूल्यांकन की ! आचार्यश्री और इनकी ऐतिहासिक अमर कृति के सम्बन्ध में इससे अधिक और क्या लिखा जा सकता है ?

सन् १९७५ के अन्तिम चरण में “जैन धर्म का मौलिक इतिहास— तृतीय भाग” के लिए सामग्री एकत्रित करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के स्वार्गारोहण के पश्चात् चैत्यवासी परम्परा अपनी नई-नई मान्यताओं के साथ जैन जगत् पर छा गई थी। लगभग सात सौ आठ सौ वर्षों तक भारत के विभिन्न भागों में चैत्यवासी परम्परा का एकाधिपत्य रहा। भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल परम्परा के साधु-साधियों का उत्तर भारत के जनपदों में विचरण तो दूर रहा, प्रवेश तक पर राजमान्य चैत्यवासी परम्परा ने राज्य की ओर से प्रतिबन्ध लगवा दिया। फलस्वरूप मूल परम्परा के श्रमण, श्रमणियों एवं श्रावक-श्राविकाओं की संख्या देश के सुदूरस्थ प्रदेशों में अंगुलियों पर गिनने योग्य रह गई। विशुद्ध श्रमण धर्म में मुमुक्षुओं का दीक्षित होना तो दूर, अनेक प्रान्तों में विशुद्ध श्रमणाचार का नाम तक लोग प्रायः भूल गये। नवोदिता चैत्यवासी परम्परा को ही लोग भगवान् की मूल विशुद्ध परम्परा मानने लगे। वस्तुतः उस संक्रांति-काल में विशुद्ध मूल परम्परा क्षीण से क्षीणतर होती गई और वह लुप्त तो नहीं; किन्तु सुप्त अथवा गुप्त अवश्य हो गई। वीर नि.

सं. १५५४ में वनवासी वर्द्धमान सूरि के शिष्य जिनेश्वर सूरि ने दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों को शास्त्रार्थ में परास्त कर चैत्यवासी परम्परा पर गहरा घातक प्रहार किया। तदनन्तर अभय देव सूरि के शिष्य जिन वल्लभ सूरि वीर नि.सं. १६३७ तक चैत्यवासी परम्परा के उन्मूलन में निरत रहे। अन्ततोगत्वा जिस चैत्यवासी परम्परा ने भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल परम्परा को पूर्णतः नष्ट कर देने के लगभग सात सौ-आठ सौ वर्ष तक निरन्तर प्रयास किये, उनकी पट्ट-परम्पराओं को नष्ट किया, उसके स्मृति चिह्नों तक को निरवशिष्ट करने के प्रयास किये, वह चैत्यवासी परम्परा भी अन्ततोगत्वा वीर निर्वाण की बीसवीं शताब्दी के आते-आते इस धरातल से विलुप्त हो गई। यह आश्चर्य की बात है कि जो चैत्यवासी परम्परा देश में बहुत बड़े भाग पर ७-८ शताब्दियों तक छाई रही, उसकी मान्यता के ग्रन्थ, पट्टावलियाँ आदि के रूप में कोई साक्ष्य आज कहीं नाममात्र के लिए भी उपलब्ध नहीं है।

इन्हीं कारणों से देवर्द्धि क्षमाश्रमण के पश्चात् काल के इतिहास की कड़ियों को खोजने और उसे शृंखलाबद्ध व क्रमबद्ध बनाने में बड़े लम्बे समय तक कड़ा श्रम करना पड़ा, अनेक कठिनाइयों को झेलना पड़ा। एक बार तो घोर निराशा सी हुई किन्तु पन्यास श्री कल्याण विजयजी महाराज द्वारा लिखी गई अनेक नोटबुकों को सूक्ष्म शोध दृष्टि से पढ़ने पर विशुद्ध मूल परम्परा के एक दो संकेत मिले। महा निशीथ, तित्थोगाली पइन्नय, जिनवल्लभ सूरि संघ पट्टक, मद्रास यूनिवर्सिटी के प्रांगण में अवस्थित ओरियन्टल मेन्युस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी, मेकेन्जी कलेक्शन्स आदि से तथा पुराने जर्नल्स के अध्ययन से आशा बंधी कि वीर नि. सं. १००० से २००० तक का तिमिराच्छन्न इतिहास भी अब अप्रत्याशित रूप से प्रकाश में लाया जा सकेगा। यापनीय संघ के सम्बन्ध में यथाशक्य पर्याप्त खोज की गई। उस खोज के समय भट्टारक परम्परा के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में तो ३४९ श्लोकों का एक ग्रन्थ मेकेन्जी के संग्रह में प्राप्त हो गया। कर्नाटक में यापनीय संघ के सम्बन्ध में भी थोड़े बहुत ऐतिहासिक तथ्य मिले। इन सभी को आधार बनाकर अब तक जैन इतिहास के चारों भाग प्रकाशित किए जा चुके हैं।

इस ग्रन्थ के प्रणयन-परिवर्द्धन-परिमार्जन में श्रद्धेय स्व. आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा. ने जो कल्पनातीत श्रम किया था इसके लिए इन महासन्त के प्रति आन्तरिक आभार प्रकट करने हेतु कोष में उपयुक्त शब्द ही नहीं है। स्व. आचार्यश्री के सुशिष्य वर्तमान आचार्य प्रवर हीराचन्द्र जी म.

सा. ने इस ग्रन्थ के परिमार्जन व परिवर्द्धन में बड़े श्रम के साथ जो अपना अमूल्य समय दिया, उसके लिए हम आचार्य श्री के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ माला के प्रधान सम्पादक श्री गजसिंह राठौड़ ने द्वितीय संस्करण के सम्पादन में शोध आदि के माध्यम से जो श्रम किया है, उसे कभी नहीं भुलाया जा सकता।

द्वितीय संस्करण सहृदय पाठकों की प्रगाढ़ रुचि एवं अत्यधिक मांग के कारण स्वल्प समय में ही समाप्त हो गया अतः तृतीय संस्करण के शीघ्रतः प्रकाशन में हमें गौरव मिश्रित हर्ष का अनुभव हो रहा है। यह संस्करण जैन इतिहास समिति एवं सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के द्वारा संयुक्त रूप से प्रकाशित किया जा रहा है।

पारसचन्द हीरावत	चन्द्रराज सिंघवी	चेतनप्रकाश डूंगरवाल	विमलचंद डागा
अध्यक्ष	मंत्री	अध्यक्ष	मंत्री
जैन इतिहास समिति		सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल	

# अपनी बात

(आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज)

## धार्मिक इतिहास का आकर्षण

किसी भी देश, जाति, धर्म अथवा व्यक्ति के पूर्वकालीन इतिवृत्त को इतिहास कहा जाता है। उसके पीछे विशिष्ट पुरुषों की स्मृति भी हेतु होती है। इतिहास-लेखन के पीछे मुख्य भावना होती है— महापुरुषों की महिमा प्रकट करते हुए भावी पीढ़ी को तदनुकूल आचरण करने एवं अनुगमन करने की प्रेरणा प्रदान करना।

सामान्यतः जिस प्रकार देश, जाति और व्यक्तियों के विविध इतिहास प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं, उस प्रकार धार्मिक इतिहासों की उपलब्धि दृष्टिगोचर नहीं होती। इसके परिणामस्वरूप केवल जनसाधारण ही नहीं अपितु अच्छे पढ़े-लिखे विद्वान् भी अधिकांशतः यही समझ रहे हैं कि जैन धर्म का कोई प्राचीन प्रामाणिक इतिहास आज उपलब्ध नहीं है।

परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। जैन धर्म के इतिहास-ग्रन्थ यद्यपि चिरकाल से उपलब्ध हैं और उनमें आदिकाल से प्रायः सभी प्रमुख धार्मिक घटनाएं उल्लिखित हैं, तथापि ऐतिहासिक घटनाओं का क्रमबद्ध (सिलसिलेवार) एवं रुचिकर आलेखन किसी एक ग्रंथ के रूप में नहीं होने, तथा ऐतिहासिक सामग्रीपूर्ण ग्रन्थ प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में आबद्ध होने के कारण वे सर्वसाधारण के लिए सहसा बोधगम्य, आकर्षण के केन्द्र एवं सर्वप्रिय नहीं बन सके।

यह मानव की दुर्बलता है कि वह प्रायः भोग एवं भोग्य सामग्री की ओर सहज ही आकृष्ट हो जाता है अतः संसार के दृश्य, मोहक पदार्थ और मानवीय जीवन के स्थूल व्यवहारों के प्रति जैसा पाठकों का आकर्षण होता है, वैसा धर्म अथवा धार्मिक इतिहास के प्रति नहीं होता। क्योंकि धर्म एवं धार्मिक इतिहास में मुख्यतः त्याग-तप की बात होती है।

## जैन धर्म का इतिहास

धर्म का स्वतन्त्र इतिहास नहीं होता। सम्यक् विचार व आचार रूप धर्म हृदय की वस्तु है, जिसका कब, कहाँ और कैसे उदय, विकास अथवा हास हुआ तथा कैसे विनाश होगा यह अतिशय ज्ञानी के अतिरिक्त किसी को ज्ञात नहीं। ऐसी स्थिति में उसका इतिहास कैसे लिखा जाये यह समस्या है। अतः इन्द्रियातीत अतिसूक्ष्म धर्म का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए धार्मिक महापुरुषों का जीवन और उनका उपदेश ही धर्म का परिचायक है। धर्म का आविर्भाव, तिरोभाव एवं



विकास मनुष्य आदि धार्मिक जीवों में ही होता है क्योंकि धर्म बिना धर्मि अर्थात् गुणी के नहीं होता। अतः धार्मिक मानवों का इतिहास ही धर्म का इतिहास है। धार्मिक पुरुषों में आचार-विचार, उनके देश में प्रचार एवं प्रसार तथा विस्तार का इतिवृत्त ही धर्म का इतिहास है।

सम्यक् विचार और सम्यक् आचार से रागादि दोषों को जीतने का मार्ग ही जैन धर्म है। वह किसी जाति या देश-विशेष का नहीं, वह तो मानवमात्र के लिए शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का मार्ग है। धर्म का अस्तित्व कब से है ? इसके उत्तर में शास्त्राकारों ने बतलाया है कि जैसे पचासिकायात्मक लोक सदा काल से है, उसी प्रकार आचारार्ग आदि द्वादशांगी गणपिटक रूप सम्यक्श्रुत् भी अनादि हैं।

भारतवर्ष जैसे क्षेत्र एवं धर्म को मानने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा से भोगयुग के पश्चात् धर्म का आदिकाल और अवसर्पिणी के दुःषमकाल के अन्त में धर्म का विच्छेद होने से इसका अन्तकाल भी कहा जा सकता है। इस उद्भव और अवसान के मध्य की अवधि का धार्मिक इतिवृत्त ही धर्म का पूर्ण इतिहास है।

प्रस्तुत इतिहास भारतवर्ष और इस अवसर्पिणीकाल की दृष्टि से है। अवसर्पिणीकाल के तृतीय आरक के अन्त में प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव हुए और उन्हीं से देश में विधिपूर्वक श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का प्रादुर्भाव हुआ अतः क्षेत्र तथा काल की दृष्टि से यही जैन धर्म का आदिकाल कहा गया है। देश के अन्यान्य धार्मिक सम्प्रदायों ने भी अपने-अपने धर्म को प्राचीन बतलाने का प्रयत्न किया है पर जैन-संघ की तरह अन्यत्र कहीं भी धर्म के आदिकाल से लेकर उनके प्रचार, प्रसार एवं विस्तार की आचार्य-परम्परा का क्रमबद्ध निर्देश नहीं मिलता। प्रायः वहाँ राज्य-परम्परा का ही प्रमुखता से उल्लेख मिलता है।

### ग्रन्थ का नामकरण

जैन शास्त्रों के अनुसार इस अवसर्पिणीकाल में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव—ये ६३ उत्तम पुरुष हुए हैं। प्रकृति के सहज नियमानुसार मानव समाज के शारीरिक, मानसिक आदि ऐहिक और आध्यात्मिक संरक्षण, संगोपन तथा संवर्द्धन के लिए लोकनायक एवं धर्मनायक दोनों का नेतृत्व आवश्यक माना गया है।

चक्री या अर्द्धचक्री, जहाँ मानव-समाज में व्याप्त संघर्ष और पापाचार का दण्डभय से दमन करते एवं जनता को नीति-मार्ग पर आरूढ़ करते हैं, वहाँ धर्मनायक-तीर्थंकर धर्मतीर्थ की स्थापना करके उपदेशों द्वारा लोगों का हृदय-परिवर्तन करते हुए जन-जन के मन में पाप के प्रति घृणा उत्पन्न करते हैं। दण्ड-नीति से दोषों का दमन मात्र होता है पर धर्म-नीति ज्ञानामृत से दोषों को सदा के लिए केवल शान्त ही नहीं करती अपितु दोषों के प्रादुर्भाव के द्वारों को अवरूद्ध करती है।

धर्मनायक तीर्थकर मानव के अन्तर्मन में सोई हुई आत्मशक्ति को जागृत करते और उसे विश्वास दिलाते हैं कि मानव ! तू ही अपने सुख-दुःख का निर्माता है, बाहर में किसी को शत्रु या मित्र समझकर व्यर्थ के रागद्वेष से आकुल-व्याकुल मत बन।

ऐसे धर्मोत्तम महापुरुष तीर्थकरों का प्राचीन ग्रन्थों के आधार से यहाँ परिचय दिया गया है अतः इस ग्रन्थ का नाम 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' रखा गया है।

### इतिहास का मूलाधार

यों तो इतिहास-लेखन में प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थ आधारभूत होते हैं पर उन सबका मूलभूत आधार दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद के पाँच भेदों में से चौथा अनुयोग है, जिसे वस्तुतः जैन धर्म के इतिहास का मूल स्रोत या उद्भव स्थान कहा जा सकता है। समवायांग और नन्दीसूत्र में उल्लिखित हुण्डी के अनुसार प्रथमानुयोग में (१) तीर्थकरों के पूर्वभव, (२) देवलोक में उत्पत्ति, (३) आयु, (४) च्यवन, (५) जन्म, (६) अभिषेक, (७) राज्यश्री, (८) मुनिदीक्षा, (९) उग्रतप, (१०) केवल ज्ञानोत्पत्ति, (११) प्रथम प्रवचन, (१२) शिष्य, (१३) गण और गणधर, (१४) आर्याप्रवर्तिनी, (१५) चतुर्विध संघ का परिमाण, (१६) केवलज्ञानी, (१७) मनःपर्यवज्ञानी, (१८) अवधिज्ञानी, (१९) समस्त श्रुतज्ञानी-द्वादशांगी, (२०) वादी, (२१) अनुत्तरोपपात वाले, (२२) उत्तरवैक्रिय वाले, (२३) सिद्धगति को प्राप्त होने वाले, (२४) जैसे सिद्धि मार्ग बतलाया और (२५) पादोपगमन में जितने भक्त का तप कर अन्तक्रिया की, उसका वर्णन किया है।

इसी प्रकार के अन्य भी अनेक भाव आबद्ध होने का उल्लेख प्राप्त होता है।

मूल प्रथमानुयोग की तरह गण्डिकानुयोग में कुलकर, तीर्थकर, चक्रवर्ती, दशार्ह, बलदेव, वासुदेव, गणधर और भद्रबाहु गण्डिका का विचार है। उसमें हरिवंश तथा उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणीकाल का चित्रण भी किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अनुयोग रूप दृष्टिवाद में इतिहास का सम्पूर्ण मूल बीज निहित कर दिया गया था।

इन उपरोक्त उल्लेखों से निर्विवाद रूप से यह स्पष्ट होता है कि जैन धर्म का सम्पूर्ण, सर्वांगपूर्ण और प्रामाणिक इतिहास बारहवें अंग दृष्टिवाद में विद्यमान था। ऐसी दशा में डॉ. हर्मन, जैकोबी जैसे पाश्चात्य विद्वानों का यह अभिमत कि रामायण की कथा जैनो के मूल आगम में नहीं है, वह वाल्मिकीय रामायण अथवा अन्य हिन्दू ग्रन्थों से उधार ली गई है— नितान्त भ्रान्तिपूर्ण एवं निराधार सिद्ध होता है।

प्रथमानुयोग धार्मिक इतिहास का प्राचीनतम शास्त्र माना गया है। जैन धर्म के इतिहास में जितने भी ज्ञात, अज्ञात, उपलब्ध तथा अनुपलब्ध ग्रन्थ हैं उनका मूल स्रोत अथवा आधार प्रथमानुयोग ही रहा है। आज श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के आगम-ग्रन्थों, समवायांग, नन्दी, कल्पसूत्र और आवश्यक निर्युक्ति में जो इतिहास की यत्र-तत्र झांकी मिलती है, वह सब प्रथमानुयोग की ही देन है।

कालप्रभावजन्य क्रमिक स्मृति-शैथिल्य के कारण शनैः शनैः चतुर्दश पूर्वों के साथ-साथ इतिहास का अक्षय भण्डार प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग रूप वह शास्त्र आज विलुप्त हो गया। वही हमारा मूलाधार है।

### इतिहास-लेखन में पूर्वाचार्यों का उपकार

प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग के विलुप्त हो जाने के बाद जैन इतिहास को सुरक्षित रखने का श्रेय एकमात्र पूर्वाचार्यों की श्रुतसेवा को है। इस विषय में उन्होंने जो योगदान दिया है, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। आगमाश्रित निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका आदि ग्रन्थों के माध्यम से उन्होंने जो उपकार किया है, वह आज के इतिहास-गवेषकों के लिए बड़ा ही सहायक सिद्ध हो रहा है।

पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत नहीं की होती तो आज हम सर्वथा अन्धकार में रहते अतः वहाँ उन कतिपय ग्रन्थकारों और लेखकों का कृतज्ञतावश स्मरण करना आवश्यक समझते हैं।

- (१) उनमें सर्वप्रथम आचार्य भद्रबाहु हैं, जिन्होंने दशवैकालिक आवश्यक आदि १० सूत्रों पर निर्युक्ति की रचना की। आपका रचनाकाल वीर नि. संवत् १००० के आसपास का है।
- (२) जिनदास गणी महत्तर— आपने आवश्यक चूर्णि आदि ग्रंथों की रचना की। आपका रचनाकाल ई. सन् ६००-६५० है।
- (३) अगस्त्य सिंह ने दशवैकालिक सूत्र पर चूर्णि की रचना की। आपका रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी (वल्लभी-वाचना से २००-३०० वर्ष पूर्व का) है।
- (४) संघदास गणी ने वृहत्कल्प भाष्य और वसुदेव हिण्डी की रचना की। आपका रचनाकाल ई. सन् ६०९ है।
- (५) जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य की रचना की। आपका रचनाकाल विक्रम सं. ६४५ है।
- (६) विमळ सूरि ने पउमचरियं आदि इतिहास ग्रन्थों की रचना की। आपका रचनाकाल विक्रम संवत् ६० है।

- (७) यतिवृषभ ने तिळोयपण्णती आदि ग्रन्थों की रचना की। आपका रचनाकाल ई. चौथी शताब्दी के आसपास माना गया है।
- (८) जिनसेन ने ई. ९वीं शताब्दी के प्रारम्भकाल में आदि पुराण और हरिवंश पुराण की रचना की।
- (९) आचार्य गुणभद्र ने शक सम्वत् ८२० में उत्तर पुराण की रचना की।
- (१०) रविषेण ने ई. सन् ६७८ में पद्मपुराण की रचना की।
- (११) आचार्य शीलोक ने ई. सन् ८६८ में चउवन महापुरिसचरियं की रचना की।
- (१२) पुष्पदन्त ने विक्रम सम्वत् १०१६ से १०२२ में अपभ्रंश भाषा के महापुराण नामक इतिहास-ग्रन्थ की रचना की।
- (१३) भद्रेश्वर ने ईसा की ११वीं शताब्दी में कहावली ग्रन्थ की रचना की।
- (१४) आचार्य हेमचन्द्र ने ई. सं. १२२६ से १२२९ में त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र नामक इतिहास-ग्रन्थ की रचना की।
- (१५) धर्मसागर गणी ने तपागच्छ-पट्टावली सूत्रवृत्ति नामक (प्राकृत-सं.) इतिहास-ग्रन्थ की रचना वि. सं. १६४६ में की।

इन संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के इतिहास-ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक ज्ञात और अज्ञात विद्वानों ने जैन इतिहास के सम्बन्ध में हिन्दी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं में रचनाएं की हैं। जागरूक सन्त-समाज ने अनेकों स्थविरावळियां, सैकड़ों पट्टावलियां आदि लिखकर भी इतिहास की श्रीवृद्धि करने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी है। उन सबके प्रति हम हृदय से कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

### इतिहास की विश्वसनीयता

उपरोक्त पर्यालोचन के बाद यह कहना किंचित्मात्र की अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि हमारा जैन-इतिहास बहुत गहरी सुदृढ़ नींव पर खड़ा है। यह इधर-उधर की किंवदन्ती या कल्पना के आधार से नहीं पर प्रामाणिक पूर्वाचार्यों की अविरल परम्परा से प्राप्त है। अतः इसकी विश्वसनीयता में लेशमात्र भी शंका की गुंजाइश नहीं रहती। जैसा कि आचार्य विमलसूरि ने अपने पउमचरियं ग्रन्थ में लिखा है :—

नामावलिय निबद्धं आयरियपरम्परागयं सव्वं।  
दोच्छामि पउम चरियं, अहाणुपुव्विं समासेण॥

अर्थात् आचार्य परम्परागत सब इतिहास जो नामावली में निबद्ध है, वह संक्षेप में कहूँगा। उन्होंने फिर कहा है :—

परम्परा से होती आई पूर्व-ग्रन्थों के अर्थ की हानि को काल का प्रभाव समझ कर विद्वज्जनों को खिन्न नहीं होना चाहिए। यथा—

एवं परम्पराए परिहाणि पुव्वगंथ अत्थाणं।  
नाऊण काळभावं न रुसियव्वं बुहजणेणं॥

इससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन समय में नामावली के रूप में संक्षिप्त रूप से इतिहास को सुरक्षित रखने की पद्धति बहुमान्य थी। धर्म-संप्रदायों की तरह राजवंशों में भी इस प्रकार इतिहास को सुरक्षित रखने का क्रम चलता था। जैसा कि बीकानेर राज्य के राजवंश की एक ऐतिहासिक उक्ति से स्पष्ट होता है :-

बीको नरो लूणसी जैसी कलो राय।  
दळपत सूरु करणसी अनूप सरूप सुजाय॥  
जोरो गजो राजसी प्रतापो सूरत्त।  
रतनसी सरदारसी, डुंग गंग महिपत्त॥

इस प्रकार नामावलि-निबद्ध इतिहास के प्राचीन एवं प्रामाणिक होने से इसकी विश्वसनीयता में कोई शंका नहीं रहती।

### तीर्थकरों और केवली

केवली और तीर्थकरों में समानता होते हुए भी अंतर है। घाती-कर्मा का क्षय कर केवलज्ञान का उपार्जन करने वाले केवली कहलाते हैं। तीर्थकरों की तरह उनमें केवलज्ञान और केवलदर्शन होता है फिर भी वे तीर्थकर नहीं कहलाते।

ऋषभ देव से वर्धमान-महावीर तक चौबीसों अरिहत केवली होने के साथ-साथ तीर्थकर भी हैं। केवली और तीर्थकर में वीतरागता एवं ज्ञान की समानता होते हुए भी अन्तर है। तीर्थकर स्वकल्याण के साथ परकल्याण की भी विशिष्ट योग्यता रखते हैं। वे त्रिजगत् के उद्धारक होते हैं। उनका देव, असुर, मानव, पशु, पक्षी, सब पर उपकार होता है। उनकी कई बातें विशिष्ट होती हैं। वे जन्म से ही कुछ विलक्षणता लिए होते हैं जो केवली में नहीं होती। जैसे तीर्थकर के शरीर पर १००८ लक्षण होते हैं। केवली के नहीं। तीर्थकर की तरह केवली में विशिष्ट वागतिशय और नरेन्द्र-देवेन्द्र कृत पूजातिशय नहीं होता। उनमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र्य और अनन्त वीर्य होता है पर महाप्रातिहार्य नहीं होते। तीर्थकर की यह खास विशेषता है कि उनके साथ (१) अशोक वृक्ष,

१. अट्टसहस्रलक्षणघरी....., उत्तराध्ययन, २२/५

(२) सुरकृत पुष्पवृष्टि, (३) दिव्य ध्वनि, (४) चामर, (५) स्फटिक सिंहासन, (६) भामण्डल-प्रभामण्डल, (७) देव-दुन्दुभि और (८) छत्रत्रय— ये अतिशय होते हैं। इनको प्रातिहार्य कहते हैं।

सामान्यरूपेण तीर्थंकर से बारह गुना ऊँचा अशोक वृक्ष होता है। इसके अतिरिक्त तीर्थंकर की ३४ अतिशयमयी विशेषताएँ होती हैं। उनकी वाणी भी ३५ विशिष्ट गुणवती होती है। सामान्य केवली के ये अतिशय नहीं होते।

### तीर्थंकरों का बल

तीर्थंकर धर्मतीर्थ के संस्थापक और चालक होते हैं अतः उनका बलवीर्य जन्म से ही अमित होता है। नरेन्द्र-चक्रवर्ती ही नहीं सुरेन्द्र से भी तीर्थंकर का बल अनन्त गुना अधिक माना गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ५६३ पर तीर्थंकर के बल को तुलना से समझाया गया है। विशेषावश्यक भाष्य और निर्युक्ति में इसको प्रकारान्तर से भी बतलाया है। वसुदेव से द्विगुणित बल चक्रवर्ती का और चक्रवर्ती से अपरिमित बल तीर्थंकर का कहा गया है। वहाँ उदाहरणपूर्वक बताया गया है कि :—

कूप तट पर बैठे हुए वासुदेव को सांकलों से बांधकर सोलह हजार राजा अपनी सेनाओं के साथ पूरी शक्ति लगाकर खींचें तब भी वह लीला से बैठे खाना खाते रहे, तिलमात्र भी हिलें-डुलें नहीं।<sup>१</sup>

तीर्थंकरों का बल इन्द्रों को भी इसलिए हरा देता है कि उनमें तन-बल के साथ-साथ अतुल मनोबल और अदम्य आत्मबल होता है। कथा-साहित्य में नवजात शिशु महावीर द्वारा चरणांगुष्ठ से सुमेरु पर्वत को प्रकम्पित कर देने की बात इसीलिए अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा असम्भव नहीं कही जा सकती क्योंकि तीर्थंकर के अतुल बल के समक्ष ऐसी घटनाएँ साधारण समझनी चाहिये। 'अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म में जिसका मन सदा रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते और सेवा करते रहते हैं' इस आर्ष वचनानुसार तीर्थंकर भगवान् सदा देव-देवेन्द्रों द्वारा सेवित रहते हैं।

- 
१. सोलस रायहस्सा, सव्व-बलेण तु संकलनिबद्धं।  
 अंछति वासुदेवं, अगडतडम्मि ठियं संतं। ७०।  
 घेलूण संकलं सो, वाम हत्थेण अंछमाण्णं।  
 भुंजिज्ज विलिपिज्ज व, महुमणं ते न चाएत्ति। ७१।  
 दो सोला बत्तीसा, सव्व बलेणं तु संकलनिबद्धं।  
 अंछति चक्कवट्ठिं, अगडतडम्मि ठियं संतं। ७२।  
 घेलूणं संकलं सो, वामगहत्थेण अंछमाण्णं।  
 भुंजिज्ज विलिपिज्ज व, चक्कहरं ते न चायन्ति। ७३।  
 जं केसवस्स बलं, तं दुगुणं होइ चक्कवट्ठिस्स।  
 तत्तो बला बलवगा, अपरिमियबला जिणवरिदा। ७४।

(विशेषावश्यक भाष्य, मूल पृ. ५७-५८, भा. ७०-७५)

## तीर्थकर और क्षत्रिय-कुल

तीर्थकरों ने साधना और सिद्धान्त में सर्वत्र गुण और तप की प्रधानता बतलाई है,<sup>१</sup> जाति या कुल की प्रधानता नहीं मानी। ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि तीर्थकरों का जन्म क्षात्र-कुलों में ही क्यों माना गया ? क्या इसमें जातिवाद की गन्ध नहीं है ? जैन शास्त्रानुसार जाति में जन्म की अपेक्षा गुणकर्म की प्रधानता मानी गई है। जैसी कि उक्ति प्रसिद्ध है—

‘कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।’ (उत्त. २३। ३३)

‘ब्राह्मण या क्षत्रिय कर्मानुसार होता है। ब्राह्मण— ब्रह्मचर्य-सत्य-संतोष-प्रधान भिक्षाजीवी होता है जबकि क्षत्रिय ओजस्वी, तेजस्वी, रणक्रिया-प्रधान प्रभावशाली होता है। धर्म-शासन के संचालन और रक्षण में आन्तरिक सत्य शीलादि गुणों के साथ-साथ ओजस्विता की भी परम आवश्यकता रहती है अन्यथा दुर्बल की दया के समान साधारण जन-मन पर धर्म का प्रभाव नहीं होगा। ब्राह्मण कुलोत्पन्न व्यक्ति शान्त, सुशील एवं मृदु स्वभाव वाला होता है, तेज-प्रधान नहीं। उसके द्वारा किया गया अहिंसा-प्रचार प्रभावोत्पादक नहीं होता। क्षात्र-तेज वाला शस्त्रास्त्र-सम्पन्न व्यक्ति राज्य-वैभवं को साहसपूर्वक त्यागकर अहिंसा की बात करता है तो अवश्य उसका प्रभाव होता है। यही कारण है कि जातिवाद से दूर रहकर भी जैन धर्म ने तीर्थकरों का क्षात्रकुल में ही जन्म मान्य किया है।<sup>२</sup> दरिद्र, भिक्षुक-कुल, कृपण-कुल आदि का खास निषेध किया है। ऋषभदेव से महावीर तक सभी तीर्थकर क्षत्रिय-कुल के विमल गगन में उदय पाकर संसार को विमल ज्योति से चमकाते रहे। कठोर-से-कठोर कर्म काटने में भी उन्होंने अपने तपोबल से सिद्धि प्राप्त की।

## तीर्थकर की र्वाश्रित साधना

देव-देवेन्द्रों से पूजित होकर भी तीर्थकर अपनी तप-साधना में स्वावलम्बी होते हैं। वे किसी देव-दानव या मानव का कभी सहारा नहीं चाहते। भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर की साधना में धरणेन्द्र, सिद्धार्थ देव और शक्रेन्द्र का सेवा में आकर उपसर्ग-दाताओं को हटाने का उल्लेख आता है पर पार्श्वनाथ या महावीर ने मारणान्तिक कष्टों में भी उनकी साहाय्य की इच्छा नहीं की। जब भी श्रमण भगवान् महावीर से देवेन्द्र ने निवेदन किया— भगवन् ! आप पर भयंकर कष्ट और उपसर्ग आने वाले हैं। आज्ञा हो तो मैं आपकी सेवा में रहकर कष्ट निवारण करना चाहता हूँ।

उत्तर में प्रभु ने यही कहा— “शक्र ! स्वयं द्वारा बांधे हुये कर्म स्वयं को ही काटने होते हैं। दूसरों की सहायता से फलभोग का समय आगे-पीछे हो

१. तयो विसेसो, न जाइ विसेस कोइ। उ. १२/३७

२. देखें कल्पसूत्र।

सकता है पर कर्म नहीं कटते। तीर्थकर स्वयं ही कर्म काट कर अरिहंत-पद प्राप्त करते हैं।<sup>१</sup> इसी भाव से प्रभु ने शूलपाणि यक्ष के उपसर्ग और एक रात में ही संगमकृत बीस उपसर्गों को समंतापूर्वक सहन किया।<sup>२</sup> प्रभु यदि मन में भी लाते कि ऐसा क्यों हो रहा है तो इन्द्र सेवा में तैयार था पर प्रभु अडोल रहे।

प्रत्येक तीर्थकर के शासन-रक्षक यक्ष, यक्षिणी<sup>३</sup> होते हैं, जो समय-समय पर शासन की संकट से रक्षा और तीर्थकरों के भक्तों की इच्छा पूर्ण करते रहते हैं। तीर्थकर भगवान् अपने कष्ट-निवारणार्थ उन्हें भी याद नहीं करते।

इसके अतिरिक्त भी जब भगवान् महावीर ने देखा कि परिचित भूमि में लोग उन पर कष्ट और परीषह नहीं आने देते हैं, तब अपने कर्मों को काटने हेतु वे वज्रभूमि शुभ्रभूमि जैसे अनार्य-खण्ड में चले गये, जहाँ कोई भी परिचित न होने के कारण उनकी सहाय या कष्ट-निवारण न कर सके। वहाँ कैसे-कैसे कष्ट सहे, यह विहार चर्या में पढ़ें।<sup>४</sup>

इस प्रकार की अपनी कठोरतम दिनचर्या एवं जीवनचर्या से तीर्थकरों ने संसार को यह पाठ पढ़ाया कि प्रत्येक व्यक्ति को साहस के साथ अपने कर्मों को काटने में जुट जाना चाहिए। फलभोग के समय घबराकर भागना वीरता नहीं। अशुभ फल को भोगने में भी धीरता के साथ डटे रहना और शुभ ध्यान से कर्म काटना ही वीरत्व है। यही शान्ति का मार्ग है।

### तीर्थकरों का अंतरकाल

एक तीर्थकर के निर्वाण के पश्चात् दूसरे तीर्थकर के निर्वाण तक के काल को मोक्ष-प्राप्ति का अन्तरकाल कहते हैं। एक तीर्थकर के जन्म से दूसरे तीर्थकर के जन्म तक और एक की केवलोत्पत्ति से दूसरे की केवलोत्पत्ति तक का अन्तरकाल भी होता है पर यह निर्वाणकाल की अपेक्षा अन्तरकाल है। प्रवचन सारोद्धार और तिलोपपण्णती में इसी दृष्टि से तीर्थकरों का अन्तरकाल बताया गया है। प्रवचन सारोद्धार की टीका एवं अर्थ में स्पष्ट रूप से कहा है कि समुत्पन्न का अर्थ जन्मना नहीं करके 'सिद्धत्वेन समुत्पन्नः' अर्थात् सिद्ध हुए करना चाहिए। तभी बराबर काल की गणना बैठ सकती है। तीर्थकरों के अन्तरकालों में उनके शासनवर्ती आचार्य और स्थविर तीर्थकर-वाणी के आधार पर धर्म तीर्थ का अक्षुण्ण संचालन करते हैं। आत्मार्थी साधक शास्त्रानुकूल आचरण कर सिद्धि भी प्राप्त करते हैं। प्रथम

१. इतिहास का पृ. ५७१

२. इतिहास का पृ. ५७४-७७, ५९९-६०४

३. (क) समवायांग

(ख) तिलोपपण्णती ४/९३४-३९

४. इतिहास का पृ. ५९२-९३



तीर्थकर श्री ऋषभदेव से सुविधिनाथ तक के आठ अन्तर और शान्तिनाथ से महावीर तक के ८ इन कुल १६ अंतरों में संघरूप तीर्थ का विच्छेद नहीं हुआ। पर सुविधिनाथ से शान्तिनाथ तक के सात अंतरों में धर्मतीर्थ का विच्छेद हो गया।

संभव है उस समय कोई खास राजनैतिक या सामाजिक संघर्ष के कारण जैन धर्म पर बड़ा संकट आया हो। आचार्य के अनुसार सुविधिनाथ के पश्चात् और शीतलनाथ से पूर्व इतना विषम समय था कि लोग जैन धर्म की बात करने में भी भय खाते थे। कोई धर्म-श्रवण के लिए भी तैयार नहीं होता।

इस प्रकार चतुर्विध संघ में नई वृद्धि नहीं होने से तीर्थ का विच्छेद हो गया। भरतकालीन ब्राह्मण जो धर्मच्युत हो गये थे, उनका प्रभुत्व बढ़ने लगा। ब्राह्मणों को अन्न-धन-स्वर्णादि का दान करना ही धर्म का मुख्य अंग माना जाने लगा। भ. शीतलनाथ के तीर्थ के अन्तिम भाग में राजा मेघरथ भी इस उपदेश से प्रभावित हुआ और उसने मंत्री की वीतराग-मार्गानुकूल सलाह को भी अस्वीकार कर दिया।<sup>१</sup>

संभव है शीतलनाथ के शासनकाल की तरह अन्य सात तीर्थकरों के अन्तर में भी ऐसे ही किसी विशेष कारण से तीर्थ का विच्छेद हुआ हो। तीर्थ-विच्छेदों का कुल समय पौने तीन पल्य बताया गया है।

वास्तविकता यह है कि भगवान् ऋषभदेव से सुविधिनाथ तक के अन्तर में दृष्टिवाद को छोड़कर ग्यारह अंग-शास्त्र विद्यमान रहते हैं पर सुविधिनाथ से शान्तिनाथ तक के अंतरों में बारहों अंग-शास्त्रों का पूर्ण विच्छेद माना गया है। शान्तिनाथ से महावीर के पूर्व तक भी दृष्टिवाद का ही विच्छेद होता है। अन्य ग्यारह अंग-शास्त्रों का नहीं जैसा कि कहा है :—

मुत्तूण दिट्ठिवायं, हवंति एक्कारसेव अंगाइं ।  
 अट्टसु जिणंतरेसु, उसह जिणिंदाओ जा सुविही ॥ ४३४ ॥  
 सत्तासु जिणंतरेसु, वोच्छिन्नाइं दुवालसंगाइं ।  
 सुविहि जिणा जा संति, कालपमाणं कमेणेसिं ॥ ४३५ ॥  
 अट्टसु जिणंतरेसु, वोच्छिन्नाइं न हुन्ति अंगाइं ।  
 सति जिणा जा वीरं, वुच्छिन्नो दिट्ठिवाउ तहिं ॥ ४३६ ॥

(प्रवचन सारोद्धार द्वार, ३६)

ऋषभदेव से भगवान् वर्द्धमान-महावीर तक चौबीस तीर्थकरों के शासनकाल में सात अंतरों को छोड़कर निरंतर धर्मतीर्थ चलता रहा। संख्या में न्यूनाधिक होने पर भी कभी भी चतुर्विध संघ का सर्वथा अभाव नहीं हुआ। कारण कि धर्मशास्त्र-ग्यारह अंग परंपरा से सुरक्षित रहे। शास्त्र रक्षा ही धर्म रक्षा का सर्वोपरि साधन है।

तिलोयपण्णत्ती के अनुसार चौबीस तीर्थकरों के जन्म से २३ अन्तरकाल निम्न प्रकार हैं :—

१. उत्तरपुराण, पूर्व ५६, श्लो ६६-९६

तृतीय काल के चौरासी लाख पूर्व, ३ वर्ष, ८ मास और एक पक्ष शेष रहने पर भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ।

१. भगवान् ऋषभदेव की उत्पत्ति के पश्चात् पचास लाख करोड़ सागर और बारह लाख पूर्व बीत जाने पर भगवान् अजितनाथ का जन्म हुआ।
२. भगवान् अजितनाथ की उत्पत्ति के पश्चात् ३० लाख करोड़ सागर और बारह लाख पूर्व वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् संभवनाथ का जन्म हुआ।
३. भगवान् संभवनाथ के जन्म के पश्चात् १० लाख करोड़ सागर और १० लाख पूर्व बीत जाने पर भगवान् अभिनन्दन का जन्म हुआ।
४. भगवान् अभिनन्दन की उत्पत्ति के पश्चात् ९ लाख करोड़ सागर और दस लाख पूर्व व्यतीत हो जाने पर भगवान् सुमतिनाथ का जन्म हुआ।
५. भगवान् सुमतिनाथ के जन्म के अनन्तर ९० हजार करोड़ सागर और १० लाख पूर्व वर्ष बीत जाने पर भगवान् पद्मप्रभ का जन्म हुआ।
६. भगवान् पद्मप्रभ के जन्म के पश्चात् ९ हजार करोड़ सागर और १० लाख पूर्व व्यतीत होने पर भगवान् सुपार्श्वनाथ का जन्म हुआ।
७. भगवान् सुपार्श्वनाथ की उत्पत्ति के ९०० करोड़ सागर और १० लाख पूर्व वर्ष बीतने पर भगवान् चन्द्रप्रभ का जन्म हुआ।
८. भगवान् चन्द्रप्रभ के जन्म के पश्चात् ९० करोड़ सागर और ८ लाख पूर्व वर्ष व्यतीत हो जाने पर भगवान् सुविधिनाथ (पुष्पदन्त) का जन्म हुआ।
९. भगवान् सुविधिनाथ के जन्म से ९ करोड़ सागर और एक लाख पूर्व वर्ष पश्चात् भगवान् शीतलनाथ का जन्म हुआ।
१०. भगवान् शीतलनाथ के जन्म के अनन्तर एक करोड़ सागर और एक लाख पूर्व में एक सौ सागर एवं एक करोड़ पचास लाख छब्बीस हजार वर्ष कम समय व्यतीत होने पर भगवान् श्रेयांसनाथ का जन्म हुआ।
११. भगवान् श्रेयांसनाथ के जन्म के पश्चात् चौवन सागर और १२ लाख वर्ष बीतने पर भगवान् वासुपूज्य का जन्म हुआ।
१२. भगवान् वासुपूज्य के जन्म के पश्चात् ३० सागर और १२ लाख वर्ष बीतने पर भगवान् विमलनाथ का जन्म हुआ।
१३. भगवान् विमलनाथ के जन्म के अनन्तर ९ सागर और ३० लाख वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् अनन्तनाथ का जन्म हुआ।

१४. भगवान् अनन्तनाथ के जन्म के पश्चात् ४ सागर और २० लाख वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् धर्मनाथ का जन्म हुआ।
१५. भगवान् धर्मनाथ के जन्म के पश्चात् पौन पत्य कम तीन सागर और ९ लाख वर्ष बीतने पर भगवान् शान्तिनाथ का जन्म हुआ।
१६. भगवान् शान्तिनाथ के जन्म के पश्चात् आधा पत्य और ५ हजार वर्ष बीतने पर भगवान् श्री कुंथुनाथ का जन्म हुआ।
१७. भगवान् कुंथुनाथ के जन्म के पश्चात् ग्यारह हजार वर्ष कम एक हजार करोड़ वर्ष न्यून पाव पत्य बीतने पर भगवान् अरनाथ का जन्म हुआ।
१८. भगवान् अरनाथ के जन्म के पश्चात् उनतीस हजार वर्ष अधिक एक हजार करोड़ वर्ष बीतने पर भगवान् मल्लिनाथ का जन्म हुआ।
१९. भगवान् मल्लिनाथ के जन्म के पश्चात् चौवन लाख पचीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् मुनिसुव्रत का जन्म हुआ।
२०. भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के जन्म के पश्चात् ६ लाख बीस हजार वर्ष बीतने पर भगवान् नमिनाथ का जन्म हुआ।
२१. भगवान् नमिनाथ के जन्म के पश्चात् पाँच लाख नौ हजार वर्ष बीतने पर भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म हुआ।
२२. भगवान् अरिष्टनेमि के जन्म के पश्चात् चौरासी हजार ६५० वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म हुआ।
२३. भगवान् पार्श्वनाथ के जन्म के पश्चात् दो सौ अठहत्तर (२७८) वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् महावीर का जन्म हुआ।

### विचार और आचार

सामान्यरूप से देखा जाता है कि अच्छे-से-अच्छे महात्मा भी उपदेश में जैसे उच्च विचार प्रस्तुत करते हैं, आचार उनके अनुरूप नहीं पाल सकते। अनेक तो उससे विपरीत आचरण करने वाले भी मिलेंगे। परन्तु तीर्थकरों के जीवन की यह विशेषता होती है कि वे जिस प्रकार के उच्च विचार रखते हैं, पूर्णतः वैसा का वैसा ही प्रचार, समुच्चार और आचार भी रखते हैं। उनका आचार उनके विचारों से भिन्न अथवा विदिशागामी नहीं होता।

फिर भी तीर्थकरों की जीवन घटनाएं देखकर कई स्थलों पर साधारण व्यक्ति को शंकाएं हो सकती हैं। उदाहरणस्वरूप कुछ आचार्यों ने लिखा है कि भगवान् महावीर ने दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ज्योंही विहार किया तो एक दरिद्र

ब्राह्मण मार्ग में आ करुणाजनक स्थिति में उनसे कुछ याचना करने लगा। दया से द्रवित हो प्रभु ने देवदूष्य का एक खण्ड फाड़कर उसे दे दिया। साधु के लिए गृहस्थ को रागवृद्धि के कारणरूप वस्त्रादि दान का निषेध करने वाले प्रभु स्वयं वैसा करें यह कैसे सम्भव है ? क्योंकि प्रभु में अनन्त दया होती है, वस्त्र फाड़कर देने रूप सीमित दया नहीं होती। मान लें कि भगवान् का हृदय दया से पिघल गया तो भी देवदूष्य को फाड़ने की उनको आवश्यकता नहीं थी। संभव है सेवा में रहने वाले सिद्धार्थ आदि किसी देव ने ऐसा किया हो। उस दशा में आचार्यों द्वारा ऐसा लिखना संगत हो सकता है।

इसी प्रकार तीर्थंकर का सर्वथा अपरिग्रही होकर भी देवकृत छत्र, चामरादि विभूतियों के बीच रहना साधारण जन के लिए शंका का कारण हो सकता है। आज के बुद्धिवादी लोग तीर्थंकर की देवकृत भक्ति का गलत अनुकरण करना चाहते हैं। वास्तव में तीर्थंकर की स्थिति दूसरे प्रकार की थी। देवकृत महिमा के समय तीर्थंकर को केवलज्ञान हो चुका था। वे पूर्ण वीतरागी बन चुके थे। आज के संत या गुरु छद्मस्थ होने के कारण सरागी हैं। तीर्थंकर के तीर्थंकर नामकर्म के उदय होने से देव स्वयं शाश्वत नियमानुसार छत्र चामरादि विभूतियों से उनकी महिमा करते, वैसी आज के संतों की विशिष्ट पुण्य प्रकृतियों का उदय नहीं है, जिससे कि तीर्थंकरों के समवशरण की तरह पुष्पवर्षा कर भक्तों को बाह्याडम्बर हेतु निमित्त बनना पड़े। रागादि का उदय होने से आज की महिमा पूजा दोनों के लिए बन्ध का कारण हो सकती है अतः शासनप्रेमियों को तीर्थंकर के नाम का मिथ्यानुकरण नहीं करना चाहिए।

## निश्चय और व्यवहार

वीतराग और कल्पातीत होने के कारण तीर्थंकर व्यवहार की मर्यादाओं से बंधे नहीं होते। इतना होते हुए भी तीर्थंकरों ने हमें निश्चय एवं व्यवहार रूप मोक्षमार्ग का उपदेश दिया और स्वयं ने व्यवहार-विरुद्ध प्रवृत्ति नहीं की। फिर भी आचार्यों ने केवलज्ञान के पश्चात् भगवान् महावीर का रात्रि में विहार कर महासेन वन पधारना माना है। यह ठीक है कि केवलज्ञानी के लिए रात-दिन का भेद नहीं होता फिर भी यह व्यवहार-विरुद्ध है। बृहत्कल्पसूत्र की वृत्ति के अनुसार प्रभु ने व्यवहार-पालन हेतु प्यास और भूख से पीड़ित साधुओं को जंगल में सहज अचित्त पानी एवं अचित्त तिलों के होते हुए भी खाने-पीने की अनुमति नहीं दी<sup>१</sup> निर्युक्तिकार ने 'राईए संपत्तो महसेणवणम्मि उज्जाणे' लिखा है। वैसे आवश्यक चूर्णि आदि में दरिद्र ब्राह्मण को वस्त्र खण्ड देने का भी उल्लेख है। इन सबकी क्या संगति हो सकती है, इस पर गीतार्थ गम्भीरता से विचार करें।

हम इतना निश्चित रूप से कह सकते हैं कि तीर्थंकर 'जहा वाई तहा

१. बृहत्कल्प भा. भा. २. गा. ९९७, पृ. ३१४-१५

कारिया वि हवइ' होते हैं। उनका आचार विचारानुगामी और व्यवहार में अविरोद्ध होता है। निश्चय मार्ग के पूर्ण अधिकारी होते हुए भी तीर्थंकर व्यवहार-विरोद्ध प्रवृत्ति नहीं करते। तीर्थंकरों का रात्रि-विहार नहीं करना और मल्लिनाथ का केवलज्ञान के बाद भी साधु-सभा में न रहकर साध्वी-सभा में रहना आदि, व्यवहार-विरोद्ध प्रवृत्ति नहीं करने के ही प्रमाण हैं।

### तीर्थंकरकालीन महापुरुष

भगवान् ऋषभदेव से महावीर तक २४ तीर्थंकरों के समय में अनेक ऐसे महापुरुष हुए हैं, जो राज्याधिकारी होकर भी मुक्तिगामी माने गये हैं। उनमें २४ तीर्थंकरों के साथ बारह चक्रवर्ती, नव बलदेव, नव वासुदेव इस तरह कुल मिलाकर ५४ महापुरुष कहे गये हैं। पीछे और नव प्रतिवासुदेवों को जोड़ने से त्रिषष्टि शलाका-पुरुष के रूप में कहे जाने लगे।

भरत चक्रवर्ती भगवान् ऋषभदेव के समय में हुए जिनके सम्बन्ध में जैन, हिन्दू और बौद्ध-ये भारत की तीनों प्रमुख परम्पराएँ एक मत से स्वीकार करती हैं कि इन्हीं ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा।

सगर चक्रवर्ती दूसरे तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ के समय में, मघवा और सनत्कुमार भगवान् धर्मनाथ एवं शान्तिनाथ के अन्तरकाल में हुए। भगवान् शान्तिनाथ, कुथुनाथ एवं अरनाथ चक्री और तीर्थंकर दोनों ही थे। आठवें सुभौम चक्रवर्ती भगवान् अरनाथ और मल्लिनाथ के अन्तरकाल में हुए। नौवें चक्रवर्ती पद्म भगवान् मल्लिनाथ और भगवान् मुनिसुव्रत के अन्तरकाल में हुए। दसवें चक्रवर्ती हरिषेण भगवान् मुनिसुव्रत और भगवान् नमिनाथ के अन्तरकाल में हुए। ग्यारहवें चक्रवर्ती जय भगवान् नमिनाथ और भगवान् अरिष्टनेमि के अन्तरकाल में तथा बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त भगवान् अरिष्टनेमि और भगवान् पार्श्वनाथ के मध्यवर्ती काल में हुए।

त्रिपृष्ठ आदि पांच वासुदेव भगवान् श्रेयांसनाथ आदि पांच तीर्थंकरों के काल में हुए। भगवान् अरनाथ और मल्लिनाथ के अन्तरकाल में पुण्डरीक, भगवान् मल्लिनाथ और मुनिसुव्रत के अन्तरकाल में दत्त नामक वासुदेव हुए। भगवान् मुनिसुव्रत और नमिनाथ के अन्तरकाल में लक्ष्मण वासुदेव और भगवान् अरिष्टनेमि के समय में श्रीकृष्ण वासुदेव हुए।

वासुदेव आदि की तरह ग्यारह रुद्र, ९ नारद और कहीं बाहुबली आदि चौबीस कामदेव भी माने गये हैं।

(१) भीमावलि, (२) जितशत्रु, (३) रुद्र, (४) वैश्वानर, (५) सुप्रतिष्ठ, (६)

अचल, (७) पुण्डरीक, (८) अजितधर, (९) अजितनाभि, (१०) पीठ और (११) सात्यकि—ये ग्यारह रुद्र माने गये हैं।

(१) भीम, (२) महाभीम, (३) रुद्र, (४) महारुद्र, (५) काल, (६) महाकाल, (७) दुर्मुख, (८) नरमुख और (९) अधोमुख नामक नौ नारद हुए। ये सभी भव्य एवं मोक्षगामी माने गये हैं।

प्रथम रुद्र भगवान् ऋषभदेव के समय में, दूसरे रुद्र भगवान् अजितनाथ के समय में, तीसरे रुद्र से नौवें रुद्र तक सुविधिनाथ आदि सात तीर्थकरों के समय में, दसवें रुद्र भगवान् शान्तिनाथ के समय में और ग्यारहवें रुद्र भगवान् महावीर के समय में हुए। अन्तिम दोनों रुद्र नरक के अधिकारी माने गये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में धार्मिक इतिहास-लेखन का मुख्य दृष्टिकोण होने से चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव आदि का यथावत् विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है। चक्रवर्तियों में से भरत और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का, वासुदेवों में श्रीकृष्ण का और प्रतिवासुदेवों में से जरासन्ध का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से संक्षिप्त वर्णन किया गया है। रुद्र एवं नारदों के लिए तिलोयपण्णती के चतुर्थ महाधिकार में पठनीय सामग्री उल्लिखित है।

भगवान् महावीर के भक्त राजाओं में श्रेणिक, कूणिक, चेटक, उदायन आदि प्रमुख राजाओं का परिचय दिया गया है। श्रेणिक, भगवान् महावीर के शासन का प्रभावक भूपति हुआ है। उसने शासन-सेवा से तीर्थकर-गोत्र का उपार्जन किया। पूर्वबद्ध निकाचित कर्म के कारण उसे प्रथम नरकभूमि में जाना पड़ा। उसने अपने नरक-गति के बंध को काटने हेतु सभी प्रकार के प्रयत्न किये। श्रमण भगवान् महावीर की चरण-शरण ग्रहण कर उसने अपने नरक-गमन से बचने का कारण पूछा। आवश्यक चूर्णि के अनुसार प्रभु ने उसे नरक से बचने के दो उपाय-क्रमशः कालशौकरिक से हिंसा छुड़ाना और कपिला ब्राह्मणी से भिक्षा दिलाना बताये। श्रेणिक चरित्र में नमुक्कारसी पच्चखाण, श्रेणिक की दादी द्वारा मुनि-दर्शन और पूणिया श्रावक से सामायिक का फल खरीदना—ये तीन कारण अधिक बताये गये हैं। श्रेणिक ने भरसक प्रयत्न किया पर नमुक्कारसी का व्रत करने में सफल नहीं हो सका। अपनी दादी द्वारा मुनिदर्शन के दूसरे उपाय के सम्बन्ध में उसे विश्वास था कि उसकी प्रार्थना पर उसकी दादी अवश्य ही मुनिदर्शन कर लेगी और उसके फलस्वरूप सहज ही वह नरक-गमन से बच जायेगा। परन्तु श्रेणिक द्वारा लाख प्रयत्न करने पर भी उसकी दादी ने मुनिदर्शन करना स्वीकार नहीं किया। नरक से बचने का तीसरा उपाय पूणिया श्रावक की सामायिक खरीदना था। पर पूणिया श्रावक की सामायिक तो त्रैलोक्य की समस्त सम्पत्ति से भी अधिक कीमती एवं अमूल्य थी अतः वह कीमत से मिलती ही कैसे ? अन्त में श्रेणिक ने समझ लिया कि उसका नरक-गमन अवश्यभावी है।

## तीर्थकर और नाथ-संप्रदाय

तीर्थकरों का उल्लेख जैन साहित्य के अतिरिक्त वेद, पुराण आदि वैदिक और त्रिपिटक आदि बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। परन्तु उनमें ऋषभ, संभव, सुपाश्र्व, अरिष्टनेमि आदि रूप से ही उल्लेख मिलता है, कहीं भी नाथ पद से युक्त तीर्थकरों के नाम उपलब्ध नहीं होते। समवायांग, आवश्यक और नंदीसूत्र में भी नाथ-पद के साथ नामों का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में सहज ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि तीर्थकरों के नाम के साथ 'नाथ' शब्द कब से और किस अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

शब्दार्थ की दृष्टि से विचार करते हैं तो नाथ शब्द का अर्थ स्वामी या प्रभु होता है। आगम में वशीकृत-आत्मा के लिए भी नाथ शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्र में अनाथी मुनि के शब्दों में कहा गया है :—

खन्तो दन्तो निरारंभो, पव्वइओ अणगारियं ॥ ३४ ॥

तो हं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य ॥ ३५ ॥

(उ.अ. २०)।

अर्थात् "जब मैं शान्त, दान्त और निरारम्भी रूप से प्रव्रजित हो गया, तब अपना और पर का नाथ हो गया।"

प्रत्येक तीर्थकर त्रिलोकस्वामी और उपरोक्त महान् गुणों से सम्पन्न होते हैं अतः उनके नाम के साथ 'नाथ' उपपद का लगाया जाना नितान्त उपयुक्त एवं उचित ही है। प्रभु, नाथ, देव एवं स्वामी आदि शब्द एकार्थक हैं अतः तीर्थकर के नाम के साथ देव, नाथ अथवा स्वामी उपपद लगाया गया है।

सर्वप्रथम भगवती सूत्र में भगवान् महावीर का और आवश्यक सूत्र में अरिहन्तों का उत्कीर्तन करते हुए 'लोगनाहेण', 'लोग नाहाणं' विशेषण से उन्हें लोकनाथ कहा है।

टीकाकार ने 'नाथ' शब्द की एक दूसरी व्याख्या भी की है। 'योगक्षेम-कृत्राथः' अलभ्यलाभो योगः, लब्धस्य परिपालनं क्षेमः। इस दृष्टि से तीर्थकर भव्य जीवों के लिए अलब्ध सम्यग्दर्शन आदि का लाभ और लब्ध सम्यग्दर्शन का परिपालन करवाते हैं अतः वे इस अपेक्षा से भी नाथ कहे जा सकते हैं।

चौथी शताब्दी के आस-पास हुए दिगम्बर आचार्य यतिवृषभ ने अपने ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ती' में अधोलिखित कतिपय स्थलों पर तीर्थकरों के नाम के साथ 'नाथ' शब्द का प्रयोग किया है :—

'भरणी रिक्खम्मि संतिणाहो य।' ति. प. ४।५४१।

'विमलस्स तीसलक्खा, अणंतणाहस्स पंचदसलक्खा।'

(ति. प. ४।५९९)

आचार्य यतिवृषभ ने तीर्थकरों के नाम के आगे नाथ शब्द की तरह ईसर और सामी पदों का भी उल्लेख किया है। यथा :—

‘रिसहेसरस्स भरहो, सगरो अजिएसरस्स पच्चक्खं’

(ति. प. ४।१२८३)।

‘लक्खा पणप्पमाणा वासाणं धम्मसामिस्स।’

(ति. प. ४।५९९)।

इससे इतना तो सुनिश्चित एवं निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि चौथी शताब्दी में यतिवृषभ के समय में तीर्थकरों के नाम के साथ नाथ शब्द का प्रयोग लिखने-पढ़ने व बोलने में आने लगा था।

जैन तीर्थकरों के नाम के साथ लगे हुए नाथ शब्द की लोकप्रियता शनैः शनैः इतनी बढ़ी कि शैवमती योगी अपने नाम के साथ मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि रूप से नाथ शब्द जोड़ने लगे फलस्वरूप इस संप्रदाय का नाम ही ‘नाथ संप्रदाय’ के रूप में पहिचाना जाने लगा।

इतर संप्रदाय के साधारण लोग जो सर्वथा आदिनाथ, अजितनाथ आदि तीर्थकरों की महिमा और उनके इतिहास से अनभिज्ञ हैं, गोरखनाथ की परम्परा में नीमनाथी, पारसनाथी नाम देख कर भ्रान्ति में पड़ सकते हैं कि गोरखनाथ से नेमनाथ पारसनाथ हुए या नेमनाथ पारसनाथ से गोरखपंथी हुए। सही स्थिति यह है कि मत्स्येन्द्रनाथ जो नाथ संप्रदाय के मूल प्रवर्तक<sup>१</sup> एवं आदि आचार्य माने जाते हैं, उनका समय ईसा की आठवीं शताब्दी माना गया है जबकि तीर्थकर भगवान् नेमनाथ, पारसनाथ और जैन धर्मानुयायी हजारों वर्ष पहले के हैं। नेमनाथ पार्श्वनाथ से ८३ हजार वर्ष पूर्व हो चुके हैं। दोनों में बड़ा कालभेद है। अतः गोरखनाथ से नेमनाथ पारसनाथ या जैन धर्मानुयायियों के होने की तो संभावना ही नहीं हो सकती। ऐसी मिथ्या कल्पना विद्वानों के लिए किसी भी तरह विश्वसनीय नहीं हो सकती। हाँ नेमनाथ पारसनाथ से गोरखनाथ की संभावना की जा सकती है। पर विचारने पर वह भी ठीक नहीं बैठती क्योंकि भगवान् पार्श्वनाथ विक्रम संवत् से ७२५ वर्ष से भी अधिक पहले हो चुके हैं जबकि गोरखनाथ को विद्वानों ने बप्पा रावल का भी समकालीन माना है। हो सकता है कि भगवान् नेमनाथ के व्यापक अहिंसा प्रचार का जिसने कि पूरे यादव वंश का मोड़ बदल दिया था, नाथ परम्परा पर प्रभाव पड़ा हो और पार्श्वनाथ के कमठ प्रतिबोध की कथा से नाथ परम्परा के योगियों का मन प्रभावित हुआ हो और इस आधार से नीमनाथी, पारसनाथी परम्परा प्रचलित हुई हो। जैसा कि प्रसिद्ध इतिहासज्ञ हजारी प्रसाद

१. हमारी अपनी धारणा यह है कि इसका उदय लगभग ८वीं शताब्दी के आसपास हुआ था। मत्स्येन्द्रनाथ इसके मूल प्रवर्तक थे। — हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठ भूमि। पृ. ३२७



द्विवेदी ने अपनी 'नाथ संप्रदाय' नामक पुस्तक में लिखा है :—

"चांदनाथ संभवतः वह प्रथम सिद्ध थे जिन्होंने गोरक्षमार्ग को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नीमनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थकरों के अनुयायी जान पड़ते हैं। जैन साधना में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे।"<sup>१</sup>

### ऐतिहासिक मान्यताओं में मतभेद

"यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि जैन इतिहास का मूलाधार जब सबका एक है तो फिर विभिन्न आचार्यों के लिखने में मतभेद क्यों ?"

स्वास्तविकता यह है कि जैन परम्परा का सम्पूर्ण श्रुत गुरु-शिष्य परम्परा से प्रायः मौखिक ही चलता रहा। एक गुरु के शिष्यों में भी मौखिक ज्ञान क्षयोपशम की न्यूनधिकता के कारण विभिन्न प्रकार का दृष्टिगोचर होता है। एक की स्मृति में एक बात एक तरह से है तो दूसरे की स्मृति में वही बात दूसरी तरह से और तीसरे को संभव है उसका बिलकुल ही स्मरण न हो। अति सन्निकट काल के घटनाचक्र के सम्बन्ध में जब इस प्रकार की मतवैचित्र्य की स्थिति है तो प्राचीनकाल की ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में दीर्घकाल की अनेक दुष्कालियों के समय स्मरण, चिन्तन एवं परावर्तन के बराबर अवसर प्राप्त न होने की दशा में कतिपय मतभेदों का होना स्वाभाविक है। जैसा कि विमलसूरी ने पउम चरियं में कहा है:—

एवं परम्पराए परिहाणी पुव्व गंथ अत्थाणं।  
नाऊण कालभावं, न रुसियव्वं बुहजणेण॥

निकट भूत में हुए अनेक संतों, उनकी परम्पराओं एवं उनके जन्मकाल आदि के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणस्वरूप कबीर को कोई हिन्दू मानते हैं तो कई मुस्लिम। उनके जन्मकाल, माता-पिता के नाम आदि के सम्बन्ध में भी आज मतैक्य दृष्टिगोचर नहीं होता। पूज्य धर्मदासजी महाराज जिनके नाम पर स्थानकवासी समाज में कितनी ही उपसंप्रदायें चल रही हैं, उनके माता-पिता, जन्मकाल और स्वर्गवास-तिथि के सम्बन्ध में आज मतभेद चल रहा है। ऐसी स्थिति में हजारों वर्ष पहले हुए तीर्थकरों के विषय में मतभेद हो तो इसमें विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। कालप्रभाव, स्मृतिभेद, दृष्टिभेद के अतिरिक्त लेखक और वाचक के दृष्टिदोष के कारण भी मान्यताओं में कुछ विभेद आ गये हैं, जो कालान्तर में ईसा की तीसरी शती के आसपास श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्पराओं की मध्यवर्ती यापनीय नामक तीसरी परम्परा के भी जनक रहे हैं। पाठकों को इस मतभेद से खिन्न होने की अपेक्षा यह देख कर अधिक गौरवानुभव करना चाहिए कि तीर्थकरों के माता-पिता, जन्मस्थान, च्यवन नक्षत्र, च्यवन स्थल, जन्म नक्षत्र,

१. 'नाथ संप्रदाय' — हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ. ११०

वर्ण, लक्षण, कुमारकाल, दीक्षातप, दीक्षाकाल, साधनाकाल, निर्वाणतप, निर्वाणकाल आदि मान्यताओं में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं का प्रायः साम्य है। नाम, स्थान, तिथि आदि का भेद, श्रुतिभेद या गणनाभेद से हो गया है, उससे मूल वस्तु में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

भगवान् वासुपूज्य, मल्ली, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर इन पांच तीर्थकरों को दोनों परम्पराओं में कुमार माना गया है। अरिष्टनेमि, मल्ली, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पांचों ने कुमारकाल में और शेष १९ तीर्थकरों ने राज्य करने के पश्चात् दीक्षा ग्रहण की<sup>१</sup> इस प्रकार का उल्लेख तिलोयपण्णत्ती में किया गया है। कुमारकाल के साथ राज्य का उल्लेख होने के कारण वे पांचों तीर्थकर अविवाहित ही दीक्षित हुए हों ऐसा स्पष्ट नहीं होता। इस अस्पष्टता के कारण दोनों परम्पराओं में पार्श्व, वासुपूज्य और महावीर के विवाह के विषय में मतैक्य नहीं रहा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में तीर्थकर परिचय-पत्र एवं प्रत्येक तीर्थकर के जीवन-परिचय में यथास्थान उन मतभेद के स्थलों का भी निर्देश किया है। कुछ ऐसे भी मतभेद हैं जो परम्परा से विपरीत होने के कारण मुख्यरूपेण विचारणीय हैं। जैसे-सब आचार्यों ने क्षत्रियकुंड को महाराज सिद्धार्थ का निवासस्थल माना है परन्तु आचार्य शीलांक ने उसे सिद्धार्थ का विहारस्थल (Hill Station) लिखा है<sup>२</sup>

आचार्य सूत्र, कल्पसूत्र आदि में नन्दीवर्धन को श्रमण भगवान् महावीर का ज्येष्ठ भाई लिखा है जबकि आचार्य शीलांक ने नन्दीवर्धन को महावीर का छोटा भाई बताया है<sup>३</sup>

भगवती सूत्र के अनुसार गोशालक द्वारा सर्वानुभूति और सुनक्षत्र अणगार पर तेजोलेश्या का प्रक्षेपण और समवसरण में मुनिद्वय का प्राणान्त होना बताया गया है, जबकि आचार्य शीलांक ने चउवन महापुरिस चरियम् में गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या से किसी मुनि की मृत्यु का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने लिखा है कि सर्वानुभूति अणगार के साथ विवाद होने पर गोशालक ने उन पर तेजोलेश्या फेंकी। बदले में सर्वानुभूति ने भी तेजोलेश्या प्रकट की। दोनों तेजोलेश्याएं टकराईं। भगवान् महावीर ने तेजोलेश्याओं द्वारा होने वाले अनर्थ को रोकने के लिए शीतलेश्या प्रकट की। उसके प्रबल प्रभाव को नहीं सह सकने के कारण वह तेजोलेश्या गोशालक पर गिर कर उसे जलाने लगी। तेजोलेश्या की तीव्र ज्वालाओं

१. तिलो. पं. ४/६७०

२. अण्णयां य गामाणुगामं गच्छमाणो कीलाणिमित्तभागओ णियमुत्तिपरिसंठियं कुंडपुरं णामनयरं।  
(चउपत्रमहापुरिसचरियं, पृ. २७०)

३. परलोयमइगतेसुं जणणि-जणएसुं पणामिकुण णियकणिद्वस्स भाउणो रज्जं .....  
(चउपत्रमहापुरिसचरियं, पृ. २७२)

से भयभीत हो गोशालक भगवान् महावीर के चरणों में गिर पड़ा। प्रभु के चरणों की कृपा से उस पर आया हुआ तेजोलेश्या का उपसर्ग शान्त हो गया।<sup>१</sup>

गोशालक को अपने दुष्कृत्य पर पश्चाताप हुआ और अपने दुष्कृत्य की निन्दा करते हुए उसने शुभ-लेश्या प्राप्त की और मरकर अन्त में अच्युत स्वर्ग में देवरूप से उत्पन्न हुआ।<sup>२</sup>

उपरोक्त मन्तव्यों से प्रतीत होता है कि आचार्य शीलांक के समय में भी गोशालक द्वारा भगवान् के पास सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि पर तेजोलेश्या फेंकने के सम्बन्ध में विचार-विभेद था। आचार्य शीलांक जैसे शास्त्रज्ञ मुनि द्वारा परम्परागत मान्यता के विपरीत लिखने के पीछे कोई कारण अवश्य होना चाहिए। इतने बड़े विद्वान् यों ही बिना सोचे कुछ लिख डालें, इस पर विश्वास नहीं होता। यह विषय विद्वानों की गहन गवेषणा की अपेक्षा रखता है।

### तीर्थकरकालीन प्रचार-नीति

तीर्थकरों के समय में देव, देवेन्द्र और नरेन्द्रों का पूर्णरूपेण सहयोग होते हुए भी जैन धर्म का देश-देशान्तरों में व्यापक प्रचार क्यों नहीं हुआ, तीर्थकरकाल की प्रचार-नीति कैसी थी, जिससे कि भरत जैसे चक्रधर, श्रीकृष्ण जैसे शक्तिधर और मगधनरेश श्रेणिक जैसे भक्तिधरों के सत्ताकाल में भी देश में जैन धर्म का प्रचुर प्रचार नहीं हो सका। साधु-संत और शक्तिशाली भक्तों ने प्रचारक भेजकर तथा अधिकारियों ने राजाज्ञा प्रसारित कर अहिंसा एवं जैन धर्म का सर्वत्र व्यापक प्रचार क्यों नहीं किया, इस प्रकार के प्रश्न सहज ही प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में उत्पन्न हो सकते हैं।

तत्कालीन स्थिति का सम्यक् अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि तीर्थकरों के मार्ग में प्रचार का मूल सम्यग्विचार और आचारनिष्ठा ही माना गया था। उनके उपदेश का मूल लक्ष्य हृदय-परिवर्तन रहता था। यही कारण है कि तीर्थकर भगवान् ने अपने पास आये हुए श्रोताओं को भी सम्यग्दर्शन आदि मार्ग का ज्ञान कराया पर किसी को बलपूर्वक अथवा आग्रहपूर्वक यह नहीं कहा कि तुम्हें अमुक व्रत ग्रहण करना होगा। उपदेश श्रवण के पश्चात् जो भी इच्छापूर्वक

१. अणया य भिक्खु .... सव्वाणभूईहिं समं विवाओ सजाओ। तओ विवायवसुप्पण्ण कीवाईसयेण य पक्खिता ताणोवरि तेउलेसा, तेहिंपि तस्स सत्तेउलेसं ति। ताणं चं परोप्परं तेउलेसाणं संपलग्ग जुज्झ एत्थावसरम्मि य भयवया तस्सुवसमण, णिमित्त पेसिया सीयलेसा। तओ सीयलेसापहावमसहमाणा विवलाया तेउलेसा, मंदसाहियकिच्च व्य पयत्ता अहिद्विउं गोसालयं- णवरमसहमाणो तेयजलणप्पहावं समत्तीणो जयगुहं। जय गुरुचलणप्पहावपणट्ठोवसग्गपसरो य संबुद्धो पयतो धितिउं हा ! दुट्ठु मे कयं जं भयवया सह समसीसिमारुहंतेण अच्चासायणा कया।

(वही, पृ. ३०६-७)

२. एवं च पइदिणं णिंदणाइयं कुणमाणो कालमासे कयपाणपरिच्चाओ समुप्पण्णो अच्युए देवलोए ति।

(वही, पृ. ३०७)

साधुधर्म अथवा श्रावकधर्म ग्रहण करने के लिए खड़ा होता उसे यही कहा जाता— 'यथा-सुखम्' अर्थात् जिसमें सुख हो उसमें प्रमाद मत करो।

भावना उत्पन्न करने के बाद क्या करना, इसका निर्णय श्रोता पर ही छोड़ दिया जाता। आज की तरह बल प्रयोग या आडम्बर से प्रचार नहीं किया जाता था। कारण कि प्रचार की अपेक्षा आचार की प्रधानता थी। अन्यथा चक्रवर्ती और वासुदेवों के राज्यकाल में अनार्य-खण्ड में भी जैन धर्म के प्रति व्यापक आदर हो जाता और लाखों ही नहीं करोड़ों मानव जैन धर्म के श्रद्धालु अनुयायी बन जाते एवं सर्वत्र वीतराग-वाणी का प्रचार एवं प्रसार हो जाता।

तीर्थकरों के समय के प्रचार को देखते हुए प्रतीत होता है कि उन्होंने ज्ञानपूर्वक विशुद्ध प्रचार को ही उपादेय मान रखा था। सत्ताबल, धनबल अथवा सेवा-शुश्रूषा से प्रसन्न कर, किसी को भय, प्रलोभन या प्रशंसा से चढ़ाकर बिना पाये (बुनियाद) के तैयार करना उचित नहीं माना जाता था। जैन साधु सार्वजनिक स्थान में ठहरते, बिना भेद-भाव के सब जातियों के अनिष्टकुलों से भिक्षा ग्रहण करते और सबको उपदेश देते थे। धर्म, संप्रदाय या पंथ-परिवर्तन कराने में खास रस नहीं लिया जाता था। बोध पाकर कोई स्वयं धर्म ग्रहण करना चाहता, उसे ही दीक्षित किया जाता। जैनाचार्यों अथवा शासकों द्वारा कोई बलात् धर्म-परिवर्तन का उदाहरण नहीं मिलेगा।

उस समय स्थिति ऐसी थी कि समाज के शुभ वातावरण में अनायास ही लोग धर्मानुकूल जीवन जी सकते थे। संस्कारों का पाया इतना दृढ़ था कि अनार्य लोग भी उनके प्रभाव से प्रभावित हो जाते। अभयकुमार ने अनार्य देशस्थ अपने पिता के मित्र अनार्य नरेश के राजकुमार को धर्मप्रेमी बनाने के लिए धर्मोपकरण की भेंट भेजी और सेठ जिनदत्त ने अनार्यभूप को धर्मरत्न की ओर आकृष्ट कर भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित किया। इसी प्रकार मंत्री चित्त ने केशिश्रमण को श्वेताम्बिका नगरी ले जा कर नास्तिक नरेश प्रदेशी को आरितक एवं धर्मानुरागी बनाया।

प्रचार का तरीका यह था कि किसी विशिष्ट पुरुष को ऐसा तैयार करना कि वह हजारों को धर्मनिष्ठ बना सके। उस समय किसी की धार्मिक साधना में बाधा पहुंचाना या किसी को धर्मच्युत करना जघन्य कृत्य समझा जाता था। आज की स्थिति उस समय से भिन्न है। आज अनार्य देश में भी आर्यजन आते-जाते तथा रहते हैं एवं कई अनार्य लोग भारत की आर्यधरा में भी रहने लगे हैं। एक दूसरे का परस्पर प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि उनमें अहिंसा, सत्य एवं सदाचार का खुलकर प्रचार किया जाये। उन्हें खाद्या-खाद्य का स्वरूप

समझाया जाये। अन्यथा बढ़ते हुए हिंसा और मांसाहार के युग में निर्बल मन वाले धार्मिक लोग विदेशियों से प्रभावित हो धर्मानुकूल व्यवहार से विमुख हो जावेंगे। प्रचार आवश्यक है पर वह अपनी संस्कृति के अनुरूप होना चाहिए। हमारी प्रचार-नीति आचार-प्रधान और ज्ञानपूर्वक हृदय-परिवर्तन की भूमिका पर ही आधारित होनी चाहिए। इसी से हम जिन-शासन का हित कर सकते हैं और यही तीर्थकरकालीन संस्कृति के अनुरूप प्रचार का मार्ग हो सकता है।

### आज के इतिहास लेखक

जैन इतिहास के इस प्रकार के प्रामाणिक आधार होने पर भी आधुनिक विद्वान् उसको बिना देखे जैन धर्म और तीर्थकरों के विषय में भ्रान्ति-पूर्ण लेख लिख डालते हैं, यह आश्चर्य एवं खेद की बात है। इतिहासज्ञ को प्रामाणिक ग्रन्थों का अध्ययन कर जिस धर्म या संप्रदाय के विषय में लिखना हो प्रामाणिकता से लिखना चाहिए। सांप्रदायिक अभिनिवेश या बिना पूरे अध्ययन-मनन के सुनी-सुनाई बात पर लिख डालना उचित नहीं।

गोशालक द्वारा महावीर का शिष्यत्व स्वीकार करना और आजीवक मत पर महावीर के सिद्धान्त का प्रभाव शास्त्रसिद्ध होने पर भी यह लिखना कि महावीर ने गोशालक से अवेलधर्म स्वीकार किया, कितनी बड़ी भूल है। आज भी कुछ विद्वान जैन धर्म को वैदिक मत की शाखा बताने की व्यर्थ चेष्टा करते हैं, यह उनकी गहरी भूल है। हम आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास करते हैं कि हमारे विज्ञ इतिहासज्ञ इस ओर विशेष सतर्क रहकर जैन धर्म जैसे भारत के प्रमुख धर्म का सही परिचय प्रस्तुत कर राष्ट्र को तत्विषयक अज्ञान से हटा आलोक में रखने का प्रयास करेंगे।

### ग्रंथ परिचय

“जैन धर्म का मौलिक इतिहास” नाम का प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथमानुयोग की प्राचीन आगमीय परम्परा के अनुसार लिखा गया है। इस तीर्थकर-खंड में तीर्थकरों के पूर्व-भव, देवगति का आयु, च्यवन, च्यवनकाल, जन्म, जन्मकाल, राज्याभिषेक, विवाह, वर्षीदान, प्रव्रज्या, तप, केवलज्ञान, तीर्थस्थापना, गणधर, प्रमुख आर्या, साधु-साध्वी आदि परिवारमान एवं किये हुए विशेष उपकार का परिचय दिया गया है। ऋषभदेव से महावीर तक चौबीसों तीर्थकरों का परिचय आचारंग, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, समवायांग, आवश्यक आदि सूत्र, आवश्यक नियुक्ति, आवश्यक चूर्णि, प्रवचन सारोद्धार, सत्तरिसय द्वार और दिगम्बर परम्परा के महापुराण, उत्तर पुराण, तिलोय घण्णती आदि प्राचीन ग्रन्थों के आधार से लिखा गया है।

मतभेद के स्थलों में त्रिषष्टि शलाका पुरुष-चरित्र, आगमीय मत और सत्तरिसय प्रकरण को सामने रखकर शास्त्रसम्मत विचार को ही प्रमुख स्थान दिया है। भगवान् ऋषभदेव के प्रकरण में अत्यधिक अनुसन्धान अपेक्षित था। वह पहले तो अनेक कारणों से पूर्णतः संभव नहीं हो सका पर इस बार वह पर्याप्त रूपेण सुन्दर बन गया है। अनेक स्थलों पर परिवर्द्धन, परिमार्जन किये गये हैं।

ऐतिहासिक तथ्यों की गवेषणा के लिये जैन साहित्य के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध साहित्य से भी यथाशक्य सामग्री संकलन का लक्ष्य रखा है। गवेषणा में हमने किसी साहित्य की उपेक्षा नहीं की है।

मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त आधुनिक लेखकों के साहित्य का भी पूरा उपयोग किया गया है। पार्श्वनाथ में श्री देवेन्द्र मुनि, जो सम्पादक-मंडल में प्रमुख हैं, के साहित्य का और भगवान् महावीर के प्रकरण में श्री विजयेन्द्र सूरि, श्री कल्याण विजयजी आदि के साहित्य का भी यथेष्ट उपयोग किया गया है। लिखते समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है कि कोई भी चीज शास्त्र के विपरीत नहीं जावे और निर्ग्रन्थ परम्परा के विरुद्ध न हो। कहीं भी साम्प्रदायिक अभिनिवेशवश कोई अप्रामाणिक बात नहीं आने पावे, इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है। इस खण्ड में मुख्यतया तीर्थकरों का ही परिचय है अतः इसे तीर्थकर खण्ड कहा जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशिष्ट में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं की मान्यतानुसार तीर्थकरों का तुलनात्मक परिचय और आवश्यक टिप्पणी भी दिये हैं।

### संस्मरण—

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन, संकलन एवं सम्पादन कार्य में पं. शशिकान्तजी झा और गजसिंह जी राठौड़ का श्रमपूर्ण सहयोग भुलाया नहीं जा सकता। वैदिक साहित्य के माध्यम से अलभ्य उपलब्धियाँ श्री राठौड़ के लगनपूर्ण अनवरत चिन्तन एवं गवेषण का ही प्रतिफल है। उनका इतिहास के लिए रात-दिन तन्मयता से चिन्तन सचमुच अनुकरणीय कहा जा सकता है। मेरे कार्य-सहायक पं. मुनि श्री लक्ष्मीचन्द्रजी, सेवाव्रती मुनि लघु लक्ष्मीचन्द्रजी, श्री चौथमलजी प्रभृति का व्याख्यान आदि कार्य में और हीरा मुनि, शीतल मुनि आदि छोटे मुनियों का सेवा कार्य में अनवरत सहयोग मिलता रहा है। उन सबके सहयोग से ही कार्य सम्पन्न हो सका है।

प्लूफ संशोधन एवं प्रकाशन की समीचीन व्यवस्था में सम्यक्ज्ञान प्रचारक

मण्डल के साहित्य मंत्री श्री प्रेमराजजी बोगावत का एवं ग्रन्थ को सुन्दर बनाने में डॉ. नरेन्द्र भानावत का सहयोग भी भुलाया नहीं जा सकता। और भी ज्ञात, अज्ञात, छोटे-बड़े कार्यों में जिन-जिन का सहयोग रहा है, उन सबका नाम पूर्वक स्मरण यहाँ संभव नहीं है।

भाव, भाषा और सिद्धान्त का यथाशक्य खयाल रखते हुए भी मानव-स्वभाव की अपूर्णता के कारण यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए "मिच्छामि दुक्कडं।" विद्वज्जन सुहृद्भाव से उन त्रुटियों की सूचना करेंगे तो भविष्य में उन्हें सुधारने का ध्यान रखा जा सकेगा।

(द्वितीय संस्करण से साभार उद्धृत)

## सम्पादकीय

संसार के विविध विषयों में इतिहास का भी एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। विचारकों द्वारा इतिहास को धर्म, देश, जाति, संस्कृति एवं सभ्यता का प्राण माना गया है। जिस धर्म, देश, सभ्यता अथवा संस्कृति का इतिहास जितना अधिक समुन्नत, समृद्ध एवं सर्वांगपूर्ण होता है उतना ही अधिक वह धर्म, देश और समाज उत्तरोत्तर प्रगतिपथ पर अग्रसर होता हुआ संसार में चिरजीवी और स्थायी सम्मान का अधिकारी होता है। वास्तव में इतिहास मानव की वह जीवनी-शक्ति है, वह शक्ति का अक्षय्य अजस्र स्रोत है, जिससे निरन्तर अनुप्राणित एवं सशक्त हो मानव उन्नति की ओर अग्रसर होता हुआ अन्त में अपने चरम-लक्ष्य को प्राप्त करने में सफलकाम होता है।

यों तो संसार में सत्ता, सभ्यता, संस्कृति, समृद्धि, सम्मान, सन्तान आदि सभी को प्रिय हैं परन्तु तत्त्वदर्शियों ने बड़े गहन चिन्तन के पश्चात् आत्मानुभव से इन सब ऐहिक सुखों को क्षणविध्वंसी समझ कर धर्म को सर्वोपरि स्थान देते हुए यह ध्रुव-सत्य संसार के समक्ष रखा कि—

“धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।”

अर्थात् जिसने अपने धर्म की रक्षा नहीं की उसका सम्मान, सुख, समृद्धि, सत्ता, सभ्यता आदि सब कुछ चौपट होने के साथ वह स्वयं भी चौपट हो गया पर जिसने अपने धर्म को नहीं छोड़ा, प्राणपण से भी धर्म की रक्षा की, उसने अपने धर्म की रक्षा के साथ-साथ सत्ता, सम्मान, समृद्धि आदि की और अपनी स्वयं की भी रक्षा कर ली।

चिन्तकों ने संसार की सारभूत वस्तुओं का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार विभागों में वर्गीकरण किया है। इस वर्गीकरण में भी धर्म को मूर्धन्य



स्थान दिया है। क्योंकि यह प्राणी का परम हितैषी, सच्चा मित्र और चिरसंगी है। ऐसे परम कल्याणकारी अद्वितीय सखा धर्म की रक्षा करने का प्रत्येक प्राणी तभी प्रयत्न करेगा जबकि वह धर्म का सर्वांगीण स्वरूप, परमोत्कृष्ट महत्त्व अच्छी तरह से समझता हो। धर्म के महत्त्व और स्वरूप को भलीभांति समझने और जानने का माध्यम उस धर्म का इतिहास है।

इसके अतिरिक्त इतिहास की एक और महत्ती उपयोगिता है। वह हमें हमारी अतीत की भूलों, अतीत के हमारे सही निर्णयों, सामयिक सुन्दर विचारों और प्रयासों का पर्यवेक्षण कराने के साथ-साथ भूतकाल की भूलों से बचने एवं अच्छाइयों को दृढ़ता के साथ पकड़ कर उन्नति के पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा करता रहता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी धर्म, देश और संस्कृति का सच्चा इतिहास वास्तव में उस धर्म, देश और संस्कृति का प्राण, जीवन-शक्ति, प्रकाशस्तम्भ, प्रेरणास्रोत, पथ-प्रदर्शक, अभ्युन्नति का प्रशस्त मार्ग, खतरों से सावधान कर विनाश के गहरे गर्त से बचाने वाला सच्चा मित्र और सब कुछ है।

इतिहास वस्तुतः मानव को उस प्रशस्त मार्ग का, उस सीधी और सुन्दर सड़क का दिग्दर्शन कराता है, जिस पर निरन्तर चलते रहने से पथिक निश्चित रूप से अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करभे में समर्थ होता है। इतिहास मानव को चरमोत्कर्ष के प्रशस्त मार्ग का केवल दिग्दर्शन मात्र ही नहीं कराता अपितु वह उस प्रशस्त पथ के पथिकों को उस मार्ग में आने वाली समस्त बाधाओं, रुकावटों, स्खलनाओं और छलनाओं से भी हर डग पर बचते रहने के लिए सावधान करता है। इतिहास में वर्णित साधना-पथ के अतीत के पथिकों के भले-बुरे अनुभवों से साधना-पथ पर अग्रसर होने वाला प्रत्येक नवीन पथिक लाभ उठा कर मार्ग में आने वाली सभी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करता हुआ निर्बाध गति से अपने ईप्सित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

जैन समाज, खासकर श्वेताम्बर स्थानकवासी समाज में जैन धर्म के प्रामाणिक इतिहास की कमी चिरकाल से खटक रही थी। जैन कान्फ्रेंस और मुनिमण्डल ने सम्मेलन में भी अनेक बार जैन धर्म का प्रामाणिक इतिहास निर्मित करवाने का निर्णय किया पर किसी कर्मठ इतिहासज्ञ विद्वान् ने इस अतिकष्टसाध्य कार्य को सम्पन्न करने का भार अपने जिम्मे नहीं लिया अतः इसे मूर्त स्वरूप नहीं मिल सका।

समाज द्वारा चिराभिलषित इस कार्य को सम्पन्न करने की दृष्टि से

स्वनामधन्य आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब ने 'स्वान्तःसुखाय-परजनहिताय च' इस भावना से प्रेरित हो जैन धर्म का प्रारम्भ से लेकर आज तक का सही, प्रामाणिक, सर्वांगपूर्ण और क्रमबद्ध इतिहास लिखने का भगीरथ प्रयास प्रारम्भ किया। वास्तव में आचार्यश्री ने इस दुस्साध्य एवं गुरुतर महान् दायित्व को अपने ऊपर लेकर अद्भुत साहस का परिचय दिया है।

इतिहास-लेखन जैसे कार्य के लिये गहन अध्ययन, क्षीरनीर विवेकमयी तीव्र बुद्धि, उत्कृष्ट कोटि की स्मरणशक्ति, उत्कट साहस, अथाह ज्ञान, अडिग अध्यवसाय, पूर्ण निष्पक्षता, घोर परिश्रम आदि अत्युच्चकोटि के गुणों की आवश्यकता रहती है। वे सभी गुण आचार्यश्री में विद्यमान हैं। पर इतिहास-लेखन का कार्य लेखक से इस बात की अपेक्षा करता है कि वह अपना अधिकाधिक समय लेखन के लिये दे। ध्यान, स्वाध्याय, अध्यापन, व्याख्यान, संघ-व्यवस्था एवं विहारादि अनिवार्य कार्यों के कारण पहले से ही अपनी अति-व्यस्त दिनचर्या का निर्वहरण करने के साथ-साथ "जैन धर्म के मौलिक इतिहास" का यह प्रथम भाग पूर्ण कर आचार्यश्री ने नीतिकार की इस सूक्ति को अक्षरशः चरितार्थ कर दिखाया :—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,  
 प्रारभ्य विघ्नविहताः विरमन्ति मध्याः।  
 विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,  
 प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति ॥

इस महान् कार्य को सम्पन्न करने में आचार्यश्री को कितना घोर परिश्रम, गहन चिन्तन-मनन-अध्ययन करना पड़ा है, इसकी कल्पना मात्र से प्रत्यक्षदर्शी सिहर उठते हैं। आचार्यश्री के अक्षय शक्ति भण्डार, बौद्धिक एवं शारीरिक प्रबल परिश्रम का इस ही से अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्यश्री से आशुलिपि में डिक्टेसन लेने, उसे नागरी लिपि में लिखने तथा स्पष्ट एवं विस्तृत निर्देशन के अनुसार लेखन-सम्पादन के एक वर्ष मात्र के कार्य से मुझे अनेक बार ऐसा अनुभव होता कि कहीं मेरे मस्तिष्क की शिराएं फट न जायें। पर ज्योंही प्रातःकाल इन महान् योगी को पूर्ण मनोयोग से नित्यनवीन शतगुणित शक्ति से इतिहास-लेखन में व्यस्त देखता तो मुझे अपनी दुर्बलता पर लज्जा का अनुभव होता, अन्तर के कर्णरन्ध्रों में एक उद्घोष सा उद्भूत होता—

कुतस्त्वा कर्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।  
 अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन !!

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ, नैतत्त्वटयुपपद्यते।  
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं ! त्यक्तोत्तिष्ठ परंतप !।

और तत्क्षण ऐसा अनुभव होता मानो अंतर का तार विद्युत् के बहुत बड़े जनरेटर से जुड़ गया है। मैं पुनः यथावत् कार्य में जुट जाता।

श्रमणश्रेष्ठ-जीवन और आचार्य-पद के दैनिक दायित्वों का निर्वहन करने के साथ-साथ अहर्निश इतिहास-लेखन में तन्मयता के साथ लीन रहने पर भी आचार्यश्री के प्रशस्त भाल पर थकान की कोई हल्की सी रेखा तक भी कभी दृष्टिगोचर नहीं हुई। चेहरे पर वही सहज मुस्कान आंखों में महर्ध्य मुक्ताफल की सी स्वच्छ-अद्भुत चमक सदा अक्षुण्ण विराजमान रहती।

जिस प्रकार संसार और संसार के मूलभूत-द्रव्य अनादि एवं अनंत हैं, उसी प्रकार आत्मधर्म होने के कारण जैन धर्म तथा उसका इतिहास भी अनादि तथा अनन्त है। अतः जैन इतिहास को किसी एक ग्रन्थ अथवा अनेक ग्रन्थों में सम्पूर्ण रूप से आबद्ध करने का प्रयास करना वस्तुतः अनन्त आकाश को बांहों में समेट लेने के प्रयास के तुल्य असाध्य और असंभव है। फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव द्वारा धर्म-तीर्थ की स्थापना से प्रारम्भ कर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण-समय तक का जैन धर्म का क्रमबद्ध एवं संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। इसके साथ ही साथ कुलकर-काल एवं अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणीकाल को मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागर के पूर्ण काल-चक्र का एक रेखाचित्र की तरह अति संक्षिप्त स्थूल विवरण भी यथाप्रसंग दिया गया है।

इस प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल में भरतक्षेत्र में सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने तृतीय आरक की समाप्ति में ९९६ वर्ष ३ मास १५ दिन कम एक लाख पूर्व का समय अवशेष रहा उस समय धर्म-तीर्थ की स्थापना की। उसी समय से इस अवसर्पिणीकालीन जैन धर्म का इतिहास प्रारम्भ होता है। भगवान् ऋषभदेव द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन के काल से लेकर भगवान् महावीर के निर्वाणकाल तक का इतिहास प्रस्तुत ग्रन्थ में देने का प्रयत्न किया गया है। चतुर्थ आरक के समाप्त होने में जब तीन वर्ष और साढ़े आठ मास अवशेष रहे तब भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ।

इस प्रकार यह इतिहास एक कोड़ा-कोड़ी सागर, ७० शंख, ५५ पद्म, निन्यानवें नील, निन्यानवें खरब, निन्यानवें अरब, निन्यानवें करोड़, निन्यानवें लाख और सत्तावन हजार वर्ष का अति संक्षिप्त इतिहास है।

कल्पना द्वारा भी अपरिमेय इस सुदीर्घ अतीत में असंख्य बार भरत-क्षेत्र की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक एवं भौगोलिक स्थिति में उतार-चढ़ाव आये, उन सब का लेखा-जोखा रखना वास्तव में दुस्साध्य ही नहीं नितान्त असंभव कहा जा सकता है। पर इस लम्बी अवधि में भी आर्यधरा पर समय-समय पर चौबीस तीर्थंकर प्रकट हुए और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान को हस्तामलक की तरह युगपद् देखने-जानने वाले त्रिकालदर्शी उन तीर्थंकरों ने विस्मृति के गर्भ में छुपे उन सभी उपयोगी तथ्यों को समय-समय पर वाणी द्वारा प्रकाशित किया।

तीर्थंकरों द्वारा प्रकट किये गये उन ध्रुव-तथ्यों में से कतिपय तथ्य तो सुदीर्घ अतीत के अन्धकार में विलीन हो गये पर नियतकालभावी अधिकांश तथ्य सर्वज्ञभाषित आगम परम्परा के कारण आज भी अपना असंदिग्ध स्वरूप लिये हमारी अमूल्य थाती के रूप में विद्यमान हैं। जो कतिपय तथ्य विस्मृति के गह्वर में विलीन हुए उनमें से भी कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राचीन आचार्यों ने अपनी कृतियों में आबद्ध कर सुरक्षित रखे हैं। उन बिखरे तथ्यों को यदि पूरी शक्ति लगा कर क्रमबद्ध रूप से एकत्रित करने का सामूहिक प्रयास किया जाये तो हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों में और भी ऐसी विपुल सामग्री उपलब्ध होने की संभावना है, जिससे कि केवल जैन इतिहास के ही नहीं अपितु भारतवर्ष के समूचे प्राचीन इतिहास के कई धूमिल एवं लुप्तप्राय तथ्यों के प्रकाश में आने और अनेक नई ऐतिहासिक उपलब्धियाँ होने की आशा की जा सकती है।

हमारा अतीत बड़ा आदर्श, सुन्दर और स्वर्णिम रहा है। हम लोगों के ही प्रमाद के कारण वह धूमिल हो रहा है। आज भी भारतीय दर्शन की संसार के उच्चकोटि के तत्त्वचिन्तकों के हृदय पर गहरी छाप है। पाश्चात्य विद्वानों ने समय-समय पर यह स्पष्ट अभिमत व्यक्त किया है कि भारतीय दर्शन एवं चिन्तकों का संसार में सदा से सर्वोच्च स्थान रहा है और भारतीय संस्कृति मानव-संस्कृति का आदि-स्रोत है। सर्वतोमुखी भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी हमारे पूर्वज अत्यधिक बढ़े-चढ़े थे, यह तथ्य हमारे शास्त्र और धार्मिक ग्रन्थ डिण्डिम घोष से प्रकट कर रहे हैं। अमोघ शक्तियाँ, अमोघबाण, आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र, रौद्रास्त्र, वैश्वनासास्त्र, वरुणास्त्र, रथमूसलास्त्र (आधुनिक टैंकों से भी अत्यधिक संहारक स्वचालित भीषण अस्त्र), महाशिलाकण्टक (अद्भुत प्रक्षेपणास्त्र), शतघ्नी आदि संहारक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण और प्रयोग हमारे पूर्वज जानते थे, यह हमारे प्राचीन ग्रन्थ पुकार-पुकार कर कहते हैं पर हमारा सम्मोह और मतिविभ्रम हमें इस ध्रुव सत्य को स्वीकार नहीं करने देता।

इतिहास साक्षी है कि जब तक भारतीयों ने अपने उज्ज्वल अतीत के सही इतिहास को विस्मृत नहीं किया, तब तक वे उन्नति के उच्चतम शिखर पर आसीन रहे और जब से अपने इतिहास को भुलाया उसी दिन से अधःपतन प्रारम्भ हो गया। हमने प्राचीन— “संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्, समानो मन्त्रस्समितिरस्समानी समानं मनस्सहचित्तमेषाम्। समानी व आकूतिस्समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वरस्सुसहासति।” और “सह नावतु, सह नौ भुनक्तु सह नौ वीर्यं करवांवहै तेजस्वी नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।” इन सिंहनादों को भुला कर सफलता की कुंजी ही खो दी।

यदि हम वास्तव में सच्चे हृदय से अपनी खोई हुई समृद्धि प्रतिष्ठा और गौरवगरिमा को पुनः प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें अपने इतिहास का वास्तविक ज्ञान करना होगा। क्योंकि इतिहास वह सीढ़ी है जो सदा ऊपर की ओर ही बढ़ाती है और कभी नीचे नहीं गिरने देती।

उन्नति के इस मूलमन्त्र को श्रद्धेय जैनाचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब ने अच्छी तरह अनुभव करने के पश्चात् जैन धर्म के मौलिक इतिहास के रूप में एक महान् सम्बल और अक्षय्य पाथेय हमें प्रदान किया है, जिसमें जीवन को समुन्नत बनाने वाले प्रशस्त मार्ग के साथ-साथ ‘सत्यं शिवं सुन्दरम्’ के दर्शन होते हैं।

अत्युच्चकोटि के विचारक, इतिहासज्ञ और महान् संत की कृति का संपादन करना किसी बड़े विद्वान् का कार्य हो सकता है, जिसने सम्पूर्ण जैनागम और प्राचीन साहित्य का समीचीन रूप से अध्ययन किया हो और जो स्वयं उच्च कोटि का इतिहासज्ञ एवं इतिहास की सूक्ष्म से सूक्ष्म बारीकियों को परखने में कुशल हो। पर इन पंक्तियों के प्रस्तुतकर्ता में इस प्रकार की कोई भी योग्यता नाम मात्र को भी नहीं है। जो कुछ सम्पादन कार्य बन पड़ा है, वह इस पुस्तक के लेखक करुणाकार आचार्यश्री की असीम कृपा और इस पुस्तक के संपादक मण्डल के सम्माननीय विद्वानों के विश्वास और स्नेह का ही फल है।

इस पुस्तक में यदि कोई त्रुटि अथवा आगम-विरुद्ध बात रह गई हो तो पूरी ईमानदारी के साथ कार्य करते रहने पर भी अल्पज्ञ होने के कारण यह सम्पादकीय का लेखक ही उसके लिये पूर्णरूपेण दोषी है।

‘यदत्रासौष्टवं किञ्चित्तन्ममैव न कस्यचित्’ इस पद के माध्यम से सम्भावित अपनी सभी त्रुटियों के लिए विद्वद्वृन्द के समक्ष मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

श्रद्धेय आचार्यश्री ने जैन धर्म के इतिहास के सम्बन्ध में नोट्स, लेख

आदि सामग्री तैयार की है, वह इतनी विपुल मात्रा में है कि यदि उसमें से सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण सामग्री को प्रकाशनार्थ लिया जाता तो तीर्थकरकाल के ही प्रस्तुत ग्रन्थ के समान आकार वाले अनेक भाग तैयार हो जाते अतः अतीव संक्षिप्त रूप में प्रमुख ऐतिहासिक सामग्री को ही इस ग्रन्थ में स्थान दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के आद्योपान्त सम्यक् अध्ययन से धर्म एवं इतिहास के विज्ञ पाठकों को विदित होगा कि आचार्यश्री ने भारतीय इतिहास को अनेक नवीन उपलब्धियों से समृद्ध, सुन्दर और अलंकृत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के कालचक्र, कुलकर तुलनात्मक विश्लेषण, धर्मानुकूल लोक-व्यवस्था, श्वेताम्बर दिगम्बर परम्पराओं की तुलना, भगवान् ऋषभदेव और भरत का जैनेतर पुराणादि में उल्लेख, हरिवंश की उत्पत्ति, उपरिचर वसु (पूरा उपाख्यान), वसुदेव-सम्मोहक व्यक्तित्व, उस समय की राजनीति, अरिष्टनेमि का शौर्य-प्रदर्शन, अरिष्टनेमि द्वारा अद्भुत रहस्य का उद्घाटन, क्षमामूर्ति गज सुकुमाल, वैदिक साहित्य में अरिष्टनेमि और उनका वंशवर्णन, भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक और अमिट प्रभाव, आर्य केशिश्रमण, गोशालक का परिचय, कुतर्कपूर्ण भ्रम, कालचक्र का वर्णन, एक बहुत बड़ा भ्रम, भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या, महाशिलाकंटक युद्ध, रथमूसल संग्राम, ऐतिहासिक दृष्टि के निर्वाणकाल तथा भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण का ऐतिहासिक विश्लेषण आदि शीर्षकों में आचार्यश्री की ललित लेखन-कला के अद्भुत चमत्कार के साथ-साथ आचार्यश्री के विराट् स्वरूप, महान् व्यक्तित्व, अनुपम चहुंमुखी प्रतिभा, प्रकाण्ड पाण्डित्य और अधिकारिकता के दर्शन होते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ मूल आगमों, चूर्णियों वृत्तियों और प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। इस ग्रन्थ में वर्णित प्रायः सभी तथ्य धर्म एवं इतिहास के मूल ग्रन्थों से लिये गये हैं एवं जैन धर्म का इतिहास इसके प्रारम्भिक मूलकाल से लिखा गया है अतः इसका नाम “जैन धर्म का मौलिक इतिहास” रखा गया है। तीर्थकरों को धर्म-परिषद् के लिए आदि के स्थलों में समवसरण और आगे के स्थलों में समवशरण लिखा गया है। विद्वान् दिगम्बर मुनिश्री ज्ञानसागरजी ने अपने ‘वीरोदय काव्य’ के अधोलिखित श्लोक में—

समवशरणमेतन्नामतो विश्रुतासी—

ञ्जिनपतिपदपूता संसदेषा सुभाशीः।

जनिमरणदुःखाद्दुखितो जीवराशि—

रिह समुपगतः सन् संभवेदाशु काशीः॥

समवशरण शब्द का प्रयोग करते हुए 'समवशरण' शब्द की व्याख्या में अन्यत्र लिखा है :—

“ख्यातं च नाम्ना समवेत्य यत्र, ययुर्जनाः श्रीशरणं यदत्र।”

अर्थात् उसमें चारों ओर से आकर सभी प्रकार के जीव श्री वीर भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं, इसलिए वह समवशरण के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुआ।

‘सम्यग्-एकी भावेन, अवसरण-एकत्र गमनं-मैलापक : समवसरणम्’ अभिधान-राजेन्द्र-कोष में दी हुई इस समवशरण की व्याख्या से उपरिवर्णित व्याख्या अधिक प्रभावपूर्ण प्रतीत हुई अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में आगे चलकर समवशरण शब्द का प्रयोग किया गया।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में जिन प्राचीन, मध्ययुगीन और अर्वाचीन विद्वान् लेखकों की पुस्तकों से सहायता ली गई है, उनकी सूची लेखकों के नाम सहित दे दी गई है। हम उन सभी विद्वान् लेखकों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

इस ग्रंथ के सम्पादन-काल में मुझे आगम-साहित्य के साथ-साथ अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनमें एकत्रित अपार ऐतिहासिक सामग्री वस्तुतः अमूल्य है। मेरा यह निश्चित अभिमत है कि प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री के दृष्टिकोण से जैन धर्मानुयायी अन्य सभी धर्मावलम्बियों से बहुत अधिक समृद्ध हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इतनी अधिक ऐतिहासिक सामग्री के स्वामी होते हुए भी आज जैन धर्मावलम्बी चारों ओर से यह आवाज क्यों उठा रहे हैं कि जैन धर्म के प्रामाणिक इतिहास का अभाव हमें खटक रहा है अतः जैन धर्म के एक सर्वांगपूर्ण प्रामाणिक इतिहास का निर्माण किया जाना चाहिए।

अटल दृढ़ विश्वास के साथ मेरा तो यही उत्तर होगा कि आज जैन धर्म का इतिहास प्राकृत, अपभ्रंश तथा संस्कृत के वज्रकपाटों में बन्द पड़ा है और जो बाहर है, वह यत्र-तत्र विभिन्न ग्रन्थों-भण्डारों में बिखरा पड़ा है। इतिहास की विपुल सामग्री के विद्यमान होते हुए भी सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य भाषा में क्रमबद्ध एवं सर्वांगपूर्ण जैन इतिहास आज समाज के समक्ष नहीं है।

आवश्यकता थी एक ऐसे भागीरथ की जो सुदूर के विभिन्न स्थानों

में रुंधे-रुके पड़े इतिहास के अजस्र निर्मल स्रोतों की धाराओं को एकत्र प्रवाहित कर कलकल-निनादिनी, उत्ताल-तरंगिणी इतिहास-गंगा को सर्वसाधारण के हृदयों में प्रवाहित कर दे।

जन-जन के अन्तस्तल में उद्भूत हुई भावनाएँ कभी निष्फल नहीं होतीं। आज जैन समाज के सौभाग्य से एक महान् सन्त इतिहास की गंगा प्रवाहित करने के लिए भागीरथ बनकर प्रयास कर रहे हैं। देखिये, आज के इन भागीरथ द्वारा प्रवाहित त्रिवेणी (गंगा-तीर्थकर काल का इतिहास, यमुना-निर्वाण पश्चात् लौकाशाह तक का इतिहास और सरस्वती-लौकाशाह से आज दिन तक का इतिहास) की यह पहली गंगाधारा आप ही की ओर बढ़ रही है। जी भर कर अमृत-पान कर इसमें मग्नन कीजिये और एक साथ बोलिये—

अभय प्रदायिनि अघदलदारिणी,  
जय, जय, जय इतिहास तरंगिणि।

पूजनीय आचार्यश्री ने मानव को परमोत्कर्ष पर पहुँचाने एवं जनकल्याण की भावना से ओत-प्रोत हो इस ग्रन्थ के लेखन का जो अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य सम्पन्न किया है, उस भावना के अनुरूप ही पाठकगण मानवीय दृष्टिकोण को अपना कर आत्मोन्नति के साथ-साथ सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय उन्नति के प्रति अग्रसर होंगे तो आचार्यश्री को परम संतोष प्राप्त होगा।

गजसिंह राठौड़  
न्या. व्या. तीर्थ,  
सिद्धान्त विशारद



## कालचक्र और कुलकर

जैन शास्त्रों के अनुसार संसार अनादि काल से सतत गतिशील चलता आ रहा है। इसका न कभी आदि है और न कभी अन्त।

यह दृश्यमान् समस्त जगत् परिवर्तनशील परिणामी नित्य है। मूल द्रव्य की अपेक्षानित्य है और पर्याय की दृष्टि से परिवर्तन सदा चालू रहता है, अतः अनित्य है। प्रत्येक जड़-चेतन का परिवर्तन नैसर्गिक ध्रुव एवं सहज स्वभाव है। जिस प्रकार दिन के पश्चात् रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन, प्रकाश के पश्चात् अन्धकार और अन्धकार के पश्चात् प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है। ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर, हेमन्त, शरद और बसन्त इन षड्ऋतुओं का एक के बाद दूसरी का आगमन, गमन, पुनरागमन और प्रतिगमन का चक्र अनादि काल से निरन्तर चलता आ रहा है। शुक्ल पक्ष की द्वितीया का केवल फेनलेखा तुल्य चन्द्र क्रमशः वृद्धि करते हुए पूर्णिमा को पूर्णचन्द्र बन जाता है और फिर कृष्णपक्ष के आगमन पर वही ज्योतिपूज षोडश कलाधारी पूर्णचन्द्र, क्षय रोगी की तरह धीरे-धीरे ह्रास को प्राप्त होता हुआ क्रमशः अभावस्या की काली अंधेरी रात्रि में पूर्णरूपेण तिरोहित हो अस्तित्व-विहीन सा हो जाता है। अम्युदय के पश्चात् अम्युत्थान एवं अम्युत्थान की पराकाष्ठा के पश्चात् अधःपतन का प्रारम्भ और इसके पश्चात् क्रमशः पूर्ण पतन, फिर अम्युदय, अम्युत्थान, उत्कर्ष और पूर्ण उत्कर्ष, इस प्रकार चराचर जगत् का अनादि काल से अतवरत क्रम चला आ रहा है। संसार के इस अपकर्ष-उत्कर्षमय कालचक्र को क्रमशः अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल की संज्ञा दी गई है। कृष्णपक्ष के चन्द्र में क्रमिक ह्रास की तरह ह्रासोन्मुख काल को अवसर्पिणी काल और शुक्लपक्ष के चन्द्र के क्रमिक उत्कर्ष की तरह विकासोन्मुख काल को उत्सर्पिणी काल के नाम से कहा जाता है।

\*अवसर्पिणी का क्रमिक अपकर्ष काल निम्नांकित छः भागों में विभक्त किया गया है :—

(१) सुषमा सुषम	चार कोड़ाकोड़ी† सागर का।
(२) सुषम	तीन कोड़ाकोड़ी सागर का।
(३) सुषमा दुःषम	दो कोड़ाकोड़ी सागर का।
(४) दुःषमा सुषम	४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का।
(५) दुःषम	इक्कीस हजार वर्ष का।
(६) दुःषमा दुःषम	इक्कीस हजार वर्ष का।

\* कृपया परिशिष्ट देखें

† कृपया परिशिष्ट देखें

इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल के क्रमिक उत्कर्ष काल को भी छः भागों में विभक्त कर अवसर्पिणी काल के उल्टे क्रम से (१) दुःषमा दुःषम, (२) दुःषम, (३) दुःषमा सुषम, (४) सुषम दुःषम, (५) सुषम और (६) सुषमा सुषम नाम से समझना चाहिए। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी - इन दोनों के योग से बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कालचक्र होता है।<sup>१</sup>

हम सब इस ह्लासोन्मुख अवसर्पिणी काल के दौर से ही यूजर रहे हैं। अवसर्पिणी के परमोत्कर्ष काल में अर्थात् प्रथम सुषमा सुषम आरे में पृथ्वी परमोत्कृष्ट रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और सर्वोत्कृष्ट समृद्धियों से सम्पन्न होती है। उस समय के प्राणियों को जीवनोपयोगी सर्वश्रेष्ठ सामग्री बिना प्रयास के ही कल्पवृक्षों से सहज सुलभ होती है, अतः उनका जीवन अपने आप में मग्न एवं परम सुखमय होता है। प्रकृति की सुखद, सुन्दर एवं भन्द-मधुर बयार से उस समय के मानव का मन-मयूर प्रतिक्षण आनन्द-विभोर हो अपनी अद्भुत मस्ती में मस्त रहता है। सहज-सुलभ भोग्य सामग्री में, उपभोग में, मानव मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओं को भङ्कृत होने का कभी कोई किञ्चित्मात्र भी अवसर नहीं मिलता और मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओं की भङ्कृति के अभाव में मस्तिष्क की चंचलता, चिन्तन, मनन एवं विचार-संघर्ष का कोई कारण ही उसके समक्ष उपस्थित नहीं होता। जिस प्रकार बीणा की मधुर भङ्कार अथवा बांसुरी की सम्मोहक स्वर-लहरियों से विमुग्ध हरिण मन्त्रमुग्ध सा अपने आपको भूल जाता है, उसी प्रकार प्रकृति के परमोत्कृष्ट भादक माधुर्य में विमुग्ध उस समय का मानव सब प्रकार की चिन्ताओं से विमुक्त हो ऐहिक आनन्द से ओत-प्रोत जीवन यापन करता है। इसे भोगयुग की संज्ञा दी जाती है।

प्रकृति के परिवर्तनशील अटल स्वभाव के कारण संसार की वह परमोत्कर्षता और मानव की वह मधुर भादकता भरी अवस्था भी चिरकाल तक स्थिर नहीं रह पाती। उसमें क्रमशः परिवर्तन आता है और पृथ्वी का वह परमोत्कर्ष काल शनैः शनैः सुषमा सुषम आरे से सुषम, सुषमा दुःषम आदि अपकर्ष काल की ओर गतिशील होता है। फलतः पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं माधुर्य में और यहां तक कि प्रत्येक अच्छाई में क्रमिक ह्रास आता रहता है। प्रकृति की इस ह्लासोन्मुख दशा में मानव के शारीरिक विकास और उसकी सुख शान्ति में भी ह्रास होना प्रारम्भ हो जाता है। ज्यों-ज्यों मानव की सुख सामग्री में कमी आती जाती है और उसे अभाव का सामना करना पड़ता है, त्यों-त्यों उसके मस्तिष्क में चंचलता पैदा होती जाती है और उसका शान्त मस्तिष्क शनैः शनैः विचार-संघर्ष का केन्द्र बनता जाता है। "अभाव से अभियोगों का जन्म होता है।" इस उक्ति के अनुसार ज्यों-ज्यों अभाव बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों विचार-संघर्ष और अभियोग भी बढ़ते जाते हैं।

इस प्रकार अपकर्षोन्मुख अवसर्पिणी काल के तृतीय आरे का जब आधे से

<sup>१</sup> आरक के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष २ देखें

अधिक समय व्यतीत हो जाता है तो पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, उर्वरता आदि गुणों का पहले की अपेक्षा पर्याप्त (अनन्तानन्तगुणित) मात्रा में ह्रास हो जाता है। कल्पवृक्षों के क्रमिक विलोप के कारण सहज सुलभ जीवनोपयोगी सामग्री भी आवश्यक मात्रा में उपलब्ध नहीं होती।<sup>१</sup> अभाव की उस अननुभूत-अदृष्टपूर्व स्थिति में जनमन आन्दोलित हो उठता है। फलतः विचार-संघर्ष, कषाय-वृद्धि, क्रोध, लोभ, छल, प्रपंच, स्वार्थ, अहंकार और वैर-विरोध की पाशविक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होने लगता है और शनैः शनैः इन दोषों के दावानल में मानव-समाज जलने लगता है। अशान्ति की असह्य आग से अस्त एवं दिग्विभूत मानव के मन में जब शान्ति की पिपासा जागृत होती है तो उस समय उस दिशाभ्रान्त मानव-समाज के अन्दर से ही कुछ विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति संयोग पाकर, भूमि में दबे हुए बीज की तरह ऊपर आते हैं, जो उन अस्त मानवों को भौतिक शान्ति का पथ प्रदर्शित करते हैं।

### पूर्वकालीन स्थिति और कुलकर काल

ऐसे विशिष्ट बल, बुद्धि एवं प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ही मानव समाज में कुलों की स्थापना करने के कारण कुलकर कहलाते हैं। कुलकरों के द्वारा अस्थायी व्यवस्था की जाती है, जिससे तात्कालिक समस्या का आंशिक समाधान होता है। किन्तु जब उन बढ़ती समस्याओं को हल करना कुलकरों की सामर्थ्य से बाहर हो जाता है, तब समय के प्रभाव और जनता के सद्भाग्य से एक अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न तेजोमूर्ति नर-रत्न का जन्म होता है, जो धर्म-तीर्थ का संस्थापक अथवा आविष्कर्त्ता होकर जन-जन को नीति एवं धर्म की शिक्षा देता और मानव समुदाय को परम शान्ति तथा अक्षय सुख के सही मार्ग पर आरूढ़ करता है।

इसी समय मानव जाति के सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास का सूत्रपात होता है, जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

भगवान् ऋषभदेव के पूर्ववर्त्ती मानव, स्वभाव से शान्त, शरीर से स्वस्थ एवं स्वतन्त्र जीवन जीने वाले थे। सहज शान्त और निर्दोष जीवन जीने के कारण उस समय के मनुष्यों को धर्म की आवश्यकता ही नहीं थी। अतः उनमें भौतिक मर्यादाओं का अभाव था। वे केवल सहज भाव से व्यवहार करते और उसमें कभी पुण्य का और कभी पाप का उपार्जन भी कर लेते। वे न किसी नर या पशु से सेवा-सहयोग ग्रहण करते और न किसी के लिये अपना सेवा-सहयोग अर्पित ही करते। दश प्रकार के कल्पवृक्षों<sup>२</sup> के द्वारा सहज-प्राप्त फल-फूलों से वे

<sup>१</sup> तेषु परिहीयंतेसु कसाया उप्पणा—[आवश्यक नियुक्ति पृ० १५४ (१)]

<sup>२</sup> स्थानांग सूत्र में कल्पवृक्षों के सम्बन्ध में इस प्रकार का उल्लेख है :-

सुसम-सुसमाए णं समाए दसविहा ख्क्खा उपभोगत्ताए हव्वमागच्छन्ति, तंजहा :-

मत्तंगमाय भिगा, तुडिगंगा दीवजोइ चित्तंगा ।

चित्तरसा मणियंगा, गेहागारा अणियणा य ॥ [सुतागम मूल, सू० १०५८]

सुषमा-सुषम काल में १० प्रकार के वृक्ष मनुष्यों के उपभोगार्थ काम आते हैं।

जैसे :- (१) मत्तंगा-मादक-रस देने वाले, (२) भृंगांग-भाजन वर्तन देने वाले,

अपना जीवन चलाते थे, उनका जीवन रोग, शोक और वियोग रहित था। जब कल्पवृक्षों से प्राप्त होने वाली भोग्य सामग्री क्षीण होने लगी और मानव की आवश्यकता-पूर्ति नहीं होने लगी तो उनकी सहज शान्ति भंग हो गई, परस्पर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने लगी। तब उन्होंने मिल कर छोटे-छोटे कुलों के रूप में अपनी व्यवस्था बनाई और कुलों की उस व्यवस्था को करनेवाले कुलकर कहलाये। ऐसे मुख्य कुलकरों के नाम इस प्रकार हैं :-

(१) विमलवाहन, (२) चक्षुष्मान, (३) यशस्वी, (४) अभिचन्द्र, (५) प्रसेनजित, (६) मरुदेव और (७) नाभि।<sup>१</sup> कुलकरों की संख्या के संबंध में ग्रन्थकारों में मतभेद है। जंबूद्वीप प्रजापति में ११ कुलकरों का उल्लेख है।

तीसरे आरे में जब पत्योपस का अष्टम भाग शेष रहा, तब क्रमशः सात कुलकर उत्पन्न हुए। प्रथम कुलकर विमलवाहन हुए। किसी समय वन-प्रदेश में घूमते हुए एक मानव युगल को किसी श्वेतवर्ण सुन्दर हाथी ने देखा और पूर्व जन्म के स्नेह से उसको उसने अपनी पीठ पर बिठा लिया, तो लोगों ने उस युगल को गजारूढ़ देख कर सोचा—“यह मनुष्य हम से अधिक शक्तिशाली है।” उज्ज्वल वाहन वाला होने के कारण लोग उसे विमलवाहन कहने लगे।<sup>२</sup>

उस समय कल्पवृक्षों की कमी होने के परिणामस्वरूप लोगों में परस्पर विवाद होने लगे, जिससे उनकी शान्ति भंग हो गई। उन्होंने मिल कर अपने से

(३) ऋतितांग-वाद्य के समान आमोद-प्रमोद के साधन देने वाले, (४) दीपांग-प्रकाश के लिए दीपक के समान फल देने वाले, (५) ज्योति-अग्नि की तरह ताप-उष्णता देने वाले, (६) चित्रांग-विविध बरों के फूल देने वाले, (७) चित्तरस-अनेक प्रकार के रस देने वाले, (८) मणियंग-मणि रत्नादि की तरह चमकदार आभूषणों की पूर्ति करने वाले, (९) मेहामार-धर, शाला आदि आकार वाले और (१०) अनगन-नगनता दूर करने वाले अर्थात् बल्कल की तरह वस्त्र की पूर्ति करने वाले।

इन वृक्षों से यौगलिक मनुष्यों की आहार-विहार और निवास आदि की आवश्यकताएं पूर्ण हो जाती थीं, अतः इन्हें कल्पवृक्ष की संज्ञा दी है। कोषकारों ने कल्पवृक्ष का अपर नाम सुरतरु भी दिया है। कल्पवृक्ष के लिए साधारण जनों की मान्यता है कि ये मनचाहे पदार्थ देते हैं, इनसे उत्तमोत्तम पक्वान्न और रत्नजटित आभूषण आदि जो मांगा जाय, वही मिलता है। पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। यौगलिकों को शास्त्र में ‘पुढवीपुष्पफलाहारा’, पृथ्वी, पुष्प और फलमय आहार वाले कहा गया है। यदि देवी प्रभाव से कल्पवृक्ष इच्छानुसार वस्तुएं देते तो उनकी दश जातियां नहीं बताई जातीं। हाँ, कल्पवृक्ष की विभिन्न जातियों से तत्कालीन मनुष्यों की सभी आवश्यकताएं पूर्ण हो जाती थीं, इस दृष्टि से उन्हें मनोकामना पूर्ण करने वाला कहा जा सकता है। विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखें।

<sup>१</sup> आवश्यक निर्युक्ति पृ० १५४ गा० १५२

<sup>२</sup> आवश्यक निर्युक्ति पृ० १५३

अधिक प्रभावशाली विमलवाहन को अपना नेता बना लिया। विमलवाहन ने सब के लिये मर्यादा निश्चित की और मर्यादा के उल्लंघन का अपराध करने पर दण्ड देने की घोषणा की।

जब कोई मर्यादा का उल्लंघन करता तब “हा” – तूने क्या किया, ऐसा कह कर अपराधी को दंडित किया जाता। उस समय का लज्जाशील और स्वभाव से संकोचशील प्रकृति वाला मानव इस दंड को सर्वस्वहरण जैसा कठोर दंड मानता और एक बार का दंडित अपराधी व्यक्ति, दुबारा फिर कभी गलती नहीं करता। इस प्रकार चिरकाल तक “हा” कार की दंड नीति से व्यवस्था चलती रही।

कालान्तर में विमलवाहन की चन्द्रजसा युगलिनी से दूसरे कुलकर चक्षुष्मान का युगल के रूप में जन्म हुआ। इसी क्रम से तीसरे, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें कुलकर हुए। तत्कालीन मनुज कुलों की व्यवस्था करने से वे कुलकर कहलाये। विमलवाहन और दूसरे कुलकर चक्षुष्मान तक ‘हाकार’ नीति चलती रही। तीसरे और चौथे कुलकर तक “माकार” नीति एवं पांचवें, छठे और सातवें कुलकर तक “धक्कार” नीति से व्यवस्था चलती रही।

जब अपराधी को “हा” कहने से काम नहीं चलता तब जरा उच्च स्वर में कहा जाता “मा” यानि मत करो। इससे लोग अपराध करना छोड़ देते। समय की रूक्षता और सत्त्व की कठोरता से जब लोग ‘हाकार’ और ‘माकार’ नीति के प्रभावक्षेत्र से बाहर हो चले तब ‘धक्कार’ नीति का आविर्भाव हुआ। पिछले ३ कुलकरों के समय यही नीति चलती रही।<sup>1</sup>

### कुलकर : एक विश्लेषण

अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के पिछले तीसरे भाग में जब समय के प्रभाव से भूमि की उर्वरकता एवं सत्त्व का शून्यः शून्यः हास होने के कारण कल्पवृक्षों ने आवश्यक परिमाण में फल देना बन्द कर दिया, तब केवल कल्पवृक्षों पर आश्रित रहने वाले उन लोगों में उन वृक्षों पर स्वामित्व भावना का विवाद होने लगा। अधिक से अधिक कल्पवृक्षों को अपने अधिकार में रखने की प्रवृत्ति उनमें उत्पन्न होने लगी। कल्पवृक्षों पर स्वामित्व के इस प्रश्न को लेकर जब कलह व्यापक रूप धारण करने लगा और इतस्ततः अव्यवस्था उग्र रूप धारण करने लगी, तब कुलकर व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ।

वन-विहारी उन स्वतन्त्र मानवों ने एकत्र होकर छोटे-छोटे कुल बनाये और प्रतिभाशाली विशिष्ट पुरुष को अपना नेता स्वीकार किया। कुल की सुव्यवस्था करने के कारण उन कुलनायकों को कुलकर कहा जाने लगा। आदि पुराण और वैदिक साहित्य मनुस्मृति आदि में मननशील होने से इनको मनु

<sup>1</sup> (क) हक्कारे, मक्कारे धक्कारे चं व [ग्रा० नि०, पृ० १५६ (२)]

(ख) दंडं कुब्बन्ति ‘हाकारं’ [ति० पञ्चति, गा० ४५२]

(ग) जम्बूद्वीप प्रज्जति

कहा गया और जैन साहित्य की परिभाषा में कुल की व्यवस्था करने के कारण कुलकर नाम दिया गया। कुलकरों की व्यवस्था और कार्यक्षेत्र की दृष्टि से मतैक्य होने पर भी कुलकरों की संख्या के सम्बन्ध में शास्त्रों में मतभेद है। जैनागम - स्थानांग, समवायांग तथा भगवती में सात कुलकर बताये गये हैं और आवश्यक चूर्ण एवं आवश्यक निर्युक्ति में भी उसी के अनुरूप सात कुलकर मान्य किये गये हैं। स्थानांग, समवायांग, आवश्यक निर्युक्ति आदि के अनुसार सात कुलकरों के नाम इस प्रकार हैं :-

(१) विमलवाहन, (२) चक्षुष्मान्, (३) यशोमान्, (४) अभिचन्द्र, (५) प्रसेनजित्, (६) मरुदेव और (७) नाभि। जैसा कि कहा है :-

“जम्बूद्वीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए सत्त कुलगरा होत्था । तं जहा :-

“पठमित्थ विमलवाहण, चक्खुमं जसमं चउत्थमभिचन्दे ।

ततो अ पसेणई पुण, मरुदेवे चैव नाभी य ।”

महापुराण में चौदह और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में १५ कुलकर बताये गये हैं। पउम चरियं में - (१) सुमति, (२) प्रतिश्रुति, (३) सीमंकर, (४) सीमंधर (५) क्षेमंकर, (६) क्षेमंधर, (७) विमलवाहन, (८) चक्षुष्मान्, (९) यशस्वी, (१०) अभिचन्द्र, (११) चन्द्राभ, (१२) प्रसेनजित्, (१३) मरुदेव और (१४) नाभि, इस प्रकार चौदह नाम गिनाये हैं; जब कि महापुराण में पहले प्रतिश्रुत, दूसरे सन्मति, तीसरे क्षेमकृत्, चौथे क्षेमंधर, पांचवें सीमंकर और छठे सीमंधर, इस प्रकार कुछ व्युत्क्रम से संख्या दी गई है।<sup>१</sup> विमलवाहन से आगे के नाम दोनों में समान हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में पउम चरियं के १४ नामों के साथ ऋषभ को जोड़कर पन्द्रह कुलकर बतलाये गये हैं - जो अपेक्षा से संख्या भेद होने पर भी बाधक नहीं है। चौदह कुलकरों में प्रथम के छः और ग्यारहवें चन्द्राभ के अतिरिक्त सात नाम वे ही स्थानांग के अनुसार हैं। संभव है प्रथम के छः कुलकर उस समय के मनुष्यों के लिये योगक्षेम में मार्गदर्शक मात्र रहे हों।

<sup>१</sup> स्थानांग, ७ स्वरमण्डलाधिकार - भाव० चूर्ण पृ० २८ - २९ = भाव० नि० मा० १५२ = समवायांग

<sup>२</sup> आद्यः प्रतिश्रुतिः प्रोक्तः, द्वितीयः सन्मतिमंतः ।

तृतीयः क्षेमकृष्मान्, चतुर्थः क्षेमधन्मनुः ॥

सीमकृत्यंचमो ज्ञेयः, षष्ठः सीमधृदिष्यते ।

ततो विमलवाहांकश्चक्षुष्मानष्टमो मतः ॥

यत्तस्वाभ्रवमस्तस्मात्त्राभिचन्द्रोऽप्यनन्तरः ।

चन्द्राभोऽस्मात्परं ज्ञेयो, मरुदेवस्ततः परम् ॥

प्रसेनजित् परं तस्मात्त्राभिराजश्चतुर्विंशः ।

[महापुराण विनसेनाचार्य, प्रथम भाग, पर्व ३, श्लो० २२६-२३२, पृष्ठ ६६]

पिछले कुलकरों की तरह दण्ड व्यवस्था आदि में उनका सक्रिय योग नहीं होने के कारण इनको गौण मानकर केवल सात ही कुलकर गिने गये हों। ऋषभदेव को प्रथम भूपति होने व यौगलिक रूप को समाप्त कर कर्मभूमि के रूप में नवीन राज्य व्यवस्था स्थापित कर राजा होने के कारण कुलकर रूप में नहीं गिना गया हो और संभव है जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में कुल का सामान्य अर्थ मानव-समूह लेकर उनकी भी बड़े कुलकर के रूप में गणना कर ली गई हो।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में कुलकरों की संख्या इस प्रकार है :-

“तीसे समाए पच्छिमे तिभाए पलिओवमद्धभागावसेसे, एत्थ एं इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जित्था, तं जहा—सुमई, पडिस्सुई, सीमंकरे, सीमंधरे, खेमंकरे, खेमंधरे, विमलवाहणे, चक्खुमं, जसमं, अभिचन्दे, चन्दाभे, पसेणई, मरुदेवे, एणाभी, उसभोत्ति।”<sup>१</sup>

जैन साहित्य की तरह वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है। वहां पर कुलकरों के स्थान पर प्रायः मनु शब्द प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति में स्थानांग के सात कुलकरों की तरह सात महातेजस्वी मनु इस प्रकार बतलाये गये हैं :-

- |                 |              |               |
|-----------------|--------------|---------------|
| (१) स्वयम्भू,   | (४) तामस,    | (७) वैवस्वत । |
| (२) स्वारोचिष्, | (५) रैवत,    |               |
| (३) उत्तम,      | (६) चाक्षुष, |               |

यथा :- स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे ।  
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः महात्मानो महौजसः ॥  
स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।  
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥  
स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरि तेजसः ।  
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥<sup>२</sup>

अन्यत्र<sup>३</sup> चौदह मनुओं का भी उल्लेख मिलता है -

- |                 |                     |                         |
|-----------------|---------------------|-------------------------|
| (१) स्वायम्भुव, | (६) चाक्षुष,        | (११) धर्म सार्वणि,      |
| (२) स्वारोचिष,  | (७) वैवस्वत,        | (१२) रुद्र सार्वणि,     |
| (३) ओत्तमि,     | (८) सार्वणि,        | (१३) रौच्य देव सार्वणि, |
| (४) तामस,       | (९) दक्षसार्वणि,    | (१४) इन्द्र सार्वणि ।   |
| (५) रैवत,       | (१०) ब्रह्मसार्वणि, |                         |

<sup>१</sup> जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, पत्र १३२

<sup>२</sup> मनुस्मृति, प्र. १/श्लो. ६१-६२-६३

<sup>३</sup> मोन्योर-मोन्योर विलियम संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७८४

मत्स्य पुराण, मार्कण्डेय पुराण, दैवी भागवत और विष्णु पुराण में भी स्वयंभुव आदि चौदह मनु बतलाये गये हैं ।

- |                |              |                    |
|----------------|--------------|--------------------|
| (१) स्वयंभुव,  | (६) चाक्षुष, | (११) मेरु सार्वणि, |
| (२) स्वारोचिष, | (७) वैवस्वत, | (१२) ऋभु,          |
| (३) अत्तमि,    | (८) सार्वणि; | (१३) ऋतुधामा,      |
| (४) तामस,      | (९) रौच्य,   | (१४) विश्वक्सेन ।  |
| (५) रैवत,      | (१०) भौत्य,  |                    |

वैवस्वत के बाद मार्कण्डेय पुराण में ५ सार्वणि, तथा रौच्य और भौत्य ये सात मनु और माने गये हैं ।

श्रीमद्भागवत में अष्टम मनु—

- |                      |                                   |
|----------------------|-----------------------------------|
| (८) सार्वणि,         | (१२) रुद्र सार्वणि,               |
| (९) दक्ष सार्वणि,    | (१३) देव सार्वणि,                 |
| (१०) ब्रह्म सार्वणि, | (१४) इन्द्र सार्वणि, <sup>१</sup> |
| (११) धर्म सार्वणि,   |                                   |

इस प्रकार १४ मनुओं के नाम बतलाये गये हैं ।

चतुर्दश मनुओं का काल-प्रमाण सहस्र युग\* माना गया है ।<sup>२</sup>

मनुओं के विस्तृत परिचय के लिए मत्स्यपुराण के ६वें अध्याय से २१वें अध्याय तक और जैन प्राचीन ग्रन्थ तिलोय पण्णात्ती के चतुर्थ महाधिकार की ४२१ से ५०६ तक की गाथाएं पठनीय हैं । तिलोय पण्णात्ती में जो १४ कुलकरों और उनके समय की परिस्थितियों का वर्णन किया गया है, उसे परिशिष्ट में देखें ।

उपरोक्त तुलनात्मक विवेचन से भारतीय मानवों की आदि व्यवस्था की ऐतिहासिकता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

<sup>१</sup> भागवत ८/५ अ.

\* कृपया परिशिष्ट देखें

<sup>२</sup> (क) भाग. स्कंध ८ अ० १४

(ख) हिन्दी विश्वकोष, १६ वां भाग, पृ. ६४८ से ६५५



## भगवान् ऋषभदेव

### तीर्थंकर पद प्राप्ति के साधन

भगवान् ऋषभदेव मानव समाज के आदि व्यवस्थापक और प्रथम धर्म-नायक रहे हैं। जब तीसरे धारे के ८४ लाख पूर्व, तीन वर्ष और साढ़े आठ मास अवशेष रहे<sup>१</sup> और अन्तिम कुलकर महाराज नाभि जब कुलों की व्यवस्था करने में अपने आपको असमर्थ एवं मानव कुलों की बढ़ती हुई विषमता को देखकर चिन्तित रहने लगे, तब पुण्यशाली जीवों के पुण्य प्रभाव और समय के स्वभाव से महाराज नाभि की पत्नी मरुदेवी की कुक्षि से भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ। आस्तिक दर्शनों का मन्तव्य है कि आत्मा त्रिकाल सत् है, वह अनन्त काल पहले था और भविष्य में भी रहेगा। वह पूर्व जन्म में जैसी करणी करता है, वैसे ही फल भोग प्राप्त करता है। प्रकृति का सहज नियम है कि वर्त्तमान की सुख समृद्धि और विकसित दशा किसी पूर्व कर्म के फलस्वरूप ही मिलती है। पीधों को फला-फूला देख कर हम उनकी बुझाई और सिचाई का भी अनुमान करते हैं। उसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव के महा महिमामय पद के पीछे भी उनकी विशिष्ट साधनाएँ रही हुई हैं।

★ (जब साधारण पुण्य-फल की उपलब्धि के लिए भी साधना और करणी की आवश्यकता होती है, तब त्रिलोक पूज्य तीर्थंकर पद जैसी विशिष्ट पुण्य प्रकृति सहज ही किसी को कैसे प्राप्त हो सकती है? उसके लिए बड़ी तपस्या, भक्ति और साधना की जाय, तब कहीं उसकी उपलब्धि हो सकती है। जैनागम ज्ञाताधर्म कथा में तीर्थंकर गोत्र के उपाजर्जन के लिए वैसे बीस स्थानों का आराधन आवश्यक कारणभूत माना गया है, जो इस प्रकार है :-

‘इमेहि य रां बीसाए कारणेहि आसेविय बहुलीकएहि तिस्थयर नाम गोयं कम्मं निर्वत्तिमु, तं जहा :-

अरहंत सिद्ध पवयण, गुरु धेर बहुस्सुए तवस्सिसु ।  
वच्छलयाय एसि, अभिक्खनाणोवओगे य ॥  
दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो ।  
खणलव तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥

१ (क) सुसम दुस्समाए ततियाएवि बहुवित्तिक्कंताए चउरासीए पुव्वसयसहस्सेहि सेसएहि एगूणएणउइए य पक्खेहि सेसएहि आसाढबहुलपक्खे चउत्थीए उत्तरासाढाजोगजुसे मियंके विसीयाए भूमिए नाभिस्स कुलगरस्स मरुदेवाए भारियाए कुच्छिसि गरुभत्ताए उव्वणो । [आवश्यक चूर्ण (जिनदास) पूर्व भाग, पृ० १३५]

(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

अप्पुव्वनाएण गहणे, सुयभत्ती पत्रयणे पहावणया ।

एएहि कारणेहि, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥”<sup>१</sup>

अर्थात् (१) अरिहंत की भक्ति, (२) सिद्ध की भक्ति, (३) प्रवचन की भक्ति, (४) गुरु, (५) स्थविर, (६) बहुश्रुत और (७) तपस्वी मुनि की भक्ति-सेवा करना, (८) निरंतर ज्ञान में उपयोग रखना, (९) निर्दोष सम्यक्त्व का पालन करना, (१०) गुणवानों का विनय करना, (११) विधिपूर्वक षड्भावश्यक करना, (१२) शील और व्रत का निर्दोष पालन करना, (१३) वैराग्यभाव की वृद्धि करना, (१४) शक्तिपूर्वक तप और त्याग करना, (१५) चतुर्विध संघ को समाधि उत्पन्न करना, (१६) व्रतियों की सेवा करना, (१७) अपूर्वज्ञान का अभ्यास, (१८) वीतराग के वचनों पर श्रद्धा करना, (१९) सुपात्र दान करना और (२०) जिन-शासन की प्रभावना करना ।

सब के लिए यह आवश्यक नहीं है कि बीसों ही बोलों की आराधना की जाय, कोई एक दो बोल की उत्कृष्ट साधना एवं अग्र्यवसायों की उच्चता से भी तीर्थंकर बनने की योग्यता पा लेते हैं ।

महापुराण में तीर्थंकर बनने के लिए षोडश कारण भावनाओं का आराधन आवश्यक बतलाया गया है । उनमें दर्शन-विशुद्धि, विनय-सम्पन्नता को प्राथमिकता दी है; जब कि ज्ञाताधर्म कथा में अर्हद्भक्ति आदि से पहले विनय को ।

इनमें सिद्ध, स्थविर और तपस्वी के बोल नहीं हैं, उन सबका अन्तर्भाव षोडश-कारण भावनाओं में हो जाता है । अतः संख्या-भेद होते हुए भी मूल वस्तु में भेद नहीं है ।

तत्त्वार्थ सूत्र में षोडश कारण भावना इस प्रकार है :-

“दर्शनविशुद्धिविनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोग-संवेगो, शक्तिस्तत्यागतपत्नी, संघ-साधु-समाधिव्योवावृत्यकरणमर्हदाचार्य बहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकता परिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थ-कृत्स्वस्य” ।<sup>२</sup>

भगवान् ऋषभदेव के जीव ने कहां किस भव में इन बोलों की आराधना कर तीर्थंकर गोत्र कर्म का उपार्जन किया, इसको समझने के लिए उनके पूर्व भवों का परिचय आवश्यक है, जो इस प्रकार है :-

### भगवान् ऋषभदेव के पूर्व भव और साधना

भगवान् ऋषभदेव का जीव एक बार महाविदेह के क्षितिप्रतिष्ठ नगर में धन्ना नामक सार्थवाह के रूप में उत्पन्न हुआ । उसके पास विपुल सम्पदा थी, दूर-दूर के देशों में उमका व्यापार चलता था । एक बार उसने यह घोषणा करवाई — “जिम किसी को अर्थोपार्जन के लिए विदेश चलना हो, वह मेरे साथ चले । मैं

<sup>१</sup> आ.व. नि० १७६-७८-ज्ञाता० घ. क. ८

<sup>२</sup> तत्त्वार्थ सूत्र ६-२३

उसको सभी प्रकार की सुविधाएं दूंगा।” यह घोषणा सुन कर सैकड़ों लोग उसके साथ व्यापार के लिए चल पड़े।

आचार्य धर्मघोष को भी वसंतपुर जाना था। उन्होंने निर्जन अटवी पार करने के लिए सहज प्राप्त इस संयोग को अनुकूल समझा और अपनी शिष्यमंडली सहित धन्ना सेठ के साथ हो लिए। सेठ ने अपने भाग्य की सराहना करते हुए अनुचरों को आदेश दिया कि आचार्य के भोजनादि का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय। आचार्य ने बताया कि श्रमणों को अपने लिए बनाया हुआ आषाकर्मि और औद्देशिक आदि दोषयुक्त आहार निषिद्ध है। उसी समय एक अनुचर आम्रफल लेकर आया। सेठ ने आचार्य से आम्रफल ग्रहण करने की प्रार्थना की तो पता चला कि श्रमणों के लिए फल-फूल आदि हरे पदार्थ भी अग्राह्य हैं। श्रमणों की इस कठोर चर्या को सुन कर सेठ का हृदय भक्ति से आप्लावित और मस्तक श्रद्धावनत हो गया।

सार्थवाह के साथ आचार्य भी पथ को पार करते हुए आगे बढ़ रहे थे। तदनन्तर वर्षा का समय आया और उमड़-धुमड़ कर धनघोर घटाएं बरसने लगीं। सार्थवाह ने वर्षा के कारण मार्ग में पंक व पानी आदि की प्रतिकूलता देख कर जंगल में ही एक सुरक्षित स्थान पर वर्षावास बिताने का निश्चय किया। आचार्य धर्मघोष भी वहीं पर एक अन्य निर्दोष स्थान पर ठहर गये। संभावना से अधिक समय तक जंगल में रुकने के कारण सार्थ की सम्पूर्णा खाद्य सामग्री समाप्त हो गई, लोग वन के फल, मूल, कन्दादि से जीवन बिताने लगे।

ज्यों ही वर्षा की समाप्ति हुई कि सेठ को अकस्मात् आचार्य की स्मृति हो आई। उसने सोचा, आचार्य धर्मघोष भी हमारे साथ थे। मैंने अब तक उनकी कोई सुधि नहीं ली। इस प्रकार पश्चाताप करते हुए वह शीघ्र आचार्य के पास गया और आहार की अग्र्यर्थना करने लगा। आचार्य ने उसको श्रमण-आचार की मर्यादा समझाई। विधि-अविधि का ज्ञान प्राप्त कर सेठ ने भी परम उल्लास-भाव से मुनि को विपुल घृत का दान दिया। उत्तम पात्र, श्रेष्ठ द्रव्य और उच्च अध्यवसाय के कारण उसको वहां सम्यग्दर्शन की प्रथम बार उपलब्धि हुई, अतः पहले के अनन्त भवों को छोड़ कर यहीं से ऋषभदेव का प्रथम भव गिना गया है। ऋषभदेव के अन्तिम तेरह भवों में यह प्रथम भव है।

धन्ना सार्थवाह के भव से निकल कर देव तथा मनुष्य के विविध भव करते हुए आप सुविधि वैद्य के यहाँ पुत्र रूप से उत्पन्न हुए। यह ऋषभदेव का नवमां भव था। इनका नाम जीवानन्द रखा गया। जीवानन्द के चार अन्तरंग मित्र थे, पहला राजपुत्र महीधर, दूसरा श्रेष्ठि-पुत्र, तीसरा मंत्री-पुत्र और चौथा सार्थवाह-पुत्र। एक बार जब वह अपने साथियों के साथ घर में वार्तालाप कर रहा था, उस समय उसके यहाँ एक दीर्घ-तपस्वी मुनि भिक्षार्थ पधारे। प्रतिकूल आहार-विहारादि कारणों से मुनि के शरीर में कुम्भिकुष्ठ की व्याधि उत्पन्न हो गई थी। राजपुत्र महीधर ने मुनि को कुष्ठ के कारण विपन्न स्थिति को देख कर जीवानन्द से कहा,

मित्र ! तुम सब लोगों की चिकित्सा करते हो, पर खेद की बात है कि इन तपस्वी मुनि की भीषण व्याधि को देखकर भी तुम कुछ करने को तत्पर नहीं हो रहे हो। उत्तर में जीवानन्द ने कहा, भाई ! तुम्हारा कथन सत्य है पर इस रोग की चिकित्सा के लिए मुझे जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, उनके अभाव में मैं इस दिशा में कर ही क्या सकता हूँ ? मित्र के पूछने पर जीवानन्द ने बतलाया कि मुनि की चिकित्सा के लिए रत्नकम्बल, गौशीर्ष चन्दन और लक्ष पाक तेल, ये तीन वस्तुएं आवश्यक हैं। लक्ष पाक तेल तो मेरे पास है पर अन्य दो वस्तुएं मेरे पास नहीं हैं। ये दोनों वस्तुएं प्राप्त हो जायं तो मुनि की चिकित्सा हो सकती है।

यह सुन कर महीधर ने अपने चारों मित्रों के साथ उसी समय अभीष्ट वस्तुएं उपलब्ध करने की इच्छा से बाजार की ओर प्रस्थान कर दिया और नगर के एक बड़े व्यापारी के यहाँ पहुँच कर रत्नकम्बल और गौशीर्ष चन्दन की श्रेय-षणा की। व्यापारी ने इन तरुणों को इन दोनों वस्तुओं का मूल्य एक-एक लाख मोहरें बताया और पूछा कि इन दोनों वस्तुओं की किनके लिए आवश्यकता है ? उन लोगों के इस उत्तर से कि कुष्ठ-रोग-पीडित तपस्वी मुनि की चिकित्सा के लिए उन्हें इन दो बहुमूल्य वस्तुओं की आवश्यकता है, वह सेठ बड़ा प्रभावित हुआ और सोचने लगा कि जब इन बालकों के मन में मुनि के प्रति इतनी अगाध श्रद्धा है तो क्या मैं स्वयं इस सेवा का लाभ नहीं ले सकता ? मुनि के लिए बिना कुछ लिए ही दवा देना उचित है, यह सोच कर उसने बिना मूल्य लिए ही वे दोनों वस्तुएं दे दीं। वैद्य जीवानन्द और उसके साथी तीनों आवश्यक औषधियां लेकर साधु के पास उद्यान में गये, जहाँ कि मुनि ध्यानावस्थित थे। वैद्य-पुत्र जीवानन्द ने वन्दन कर मुनि के शरीर पर पहले तेल का मर्दन किया। जब तेल रोम-कूपों से शरीर में समा गया तो तेल के अन्दर पहुँचते ही कुष्ठकृमि कुलबुला कर बाहर निकलने लगे। तदनन्तर वैद्यपुत्र ने रत्नकम्बल से साधु के शरीर को ढक दिया और सारे कीड़े शीतल रत्नकम्बल में आ गये। इस पर वैद्य जीवानन्द ने कम्बल को किसी पशु के मूत कलेवर पर रख दिया जिससे वे सब कीट उस कलेवर में समा गये। फिर जीवानन्द ने मुनि के शरीर पर गौशीर्ष चन्दन का लेप किया। इस प्रकार तीन बार मालिश करके जीवानन्द ने अपने चिकित्सा कौशल से उन मुनि को पूर्णरूपेण रोग से मुक्त कर दिया।<sup>१</sup>

मुनि की इस प्रकार निस्पृह एवं श्रद्धा-भक्तिपूर्ण सेवा से जीवानन्द आदि मित्रों ने महान् पुण्य-लाभ किया। मुनि को पूर्ण रूप से स्वस्थ देख कर उनका अन्तर्मन गद्गद हो गया। जीवानन्द ने मुनि से ध्यानान्तराय के लिए क्षमा याचना की। मुनि ने उनको त्याग विरागपूर्ण उपदेश दिया, जिससे प्रभावित होकर जीवानन्द ने अपने चारों मित्रों के साथ श्रावकधर्म ग्रहण किया। तदनन्तर श्रमराधर्म की विधिवत् आराधना कर, आयु पूर्ण होने पर पाँचों मित्र अच्युतकल्प नामक बारहवें स्वर्ग में देव पद के अधिकारी बने।

<sup>१</sup> आवश्यक मलय वृत्ति, पृ० ११५

जीवानन्द ने अपनी विशिष्ट शुभ साधना के फलस्वरूप देवलोक की आयु पूर्ण कर पुष्कलावती विजय में महाराज वज्रसेन की रानी धारिणी के यहाँ पुत्र रूप से जन्म ग्रहण किया। गर्भ-काल में माता ने चौदह महा-स्वप्न देखे। महाराज वज्रसेन ने अपने उस पुत्र का नाम वज्रनाभ रखा, जो आगे चल कर षट्खण्ड राज्य का अधिकारी चक्रवर्ती बना। जीवानन्द के अन्य चार मित्र बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ के नाम से सहोदर भाई के रूप में उत्पन्न हुए। वज्रनाभ ने पूर्व जन्म की मुनि सेवा के फलस्वरूप चक्रवर्ती का पद प्राप्त किया और अन्य भाई माण्डलिक राजा हुए। इनके पिता तीर्थंकर वज्रसेन ने जब केवली होकर देशना आरम्भ की तब पूर्वजन्म के संस्कारवश चक्रवर्ती वज्रनाभ भी वैराग्यभाव में रंग कर दीक्षित हो गये। चिर काल तक संयम-धर्म की साधना करते हुए उन्होंने दीर्घकाल तक तपस्या की और अर्हद्भक्ति आदि बीसों ही स्थानों की सम्यक् आराधना कर उसी जन्म में तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त में संलेखना और समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर मुनि वज्रनाभ सर्वार्थ सिद्ध नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र देव हुआ।

### जन्म

वज्रनाभ का जीव सर्वार्थसिद्ध विमान में अपने देवभव की ३३ सागर की स्थिति पूर्ण होने पर आषाढ कृष्णा चतुर्थी को सर्वार्थसिद्ध विमान से च्युत हो उत्तराषाढा नक्षत्र के योग में माता मरुदेवी को कुक्षि में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ।

सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यवन कर जिस समय भगवान् ऋषभदेव का जीव मरुदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ, उस रात्रि के पिछले भाग में माता मरुदेवी ने निम्नलिखित चौदह शुभ स्वप्न देखे :-

- |                |                 |                                   |
|----------------|-----------------|-----------------------------------|
| (१) गज,        | (६) चन्द्र,     | (११) क्षीर समुद्र,                |
| (२) वृषभ,      | (७) सूर्य,      | (१२) विमान,                       |
| (३) सिंह,      | (८) ध्वजा,      | (१३) रत्नराशि और                  |
| (४) लक्ष्मी,   | (९) कुंभ,       | (१४) निर्धूम अग्नि । <sup>२</sup> |
| (५) पुष्पमाला, | (१०) पद्मसरोवर, |                                   |

कल्पसूत्र में उल्लिखित गाथा में विमान के साथ नाम 'भवन' भी दिया है। इसका भाव यह है कि तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जित किये हुए जो जीव नरक भूमि से आते हैं, उनकी माता भवन का स्वप्न देखती है और देवलोक से आने वालों की माता विमान का शुभ-स्वप्न देखती है। संख्या की दृष्टि से तीर्थंकर

१ उववातो सम्बट्ठे सम्बेसि पढमतो चुतो उसभो ।

रिक्खेण असाढाहि, असाढ बहुले चउत्थिए ॥ (भावश्यक नियुक्ति गा० १८२)

२ गय-वसह-सीह-अभिसेय-दाम ससि-दिणयरं-अयं-कुम्मं ।

पउमसर, सागर, विमाण-भवण-रयणुच्चय सिहि च ॥ (कल्पसूत्र, सू० ३३)

और चक्रवर्ती की माताएं समान रूप से चौदह स्वप्न ही देखती हैं। दिगम्बर परम्परा में सोलह स्वप्न देखना बतलाया है।<sup>१</sup>

यहां यह स्मरणीय है कि-अन्य सब तीर्थंकरों की माताएँ प्रथम स्वप्न में हाथी को मुख में प्रवेश करते हुये देखती हैं, जब कि मरुदेवी ने प्रथम स्वप्न में बृषभ को अपने मुख में प्रवेश करते हुये देखा।

स्वप्नदर्शन के पश्चात् जागृत होकर मरुदेवी महाराज नाभि के पास आई और उसने विनम्र, मृदु एवं मनोहर वाणी में स्वप्नदर्शन सम्बन्धी समस्त वृत्तान्त नाभि कुलकर से कह सुनाया। उस समय स्वप्न-पाठक नहीं थे, अतः स्वयं महाराज नाभि ने औत्पातिकी बुद्धि से स्वप्नों का फल सुनाया। गर्भकाल सानन्द पूर्ण कर चैत्र कृष्णा अष्टमी<sup>२</sup> को, उत्तराषाढा नक्षत्र के योग में माता मरुदेवी ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। कहीं-कहीं अष्टमी के बदले नवमी को<sup>३</sup> जन्म होना लिखा गया है। संभव है उदय तिथि, अस्ततिथि की दृष्टि से ऐसा तिथिभेद लिखा गया हो।

### भगवान् ऋषभ का जन्मकाल

(जब दो कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति वाले तृतीय आरक के समाप्त होने में ८४ लाख पूर्व, ३ वर्ष, ८ मास और १५ दिन शेष रहे थे, उस समय भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ।)

✶ (वैदिक परम्परा के धर्मग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' में भी प्रथम मनु स्वायंभुव के मन्वन्तर में ही उनके वंशज अग्नीध्र से नाभि और नाभि से ऋषभदेव का जन्म होना माना गया है। इस प्रकार वैदिक परम्परा के धर्मग्रन्थों में भी लगभग जैन परम्परा के आगमों के समान ही रघुकुल तिलक श्री पुरुषोत्तम राम ही नहीं अपितु उनके पूर्वपुरुष सगर आदि से भी सुदीर्घ समयावधि पूर्व भगवान् ऋषभदेव का जन्म होना माना गया है।)

जिस समय भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ, उस समय सभी दिशाओं शान्त थीं। प्रभु का जन्म होते ही सम्पूर्ण लोक में उद्योत हो गया। क्षण भर के लिये नारक भूमि के जीवों को भी विश्रान्ति प्राप्त हुई।

### त्रन्नाभिवेक और जन्ममहोत्सव

ससुरासुर-नर-नरेन्द्रों, देवेन्द्रों एवं असुरेन्द्रों द्वारा वन्दित, त्रिलोकपूज्य, संसार के सर्वोत्कृष्ट पद तीर्थंकर पद की पुण्य प्रकृतियों का बन्ध किये हुए महान्

<sup>१</sup> आचार्य जिनसेन ने मत्स्य-युगल और सिंहासन ये दो स्वप्न बढ़ा कर सोलह स्वप्न बतलाये हैं। (महापुराण पर्व १२, पृ० १०३-१२०)

<sup>२</sup> चैत्र बहुलट्ठीय जाती उसभो आषाढ नक्षत्रे।

(आवश्यक नियुक्ति० भा० १८४ व कल्पसूत्र, सू० १६३)

<sup>३</sup> चैत्रे मास्यसिते पक्षे, नवम्यामुद्ये रवेः। (महापुराण, विनसेन, सर्ग १३, श्लो० २-३)

पुण्यात्मा जब जन्म ग्रहण करते हैं, उस समय ५६ दिक्कुमारियों और ६४ (चौसठ) देवेन्द्रों के आसन प्रकम्पित होते हैं। अर्धविज्ञान के उपयोग द्वारा जब उन्हें विदित होता है कि तीर्थंकर का जन्म हो गया है, तो वे सब अनादिकाल से परम्परागत दिशाकुमारिकाओं और देवेन्द्रों के जीताचार के अनुसार अपनी अद्भुत दिव्य देव ऋद्धि के साथ अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार तीर्थंकर के जन्मगृह तथा मेरुपर्वत और नन्दीश्वर द्वीप में उपस्थित हो बड़े ही हर्षोल्लास पूर्वक जन्माभिषेक आदि के रूप में तीर्थंकर का जन्ममहोत्सव मनाते हैं। यह संसार का एक अनादि अनन्त शाश्वत नियम है।

इसी शाश्वत नियम के अनुसार जब भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ तो तत्क्षणात् ५६ महत्तरिका दिशाकुमारियों एवं चौसठ इन्द्रों के आसन चलायमान हुये। सर्वप्रथम उन्होंने सिंहासन से उठ प्रभु जिस दिशा में विराजमान थे उस दिशा में उत्तरासंग किये सात-आठ कदम आगे जा प्रभु को प्रणाम किया। तत्पश्चात् वे सब अपनी अद्भुत देवर्द्धि के साथ प्रभु ऋषभ का जन्माभिषेक एवं जन्मोत्सव मनाने के लिए प्रस्थित हुए।

सर्वप्रथम अधोलोक में रहने वाली भोगंकरा आदि आठ दिशाकुमारियां अपने विशाल परिवार के साथ नाभि कुलकर के भवन में, प्रभु के जन्मगृह में उपस्थित हुईं। उन्होंने माता मरुदेवी और नवजात प्रभु ऋषभ को वन्दन नमन करने के पश्चात् उनकी स्तुति की। तदुपरान्त उन्होंने माता मरुदेवी को अपना परिचय देते हुए अति विनम्र एवं मधुर स्वर में निवेदन किया — हे त्रिभुवनप्रदीप तीर्थंकर को जन्म देने वाली मातेश्वरी! हम अधोलोक में रहने वाली दिक्कुमारिकाएं हैं। हम यहाँ इन त्रिभुवनतिलक तीर्थंकर भगवान् का जन्म महोत्सव करने आई हैं। अतः आप अपने मन में किञ्चित्मात्र भी आशंका अथवा भय को अवकाश मत देना।

माता मरुदेवी को इस प्रकार आश्वस्त कर उन्होंने रजकणा, तूण, घूलि, दुरभिगन्ध आदि को दूर कर जन्मगृह और उसके चारों ओर एक योजन की परिधि में समस्त वातावरण को सुरभिगन्ध से अतःप्रोत कर देने वाले वायु की विकुर्वणा द्वारा उस एक योजन मण्डल की भूमि को स्वच्छ मुरम्य एवं सुगन्धित बना दिया। किकारियों के समान यह सब कार्य निष्ठापूर्वक सम्पन्न करने के पश्चात् वे आठों महत्तरिका दिक्कुमारियां अपने विशाल देवी समूह के साथ गीत गाती हुई मां मरुदेवी के चारों ओर खड़ी हो गईं।

उसी समय ऊर्ध्वलोक में रहने वाली मेघंकरा आदि आठ दिक्कुमारियां अपने देव-देवी समूह के साथ जन्मगृह में आईं। माता पुत्र को वन्दन-नमन-स्तवन आदि के पश्चात् उन्होंने सुगन्धित जलकणों की वृष्टि और दिव्य धूप की सुगन्ध से जन्मगृह के एक योजन के परिमण्डल को देवागमन योग्य सुमनोज्ञ-सुरम्य बना दिया। तत्पश्चात् वे विशिष्टतर मंगल गीत गाती हुई मातृमन्दिर में माता मरुदेवी के चारों ओर खड़ी हो गईं।

तदनन्तर पूर्व के रुचक कूट पर रहने वाली नन्दुत्तरा आदि आठ दिक्कुमारिकाएं हाथों में दर्पण लिये, दक्षिण के रुचक पर्वत पर रहने वाली समाहारा आदि आठ दिशाकुमारियां हाथों में भारियां लिये, पश्चिम दिशा के रुचक पर्वत पर रहने वाली इलादेवी आदि ८ दिक्कुमारिकाएं हाथों में तालवृन्त (पंखे) लिये, उत्तर रुचक पर्वत पर रहने वाली अलम्बुषा आदि आठ दिशाकुमारियां हाथों में चामर लिये मंगल गीत गाती हुई तीर्थंकर के जन्मगृह में माता मरुदेवी के चारों ओर खड़ी हो जाती है।

तदुपरान्त विदिशा के रुचक पर्वत पर रहने वाली चित्रा, चित्र-कनका, सतेरा और सुदामिनी ये चार दिशाकुमारिकाएं माता एवं तीर्थंकर की वन्दन नमन पूर्वक स्तुति कर चारों दिशाओं में दीपिकाएँ लिए माता मरुदेवी के चारों ओर की विदिशाओं में गीत गाती हुई खड़ी रहती हैं।

उसी समय मध्य रुचक पर्वत पर रहने वाली रूपा, रूपांशा, सुरूपा और रूपकावती ये चार महत्तरिका दिक्कुमारिकाएं मां मरुदेवी और प्रभु ऋषभदेव को वन्दन-नमन आदि के पश्चात् उनके समीप जाकर भगवान् की नाभिनाल को चार अंगुल छोड़ कर काटती हैं। नाभिनाल को काटने के पश्चात् भवन के प्रांगण में एक ओर गड़्ढा खोद कर नाभिनाल को उसमें गाड़ देती हैं। तदनन्तर गड़्ढे को वज्ररत्नों और भांति-भांति के रत्नों से भर कर उस पर हरताल की पीठिका बांधती हैं। तदनन्तर पूर्व, उत्तर और दक्षिण इन तीन दिशाओं में तीन कदलीघरों, प्रत्येक कदलीगृह के बीच में एक-एक चतुष्शाल और प्रत्येक चतुष्शाल के मध्यभाग में एक-एक नयनाभिराम सिंहासन की विकुर्वणा करती हैं।

तदुपरान्त वे मध्यरुचक पर्वत पर रहने वाली रूपा आदि चारों ही दिशाकुमारिकाएं मां मरुदेवी के पास आ, प्रभु ऋषभ को करतल में ले माता मरुदेवी के हाथ थामे हुये दक्षिण दिशा के कदलीगृह की चतुष्शाला में लाकर उन्हें सिंहासन पर बिठा देती हैं। वहाँ माता और पुत्र दोनों के शरीर का शतपाक, सहस्रपाक तैल से शनैः शनैः मर्दन कर उनके शरीर पर दिव्य सुगन्धित गन्धपुडे की पीठी करती हैं।

पीठी करने के पश्चात् रूपा आदि वे चारों दिशाकुमारियां माता और पुत्र को पूर्ववत् लिये हुये पूर्व दिशा के कदलीगृह की चतुष्शाला के मध्यवर्ती सिंहासन पर बिठाती हैं और वहाँ क्रमशः गन्धोदक, पुष्पोदक और शुद्धोदक से स्नान कराती हैं। स्नान कराने के पश्चात् वे उन दोनों को उत्तरदिशा के कदलीगृह की चतुष्शाला के मध्यभाग में रखे सिंहासन पर बिठा देती हैं। वहाँ वे अरणी द्वारा अग्नि उत्पन्न कर अपने आभियोगिक देवों द्वारा मंगवाई हुयी गोशीर्ष चन्दन की काष्ठ से हवन, हवन के अनन्तर वे वहाँ भूतिकर्म निष्पन्न कर रक्षापोटली बांधती हैं। तत्पश्चात् मणिरत्न के समान दो गोल पाषाण हाथों में ले भगवान् के कर्णमूल के पास दोनों पाषाणों को परस्पर टकरा कर 'टिट्-टिट'



की ध्वनि करती हुई - "प्रभो ! आप पर्वत के समान चिरायु हों" - यह आशीर्वाद देती हैं ।

इस प्रकार प्रसव के पश्चात् निष्पन्न किये जाने वाले सभी आवश्यक कार्यों को सम्पन्न करने के पश्चात् रूपा आदि वे चारों दिक्कुमारिकाएं माता मरुदेवी और प्रभु ऋषभ को जन्मगृह में ला उन्हें शय्या पर विठा, मंगल गीत गाती हुई वहीं खड़ी रहती हैं ।

उसी समय सौधमैन्द्र देवराज शक्र आभियोगिक देवों द्वारा निर्मित अतीव विशाल एवं अनुपम सुन्दर विमान में अपने अलौकिक वैभव एवं देवों तथा देवियों के विशाल परिवार के साथ विनीता में आया । अपने दिव्य विमान से उसने तीन बार जन्म-भवन की प्रदक्षिणा की । तदनन्तर विमान से उतर कर दिव्य दुन्दु-भिघोष के बीच अपनी आठ अग्रमहिषियों और देव-देवियों के साथ जन्म-गृह में आया । माता मरुदेवी को देखते ही शक्र ने सांजलि शीष भुका आदक्षिणा प्रदक्षिणापूर्वक तीन बार प्रणाम किया । तदनन्तर उसने माता मरुदेवी की स्तुति करने के पश्चात् उन्हें निवेदन किया - "हे देवानुप्रिये ! मैं शक्र नामक सौधमैन्द्र तीर्थंकर प्रभु का जन्ममहोत्सव करने आया हूँ । आप पूर्णतः निर्भय रहें ।"

तदनन्तर शक्र ने अवस्वापिनी निद्रा से माता मरुदेवी को निद्राधीन कर प्रभु ऋषभ का दूसरा स्वरूप बना उनके पास रख दिया । इसके पश्चात् शक्र ने वैक्रिय शक्ति से अपने पाँच स्वरूप बनाये । वैक्रिय शक्ति से बने पाँच शक्रों में से एक शक्र ने प्रभु को अपने करतल में उठाया, दूसरे ने प्रभु पर छत्र धारण किया, दो शक्र दोनों पार्श्व में चामर वीजने लगे और पाँचवां शक्र हाथ में वज्र धारण किये हुए प्रभु के आगे-आगे चलने लगा । तत्पश्चात् चारों जाति के देवों और देवियों के अति विशाल परिवार से परिवृत्त शक्र प्रभु को करतल में लिये, दिव्य वाद्ययन्त्रों के निर्घोष के बीच दिव्य देवगति से चलते हुए मेरु पर्वत पर पंडक वन में अभिषेक शिला के पास आया । उसने भगवान् ऋषभदेव को पूर्वाभिमुख कर अभिषेक सिंहासन पर बैठाया ।

उसी समय शेष ६३ इन्द्र भी अपने-अपने विशाल देव-देवी-परिवार और दिव्य ऋद्धि के साथ पण्डक वन में अभिषेक शिला के पास पहुँचे और शक्र सहित वे ६४ इन्द्र प्रभु ऋषभ की पर्युपासना करने लगे ।

उसी समय अच्युतेन्द्र ने आभियोगिक देवों को आज्ञा दे, तीर्थंकर प्रभु के महाधर्म्य महाभिषेक के योग्य १००८ स्वर्ण कलश, उतने-उतने ही रजतमय, मणिमय, स्वर्ण-रौप्यमय, स्वर्ण-मणिमय, स्वर्ण-रजत-मणिमय, मृत्तिकामय और चन्दन के कलश, उतने-उतने ही लोटे, थाल, पात्री, सुप्रतिष्ठिका, चित्रक, रत्नकरंड, पंखे, पुष्पों की चंगेरियां, १००८ ही धूप के कड्डुल, सब प्रकार के फूलों, आभरणों आदि की अनेक चंगेरियां, सिंहासन, छत्र, चामर, तैल के डिब्बे, सरसों के डिब्बे आदि-आदि विपुल सामग्री मंगवाई ।

अभिषेक की सम्पूर्ण सामग्री के प्रस्तुत हो जाने पर वे कलशों को क्षीरसागर के क्षीरोदक, पुष्करोदक, भरत तथा एरवत क्षेत्र के मागधादि तीर्थों के जल, गंगा आदि महानदियों के जल, सभी वर्षधरों, चक्रवर्ती विजयों, वक्षस्कार पर्वत के द्रहों, महानदियों आदि के जल से पूर्ण कर उन पर क्षीरसागर के सहस्रदल कमलों के ढक्कन लगा, सभी तीर्थों एवं महानदियों की मिट्टी, सुदर्शन, भद्रशाल, नन्दन आदि वनों के पुष्प, तुअर, औषधियों, गौशीर्ष प्रभृति श्रेष्ठ चन्दन आदि को ले अभिषेक के लिये प्रस्तुत करते हैं।

तदनन्तर अच्युतेन्द्र उपर्युक्त सभी चन्दनचर्चित कलशों एवं सभी प्रकार की अभिषेच्य सामग्री से भगवान् ऋषभदेव का महाभिषेक करते हैं। प्रभु के अभिषेक के समय देव जयघोषों से गगनमण्डल को गुंजरित करते हुए, नृत्य, नाटक आदि करते हुए अपने अन्तर के अथाह हर्ष को प्रकट करते हैं। देव चारों ओर पंच दिव्यों की वृष्टि करते हैं।

इसी प्रकार शेष ६३ इन्द्र भी प्रभु का अभिषेक करते हैं। शक्र चारों दिशाओं में चार श्वेत वृषभों की विकुर्वणा कर उनके शृंगों से आठ जलघाराएं वहा प्रभु का अभिषेक करते हैं। इस प्रकार अभिषेक के पश्चात् शक्र प्रभु को जन्मगृह में ला माता के पास रख, उनके सिरहाने क्षोमयुगल और कुण्डलयुगल रख, प्रभु के दूसरे स्वरूप को हटा माता की निद्रा का साहरण करते हैं।

तदनन्तर देवराज शक्र कुबेर को बुला तीर्थकर प्रभु के जन्मघर में बत्तीस कोटि हिरण्य, बत्तीस कोटि स्वर्णमुद्राएं, ३२ कोटि रत्न, बत्तीस नन्द नामक वृत्तासन, उतने ही भद्रासन और प्रसाधन की सभी सामग्री रखने की आज्ञा देते हैं।<sup>१</sup> कुबेर जृम्भक देवों को आज्ञा दे ३२ करोड़ मुद्राएं आदि जन्मभवन में रखवा देता है।

<sup>१</sup> तएणं से सक्के देविदे देवराया वेसमणं देवं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी - "खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया । बत्तीसं हिरण्णा कोडीओ, बत्तीसं सुवण्ण कोडीओ, बत्तीसं रयणा कोडीओ, बत्तीसं-बत्तीसं रांदाई, भदाई सुभग-सुभग रुवे जोवण लावण्णेण भगवओ तित्थयरस्स जम्मणा भवणंसि साहराहि साहराहित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि ।" तए णं से वेसमणा देवे सक्केणं जाव विण्णएणं वयणं पडिसुणेइ पडिसुणेइत्ता जंभए देवे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी- "खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! बत्तीसं हिरण्णकोडीओ जाव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणा भवणंसि साहरह साहरहेत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाह ।" तएणं ते जंभणा देवा वेसमणेषां देवेषां एवं वृत्तासमाणा हट्ठतुट्ठ जाव खिप्पामेव बत्तीसं हिरण्णा कोडीओ जाव सुभगसोभग रुवं जोव्वणालावणं भगवओ तित्थयरस्स जम्मणा भवणंसि साहरत्ति साहरत्ता जेणोव वेसमणो देवे तेणोव जाव पच्चप्पिणाति । तए णं से वेसमणो देवे जेणोव सक्के देविदे देवराया जाव पच्चप्पिणाई ॥ ३५ ॥

वैश्रमणा (कुबेर), जृम्भक देवों द्वारा बत्तीस कोटि रजत मुद्राएं, उत्तनी ही स्वर्ण मुद्राएं, बत्तीस कोटि रत्न, बत्तीस-बत्तीस नंद वृत्तासन, भद्रासन और रूप, लावण्य, यौवन आदि को अभिर्वद्धित करने वाली सभी प्रकार की प्रसाधन सामग्री तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव के जन्मगृह में पहुँचा दिये जाने के पश्चात् शक्र की सेवा में उपस्थित हो, उन्हें उनकी आज्ञा की पूर्ति कर दिये जाने की सूचना देता है।

तदनन्तर देवराज शक्र आभियोगिक देवों की बुला कर कहते हैं - "हे देवानुप्रिय ! तीर्थंकर प्रभु के जन्म-नगर विनीता के शृंगाटकों, त्रिकों, चतुष्कोर्णों, महापथों एवं बाह्याभ्यन्तर सभी स्थानों में, उच्च और स्पष्ट स्वरो में उद्घोषणा करते हुए इस प्रकार की घोषणा करो :-

"जितने भी भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव तथा देवियां हैं, वे सभी सावधान होकर सुन लें कि यदि कोई तीर्थंकर भगवान् और उनकी माता का अशुभ करने का विचार तक भी मन में लावेगा, तो उसका मस्तक ताल वृक्ष की मंजरी के समान तोड़ दिया जायगा, फोड़ दिया जायगा।"

आभियोगिक देवों ने देवराज शक्र की आज्ञा को शिरोधार्य कर तीर्थंकर भगवान् के जन्म-नगर के बाह्याभ्यन्तरवर्ती सभी स्थानों में उक्त प्रकार की घोषणा कर दी।<sup>१</sup>

बाल-जिनेश्वर प्रभु ऋषभ का जन्माभिषेक महामहोत्सव सम्पन्न कर चारों जाति के देव-देवेन्द्र नन्दीश्वर द्वीप में गये और वहाँ उन्होंने प्रभु के जन्म का अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाया।

महाराज नाभि ने और प्रजा ने भी बड़े हर्षोल्लास के साथ प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाया।

### प्रथम जिनेश्वर का नामकरण

जन्म-महोत्सव सम्पन्न होने के पश्चात् प्रथम जिनेश का नामकरण किया गया। प्रथम जिन के गर्भागमन काल में माता मरुदेवी ने चौदह महास्वप्नों में सर्वप्रथम सर्वांग-सुन्दर वृषभ को देखा था और शिशु के उरुस्थल पर भी वृषभ

<sup>१</sup> तए णं से सक्के देविंदे देवराया आभिओगे देवे सहावेइ २ ता एवं वयासी-“खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! भगवओ तित्थयरस्स जम्मणायारंसि सिघाडग जाव महापहेसु महया महया सद्दंणं उग्घोसेमाणा २ एवं वयह-हंदि ! सुणंतु भवंतो बहवे भवणवइ वाणमंतर जोइस वेमाणिया देवा य देवीओ य जे ए देवाणुप्पिया ! तित्थयरस्स तित्थयरमाऊए वा उवरिं अशुहं मणं पहारेइ, तस्स णं अज्जगमंजरिया इव सयहा मुद्धा णं फुट्टओ, तिकट्टु घोसणं घोसेह २ ता एयमाणतियं पच्चप्पिणह।” तए णं ते आभिओग देवा जाव एवं देवो त्ति आणाए पडिसुणंति २ ता सक्कस्स देविदस्स देवरण्णो अंतियाओ पडिनिक्खमंति २ ता खिप्पामेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणायारंसि सिघाडग जाव एवं वयासी - “हंदि ! सुणंतु भवंतो बहवे भवणवई जाव जे णं देवाणुप्पिया ! तित्थयरस्स जाव फुट्टिहति” तिकट्टु घोसणं घोसेंति २ ता एयमाणतियं पच्चप्पिणंति ।

- जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (अमोलक ऋषिजी म०) अधिकांश ५, पृ० ४८६-४९१

का शुभ-लांछन (चिह्न) था, अतः माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम ऋषभदेव रखा।<sup>१</sup> ऋषभ का अर्थ है—श्रेष्ठ। प्रभु त्रैलोक्यतिलक के समान संसार में सर्वश्रेष्ठ थे, उन्होंने आगे चलकर सर्वश्रेष्ठ धर्म की संस्थापना की, इस दृष्टि से भी प्रभु का 'ऋषभ' नाम सर्वथा समुचित और यथा नाम तथा गुण निष्पन्न था। पंचम अंग 'वियाह पद्मति' आदि आगम और आगमेतर साहित्य में प्रभु के नाम ऋषभ के साथ 'नाथ' और देव का भी प्रयोग किया गया है, जो प्रभु ऋषभ के प्रति अतिशय भक्तिभाव का द्योतक प्रतीत होता है।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में ऋषभ का कई स्थानों पर वृषभदेव नाम उपलब्ध होता है। वृषभदेव जगत् में ज्येष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं। ये जगत् के लिये हितकारक धर्म रूपी अमृत की वर्षा करने वाले हैं, इसलिये इन्द्र ने उनका नाम वृषभदेव रखा।<sup>२</sup>

भागवतकार के मन्तव्यानुसार सुन्दर शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, यश और पराक्रम आदि सद्गुणों के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम ऋषभ रखा।<sup>३</sup>

चूणिकार के उल्लेखानुसार भगवान् ऋषभ का एक नाम 'काश्यप' भी रखा गया था। इक्षु के विकार अथवा परिवर्तित स्वरूप इक्षुरस का पर्यायवाची शब्द काश्य भी है, उस काश्य का पान करने के कारण प्रभु ऋषभदेव को काश्यप नाम से भी अभिहित किया जाता रहा है। ऋषभ कुमार जिस समय एक वर्ष से कुछ कम अवस्था के थे, उस समय जब देवराज शक्र प्रभु की सेवा में उपस्थित हुये, उस समय देवराज के हाथ में इक्षुदण्ड था। बाल आदिजिनेश ने इक्षु की ओर हाथ बढ़ाया। इन्द्र ने प्रभु को वह इक्षुदण्ड प्रस्तुत किया। प्रभु ने उस इक्षुदण्ड के रस का पान किया।<sup>४</sup> उस घटना को लेकर संभव है नामकरण के कुछ मास पश्चात् प्रभु का वंश भी काश्यप नाम से कहा जाने लगा।

कल्पसूत्र में भगवान् ऋषभदेव के पाँच नामों का उल्लेख है, जो इस प्रकार हैं :-

(१) ऋषभ, (२) प्रथम राजा, (३) प्रथम भिक्षाचर, (४) प्रथम जिन और (५) प्रथम तीर्थंकर।<sup>५</sup>

<sup>१</sup> उरसु उसमलंछणं, उसभो सुमिराम्भि तेण कारणेण उसभो त्ति एणमं कयं।

आवश्यक चूणि, पृ० १५१

<sup>२</sup> महापुराण (जिनसेन), पर्व १४, श्लोक १६०

<sup>३</sup> श्रीमद्भागवत ५-४-२ प्रथम खण्ड, गोरखपुर संस्करण ३, पृ० ५५६

<sup>४</sup> कास उच्छु तस्य विकारो कास्यः रसः, सो जस्त पाणं सो कासवो-उसभसामी।

- दशवर्कालिक, अ० ४, अगस्त्य ऋषि की चूणि

<sup>५</sup> उसभे इ वा, पढमराया इ वा, पढमभिक्षाचारे इ वा, पढम जिणे इ वा, पढम तित्थयरे इ वा।

कल्पसूत्र, सूत्र १६४

पनुस्मृति में भगवान् ऋषभ देव को 'उरुकमः' के नाम से भी अभिहित किया गया है ।<sup>१</sup>

भगवान् ऋषभदेव जिस समय माता के गर्भ में आये, उस समय कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की, इस कारण उनका नाम हिरण्यगर्भ भी रखा गया ।<sup>२</sup>

उत्तरकालीन आचार्यों एवं जैन इतिहासविदों ने, भगवान् ऋषभदेव का, कर्मभूमि एवं धर्म के आद्य प्रवर्तक होने के कारण आदिनाथ के नाम से उल्लेख किया है । जनसाधारण में, शताब्दियों से भगवान् ऋषभदेव प्रायः आदिनाथ के नाम से विख्यात हैं ।

### बालक ऋषभ का आहार

यद्यपि आगमों में तीर्थंकरों के आहार के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है तथापि आगमोत्तरकालीन निर्युक्ति, भाष्य, चर्चा आदि आगमों के व्याख्या-साहित्य तथा कहावली आदि ग्रन्थों के उल्लेखों से यह प्रकट होता है कि तीर्थंकर स्तन्यपान नहीं करते । देवेन्द्र अथवा देवों ने प्रभु ऋषभ के जन्म ग्रहण करते ही उनके अंगूठे (अंगुली) में अमृत अथवा मनोज्ञ पौष्टिक रस का संक्रमण (स्थापन) कर दिया । आहार की इच्छा होने पर शिशु तीर्थंकर अपने अंगूठे को मुंह में रख लेते और उसी से नानाविध पौष्टिक रस ग्रहण करते ।<sup>३</sup> देवेन्द्र द्वारा नियुक्त देवियां अर्हनिश बाल-जिनेश की प्रगाढ़ भक्ति और निष्ठा के साथ सेवा-सुश्रूषा करतीं । शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्र की कजा के समान भगवान् ऋषभ उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों वृद्धिगत होने लगे, त्यों-त्यों देवों द्वारा उन्हें फलादि मनोज्ञ आहार पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत किया जाता रहा ।

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य भद्रेश्वर सूरि की बृहद् ऐतिहासिक कृति 'कहावली' के उल्लेखानुसार भगवान् ऋषभदेव प्रव्रजित होने से पूर्व तक के अपने सम्पूर्ण गृहस्थजीवन-काल में देवों द्वारा लाये गये देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रों के फलों का आहार और क्षीर सागर के जल का पान करते रहे ।<sup>४</sup>

<sup>१</sup> अष्टमो मरुदेव्यां तु, नाभेर्जति उरुकमः ।

मनुस्मृति

<sup>२</sup> विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत् ॥६५॥ हिरण्यगर्भस्त्वं धाता ॥५७॥

— महापुराण, पर्व १२ और १५

<sup>३</sup> आहारमंगुलीए, ठवति देवा मरणं तु ॥१॥ आब० अ० १

<sup>४</sup> समइषकंत बालभावा य सेस जिणा अग्गिपक्कमेवाहारं मुंजति । उसह सामी उस पवज्जं अपडिबन्नो देवोवणीय देवकुरु उत्तरकुरु कप्परुक्खामय फलाहारं खीरोवहि जलं च उपमुंजति ।  
[कहावली, हस्तलिखित प्रति, एल. डी. ई. ई., अहमदाबाद]

### शिशु-लीला

शिशु जिनेश ऋषभ, देवेन्द्र द्वारा अंगुष्ठ में निहित अमृत का पान करते हुए अनुक्रमशः बढ़ने लगे। प्रभु की सुकोमल शय्या, आसन, वस्त्रालंकार, प्रसाधन सामग्री, अनुलेपन, विलेपन, क्रीडनक आदि सभी वस्तुएं दिव्य और अत्युत्तम थीं। सर्वार्थसिद्ध नामक अनुत्तर विमान से च्यवन के समय से ही प्रभु मति, श्रुत और अवधिज्ञान से सम्पन्न थे, अतः उनकी बाल्य लीलाएं भी अद्भुत और जन-मन को परमाह्लादित, सम्मोहित और आत्मविभोर कर देने वाली होती थीं। बाल रवि के समान उनकी सुमनोहर, नयनाभिराम छवि दर्शक के तन, मन और रोम-रोम को तृप्त-आप्यायित कर देती थी। उनके विम्बोष्ठों पर, पूर्णिमा के चन्द्र की दुग्धधवला ज्योत्स्ना को भी लज्जित कर देने वाला मन्द-मन्द सम्मोहक म्मित सदा विराजमान रहता था। उनके त्रैलोक्य-ललाम अलौकिक सौन्दर्य को देखने के लिये आने वाले स्त्री-पुरुषों का दिन भर तांता-सा लगा रहता था। दर्शक, उन शैशव-लीलारत बाल-जिनेश्वर प्रभु की त्रिभुवन-सम्मोहक रूपसुधा का विस्फारित एवं निरतिमेष नेत्रों से निरन्तर पान करते प्रभु की रूपसुधा के सागर में निमग्न हो अपने आपको भूल जाते थे। अपने नयनों से जितनी अधिक प्रभु की रूपसुधा का पान करते, उतनी ही अधिक उनकी आँखों की प्यास बढ़ती जाती थी।

प्रभु की एक-एक मधुर मुस्कान पर, उनकी एक-एक मन लुभा देने वाली बाल-लीला पर माता मरुदेवी और पिता नाभिराज आत्मविभोर हो उद्वेलित आनन्द सागर की उत्ताल तरंगों के झूले पर झूलते-झूलते भूम उठते थे।

### योगलिक की अकाल मृत्यु

जिन दिनों शिशु-जिन ऋषभ अपनी अद्भुत शिशु-लीलाओं से नाभिराज, माता मरुदेवी, परिजनों, पुरजनों और देव-देवियों को अनिर्वचनीय, अलौकिक आनन्द सागर में निमग्न कर रहे थे, उन्हीं दिनों वन में एक योगलिक (बालक-वालिका) युगल बालक्रीड़ा कर रहा था। सहसा उस बालक के मस्तक पर तालवृक्ष का फल गिरा और उसकी मृत्यु हो गई। यह प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल की प्रथम अकाल-मृत्यु थी। इस अद्भुतपूर्व घटना को देख कर योगलिक सहम उठे। बालिका को वन में ऐकाकिनी देख विस्मित हुए योगलिक उसे नाभिराय के पास ले आये और उन्होंने इस अश्रुतपूर्व-अद्भुतपूर्व घटना पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया। नाभि कुलकर ने उन लोगों को समझाया कि अब काल करवट बदल रहा — अंगड़ाई ले रहा है, यह सब उसी का प्रभाव है, यह उसकी पूर्व सूचना मात्र है। कुलकर नाभिराज ने उस बालिका को अपने भवन में यह कह कर रख लिया कि वड़ी होने पर यह ऋषभकुमार की भार्या होगी। उस परम रूपवती बालिका का नाम सुनन्दा रखा गया। सुनन्दा भी अब ऋषभकुमार और सुमंगला के साथ-साथ बाल-लीलाएं करने लगी। इस प्रकार देवगण से परिवृत्त, उदयगिरि

पर आरूढ़ नवोदित भुवनभाष्कर बालभानु के समान कमनीय कान्तिवाले, प्रभु ऋषभ बाल-लीला करते हुए, सुमंगला और सुनन्दा के साथ बढ़ने लगे ।<sup>१</sup>

### वंश और गोत्र-स्थापना

योगिकों के समय से, भगवान् ऋषभदेव के जन्मकाल तक मानव समाज किसी कुल, जाति अथवा वंश के विभाग में विभक्त नहीं था। अतः प्रभु ऋषभदेव का भी उस समय तक न कोई वंश था और न कोई गोत्र ही। जिस समय प्रभु ऋषभदेव एक वर्ष से कुछ कम वय के हुए, उस समय एक दिन वे अपने पिता नाभि कुलकर की क्रीडा में बैठे हुए बालक्रीडा कर रहे थे। उसी समय एक हाथ में इक्षुदण्ड लिये वज्रपाणि देवराज शक्र उनके समक्ष उपस्थित हुए। देवेन्द्र शक्र के हाथ में इक्षुदण्ड देखकर शिशु-जिन ऋषभदेव ने, उसे प्राप्त करने के लिये अपना प्रशस्त लक्षण युक्त दक्षिण हस्त आगे बढ़ाया। यह देख देवराज शक्र ने सर्वप्रथम प्रभु की इक्षुभक्षण की रुचि जान कर त्रैलोक्यप्रदीप तीर्थकर प्रभु ऋषभ के वंश का नाम इक्ष्वाकु वंश रखा।<sup>२</sup> उसी समय से भगवान् ऋषभदेव की जन्मभूमि भी इक्ष्वाकु भूमि के नाम से विख्यात हुई।<sup>३</sup> पानी की क्यारी को काटने पर जिस प्रकार पानी की धारा बह चलती है, उसी प्रकार इक्षु के काटने और छेदन करने से रस का स्राव होता है, अतः भगवान् का गोत्र 'काश्यप' रखा गया।<sup>४</sup> शंशव-लीलाएं करते-करते क्रमशः वृद्धिगत हो प्रभु बालक्रीडाएं करने लगे। समवयस्क सखाओं और देवकुमारों के साथ क्रीडा करते प्रभु के अद्भुत कौशल, अतुल बल, हृदयहारी हस्तलाघव और धूलिधूसरित सुमनोहर छवि को देख माता-पिता और दशक रोझ-रोझ कर भूम उठते।

<sup>१</sup> (क) पढमो अकालमच्चू, तहि तालफलेण दारओ पहओ ।

कन्ना य कुलगरेण, सिद्धे गहिया उसभपत्ती ॥२२॥

अह वड्डइ सो भयवं, दिवभोगजुओ अगुवमसिरीओ ।

देवगण परिवुडो, नंदाइ सुमंगला सहिओ ॥११६॥

असियसिरो सुनयणी, बिबुट्टोधवल वंत पंतीओ ।

वर पउमगन्ध गौरो फुल्लुप्पल गन्ध नीसासो ॥१२०॥

[आ० भाष्य]

(ख) पवग्गुपाडियतालरुनखस्स फलेण य जायमिहुरणयस्स पुत्ती विणासिओ.....सा य सुनंदा सुट्ठु रूववई वणे भमंती जोलाहम्मिएहि दट्ठूणेगगिणी नाभि कुलगरस्स समप्पिया । तेग्गावि अज्जा उसभस्स भविस्सइ त्ति भणिउग्ग गहिआ ।

[कहावनी, अप्रकाशित, एल. डी. ई. ई. अहमदाबाद]

<sup>२</sup> आवश्यक निर्युक्ति गा० १८६, निर्युक्ति दीपिका गा० १८६

<sup>३</sup> आवश्यक चूणि, पृ० १५२

<sup>४</sup> आवश्यक म० पूर्व भाग, पृ० १६२, चूणि पृ० १५३

### तीर्थेशो जगतां गुरुः

क्रमशः प्रभु ने किशोर वय में प्रवेश किया। उस समय उनको देखते ही दर्शक को ऐसा प्रतीत होता कि मानो सम्पूर्ण संसार का समस्त सौन्दर्य एकत्र पुंजीभूत हो प्रभु के रूप में प्रकट हो गया है। सभी तीर्थंकर महाप्रभु गर्भागमन से पूर्व च्यवन काल से ही मति, श्रुत और अविधि ज्ञान—इन तीन ज्ञान के धारक होते हैं। भगवान् ऋषभदेव भी सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यवन के समय से ही मति, श्रुत और अविधि—इन तीनों ज्ञान के धारक थे। उन्हें जातिस्मरण ज्ञान से अपने पूर्व जन्मों का भी सम्यक् परिज्ञान था।<sup>१</sup> इसीलिये उन्हें किसी कलागुरु अथवा कलाचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं थी। वे तो स्वयं ही समस्त विद्याओं के निधान और निखिल कलाओं के पारगामी जगद्गुरु थे।

### भगवान् ऋषभदेव का विवाह

समय की गति के साथ बढ़ते हुए कुमार ऋषभ ने शैशव से किशोर वय में और किशोर वय से यौवन की देहली पर पैर रखा। सतत साधना-पूर्ण अपने पूर्व जन्म में उन्होंने जो ज्ञान का अक्षय भण्डार संचित कर लिया था, वह उन्हें इस भव हेतु गर्भ में आगमन के समय से ही प्राप्त था। उन्होंने तत्कालीन घटनाचक्र और लोक-व्यवहार से समयोचित नूतन अनुभवों को हृदयंगम कर लोक-व्यवहार में पूर्ण प्रवीणता प्राप्त करली।

जब इन्द्र ने देखा कि अब कुमार ऋषभ भोगसमर्थ युवावस्था एवं विवाह योग्य वय में प्रविष्ट हो गये हैं, तो उन्होंने कुमार ऋषभ का विवाह करने का निश्चय किया। लावण्य सम्पन्ना सुमंगला और सुनन्दा के साथ नाभिराज के परामर्श से देव-देवियों से युक्त शक्रेन्द्र ने ऋषभकुमार का विवाह सम्पन्न किया। उस समय के मानवों के लिये विवाह कार्य पूर्णतः नवीन था। विवाह कार्य किस प्रकार सम्पन्न किया जाय, कैसे क्या किया जाय, इस विधि से तत्कालीन नर-नारी नितान्त अनभिज्ञ थे। अतः इन्द्र और इन्द्राणियों ने ही विवाह सम्बन्धी सब कार्य अपने हाथों सम्हाला। वरपक्ष का कार्य स्वयं देवराज शक्र ने और वधु-पक्ष का कार्य शक्र की अग्रमहिषियों ने बड़े हर्षोल्लास से विधिवत् सम्पन्न किया।<sup>२</sup> इससे पूर्व उस समय के मानव समाज में ऐसी कोई वैवाहिक प्रथा प्रचलित नहीं थी। ऋषभदेव के विवाह से पूर्व यौगलिक काल में, नर-नारी शिशु युगल एक माता की कुक्षि से एक साथ जन्म ग्रहण करता और कालान्तर में युवावस्था में प्रवेश करने पर उस मिथुन का जीवन—सम्बन्ध पति-पत्नी के रूप में

<sup>१</sup> आवश्यक म० १८६,

<sup>२</sup> भोग समत्थं नाउं, वरकम्मं तस्स कासि देविन्दो ।

दोण्हं वरमहिलाणं, बहुकम्मं कासि देवीतो ॥१६१॥



परिवर्तित हो जाया करता था। सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने ही भावी मानव-समाज के हित की दृष्टि से विवाह परम्परा का सूत्रपात किया। इस प्रकार उन्होंने मानव मन की बदलती हुई स्थिति और उससे उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों का अध्ययन कर कालप्रभाव से बढ़ती हुई विषय-वासना को विवाह सम्बन्ध से सीमित कर मानव जाति को वासना की भट्टी में गिरने से बचाया।

अपने युग की इस नितान्त नवीन और सबसे पहली विवाह-प्रणाली को देखने के लिये यौगलिक नर-नारियों के विशाल भुण्ड कुलकर नाभि के भवन की ओर उमड़ पड़े। महाराज नाभि ने और प्रजा ने बड़े हर्षोल्लास के साथ प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल के इस प्रथम विवाह के उपलक्ष में अनेक दिनों तक आनन्दोत्सव मनाया। जनमानस में आनन्द सागर की उमड़ती उर्मियों से समस्त वातावरण आनन्द से ओतप्रोत हो गया। भली-भांति सजाई-संवारी हुई विनीता नगरी अलका सी प्रतीत होने लगी। संसार के निखिल सौन्दर्य, सुषमा, कीर्ति और कान्ति के सर्वोच्च कीर्तिमान वरराज ऋषभकुमार, इन्द्राणियों द्वारा दिव्य वस्त्राभरणों एवं अलंकारों से सजाई-संवारी गई उन दोनों सुमंगला और सुनन्दा नववधुओं के साथ ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों संसार का पुंजीभूत सौन्दर्य साक्षात् सदेहा श्री और कीर्तिदेवी के साथ विराजमान हो। दो नववधुओं के साथ वरवेष में सजे अपने पुत्र ऋषभ को देख-देख माता मरुदेवी बार-बार बलैयां लेने लगीं, पिता नाभि पुलकित हो उठे और स-सुरासुर-गन्धर्व-किन्नर-नर-नारियों का आनन्द-सागर बेलाओं को लांघ-लांघ कर कल्लोलें करने लगा।

विवाहोपरान्त ऋषभकुमार देवी सुमंगला और सुनन्दा के साथ उत्तम मानवीय इन्द्रिय-सुखों का उपभोग करने लगे।

### भोगभूमि और कर्मभूमि का संधिकाल

यों तो इस अवसर्पिणी काल के प्रथम कुलकर के समय से ही काल करवट बदलने के लिये अंगड़ाइयां लेने लगा था, प्रकृति के चरण परिवर्तन की ओर प्रवृत्त होने के लिये खम-खमाने लग गये थे, सभी प्रकार के अभाव अभियोगों से पूर्णतः विमुक्त और प्रकृति मां के शान्त सुखद-सुन्दर क्रीड में परमोत्कृष्ट वात्सल्यपूर्ण मादक माधुर्य में अनेक सागरों की सुदीर्घाविधि तक विमुग्ध रहे हुए प्रकृति-पुत्र यौगलिकों की चिरशान्त हृत्तन्त्रियों के तार यदा-कदा थोड़ा-थोड़ा प्रकम्पन अनुभव करते-करते क्रमशः भ्रन्-भ्रनाने भी लगे थे। जब भोग भूमि के अन्त और कर्मभूमि के उदय का संधिकाल समीप आया तो प्रकृति ने परिवर्तन की ओर चरण बढ़ाया और काल ने एक करवट ली। कालप्रभाव से कल्पवृक्ष क्रमशः विरल और क्षीण हो गये, नाम मात्र की अवशिष्ट रह गये।

यौगलिक काल में—भोगभूमि के समय में चिरकाल से कल्पवृक्षों पर आश्रित रहता आया मानव कल्पवृक्षों के नष्टप्रायः हो जाने पर भूख से पीड़ित हो त्राहि-त्राहि कर उठा। भूख से संतप्त लोग नाभि कुलकर के पास आये

और उन्हें अपनी दयनीय स्थिति से अवगत करवाया। कुलकर नाभि ने अपने पुत्र ऋषभ कुमार से परामर्श लिया। वे अपने पुत्र के अलौकिक गुणों और बुद्धि-कौशल से भली-भांति परिचित थे। उन्होंने अपने पुत्र को कहा कि वे संकटग्रस्त मानवता का मार्गदर्शन करें।

### पन्द्रहवें कुलकर के रूप में

तीन ज्ञान के धनी कुमार ऋषभदेव ने लोगों को आश्वस्त करते हुए कहा - “अवशिष्ट कल्पवृक्षों के फलों के अतिरिक्त स्वतः ही वन में उगे हुए शाली आदि अन्न से अपनी भूख की ज्वालाओं को शान्त करो, इक्षुरस का पान करो। इन शाली आदि स्वतः ही उगे हुए धान्यों से तुम्हारा जीवन निर्वाह हो जायगा। इनके अतिरिक्त वनों में अनेक प्रकार के कन्द, मूल, फल, फूल, पत्र आदि हैं, उनका भी भक्षण किया जा सकता है। इस प्रकार तुम्हारी क्षुधा शान्त होगी।” १५वें कुलकर के रूप में तत्कालीन भूखी मानवता का मार्गदर्शन करते हुए कुमार ऋषभ ने उन लोगों को खाने योग्य फलों, फूलों, कन्द-मूल और पत्तों का भली भांति परिचय कराया। भूख से पीड़ित उन लोगों ने प्रभु द्वारा निदिष्ट कन्द, मूल फल, फूल, पत्र एवं कच्चे शाक्यादि से अपनी भूख को शान्त कर सुख की श्वास ली। अब वे लोग शाल्यन्न, ब्रीही और जंगलों में स्वतः ही उगे हुए अनेक प्रकार के धान्यादि तथा कन्द, मूल, फल, पुष्प, पत्रादि से अपना जीवनयापन करने लगे।<sup>१</sup> इस प्रकार अपनी भूख की ज्वाला को शान्त कर जे लोग प्रभु ऋषभदेव को ही अपनी कामनाओं को पूर्ण करने वाला कल्पवृक्ष समझने लगे।

यद्यपि वे लोग प्रभु ऋषभ के निर्देशानुसार अधिकांशतः कन्द, मूल, फल, फूल आदि का ही भक्षण करते, कच्चे धान्यों का बहुत स्वल्प मात्रा में ही उपभोग करते थे, तथापि छिलके सहित कच्चे अन्न के खाने से कतिपय लोगों को अपच और उदर की पीड़ा भी सताने लगी। उदर पीड़ा की इस अश्रुतपूर्व नई दुविधा के समाधान के लिये वे लोग पुनः प्रभु की सेवा में उपस्थित हुए। प्रभु ऋषभकुमार ने उनकी समस्या का समाधान करते हुए कहा - “शाली आदि धान्यों का छिलका हटा कर उन्हें हथेलियों में अच्छी तरह मसल-मसल कर खाओ, कम मात्रा में खाओ, इससे उदर-पीड़ा अथवा अपच आदि की व्याधि नहीं होगी।”

<sup>१</sup> आसी कंदाहारा, मूलाहारा य पत्तहारा य।

पुष्प-फल भोइणो वि य, जइया किर कुलगरो उसहो ॥

श्रोमप्पाहारंता, अजीरमाण्मि ते जिएमुर्वेति । (अवममप्पाहरंतः)

हत्थेहि घंसिऊणं, आहारेहति ते भणिया ॥३८॥

आसी य पाणिघंसी, तिम्मिअ तंदुलपवालपुडभोई ।

हत्थतलपुडाहारा, जइआ किर कुलगरो उसभो ॥३९॥

प्रभु के निर्देशानुसार उन्होंने वनों में स्वतः ही उत्पन्न हुए धान्यों के छिलकों को हटा, हथेली में खूब मसल-मसल कर खाना प्रारम्भ किया, और इस प्रकार उनका सुखपूर्वक निर्वाह होने लगा। धान्य कच्चे रहे, तब तक उन्हें अपच अथवा उदरशूल की किसी प्रकार की व्याधि नहीं हुई। किन्तु जब धान्य पूरी तरह पक गये तो उन्हें पुनः उसी प्रकार की अपच आदि की व्याधि से पीड़ा होने लगी। इस पर उन लोगों ने पुनः प्रभु की सेवा में उपस्थित हो उनके समक्ष अपनी समस्या रखी। प्रभु ने उनका मार्गदर्शन करते हुए कहा — “इस पके हुए अन्न को पहले जल में भिगोओ, थोड़ा भीग जाने पर इसे मुट्ठी में बंद रख कर अथवा बगल में रख कर गरम कर के खाओ, इससे तुम्हें अपच आदि की बाधा उत्पन्न नहीं होगी।”

उन लोगों ने प्रभु के निर्देशानुसार अन्न को भिगो कर और मुट्ठी अथवा बगल में रख कर खाना प्रारम्भ किया। कुछ समय तक तो उनका कार्य अच्छी तरह चलता रहा किन्तु कच्चे धान्य के खाने से उन्हें पुनः अपच आदि की व्याधि सताने लगी।

कुमार ऋषभदेव अतिशय ज्ञानी होने के कारण अग्नि के विषय में जानते थे। वे यह भी जानते थे कि काल की एकान्त स्निग्धता के कारण अभी अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती, अतः कालान्तर में काल की स्निग्धता कम होने पर उन्होंने अरणियों को घिस कर अग्नि उत्पन्न की और लोगों को पाक कला का ज्ञान कराया।<sup>1</sup>

चूणिकार ने लिखा है कि संयोगवश एक दिन जंगल के बांस वृक्षों में वायु के वेग के कारण अनायास ही संघर्ष से अग्नि उत्पन्न हो गई। इस प्रकार बांसों के घर्षण से उत्पन्न अग्नि भूमि पर गिरे सूखे पत्ते और घास को जलाने लगी। युगलियों ने उसे रतन समझ कर ग्रहण करना चाहा किन्तु उसको दूते ही जब हाथ जलने लगे तो वे अंगारों को फेंक कर ऋषभ देव के पास आये और उन्हें सारा वृत्तान्त कह सुनाया। ऋषभकुमार ने कहा — “आस-पास की घास साफ करने से अग्नि आगे की ओर नहीं बढ़ सकेगी।” उन युगलिकों ने ऋषभ के आदेशानुसार अग्नि के आस-पास के भूखण्ड पर पड़े सूखे पत्तों और काष्ठ को हटा कर भूमि को साफ कर दिया। उसके परिणामस्वरूप आग का बढ़ना रुक गया।

तदनन्तर प्रभु ने उन युगलिकों को बताया कि इसी आग में कच्चे धान्य को पका कर खाया जाय तो अपच अथवा उदरशूल आदि की व्याधि नहीं होगी। उस समय के भोले युगलिकों ने धान्य को आग में डाला तो वह जल गया। इस पर यौगलिक समुदाय हताश हो पुनः ऋषभकुमार के पास आया और बोला कि अग्नि तो स्वयं ही इतनी भूखी है कि वह समग्र — सारा का सारा धान्य खा जाती

<sup>1</sup> प्रायश्चित्त चूणि पृ० १५५

है। तब भगवान् ने मिट्टी गीली कर हाथी के कुम्भस्थल पर उसे जमा कर पात्र बनाया और बोले कि ऐसे पात्र बना कर धान्य को उन पात्रों में रख कर आग पर पकाने से वह नहीं जलेगा। इस प्रकार वे लोग आग में पका कर खाद्यान्न खाने लगे। मिट्टी के बर्तन और भोजन पकाने की कला सिखा कर ऋषभदेव ने उन लोगों की समस्या हल की, इसलिये लोग उन्हें धाता, विधाता एवं प्रजापति कहने लगे। इस प्रकार समय-समय पर ऋषभदेव से मार्गदर्शन प्राप्त कर प्रभु की शीतल छत्रछाया में सब लोग शान्ति से अपना जीवन बिताने लगे।

इस प्रकार लगभग १४ लाख पूर्व तक भगवान् ऋषभदेव ने भोगभूमि और कर्मभूमि के संक्रान्तिकाल में उस समय के भोले यौगलिक लोगों को कुलकर के रूप में समय-समय पर जीवनयापन का मार्ग दिखा कर एवं उनकी पीड़ाओं, कष्टों और समस्याओं का समुचित रूप से समाधान कर मानवता पर महान् उपकार किया। प्रभु ऋषभदेव द्वारा मानवता पर अपने कुलकरकाल में किये गये महान् उपकारों की अमर स्मृति के रूप में ही आगमीय-व्याख्या ग्रन्थों की रचना करने वाले आचार्यों ने “जइया किर कुलगरो उसभो” इन गाथापदों के रूप में प्रभु की यशोगाथाओं का गान किया है।

### भ० ऋषभदेव की सन्तति

चौदहवें कुलकर अपने पिता नाभि के सहयोगी कुलकर के रूप में लगभग चौदह लाख पूर्व के अपने उक्त कुलकर काल के प्रारम्भ में जब भ० ऋषभदेव की वय ६ लाख पूर्व की हुई, उस समय देवी सुमंगला ने पुत्र और पुत्री के एक मिथुन के रूप में भरत और ब्राह्मी को जन्म दिया। भरत और ब्राह्मी के जन्म के थोड़ी ही देर पश्चात् देवी सुनन्दा ने भी पुत्र-पुत्री के एक मिथुन के रूप में बाहुबली और सुन्दरी को जन्म दिया। देवी सुमंगला ने कालान्तर में पुनः अनुक्रमशः उनपचास बार गर्भ धारण कर, ४६ पुत्र युगलों को जन्म दिया। [इस प्रकार देवी सुमंगला ६६ पुत्रों और एक पुत्री की तथा देवी सुनन्दा एक पुत्र एवं एक पुत्री की माता बनी।

देवी सुमंगला ने प्रथम गर्भधारण-काल में तीर्थंकरों की माताओं के समान ही १४ महास्वप्नों को देखा। सुखपूर्वक सोयी हुई देवी सुमंगला ने रात्रि के पश्चिम प्रहर में अर्द्ध-जागृतावस्था में वे चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्नों को देखते ही देवी सुमंगला जागृत हुई और उसी समय वे प्रभु ऋषभ के शयन कक्ष में गईं। पति द्वारा प्रदर्शित आसन पर बैठ कर देवी सुमंगला ने उन्हें अपने चौदह स्वप्न सुना कर स्वप्नों के फल की जिज्ञासा की। तीन ज्ञान के धनी ऋषभदेव ने देवी सुमंगला द्वारा देखे गये स्वप्नों का फल सुनाते हुए कहा— “देवी! इन स्वप्नों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि तुम एक ऐसे महान् पुण्यशाली चरम शरीरी पुत्ररत्न को जन्म दोगी जो आगे चल कर सम्पूर्ण भरत क्षेत्र का षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती सम्राट् होगा।”

स्वप्नफल सुन कर देवी सुमंगला परम प्रमुदित हुई और प्रभु को प्रणाम कर अपने शयनकक्ष में लौट गई। उसने शेष रात्रि धर्मजागरणा करते हुए व्यतीत की। जैसा कि ऊपर बताया गया है, गर्भकाल पूर्ण होने पर देवी सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी को जन्म दिया। भरत के चरणों में चौदह रत्नों के चिह्न थे। पितामह नाभिराज और मातामही मरुदेवी ने दो पौत्रों और दो पौत्रियों के जन्म के उपलक्ष में हर्षोल्लास के साथ उत्सव मनाया।

कालान्तर में देवी सुमंगला ने अनुक्रमशः ४९ बार में युगल रूप से जिन ९८ पुत्रों को जन्म दिया, उन सहित प्रभु ऋषभदेव के सब मिला कर १०० पुत्र और दो पुत्रियां हुईं। उनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. भरत	२८. मागध	५५. सुसुमार
२. बाहुबली	२९. विदेह	५६. दुर्जय
३. शङ्ख	३०. संगम	५७. अजयमान
४. विश्वकर्मा	३१. उशार्ण	५८. सुधर्मा
५. विमल	३२. गम्भीर	५९. धर्मसेन
६. सुलक्षणा	३३. वसुवर्मा	६०. आनन्दन
७. अमल	३४. सुवर्मा	६१. आनन्द
८. चित्राङ्ग	३५. राष्ट्र	६२. नन्द
९. ख्यातकीर्ति	३६. सुराष्ट्र	६३. अपराजित
१०. वरदत्त	३७. बुद्धिकर	६४. विश्वसेन
११. दत्त	३८. विविधकर	६५. हरिषेण
१२. सागर	३९. सुयश	६६. जय
१३. यशोधर	४०. यशःकीर्ति	६७. विजय
१४. अवर	४१. यशस्कर	६८. विजयन्त
१५. थवर	४२. कीर्तिकर	६९. प्रभाकर
१६. कामदेव	४३. सुषेण	७०. अरिदमन
१७. ध्रुव	४४. ब्रह्मसेण	७१. मान
१८. वत्स	४५. विक्रान्त	७२. महाबाहु
१९. नन्द	४६. नरोत्तम	७३. दीर्घबाहु
२०. सूर	४७. चन्द्रसेन	७४. मेघ
२१. सुनन्द	४८. महसेन	७५. सुघोष
२२. कुरु	४९. सुसेण	७६. विश्व
२३. अंग	५०. भानु	७७. वराह
२४. बंग	५१. कान्त	७८. वसु
२५. कौशल	५२. पुष्पयुत्	७९. सेन
२६. वीर	५३. श्रीधर	८०. कपिल
२७. कलिग	५४. दुर्दंभ	८१. शैल विचारी

८२. अरिजय	८८. वीर	९४. सञ्जय
८३. कुञ्जरबल	८९. शुभमति	९५. सुनाम
८४. जयदेव	९०. सुमति	९६. नरदेव
८५. नागदत्त	९१. पद्मनाभ	९७. चित्तहर
८६. काश्यप	९२. सिंह	९८. सुखर
८७. बल	९३. सुजाति	९९. द्रुढरथ
		१००. प्रभंजन <sup>१</sup>

दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने भगवान् ऋषभदेव के १०१ पुत्र माने हैं। एक नाम वृषभसेन अधिक दिया है।<sup>२</sup>

भगवान् ऋषभदेव की पुत्रियों के नाम — १. ब्राह्मी २. सुन्दरी।

### सन्तति को प्रशिक्षण

भ० ऋषभदेव के १०० पुत्र एवं दो पुत्रियाँ — ये सभी सर्वांग सुन्दर, शुभ लक्षणों एवं उत्तम गुणों से सम्पन्न थे। वे अपने पितामह नाभिराज, पितामही मरुदेवी, माता-पिता और परिजनों का अपनी बाल-लीलाओं से मनोविनोद करते हुए अनुक्रमशः वृद्धिगत होने लगे। वे सभी वज्रऋषभ, नाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान के धनी एवं उसी भव से मोक्ष जाने वाले चरमशरीरी थे। अनुक्रमशः बालवय को पार कर प्रभु की संतानों ने किशोर वय में प्रवेश किया।

अपने कुलकर काल में यौगलिकों के समक्ष समय-समय पर उपस्थित होने वाली भाँति-भाँति की समस्याओं का समाधान कर उनका मार्गदर्शन करने वाले तीन ज्ञान के धनी ऋषभदेव ने सोचा कि भरतक्षेत्र में अब यह भोग-युग के अवसान का अन्तिम चरण है। भोग-युग की समाप्ति के साथ ही भोगभूमि की सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ—कल्पवृक्षादि की भी परिसमाप्ति सुनिश्चित है। भोगयुग के पश्चात् जो कर्मयुग आने वाला है, उसमें मानव-समाज को अपने परिश्रम से जीवननिर्वाह करना है। यह भोगभूमि अब कर्मभूमि के रूप में परिवर्तित हो जायेगी। इन दोनों युगों का संधिकाल मानव-समाज के लिये वस्तुतः एक प्रकार का संकटकाल है। भोगभूमि की सुख-सुविधाओं के अभ्यस्त मानव को, कर्मभूमि के कठोर श्रमसाध्य कर्मयुग के अनुरूप अपना जीवन ढालने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। जब तक भोगयुग की अवधि पूर्णतः समाप्त नहीं हो जाती तब तक इन लोगों के जीवन को कर्मभूमि के अनुरूप ढालने का प्रयास पूर्ण सफल नहीं होगा। क्योंकि इस भोगभूमि का प्राकृतिक वातावरण कर्मभूमि के कृषि आदि कार्यों के लिये पूर्णतः प्रतिकूल है। कर्मभूमि

<sup>१</sup> (क) कल्पसूत्र किरणावली, पत्र १५१-५२

(ख) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, व्याख्यान ७, पृ० ४६८

<sup>२</sup> महापुगण पर्व १६, पृ० ३४६

के प्रारम्भ होने पर ही धरती का धरातल और वातावरण कर्मभूमि के कृषि आदि कार्यों के लिये अनुकूल बनेगा ।

इस प्रकार की स्थिति में इन सर्वगुण सम्पन्न एवं कुशाग्रबुद्धि भरत आदि सौ कुमारों और ब्राह्मी एवं सुन्दरी को कर्मभूमि के लिये परमावश्यक सभी प्रकार के कार्यों, कलाओं और विद्याओं आदि का पूर्णरूपेण प्रशिक्षण दे दिया जाय तो वह समय आने पर मानवता के लिये परम कल्याणकारी होगा । भोगभूमि के अवसान पर कर्मभूमि का शुभारम्भ होते ही कर्मभूमि के उन कार्यों, कलाओं और विद्याओं में पारंगत ये भरत आदि सौ कुमार सुदूरस्थ प्रदेशों के लोगों को भी तत्काल उन सब आवश्यक कार्यकलापों का प्रशिक्षण देकर मानवों को कष्ट से बचाने में बड़े सहायक सिद्ध होंगे । वस्तुतः प्रभु का यह अलौकिक दूरदर्शिता-पूर्ण विचार प्रभु के त्रिलोकवन्द्य अलौकिक व्यक्तित्व के अनुरूप ही था । प्यास लगने पर कुआ खोदने जैसी प्रक्रिया की तो साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति से भी अपेक्षा नहीं की जाती । आखिर चौदह लाख पूर्व जैसी सुदीर्घावधि तक वे अपनी संतानों को अशिक्षित क्यों रखते ?

इस प्रकार का दूरदर्शितापूर्ण निश्चय करने के पश्चात् एक दिन प्रभु ऋषभदेव ने अपनी संतानों को प्रारम्भिक शिक्षण देना प्रारम्भ किया । सर्वप्रथम उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अठारह प्रकार की लिपियों का ज्ञान कराया<sup>१</sup> और सुन्दरी को वाम हस्त से गणित ज्ञान की शिक्षा दी ।<sup>२</sup>

तदनन्तर अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुरुषों की ७२ कलाओं<sup>३</sup> और बाहुवली को प्राणिलक्षण का ज्ञान कराया । प्रभु ने अपनी दोनों पुत्रियों को महिलाओं की चौसठ कलाओं की शिक्षा दी । ब्राह्मी, सुन्दरी और भरत आदि ने इस अवसर्पिणी काल के आद्य गुरु भगवान् ऋषभदेव के चरणों में बैठ कर आद्य शिक्षार्थियों के रूप में बड़ी ही निष्ठा के साथ लेखन, गणित, परिवाररक्षण, व्याकरण, छन्द, अलंकार, अर्थशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, शिल्प शास्त्र, स्थापत्य कला, चित्र कला, संगीत आदि सभी प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं का अध्ययन कर निष्णातना प्राप्त की ।

### प्रभु ऋषभ का राज्याभिषेक

चौदहवें कुलकर अपने पिता नाभि के सहयोगी कुलकर के रूप में तत्कालीन मानव समाज के समक्ष समय-समय पर उपस्थित हुई समस्याओं का

<sup>१</sup> लेहं लिविविहाणं जिरोण बंभीए दाहिण करेणं ।

<sup>२</sup> गणियं संखाणं सुन्दरीए वामेण उवइठ्ठं ॥२१२॥ ब्राव० नि०

<sup>३</sup> भ्रह्मस्त रुवकम्मं, नराइलकखणमहोइयं वलियो ।

माणुम्माणुवमाणं, पमाणगणिमा य वरुणं ॥

[आवश्यक निर्युक्ति]

समुचित समाधानपूर्वक प्रभु ऋषभदेव यौगलिकों को उस समय की बड़ी तीव्र गति से बदली हुई परिस्थितियों में मार्गदर्शन करते हुए सुदीर्घावधि तक ऐहिक सुखों का अनासक्त भाव से सुखोपभोग करते रहे ।

प्रकृति का स्वरूप बड़ी द्रुत गति से परिवर्तित होने लगा । अंगडार्द्रीणां लेते आ रहे काल ने करवट बदली । भोगभूमि का काल, प्रकृतिपुत्रों (यौगलिकों) को प्रकृति द्वारा प्रदत्त कल्पवृक्ष आदि सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं की सामग्री को समेट भरतक्षेत्र से विदा हो तिरोहित हो गया । कर्मभूमि का काल भरतक्षेत्र की घरा के कर्मक्षेत्र में कटिबद्ध हो आ धमका । चारों ओर कल्पवृक्ष क्रमशः क्षीण से क्षीणतर होते-होते उस समय तक लुप्तप्रायः हो गये । बचे-खुचे कुछ अवशिष्ट भी रहे तो वे विरस, रसविहीन, फलविहीन हो गये । प्रकृति-जन्य कन्द, मूल, फल, फूल, पत्र, वन्य धान्य - शाली, बीही आदि का प्राचुर्य भी प्रकृति के परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो स्वल्प रह गया । लोकजीवन के निर्वाह के लिये उन प्रकृतिजन्य पदार्थों को अपर्याप्त माना जाने लगा । सभी प्रकार की महौषधियों, दीप्तौषधियों, वनस्पतियों आदि की अद्भुत शक्तियां प्रभावविहीन हो गईं ।

इस प्रकार मानव के जीवन-निर्वाह की सामग्री के अपर्याप्त मात्रा में अवशिष्ट रह जाने के कारण अभाव की स्थिति उत्पन्न हुई । अभाव के परिणाम-स्वरूप अभियोगों की अभिवृद्धि हुई । अभाव-अभियोग की स्थिति में मानव-मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओं की नसें तनने लगीं । हृत्तन्त्रियां अनायास ही एक साथ झूझना कर झनक उठीं । अभावग्रस्त भूखे मानव के मस्तिष्क में अपराध करने की प्रवृत्ति ने बल पकड़ा । छीना-भपटी होने लगी । स्वतः निष्पन्न कन्द, मूल, फल, धान्यादि के प्रश्न को लेकर मानव समाज में परस्पर कलह बढ़ने लगे । उधर प्रकृति के परिवर्तन के साथ ही वायु, वर्षा, शीत, आतप और हिंस्र जन्तुओं में भी, सदा सुख से रहते आये मानव के लिये दुस्सह्य और प्रतिकूल परिवर्तन आया ।

इन सब प्रतिकूल प्राकृतिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप, लगभग ६ कोटि सागरोपम जैसी सुदीर्घावधि से शान्ति के साथ रहती चली आ रही मानवता के सौम्य स्वभाव में भी प्रतिकूल परिवर्तन का आना सहज संभव ही था । जिस प्रकार पूर्व कुलकरों के काल में प्रचलित 'ह' कार और 'म' कार दण्ड नीतियां अन्ततोगत्वा निष्प्रभाव हुईं, उसी प्रकार अन्तिम कुलकरों के समय में प्रचलित अपराध निरोध की "धिक्" कार दण्डनीति भी परिवर्तित परिस्थितियों में नितान्त निष्क्रिय, निष्फल और निष्प्रभाव सिद्ध होने लगीं ।

इस प्रकार की संक्रान्तिकालीन संकटपूर्ण स्थिति से घबरा कर यौगलिक लोग एकत्रित हो अपने परमोपकारी पथप्रदर्शक प्रभु ऋषभदेव के पास पहुँचे और उन्हें वस्तुस्थिति का परिचय कराते हुए प्रार्थना करने लगे - "करुणानिधान ! जिस प्रकार आपने आज तक हमारे सब संकटों को काट कर हमारे प्राणों की रक्षा की है, उसी प्रकार इस घोर संकट से भी हमारी रक्षा कीजिये । भूख की



ज्वाला को शान्त करने के लिये सब ओर कलह, लूट-खसोट, छीना-झपटी के रूप में अपराधी मनोवृत्ति फैल रही है। अपराधों को रोक कर हमारे जीवन-निर्वाह की समुचित व्यवस्था के लिये मार्गदर्शन की कृपा कीजिये।”

भोगयुग की सुखद ऋद्धि में पले यौगलिकों की दयनीय दशा पर प्रभु द्रवित हो उठे। उन्होंने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा - “देखो! अब इस भरतक्षेत्र में कर्मयुग ने पदार्पण किया है। भोगयुग यहां से प्रयाण कर चुका है। अब तुम्हें अपने जीवन-निर्वाह के लिये कठोर श्रम करना होगा।”

यौगलिकों को अपने अन्धकारपूर्ण भविष्य में एक आशा की किरण दृष्टिगोचर हुई। उनकी निराशा दूर हुई और उन्होंने दृढ़ संकल्पसूचक स्वर में कहा - “प्रभो! हम आपके इंगित मात्र पर कठोर से कठोर श्रम करने के लिये कटिबद्ध हैं।”

प्रभु ने कहा - “मुझे विश्वास है, तुम कर्मक्षेत्र में कटिबद्ध हो कर उतरोगे तो अपना ऐहिक जीव-सुख-समृद्धिपूर्ण बनाने में सफल होवोगे।”

“अब रहा प्रश्न अपराध-निरोध का, तो अपराध-निरोध के लिये लोगों में अपराधी मनोवृत्ति नहीं पनपे और सभी लोगों द्वारा मर्यादा का पूर्णरूपेण पालन हो, इसके लिये दण्डनीति की, दण्ड-व्यवस्था की आवश्यकता रहती है। दण्ड-नीति का संचालन राजा द्वारा किया जाता है। राजा ही उस दण्डनीति में परिस्थितियों के अनुरूप संशोधन, संवर्द्धन आदि किया करता है। राजा का राज्य-पद पर वृद्धजनों, प्रजाजनों आदि द्वारा अभिषेक किया जाता है।”

यह सुनते ही यौगलिकों ने हर्षविभोर हो हाथ जोड़ कर ऋषभकुमार से निवेदन किया - “आप ही हमारे राजा हों। हम अभी आपका राज्याभिषेक करते हैं।”

इस पर कुमार ऋषभ ने कहा - “महाराज नाभि हम सब के लिये पूज्य हैं। तुम सब लोग महाराज नाभि की सेवा में उपस्थित होकर उनसे निवेदन करो।”

यौगलिकों ने नाभि कुलकर की सेवा में उपस्थित हो, उनके समक्ष सम्पूर्ण स्थिति रखी। उन यौगलिकों की विनम्र प्रार्थना सुन कर नाभि कुलकर ने कहा - “मैं तो अब वृद्ध हो चुका हूँ, अतः तुम ऋषभदेव को राज्यपद पर अभिषिक्त कर उन्हें अपना राजा बना लो। वस्तुतः वे ही इस संकटपूर्ण स्थिति से तुम्हारा उद्धार करने में सर्वथा सक्षम और सभी दृष्टियों से राज्यपद के लिये सुयोग्य हैं।”

नाभि कुलकर की आज्ञा प्राप्त होते ही यौगलिक लोग बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने हाथ जोड़ कर नाभिराज से कहा - “महाराज! हम लोग अभी कुमार ऋषभदेव को राज्यपद पर बैठा कर उनका राज्याभिषेक करते हैं।”

नाभि कुलकर से इस प्रकार का निवेदन कर वे लोग तत्काल ऋषभदेव के पास आये। हर्षातिरेक से उनके नयन विस्फारित हो गये थे। अपने मनश्चित्त मनोरथ की सिद्धि के कारण वे पुलकित हो उठे। ऋषभदेव से उन्होंने हर्षाविरुद्ध

कण्ठस्वर में कहा - "महाराज नाभि ने आपको ही राजपद पर अभिषिक्त करने की आज्ञा प्रदान की है। हम लोग अभी जल लाकर आपका राज्याभिषेक करते हैं।"

यह कह कर यौगलिक लोग हर्ष से उछलते हुए तत्काल त्वरित गति से पद्मसरोवर की ओर प्रस्थित हुए।

उसी समय देवराज शक्र का सिंहासन चलायमान हुआ। अवधिज्ञान के उपयोग से प्रभु ऋषभदेव का महाराज्याभिषेक काल समीप जान कर वे अपने देव-देवी परिवार के साथ उत्कृष्ट देव-वैभानिक गति से प्रभु की सेवा में पहुँचे। प्रभु को वन्दन-नमन करने के पश्चात् देवराज ने उन्हें स्नान कराया। दिव्य वस्त्रा-भूषणों से प्रभु को अलंकृत कर इन्द्र ने उन्हें एक दिव्य राजसिंहासन पर आसीन किया और बड़े हर्षोल्लास से प्रभु का महाराज्याभिषेक किया। आकाश से देवों ने पुष्पवर्षा की। दिव्य वाद्य यन्त्रों की सुमधुर ध्वनियों से समस्त वातावरण मुखरित हो उठा। शक्र के पश्चात् महाराज नाभि ने भी अपने पुत्र का महाराज्याभिषेक किया। देवांगनाओं ने मंगल गीत गाये। उसी समय यौगलिकों का विशाल समूह पद्मपत्रों में सरोवर का जल लेकर प्रभु के राज्याभिषेक के लिए वहाँ उपस्थित हुआ। प्रभु को राज्यसिंहासन पर आसीन देख, उन लोगों के हर्ष का पारावार नहीं रहा। वे लोग प्रभु के अभिषेक के लिये प्रभु के समीप आये किन्तु दिव्य वस्त्राभरणों से अलंकृत अतीव कमनीय नयनाभिराम वेष में सुसज्जित, ऋषभदेव को देख कर उनके मन में विचार आया - "इस प्रकार की सुन्दर वेष-भूषा से विभूषित प्रभु के शरीर पर पानी कैसे डाला जाय?" एक क्षण के इस विचार के अनन्तर दूसरे ही क्षण में उन्होंने ऋषभदेव के चरणों पर कमलपत्र के पेटकों से पानी डालकर प्रभु का राज्याभिषेक किया और "महाराजाधिराज ऋषभदेव की जय हो, विजय हो" आदि जयघोषों से वायुमण्डल को गुंजरित करते हुए प्रभु को अपना एकछत्र अधिपति महाराजाधिराज स्वीकार किया।

यौगलिकों के इस विनीत स्वभाव को देखकर देवेन्द्र शक्र ने इक्ष्वाकु भूमि के उस प्रदेश पर कुबेर को आज्ञा देकर एक विशाल नगरी का निर्माण करवाया और यह कहते हुए कि यहाँ के लोग बड़े ही विनीत हैं, उस नगरी का नाम विनीता रखा। उस नगरी के चारों ओर अति विशाल गहरी परिखा, दुर्भेद्य प्राकार, गगनचुम्बी सुदृढ़ मुख्य नगरद्वार और द्वारों के वज्र कपाटों के निर्माण के कारण वह नगरी कालान्तर में युद्ध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी अभेद्य, अजेय और अयुध्य थी, इस कारण विनीता नगरी अयोध्या के दूसरे नाम से भी लोक में विख्यात हुई।

यौगलिकों ने बड़े हर्षोल्लास के साथ भगवान् ऋषभदेव का अपने ढंग से राज्याभिषेक महोत्सव मनाया।

इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव इस प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम राजा घोषित हुए। उन्होंने पहले से चली आ रही कुलकर व्यवस्था को समाप्त

कर नवीन राज्य-व्यवस्था स्थापित की। प्रभु के राज्यसिंहासन पर आसीन होने पर कर्मयुग का शुभारम्भ हुआ और इस भरतक्षेत्र में भोगभूमि के अवसान के साथ ही कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ।

राजसिंहासन पर आसीन होते ही महाराजाधिराज ऋषभदेव ने अपनी प्रजा का कर्मक्षेत्र में उतरने के लिए आह्वान किया। अपने हृदयसम्राट् महाराजाधिराज ऋषभदेव के आह्वान पर सुनहरी अभिनव आशाओं से ओतप्रोत मानवसमाज कर्मक्षेत्र में उतरने के लिए कटिबद्ध हो गया। प्रभु ने उसी दिन कर्म-भूमि के अभिनव निर्माण का महान् कार्य अपने हाथ में लिया।

जिस समय भ० ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया गया उस समय उनकी आयु २० लाख पूर्व की थी।

### सशक्त राष्ट्र का निर्माण

राज्याभिषेक के पश्चात् महाराजा ऋषभदेव ने राज्य की सुव्यवस्था के लिये सर्वप्रथम आरक्षक विभाग की स्थापना कर आरक्षक दल सुगठित किया। उसके अधिकारी 'उग्र' नाम से अभिहित किये गये। तदनन्तर उन्होंने राजकीय व्यवस्था के कार्य में परामर्श के लिए एक मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया और उन मंत्रियों को पृथक्-पृथक् विभागों का उत्तरदायित्व सौंपा। उन विभागों के उच्चाधिकारी मन्त्रियों को 'भोग' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा।

तत्पश्चात् महाराजा ऋषभदेव ने सम्पूर्ण राष्ट्र को पृथक्-पृथक् ५२ जनपदों में विभक्त कर उनका शासन चलाने के लिए महामण्डलिक राजाओं के रूप में सुयोग्य व्यक्तियों का राज्याभिषेक किया। महामण्डलिक राजाओं के अधीन अनेक छोटे-छोटे राज्यों को गठित कर उनका सुचारु रूप से शासन चलाने के लिए राजाओं को उन राज्यों के सिंहासन पर अधिष्ठित किया गया। उन बड़े और छोटे सभी शासकों को उनका उत्तरदायित्व समझाते हुए उन्होंने कहा — "जिस प्रकार सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा जलाशयों, वनस्पतियों और घरातल से उन्हें बिना किसी प्रकार की प्रत्यक्ष बड़ी हानि पहुंचाये थोड़ा-थोड़ा जल वाष्प के रूप में खींचता है, उसी प्रकार राज्य के संचालन के लिये, राष्ट्र की शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए प्रजा से थोड़ा-थोड़ा कर लिया जाय और जिस प्रकार सूर्य द्वारा वाष्प के रूप में ग्रहण किये हुए जल को वर्षा ऋतु में बादल समान रूप से सर्वत्र बरसा देते हैं, उसी प्रकार प्रजा से कर रूप में ग्रहण किये हुए उस धन को प्रजा के हित के कार्यों में खर्च किया जाय। प्रजा को बिना किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाये तुम्हें सूर्य की किरणों के समान प्रजा से कर के रूप में धन एकत्रित करना है और बादलों की तरह समष्टि के हित के लिये ही उस एकत्रित धन राशि का व्यय करना है।"

इस प्रकार राज्यों का गठन करने के पश्चात् महाराज ऋषभ ने उन राजाओं के एक परामर्श मण्डल की स्थापना की जो महाराजाधिराज ऋषभदेव

से शासन संचालन सम्बन्धी परामर्शों का विचारों का आदान-प्रदान कर सके। प्रभु ने उन राजाओं को महामण्डलिक, माण्डलिक और राजन्य, क्षत्रिय आदि उपाधियों से विभूषित किया।<sup>१</sup>

राष्ट्र की रक्षा के लिये महाराजाधिराज ऋषभ ने चार प्रकार की सेना गठित कर उनके उच्च अधिकारों के रूप में चार सेनापतियों की नियुक्ति की।

अपराध निरोध के लिये कड़े नियमों के साथ महाराज ऋषभदेव ने चार प्रकार की दण्ड-व्यवस्था प्रचलित की, जो इस प्रकार थी :-

- (१) परिभाषण - अपराधी को साधारण अपराध के लिये आक्रोशपूर्ण शब्दों से दण्डित करना।
- (२) मण्डलीबन्ध - अपराधी को नियत समय के लिये सीमित क्षेत्र - मण्डल में रोके रखना।
- (३) चारकबन्ध - बन्दीगृह में अपराधी को बन्द रखना।
- (४) छविच्छेद - मानवताद्रोही, राष्ट्रद्रोही अथवा पुनः पुनः घृणित अपराध करने वाले अपराधी के शरीर के हाथ, पैर आदि किसी अंग-उपांग का छेदन करना।

इन चार प्रकार की दण्ड-नीतियों के सम्बन्ध में कतिपय आचार्यों का अभिमत है कि अन्तिम दो नीतियाँ भरत चक्रवर्ती के शासनकाल में प्रचलित हुई थीं, परन्तु नियुक्तिकार आचार्य भद्रबाहु के मन्तव्यानुसार बन्ध और घात नीति भी भ० ऋषभदेव के शासनकाल में ही प्रचलित हो गई थी।<sup>२</sup>

अपराधियों को खोज निकालने और दण्ड दिलाने के लिये प्रभु ने दंडनायक आदि अनेक पदाधिकारियों की नियुक्तियाँ भी कीं।

### प्रजा को प्रशिक्षण

शासन, सुरक्षा और अपराध-निरोध की व्यवस्था करने के पश्चात् महाराज ऋषभदेव ने कर्मभूमि के कार्य-कलापों से नितान्त अनभिज्ञ अपनी प्रजा को स्वावलम्बी बनाना आवश्यक समझा। राष्ट्रवासी अपना जीवन स्वयं सरलता से अल्पारम्भपूर्वक बिता सकें ऐसी शिक्षा देने के विचार से उन्होंने १०० शिल्प और असि, मसि, कृषि रूप तीन कर्मों का प्रजा के हितार्थ उपदेश दिया। शिल्प कर्म का उपदेश देते हुए आपने सर्वप्रथम कुम्भकार का कर्म सिखाया। उसके पश्चात् वस्त्र-वृक्षों के क्षीण होने पर पटकार कर्म और गेहागार वृक्षों के अभाव में वर्धकी कर्म सिखाया। तदनन्तर चित्रकार कर्म और रोम-नखों के बढ़ने पर काश्यप अर्थात् नापित कर्म सिखाया। इन पाँच मूल शिल्पों के बीस-बीस भेदों से

<sup>१</sup> आवश्यक नियुक्ति, गाथा १६८

<sup>२</sup> आवश्यक नियुक्ति, गाथा २ से १४

१०० (सौ) प्रकार के कर्म उत्पन्न हुए।<sup>१</sup> लेन-देन के व्यवहार की दृष्टि से उन्होंने मान, उन्मान, अवमान और प्रतिमान का भी अपनी प्रजा को ज्ञान कराया।<sup>२</sup>

इन सब शिल्पों एवं कृषि आदि कार्यों का प्रभु ने अपने पुत्रों को पहले ही प्रशिक्षण दे रखा था। अतः जन-साधारण के शिक्षण में उनसे बड़ा सहयोग प्राप्त हुआ।

सम्पूर्ण राष्ट्र में सशक्त मानव कृषि योग्य विशाल मैदानों में जूमने लगे। अपने जीवन में पहली बार उन लोगों ने कठोर परिश्रम प्रारम्भ किया। वे सभी विशालकाय और सशक्त थे। उन्होंने धरती को साफ किया, हल चला कर उसमें बीज डाला। समय-समय पर वर्षा होती रही। वसुन्धरा सशय श्यामला हो गई। हरे-भरे खेत लहलहाने लगे। बालियां पकने लगीं। दृष्टि जिस किसी ओर दौड़ाई जाती, उसी ओर धान्य की खेती से लहलहाते विशाल खेत दृष्टिगोचर होते। केवल प्रकृति पर निर्भर रहता आया मानव अपने पसीने की कमाई से लहलहाते खेतों को देखकर खुशी से भूम उठा। चारों ओर सुनहली प्यारी-प्यारी बालियों को देख कर प्रत्येक मानव के मुख से सहसा यही शब्द निकलते - "जुग-जुग जीओ ऋषभ महाराज, धरती सोना उगल रही है।"

अब लोग सोचने लगे - "दरों अनाज आयागा, चारों ओर अनाज के भण्डार लग जायेंगे, इतना रखेंगे कहाँ?" जन-जन के मुख से यही प्रश्न गूंजने लगा।

पर महाराज ऋषभदेव ने एक सुन्दर, सशक्त और सुसमृद्ध महान् राष्ट्र के निर्माण की पूरी तैयारी कर ली थी। प्रभु से और भरत आदि कुमारों से प्रशिक्षण प्राप्त लाखों शिल्पी स्वर्गोपम सुन्दर राष्ट्र के निर्माण कार्य के लिये कटिबद्ध हो चुके थे।

### ग्रामों, नगरों आदि का निर्माण

महाराज ऋषभदेव के एक ही इंगित पर उनसे प्रशिक्षण पाये हुए शिल्पी अपने समस्त उपकरणों और औजारों के साथ भारत के हृदय सम्राट महाराज ऋषभ का आज्ञापत्र लिये पहले सुकोशल, अवन्ती, केकय आदि जनपदों में महाराजाओं तथा राजाओं के पास और तत्पश्चात् वहाँ से राज्याधिकारियों के दलों के साथ सम्पूर्ण राष्ट्र के कोने-कोने में निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच गये। वहाँ उन्होंने स्थानीय निवासियों के श्रम का सहयोग ले ग्रामों, नगरों, पत्तनों, मडम्बों, संवाहों, द्रोणमुखों, खेतों तथा कबूटों का निर्माण प्रारम्भ किया।

<sup>१</sup> एवं ता पठमं कुम्भकारा उपपन्ना .... इमारिण सिप्पाणि उप्पाएयन्वाणि, तत्थ पच्छा वत्थ-  
रुक्खा परिहीणा, ताएज्जणत्तिकका उप्पाइया, पच्छा वेहागारा परिहीणा ताए वड्ढती  
उप्पाइता, पच्छा रोमनक्काणि वड्ढति ताहे कम्मकरा उप्पाइता ष्हाविया य .... एवं  
सिप्पसयं एवं सिप्पाण उप्पत्ति ॥  
- भावश्यक चरिण, पूर्व भाग, पृ० १५६

<sup>२</sup> भावश्यक नियुक्ति, गाथा २१३-१४

महाराज ऋषभदेव और भरतादि कुमारों द्वारा प्रशिक्षित कुशल शिल्पियों के कलात्मक कौशल और तत्कालीन उत्तम संहनन के घनी विशालकाय सशक्त मानवों के कठोर श्रम के परिणामस्वरूप देखते ही देखते सम्पूर्ण राष्ट्र गगनचुम्बी दुग्धधवला अट्टालिकाओं वाले भवनों से मण्डित ग्रामों, नगरों, खेटों, कबड़ों, मडम्बों, पत्तनों और द्रोणमुखों आदि से सुसम्पन्न हो इस धरा पर साकार स्वर्ग तुल्य सुशोभित होने लगा ।

### लोकस्थिति, कलाज्ञान एवं लोककल्याण

इस प्रकार लोकनायक और राष्ट्रस्थविर के रूप में महाराज ऋषभदेव ने विविध व्यवहारोपयोगी विधियों से तत्कालीन जन-समाज को परिचित कराया । उस समय तक ऋषभदेव गृहस्थ पर्याय में थे । आरम्भ, परिग्रह की हेयता को समझते हुए भी उसके त्यागी नहीं थे । अतः जनहित और उदयकर्म के फल भोगार्थ आरम्भयुक्त कार्य भी करते-करवाते रहे । पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे इन कर्मों को निष्पाप अथवा धर्म समझ रहे थे । उन्होंने मानव जाति को अभक्ष्य-भक्षण जैसे महारम्भी जीवन से बचा कर अल्पारम्भी जीवन जीने के लिये असि, मसि, कृषि-रूप कर्म की शिक्षा दी और समझाया कि आवश्यकता से कभी सदोष प्रवृत्ति भी करनी पड़े तो पाप को पाप समझ कर निष्पाप जीवन की ओर लक्ष्य रखते हुए चलना चाहिये । यही सम्यग्दर्शीपन है ।

प्रभु ऋषभदेव ने कर्मयुग के आगमन के समय कर्मभूमि के कार्यकलापों से नितान्त अनभिज्ञ उन भोगभूमि के भोले लोगों को कर्मभूमि के समय में सुखपूर्वक जीवनयापन की कला सिखाकर मानवता को भटकने से बचा लिया । यह प्रभु का मानवता पर महान् उपकार है ।

प्रभु ऋषभदेव ने मानवता के कल्याण के लिये अपने भरत आदि पुत्रों के माध्यम से उस समय के लोगों को पुरुषों की जिन बहत्तर कलाओं का प्रशिक्षण दिया, वे इस प्रकार हैं :-

### बहत्तर कलाएं<sup>१</sup>

- ( १ ) लेहं : लेखनकला ।<sup>२</sup>  
 ( २ ) गणियं : गणित-कला ।

<sup>१</sup> सम० सूत्र समवाम ७२ । कल्पसूत्र सु० टीका

<sup>२</sup> विशेषावश्यक, भाष्य ४६४ की टीका में लिपियों के नाम (१) शाही, (२) हंस, (३) भूत, (४) यक्षी, (५) राक्षसी, (६) उड्डी, (७) यवनी, (८) तुरुष्की, (९) कोरी, (१०) द्राविडी, (११) सिधविय, (१२) मालविनी, (१३) नागरी, (१४) लाटी, (१५) पारसी, (१६) अनिमित्ती, (१७) चाणक्यी और (१८) मूलदेवी ।

- ( ३ ) रूपं : रूप-कला ।  
 ( ४ ) नट्टं : नाट्य-कला ।  
 ( ५ ) गीयं : संगीत-कला ।  
 ( ६ ) वाद्यं : वाद्य बजाने की कला ।  
 ( ७ ) सरगयं : स्वर जानने की कला ।  
 ( ८ ) पुक्खरगयं : ढोल आदि वाद्य बजाने की कला ।  
 ( ९ ) समतालं : ताल देने की कला ।  
 ( १० ) जूयं : द्यूत अर्थात् जूआ खेलने की कला ।  
 ( ११ ) जणवायं : वातालाप करने की कला ।  
 ( १२ ) पारेकिच्चं<sup>१</sup> : नगर के संरक्षण की कला ।  
 ( १३ ) अट्ठावयं : पासा खेलने की कला ।  
 ( १४ ) दग्मट्टियं : पानी और मिट्टी के योग से वस्तु बनाने की कला ।  
 ( १५ ) अन्नविहिं : अन्नोत्पादन की कला ।  
 ( १६ ) पाणविहिं : पानी को शुद्ध करने की कला ।  
 ( १७ ) वत्थविहिं : वस्त्र बनाने आदि की कला ।  
 ( १८ ) सयणविहिं : शय्या-निर्माण की कला ।  
 ( १९ ) अज्जं : संस्कृत (आर्य) भाषा में कविता-निर्माण की कला ।  
 ( २० ) पहेलियं : प्रहेलिका-निर्माण की कला ।  
 ( २१ ) मागहियं : छन्द बनाने की कला ।  
 ( २२ ) गाहं : प्राकृत भाषा में गाथा-निर्माण की कला ।  
 ( २३ ) सिलोगं : श्लोक बनाने की कला ।  
 ( २४ ) गंधजुत्तिं : सुगन्धित पदार्थ बनाने की कला ।  
 ( २५ ) मधुसित्थं : मधुरादि षट् रस बनाने की कला ।  
 ( २६ ) आभरणविहिं : अलंकार-निर्माण तथा धारण करने की कला ।  
 ( २७ ) तरुणी पडिकम्मं : स्त्री को शिक्षा देने की कला ।  
 ( २८ ) इत्थी लक्खणं : स्त्री के लक्षण जानने की कला ।  
 ( २९ ) पुरिस लक्खणं : पुरुष के लक्षण जानने की कला ।  
 ( ३० ) हय लक्खणं : घोड़े के लक्षण जानने की कला ।  
 ( ३१ ) गय लक्खणं : हाथी (गज) के लक्षण जानने की कला ।  
 ( ३२ ) गोलक्खणं : गाय एवं वृषभ के लक्षण जानने की कला ।  
 ( ३३ ) कुक्कुड लक्खणं : कुक्कुट के लक्षण जानने की कला ।  
 ( ३४ ) मिट्टय लक्खणं : मेंढे के लक्षण जानने की कला ।  
 ( ३५ ) चक्र लक्खणं : चक्र-लक्षण जानने की कला ।  
 ( ३६ ) छत्त लक्खणं : छत्र-लक्षण जानने की कला ।  
 ( ३७ ) दंड लक्खणं : दण्ड-लक्षण जानने की कला ।

<sup>१</sup> 'पारेकित्वं' - उंबवाई दुग् प्रतिभाषिकार ।

- (३८) असिलकखरण : तलवार के लक्षण जानने की कला ।
- (३९) मणिलकखरण : मणि-लक्षण जानने की कला ।
- (४०) कागणिलकखरण : काकिणी (चक्रवर्ती के रत्न विशेष) के लक्षण जानने की कला ।
- (४१) चम्मलकखरण : चर्म-लक्षण जानने की कला ।
- (४२) चन्द्रलकखरण : चन्द्र-लक्षण जानने की कला ।
- (४३) सूर्य चरियं : सूर्य आदि की गति जानने की कला ।
- (४४) राहु चरियं : राहु की गति जानने की कला ।
- (४५) गह चरियं : ग्रहों की गति जानने की कला ।
- (४६) सोभागकरं : सौभाग्य का ज्ञान ।
- (४७) दोभागकरं : दुर्भाग्य का ज्ञान ।
- (४८) विज्जागयं : रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि विद्या सम्बन्धी ज्ञान ।
- (४९) मंतगयं : मन्त्र-साधना आदि का ज्ञान ।
- (५०) रहस्सगयं : गुप्त वस्तु को जानने का ज्ञान ।
- (५१) समासं : प्रत्येक वस्तु के वृत्त का ज्ञान ।
- (५२) चारं : सैन्य का प्रमाण आदि जानना ।
- (५३) पडिवूहं : प्रतिव्यूह रचने की कला ।
- (५४) पडिचारं : सेना को रणक्षेत्र में उतारने की कला ।
- (५५) वूहं : व्यूह रचने की कला ।
- (५६) खंधावारमाणं : सेना के पड़ाव का जमाव जानना ।
- (५७) नगरमाणं : नगर का प्रमाण जानने की कला ।
- (५८) वत्थुमाणं : वस्तु का परिमाण जानने की कला ।
- (५९) खंधावार निवेसं : सेना का पड़ाव आदि कहाँ डालना इत्यादि का परिज्ञान ।
- (६०) वत्थु निवेसं : प्रत्येक वस्तु के स्थापन करने की कला ।
- (६१) नगर निवेसं : नगर-निर्माण का ज्ञान ।
- (६२) ईसत्थं : थोड़े को बहुत करने की कला ।
- (६३) छरूप्पवायं : तलवार आदि की मूठ बनाने की कला ।
- (६४) आससिक्खं : अश्व-शिक्षा ।
- (६५) हत्थिसिक्खं : हस्ति-शिक्षा ।
- (६६) धरु वेयं : धनुर्वेद ।
- (६७) हिरण्यपागं सुवर्णपागं : हिरण्यपाक, सुवर्णपाक  
मणिपागं, धातुपागं : मणिपाक और धातुपाक बनाने की कला ।
- (६८) बाहुजुद्धं, दंडजुद्धं, : बाहुयुद्ध, दंडयुद्ध  
मुट्ठिजुद्धं, अट्ठिजुद्धं, : मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध  
जुद्ध, निजुद्ध, जुद्धाईजुद्ध : युद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध करने की कला ।



- (६६) मुत्ताखेडं, नालियाखेडं, वट्टुखेडं, चम्मखेडं : सूत बनाने की, नली बनाने की, गेंद खेलने की, वस्तु के स्वभाव जानने की और चमड़ा बनाने आदि की कलाएं ।
- (७०) पत्तच्छेज्जं-कड्गच्छेज्जं : पत्र छेदन एवं कड्ग-वृक्षांग विशेष छेदने की कला ।
- (७१) संजीवं, निज्जीवं : संजीवन, निर्जीवन-कला ।
- (७२) सउराहूयं : पक्षी के शब्द से शुभाशुभ जानने की कला ।

पुरुषों के लिये कला-विज्ञान की शिक्षा देकर प्रभु ने महिलाओं के जीवन को उपयोगी व शिक्षासम्पन्न करना भी आवश्यक समझा ।

अपनी पुत्री ब्राह्मी के माध्यम से उन्होंने लिपि-ज्ञान तो दिया ही, इसके साथ ही साथ महिला-गुणों के रूप में उनको ६४ कलाएं भी सिखलाईं । वे ६४ कलाएं इस प्रकार हैं :-

१. नृत्य-कला	२३. वर्णिकावृद्धि	४४. शालि खण्डन
२. औचित्य	२४. सुवर्ण सिद्धि	४५. कथाकथन
३. चित्र-कला	२५. सुरभित्तलकरण	४६. पुष्प ग्रथन
४. वादित्र-कला	२६. लीलासंचरण	४७. वक्रोक्ति
५. मंत्र	२७. हय-गजपरीक्षण	४८. काव्यशक्ति
६. तन्त्र	२८. पुरुष-स्त्रीलक्षण	४९. स्फारविधिवेष
७. ज्ञान	२९. हेमरत्न भेद	५०. सर्वभाषा विशेष
८. विज्ञान	३०. अष्टादश लिपि-परिच्छेद	५१. अभिधान ज्ञान
९. दम्भ	३१. तत्काल बुद्धि	५२. भूषण-परिधान
१०. जलस्तम्भ	३२. वस्तु सिद्धि	५३. भृत्योपचार
११. गीतमान	३३. काम विक्रिया	५४. गृहाचार
१२. तालमान	३४. वैद्यक क्रिया	५५. व्याकरण
१३. मेघवृष्टि	३५. कुम्भभ्रम	५६. परनिराकरण
१४. फलाकृष्टि	३६. सारिश्रम	५७. रन्धन
१५. आराम रोपण	३७. अंजनयोग	५८. केश बन्धन
१६. आकार गोपन	३८. चूर्णयोग	५९. वीरगानाद
१७. धर्म विचार	३९. हस्तलाघव	६०. वितण्डावाद
१८. शकुनसार	४०. वचन-पाठव	६१. अङ्क विचार
१९. क्रियाकल्प	४१. भोज्य विधि	६२. लोक व्यवहार
२०. संस्कृत जल्प	४२. वासिज्य विधि	६३. अन्त्याक्षरिका
२१. प्रसाद नीति	४३. मुखमण्डन	६४. प्रश्न प्रहेलिका <sup>१</sup>
२२. धर्म रीति		

<sup>१</sup> जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, टीका पत्र १३६-२, १४०-१ । कल्पसूत्र सुबोधिका टीका

### भगवान् ऋषभदेव द्वारा वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ

भगवान् आदिनाथ से पूर्व भारतवर्ष में कोई वर्ण या जाति की व्यवस्था नहीं थी, सब लोगों की एक ही — मानव जाति थी। उनमें ऊँच-नीच का भेद नहीं था। सब लोग बल, बुद्धि और वैभव में प्रायः समान थे। कोई किसी के अधीन नहीं था। प्राप्त सामग्री से सब को संतोष था, अतः उनमें कोई जाति-भेद की आवश्यकता ही नहीं हुई। जब लोगों में विषमता बढ़ी और जनमन में लोभ-मोह का संचार हुआ तो भगवान् आदिनाथ ने वर्ण-व्यवस्था का सूत्रपात किया।

भोग-युग से कृत-युग (कर्म-युग) का प्रारम्भ करते हुए उन्होंने ग्राम, कस्बे, नगर, पत्तन आदि के निर्माण की, शिल्प एवं दान आदि की, उस समय के जन-समुदाय को शिक्षा दी।

चिर-काल से भोग-युग के अग्र्यस्त उन लोगों के लिए कर्मक्षेत्र में उतर कर अथक एवं अनवरत परिश्रम करने की यह सर्वथा नवीन शिक्षा थी। इस कार्य में भगवान् को कितना अनथक प्रयास करना पड़ा होगा, इसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस सब अभिनव-प्रयास के साथ ही ऋषभदेव ने सामाजिक जीवन से नितान्त अनभिज्ञ उस समय के मानव का सुन्दर, शान्त और सुखमय जीवन बनाने के लिए सह-अस्तित्व का पाठ पढ़ाते हुए सब प्रकार से समीचीन समाज-व्यवस्था की आधारशिला रखी।

जो लोग शारीरिक दृष्टि से अधिक सुदृढ़ और शक्ति-सम्पन्न थे, उन्हें प्रजा की रक्षा के कार्य में नियुक्त कर पहिचान के लिए उस वर्ग को क्षत्रिय वर्ण की संज्ञा दी गई।

जो लोग कृषि, पशुपालन एवं वस्तुओं के क्रय-विक्रय-वितरण अर्थात् वाणिज्य में निपुण सिद्ध हुए, उन लोगों के वर्ग को वैश्य वर्ण की संज्ञा दी गई।

जिन कार्यों को करने में क्षत्रिय और वैश्य लोग प्रायः अनिच्छा एवं अरुचि अभिव्यक्त करते, उन कार्यों को करने में भी जिन लोगों ने तत्पर हो जन-समुदाय की सेवा में विशेष अभिरुचि प्रकट की, उस वर्ग के लोगों को शूद्र वर्ण की संज्ञा दी गई।

इस प्रकार ऋषभदेव के समय में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की उत्पत्ति हुई।<sup>1</sup>

भगवान् ऋषभदेव ने मानव को सर्वप्रथम सह-अस्तित्व, सहयोग, सहृदयता, सहिष्णुता, सुरक्षा, सौहार्द एवं बन्धुभाव का पाठ पढ़ाकर मानव के हृदय में मानव के प्रति भ्रातृभाव को जन्म दिया। उन्होंने गुण-कर्म के अनुसार वर्ण-विभाग किये, जन्म को प्रधानता नहीं दी और लोगों को समझाया कि सब अपना-अपना काम करते हुए एक-दूसरे के साथ प्रेम पूर्ण व्यवहार करें, किसी को तिरस्कार की भावना से न देखें।

<sup>1</sup> आदिपुराण, पर्व १६, श्लोक २४३ से २४६

### आदि राजा आदिनाथ का अनुपम राज्य

भरतक्षेत्र के आदि राजा ऋषभदेव का राज्य नितान्त लोक कल्याण की भावनाओं से ओतप्रोत ऐसा अनुपम राज्य था, जिसका यथावत् सांगोपांग चित्रण न तो वाणी द्वारा सम्भव है और न लेखनी द्वारा ही। महाराज ऋषभदेव में पदलिप्सा लवलेख मात्र भी नहीं थी। अन्य राजाओं, प्रतिवासुदेवों, वासुदेवों एवं चक्रवर्तियों की तरह न तो उन्होंने कभी कोई दिग्विजय ही की और न राज्यसुख भोगने की कोई कामना ही। उन्हें तो प्रजा ने स्वतः अपने भन्तर्मन की प्रेरणा से राजा बनाया। जीवन निर्वाह की विधि से नितान्त अनभिज्ञ तत्कालीन मानव समाज की अभाव-अभियोग और पारस्परिक क्लेशों के कारण उत्पन्न हुई अशान्त, विक्षुब्ध, संत्रस्त एवं निराशापूर्ण दयनीय दशा पर द्रवित हो संकटग्रस्त मानवता की करुण पुकार और प्रार्थना सुन कर एक मात्र जनहिताय-लोक कल्याण की भावना से ही प्रभु ने अनुशासनप्रिय, स्वावलम्बी, सुसम्य समाज की संरचना का कार्यभार सम्हाला। उन्होंने केवल मानवता के कल्याण के लिये राजा के रूप में जिस दुष्कर दायित्व को अपने ऊपर लिया, उसका अपने राज्य-काल में पूर्ण निष्ठा के साथ निर्वहन किया। केवल प्रकृति पर निर्भर रहने वाले उन प्रकृति पुत्रों के शिर पर से जब कल्पवृक्ष की सुखद छाया उठ गई तब प्रभु ऋषभदेव ने अपना वरदहस्त उनके शिर पर रखा। प्रभु ने उन लोगों को स्वावलम्बी सुखी जीवन जीने के लिए १०० शिल्प, अग्नि, मसि और कृषि - इन तीन कर्मों के भन्तर्गत आने वाले सभी प्रकार के कर्म (कार्य) और सब प्रकार की कलाओं का उन लोगों को स्वयं तथा अपनी संतति के माध्यम से उपदेश अथवा प्रशिक्षण दिया। भरत आदि के निर्देशन, देवों के सहाय्य और अपने उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अनुभव के आधार पर मानव तीव्र गति से कर्मक्षेत्र में निरन्तर आगे की ओर बढ़ता ही गया।

और उस सब का सुखद परिणाम यह हुआ कि भारत का भूमण्डल हरे-भरे खेतों, बड़े-बड़े बगीचों, यातायात के लिये निमित्त देश के इस कोने से उस कोने तक लम्बे प्रशस्त पथों, गगनचुम्बी अट्टालिकाओं वाले भवनों, ग्रामों, नगरों, पत्तनों आदि से मण्डित हो स्वयं तुल्य सुशोभित होने लग गया। देश के कोने-कोने में आपणिकाओं, पण्यशालाओं और घर-घर के कोष्ठागारों में अन्न, धन आदि सभी प्रकार की उपभोग्य सामग्रियों के अम्बार लग गये। अभाव-अभियोग का इस आर्य धरा से नाम तक उठ गया।

### ऋषभकालीन भारत और भारतवासियों की गरिमा

प्रभु ऋषभदेव के राज्यकाल में भारत और भारतवासी सर्वतोमुखी अम्युन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँच गये। इस सम्बन्ध में शास्त्रों में तीर्थंकर काल का जो समुच्चय रूप से उल्लेख है, उसके आधार पर आद्य नरेश्वर ऋषभदेव के राज्यकाल का विवरण इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :-

“भगवान् ऋषभदेव के समय में भरतक्षेत्र सुन्दर, समृद्ध बड़े-बड़े ग्रामों, नगरों तथा जनपदों से संकुल एवं धन-धान्यादिक से परिपूर्ण था। उस समय सम्पूर्ण भरतक्षेत्र साक्षात् स्वर्गतुल्य प्रतीत होता था। उस समय का प्रत्येक ग्राम नगर के समान और नगर अलकापुरी की तरह सुरम्य और सुख सामग्री से समृद्ध थे। राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक नृपति के समान ऐश्वर्यसम्पन्न और प्रत्येक नरेश वैश्रवण के तुल्य राज्यलक्ष्मी का स्वामी था।”

इस सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि आज राजा ऋषभदेव के समय में भारत वस्तुतः भू-स्वर्ग था। वनों में वृक्षों के नीचे जीवन यापन करने वाली मानवता को महलों में बैठाने वाला वह शिल्पी कितना महान् होगा, इसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती, क्योंकि संसार में कहीं कोई उसकी उपमा ही नहीं है।

### ऋषभकालीन विशाल भारत

भगवान् ऋषभदेव के राज्यकाल में भारत की सीमाएं कहां से कहां तक थीं, इस सम्बन्ध में सुनिश्चित रूप से सीमांकन नहीं किया जा सकता। इसका एक बहुत बड़ा कारण है भौगोलिक परिवर्तन। परिवर्तनशीला प्रकृति ने इतनी लम्बी अति दीर्घकालावधि पार कर ली कि उस समय के बहुत से ऐसे भूखण्ड जो धनी और समृद्ध मानव-बस्तियों से संकुल थे, संभव है, उन भूखण्डों पर प्रकृति की एक करवट से ही अथाह सागर हिलोरें लेने लग गया हो। यह भी संभव है कि किसी समय जहाँ समुद्र लहरें ले रहा था, वहाँ किसी काल में प्राकृतिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप समुद्र के किसी ओर दिशा में सरकते ही भूखण्ड ऊपर उभर आये हों और उन पर मानव-बस्तियां बस गई हों। यह कोई केवल कल्पना की बात नहीं। आज के युग के भू-ज्ञान विशारद वैज्ञानिक और पुरातत्ववेत्ता भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि आज कतिपय भूखण्ड ऐसे हैं, जो सुदीर्घातीत के किसी समय में समुद्र की अथाह जलराशि में डूबे हुए थे। वैष्णव परम्परा के पुराणों में भी किसी मनु के समय में हुए अति भयावह जलविप्लव का उल्लेख उपलब्ध होता है। भूस्खलन, भूकम्प समुद्री तूफान, ज्वालामुखी-विस्फोट, अतिवृष्टि आदि प्राकृतिक प्रकोपों और सत्ता के लिये मानव द्वारा लड़े जाने वाले विनाशकारी युद्धों के परिणामस्वरूप होने वाले विप्लवों और परिवर्तनों का तो विश्व का इतिहास साक्षी है।

ऐसी स्थिति में महाराजाधिराज ऋषभदेव के राज्य की सीमाओं के सम्बन्ध में साधिकारिक रूप से कहने की स्थिति में तो संभवतः आज कोई सक्षम नहीं है। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भरतक्षेत्र के जिन खण्डों पर केवल प्रतिवासुदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती ही आधिपत्य स्थापित कर सकते हैं, उन खण्डों को छोड़ शेष सम्पूर्ण भारत की प्रजा ने स्वेच्छा से ऋषभदेव को अपना राजा मान रखा था।

### प्रज्या का संकल्प और वर्षादान

आदि नरेन्द्र ऋषभदेव ने दीर्घकाल पर्यन्त लोकनायक के रूप में राज्य का संचालन कर प्रेम और न्यायपूर्वक ६३ लाख पूर्व तक प्रजा का पालन किया। उन्होंने लोक-जीवन में व्याप्त अव्यवस्था को दूर कर न्याय, नीति एवं व्यवस्था का संचार किया। तदनन्तर स्थायी शान्ति प्राप्त करने एवं निष्पाप जीवन जीने के लिये भोग-मार्ग से योग-मार्ग अपनाता आवश्यक समझा। उनका विश्वास था कि अध्यात्म-साधन के बिना मानव की शान्ति स्थायी नहीं हो सकती। यही सोचकर उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया और शेष निन्यानवे पुत्रों को पृथक्-पृथक् राज्य देकर गृहस्थ जीवन के दायित्व से स्वयं छुटकारा पाया और आत्म-साधना के मार्ग पर बढ़ने का संकल्प किया।

प्रभु के इस मानसिक निश्चय को जानकर नव लोकान्तिक देवों ने अपना कर्तव्य पालन करने हेतु प्रभु के चरणों में प्रार्थना की - "भगवन् ! सम्पूर्ण जगत् के कल्याणार्थं धर्म-तीर्थ को प्रकट कीजिये।" लोकान्तिक देवों की प्रार्थना सुनकर प्रभु ने वर्षा-दान प्रारम्भ किया, संसार-त्याग की भावना से उन्होंने प्रतिदिन<sup>१</sup> प्रभात की पुण्य वेला में एक करोड़ और आठ लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान देना प्रारम्भ किया। प्रभु ने निरन्तर एक वर्ष तक दान किया। इस प्रकार ऋषभदेव द्वारा एक वर्ष में कुल मिला कर तीन अरब अठ्ठासी करोड़ और अस्सी लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान दिया गया। दान के द्वारा उन्होंने जन-मानस में यह भावना भर दी कि द्रव्य के भोग का महत्त्व नहीं, अपितु उसके त्याग का ही महत्त्व है।

### अभिनिष्क्रमण-भ्रमणबीक्षा

इस प्रकार ८३ लाख पूर्व गृहस्थ-पर्याय में बिता कर चैत्र कृष्णा नवमी<sup>२</sup> के दिन उत्तराषाढा नक्षत्र में ऋषभदेव ने दीक्षार्थं अभिनिष्क्रमण किया। उन्होंने विशाल राज्य-वैभव और परिवार को छोड़कर भव्य भोग-सामग्री को तिलांजलि दी और शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिये देव-मानवों के विशाल समुदाय के साथ विनीता नगरी से निकल कर षष्ठमभक्त के निर्जल तप से प्रशोक वक्ष के नीचे अपने सम्पूर्ण पापों को त्याग कर मुनि-दीक्षा स्वीकार की और सिद्ध की साक्षी से यह प्रतिज्ञा की - "सर्वं अकरणिज्जं पाप-कर्म पञ्चवस्वामि-अर्थात् हिंसा आदि सब पापकर्म अकरणीय हैं, अतः मैं उनका सर्वथा त्याग करता हूँ।" शिर के बालों का चतुर्मुष्टिक लुंचन कर प्रभु ने बतलाया कि शिर के बालों की

<sup>१</sup> आब० नि० गाथा २३६ व २४२

<sup>२</sup> ( घ ) कल्पसूत्र, सू० १६५, पृ० ५७, पुण्य विजयत्री  
 ( आ ) जम्बू द्वीप प्रकृति में चैत्र कृ० ६ का उल्लेख है।  
 ( इ ) हरिवंश पुराण में चैत्र कृ० ६ का उल्लेख है।

तरह हमें पापों को भी जड़मूल से उखाड़ फेंकना है। इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार कर भगवान् ने एक मुष्टि के बाल रहने दिये। प्रभु के इस अपूर्व त्याग-तप को देखकर देवों, दानवों और मानवों की विशाल परिषद् चित्र-लिखित सी हो गई।

इस प्रकार संयम जीवन की निर्मल साधना से ऋषभदेव सर्वप्रथम मुनि, साधु एवं परिव्राजक रूप से प्रसिद्ध हुए। इनके त्याग से प्रभावित होकर उप्रवंश, भोगवंश, राजन्य और क्षत्रिय वंश के चार हजार राजकुमारों ने उनके साथ संयम ग्रहण किया।<sup>१</sup> यद्यपि भगवान् ने उन्हें प्रव्रज्या नहीं दी, तथापि उन्होंने स्वयं ही प्रभु का अनुसरण कर लुंचन आदि क्रियाएं कीं और साधु बन कर उनके साथ विचरना प्रारम्भ किया। प्रभु के दीक्षा-ग्रहण का वह दिन असंख्य काल बीत जाने पर भी आज कल्याणक दिवस के रूप में महिमा पा रहा है।

### विद्याधरों की उत्पत्ति

भगवान् ऋषभदेव जब सावद्य-त्याग रूप अभिग्रह लेकर निर्मोह भाव से विचरने लगे, तब नमि और विनमि दो राजकुमार, जो कच्छ एवं महाकच्छ के पुत्र थे, भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए। वे भगवान् से प्रार्थना करने लगे— “प्रभो! आपने सबको भोग्य सामग्री दी है, हमें भी दीजिये।” इस प्रकार तीनों संध्या वे भगवान् के साथ लगे रहे। एक समय भगवान् को वन्दन करने के लिए धरगोन्द्र आया, उस समय भी नमि एवं विनमि ने भगवान् से इसी प्रकार की विनती की। यह देख कर धरगोन्द्र ने उनसे कहा— “मित्रो! सुनो, भगवान् संगरहित हैं, इनको राग-रोष भी नहीं है, यहां तक कि अपने शरीर पर भी इनका स्नेह नहीं है। अतः इनसे याचना करना ठीक नहीं। मैं भगवान् की भक्ति के लिए तुम्हें, तुम्हारी सेवा निष्फल न हो इसलिए पठन-मात्र से सिद्ध होने वाली ४८००० विद्याएं देता हूँ। इनमें गौरी, गंधारी, रोहिणी और प्रज्ञप्ति ये चार महाविद्याएं हैं। इनको लेकर जाओ और विद्याधर की श्रद्धि से देश एवं नगर बसा कर सुख से विचरो।” धरगोन्द्र से विद्याएं ग्रहण कर उन्होंने वैसा ही किया। नमि ने वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनेउर आदि ५० नगर बसाये। उसी तरह विनमि ने भी उत्तर की ओर ६० नगर बसाये। नमि और विनमि ने विभिन्न देशों एवं प्रान्तों से सुसभ्य परिवारों को लाकर अपने नगर में बसाया। जो मनुष्य जिस देश से लाये गये थे, उसी भाग से वैताढ्य पर उनके जनपद स्थापित किये गये।

इस प्रकार नमि एवं विनमि ने आठ-आठ निकाय विभक्त किये और विद्या-बल से देवों के समान मनुष्य-देव सम्बन्धी भोगों का उपभोग करते हुए विचरने लगे। मनुष्य होकर भी विद्या-बल की प्रधानता से ये लोग विद्याधर कहाने लगे। और यहीं से विद्याधरों की परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ।<sup>२</sup>

<sup>१</sup> आ० नि० गाथा २४७

<sup>२</sup> आद० चू० प्र० भा० पृ० १६१-६२

### विहारचर्या

श्रमण हो जाने के पश्चात् ऋषभदेव दीर्घकाल तक अखंड मीनव्रती होकर तपस्या के साथ एकान्त में निर्मोह भाव से ध्यान करते हुए विचरते रहे। दिगम्बर परम्परा के 'तिलोपपणत्ति' नामक ग्रन्थ में दीक्षा ग्रहण करते समय ऋषभदेव द्वारा ६ उपवास का तप अंगीकार किये जाने का उल्लेख है। आचार्य जिनसेन के अनुसार प्रभु ऋषभदेव ने दीक्षा ग्रहण करते समय छह मास का<sup>१</sup> अनशन तप धारण कर रखा था। पर श्वेताम्बर साहित्य में छठ तप से आगे उल्लेख नहीं मिलता, वहाँ बेले की तपस्या के पश्चात् प्रभु के भिक्षार्थ श्रमण का विवरण मिलता है। श्वेताम्बर परम्परानुसार तपस्या बेले की ही की गई।

प्रभु घोर अभिग्रहों को धारण कर अनासक्त भाव से ग्रामानुग्राम भिक्षा के लिये श्रमण करते, पर भिक्षा एवं उसकी विधि का जन-साधारण को ज्ञान नहीं होने से, उन्हें भिक्षा प्राप्त नहीं होती। साथ के चार हजार श्रमण इस प्रतीक्षा में थे कि भगवान् उनकी सुधबुध लेंगे और व्यवस्था करेंगे, पर दीर्घकाल के बाद भी जब भगवान् कुछ नहीं बोले तो वे सब अनुगामी श्रमण भूख-प्यास आदि परीषहों से संतप्त होकर वल्कलधारी तपस हो गये।<sup>२</sup> कुलाभिमान व भरत के भय से वे पुनः घर में तो नहीं गये पर कष्टसहिष्णुता और विवेक के अभाव में सम्यक् साधना से पथच्युत होकर परिव्राजक बन गये और वन में जाकर वन्य फल-फूलादि खाते हुए अपना जीवन-यापन करने लगे।

भगवान् आदिनाथ जो वीतराग थे, लाभालाभ में समचित्त होकर अश्लान भाव से ग्राम, नगर आदि में विचरते रहे। भावुक भक्तजन आदिनाथ प्रभु को अपने यहाँ आये देखकर प्रसन्न होते। कोई अपनी सुन्दर कन्या, कोई उत्तम बहुमूल्य वस्त्राभूषण, कोई हस्ती, अश्व, रथ, वाहन, छत्र, सिंहासनादि और कोई फलफूल आदि प्रस्तुत कर उन्हें ग्रहण करने की प्रार्थना करता, किन्तु विधिपूर्वक भिक्षा देने का ध्यान किसी को नहीं आता। भगवान् ऋषभदेव इन सारे उपहारों को अकल्पनीय मानकर बिना ग्रहण किये ही उलटे पैरों खाली हाथ लौट जाते।

### भगवान् का प्रथम पारणा

इस प्रकार भिक्षा के लिये विचरण करते हुए ऋषभदेव को लगभग एक वर्ष से अधिक समय हो गया, फिर भी उनके मन में कोई ग्लानि पैदा नहीं हुई। एक दिन श्रमण करते हुए प्रभु कुरु जनपद में हस्तिनापुर पधारे। वहाँ बाहुबली के पौत्र एवं राजा सोमप्रभ के पुत्र श्रेयांस युवराज थे। उन्होंने रात्रि में स्वप्न देखा - "सुमेरु पर्वत श्यामवर्ण का (कान्तिहीन) होगया है, उसको मैंने श्रमृत

<sup>१</sup> षण्मासानशनं धीरः, प्रतिज्ञाय महाधृतिः।

योगकाण्डनिरुद्धान्त - बहिष्करण विक्रियः। महा. पु. १८ (१)

<sup>२</sup> जे ते चत्तारि सहस्सा ते भिक्षवं अलमंता तेणं माणेण घरं ए च्छवति भरहस्स य भयेणं, पछावणमतिगता तावसा जाता... ....। प्रावश्यक चर्या, पृष्ठ १६२

से सिंचित कर पुनः चमकाया है।<sup>१</sup> दूसरी ओर सुबुद्धि श्रेष्ठि को स्वप्न आया कि सूर्य की हजार किरणों जो अपने स्थान से चलित हो रही थीं, श्रेयांस ने उनको पुनः सूर्य में स्थापित कर दिया, इससे वह अधिक चमकने लगा।<sup>२</sup> महाराज सोमप्रभ ने स्वप्न देखा कि शत्रुओं से युद्ध करते हुए किसी बड़े सामन्त को श्रेयांस ने सहायता प्रदान की। और श्रेयांस की सहायता से उसने शत्रु-सैन्य को हटा दिया।<sup>३</sup> प्रातःकाल तीनों मिलकर अपने-अपने स्वप्न पर चिंतन करने लगे, और सब एक ही निष्कर्ष पर पहुंचे कि श्रेयांस कुमार को अवश्य ही कोई विशिष्ट लाभ प्राप्त होने वाला है।<sup>४</sup>

उसी दिन पुण्योदय से भगवान् ऋषभदेव विचरते हुए हस्तिनापुर पधारे। बहुत काल के पश्चात् भगवान् के दर्शन पाकर नगरजन अत्यन्त प्रसन्न हुए। जब श्रेयांसकुमार ने राजमार्ग पर भ्रमण करते हुए भगवान् ऋषभदेव को देखा तो उनके दर्शन करते ही श्रेयांस के मन में जिज्ञासा हुई और ऊहापोह करते हुए, चिन्तन करते हुए उन्हें ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जातिस्मरण ज्ञान हो गया। पूर्वभव की स्मृति से उन्होंने जाना कि ये प्रथम तीर्थंकर हैं। आरम्भ परिग्रह के सम्पूर्ण त्यागी हैं। इन्हें निर्दोष आहार देना चाहिये। इस प्रकार वे सोच ही रहे थे कि भवन में सेवक पुरुषों द्वारा इक्षु-रस के घड़े लाये गये। परम प्रसन्न होकर श्रेयांसकुमार सात-आठ कदम भगवान् के सामने गये और प्रदक्षिणापूर्वक भगवान् को वन्दन कर स्वयं इक्षु-रस का घड़ा लेकर आये तथा त्रिकरण शुद्धि से प्रतिलाभ देने की भावना से भगवान् के पास आये और बोले — “प्रभो! क्या, खप है?” भगवान् ने अञ्जलिपुट आगे बढ़ाया तो श्रेयांस ने प्रभु की अंजलि में सारा रस उंडेल दिया। भगवान् अछिद्रपाणि थे अतः रस की एक बूंद भी नीचे नहीं गिरने पाई। भगवान् ने वैशाख शुक्ला तृतीया को वर्ष-तप का पारणा किया। श्रेयांस को बड़ी प्रसन्नता हुई। उस समय देवों ने पंच-दिव्य की वर्षा की और ‘अहो दानं, अहो दानं’ की ध्वनि से आकाश गूँज उठा। श्रेयांस ने प्रभु को वर्षी-तप का पारणा करवा कर महान् पुण्य का संबन्ध किया और अशुभ कर्मों की निर्जरा की। उस युग के वे प्रथम भिक्षा दाता हुए। आदिनाथ ने जगत् को सबसे पहले तप का पाठ पढ़ाया तो श्रेयांसकुमार ने भिक्षा-दान की विधि से अनजान मानव-समाज को सर्वप्रथम भिक्षा-दान की विधि बतलाई। प्रभु के पारणो का वैशाख शुक्ला तृतीया का वह दिन अक्षयकरणी के कारण लोक में आस्ता-तीज या अक्षय-तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो आज भी सर्वजन-विश्रुत पर्व माना जाता है।

<sup>१</sup> भा० सू० पृ० १६२-६३

<sup>२</sup> भा० सू० पृ० १६२-६३

<sup>३</sup> भा० म० २१७-१८

<sup>४</sup> भा० म० गिरि टीका पत्र २१८



यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान् ऋषभदेव ने चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन षष्ठ भक्त अर्थात् बेले की तपस्या के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की और यदि दूसरे वर्ष की वैशाख शुक्ला तृतीया को श्रेयांश कुमार के यहाँ प्रथम पारणा किया तो यह उनकी पूरे एक वर्ष की ही तपस्या न होकर चैत्र कृष्णा अष्टमी से वैशाख शुक्ला तृतीया तक तेरह मास और दश दिन की तपस्या हो गई। ऐसी स्थिति में - "संवच्छरेण भिवखा लद्धा उसहेण लोगनाहेण" समवायांग सूत्र के इस उल्लेख के अनुसार प्रभु आदिनाथ के प्रथम तप को संवत्सर तप कहा है, उसके साथ संगति किस प्रकार बैठती है? क्योंकि अक्षय तृतीया के दिन प्रभु का प्रथम पारणाक मानने की दशा में भगवान् का प्रथम तप १३ मास और १० दिन का हो जाता है और शास्त्र में प्रभु का प्रथम तप एक संवत्सर का तप माना गया है।

वस्तुतः यह कोई आज का नवीन प्रश्न नहीं। यह एक बहुचर्चित प्रश्न है। अनेक विचारकों की ओर से इस सम्बन्ध में शास्त्रीय पाठों के उद्धरण आदि के साथ साथ कतिपय युक्तियां-प्रयुक्तियां समय-समय पर प्रस्तुत की जाती रही हैं। किन्तु वस्तुतः अद्यावधि इस प्रश्न का कोई सर्वसम्मत समुचित हल नहीं निकल पाया है। एक मात्र इस लक्ष्य से कि तथ्य क्या है, इस प्रश्न पर और भी गहराई से विचार करने की आवश्यकता है।

इस प्रश्न का समुचित समाधान प्राप्त करने का प्रयास करते समय सर्व प्रथम इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि सूत्रों में अनेक स्थलों पर सूत्र के मूल लक्षण वाली संक्षेपात्मक शैली को अपनाकर काल-गणना करते समय बड़े काल के साथ जहाँ छोटा काल भी सम्मिलित है, वहाँ प्रायः छोटे काल को छोड़ कर केवल बड़े काल का ही उल्लेख किया गया है।

उदाहरण के रूप में देखा जाय तो स्थानांग सूत्र के नवम स्थान में जहाँ भगवान् ऋषभदेव द्वारा धर्म-तीर्थ की स्थापना के समय पर प्रकाश डाला गया है, वहाँ सूत्र के मूल लक्षण के अनुरूप संक्षेप शैली को अपना कर निम्नलिखित उल्लेख किया गया है :-

“उसभेणं अरहया कोसलिएणं इमीसे ओसप्पिएणीए एवहि सागरोवम कोडाकोडीहिं विइक्कतेहिं तित्थे पवत्तिए ।”

इस सूत्र का सीधा शब्दार्थ किया जाय तो यही होगा कि कौशलिक अहंत् भगवान् ऋषभदेव ने इस अवसप्पिएणी काल के नौ कोटाकोटि सागरोपम काल के व्यतीत हो जाने पर धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया।

क्या कोई, शास्त्रों का साधारण से साधारण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी इस सीधे से अर्थ को अक्षरशः मानने के लिये तैयार है? कदापि नहीं। लाख बार समझाने पर भी इस सूत्र का यह अक्षरशः शब्दार्थ किसी के गले नहीं उतरेगा। क्योंकि यह निर्विवाद तथ्य है कि इस सूत्र में जो समय बताया गया है, उस समय से नोन वर्ष और साढ़े आठ मास पूर्व ही भगवान् ऋषभदेव का

निर्वाण हो चुका था, साधु-साध्वियों को मिला कर प्रभु के ६०,००० अन्तेवासी भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो चुके थे। इस अवसर्पिणी काल के नौ कोटाकोटि सागरोपम व्यतीत हो जाने पर तो प्रभु अनन्त-अव्यय-अव्याबाध-शाश्वत सुखधाम शिवधाम में विराजमान थे। आदि प्रभु तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने वस्तुतः धर्मतीर्थ का प्रवर्तन उस समय किया जब कि इस अवसर्पिणी काल के नौ कोटाकोटि सागरोपम व्यतीत होने में एक हजार तीन वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन कम एक लाख पूर्व का सुदीर्घ समय अवशिष्ट था - बाकी था - शेष था।

इस प्रकार की स्थिति में "लकीर के फकीर" की कहावत को चरितार्थ करते हुए यदि कोई व्यक्ति हठधर्मिता का आश्रय लेकर उपर्युक्त सूत्र का यथावत् अक्षरशः शब्दार्थ किसी विज्ञ से मनवाने का प्रयास करे तो उसका शास्त्रीयता के नाम पर किया गया वह प्रयास शास्त्र की भावना से पूर्णतः प्रतिकूल ही होगा।

इसमें कभी कोई दो राय नहीं हो सकती कि इस सूत्र में संक्षेप शैली की प्रपना कर एक हजार तीन वर्ष और साढ़े आठ मास कम एक लाख पूर्व की अवधि का उल्लेख न करते हुए मोटे रूप से ६ कोटाकोटि सागरोपम की अवधि का उल्लेख कर दिया गया है।

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण भगवान् महावीर के जीवनकाल का भी है। शास्त्रों में उल्लेख है कि भगवान् महावीर ३० वर्ष गृहस्थावस्था में और ४२ वर्ष तक (छद्मस्थ काल और केवली-काल मिला कर) साधक जीवन में रह कर ७२ वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण को प्राप्त हुए। स्थानांग सूत्र में भगवान् महावीर के छद्मस्थ काल के सम्बन्ध में उल्लेख है कि वे बारह वर्ष और तेरह पक्ष अर्थात् साढ़े बारह वर्ष और १५ दिन तक छद्मस्थावस्था में रहे।<sup>१</sup> आचारांग सूत्र में प्रभु के छद्मस्थ काल को संक्षेप शैली में उल्लेख करते हुए बारह वर्ष का ही बताया गया है।<sup>२</sup> इसी प्रकार प्रभु महावीर का केवली-पर्याय ३० वर्ष का माना जाता है परन्तु उनके ४२ वर्ष के संयमित जीवन में से साढ़े बारह वर्ष और १५ दिन का छद्मस्थ काल का समय निकाल देने पर वस्तुतः उनके केवल ज्ञान का काल २६ वर्ष, ५ मास और १५ दिन का ही होता है।

ठीक इसी प्रकार दीक्षा के समय भगवान् ऋषभदेव द्वारा ग्रहण किया गया बेले का तप भिक्षा न मिलने के कारण १२ मास से भी अधिक समय तक चलता रहा और जब श्रेयांशकुमार से प्रभु को भिक्षा मिली तो शास्त्र में उसी

<sup>१</sup> दुवालय संवच्छराइ तेरस पक्ख छउमत्थ.....

(स्थानांग सूत्र, स्था० ६, उ० ३, सूत्र ६६३, अमोलकऋषि जी म० सा० द्वारा अनूदित, पृ० ८१६)

<sup>२</sup> ....बारस वासाई वोसट्ठकाए चियत्त देहे जे केई उवसग्गा समुप्पज्जति.....ते सब्बे उवसग्गे, समुप्पण्णे समाणे सम्मं सहिस्सामि, खमिस्सामि, अहिियासिस्सामि ॥

(आचारांग सूत्र, श्रु० २, अ० २३)

सूत्र-लक्षणानुसारिणी संक्षेप-शैली में उस घटना का उल्लेख - "संवच्छरेण भिक्षा लब्धा उसहेण लोगनाहेण" - इस रूप में किया। तो "संवच्छरेण भिक्षा लब्धा" - यह वस्तुतः व्यवहार-वचन है। व्यवहार-वचन में एक वर्ष से ऊपर के दिन अल्प होने के कारण, गणना में उनका उल्लेख न कर मोटे तौर पर संवत्सर तप कह दिया गया है। जैसा कि ऊपर दो शास्त्रीय उद्धरणों के साथ बताया गया है कि शास्त्र में इस प्रकार के कतिपय उल्लेख मिलते हैं, जिनमें काल की न्यूनाधिकता होने पर भी व्यवहार दृष्टि से बाधा नहीं मानी जाती। दीक्षाकाल से भिक्षाकाल पर्यन्त १३ मास और १० दिन तक प्रभु निर्जल और निराहार रहे, उस समय को शास्त्र में व्यवहार भाषा में 'संवच्छर' कहा गया है। कालान्तर में इसे व्यवहार भाषा में संभव है वर्षो-तप के नाम से अभिहित किया जाने लगा हो।

शास्त्र में तो "संवच्छरेण भिक्षा लब्धा उसहेण लोगनाहेण" - इस उल्लेख के अतिरिक्त किसी मास अथवा तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। जम्बूद्वीप प्रजापति में भगवान् ऋषभदेव का सार रूप में जीवन-वृत्त दिया हुआ है, पर वहाँ दीक्षा के समय प्रभु के बेले के तप के अतिरिक्त कितने समय तक भिक्षा नहीं मिली, अन्त में किस दिन, किस मास में भिक्षा मिली एतद्विषयक कोई उल्लेख नहीं है।

हां, श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के साहित्य में भगवान् ऋषभदेव को प्रथम भिक्षा मिलने के सम्बन्ध में जो उल्लेख हैं, उनसे यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि भगवान् ऋषभदेव को दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् एक वर्ष से भी अधिक समय बीत जाने पर प्रथम भिक्षा मिली।

जिन ग्रन्थों में भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारणाक के सम्बन्ध में उल्लेख उपलब्ध होते हैं, उनमें से कतिपय में प्रभु के पारणाक की तिथि का कोई उल्लेख नहीं है किन्तु तीन ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है कि प्रभु आदिनाथ का प्रथम पारणाक अक्षय तृतीया के दिन हुआ। जिन ग्रन्थों में पारणाक की तिथि का उल्लेख नहीं है, वे हैं - वसुदेवहिण्डी तथा हरिवंशपुराण और जिन ग्रन्थों में अक्षय तृतीया के दिन प्रभु का प्रथम पारणाक होने का उल्लेख है, वे हैं - खरतरंगच्छ बृहद् गुर्वावली, त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित्र और अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त का महापुराण।

विक्रम की सातवीं शताब्दी के जितभद्रगणि अमाश्रमण के समकालीन संघदामगणि ने वसुदेव हिण्डी में भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारणाक का उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया है :-

"भयवं पियामहो निराहारो परमधिति बल सायरो सयंभुसागरो इव धिमियो अणाउलो संवच्छरं विहरइ, पत्तो य हत्थिणाउरं। तत्थ य बाहुबलिसस सुओ सोमप्पहो, तस्स य पुत्तो सेज्जंसो।।"

“तो सो पासायग्गे आगच्छमाणं पियामहं पस्समाणो चित्तेइ-कत्थ मण्णे मए एरिसी आगिई दिट्ठपुण्व ? त्ति, मग्गणं करेमाणरस तदावरण खम्मोवसमेण जाइसरणं जायं ।” ततो परमहरिसियो पडिलाहेइ सामि खोयरसेणं । भयवं अच्छिद्दपाणी पडिगाहेइ । ततो देवेहिं मुक्का पुप्फवुट्ठी, निवडिया वसुधारा, दुंदुहिओ समाहयाओ, चेलुक्खेवो कओ, अहो दाणं ति आगासे सहो कओ ।”

इस गद्य का सार यह है कि प्रभु संवत्सर तक निराहार विचरण करते रहे और हस्तिनापुर आये । वहाँ उन्हें देखते ही श्रेयांसकुमार को ईहापोह करने पर जातिस्मरणं ज्ञान हो गया और उसने भ० ऋषभदेव को इक्षुरस से पारणा करवाया । इस गद्य में संघदास गरिण ने पारणाक की तिथि का उल्लेख नहीं किया है । “संवच्छरं विहरइ” वर्ष भर तक विचरण करते रहे । “पत्तो य हत्थिणाउरं” दूसरे दिन ही आ गये या कुछ दिनों पश्चात् ? इस शंका के लिये यहाँ अवकाश रख दिया है । एक संवत्सर का तप पूर्ण होते ही भ० ऋषभदेव हस्तिनापुर में पहुँचते तो निश्चित रूप से संघदास गरिण “पत्तो य बिइये दिवसे हत्थिणाउरं” इस प्रकार स्पष्ट लिखते, पर ऐसा नहीं लिखने से शंका के लिये थोड़ा अवकाश रह ही गया है । यदि कतिपय दिवसानन्तर पहुँचे होते तो उस दशा में “पत्तो य कइवय दिवसाणंतरं हत्थिणाउरं” — इस प्रकार का भी उल्लेख कर सकते थे ।

दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ हरिवंश पुराण का एतद्विषयक उल्लेख इस प्रकार है :-

षण्मासानशनस्यान्ते, संहृतप्रतिमास्थितिः ।  
 प्रतस्थे पदविग्यासैः, क्षिति पल्लवयन्निव ॥१४२॥  
 तथा यथागमं नाथः, षण्मासानविषण्णधीः ।  
 प्रजाभिः पूज्यमानः सन्, विजहार महि क्रमात् ॥१५६॥  
 सम्प्राप्तोऽथ सदादानैरिभैरिभपुरं विभुः ।  
 दानप्रवृत्तिरत्रेति, सूचयद्भिरिवाचितम् ॥१५७॥  
 स श्रेयानीक्षमाणस्तं, निमेषरहितेक्षणः ।  
 रूपमीदृक्षमद्राक्षं, क्वचित् प्रागित्यघान्मनः ॥१८०॥  
 दीप्रेणाप्युपशान्तेन, स तद्रूपेण बोधितः ।  
 दशात्मेशभवान् बुद्ध्वा, पादावाश्रित्य मूर्च्छितः ॥१८१॥  
 श्रीमनीवज्रजंघभ्यां, दन्तं दानं पुरा यथा ।  
 चारणाभ्यां म्वपुत्राभ्यां, संस्मृत्य जिनदर्शनात् ॥१८३॥  
 भगवन् तिष्ठ तिष्ठेति, चोक्त्वा नीतो गृहान्तरे ।  
 उच्चैः स आसने स्थाप्य, घौततद्पादपंकजः ॥१८४॥

दित्सुरिक्षुरसापूर्णं कुम्भमुधृत्य सोऽब्रवीत् ॥१८६॥

मुक्तं दायकदोषंश्च, गृहाण प्रासुकं रसम् ॥१८८॥

वृत्तवृद्धयै विशुद्धात्मा, पाणिपात्रेण पारणम् ।

समपादस्थितश्चक्रे, दर्शयन् क्रियया विधिम् ॥१८९॥

अहो दानमहो दानमहो पात्रमहो क्रमः ।

साधु साध्विति खे नादः, प्रादुरासीद्द्वौकसाम् ॥१९१॥<sup>१</sup>

सारांशतः—छः मास का तप पूर्ण होने पर ध्यान का उपसंहार कर भ० ऋषभदेव भिक्षा हेतु भ्रमण करने के लिये प्रस्थित हुए । अपने घर आये हुए प्रभु को देख कर लोग निनिमेष दृष्टि से उनकी ओर देखते ही रह जाते, उनके हर्ष का पारावार नहीं रहता । किन्तु उस समय के लोग भिक्षादान की विधि से नितान्त अनभिज्ञ थे, अतः प्रभु को समय पर भिक्षार्थ भ्रमण करते रहने पर भी कहीं विशुद्ध आहार-पानीय नहीं मिला । इस प्रकार ६ मास तक भ० ऋषभदेव निराहार ही विभिन्न ग्राम नगरादि में भ्रमण करते रहे । तदनन्तर वे हस्तिनापुर पधारे । श्रेयांसकुमार ने उन्हें देखा । श्रेयांसकुमार को जातिस्मरण ज्ञान हो गया और पूर्वभव की स्मृति से दान देने की विधि को जान कर उसने प्रभु को इक्षुरस से पारण करवाया । अहो दान ! अहो दाता ! अहो पात्र ! के निर्घोषों, देवदुग्धियों के निनाद और साधु-साधु ! के साधुवादों से नभोमण्डल आपूरित हो गया । देवों ने पंच-दिव्यों की वृष्टि की ।

इन श्लोकों में “षण्मासानविषण्णाधीः...विजहार महि क्रमात्” के पश्चात् ‘सम्प्राप्तोऽथ...इभुर्पुत्रिभुः ।’ यह पदविन्यास मननीय है । ६ मास के तप के पूर्ण होने पर ६ मास तक निराहार विचरण करते रहे । इस वाक्य के पश्चात् “अथ” शब्द के प्रयोग से यही अर्थ प्रकट होता है कि ६ मास तक निराहार विचरण करने के पश्चात् विहार क्रम से भ० ऋषभदेव हस्तिनापुर पधारे । पर कितने दिन पश्चात् पधारे, यह इससे स्पष्ट नहीं होता । पारणाक की तिथि का उल्लेख न कर एक प्रकार से हरिवंशपुराणकार ने भी इस प्रश्न को पहली के रूप में ही रख दिया है ।

जिन तीन प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि भ० ऋषभदेव का पारणा वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन अर्थात् अक्षय तृतीया को हुआ, उनमें से पहला उल्लेख है खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावली का । उसमें लगभग ७०० वर्ष पूर्व की एक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा गया है :— श्री पूज्याः श्री जावालिपुरे समायाताः । तत्र च श्री जिनप्रबोध सूरिभिः..... प्रवरगभीरिमाधरीकृतवार्धयः श्री जिन-चन्द्रसूरयः सं० १३४१ श्री युगादिदेव-

<sup>१</sup> हरिवंशपुराण, सर्ग ६

पारणक-पत्रित्रितायां वैशाखशुक्लाक्षय-तृतीयायां स्वपदे महाविस्तरेण स्थापिताः ।<sup>१</sup>

इस उल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि आज से लगभग ७०० वर्ष पूर्व जैनसंघ में यह मान्यता न केवल प्रचलित ही थी अपितु लोकप्रिय और लोकप्रसिद्ध भी थी कि भगवान् ऋषभदेव का प्रथम पारणक वैशाख शुक्ला अक्षय तृतीया के दिन हुआ था ।

“भगवान् ऋषभदेव का प्रथम पारणक अक्षय तृतीया के दिन हुआ” — इस प्रकार का पूर्णतः स्पष्ट दूसरा उल्लेख है आचार्य हेमचन्द्रसूरि द्वारा प्रणीत “त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र” का जो खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावली के एतद्विषयक उपर्युक्त उल्लेख से लगभग १२० वर्ष और आज से ८१२ वर्ष पूर्व का है । वह उल्लेख इस प्रकार है :-

भार्यानायेषु मीनेन, त्रिहरन् भगवानपि ।  
 संवत्सरं निराहारश्चिन्तयामासिवानिदम् ॥२३८॥  
 प्रदीपा इव तैलेन, पादपा इव वारिणा ।  
 आहारेणैव वर्तन्ते, शरीराणि शरीरिणाम् ॥२३९॥  
 स्वामी मनसि कृत्यैवं, भिक्षार्थं चलितस्ततः ।  
 पुरं गजपुरं प्राप, पुरमण्डलमण्डनम् ॥२४३॥  
 दृष्ट्वा स्वामिनमायान्तं, युवराजोऽपि तत्क्षणम् ।  
 अघावत् पादचारेण, पत्नीनप्यतिलंघयन् ॥२७७॥  
 गृहांगणजुषो भर्तुर्लुठित्वा पादपंकजे ।  
 श्रयांसोऽमार्जयत् केशं भ्रमरभ्रमकारिभिः ॥२८०॥  
 ईदृशं क्व मया दृष्टं, लिंगमित्यभिचिन्तयन् ।  
 विवेकशास्त्रिनो बीजं, जातिस्मरणमाप सः ॥२८३॥  
 ततोविज्ञातनिर्दोषभिक्षादानविधिः स तु ।  
 गृह्यतां कल्पनीयोऽयं, रस इत्यवदत् विभुम् ॥२९१॥  
 प्रभुरप्यजलीकृत्य, पाणिपात्रमधारयत् ।  
 उत्क्षिप्योत्क्षिप्य सोऽपीक्षुरसकुम्भानलोठयत् ॥  
 राधशुक्ल तृतीयायां, दानमासीत्तदक्षयम् ।  
 पर्वाक्षयतृतीयेति, ततोऽद्यापि प्रवर्तते ॥३०१॥<sup>२</sup>

वसुदेवहिण्डी और हरिवंशपुराण के रचनाकारों ने प्रभु ऋषभदेव के प्रथम पारणक की तिथि के सम्बन्ध में ईहापोह का अवकाश रख कर, उसे एक अनबूझ पहेली बना कर छोड़ दिया था, उस पर आचार्य हेमचन्द्र ने पूर्ण रूपेण स्पष्ट प्रकाश डाल कर उस अनबूझ पहेली का समाधान कर दिया है ।

<sup>१</sup> खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावली, (सिधी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई)

<sup>२</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्रम्, पत्रं १, सर्गं ३

उपर्युद्धत श्लोकों में आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्टतः लिखा है कि संवत्सरपर्यन्त भ० ऋषभदेव मौन धारण किये हुए निराहार ही विभिन्न आर्य तथा अनार्य क्षेत्रों में विचरण करते रहे। तदनन्तर उन्होंने विचार किया कि जिस प्रकार दीपकों का अस्तित्व तेल पर और वृक्षों का अस्तित्व पानी पर निर्भर करता है, उसी प्रकार देहधारियों के शरीर भी आहार पर ही निर्भर करते हैं। यह विचार कर वे पुनः भिक्षार्थ प्रस्थित हुए और विभिन्न स्थलों में विचरण करते हुए अन्ततोगत्वा हस्तिनापुर पधारे। हस्तिनापुर में भी वे भिक्षार्थ घर-घर भ्रमण करने लगे। अपने नगर में प्रभु का आगमन सुनते ही पुरवासी अपने सभी कार्यों को छोड़ प्रभु दर्शन के लिये उमड़ पड़े। हर्षविभोर हस्तिनापुरनिवासी प्रभुचरणों पर लोटपोट हो उन्हें अपने-अपने घर की पवित्र करने के लिये प्रार्थना करने लगे। भ० ऋषभदेव भिक्षार्थ जिस-जिस घर में प्रवेश करते, वहीं कोई गृहस्वामी उन्हें स्नान-मज्जन-विलेपन कर सिंहासन पर विराजमान होने की प्रार्थना करता, कोई उनके समक्ष रत्नाभरणालंकार प्रस्तुत करता, कोई गज, रथ, अश्व आदि प्रस्तुत कर, उन पर बैठने की अनुनय-विनयपूर्वक प्रार्थना करता। सभी गृहस्वामियों ने अपने-अपने घर की अनमोल से अनमोल महार्घ्य वस्तुएँ तो प्रभु के समक्ष प्रस्तुत कीं किन्तु आहार प्रदान करने की विधि से अनभिज्ञ उन लोगों में से किसी ने भी प्रभु के समक्ष विशुद्ध आहार प्रस्तुत नहीं किया। इस प्रकार अनुक्रमशः प्रत्येक घर से विशुद्ध आहार न मिलने के कारण प्रभु निराहार ही लौटते रहे।

अपने प्राणाधिकवल्लभ आराध्य हृदयसम्राट् आदिनाथ को अपने घरों से बिना कुछ लिये लौटते देख नगरनिवासी आग्रहपूर्ण करुण स्वर में प्रभु से प्रार्थना करने लगे — “इस प्रकार निराश न करो नाथ, कुछ न कुछ तो हमारी भेंट स्वीकार करो नाथ ! मुख से तो बोलो हमारे प्राणदाता बाबा आदिनाथ !”

इस प्रकार करुण प्रार्थना करता हुआ जनसमुद्र प्रभु के चारों ओर उत्तरोत्तर उमड़ता ही जा रहा था और मौन धारण किये हुए शान्त, दान्त भ० ऋषभदेव एक के पश्चात् दूसरे घर में प्रवेश करते एवं पुनः लौटते हुए आगे की ओर बढ़ रहे थे। राजप्रासाद के पास सुविशाल जनसमूह का कलकल जनरव सुन कर हस्तिनापुराधीश ने दौवारिक से कारण ज्ञात करने को कहा। प्रभु का आगमन सुन महाराज सोमप्रभ और युवराज श्रेयांसकुमार हर्षविभोर हो त्वरित गति से तत्काल प्रभु के सम्मुख पहुँचे। आदक्षिणा-प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन-नमन और चरणों में लुण्ठन के पश्चात् हाथ जोड़े वे दोनों पिता पुत्र आदिनाथ की ओर निनिमेष दृष्टि से देखते ही रह गये। गहन अन्तस्तल में छुपी स्मृति से श्रेयांसकुमार को आभास हुआ कि उन्होंने प्रभु जैसा ही वेष पहले कभी कहीं न कहीं देखा है। उत्कट चिन्तन और कर्मों के क्षयोपशम से श्रेयांसकुमार को तत्काल जातिस्मरण-ज्ञान हो गया। जातिस्मरण-ज्ञान के प्रभाव से उन्हें प्रभु के वज्रनाभादि भवों के साथ अपने पूर्वभवों का और मुनि को निर्दोष आहार प्रदान करने की विधि का स्मरण हो आया। श्रेयांस ने तत्काल निर्दोष-विशुद्ध इक्षुरस का घड़ा उठाया

और प्रभु से निवेदन किया, “हे आदि प्रभो ! आदि तीर्थेश्वर ! जन्म-जन्म के आपके इस दास के हाथ से यह निर्दोष कल्पनीय इक्षुरस ग्रहण कर इसे कृतकृत्य कीजिये ।”

प्रभु ने करद्वयपुटकमयी अंजलि आगे की । श्रेयांस ने उत्कट श्रद्धा-भक्ति एवं भावनापूर्वक इक्षुरस प्रभु की अंजलि में उंडेला । इस प्रकार भ० ऋषभदेव ने बाहुबली के पौत्र इक्ष्वाकु कुल प्रदीप श्रेयांसकुमार के हाथों अपने प्रथम तप का पारणा किया । देवों ने गगनमण्डल से पंच दिव्यों की वृष्टि की । अहो दानम्, अहो दानम् ! के निर्घोषों, जयघोषों और दिव्य दुन्दुभि-निनादों से गगन गूँज उठा । दशों दिशाओं में हर्ष की लहरें सी व्याप्त हो गईं । राघ-शुक्ला अर्थात् वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन युवराज श्रेयांस ने भगवान् ऋषभदेव को प्रथम पारणाक में इक्षुरस का यह अक्षय दान दिया । इसी कारण वैशाख शुक्ला तृतीया लोक में उसी दिन से अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुई और वह अक्षय तृतीया का पर्व आज भी लोक में प्रचलित है ।

- यह है आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा विरचित त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र का उल्लेख जो पिछली आठ शताब्दियों से भी अधिक समय से लोकप्रिय रहा है ।

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि के समय के सम्बन्ध में अधिक कुछ कहने-लिखने की आवश्यकता नहीं, इतिहास प्रसिद्ध ये श्लोक ही पर्याप्त होंगे :-

शर-वेदेश्वरे (११४५) वर्षे, कार्तिके पूर्णिमानिशि ।

जन्माभवत् प्रभो-व्योम-बाण-शम्भो (११५०) व्रतं तथा ॥८५०॥

रस-षट्केश्वरे (११६६) सूरि-प्रतिष्ठा समजायत ।

नन्द-द्वय-रवौ (१२२६) वर्षेऽवसानमभवत् प्रभोः ॥८५१॥<sup>१</sup>

“आचार्य हेमचन्द्रसूरिने महान् ग्रन्थ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र की रचना अपनी आयु के अन्तिम वर्षों में की होगी”- डा० हर्मन जेकोबी के इस अभिमत के अनुसार मोटे तौर पर अनुमान किया जा सकता है कि इस वृहदाकार ग्रन्थ के प्रथम पर्व की रचना उन्होंने वि० सं० १२१० के आसपास किसी समय में की होगी । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आज से लगभग सवा आठ सौ वर्ष पूर्व जैनसंघ में इस प्रकार की मान्यता रूढ़ और लोकप्रिय थी कि भगवान् ऋषभदेव का प्रथम पारणाक अक्षय तृतीया के दिन हुआ था ।

यहाँ यह स्मरणीय है कि आचार्य हेमचन्द्र ने भ० ऋषभदेव की दीक्षा तिथि का उल्लेख करते हुए स्पष्टतः लिखा है कि भ० ऋषभदेव ने चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन चन्द्र का उत्तरापादा नक्षत्र के साथ योग होने पर अपराह्न काल में श्रावण की दीक्षा ग्रहण की । यथा :-

तदा च चैत्रबहुलाष्टम्यां चन्द्रमसि श्रिते ।

नक्षत्रमुत्तराषाढामह्नौ भागेऽथ पश्चिमे ॥६५॥<sup>२</sup>

<sup>१</sup> प्रभावकचरित्र

<sup>२</sup> वही



एतद्विषयक तीसरा उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के उल्लेख से लगभग २०० वर्ष और आज से १०२० वर्ष पूर्व का है। वह उल्लेख है अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त द्वारा प्रणीत दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ महापुराण का, जो इस प्रकार है :-

हेला : ता दुंदुहि रवेण भरियं दिसावसाणं ।

भरियाण सुरवरेहि भो साहु साहु दाणं ॥१॥

पंचवणमाणिककमिसिटी, घरप्रंगणि वसुहार वरिटी ।

णं दीसइ ससिरविबिबच्छिहि, कंठभट्ठ कंठिय राहलच्छिहि ।

मोहबद्धरावपेम्महिरी विव, सग्न सरोयहु णालसिरी विव ।

रयणसमुज्जलवरगयपंति व, दाणमहातरुहलसंपत्ति व ।

सेयंसहु घराणण सिउं जिय, उक्कहि उडमाला इव पंजिय !

पूरियसंवच्छरउववासे\*, अक्खयदाणु भरिउं परमेसे ।

तहु दिवसहु अत्थेण समायउ, अक्खयतइय णाउं संजायउ ।

घरु जायवि भरहें अहिणंदिउ, पढमु दाणतित्थंकरु वंदिउ ।

\* एम. एड्स आफ्टर दिस लाइन M. adds after this line :- (अर्थात् एम. नाम की प्रति में इस पंक्ति के आगे यह गाथा और लिखी हुई है :-

अहियं पक्ख तिणण सविसेसें, किंचूरो दिण कहिय जिणसें ।

भोयणवित्ती लहीय तमणासें, दाणतित्थु धोसिउ देवीसें ।<sup>१</sup>

महाकवि पुष्पदन्त ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ज्यों ही श्रेयांसकुमार ने अपने राजप्रासाद में भगवान् ऋषभदेव को इक्षुरस से पारणा करवाया त्यों ही दुन्दुभियों के घोष से दशों दिशाएँ पूरित हो गईं। देवों ने अहो दानम्, अहो दानम् एवं साधु-साधु के निर्घोष पुनः पुनः किये। श्रेयांस के प्रासाद के प्रांगण में दिव्य वसुधारा की ऐसी प्रबल वृष्टि हुई कि चारों ओर रत्नों की विशाल राशि दृष्टिगोचर होने लगी। प्रभु का संवत्सर तप पूर्ण हुआ और कुछ दिन कम साढ़ा तेरह मास के पश्चात् भोजनवृत्ति प्राप्त होने पर भगवान् ने प्रथम तप का पारणा किया। इस दान को अक्षयदान की संज्ञा दी गई। उसी दिन से प्रभु के पारणाक के उस दिन का नाम अक्षय तृतीया प्रचलित हुआ। भरत चक्रवर्ती ने श्रेयांसकुमार के घर जाकर उनका अभिनन्दन एवं सम्मान करते हुए कहा, "वत्स ! तुम इस अवसर्पणीकाल के दानतीर्थ के प्रथम संस्थापक हो, अतः तुम्हें प्रणाम है।"

पुष्पदन्तप्रणीत महापुराण के इस उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि जैनसंघ में यह मान्यता प्राचीन काल से चली आ रही है कि भगवान् ऋषभदेव का प्रथम पारणाक अक्षय तृतीया के दिन हुआ। जहाँ तक महापुराण के रचना-

<sup>१</sup> पुष्पदन्तप्रणीत "महापुराण के आदि पुराण की रिसहकेवलणाणुत्पत्ती नामक नवम अधि, पृ० १४८-१४९

काल का प्रश्न है, यह उस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ही प्रकट है कि महाकवि पुष्पदन्त ने सिद्धार्थ नामक शक संवत् ८८१, तदनुसार विक्रम सं० १०१६ में महापुराण की रचना प्रारम्भ की और ऋषभ शक संवत् ८८७ तदनुसार विक्रम सं० १०२२ में इस रचना को पूर्ण किया। महाकवि पुष्पदन्त मान्यखेट के राष्ट्रकूटवंशीय राजा कृष्णराज तृतीय के मन्त्री भरत के आश्रित कवि थे।

इतिहास में कृष्णराज तृतीय का राज्यकाल वि० सं० ६६६ से १०२५ तक माना गया है। कृष्णराज तृतीय की मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा भाई खोटिटगदेव मान्यखेट के राजसिंहासन पर बैठा। वि० सं० १०२६ में मालवराज धाराधिपति हर्षदेव ने मान्यखेट पर आक्रमण कर उसे लूटा, नष्ट किया और इस प्रकार मान्यखेट का राज्य राष्ट्रकूटवंशीय राजाओं के हाथ से निकल गया। इस ऐतिहासिक घटना का उल्लेख स्वयं महाकवि पुष्पदन्त ने महापुराण में स्थान-स्थान पर दिये प्रशस्ति के कतिपय स्फुट श्लोकों में से एक श्लोक में तथा उनके समकालीन विद्वान् धनपाल ने अपनी "पाइयलच्छीनाममाला"<sup>१</sup> में किया है।

परस्पर पूर्णतः परिपुष्ट इन ऐतिहासिक तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि आज से १०२० वर्ष पहले, जिस समय महाकवि पुष्पदन्त ने महापुराण की रचना प्रारम्भ की, उस समय जैनसंघ में यह मान्यता व्यापक रूप से लोकप्रिय, रूढ़ एवं प्रचलित थी कि भ० ऋषभदेव का प्रथम पारणाक वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन हुआ था और युगादि के वर्गविहीन सम्पूर्ण मानव समाज ने अपने सार्वभौम लोकनायक, मानव संस्कृति के संस्थापक एवं अपने अनन्य उपकारी आदि देव के पारणाक के दिन को अक्षय तृतीया के पावन पर्व के रूप में मनाना युगादि में ही प्रारम्भ कर दिया था।

<sup>१</sup> दीनानाथधनं बहुजनं प्रोत्फुल्लवल्लीवनं,

मान्याखेटपुरं पुरंदरपुरीलीलाहरं सुन्दरम् ।

धारानाथनरेन्द्रकोपशिखिना दग्धं विदग्धप्रियं,

क्वेदानीं वसति करिष्यति पुनः श्रीपुष्पदन्तः कविः ॥

पूना और करंजा की प्रतियों में ५०वीं संधि और जयपुर की हस्तलिखित प्रति की ५२वीं संधि में उल्लिखित - देखिये : - महापुराण का इन्द्रोद्घाटन, पी० एल० बंध द्वारा प्रस्तुत, पृ० २५

<sup>२</sup> विक्रमकालस्स गण, अउणत्तीसुत्तरे सहस्संमि (वि० सं० १०२६)

मालवन्तरिदधाडीए, लूडिये मन्खेडंमि ।

धारा नथरीए परिठिएण मग्गे ठियाए अणवज्जे,

कज्जे कसिण्ठ बहिणीए, सुंदरी नामधिज्जाए ।

कइणो अंध जण किवा कुसल ति पयाणमंतिया वण्णा, (धणवाल-धनपाल)

नामम्मि जस्स कमसो, तेणसा विरइया देसी । ।

-पाइयलच्छीनाममाला-

भ० ऋषभदेव के प्रथम तप के सम्बन्ध में यह तथ्य सदा ध्यान में रखने योग्य है कि प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करते समय जो तप अंगीकार किया था, वह श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार बेले का और दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार ६ मास का तप था, न कि संवत्सर तप अर्थात् एक वर्ष अथवा उससे अधिक का। उस समय के लोग साधुओं को आहार प्रदान करने की विधि से अनभिज्ञ थे अतः प्रभु का वह स्वतः आचीर्ण तप उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और एक वर्ष से भी अधिक अवधि व्यतीत हो जाने के पश्चात् प्रथम तप का पारणा हुआ। अधिकतम तप के सम्बन्ध में, दोनों परम्पराओं की क्रमशः बारह मास और ६ मास के उत्कृष्ट तप की जो सीमाएँ थीं, उन सीमाओं को प्रभु ऋषभदेव का प्रथम तप परिस्थितिवशात् लांघ गया था। जिस प्रकार दिगम्बर परम्परा में तप की सीमा ६ मास की ही मानी गई है पर प्रभु आदिनाथ का प्रथम तप तत्कालीन परिस्थितियों के कारण उस सीमा का अतिक्रमण कर गया, उसी प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में तप की जो उत्कृष्टतम सीमा १२ मास मानी गई है, उस सीमा को उस समय की परिस्थितियों के कारण आदि प्रभु का प्रथम तप लांघ गया।

वस्तुतः देखा जाय तो मानवता पर भगवान् ऋषभदेव के असीम महान् उपकार हैं। प्रकृति की सुखद गोद में पले और अपने जीवन की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिये केवल प्रकृति पर निर्भर करने वाले प्रकृतिपुत्र यौगलिक-मानव-समाज के सिर पर से जब प्रकृति ने अपना हाथ उठा लिया, उस समय आदि लोकनायक ऋषभदेव ने उन प्रकृतिपुत्रों पर अपना वरद हस्त रखा। जीवनयापन की कला से नितान्त अनभिज्ञ उन लोगों को सुखी और सम्पन्न सांसारिक जीवनयापन के लिये परमावश्यक अग्नि, मसि एवं कृषि कर्मों और सभी प्रकार की कलाओं का ज्ञान देकर उन्होंने प्रकृतिपुत्रों को स्वावलम्बी आत्मनिर्भर पौरुषपुत्र बनाया। परावलम्बिनी मानवता को भौतिक क्षेत्र में स्वावलम्बिनी बनाने के पश्चात् उन्होंने जन्म-जरा-मृत्यु के दुःखों से सदा-सर्वदा के लिये छुटकारा दिलाने वाले सत्पथ को प्रकट करने हेतु उत्कट साधना की। साधना द्वारा कैवल्योपलब्धि के अनन्तर उन्होंने प्राणीमात्र के कल्याण के लिये भवार्णव-से पार उतारने वाले मुक्तिसेतु धर्मतीर्थ की प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल में सर्वप्रथम स्थापना की। भ० ऋषभदेव द्वारा स्थापित किये गये धर्मतीर्थ की शरण ग्रहण कर अनादिकाल से जन्म-मरण की विकराल चक्की में पिस्तै आ रहे अनेकानेक भव्य प्राणियों ने जन्म-मरण के बीजभूत आठों कर्मों को क्षय कर शाश्वत सुखधाम अजरामर पद प्राप्त किया। भ० ऋषभदेव ने एक ऐसी सुखद-सुन्दर मानव संस्कृति का सूत्रपात किया, जो सहस्रस्तित्व, विश्वबन्धुत्व आदि उच्चकोटि के उत्तमोत्तम मानवीय गुणों से ओतप्रोत और प्राणीमात्र के लिये, इह लोक एवं पर लोक, दोनों ही लोकों में कल्याणकारिणी थी। मानव समाज अपने हृदयसम्राट महाराजा अथवा लोकनायक ऋषभदेव द्वारा

गये कर्मक्षेत्र के पथ पर आरूढ़ हो जिस प्रकार सुख-समृद्धि-प्रतिष्ठा और वैभव के सर्वोच्च सिंहासन पर आसीन हुआ, उसी प्रकार कैवल्योपलब्धि के अनन्तर भावतीर्थकर बने अपने धर्मनायक भगवान् ऋषभदेव द्वारा स्थापित किये गये धर्मपथ पर आरूढ़ हो आध्यात्मिक क्षेत्र में भी उन्नति के उच्चतम आसन पर अधिष्ठित हुआ ।

भगवान् ऋषभदेव द्वारा मानवता के प्रति किये गये इन असीम अनुपम उपकारों से उपकृत उस समय की वर्गविहीन मानवता के मानवमात्र ने भगवान् ऋषभदेव को अपना सार्वभौम लोकनायक, सार्वभौम धर्मनायक, वाता, धाता, भाग्यविधाता और भगवान् माना । सभी धर्मों के प्राचीन धर्मग्रन्थों में भगवान् ऋषभदेव का वही सार्वभौम स्थान है, जो जैन धर्मग्रन्थों में है । ऋग्वेद, एवं अथर्ववेद में ऋषभ का गुणगान है । श्रीमद्भागवत, शिवपुराण, कूर्मपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण आदि वैष्णव परम्परा के पुराण नाभिनन्दन ऋषभदेव की यशोगाथाओं से भरे हैं । पुराणों में उन्हें भगवान् का आठवाँ अवतार माना गया है । मनुस्मृति में उनका यशोगान है । बौद्ध ग्रन्थ “आर्य मंजुश्री” में उनकी यशोगाथा है । महाकवि सूरदास ने अपने भक्तिरस से श्रोतप्रोत ग्रन्थ सूरसागर में ऋषभ की स्तुति की है । इससे प्रकट है कि भ० ऋषभदेव मानवमात्र के आराध्य थे । कोटि-कोटि मानव आज बड़ी श्रद्धा के साथ वावा आदम के नाम से जिन्हें याद करते हैं, वह भी देखा जाय तो भ० ऋषभ की अस्फुट स्मृति का ही प्रतीक है । विश्वास किया जाता है कि युगादि में मानव ममाज ने अपने परमोपकारी महाप्रभु ऋषभदेव की स्मृति में उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं को लेकर पर्व प्रचलित किये । उनमें से कतिपय तो काल की पतं में तिरोहित हो गये और कतिपय आज भी प्रचलित हैं । अक्षय तृतीया का पर्व प्रभु के प्रथम पारणाक के समय श्रेयांसकुमार द्वारा दिये गये प्रथम अक्षय दान से सम्बन्धित है, इस प्रकार का आभास वाचस्पत्यभिधान के निम्नलिखित श्लोकों से होता है :-

वंशाखमामि राजेन्द्र, शुक्लपक्षे तृतीयका ।

अक्षया सा तिथि प्रोक्ता, कृतिकारोहिणीयुता ॥

नस्यां दानादिकं सर्वमक्षयं समुदाहृतम् ।....

श्रेयांसकुमार के द्वारा दिये गये अक्षय और महान् सुपात्रदान के अतिरिक्त और कोई इस प्रकार का दान दिये जाने का भारतीय धर्म ग्रन्थों में उल्लेख नहीं मिलता ।

इन सब प्राचीन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि भगवान् का प्रथम पारणाक अक्षय तृतीया के दिन हुआ ।

### केवलज्ञान की प्राप्ति

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् प्रभु एक हजार वर्ष तक ग्रामानुशाम विचरते हुए तपश्चरणा द्वारा आत्मस्वरूप को प्रकाशित करते रहे । अन्त में प्रभु

पुरिमताल नगर के बाहर शकटमुख नामक उद्यान में पधारें। वहाँ फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन<sup>१</sup> अष्टम तप के साथ दिन के पूर्व भाग में, उत्तराषाढा नक्षत्र के योग में प्रभु ध्यानारूढ़ हुए और क्षपक श्रेणी से चार घातिक कर्मों को नष्ट कर आपने केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि की। देव एवं देवपतियों ने केवलज्ञान का महोत्सव किया। केवलज्ञान की प्राप्ति एक वटवृक्ष के नीचे हुई, अतः आज भी वटवृक्ष देश में आदर एवं गौरव की दृष्टि से देखा एवं प्रभु आदिनाथ का चैत्यवृक्ष माना जाता है।

केवलज्ञान की प्राप्ति से अब भगवान् भाव अरिहन्त होगये। अरिहन्त होने पर आपमें बारह गुण प्रकट हुए, जो इस प्रकार हैं:—

(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त चारित्र्य यानी वीतराग भाव, (४) अनन्त बल-वीर्य, (५) अशोक वृक्ष, (६) देवकृत पुष्प-वृष्टि, (७) दिव्य-ध्वनि, (८) चामर, (९) स्फटिक-सिंहासन, (१०) छत्र-त्रय, (११) आकाश में देव-दुन्दुभि और (१२) भामण्डल।

पाँच से बारह तक के आठ गुणों को प्रातिहार्य<sup>२</sup> कहा गया है। भक्तिवश देवों द्वारा यह महिमा की जाती है।

### तीर्थकरों की विशेषता

सामान्य केवली की अपेक्षा अरिहन्त तीर्थकर में खास विशेषताएं होती हैं। आचार्यों ने मूलभूत चार अतिशय<sup>३</sup> बतलाये हैं। यद्यपि वीतरागता और सर्वज्ञता, तीर्थकर और सामान्य केवली में समान होती हैं पर तीर्थकर की प्रभावोत्पादक अन्य भी विशेषताएं अतिशय रूप में होती हैं, जिनके लिए सगवायांग सूत्र में “चौतीसं बुद्धाइसेसा” और “पणतीसं सच्चवयणाइसेसा पण्णाता” कहा गया है। श्वेताम्बर परम्परा में शास्त्रोक्त चौतीस अतिशय इस प्रकार हैं:—

### तीर्थकरों के चौतीस अतिशय

- |     |               |                    |   |
|-----|---------------|--------------------|---|
| (१) | अतट्ठए        | केसमंसुरोमनहे      | केश रोम और स्मश्रु का अवस्थित रहना।               |
| (२) | निरामया       | निरुवलेवा गायलट्टी | शरीर का रोगरहित एवं निर्लेप होना।                 |
| (३) | गोबखीरपंडुरे  | मंससोरिणए          | गौ-दुग्ध की तरह रक्त-मांस का श्वेत होना।          |
| (४) | पउमुप्पलगंधिए | उस्सास-निस्सासे    | श्वासोच्छ्वास का उत्पल कमल की तरह सुगन्धित होना।  |
| (५) | पच्छन्ने      | आहारनीहारे अदिस्से | आहार नीहार प्रच्छन्न-अर्थात् चर्मचक्षु मंसचक्खुणा |
|     |               |                    | से अदृश्य होना।                                   |

<sup>१</sup> कल्पसूत्र १६६, पृ० ५८ तथा आवश्यक नि० गाथा २६३।

<sup>२</sup> अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिदिव्यध्वनिश्चामरभागतं च।

<sup>३</sup> अण्डल दन्दभिरानपत्रं मन्त्रानिहार्याणि जिनेश्वरागाम् ॥

<sup>४</sup> अथायापगमानिशयो - ज्ञानानिशयो - पूजानिशयो वागानिशयश्च।

- ( ६ ) आगासगयंचक्कं आकाशगत चक्र होना ।
- ( ७ ) आगासगयं छत्तं आकाशगत छत्र होना ।
- ( ८ ) आगासगयाओ सेयवर आकाशगत श्वेत चामर होना ।  
चामराओ
- ( ९ ) आगासफालिआमयं सपायपीढं आकाशस्थ सपादपीठ स्फटिक  
सीहासणं सिंहासन ।
- ( १० ) आगासगओ कुडभीसहस्सपरि- हजार पताका वाले इन्द्रध्वज का  
मंडिआभिरामो इन्दज्जओ आकाश में आगे चलना ।  
पुरओ गच्छइ
- ( ११ ) जत्थ जत्थ वि य णं अरहंतो अर्हन्त भगवान् जहां जहां ठहरें, वहां  
भगवन्तो चिट्ठंति वा निसीयंति वहां तत्काल फूल-फल युक्त अशोक वृक्ष  
वा तत्थ तत्थ वियणं तक्खणा- का होना ।  
देव संछन्नपत्तेपुप्फपल्लव समा-  
उलो सच्छत्तो सज्जओ सघंटो  
सपडागो असोगवरपायवो  
अभिसंजायई
- ( १२ ) ईसि पिट्ठओ मउडठाणंमि भगवान् के थोड़ा पीछे की ओर मुकुट  
तेयमंडलं अभिसंजायइ अंधयारे के स्थान पर तेजोमंडल होना जो  
वि य णं दस दिसाओ पभासेइ दिशाओं को प्रकाशित करता है ।
- ( १३ ) बहुसभरमणिज्जे भूमिभागे भूमि-भाग का रमणीक होना ।
- ( १४ ) अहोसिरा कंटया जायति कांटों का अधोमुख होना ।
- ( १५ ) उऊ विवरोया सुहफासा भवति ऋतुओं का सब प्रकार से सुखदायी  
होना ।
- ( १६ ) सीयलेणं सुहफासेणं सुरभिणा शीतल-सुखद-सुगन्धित वायु द्वारा चारों  
मारुएणं जोयणपरिमंडलं ओर चार-चार कोस तक भूमि का  
सव्वओ समंता संपमज्जिज्जइ स्वच्छ होना ।
- ( १७ ) जुत्तफुसिएणं मेहेण य निहयर- जल-बिन्दुओं से भूमि की धूल का  
यरेण्यं किज्जइ शमन होना ।
- ( १८ ) जलथलयभासुरपभूतेणं पांच प्रकार के अचित्त फूलों का जानु  
विट्ठठाइणा दसद्ववण्णेणं प्रमाण ढेर लगना ।  
कुसुमेणं जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते  
(अचिन्ते)पुप्फोवधारे किज्जइ
- ( १९ ) अमणुणंगाणं सदफरिसरस- अशुभ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श  
रुवगंधाणं अवकरिसो भवइ का अपकर्ष होना ।

- (२०) मणुष्णाराणं सहफरिसरसरूव-  
गंधाराणं पाउब्भाओ भवइ शुभ वरुणं, गन्ध, रस एवं स्पर्श आदि  
का प्रकट होना ।
- (२१) पच्चाहरओ वि य णं हियय-  
गमणीओ जोयणानीहारी सरो बोलते समय भगवान् के गंभीर स्वर  
का एक योजन तक पहुँचना ।
- (२२) भगवं च णं अद्धमागहीए  
भासाए धम्ममाइक्खइ अद्धमागधी भाषा में भगवान् का धर्म-  
प्रवचन फरमाना ।
- (२३) सा वि य णं अद्धमागही भासा  
भासिज्जमाणी तेसि सव्वेसि अद्धमागधी भाषा का आर्य, अनार्य,  
मनुष्य और एशुओं की अपनी-अपनी  
आरियमणारियाणं दुप्पय-  
चउप्पअमियपसुपक्खिसरी-  
सिवाणं अप्पणो हियसिव भाषा के रूप में परिणत होना ।  
सुहयभासत्ताए परिणमइ
- (२४) पुव्वबद्धवेरा वि य णं देवासुर-  
नागसुवण्णाजक्खरक्खसकिन्नर-  
किंपुरिसगरुलगन्धक्वमहोरगा भगवान् के चरणों में पूर्व के वैरी देव,  
असुर आदि का वैर भूल कर प्रसन्न मन  
अरहओ पायमूले पसंतचित्त-  
माणसा धम्मं निसामंति से धर्म श्रवण करना ।
- (२५) अण्णउत्थियपावयणिया वि य  
णामागया वंदंति अन्य तीर्थ के वादियों का भी भगवान्  
के चरणों में आकर वन्दन करना ।
- (२६) आगया समाणा अरहओ पाय-  
मूले निप्पलिवयणा हवंति वाद के लिए आये हुए प्रतिवादी का  
निरुत्तर हो जाना ।
- (२७) जओ जओ वि य णं अरहंतो  
भगवन्तो विहरंति तओ तओ जहां जहां भगवान् विचरण करें, वहां-  
वि य णं जोयणपणवीसाए णं वहां से २५ (पच्चीस) योजन तक ईति  
ईति न भवई नहीं होती ।
- (२८) मारी न भवइ जहां जहां भगवान् विचरण करें, वहां-  
वहां से २५ योजन तक मारी नहीं होती।
- (२९) सचक्कं न भवइ जहां जहां भगवान् विचरण करें, वहां-  
वहां स्वचक्र का भय नहीं होता ।
- (३०) परचक्कं न भवइ जहां जहां भगवान् विचरण करें, वहां-  
वहां पर-चक्र का भय नहीं होता ।
- (३१) अइवुट्ठी न भवइ जहां जहां भगवान् विचरण करें, वहां-  
वहां अतिवृष्टि नहीं होती ।

- (३२) अणावुट्ठी न भवइ जहां-जहां भगवान् विचरण करें, वहां-वहां अनावृष्टि नहीं होती ।
- (३३) दुग्भिक्षं न भवइ जहां-जहां भगवान् विचरण करें, वहां-वहां दुग्भिक्ष नहीं होता ।
- (३४) पुब्बुप्पणा वि य रां उप्पाइया वाही खिप्पमिव उवसमंति ।<sup>१</sup> जहां-जहां भगवान् विचरण करें, वहां-वहां पूर्वोत्पन्न उत्पात भी शीघ्र शान्त हो जाते हैं ।<sup>२</sup>

दिग्म्बर परम्परा में ३४ अतिशयों का वर्णन इस प्रकार किया गया है :-  
जन्म के १० अतिशय <sup>३</sup> :-

- |   |  |
|---|--|
| ( १ ) स्वेदरहित तन  | ( ६ ) प्रथम उत्तम संहनन  |
| ( २ ) निर्मल शरीर   | ( ७ ) प्रथम उत्तम संस्थान  |
| ( ३ ) दूध की तरह रुधिर का श्वेत होना                                    | ( ८ ) एक हजार आठ ( १००८ ) लक्षण  |
| ( ४ ) अतिशय रूपवान् शरीर  | ( ९ ) अमित बल  |
| ( ५ ) सुगन्धित तन<br>केवलज्ञान के १० अतिशय <sup>४</sup> :-              | ( १० ) हित-प्रिय वचन ।   |
| १ ) भगवान् विचरें वहां-वहां सौ-सौ कोस तक सुभिक्ष होना ( ईति नहीं होना ) | ( २ ) आकाश में गमन<br>( ३ ) भगवान् के चरणों में प्राणियों का निर्भय होना |

<sup>१</sup> मुस्तागम पृ० ३४५-४६ [समवायांग, समवाय १११]

<sup>२</sup> पाठान्तर में काला, अग्रह आदि से गद्यमद्यायमान रमणीय भू-भाग को उष्णिसवां और तीर्थकर के दोनों ओर दो यक्षों द्वारा चेंबर ढूलाने को बीसवां अतिशय माना है किन्तु बृहद्वाचना में नहीं होने से इन्हें यहां स्वीकार नहीं किया है ।

दूसरे से पाँचवें तक चार अतिशय जन्म के, १६ (उन्नीस) देवकृत और ग्यारह केवलज्ञानभावी माने हैं । [समवायांग वृत्ति]

<sup>३</sup> नित्यं निःस्वेदत्वं, निर्मलता क्षीरपौररुधिरत्वं च ।

स्वाद्याकृति संहनने, सौख्यं सौरमं च सौलक्ष्यम् ॥१॥

अप्रमितवीर्यता च प्रियहित-वादित्वमन्यदमित गुणस्य ।

प्रथिता दश ख्याता स्वतिशयधर्मा स्वयंभुवोदंहस्य ॥२॥

<sup>४</sup> गव्युतिशत चतुष्टय-सुभिक्षता-गमन-ममनमप्राणिवधः ।

भुक्त्युपमर्माभावश्चतुरास्यत्वं च सर्वविद्येश्वरता ॥३॥

प्रच्छायत्वमपक्षमस्पन्दश्च समप्रसिद्ध-नखकेशत्वम् ।

स्वतिशयगुणाः भगवतो धातिशयजाः भवंति तेऽपि दशैव ॥४॥

[नन्दीश्वर भक्ति]



- ( ४ ) कवलाहार (स्थूल आहार) का शरीर का निर्मल और छाया नहीं होना ।  
 ( ५ ) भगवान् पर कोई उपसर्ग नहीं ( ६ ) नेत्रों के पलकों का नहीं होना,  
 ( ६ ) समवसरण में चतुर्मुख दिखना, ( १० ) नख-केशों का सम होना ।  
 ( ७ ) अनन्त ज्ञान के कारण सर्व विद्याओं का ईश्वर होना,

देव-कृत १४ अतिशय<sup>२</sup> :—

- ( १ ) चट्टे दिशाओं का निर्मल होना ।  
 ( २ ) आकाश का मेघरहित व स्वच्छ होना ।  
 ( ३ ) पृथ्वी का धन-धान्य आदि से भरा पूरा होना ।  
 ( ४ ) सुगन्धित वायु का चलना ।  
 ( ५ ) देवताओं द्वारा सुगन्धित जलवृष्टि होना ।  
 ( ६ ) योजनपर्यन्त पृथ्वी का दर्पण सम उज्ज्वल होना ।  
 ( ७ ) विहार के समय चरणों के नीचे कमल की रचना होना ।  
 ( ८ ) आकाश में जय-जयकार होना ।  
 ( ९ ) सम्पूर्ण जीवों को परम आनन्द का प्राप्त होना ।  
 ( १० ) पृथ्वी का कण्टक पाषाणादि से रहित होना ।  
 ( ११ ) सहस्रार वाले धर्मचक्र का आगे चलना ।  
 ( १२ ) विरोधी जीवों में परस्पर मैत्री होना ।  
 ( १३ ) ध्वजासहित अष्टमंगल का विहार के समय आगे चलना ।  
 ( १४ ) अर्धमागधी वाणी द्वारा भव्य जीवों को तृप्त करना ।

### श्वेताम्बर व दिगम्बर परम्पराओं का तुलनात्मक विवेचन

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के अतिशयों में संख्या समान होने पर भी निम्नलिखित अन्तर है :—

<sup>१</sup> केवली भगवान् के कवलाहार का अभाव पाया जाता है । उनकी आत्मा का इतना विकास हो चुका होता है कि स्थूल भोजन द्वारा उनके दृश्यमान देह का संरक्षण अनावश्यक हो जाता है । उनके शरीर-रक्षण के निमित्त बल प्रदान करने वाले सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का आवागमन बिना प्रयत्न के हुआ करता है ।

<sup>२</sup> देवकृत चौदह अतिशय :—

देव रचित है चारदश, अर्धमागधी भाषा । आपस माहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश ॥

होत फूल फल ऋतु सबें, पृथिवी काच समान ।

चरण कमल तल कमल है, नभ तैं जय जय बान ॥

मन्द सुगन्ध बयारि पुनि, गंधोदक की वृष्टि । भूमि विषै कण्टक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि ॥

धर्मचक्र आगे रहैं, पुनि बसु मंगलसार । अतिशय श्री अरहंत के.....॥

श्वेताम्बर ग्रन्थ समवायांग में तीर्थंकरों के आहार-नीहार को चर्मचक्षु द्वारा अदृश्य-प्रच्छन्न माना है, इसके स्थान पर दिगम्बर परम्परा में स्थूल आहार का अभाव और नीहार नहीं होना, इस तरह दोनों अलग अतिशय मान्य किये हैं।

समवायांग के छठे अतिशय से ग्यारहवें तक अर्थात् आकाशगत चक्र से अशोक वृक्ष तक के नाम दिगम्बर परम्परा में नहीं हैं। इनके स्थान पर निर्मल दिशा, स्वच्छ आकाश, चरण के नीचे स्वर्ण-कमल, आकाश में जयजयकार, जीवों के लिए आनन्ददायक, आकाश में धर्मचक्र का चलना व अष्ट मंगल, ये ७ अतिशय माने गये हैं।

शरीर के सात अतिशय :—

- |                      |                               |
|----------------------|-------------------------------|
| (१) स्वेद रहित शरीर, | (५) १००८ लक्षण,               |
| (२) अतिशय रूप,       | (६) अनन्त बल और               |
| (३) प्रथम संहनन,     | (७) हित-प्रिय वचन—जो दिगम्बर  |
| (४) प्रथम संस्थान,   | परम्परा में मान्य हैं, पर सम- |
- वायांग में नहीं हैं।

समवायांग के तेजो भामण्डल के स्थान पर दिगम्बर परम्परा में केवली अवस्था का चतुर्मुख अतिशय माना है और समवायांग के बहुसमरमणीय भूमि-भाग के स्थान पर पृथ्वी की उज्ज्वलता और शस्य-श्यामलता—ये दो अतिशय माने गये हैं।

केवलज्ञान के अतिशयों में समवायांग द्वारा वर्णित, अन्य तीर्थ के वादियों का आकर वन्दन करता और बाद में निरुत्तर होना, इन दो अतिशयों के स्थान पर दिगम्बर परम्परा में एक ही अतिशय, सर्व विद्वेश्वरता माना है।

फिर पच्चीस योजन तक ईति आदि नहीं होना, इस प्रसंग के सात अतिशयों के स्थान पर दिगम्बर परम्परा में सुभिक्ष होना, यह केवल एक ही अतिशय माना गया है।

उपसर्ग का अभाव और समवसरण में प्राणियों की निर्वैर वृत्ति ये दोनों अतिशय दोनों परम्पराओं में समान रूप से मान्य हैं।

छाया-रहित शरीर, आकाशगमन और निनिमेष चक्षु ये तीन अतिशय जो दिगम्बर परम्परा में मान्य हैं, श्वेताम्बर ग्रन्थ समवायांग में नहीं हैं।

इस तरह संकोच, विस्तार एवं सामान्य दृष्टिभेद को छोड़कर दोनों परम्पराओं में ३४ अतिशय माने गये हैं। प्रत्येक तीर्थंकर इन चौतीस अतिशयों से सम्पन्न होते हैं।

### तीर्थंकर की वाणी के ३५ गुण

समवसरण में तीर्थंकर भगवान् की मेघ सी वाणी पैंतीस अतिशयों के साथ अविरलरूप से प्रवाहित होती है। वे पैंतीस अतिशय इस प्रकार हैं :—

- |   |   |
|---|---|
| (१) लक्षणयुक्त हो,                              | (२०) मर्मवेधी न हो,   |
| (२) उच्च स्वभावयुक्त हो,                        | (२१) धर्मार्थरूप पुरुषार्थ की पुष्टि करने वाली हो,              |
| (३) ग्रामीणता यानी हल्के शब्दादि से रहित हो,    | (२२) अभिधेय अर्थ की गम्भीरता वाली हो,                           |
| (४) मेष जैसी गम्भीर हो,                         | (२३) आत्म-प्रणसा व पर-निन्दा रहित हो,                           |
| (५) अनुनाद अर्थात् प्रतिध्वनियुक्त हो,          | (२४) श्लाघनीय हो,   |
| (६) वक्रता-दोष-रहित सरल हो,                     | (२५) कारक, काल, वचन और लिंग आदि के दोषों से रहित हो,            |
| (७) मालकोशादि राग-सहित हो,                      | (२६) श्रोताओं के मन में आश्चर्य पैदा करने वाली हो,              |
| (८) अर्थ-गम्भीर हो,                             | (२७) अद्भुत अर्थ-रचना वाली हो,                                  |
| (९) पूर्वापर विरोधरहित हो,                      | (२८) विलम्बरहित हो,   |
| (१०) शिष्टतासूचक हो,                            | (२९) विभ्रमादि दोषरहित हो,                                      |
| (११) सन्देहरहित हो,                             | (३०) विचित्र अर्थ वाली हो,                                      |
| (१२) पर-दोषों को प्रकट न करने वाली हो,          | (३१) अन्य वचनों से विशेषता वाली हो,                             |
| (१३) श्रोताओं के हृदय को आनन्द देने वाली हो,    | (३२) वस्तुस्वरूप को साकार रूप में प्रस्तुत करने वाली हो,        |
| (१४) बड़ी विचक्षणता से देण काल के अनुसार हो,    | (३३) सत्वप्रधान व साहसयुक्त हो,                                 |
| (१५) विवक्षित विषयानुसारी हो,                   | (३४) स्व-पर के लिए खेदरहित हो, और                               |
| (१६) असम्बद्ध व अतिविस्तार रहित हो,             | (३५) विवक्षित अर्थ की सम्यक्सिद्धि तक अविच्छिन्न अर्थ वाली हो । |
| (१७) परस्पर पद एवं वाक्या-नुसारिणी हो,          |   |
| (१८) प्रतिपाद्य विषय का उल्लंघन करने वाली न हो, |   |
| (१९) अमृत से भी अधिक मधुर हो,                   |   |

### भरत का विवेक

जिस समय भगवान् ऋषभदेव की केवलज्ञान की उपलब्धि हुई उस समय सम्पूर्ण लोक में ज्ञान का उद्योत हो गया । नरेन्द्र और देवेन्द्र भी केवल-कल्याणक का उत्सव मनाने के लिये प्रभु की सेवा में उपस्थित हुए ।

सम्राट् भरत को जिस समय प्रभु के केवलज्ञान की सूचना मिली, उसी समय एक दूत ने आकर आयुधशाला में चक्र-रत्न उत्पन्न होने की शुभ सूचना भी दी ।<sup>१</sup>

आचार्य जिनसेन के अनुसार उसी समय उन्हें पुत्र-रत्न-लाभ की तीसरी शुभ सूचना भी प्राप्त हुई ।

१. (क) कल्पसूत्र १६६, पृ० ५८ (ख) भावश्यक नि० गःथा २६३ ।

एक साथ तीनों शुभ सूचनाएं पाकर महाराजा भरत क्षण भर के लिये विचार में पड़ गये कि प्रथम चक्र-रत्न की पूजा की जाय या पुत्र-जन्म का उत्सव मनाया जाय अथवा प्रभु के केवलज्ञान को महिमा का उत्सव मनाया जाय ?

क्षण भर में ही विवेक के आलोक में उन्होंने निर्णय किया—“चक्र-रत्न और पुत्र-रत्न की प्राप्ति तो अर्थ एवं काम का फल है, पर प्रभु का केवलज्ञान धर्म का फल है। प्रारम्भ की दोनों वस्तुएं नश्वर हैं, जबकि तीसरी अनश्वर। अतः चक्र-रत्न या पुत्र-रत्न का महोत्सव मनाने के पहले मुझे प्रथम प्रभुचरणों की वन्दना और उपासना करनी चाहिये, क्योंकि वही सब कल्याणों का मूल और महालाभ का कारण है। पहले के दोनों लाभ भौतिक होने के कारण क्षण-विध्वंसी हैं, जब कि भगवच्चरणवन्दन आध्यात्मिक होने से आत्मा के लिये सदा श्रेयस्कर है।” यह सोचकर चक्रवर्ती भरत प्रभु के चरण-वन्दन को चल पड़े।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में उपरिवर्णित तीन शुभ सूचनाओं में से केवल चक्ररत्न के प्रकट होने की बधाई आयुधशाला के रक्षक द्वारा भरत को दिये जाने का ही उल्लेख है। भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति तथा भरत-चक्रवर्ती के पुत्ररत्न के जन्म की बधाई दिये जाने का जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में उल्लेख नहीं है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भरत चक्रवर्ती के विवरण को पढ़ने से स्पष्टतः प्रकट होता है कि उसमें भरत के जीवनचरित्र का अति संक्षेप में और उनके द्वारा षट्खण्ड साधना का मुख्य रूप से विस्तारपूर्वक विवरण दिया गया है। संभव है, इसी कारण इन दो घटनाओं का उल्लेख जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में नहीं किया गया हो।

### आदि प्रभु का समवसरण

केवलज्ञान द्वारा ज्ञान की पूर्ण ज्योति पा लेने के पश्चात् भगवान् ने जहाँ प्रथम देशना दी, उस स्थान और उपदेश-श्रवणार्थ उपस्थित जन समुदाय देव-देवी, नर-नारी, तिर्यंच समुदाय को समवसरण कहते हैं।

‘समवसरण’ पद की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने कहा है—“सम्यग् एकीभावेन अवसरणमेकत्र गमनं-मेलापकः समवसरणम्।”<sup>१</sup> अर्थात्-अच्छी तरह एक स्थान पर मिलना अथवा साधु-साध्वी आदि संघ का एकत्र मिलना एवं व्याख्यान-सभा समवसरण कहाते हैं।

‘भगवती सूत्र’ में क्रियावादी, अक्रियावादी अज्ञानवादी, विनयवादी, रूपवादियों के समुदाय को भी समवसरण कहा है। यहाँ पर तीर्थंकर के प्रवचन-सभा रूप समवसरण का ही विचार इष्ट है।

तीर्थंकर की प्रवचनसभा के लिये आचार्यों की मान्यता है कि भगवान्

१. (क) आवश्यक चू० पृ० १८१ (ख) तत्र धर्मफलं तीर्थं, पुत्रः स्यात् कामजं फलम्।

अर्थानुबन्धिनोऽर्थस्य फलं चक्रं प्रभास्वरम्। महापुराण २४।६।१७३।

२. अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ७, पृ० ४६०

तीर्थंकर का जहाँ समवसरण होता है, वहाँ चार-चार कोस तक देवगण भूमि को संवर्त वायु से स्वच्छ और दिव्य पुष्पवर्षा से पुवासित करते हैं। समवसरण की भूमि में देवेन्द्रों द्वारा रत्नों से चित्रित तीन प्राकार बनाये जाते हैं। पहला रत्नमय प्राकार वैमानिक देवों द्वारा बनाया जाता है। इसी प्रकार सुवर्णमय दूसरा प्राकार ज्योतिष्क देवों द्वारा और तीसरा रजतमय प्राकार भवनपति देवों द्वारा निर्मित किया जाता है।

तीनों प्राकारों पर वैमानिक, ज्योतिष्क और भवनपति देवों द्वारा अनुक्रमशः रत्नादिमय तीन प्रकार के कंगूरे बनाये जाते हैं। व्यन्तरदेव ध्वजा, पताका युक्त तोरण और मनोहर धूपघड़ियों की व्यवस्था करते हैं।

प्रथम-आभ्यन्तर प्राकार के मध्यभाग में अशोक वृक्ष के नीचे तीर्थंकर देव के विराजमान होने के लिये चैत्यवृक्ष के नीचे रत्नमय पीठ पर देवछंदक और उस देवछंदक में उच्च सिंहासन की रचना वैमानिक देवों द्वारा की जाती है। उस देवछंदक में प्रभु सिंहासन पर विराजमान होते हैं। यह अशोक वृक्ष तीर्थंकर देव के शरीर की ऊँचाई से बारह गुना ऊँचा होता है।

समवसरण की इस प्रकार की विशिष्ट रचना सर्वत्र नहीं होती। विशिष्ट प्रसंगों को छोड़ शेष स्थानों पर सामान्य रूप से ही समवसरण होता है। नियुक्तिकार के अनुसार—जहाँ तीर्थंकर प्रभु का कैवल्योपलब्धि के पश्चात् सर्व-प्रथम पदार्पण हो, अथवा जहाँ महद्भिक देव का आगमन हो, वहाँ पर संवर्त वायु, जलवृष्टि, पुष्पवृष्टि और तीन प्रकार के प्राकारों की रचना आभियोगिक देव करते हैं। जैसा कि कहा है :—

जत्थ अपुब्बोसरणं, जत्थ य देवो महड्ढियो एइ ।

वाउदय-पुप्फ-बह्ल-पागार तियं च अभिभोगा ॥<sup>१</sup>

कतिपय आचार्यों का अभिमत है कि जहाँ देवेन्द्र स्वयं आते हैं, वहाँ तीर्थंकर भगवान् के तीन प्राकारों वाले समवसरण की रचना की जाती है। जहाँ इन्द्र के सामानिक देव का आगमन होता है, वहाँ केवल एक ही प्राकार बनाया जाता है। यदि कभी कहीं इन्द्र का अथवा इन्द्र के सामानिक देव का भी आगमन नहीं हो तो वहाँ पर भवनपति आदि देव समवसरण की रचना कभी करते भी हैं और कभी नहीं भी करते।<sup>२</sup>

विशिष्ट समवसरण में प्रवेश करने की भी एक निश्चित विधि अथवा व्यवस्था बताई गई है, जो इस प्रकार है :—

१. आवश्यक नियुक्ति, गाथा ५४४, पत्र १०६

२. अभिधान राजेन्द्र कोश, भा० ७, पृ० ४६३

गणधर समवसरण में पूर्व द्वार से प्रविष्ट हो, तीर्थंकर को वन्दन कर उनके दक्षिण की ओर बैठते हैं। इसी प्रकार अतिशय ज्ञानी, केवली और सामान्य साधु भी समवसरण में पूर्व द्वार से प्रविष्ट होते हैं।

वैमानिक देवियां पूर्व द्वार से प्रविष्ट होकर सामान्य साधुओं के पीछे की ओर खड़ी रहती हैं। फिर साध्वियां पूर्व द्वार से समवसरण में आकर वैमानिक देवियों के पीछे खड़ी रहती हैं।

भवनपति आदि की देवियां, समवसरण में दक्षिण द्वार से आकर क्रमशः आगे भवनपति देवियां, उनके पीछे ज्योतिष्की देवियां और उनके पीछे व्यन्तर देवियां ठहरती हैं। भवनपति आदि तीनों प्रकार के देव पश्चिमी द्वार से प्रवेश करते हैं।

वैमानिक देव और नरेन्द्र आदि मानव तथा मनुष्य स्त्रियां उत्तर द्वार से समवसरण में आकर क्रमशः एक दूसरे के पीछे बैठते एवं बैठती हैं। यहां दूसरी परम्परा यों बतलाई गई है :—

‘देव्य सर्वा एव न निषीदन्ति, देवाः, मनुष्याः, मनुष्यस्त्रियश्च निषीदन्ति।’ अर्थात्—सभी देवियां नहीं बैठतीं, देव, मनुष्य और मनुष्य-स्त्रियां बैठती हैं।

देव और मनुष्यों की परिषद् का पहले प्राकार में अवस्थान माना गया है।

दूसरे प्राकार में पशु, पक्षी आदि तिर्यंच और तीसरे प्राकार में यान-वाहन की अवस्थिति मानी गई है।

मूल आगमों में समवसरण की विशिष्ट रचना, व्यवस्था और प्रवेश-विधि का कोई उल्लेख नहीं है। संभव है उत्तरकालवर्ती आचार्यों ने भावी समाज के लिये संघ-व्यवस्था का आदर्श बताने हेतु ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत की हो।

श्वेताम्बर परम्परा के ‘उववाइय सूत्र’ में भगवान् महावीर के समवसरण का वर्णन किया गया है। भगवान् महावीर के चम्पा नगरी पधारने पर वनपालक द्वारा की गई बधाई से लेकर महावीर स्वामी की शरीर सम्पदा, आन्तरिक गुण, अनेक प्रकार के साधनाशील साधुओं का वर्णन, देव-परिषद्, मनुज-परिषद् और राजा-रानी आदि के आने-बैठने आदि की भांकी कराते हुए भगवान् का अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी शिनापट्ट पर विराजना बताया गया है।

‘उववाइय सूत्र’ सूत्र में यह तो उल्लेख है कि श्रमणागण से परिवृत्त, ३४ प्रतिशय और ३५ विशिष्ट वागी-गुणों में सम्पन्न प्रभु आकाशगत चक्र,

छत्र, चामर और स्फटिकमय सपादपीठ सिंहासन के आगे चलते हुए धर्मध्वज के साथ चौदह हजार भ्रमण एवं छत्तीस हजार भ्रमणियों के परिवार से युक्त पक्षारे । वहां पर ऋषि-परिषद्, मुनि-परिषद् आदि विशाल परिषदों में योजनगामिनी, सर्वभाषानुयायिनी अर्द्धमागधी भाषा में तीर्थंकर महावीर की देशना का तो वर्णन है किन्तु इस प्रकार देवकृत समवसरण की विभूति का अथवा देव, देवी और साधुवृन्द कौन किधर से आये तथा कहां-कहां कैसे बैठे, इसका वर्णन उपलब्ध नहीं होता ।

महिलाओं के समवसरण में आगमन और अवस्थान का जहाँ तक प्रश्न है, सुभद्रा आदि रानियां कृष्णिक को आगे कर खड़ी-खड़ी सेवा करती हैं, इस प्रकार का वर्णन है ।<sup>१</sup> भगवती सूत्र में मृगावती एवं देवानन्दा के लिये भी ऐसा ही पाठ है । इस पाठ की व्याख्या में पूर्वकालीन और अद्ययुगीन व्याख्याकार आचार्यों का मतभेद स्पष्टतः दृष्टि-गोचर होता है । पर अन्तर्भन यही कहता है कि तीर्थकाल में संयम की विशुद्ध आराधना के लिये स्त्रीसंसर्ग अधिक नहीं बढ़े, इस भावना से भ्रमणों के समवसरण में महिलाओं के बैठने पर प्रतिबन्ध रखा हो, यह संभव है । वर्तमान की बदली परिस्थिति में आज ऐसा आराधन संभव नहीं रहा, अतः सर्वत्र साध्वी एवं मातृमण्डल का व्याख्यान आदि में बैठना निर्दोष एवं आचीर्ण माना जाता है ।

### भगवद् दर्शन से मरुदेवी की मुक्ति

इधर माता मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव के दर्शन हेतु चिरकाल से तड़प रही थीं । प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् एक हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी वह अपने प्रिय पुत्र ऋषभ को एक बार भी नहीं देख पाई थीं । फलतः अपने प्रिय पुत्र की स्मृति में उसके नयनों से प्रतिपल अर्हनिश अश्रुधारा प्रवाहित होती रहती थी ।

भरत की विपुल राज्यवृद्धि को देखकर मरुदेवी उन्हें उलाहना देते हुए प्रायः कहा करती थीं—'वत्स भरत ! तुम अमित ऐश्वर्य का उपभोग कर रहे हो, किन्तु मेरा लाडला लाल ऋषभ भूखा-प्यासा न मालूम कहाँ-कहाँ भटक रहा होगा ? तुम लोग उसकी कोई सार-सम्हाल नहीं लेते ।'

भ० ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त होने का शुभ सन्देश जब भरत ने सुना तो वे तत्काल माता मरुदेवी की सेवा में पहुँचे और उन्हें प्रभु के पुरिमताल नगर

१. कृष्णियं रायं पुरतो तिकट्टठितियाओ चैव सपरिवाराओ अभिसुहावो विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासंति ।

उववाई, सूत्र १२६, पृ. ११६ (अमोलक ऋषिजी म.)

के बहिःस्थ शटकमुख उद्यान में पधारने और उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि का सुखद संदेश सुनाया। अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्र के आगमन का शुभ संवाद सुन कर माता मरुदेवी हर्षातिरेक से पुलकित हो उठीं और तत्काल भरत के साथ ही गजारूढ़ हो प्रभु के दर्शनार्थ प्रस्थित हुईं।

समवसरण के निकट पहुँच कर माता मरुदेवी ने त्रिलोकवन्द्य भ. ऋषभदेव की देवदेवेन्द्रकृत महिमा-अर्चा देखी तो वे सोचने लगीं—‘ग्रहो ! मैं तो समझती थी कि मेरा प्रिय पुत्र ऋषभ कष्टों में होगा, किन्तु यह तो अनिर्वचनीय आनन्दसागर में भूल रहा है। इस प्रकार विचार करते-करते उनके चिन्तन का प्रवाह बदल गया। वे आर्त्तध्यान से शुक्लध्यान में आरूढ़ हुईं और कुछ ही क्षणों में ज्ञान, दर्शन, अन्तराय और मोह के सघन आवरणों को दूर कर वे केवलज्ञान एवं केवलदर्शन की धारक बन गईं।’

चूर्णिकार के अनुसार छत्र, भामण्डलादि अतिशय देखकर मरुदेवी को केवलज्ञान हुआ। आयु का अवसानकाल सन्निकट होने के कारण कुछ ही समय में शेष चार अघाति कर्मों को भी समूल नष्ट कर, गजारूढ़ स्थिति में ही वे सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गईं।<sup>१</sup> कुछ आचार्यों की मान्यता है कि माता मरुदेवी भगवान् ऋषभदेव की धर्मदेशना को सुनती हुई ही आयु पूर्ण होने से सिद्ध हो गईं।

प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल में, सिद्ध होने वाले जीवों में माता मरुदेवी का प्रथम स्थान है। तीर्थ-स्थापना के पूर्व सिद्ध होने से उन्हें अतीर्थ-सिद्ध स्त्रोलिग सिद्ध भी कहा है।

### देशना और तीर्थ स्थापना

केवलज्ञानी और वीतरागी बन जाने के पश्चात् ऋषभदेव पूर्ण कृतकृत्य हो चुके थे। वे चाहते तो एकान्त साधना से भी अपनी मुक्ति कर लेते, फिर भी उन्होंने देशना दी। इसके कई कारण बताये गये हैं। प्रथम तो यह कि जब तक देशना दे कर धर्मतीर्थ की स्थापना नहीं की जाती, तब तक तीर्थंकर नाम कर्म का भोग नहीं होता। दूसरा, जैसा कि प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा गया है, समस्त

१. दिग्म्बर परम्परा में इसका उल्लेख नहीं है।

२. (क) करिस्कन्धाधिरूढैव, स्वामिनि मरुदेव्यय ।  
अन्तकृत्केवलित्वेन, प्रपेदे पदमव्ययम् ॥

—त्रिपष्टि ज. पु. चारणम्, १।३।५३०

(ख) भगवतो य छत्रारिच्छतं पेच्छतीए चैव केवलनाणं उप्पन्नं, तं समयं च एणं आयुं षुट्टं सिद्ध देवेहि य से पूया कता.....।

—आवश्यक वृत्ति (जिनदास), पृ. १८१



जगजीवों की रक्षा व दया के लिये भगवान् ने प्रवचन दिया ।<sup>१</sup> अतः भगवान् ऋषभदेव को शास्त्र में प्रथम धर्मोपदेशक कहा गया है । वैदिक पुराणों में भी उन्हें दशविध धर्म का प्रवर्तक माना गया है ।<sup>२</sup>

जिस दिन भगवान् ऋषभदेव ने प्रथम देशना दी, वह फाल्गुन कृष्ण एकादशी का दिन था । उस दिन भगवान् ने श्रुत एवं चारित्र्य धर्म का निरूपण करते हुए रात्रिभोजन विरमण सहित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप पंच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया ।<sup>३</sup>

प्रभु ने समझाया कि मानव-जीवन का लक्ष्य भोग नहीं योग है, राग नहीं विराग है, वासना नहीं साधना है, वृत्तियों का हठात् दमन नहीं अपितु ज्ञानपूर्वक शमन है ।

भगवान् की पीयूषवर्षिणी वाणी से निकले हुए इन त्याग-विराग पूर्ण उद्गारों को सुन कर सम्राट् भरत के ऋषभसेन आदि पाँच सौ पुत्रों एवं सात सौ पौत्रों ने साधु-संघ में और ब्राह्मी आदि पाँच सौ सन्नारियों ने साध्वी-संघ में दीक्षा ग्रहण की ।

महाराज भरत सम्यग्दर्शनी श्रावक हुए ।

इसी प्रकार श्रेयांशकुमार आदि सहस्रों नर-पुंगवों और सुभद्रा आदि सन्नारियों ने सम्यग्दर्शन और श्रावक-व्रत ग्रहण किया ।

इस प्रकार साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप यह चार प्रकार का संघ स्थापित हुआ । धर्म-तीर्थ की स्थापना करने से भगवान् सर्वप्रथम तीर्थंकर कहलाये ।

ऋषभसेन ने भगवान् की वाणी सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण की और तीन पृच्छाओं से उन्होंने चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया ।<sup>४</sup>

१. प्रश्न प्र. संवर ।

२. ब्रह्माण्ड पुराण.....

३. (क) फगुणाबहुले इक्कारसीई अह अट्टमेणभत्तेण ।

उप्पन्निमि अण्णंते महव्वया पंच पन्नवए ॥

—श्रावश्यक नियुक्ति गाथा—३४०

(ख) सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं ।

—प्रश्न व्याकरण—२।१।

४. तत्थ उसभसेणो णाम भरहस्स रन्तो पुत्तो सो धम्मं सोऊण पव्वइतो तेण तिहि पृच्छाहि चोदसपुव्वाइं गहिताईं उप्पन्ने विगते धुते, तत्थ बम्भीवि पव्वइया ।

—आ. चूणि पृ १८२

भगवान् के चौरासी गणधरों में प्रथम गणधर ऋषभसेन हुए। कहीं-कहीं पुंडरीक नाम का भी उल्लेख मिलता है परन्तु समवायांग सूत्र आदि के आधार से पुंडरीक नहीं, ऋषभसेन नाम ही संगत प्रतीत होता है।

ऋषभदेव के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले जिन चार हजार व्यक्तियों के लिये पहले क्षुधा, पिपासादि कष्टों से धबरा कर तापस होने की बात कही गई थी, उन लोगों ने भी जब भगवान् की केवल-ज्ञानोत्पत्ति और तीर्थ-प्रवर्तन की बात सुनी तो कच्छ, महा कच्छ को छोड़कर शेष सभी भगवान् की सेवा में आये और आर्हती प्रव्रज्या ग्रहण कर सा संघ में सम्मिलित हो गये।<sup>१</sup>

आचार्य जिनसेन<sup>२</sup> के मतानुसार ऋषभदेव के ८४ गणधरों के नाम इस प्रकार हैं :—

१. वृषभसेन	२१. वसुम्भर	४१. सर्वगुप्त
२. कुम्भ	२२. अचल	४२. मित्र
३. दृढरथ	२३. मेरु	४३. सत्यवान्
४. ऋशुदमन	२४. भूति	४४. विनीत
५. देवशर्मा	२५. सर्वसह	४५. संवर
६. धनदेव	२६. यज्ञ	४६. ऋषिगुप्त
७. नन्दन	२७. सर्वगुप्त	४७. ऋषिदत्त
८. सोमदत्त	२८. सर्वप्रिय	४८. यज्ञदेव
९. सुरदत्त	२९. सर्वदेव	४९. यज्ञगुप्त
१०. वायशर्मा	३०. विजय	५०. यज्ञमित्र
११. सुबाहु	३१. विजयगुप्त	५१. यज्ञदत्त
१२. देवाग्नि	३२. विजयमित्र	५२. स्वायंभुव
१३. अग्निदेव	३३. विजयश्री	५३. भागदत्त
१४. अग्निभूति	३४. परारूय	५४. भागफलगु
१५. तेजस्वी	३५. अपराजित	५५. गुप्त
१६. अग्निमित्र	३६. वसुमित्र	५६. गुप्त फल्गु
१७. हलधर	३७. वसुसेन	५७. मित्र फल्गु
१८. महीधर	३८. साधुसेन	५८. प्रजापति
१९. माहेन्द्र	३९. सत्यदेव	५९. सत्य यश
२०. वसुदेव	४०. सत्यवेद	६०. वरुण

१. भगवद्गो समासे पव्वइता ।”

—आ. नि. म. पृ. २३० (अ) त्रि. १।३।६५४

२. हरिवंश पुराण, सर्ग १२, श्लोक ५४-७०

६१. धन वाहिक  
 ६२. महेन्द्रदत्त  
 ६३. तेजोराशि  
 ६४. महारथ  
 ६५. विजयश्रुति  
 ६६. महाबल  
 ६७. सुविशाल  
 ६८. वज्र

६९. वैर  
 ७०. चन्द्रचूड़  
 ७१. मेघेश्वर  
 ७२. कच्छ  
 ७३. महाकच्छ  
 ७४. सुकच्छ  
 ७५. अतिबल  
 ७६. भद्रावलि

७७. नमि  
 ७८. विनमि  
 ७९. भद्रबल  
 ८०. नन्दी  
 ८१. महानुभाव  
 ८२. नन्दीमित्र  
 ८३. कामदेव और  
 ८४. अनुपम



## प्रथम चक्रवर्ती भरत

प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल में जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र के छः खण्डों के प्रथम सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् भरत हुए। वे भरतक्षेत्र के प्रथम राजा और प्रथम तीर्थंकर भ० ऋषभदेव के सौ पुत्रों में सबसे बड़े थे। पहले बताया जा चुका है कि उनकी माता का नाम सुमंगला था और जिस समय भ० ऋषभदेव की अवस्था ६ लाख पूर्व की हुई, उस समय उनकी बड़ी पत्नी सुमंगला की कृषि से भरत और ब्राह्मी का युगल रूप में जन्म हुआ। जब भरत गर्भ में आये, उस समय देवी सुमंगला ने भी तीर्थंकरों की माताओं के समान चौदह महास्वप्न देखे। उस समय तीन ज्ञान के धारक ऋषभकुमार ने सुमंगला की स्वप्नफल जिज्ञासा को शान्त करते हुए कहा था—“देवि ! तुम्हारे गर्भ में एक ऐसा महाभाग्यशाली चरमशरीरी प्राणी आया है, जो इस भरतक्षेत्र के छे खण्डों का अधिपति प्रथम चक्रवर्ती होगा और अन्त में जन्म, जरा, मृत्यु आदि सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों के बीजभूत आठों कर्मों को मूलतः नष्ट कर शाश्वत शिवपद का अधिकारी होगा।” तदनुसार समय पर चक्रवर्ती पुत्ररत्न और सर्वांग-सुन्दरी पुत्री को प्राप्त कर सुमंगला के हर्ष का पारावार नहीं रहा। कुछ ही समय पश्चात् राजकुमार ऋषभ की द्वितीया धर्मपत्नी सुनन्दा ने बाहुबली और सुन्दरी को युगल रूप में तथा कालान्तर में देवी सुमंगला ने अनुक्रमशः ४६ पुत्रयुगलों के रूप में १८ और पुत्ररत्नों को ४६ वार में जन्म दिया।

### संबद्ध न और शिक्षा

सन्तानोत्पत्ति के उपलक्ष्य में सर्वत्र हर्षोल्लास का वातावरण छा गया। नगर के नर-नारी असीम आनन्द का अनुभव करते हुए भूम उठे। सभी शिशुओं का बड़े लाड़-प्यार एवं दुलार के साथ लालन-पालन किया जाने लगा। अनुक्रमशः वृद्धिगत होते हुए भरत आदि जब शिक्षा योग्य वय में प्रविष्ट हुए तो स्वयं राजकुमार ऋषभदेव ने अपने पुत्रों एवं पुत्रियों को विद्याओं एवं कलाओं की शिक्षा देना प्रारम्भ किया। जगद्गुरु भ० ऋषभदेव को शिक्षागुरु के रूप में पा भरत आदि उन १०२ चरमशरीरियों ने अपने आपको धन्य समझा। उन्होंने अपने पिता तथा गुरु भगवान् ऋषभदेव के चरणों में बैठकर बड़ी निष्ठा और परिश्रम के साथ अध्ययन किया।

वे सभी कुशाग्रबुद्धि कुमार समस्त विद्याओं एवं पुरुषोचित बहूतर (७२) कलाओं में पारंगत हुए। ब्राह्मी और सुन्दरी ने भी लिपियों के ज्ञान और गणित आदि अनेक विषयों के साथ-साथ महिलाओं की ६४ कलाओं पर पूर्णरूपेण आधिपत्य प्राप्त किया।

इस प्रकार इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम विद्याओं एवं कला के प्रशिक्षण का आदान-प्रदान भरत क्षेत्र में प्रारम्भ हुआ । इस अवसर्पिणी काल के प्रथम शिक्षक जगद्गुरु भ० ऋषभदेव और प्रथम शिक्षार्थी भरत आदि हुए ।

जिस समय भरत की आयु चौदह लाख पूर्व की हुई, उस समय उनके पिता भगवान् ऋषभदेव का राज्याभिषेक हुआ । त्रेसठ लाख पूर्व जैसी सुदीर्घा-वधि तक अपनी प्रजा की न्याय एवं नीतिपूर्वक परिपालना करते हुए राजोपभोग्य विविध भोगोपभोगों का अपने भोगावलि कर्म के अनुसार अनासक्त भाव से उपभोग करने के पश्चात् भ० ऋषभदेव अपने पुत्र भरत को विनीता के और बाहुबलि आदि ६६ पुत्रों को अन्यान्य राज्यों के राजसिंहासनों पर अभिषिक्त कर प्रव्रजित हो सकल सावद्य के त्यागी बन गये ।

जिस समय विनीता के राजसिंहासन पर भरत का राज्याभिषेक किया गया, उस समय उनकी आयु सतहत्तर लाख पूर्व की हो चुकी थी । वे न्याय और नीति-पूर्वक प्रजा का पालन करने लगे । समचतुरस्र संस्थान एवं वज्रऋषभ-नाराच संहनन के घनो भरत इन्द्र के समान तेजस्वी, प्रियदर्शी, मृदुभाषी, महान् पराक्रमी और साहसी थे । वे शंख, चक्र, गदा, पद्म, छत्र, चामर, इन्द्रध्वज, नन्दावर्त, मत्स्य, कच्छप, स्वस्तिक, शशि, सूर्य आदि १००८ उत्तमोत्तम लक्षणों से सम्पन्न थे । वे बड़े ही उदार, दयालु, प्रजावत्सल एवं अजेय थे । अनुपम उत्तम गुणों के धारक महाराजा भरत की कीर्तिपताका दिग्दिगन्त में फहराने लगी ।

इस प्रकार माण्डलिक राजा के रूप में विपुल वैभव तथा ऐश्वर्य का सुखोपभोग तथा प्रजा का पालन करते हुए महाराजा भरत का जीवन आनन्द के साथ व्यतीत होने लगा । महाराज भरत के, विनीता के राजसिंहासन पर आसीन होने के १००० वर्ष पश्चात् एक दिन उनके प्रबल पुण्योदय से उनकी आयुधशाला में दिव्य चक्ररत्न उत्पन्न हुआ । महान् प्रभावशाली, तेजपुंज चक्ररत्न को देखते ही आयुधशाला का रक्षक हर्षविभोर हो गया । हर्षातिरेक से उसका अंग-प्रत्यंग एवं रोम-रोम पुलकित हो उठ । उसका मन परम प्रमुदित हो भुवन-भास्कर-भानु के करस्पर्श से खिले सौलह पंखुड़ियों वाले कमल के समान प्रफुल्लित हो गया । अभूतपूर्व उत्कृष्ट आनन्द का अनुभव करता हुआ, हृष्ट-पुष्ट वह आयुधशाला का रक्षक चक्ररत्न के समीप गया । उसने चक्ररत्न की तीन बार आदक्षिणा प्रदक्षिणा कर सांजलि शीर्ष भुका उसे सादर प्रणाम किया । तदनन्तर वह त्वरित गति से उपस्थान-शाला में महाराज भरत की सेवा में उपस्थित हुआ । “राजराजेश्वर आपकी सदा जय हो, विजय हो”—इन जयघोषों के गम्भीर घोष के साथ महाराज भरत को वृद्धीपित करते हुए आयुधशाला के रक्षक ने अपने भाल पर करबद्ध अंजलिपुट रखते हुए उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और

बोला—“हे देवानुप्रिय बधाई है, बधाई है, अभूतपूर्व बहुत बड़ी बधाई है। देव ! आपकी आयुधशाला में दिव्य चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है। हे देवानुप्रिय ! आपकी हृदय मन, मस्तिष्क और कर्णयुगल को परम प्रमोद प्रदान करने वाले इस परमप्रीतिकर शुभ संवाद को सुनाने के लिये ही मैं आपकी सेवा में तत्काल समुपस्थित हुआ हूँ। यह शुभ समाचार आपके लिये परम प्रियकर ही।”

आयुधागार के संरक्षक के मुख से इस प्रकार का सुखद समाचार सुनकर महाराजा भरत को इतना हर्ष और संतोष हुआ कि उनके फुल्लारविन्द द्वय तुल्य आयत नेत्र-युगल विस्फारित हो उठे। मुख कमल खिल गया। वे सहसा अपने राजसिंहासन से घनघटा में चपला की चमक के समान शीघ्रतापूर्वक इस प्रकार उठे कि उनके करकंकण, केयूर, कुण्डल, मुकुट, शैलेन्द्र की शिला के समान विशाल वक्षस्थल को सुशोभित करने वाले प्रलम्ब हार दोलायमान हो झूम उठे। महाराज भरत सिंहासन से उठ कर पादपीठ से नीचे उतरे। उन्होंने चरणपादुकाओं को उतार कर दुपट्टे का उत्तरासंग किया। वे करबद्ध हो अंजलि को अपने भाल से लगा चक्ररत्न को ओर मुख किये सात-आठ डग आगे की ओर चले। तदनन्तर उन्होंने अपने वाम घुटने को खड़ा रखते हुए और दक्षिण जानु को भुका धरती पर रखते हुए दोनों हाथ जोड़ कर चक्ररत्न को प्रणाम किया। प्रणामानन्तर उन्होंने मुकुट के अतिरिक्त अपने शेष आभूषण आयुधशाला के रक्षक को प्रीतिदान अर्थात् पारितोषिक के रूप में प्रदान कर दिये। इस पारितोषिक के अतिरिक्त उन्होंने उसे और भी विपुल और स्थायी आजीविका प्रदान की। इस प्रकार महाराज भरत ने आयुधागार के अधिकारी को पूर्णरूपेण संतुष्ट कर उसे विदा किया और पुनः वे अपने राजसिंहासन पर पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठ गये। तदनन्तर उन्होंने अपने आज्ञाकारी अधिकारियों को आदेश दिया कि वे विनीता नगरी के बाह्याभ्यन्तर समस्त मार्गों को झाड़-बुहार-स्वच्छ बना सर्वत्र गन्धोदक का छिड़काव करें। राजमार्ग, कीथियों, चौराहों आदि में विशाल एवं नयनाभिराम मंचों का निर्माण करवा उन पर गगन में फहराती हुई पताकाएं लगायें। उन अधिकारियों ने अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य कर तत्काल नगर के सभी भागों को स्वच्छ, सुन्दर, सुशोभित एवं सुसज्जित बनाने का कार्य द्रुतगति से प्रारम्भ कर दिया।

अभ्यंग मर्दन, स्नान, मज्जन, विलेपन के अनन्तर महार्घ्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो राज्य के सभी उच्चाधिकारियों, गणनायकों, दण्डनायकों, परिजनों, एवं मंगलकलश ली हुई विभिन्न देशों की दासियों से घिरे हुए महाराज भरत आयुधशाला की ओर प्रस्थित हुए। अति कमनीय विशाल छत्र से सुशोभित महाराज भरत के चारों ओर चामरयोजे जा रहे थे। हजारों कण्ठों से उद्धोषित जय-विजय के घोषों से गगनमण्डल गुंजरित हो रहा था। उनके अनेक अधिकारी भाँति-भाँति के सुगन्धित एवं सुमनोहर पुष्प हाथों में लिये चल रहे थे। उनके

आगे तुरी, शंख, पटह, परणव, मेरी, भल्लरी, मुरज, मृदंग, दुंदुभी आदि वाद्य-वृन्दों के कुशल वादक अपने अपने वाद्ययन्त्रों की सधी हुई सुमधुर ध्वनि से जन-जन के मन को मुग्ध करते हुए चल रहे थे । विभिन्न देशों की दासियों के हाथों में चन्दनकलश, पुष्पकरंडक, रत्नकरंडक, विविध वस्त्राभूषणों की चंगेरियां, पंखे, गंधपिटकों एवं चूर्णों आदि की चंगेरियां थी । इस प्रकार की अतुल ऋद्धि एवं दल-बल के साथ पग-पग पर सम्मानित एवं वर्द्धीपित होते हुए महाराज भरत आयुधशाला में पहुंचे । उन्होंने चक्ररत्न को देखते ही प्रणाम किया । तदनन्तर चक्ररत्न के पास जाकर उन्होंने उसे सर्वप्रथम मयूरपिच्छ से प्रमाजित किया । तत्पश्चात् दिव्य जल की धारा से चक्ररत्न को सिंचित कर उस पर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया और कालागरु, गन्ध, माल्यादि से उसका अर्चन कर उस पर उन्होंने पुष्प, गन्ध, वर्रां, चूर्ण, वस्त्र एवं आभरण आरोपित किये । तदनन्तर चक्ररत्न के समक्ष रजतमय श्वेत, सुकोमल एवं शुभ लक्षण वाले समुज्ज्वल चाँदलों से स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्द्धमान, भद्रासन, मत्स्य, कलश और दर्पण—इन आठ मंगलों की रचना की । तदनन्तर महाराज भरत ने पांच वर्रां के सुमनोहर पुष्पों से अपनी अंजलि भर उन्हें अष्टमंगल पर विकीर्ण किया । इसके पश्चात् भरत ने चन्द्रकान्त, हीरे और वैडूर्य रत्न से निर्मित दण्ड वाले स्वर्ण मणि, रत्नादि से मण्डित वैडूर्य रत्न के धूप कड़कुल से सुगन्धित धूप के गोठ निकालने वाले कृष्णागरु, कुंदरुक्क और तुरुष्क का धूप दिया । तदनन्तर सात-आठ कदम पीछे की ओर सरक कर अपनी देहयष्टि को भुक्का दक्षिण जानु को खड़े रखकर और वाम जानु को पृथ्वी से लगाकर चक्ररत्न को प्रणाम किया ।

इस प्रकार चक्ररत्न को स्वागतपूर्वक बंधाने के पश्चात् भरत अपनी उपस्थानशाला में लौटे और राजसिंहासन पर आसीन हो उन्होंने अठारह श्रेणी प्रश्रेणियों के लोगों को बुलाकर उन्हें कर, शुल्क, दण्ड आदि से मुक्त एवं अनेक प्रकार की सुविधाएं प्रदान कर आठ दिन तक चक्ररत्न का महामहिमा-महोत्सव मनाने का आदेश दिया । नागरिकों ने विनीता नगरी को भलीभांति सजाया, स्थान-स्थान पर नृत्य, संगीत, नाटकों आदि का आयोजन किया । नगर में सर्वत्र आमोद-प्रमोद और हर्षोल्लास का वातावरण व्याप्त हो गया । रंग-बिरंगे परिधान और बहुमूल्य आभूषणों से सुशोभित नर-नारीवृन्द आनन्द के सागर में कल्लोल करता हुआ भूम उठा । विनीता नगरी इन्द्रपुरी अलका सी सुशोभित होने लगी । आठ दिन तक विनीता नगरी में आमोद-प्रमोद और हर्षोल्लास का साम्राज्य छाया रहा ।

महामहिमा महोत्सव की अष्टाह्निका अवधि के समापन के साथ ही चक्ररत्न आयुधशाला से निकला । एक हजार देवों से सुसेवित वह चक्ररत्न दिव्य

वाद्यों के गुरु-गंभीर-मृदु घोष के साथ आकाश में चलकर विनीता नगरी के मध्य भाग से होता हुआ गंगानदी के दक्षिणी तट से पूर्व दिशा में अवस्थित मागध तीर्थ की ओर प्रस्थित हुआ ।

चक्ररत्न को मागध तीर्थ की ओर आकाश में जाते हुए देख महाराज भरत का हृदय-कमल परम प्रफुल्लित हो उठा । वे सब प्रकार के श्रेष्ठ आयुधों-शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित चतुरंगिणी विशाल सेना को ले, अभिवेक हस्ति पर आरूढ़ हो चक्ररत्न का अनुगमन करने लगे । इस प्रकार हस्तिश्रेष्ठ पर आरूढ़ छत्र, चामरादि से सुशोभित भरत गंगा नदी के दक्षिणी किनारे पर बसे ग्राम, आगार, नगर, खेड़, कर्बट, मडम्ब द्रोणमुख, पत्तन, आश्रम, संवाह आदि जनावासों से भण्डित वसुन्धरा पर अपनी विजय वैजयन्ती फहरा कर दिग्विजय करते हुए चक्ररत्न द्वारा प्रदर्शित पथ पर अग्रसर होने लगे । आकाश में चलता हुआ चक्ररत्न एक-एक योजन की दूरी पार करने के पश्चात् रुक जाता । वहीं भरत महाराज भी अपनी सेना का स्कन्धावार लगा सेना को विश्राम देते । गगनस्थ चक्ररत्न के आगे की ओर अग्रसर होते ही वे भी सेना सहित कूच करते । वे विजित प्रदेशों के अधिपतियों द्वारा सादर समुपस्थित की गई भेंट स्वीकार करते हुए बढ़ने लगे ।

इस प्रकार प्रत्येक योजन के अन्तर पर पड़ाव डालते हुए महाराजा भरत मागध तीर्थ के समीप आये । वहां बारह योजन लम्बे और ६ योजन चौड़े स्थल पर उन्होंने अपनी सेना का पड़ाव डाला । तदनन्तर अपने वाद्विक रत्न को बुला कर उसे उन्होंने अपने लिये एक आवास और पौषध शाला का निर्माण करने का आदेश दिया । वाद्विकरत्न ने भरत की आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने स्वामी के योग्य एक आवास और पौषधशाला का निर्माण कर उन्हें सूचित किया । गजराज के स्कन्ध से उतर कर भरत ने पौषधशाला में प्रवेश किया । वहां के स्थान को प्रमाजित कर उन्होंने दर्भासन बिछाया । मैथुन, आभरणालंकार, माला, पुष्प, विलेपन एवं सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों का त्याग करने के पश्चात् दर्भासन पर बैठकर भरत ने मागध तीर्थ के अधिष्ठायक देव की साधना के लिये पौषध सहित अष्टम भक्त (तीन दिन के उपवास अथवा तेले) की तपस्या का प्रत्याख्यान किया । अष्टम भक्त की तपश्चर्या के पूर्ण होने पर महाराज भरत ने अपने आज्ञाकारी अधिकारियों को बुला सेना को प्रयाण के लिये सुसज्जित करने एवं अपने लिये चार घण्टों वाले अश्वरथ को तैयार करने का आदेश दिया । तदनन्तर स्नान-विलेपन के अनन्तर वस्त्रालंकारादि से अलंकृत एवं आयुधों से सुसज्जित हो चतुरंगिणी विशाल वाद्विकी के जयघोषों के बीच वे अश्वरथ पर आरूढ़ हुए । चक्ररत्न द्वारा प्रदर्शित पथ पर उन्होंने अपना रथ अग्रसर किया । उद्वेलित उदधि की क्षुब्ध लोल लहरों के समान सिंहनाद करती हुई अपनी विशाल सेना से विस्तीर्ण-भूखण्डों को आच्छादित करते हुए भरत ने पूर्व दिशा



में मागध तीर्थ के तट से लवण समुद्र में प्रवेश किया। लवण समुद्र में जब उनके रथ की पींजनी भीगने लगी उस समय उन्होंने अपने रथ को रोका। रथ को रोककर उन्होंने मदोन्मत्त महिष के वृत्तुलाकार मुड़े हुए शृङ्गों के समान, क्रुद्ध महाकाल की भृकुटि तुल्य शत्रुसंहारकारी रत्नमण्डित अपने दिव्य धनुष की प्रत्यंचा पर स्व नामांकित वज्रसारोपम सर का संधान किया। तदनन्तर उन्होंने लक्ष्यवेध की वैशाखासन मुद्रा (ईषत् भुके बाँए चरण को आगे और दक्षिण चरण को एक हाथ पीछे की ओर जमाकर लक्ष्यवेध करने की मुद्रा) में अवस्थित हो आकर्णान्त प्रत्यंचा को खींचते हुए अतीव उदार, गुरु-गम्भीर, मृदु स्वर में निम्नलिखित उद्घोष किया :—

“आप सब सावधान होकर सुन लें—मेरे इस बाण के प्रभाव के बाहर जो देव, नाग, असुर और सुपर्ण हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ और जो देव, नाग, असुर और सुपर्ण मेरे इस बाण की परिधि अथवा प्रभाव के आभ्यन्तर में आते हैं, वे भी सावधान होकर सुन लें कि वे सब मेरे आज्ञाकारी होंगे।”

इन मृदु-मंजुल एवं गुरुगंभीर वचनों के उद्घोष के साथ भरत ने बाण को छोड़ा। भरत द्वारा छोड़ा गया वह नामांकित बाण मनोवेग से तत्काल ही बारह योजन की दूरी को लँघकर मागध तीर्थाधिपति के भवन में गिरा। अपने भवन में गिरे उस बाण को देखते ही मागध तीर्थाधिपति देव बड़ा ही रुष्ट और कुपित हुआ। प्रचण्ड क्रोध के कारण उसके दोनों लोचन लाल हो गये, वह किट-किटा कर दँत पीसने लगा। उसकी भृकुटि तन कर तिरछी हो गई और वह आक्रोश-पूर्ण रौद्र स्वर में बड़बड़ाने लगा—“सकल चराचर जगत में कोई भी प्राणी अपनी मृत्यु के लिये कभी प्रार्थना नहीं करता, पर इस प्रकार की सदा से अप्रार्थित मृत्यु की कामना-प्रार्थना करने वाला समस्त दुष्ट लक्षणों का निधान पुण्यहीन, चतुर्दशी अथवा अमावस्या का जन्मा हुआ, निर्लज्ज और निष्प्रभ यह ऐसा कौन है, जिसने मेरे समान महद्भिक देव के भवन पर बाण फेंका है। इस प्रकार के आक्रोशपूर्ण वचन बोलता हुआ मागधदेव अपने सिंहासन से उठा और उस बाण के पास पहुँचा। उस बाण को उठाकर वह उसे देखने लगा। ज्योंही उसकी दृष्टि उस बाण पर अंकित नाम पर पड़ी त्योंही उसका क्रोध तत्काल शान्त हो गया। उसके मन में इस प्रकार के विचार, विनम्र अघ्यवसाय और संकल्प उत्पन्न हुए कि जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में भरत नामक जो चक्रवर्ती उत्पन्न हुए हैं, वे षट्खण्ड की साधना के लिये आये हैं। विगत, वर्तमान और भावी मागध तीर्थाधिप देवों का यह जीताचार है कि चक्रवर्ती के समक्ष उपस्थित हो उन्हें भेंट प्रस्तुत करें। अतः मेरा भी कर्त्तव्य है कि मैं भी भेंट लेकर चक्रवर्ती के समक्ष उपस्थित होऊँ। इस प्रकार विचार कर मागध तीर्थाधिपति देव ने भरत को भेंट करने के लिये हार, मुकुट, कुंडल, कंकण, भुजबन्ध, वस्त्र, आभरण, भरत का नामांकित बाण और मागध तीर्थ का जल लिया और इन्हें लेकर

उत्कृष्ट त्वरित देवगति से चलकर जहाँ भरत चक्रवर्ती अवस्थित थे, वहाँ आकाश में रुका। पाँचों वरुणों के अति मनोहर दिव्य वस्त्रधारी मागधदेव के घुघरुओं की सम्मोहक मधुर ध्वनि ने सबका ध्यान आकाश की ओर आकर्षित किया। मागध देव ने जय विजय के घोष से भरत को वर्द्धापित करते हुए दोनों हाथ जोड़कर उनके सम्मुख उपस्थित हो निवेदन किया—“हे देवानुप्रिय ! आपने पूर्व में मागध तीर्थ की सीमापर्यन्त सम्पूर्णा भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है। अतः मैं आपके देश में रहने वाला आपका आज्ञाकारी किकर हूँ। मैं आपके राज्य की पूर्व दिशा की अन्तिम सीमा का पालक (संरक्षक) हूँ, यह विचार कर आप मेरी ओर से भेंट किये जा रहे प्रीतिदान को स्वीकार करें।” यह कहते हुए उसने अपने साथ भेंट हेतु लाई हुई उपर्युल्लिखित हार आदि सभी वस्तुएँ भरत को भेंट कीं। महाराज भरत ने मागध तीर्थाधिपति देव की भेंट को स्वीकार कर उसका सत्कार सम्मान किया और तदनन्तर उसे मधुर वचनों से विसर्जित किया।

मागधतीर्थ कुमार देव को विदा करने के पश्चात् महाराज भरत ने अपना रथ पीछे की ओर घुमाया और सेना सहित वे स्कन्धावार में लौट आये। उपस्थानशाला के पास वे अपने रथ से उतरे। स्नान, मज्जन, विलेपन, आभरणालंकार विभूषण धारण आदि के अनन्तर उन्होंने भोजनमण्डप में उपस्थित हो अष्टमभक्त तप का पारण किया। भोजनोपरान्त उपस्थानशाला में राजसिंहासन पर आसीन हो उन्होंने अपने समस्त परिजनों एवं प्रजाजनों को अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कर उन्हें मागधतीर्थ कुमार देव का आठ दिन तक महिमा महोत्सव मनाने का आदेश दिया। अष्टाह्निक महोत्सव के सम्पन्न होते ही चक्ररत्न आयुधशाला से बाहर निकला। उस वज्ररत्न की नाभि वज्ररत्नमयी, आरा लोहिताक्ष रत्नमयी और धुरा जम्बुरत्नमयी था। उसकी आभ्यन्तर परिधि में अनेक प्रकार के मणिमय क्षुरप्रवाल थे। यह मणियों और दिव्य मोतियों की जालियों से विभूषित था। उसकी घुघरियों से अर्हनिश निरन्तर भेरी, मृदंग आदि बारह प्रकार के दिव्य वाद्ययन्त्रों की कर्णप्रिय अतीव सम्मोहक ध्वनि समस्त वातावरण को मुखरित-गुंजरित करती रहती थी। वह उदीयमान सूर्य की अरुणिम आभा के समान तेजस्वी एवं भास्वर था। वह अनेक प्रकार की मणिमयी एवं रत्नमयी घंटिकाओं की रुचिर पंक्तियों से सुशोभित था। उसके चारों ओर सभी ऋतुओं के चित्र-विचित्र वरुणों वाले सुगन्धित एवं सुमनोहर पुष्पों की मालाएँ लटक रही थीं। वह आकाश में चलता था। एक हजार देवता सदा संरक्षक के रूप में उसकी सेवा सन्निधि में रहते थे। वह दिव्य वाद्य यन्त्रों के निनाद से अन्तरिक्ष और धरातल को आपूरित करता रहता था। उसका नाम सुदर्शन था जो कि चक्रवर्ती का पहला रत्न माना गया है।

आठ दिन के मागध देव के महामहोत्सव के सम्पन्न होने पर महाराज भरत ने देखा कि चक्ररत्न दक्षिण-पश्चिम के बीच की नैऋत्य कोण में वरदाम तीर्थ की ओर प्रस्थित हुआ है। महाराज भरत भी अभिषेक हस्ति पर आरूढ़ हो अपनी सेना को साथ ले चक्र के पीछे-पीछे चलने लगे। वे चक्ररत्न द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर आगे बढ़ते हुए सर्वत्र अपनी जय पताका फहराते, विजितों से बहुमूल्य भेंट स्वीकार करते और एक एक योजन के अन्तर से सेना का पड़ाव डालते हुए वरदाम तीर्थ के पास आये। वहाँ अपनी सेना को पड़ाव डालने का आदेश दे भरत ने अपने वार्द्धिक रत्न से अपने लिये आवास और पौषधशाला का निर्माण करवाया।

तदनन्तर भरत ने पौषधशाला में प्रविष्ट हो अपने सब अलंकारों और आयुधों को उतार कर पूर्वोक्त विधि से वरदाम तीर्थाधिपति देव की साधना के लिये पौषधपूर्वक अष्टम भक्त किया। अष्टम भक्त के पूर्ण होने पर उन्होंने रथारूढ़ हो अपनी सेना के साथ वरदाम तीर्थ की ओर प्रयाण किया। लवण समुद्र के पास पहुँच कर भरत ने अपने रथ को लवण समुद्र में हाँका। लवण समुद्र का पानी जब रथ की पीजनी तक आ गया तब उन्होंने रथ को रोककर अपने धनुष पर पूर्वोक्त विधि से स्व नामांकित सर का संधान कर प्रत्यंचा को कान तक खींचते हुए उसे छोड़ा। मागध तीर्थाधिपति देव के समान ही वरदामतीर्थाधिपति भी भरत के सम्मुख उपस्थित हुआ और उसने भरत की अधीनता स्वीकार करते हुए उन्हें मुकुट, वक्षस्थल का दिव्य आभरण, कंठ का आभरण, कटि-मेखला, कड़े और बाहुओं के आभरण भेंट किये। उसने हाथ जोड़कर भरत से कहा—“देवानुप्रिय ! मैं आपका वशवर्ती किंकर और आपके राज्य की दक्षिण दिशा की सीमा का अंतपाल हूँ।”

महाराज भरत ने वरदाम तीर्थकुमार देव की भेंट को स्वीकार किया। उसका सत्कार-सन्मान करने के पश्चात् उसे विसर्जित किया। तदनन्तर सेना सहित स्कन्धावार में लौट कर भरत ने स्नानादि से निवृत्त हो द्वितीय अष्टभक्त तप का पारण किया और उपस्थानशाला में सिंहासन पर आसीन हो अपनी प्रजा की अठारह श्रेणि-प्रश्रेणियों को करमुक्त कर आठ दिन तक वरदाम तीर्थाधिपति देव का महामहोत्सव मनाने का सबको आदेश दिया।

वरदाम तीर्थ कुमार देव का अष्ट दिवसीय महा महोत्सव सम्पन्न होते ही चक्ररत्न आयुधशाला से निकल कर अन्तरिक्ष में उत्तर पश्चिम दिशा के बीच की वायव्य कोण में प्रभास तीर्थ की ओर बढ़ा। तत्काल महाराज भरत ने भी अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ चक्ररत्न का अनुगमन प्रारम्भ किया। एक एक योजन के अन्तर से सेना का पड़ाव डालते हुए और वायव्य दिशा के समस्त भूमण्डल को अपने अधीन करते हुए वे प्रभास तीर्थ के पास आये। यहाँ

सेना ने स्कन्धावार में पड़ाव डाला । महाराज भरत ने अपने वाद्विक रत्न द्वारा निर्मित पौषधशाला में प्रभास तीर्थाधिपति देव की साधना के लिये पूर्वोक्त विधि से पौषध सहित अष्टम भक्त किया । अष्टमभक्त तप के सम्पन्न होने के पश्चात् उन्होंने रथारूढ़ हो अपनी सेनाओं के साथ प्रभास तीर्थ की ओर प्रयाण किया । उन्होंने लवण समुद्र में रथ की पींजनी पर्यन्त पानी आने तक रथ को हांका और पूर्ववत् ही अपने घनुष से प्रभास तीर्थाधिपति देव के भवन की ओर तीर छोड़ा । प्रभास तीर्थ का अधिष्ठाता देव भी रत्नों की माला, मुकुट, मौलिक-जाल, स्वर्णजाल, कड़े, बाहुओं के आभरण प्रभास तीर्थ का पानी, नामांकित बाण आदि अनमोल भेंट सामग्री लेकर भरत की सेवा में पहुंचा । उसने वे सब वस्तुएं भरत को भेंट करते हुए करबद्ध हो निवेदन किया—“देवानुप्रिय ! मैं वायव्य दिशा का अन्तपाल, आपके राज्य में रहने वाला आपका आज्ञाकारी किकर हूँ ।” भरत ने उसकी भेंट स्वीकार कर उसे सम्मानित कर विदा किया । सम्पूर्ण वायव्य दिशा को जीत कर अपने राज्य में मिलाने के पश्चात् भरत अपनी सेना सहित अपने सैन्य शिविर में लौट आये । स्नानादि से निवृत्त हो तृतीय अष्टम भक्त तप का पारणा करने के पश्चात् उन्होंने अठारह श्रेणि-प्रश्रेणियों के लोगों को बुला कर उन्हें करमुक्त, शुल्क मुक्त एवं दंडमुक्त करते हुए प्रभास तीर्थाधिपति देव का अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाने की आज्ञा दी । सब लोगों ने आठ दिन तक महा महोत्सव मनाया ।

तत्पश्चात् चक्ररत्न आयुधशाला से निकल कर दिव्य वाद्य यन्त्रों की सुमधुर ध्वनि से नभमण्डल को आपूरित करता हुआ अन्तरिक्ष में सिन्धु महा नदी के दक्षिणी तट से पूर्व दिशा में अवस्थित सिन्धु देवी के भवन की ओर अग्रसर हुआ । यह देख महाराज भरत बड़े हृष्ट एवं तुष्ट हुए । अभिषेक हस्ति पर आरूढ़ हो सेना सहित वे भी चक्ररत्न का अनुसरण करते हुए सिन्धु देवी के भवन के पास आये । वहां बारह योजन लम्बा और नी योजन चौड़ा स्कन्धावार बनवा सेना का पड़ाव डाला और अपने वाद्विक रत्न से अपने लिये आवास और पौषधशाला बनवा कर पौषधशाला में सिन्धु देवी की साधना के लिये भरत ने पौषध सहित चौथा अष्टम भक्त तप किया । अष्टम भक्त के पौषध में वे पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के साथ दर्भ के आसन पर बैठ सिन्धु देवी का चिन्तन करते रहे । अष्टम भक्त तप के पूर्ण होते होते सिन्धु देवी का आसन प्रकम्पित हुआ । सिन्धु देवी ने अवधिज्ञान के उपयोग से देखा कि भरत-क्षेत्र के इस अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत षट्खण्ड के साधनाय उसके भवन के पास आये हैं । यह त्रिकालवर्ती सिन्धु देवियों का जीताचार है कि वे चक्रवर्ती को भेंट समर्पित करें । अतः मुझे भी चक्रवर्ती भरत को उनके समक्ष जाकर भेंट प्रस्तुत करनी चाहिये । इस प्रकार विचार कर सिन्धु देवी रत्नजटित १००८ कुम्भकलश, भांति भांति के दुर्लभ मणिरत्नों से जटित दो

स्वर्गमय भद्रासन, भुजबन्ध आदि अनेक आभरण लेकर उत्कृष्ट देवगति से भरत महाराज के पास उपस्थित हुई और हाथ जोड़कर उन्हें निवेदन करने लगी :—“हे देवानुप्रिय ! आपने भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है । मैं आपके अधिकारक्षेत्र में रहने वाली आपकी आज्ञाकारिणी किकरी हूँ अतः आप भेंट स्वरूप मेरा यह प्रीतिदान स्वीकार करें ।”

इस प्रकार निवेदन कर सिन्धुदेवी ने भरत को अपने साथ लाई हुई उपरिलिखित सभी वस्तुएं भेंट स्वरूप समर्पित कीं । महाराज भरत ने सिन्धु देवी द्वारा भेंट की गई वस्तुओं को स्वीकार किया । तदनन्तर भरत ने सिन्धु-देवी का सत्कार सम्मान कर उसे आदरपूर्वक विदा किया ।

सिन्धुदेवी को विदा करने के पश्चात् महाराजा भरत ने स्नानादि से निवृत्त हो चतुर्थ अष्टमभक्त तप का पारणा किया । तदनन्तर उपस्थान शाला में सिंहासन पर पूर्वाभिमुख आसीन हो अपनी प्रजा को कर, शुल्क, दण्ड आदि से मुक्त कर उसे सिन्धुदेवी का अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाने का आदेश दिया । भरत महाराज की आज्ञानुसार आठ दिन तक सिन्धुदेवी का महामहोत्सव मनाया गया ।

सिन्धुदेवी के अष्टाह्निक महोत्सव के अवसान पर वह सुदर्शन नामक चक्ररत्न भरत की आयुधशाला से निकल आकाशमार्ग से ईशान कोण में वैताढ्य पर्वत की ओर बढ़ा । हस्तिस्कन्धाधिरूढ़ भरत अपनी विशाल वाहिनी के साथ चक्ररत्न द्वारा प्रदर्शित पथ पर सभी प्रदेशों पर अपनी विजयवैजयन्ती फहराते एवं विजित अधिपतियों से भेंट ग्रहण करते हुए एक एक योजन के अन्तर पर अपनी सेना का पड़ाव डाल पुनः कूच करते हुए वैताढ्य पर्वत की दक्षिणी तलहटी में आये । वहां सेना का पड़ाव डालने के पश्चात् वैताढ्य गिरिकुमार देव की साधना के लिये पोषधशाला में अष्टमभक्त और पोषधद्रत ग्रहण कर दर्भासन पर बैठ एकाग्रचित्त हो उसका चिन्तन करने लगे । अष्टम-भक्त तप के पूर्ण होते ही वैताढ्य गिरिकुमार देव का आसन दोलायमान हुआ । अवधिज्ञान द्वारा भरत चक्रवर्ती के आगमन तथा विगत, वर्तमान एवं भावी वैताढ्य गिरि कुमार देवों के जीताचार से अवगत हो भरत को भेंट करने के लिये अभिषेक योग्य अलंकार, कंकण, भुजबन्ध, वस्त्र आदि ले दिव्य देवगति से भरत के सम्मुख उपस्थित हुआ । उसने हाथ जोड़कर भरत से निवेदन किया :— “हे देवानुप्रिय ! आपने भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है, मैं भी आपके राज्य में रहने वाला आपका आज्ञाकारी किकर हूँ, अतः यह भेंट आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ । आप इसे कृपा कर स्वीकार करें ।”

महाराज भरत ने भेंट स्वीकार कर वैताढ्य गिरिकुमार देव का सत्कार-सम्मान किया और तदनन्तर उसे विदा किया । तत्पश्चात् महाराज भरत

ने स्नानादि से निवृत्त हो पाँचवें अष्टमभक्त तप का पारणा किया और अपने प्रजाजनों को करमुक्त कर पूर्ववत् वैताड्य गिरि कुमार देव का भी अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाने का आदेश दिया। बड़े हर्षोल्लास से सबने अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाया।

इस पाँचवें अष्टाह्निक महोत्सव के समाप्त होते ही वह मुदर्शन चक्ररत्न पुनः आयुधशाला से निकला और अन्तरिक्ष को दिव्य वाद्ययन्त्रों के निनाद से गुंजाता हुआ वैताड्य की दक्षिणी तलहटी से पश्चिम दिशा में तिमिस्र गुफा की ओर अग्रसर हुआ। यह देख भरत बड़े हृष्ट-नुष्ट एवं प्रमुदित हुए। उन्होंने अभिवेक हस्ति पर आरूढ़ हो अपनी सेना के साथ चक्ररत्न का अनुसरण किया। एक एक योजन के प्रयाण के पश्चात् पड़ाव और पुनः प्रयाण के क्रम से वे तिमिस्र गुहा के समीप पहुँचे। वहाँ बारह योजन लम्बे और नौ योजन चौड़े क्षेत्र में अपनी सेना का पड़ाव डालकर महाराज भरत ने कृतमाल देव की आराधना के लिये पौषधशाला में दर्भासन पर बैठ पौषध सहित अष्टमभक्त तप किया। इस छठे अष्टमभक्त तप के पूर्ण होते होते कृतमाल देव का आसन चलित हुआ और अवधिज्ञान के उपयोग से वस्तुस्थिति को यथावत् जानकर वह महाराज भरत को भेंट करने हेतु उनके भावी स्त्रीरत्न के लिये तिलक आदि चौदह प्रकार के आभरण तथा अनेक प्रकार के वस्त्रालंकार एवं आभरण आदि लेकर भरत की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने हाथ जोड़कर भरत से निवेदन किया—“देवानुप्रिय ! मैं आपके राज्य का निवासी आपका आज्ञाकारी किकर हूँ। इसीलिये आपको प्रीतिदान के स्वरूप में यह भेंट समर्पित कर रहा हूँ। कृपा कर इसे ग्रहण करें।” इस प्रकार निवेदन करने के पश्चात् कृतमाल देव ने उपरिवर्णित सभी वस्तुएं महाराज भरत को भेंट कीं। भरत ने भेंट स्वीकार कर कृतमाल देव का सत्कार-सम्मान किया और तदनन्तर उसे विसर्जित अर्थात् विदा किया।

कृतमाल देव को विदा करने के पश्चात् महाराज भरत ने आवश्यक कृत्यों से निवृत्त हो छठे तैले के तप का पारणा किया। भोजनोपरान्त वे उपस्थानशाला में सिंहासन पर पूर्वाभिमुख हो आसीन हुए। उसी समय उन्होंने प्रजाजनों को कर आदि से मुक्त कर कृतमाल देव का अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाने का आदेश दिया। आठ दिन तक बड़ी धूमधाम से कृतमाल देव का अष्टाह्निक महोत्सव मनाया गया।

उस छठे महोत्सव के सम्पन्न हो जाने पर महाराज भरत ने अपने सेनापतिरत्न मुखसेन को बुलाकर आदेश दिया—“हे देवानुप्रिय ! तुम चतुरंगिणी सेना लेकर सिन्धु नदी के पश्चिमी तट से लवण समुद्र और वैताड्य पर्वत तक जो छोटा खण्ड है, उसके सब देशों को, वहाँ की सब अथवा विषम

सब प्रकार की भूमि पर विजय प्राप्त कर वहां से उत्तम वजूरत्न आदि महाधर्म वस्तुएं भेंट में प्राप्त कर लाओ ।”

यह सुनकर भरत चक्रवर्ती का सेनापति रत्न सुखसेन बड़ा हृष्ट एवं तुष्ट हुआ । उसने हाथ जोड़कर भरत महाराज की आज्ञा को “यथाज्ञापयति देव” कहकर शिरोधार्य किया । उसने सैन्य शिविर में अपने कक्ष में आकर अपनी सेना को सुसज्जित होने का आदेश दिया । अपने आज्ञाकारी सेवकों को बुलाकर उन्हें अपने श्रेष्ठ गजराज को युद्ध के योग्य सभी साज सज्जाओं से सुसज्जित करने की आज्ञा दे स्नान किया । तदनन्तर सुदृढ़ अभेद्य कवच धारण कर वस्त्राभरण एवं आयुधों से सुसज्जित हो हाथी पर आरूढ़ हुआ । शिर पर छत्र धारण किये हुए सुखसेन सेनापति ने एक विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ जयघोषों के बीच सिन्धु नदी की ओर प्रयाण किया । सुखसेन सेनापति महा पराक्रमी, ओजस्वी, तेजस्वी, युद्ध में सर्वत्र अजेय, म्लेच्छों की सब प्रकार की भाषाओं का विशेषज्ञ, बड़ा ही मृदुभाषी, भरतक्षेत्र के सम, विषम, दुर्गम और गुप्त सभी प्रकार के स्थानों को जानने वाला, शस्त्र एवं शास्त्र दोनों प्रकार की विद्याओं में निष्णात, अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्र में पारंगत और सम्पूर्ण भरतक्षेत्र में अपने अजेय शौर्य के लिये विख्यात था । सिन्धु नदी के पास आकर सेनापति ने भरत चक्रवर्ती का चर्मरत्न उठाया, जिसे कि चक्रवर्ती घोर वृष्टि के समय उपयोग में लिया करते हैं । उस चर्मरत्न का आकार श्रीवत्स के समान था, वह अचल, अकम्प एवं उत्तमोत्तम कवच के समान अभेद्य था । वह चक्रवर्ती की सुविशाल समस्त चतुरंगिणी सेना को एक ही बार में महानदियों और समुद्रों को उत्तीर्ण कराने में पूर्णतः समर्थ था । वह चर्मरत्न शालि, यव, क्रीही, गेहूं, चने, चावल आदि सत्रह प्रकार के धान्य, सात प्रकार के रस, मसाले आदि सभी प्रकार की खाद्य सामग्री का उत्पत्ति स्थान था । धान्यादि जो भी वस्तु उसमें प्रातःकाल बोई जाती तो वह उसी दिन संध्या समय तक पक कर तैयार हो जाती थी । वह चर्मरत्न बारह योजन से भी कुछ अधिक विस्तार में फैल जाता था ।

सुखसेन सेनापति ने इस प्रकार के अनेक अलौकिक गुणों से सम्पन्न चर्मरत्न को ग्रहण किया । वह तत्काल एक अति विशाल नाव के रूप में परिवर्तित हो गया । उस नाव में अपने समग्र बल-बाहन एवं चतुरंगिणी के साथ सेनापति आरूढ़ हुए । महा वेगवती कल्लोलशालिनी उस सिन्धु महानदी को चर्मरत्न से सेना सहित पार कर सेनापति ने सिन्धु नदी के पश्चिमी प्रदेशों पर चक्रवर्ती भरत की विजय वैजयन्ती फहराने का अभियान प्रारम्भ किया । सेनापति ने क्रमशः सिंहल, बर्बर, अतिरमणीय अंगलोक, यवनद्वीप, श्रेष्ठ मरिचरत्नों और स्वर्ण के भण्डारों से परिपूर्ण अरब देश, रोम, अरखंड, पंखुर, कालमुख, यवनक देश और उत्तर दिशा में वैताढ्य पर्वत पर्यन्त सभी देशों, नैऋत्य कोण

के देशों और सिन्धु नदी से समुद्र पर्यन्त कच्छ देश पर विजय प्राप्त की। उन सभी विजित देशों के अधिपतियों से सुखसेन सेनापति को चक्रवर्ती भरत के लिये भेंट स्वरूप मणि-रत्न स्वर्णभरणादि के विपुल भण्डार प्राप्त हुए। उन सब देशों के पत्तनों, महापत्तनों एवं मण्डलों आदि के स्वामियों ने सेनापतिरत्न को अनेक प्रकार की बहुमूल्य भेंट प्रस्तुत करते समय हाथ जोड़कर उन्हें निवेदन किया—“चक्रवर्ती भरतेश्वर के सेनापति ! महाराज भरत हमारे स्वामी हैं। हम आपकी शरण में आये हैं। हम आपके देश में रहने वाले आपके आज्ञाकारी सेवक हैं।”

सेनापति ने उन सबका सत्कार-सम्मान किया और प्रशासन सम्बन्धी बातचीत कर उन्हें विदा किया। उपर्युक्त, सिन्धु नदी के पश्चिम तट से लवण समुद्र और वैताद्य पर्वत पर्यन्त सभी देशों में महाराज भरत की अखण्डित आज्ञा प्रसारित कर सुखसेन सेनापति सिन्धु महानदी को पार कर अपनी सेना के साथ भरत महाराज की सेवा में लौटा। सिन्धु नदी के पश्चिमी तट से लवण समुद्र और वैताद्य पर्वत पर्यन्त सभी देशों पर अपने विजय अभियान का सारभूत वृत्तान्त भरत महाराज को सुनाने के पश्चात् सेनापति ने उन देशों से प्राप्त समस्त सामग्री उन्हें समर्पित की। महाराज भरत ने सेनापति का सत्कार सम्मान कर विसर्जित किया।

कतिपय दिनों तक महाराज भरत ने वहीं पर वार्द्धिक रत्न द्वारा निर्मित अपने प्रासाद में और सेनापति तथा सैनिकों ने स्कन्धावार में अनेक प्रकार के नाटक देखते एवं विविध भोगोपभोगों का उपभोग करते हुए विश्राम किया।

एक दिन महाराज भरत ने अपने सेनापतिरत्न सुखसेन को बुलाकर तिमिस्र गुफा के दक्षिण द्वार के कपाट खोलने का आदेश दिया। सेनापति ने अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य कर पौषधशाला में पौषध सहित अष्टम-भक्त तप के द्वारा कृतमाल देव की आराधना की। अष्टमभक्त तप के पूर्ण होने पर स्नानान्तर वस्त्रालंकारों से सुमज्जित हो धूप, पुष्प, माला आदि हाथ में ले तिमिस्र गुफा के दक्षिणी द्वार के पास गया। सेनापति का अनुगमन करते हुए अनेक ईसर, तलवार, मांडविक, सार्थवाह आदि अपने हाथों में पुष्प आदि और अनेक देश-विदेशों की दासियों के समूह मंगल कलश आदि लिये तिमिस्र गुफा के द्वार पर पहुँचे।

सेनापति ने मयूर पिच्छ से कपाटों का प्रमाज्जन और पानी की धारा से प्रक्षालन करने के पश्चात् उन कपाटों पर गोशीर्ष चन्दन के लेप से पांचों अंगुलियों सहित हथेली के छापे लगाये। गंध, माला आदि से कपाटों की अर्चना की। कपाटों के सम्मुख जानु प्रमाण पुष्पों का ढेर लगाया। कपाटों पर वस्त्र का आरोपण किया। तत्पश्चात् सेनापति ने स्वच्छ एवं श्वेत रजतमय सुकोमल



चावलों से कपाटों के समक्ष अष्ट मांगलिकों का आलेखन किया। वहाँ पुनः जानुप्रमाण पुष्पों का ढेर कर उसने चक्रवर्ती के दण्डरत्न को धूप दिया। हाथ जोड़कर कपाटों को प्रणाम किया। तदनन्तर रत्नमय मूठ वाले वज्रनिर्मित, शत्रुओं का विनाश करने में समर्थ, चक्रवर्ती की सेना के मार्ग में खड्डों, गुफाओं एवं विषम स्थानों आदि को समतल बनाने में सक्षम, उपद्रवों को नष्ट कर शान्ति के संस्थापक, सुखकर, हितकर और चक्रवर्ती के ईप्सित मनोरथ को तत्काल पूर्ण करने वाले दिव्य एवं अप्रतिहत चक्रवर्ती के दण्डरत्न को हाथ में लेकर सेनापति ने सात-आठ पांव पीछे की ओर सरक कर और पुनः बड़ी त्वरित गति से कपाटों की ओर बढ़कर उस दण्डरत्न से तिमिस्र गुफा के दक्षिणी द्वार के कपाट पर पूरे वेग के साथ प्रहार किया। इसी प्रकार दूसरी बार और तीसरी बार भी प्रहार किया। सेनापति द्वारा तीसरे प्रहार के किये जाते ही तिमिस्र-प्रभा गुफा के कपाट घोर रव करते हुए पीछे की ओर सरके और पूरी तरह खुल गये। तिमिस्र प्रभा गुफा के द्वारखोलने के पश्चात् सेनापति महाराज भरत की सेवा में लौटा। तिमिस्रप्रभा के दक्षिणी द्वार के कपाटों के खुलने का सुसंवाद सुनकर भरत को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने सेनापति को सम्मानित किया। उसी समय चक्ररत्न आयुधशाला से निकला और तिमिस्रप्रभा के दक्षिणी द्वार की ओर अग्रसर हुआ। यह देखकर भरत ने सेनापति को तत्क्षण प्रयाण के लिये सेना को सन्नद्ध करने एवं अपने लिये हस्तिरत्न को सुसज्जित करवाने का आदेश दिया।

सैनिक प्रयाण की पूरी तैयारी हो जाने के पश्चात् भरत महाराज श्रेष्ठ गजराज पर आरूढ़ हुए। उन्होंने मणियों में सर्वश्रेष्ठ चार अंगुल लम्बे और दो अंगुल चौड़े अनुपम कागितशाली मणिरत्न को अपने गजराज के दक्षिण कपोल पर धारण करवाया। इस मणिरत्न की एक हजार देवता अहनिश सेवा करते थे। इस मणिरत्न की अगणित विशेषताओं में मुख्य-मुख्य विशेषताएं ये थीं कि उस मणिरत्न को शिर पर धारण करने वाला सदा यौवन सम्पन्न, सुखी, स्वस्थ और परम प्रसन्न रहता। उस पर किसी भी प्रकार के शस्त्र का प्रहार नहीं होता। देव, मनुष्य और तिर्यच किसी भी प्रकार के उपसर्ग उसका कभी पराभव नहीं कर सकते। वह सदा पूर्णतया निर्भय रहता है।

उस मणिरत्न को हस्तिरत्न के दक्षिण कपोल पर धारण करवाने के पश्चात् महाराज भरत ने आकाश को प्रकम्पित कर देने वाले जयघोषों के बीच अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ तिमिस्रप्रभा गुफा की ओर प्रयाण किया। उस गुफा के दक्षिण द्वार के पास आकर उन्होंने उसमें प्रवेश किया। गुफा में प्रवेश करते समय वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों चन्द्रमा सघन काली मेघ घटा में प्रवेश कर रहा हो। उस काली घोर अन्धकारपूर्ण तिमिस्रप्रभा गुफा में प्रवेश करते

ही भरत ने स्वर्णकार की अधिकरणी (एरण) के आकार के समान आकार वाले, छः तलों, बारह अंशों, और आठ कोनों वाले काकिणीरत्न को हाथ में लिया। वह काकिणी रत्न चार अंगुल ऊंचा तथा चार-चार अंगुल लम्बा और चौड़ा तथा तौल में आठ स्वर्ण पदिकाओं के बराबर था। जिस तिमिस्रप्रभा गुफा में सूर्य, चांद और तारे प्रकाश नहीं कर पाते, वहां चक्रवर्ती द्वारा काकिणी रत्न को हाथ में लेते ही, उसके प्रभाव से उस घोर अन्धकारपूर्ण तिमिस्रप्रभा गुफा में बारह योजन तक प्रकाश ही प्रकाश व्याप्त हो गया। उस काकिणी रत्न में अनेक अति विशिष्ट गुण थे। उस काकिणी रत्न को धारण करने वाले पर स्थावर अथवा जंगम किसी भी प्रकार के विष का प्रभाव नहीं होता। संसार में जितने भी मान-उन्मान हैं, उन सब का सही ज्ञान काकिणी रत्न में हो जाता। उसके प्रभाव से रात्रि में भी दिन के समान प्रकाश रहता।

उस काकिणी रत्न के प्रभाव से भरत ने द्वितीय अर्द्ध भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त करने के लिये उस काली अधियारी गुफा में प्रवेश किया। गुफा में प्रवेश करने के पश्चात् महाराज भरत ने उस गुफा की पूर्व और पश्चिम दोनों भित्तियों पर काकिणी रत्न से चन्द्र मंडल के समान आकार वाले मण्डलों का एक-एक योजन के अन्तर पर आलेखन करना प्रारम्भ किया। इस तिमिस्रप्रभा गुफा को पार करने तक भरत ने एक-एक योजन के अन्तर से इस प्रकार के कुल मिलाकर ४६ मंडल उस काकिणी रत्न से बनाये। उन मंडलों के प्रभाव से संपूर्ण गुफा में चारों ओर दिन के समान प्रकाश ही प्रकाश हो गया। उस तिमिस्र प्रभा गुफा के बीच में उन्मग्नजला और निमग्नजला नाम की दो बड़ी भयाव्रनी महा नदियां बहती हैं। उन्मग्नजला महानदी में जो कोई भी तृण, पत्र, काष्ठ, कंकर, पत्थर, हाथी, घोड़ा, रथ, योद्धा अथवा कोई भी मनुष्य गिरता है, उसे वह तीन बार घुमाकर स्थल पर फेंक देती है। इसके विपरीत निमग्नजला महानदी अपने अन्दर गिरी हुई प्रत्येक वस्तु को, अपने अन्दर गिरे हुए किसी भी मनुष्य अथवा पक्षी को तीन बार घुमा कर अपने गहन तल में डुबो देती है। ये दोनों महानदियां उस गुफा की पूर्व दिशा की भित्ति से निकलकर पश्चिम दिशा की सिन्धु महानदी में मिल गई है।

उस तिमिस्रप्रभा गुफा में चक्ररत्न द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलते हुए महाराज भरत अपनी सेना के साथ सिन्धु नदी के पूर्व दिशा के किनारे पर उन्मग्नजला महानदी के पास आये। वहां उन्होंने अपने वार्द्धिक रत्न को उन दोनों नदियों पर अनेक शत स्तम्भों के अबलम्बन से युक्त अचल, अकम्प, अभेद्य, दोनों ओर अबलम्बन युक्त, सर्व रत्नमय ऐसा सुदृढ़ पुल बनाने का आदेश दिया जिस पर उनकी समग्र हस्तिसेना, अश्वसेना, रथसेना और पदाति-सेना पूर्ण सुख-सुविधा के साथ आवागमन कर सके। वार्द्धिक रत्न महाराज भरत का आदेश सुनकर अत्यधिक हृष्ट एवं तुष्ट हुआ। उसने अपने स्वामी की आज्ञा को

शिरोधार्य किया और देखते ही देखते उन दोनों महानदियों पर सैकड़ों स्तम्भों के आधार से संयुक्त एक अति विशाल एवं अतीव सुदृढ़ सेतु निर्मित कर दिया। सुदृढ़ सेतु का निर्माण करने के पश्चात् बार्दिक रत्न ने भरत की सेवा में उपस्थित हो निवेदन किया—“देव ! आपकी आज्ञा का अक्षरशः पालन कर दिया गया है। देवानुप्रिय सुदृढ़ सेतु तैयार है।

तदनन्तर भरत ने उस सेतु पर होते हुए अपनी सेना के साथ उन दोनों महानदियों को पार कर तिमिस्रप्रभा गुफा के उत्तरी द्वार की ओर प्रस्थान किया। भरत के वहाँ पहुँचते ही उस गुफा के उत्तरी द्वार के कपाट कड़-कड़ निनाद के साथ स्वतः खुल गये। सेना सहित गुफा से पार हो महाराज भरत ने आगे की ओर प्रयाण किया।

उस समय भरतक्षेत्र के उस उत्तरार्द्ध विभाग में आपात नामक चिलात अर्थात् म्लेच्छ जाति के लोग रहते थे। वे आपात लोग बड़े ही समृद्ध एवं तेजस्वी थे। वे विशाल एवं विस्तीर्ण भवनों में रहते थे। उनके पास गृह, शैया, सिंहासन, रथ, घोड़े, पालकी आदि का प्राचुर्य था। उनके भण्डार स्वर्ण-रत्न आदि से परिपूर्ण थे। उनके वहाँ अन्न का उत्पादन बहुत अधिक होता था। अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि सामग्रियों से उनके कोष्ठागार भरे पड़े थे। उनके पास बहुत बड़ी संख्या में दास, दासी, गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि थे। वे सब बड़े वैभवशाली, बलिष्ठ, हृष्ट-पुष्ट, शूरवीर, मनुष्यों में अपराभूत, अजेय, योद्धा और संग्राम में अमोघ लक्ष्य वाले थे। उनके पास बल और वाहनों का बाहुल्य था। जिन दिनों महाराज भरत ने अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ षट्खण्ड की साधना के लिये दिग्विजय का अभियान प्रारम्भ किया उन दिनों आपात चिलात नामक म्लेच्छ राजाओं के उस देश में, अकाल में गर्जन, अकाल में तड़ित् की कड़क, अकाल में ही वृक्षों पर पुष्प-फल आदि का उत्पन्न हो जाना और आकाश में प्रेत जाति के देवों का मृत्यु आदि अनेक प्रकार के उत्पात होने लगे। इन उपद्रवों को देख वे लोग बड़े चिन्तित हुए। जहाँ कहीं वे लोग एकत्रित होते, परस्पर यही बात करते कि हमारे देश में न मालूम कैसा उपद्रव होने वाला है। इन उत्पातों को देखकर तो यही अनुमान होता है कि हमारे देश में कोई न कोई भीषण उत्पात होने वाला है। अनिष्ट की आशंका से वे लोग शोक सागर में निमग्न रहने लगे। अपनी हथेली पर कपोल रखकर वे लोग आर्त ध्यान करने लगे। उनमें से अधिकांश लोग किकर्तव्यविमूढ बने भूमि पर दृष्टि गड़ाये ही बैठे रह जाते।

जिस समय महाराज भरत तिमिस्रप्रभा गुफा के उत्तरी द्वार से बाहर निकल कर उन आपात चिलातों के देश में आगे बढ़ रहे थे उस समय उन आपात चिलात म्लेच्छों ने महाराज की सेना के अग्रिम कटक को अपने देश में

आगे की ओर बढ़ते देखा। उस अग्रिम सैनिक टुकड़ी को देखते ही वे बड़े क्रुद्ध हुए, उनका खून खोलने लगा और उसके परिणामस्वरूप उनकी आंखें लाल हो गईं। वे एक दूसरे को सावधान कर एकत्रित हुए और विचार विनिमय करते हुए कहने लगे कि यह अपनी अकाल मृत्यु की कामना करने वाला दुष्ट, पुण्यहीन चतुर्दशी और अमावस्या का जन्मा हुआ निर्लज्ज और निस्तेज कौन है, जो हमारे देश पर सेना लेकर चढ़ आया है। अहो देवानुप्रियो ! इसको पकड़ो, जिससे कि यह फिर कभी हमारे देश पर सेना लेकर आने का संहस न कर सके।

इस प्रकार परस्पर विचार कर वे लोग कवच सहित पट्ट आदि धारण कर भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सन्नद्ध हो महाराज भरत की सेना की अग्रिम टुकड़ी पर टूट पड़े। उन आपात जाति के चिलात योद्धाओं ने विशाल बल-वाहन के साथ भरत महाराज की सेना की उस अग्रिम टुकड़ी पर शस्त्रास्त्रों के एक साथ अनेक प्रहार किये। उन्होंने उस अग्रिम टुकड़ी के पदातियों के मुकुट, ध्वजा, पताका आदि चिह्नों को गिरा दिया, उनमें से अनेकों को मारा, अनेकों को घायल किया। शेष उन युद्ध-शौण्डीर आपात-चिलातों से पूर्णतः पराजित हो दशों दिशाओं में पलायन कर गये।

जब भरत महाराज के सेनापतिरत्न ने देखा कि उसकी सेना की अग्रिम टुकड़ी को चिलातों ने पूर्णतः पराजित कर दिया है, दशों दिशाओं में भगा दिया है, तो वे क्रोधातिरेक से दाँत पीसने लगे, उनके विशाल लोचन लाल हो गये। वे इन्द्र के अश्वरत्न उच्चैश्रवा से भी स्पर्धा करने वाले अपने कमलमेल नामक अश्व पर आरूढ़ हो, एक हजार देवताओं द्वारा अर्हनिश सेवित खड्गरत्न महाराज भरत से लेकर उन आपात चिलातों पर गरुड़ वेग से झपटे। सेनापति द्वारा किये गये खड्ग-प्रहारों से उन आपात जाति के किरातों के बड़े-बड़े योद्धा धराशायी होने लगे। सुषेण सेनापति ने विद्युत्वेग से खड्ग चलाते हुए भीषण प्रहारों से कुछ ही क्षणों में आपात किरातों की सेना को हत, आहत एवं क्षत-विक्षत कर पलायन के लिये बाध्य कर दिया। आपात किरातों की सेना का कोई भी सुभट सुषेण सेनापति के सम्मुख क्षण भर भी नहीं टिक सका। कुछ ही क्षणों में आपात किरातों की सेना में भगदड़ मच गई, वे सब दशों दिशाओं में भाग खड़े हुए। सुषेण सेनापति के खड्गप्रहारों से वे इतने हतप्रभ उद्विग्न और किर्कतव्य विमूढ़ हुए कि वे सब रणांगण छोड़ वहाँ से अनेकों योजन दूर पीछे की ओर पलायन कर गये। वहाँ वे सब एकत्रित हो और कोई उपाय न देख सिन्धु नदी के तट के समीप गये। वहाँ उन्होंने नदी की बालू रेती का संस्तारक अर्थात् बिछौना बनाया। तदनन्तर सबने अष्टमभक्त तप ग्रहण किया। वे सब कपड़ों को उतार, पूर्णरूपेण नग्न हो अपने उन मिट्टी के संस्तारकों पर ऊपर की ओर मुख किये बैठ गये। अष्टमभक्त तप में इस

प्रकार उर्ध्वमुख लेटे लेटे उन्होंने अपने कुल देवता मेघमुख नामक नागकुमार की आराधना करना प्रारम्भ किया । जब उन आपात किरातों का सामूहिक अष्टम-भक्त तप पूर्ण हुआ तो मेघमुख नामक नागकुमार देवों का आसन चलायमान हुआ । अवधिज्ञान के उपयोग से उन नागकुमारों ने अपने आराधक आपात किरातों को उस दशा में देखा । उन्होंने अपने सब देवों को बुलाकर कहा—  
“हे देवानुप्रिय ! जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में आपात जाति के किरात सिन्धु नदी की रेती में रेती का संस्तारक बना, बिल्कुल नग्न हो उर्ध्वमुख पड़े हुए अपने कुल देवता मेघमुख नामक नागकुमारों का स्मरण कर रहे हैं । अतः हमें उन लोगों के पास जाना चाहिये ।”

इस प्रकार परस्पर मंत्रणा कर वे मेघमुख नामक नागकुमार देव उत्कृष्ट देवगति से उन आपात किरातों के पास आये । उन्होंने आकाश में ही खड़े रहकर आपात किरातों को सम्बोधित करते हुए कहा—“हे देवानुप्रिय ! तुम लोग इस दशा में जिनका स्मरण कर रहे हो, हम वे ही मेघमुख नामक नागकुमार और तुम्हारे कुल-देवता हैं । बोलो, हम तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करें ?”

अपने कुलदेव को प्रत्यक्ष देख एवं उनकी बात सुन आपात चिलात हृष्ट एवं तुष्ट हुए । अपने-अपने स्थान से उठकर सब उन मेघमुख नागकुमारों के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हुए और उनकी जय-विजय के घोष के साथ कहने लगे—“हे देवानुप्रिय ! मृत्यु की कामना करने वाला कोई निर्लज्ज, दुष्ट हमारे देश पर आक्रमण कर हमारी स्वतन्त्रता छीनने आया है । इसलिये आप उस आततायी को मारो, उसकी सैन्य-शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दशों दिशाओं में भगा दो, जिससे कि वह फिर कभी हमारे देश पर आक्रमण करने का साहस न कर सके ।”

उन आपात किरातों की बात सुनकर मेघमुख नागकुमार ने कहा—“हे देवानुप्रियो ! वास्तविकता यह है कि यह भरत राजा चक्रवर्ती सम्राट् है, कोई भी देव, दानव, किन्नर, किपुरुष, महोरग अथवा गन्धर्व शस्त्र प्रयोग अग्नि-प्रयोग अथवा मन्त्रप्रयोग से उनको न तो पीड़ित करने में समर्थ है और न उनका पराभव करने में ही । तथापि तुम लोगों की प्रीति के कारण हम भरत राजा को उपसर्ग उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं ।”

आपात किरातों को इस प्रकार का आश्वासन देकर मेघमुख नागकुमारों ने वैक्रिय समुद्रघात से मेघ का वैक्रिय किया और भरतराजा के शैव्य शिविर पर घनघोर मेघ घटा से घोर गर्जन एवं भीषण कड़क सहित मूसलद्वय अथवा मुष्टिद्वय प्रमाण जल धाराओं से निरन्तर सात दिन तक उत्कृष्ट गति से वर्षा

करने को प्रवृत्त हुए । विजयिनी सेनापर इस प्रकार की युग मूसल एवं मुष्टिद्वय प्रमाण जल धाराओं से बरसती हुई घोर वृष्टि को देखकर महाराजा भरत ने चर्मरत्न को हाथ में लिया । वह चर्मरत्न तत्काल बारह योजन विस्तार वाला बन गया । महाराज भरत तत्काल अपनी सेना के साथ उस चर्मरत्न पर आरूढ़ हो गये । तदनन्तर महाराज भरत ने दिव्य छत्ररत्न ग्रहण किया । वह छत्ररत्न तत्काल निन्यानवे हजार नव सौ स्वर्णमय ताड़ियों वाला निश्छिद्र, वर्तुलाकार, कमल की कर्णिका के समान आकार वाला अर्जुन नामक श्वेत स्वर्ण के वस्त्र से ढका हुआ, स्वर्णमय सुपुष्ट दण्ड वाला अत्यन्त सुन्दर मणियों एवं रत्नों से मंडित, ऋतु से विपरीत छाया वाला, एक सहस्र देवताओं द्वारा सेवित, साधिक बारह योजन विस्तार वाला छत्र बन गया । वह छत्ररत्न भरत चक्री द्वारा समस्त सेना पर छा दिया गया । तदनन्तर महाराज भरत ने अपने मणिरत्न को छत्र के मध्य में रख दिया । उस मणिरत्न के प्रभाव से बारह योजन की परिधि में दिन के समान प्रकाश हो गया । गाथापति रत्न उस चर्मरत्न पर सभी प्रकार के धान्य, वृक्ष, सभी प्रकार के मसाले, भाजियां, वनस्पति, आदि सभी आवश्यक वस्तुएं प्रतिदिन निष्पन्न करने लगा । इस प्रकार महाराज भरत सात रात्रि तक चर्मरत्न पर सुखपूर्वक रहे, उन्हें और उनकी सेना को किसी भी प्रकार की किञ्चिन्मात्र भी असुविधा नहीं हुई । इस प्रकार सात अहोरात्र पूर्ण होने पर महाराज भरत के मन में इस प्रकार का संकल्प विकल्प उत्पन्न हुआ कि अनिष्ट मृत्यु की कामना करने वाला दुष्ट लक्षणों का निधान, निष्पुण्य, निर्लज्ज, निश्श्रीक कौन है जो पुण्य के प्रताप से समर्थ बने हुए एवं यहां पर आये हुए मेरे विजयी चतुरंग सैन्य एवं मुझ पर युगमूसल युगमुष्टि प्रमाण वर्षा सात अहोरात्र से निरन्तर बरसा रहा है ? महाराज भरत के इस प्रकार के मनोगत अध्यवसायों को जानकर उनके सान्निध्य में रहने वाले सोलह हजार (१४ रत्नों के अधिष्ठायाक १४ हजार और भरत की दोनों भुजाओं के अधिष्ठायाक २ हजार) देव कवच, आयुध आदि से सुसज्जित हं मेघमुख नामक नागकुमारों के पास पहुँचे और उन्हें ललकारते हुए कहने लगे :—“अरे अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाले यावत् ह्रीं-श्री परिवर्जित मेघमुख नामक नागकुमार देव ! तुम सात अहोरात्र से यह अविवेक-पूर्ण अनर्थ कर रहे हो । अब यहां से इसी क्षण भाग जाओ अन्यथा हम तुम्हें मारेंगे ।”

यह सुनते ही वे मेघमुख नामक नागकुमार देव बड़े भयभीत एवं त्रस्त हुए । उन्होंने तत्काल मेघों का साहरण किया और वहां से तत्काल चले गये । उन्होंने आपात किरातों के पास जाकर कहा :—“हे देवानुप्रियो ! यह चक्रवर्ती सम्राट् भरत महान् ऋद्धिशाली हैं । कोई भी देव, दानव अथवा मानव इनका पराभव करने में अथवा पीड़ा पहुंचाने में समर्थ नहीं है । ये सर्वथा अजेय हैं ।

इसके उपरान्त भी तुम लोगों की प्रीति के कारण हमने उनके समक्ष उपसर्ग प्रस्तुत किया। उस घोर उपसर्ग से उनका किसी प्रकार का किञ्चिन्मात्र भी अप्रिय नहीं हुआ। अतः अब तुम लोग स्नानादि से निवृत्त हो भीगे हुए वस्त्र धारण किये हुए बालों को खुले रखकर अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्नाभरणादि की विपुल भेंट लेकर उनकी शरण में जाओ। उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम करो और शीघ्रातिशीघ्र उनका आधिपत्य स्वीकार करो। वे महामना महान् उदार और शरणागतवत्सल हैं, उनकी शरण ग्रहण करने पर तुम्हें उनसे अथवा अन्य किसी से किसी भी प्रकार का भय नहीं होगा।” यह कहकर वे मेघमुख नामक नागकुमार देव अपने स्थान को लौट गये।

अपने कुलदेवता के चले जाने के पश्चात् उन आपात किरातों ने उनके परामर्शानुसार स्नान किया, तल मसादिक किये। भीगे वस्त्र धारण कर अपनी केशराशि को खुली रखकर विपुल वज्र, मणि, रत्नाभरणादि साथ लेकर भरत की शरण में गये। उन्होंने हाथ जोड़कर भरत महाराज को प्रणाम किया, उन्हें भेंट करने के लिये अपने साथ लाई हुई बहुमूल्य रत्नाभरणादि सामग्री को उनके समक्ष रख उन्होंने हाथ जोड़कर भरत से निवेदन करना प्रारम्भ किया—“हे हजार लक्ष्णों के धारक विजयी नरेन्द्र ! हम सब आपकी शरण में हैं। आपकी सदा जय हो, विजय हो। चिरकाल तक आप हमारे स्वामी रहें। आप चिरायु हों। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन दिशाओं में लवण समुद्र पर्यन्त, उत्तर दिशा में चुल्ल हिमवन्त पर्यन्त आपका एकछत्र राज्य है। उत्तरार्द्ध भरत और दक्षिणार्द्ध भरत—इन दोनों को मिलाकर सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर आपकी विजय वैजयन्ती फहराये, आपका एकच्छत्र शासन हो, आपकी अखण्ड आज्ञा प्रवर्तित रहे। हम लोग आपके देश में आपकी आज्ञा में रहने वाले आपके आज्ञाकारी सेवक हैं। आप हमारे स्वामी हैं। हे क्षमाशील स्वामिन् ! आप हमारे अपराध को क्षमा करें। भविष्य में हम लोग इस प्रकार का अपराध कभी नहीं करेंगे।”

भरत की सेवा में इस प्रकार निवेदन करते हुए वे आपात चिलात हाथ जोड़कर भरत के चरणों में गिरे। उन्होंने भरत की अधीनता स्वीकार की और अपनी ओर से लाई हुई भेंट स्वीकार करने की उनसे प्रार्थना की। उन लोगों द्वारा समर्पित भेंट को स्वीकार करते हुए महामना भरत ने उनका सत्कार-सम्मान कर यह कहते हुए उन्हें विदा किया—“अब तुम लोग अपने घर जाओ और मेरे आश्रय में सदा निर्भय हो सुखपूर्वक रहो।”

आपात किरातों को अपना आज्ञावर्ती बना, उन्हें विदा करने के पश्चात् महाराजा भरत ने अपने सेनापतिरत्न को बुलाकर पूर्व में सिन्धु, दक्षिण में वैताह्य पर्वत, पश्चिम में लवण समुद्र और उत्तर में चुल्लहिमवन्त पर्वत

पर्यन्त सिन्धु नदी के दूसरे खण्ड के सम अथवा विषम आदि सभी क्षेत्रों को जीत कर उनमें चक्रवर्ती की अखण्ड आज्ञा पालन करने का तथा उन क्षेत्रों के शासकों से भेंट प्राप्त करने का आदेश दिया। महाराज भरत की आज्ञा को शिरोधार्य कर सेनापति ने चक्रवर्ती की चतुरंगिणी सेना को ले विजय अभियान प्रारम्भ किया। कुछ ही समय पश्चात् उन सभी क्षेत्रों को चक्रवर्ती भरत के विशाल राज्य में मिला, उन क्षेत्रों पर भरत की विजय पताका फहरा दी। उन क्षेत्रों के सभी शासकों से भरत के लिये भेंट प्राप्त कर सेनापति रत्न अपनी सेना के साथ भरत महाराज की सेवा में लौटा और उनके समक्ष भेंट में प्राप्त विपुल बहुमूल्य रत्नाभरणादि सामग्री प्रस्तुत कर सांजलि शीश भुका निवेदन किया—  
“देव ! आपके प्रताप से सिन्धु नदी के दूसरे लघु खंड के सम्पूर्ण भूभाग के समस्त शासकों ने आपकी अधीनता स्वीकार करते हुए आपको अपना स्वामी और स्वयं को आपके आज्ञापालक सेवक मानते हुए आपके लिये भेंट स्वरूप यह विपुल बहुमूल्य सामग्री भेजी है।”

महाराज भरत सेनापतिरत्न की बात सुनकर हृष्ट-तुष्ट हुए। उन्होंने सेनापति को सम्मानित किया। कतिपय दिनों तक महाराज भरत अनेक प्रकार के सुखोपभोगों का उपभुंजन करते हुए सेना के साथ वहीं रहे।

एक दिन वह चक्ररत्न आयुधशाला से बाहर निकला और आकाश मार्ग से ईशान कोण में चुल्लहिमवन्त पर्वत की ओर अग्रसर हुआ। चतुरंगिणी सेना के साथ भरत भी चक्ररत्न का अनुगमन करते हुए चुल्लहिमवन्त पर्वत के पास पहुँचे। वहाँ वार्द्धिक रत्न ने सेना के लिये १२ योजन लम्बा और ६ योजन चौड़ा स्कन्धावार एवं महाराज भरत के लिये विशाल प्रासाद एवं पौषधशाला का निर्माण किया। सेना ने स्कन्धावार में विश्राम किया और महाराज भरत ने पौषधशाला में दर्भासन पर बैठ चुल्लहिमवन्त कुमार देव की साधना के लिये पौषधसहित अष्टमभक्त तप किया। षट्खण्ड की साधना हेतु भरत का यह सातवां अष्टमभक्त तप था।

अष्टमभक्त की तपस्या के सम्पन्न होने पर भरत अश्वरथ पर आरूढ़ हो सेना सहित चुल्लहिमवन्त पर्वत के पास आये। उन्होंने वहाँ अपने रथ से चुल्लहिमवन्त पर्वत का तीन बार स्पर्श किया। तदनन्तर रथ को रोका। अपने धनुष पर शर का संधान किया और मागध तीर्थ के अधिपति देव की साधना के समय जिस प्रकार के वाक्य कहे थे उसी प्रकार के वाक्यों का उच्चारण करने के पश्चात् अपना बाण छोड़ा। वह बाण बहत्तर योजन ऊपर जाकर चुल्लहिमवन्तगिरि कुमार देव के भवन में गिरा। अपनी सीमा में गिरे बाण को देखकर पहले तो बड़ा क्रुद्ध हुआ किन्तु बाण पर भरत का नाम देख अवधिज्ञान द्वारा वस्तुस्थिति से अवगत होने के अनन्तर भरत को भेंट करने के लिये सभी



प्रकार की अद्भुत औषधियाँ, राज्याभिषेक योग्य पुष्पमाला, गोशीर्ष चन्दन, अनेक प्रकार के रत्न, आभरणा, अलंकार एवं पद्मद्रह का पानी, शर आदि लेकर उत्कृष्ट देवगति से तत्काल भरत की सेवा में उपस्थित हुआ और हाथ जोड़कर निवेदन करने लगा—“देवानुप्रिय ! आपने चुल्लहिमवन्त वर्षधर पर्यन्त उत्तर दिशा पर विजय प्राप्त की है। मैं आपके देश में रहने वाला आपका आज्ञाकारी किकर एवं आपके राज्य की उत्तर दिशा का अंतपाल देव हूँ। आपको प्रीतिदान स्वरूप भेंट करने के लिये यह सामग्री लाया हूँ, इसे आप स्वीकार करें।”

भरत ने चुल्लहिमवन्तगिरि कुमार देव द्वारा की गई भेंट को स्वीकार कर देव का सत्कार सम्मान किया और तदनन्तर उसे विदा किया।

उसी समय भरत ने अपने रथ को पीछे की ओर घुमाया और वे ऋषभकूट पर्वत के पास आये। उन्होंने अपने रथ से ऋषभकूट पर्वत का तीन बार स्पर्श किया। तत्पश्चात् रथ को रोककर उन्होंने अपने काकिली रत्न से ऋषभकूट पर्वत के पूर्व दिशा की ओर के कड़खे अर्थात् पार्श्व के गगनचुम्बी शिलापट्ट पर निम्नलिखित अभिलेख लिखा :—

“इस अवसर्पिली के तीसरे आरे के पश्चिम विभाग में भरत नाम का चक्रवर्ती हूँ। मैं भरतक्षेत्र का अधिपति प्रथम राजा एवं नरवरेन्द्र हूँ। मेरा कोई प्रतिशत्रु नहीं है। मैंने इस भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है।”

इस अभिलेख के आलेखन के पश्चात् भरत अपने विजयी सैन्य के स्कन्धावार में अपनी उपस्थान शाला में आये। स्नानादि के पश्चात् भरत ने अपने सातवें अष्टमभक्त तप का पारणा किया और भोजनशाला से उपस्थान शाला में आ राजसिंहासन पर बैठ अठारह श्रेणि-प्रश्रेणियों के लोगों को बुलाया। अपनी प्रजा को कर आदि से मुक्त कर चुल्लहिमवन्त गिरि कुमार देव का अष्टाह्निक महोत्सव मनाने का आदेश दिया।

अष्टाह्निक महोत्सव के अवसान पर चक्ररत्न आकाशमार्ग से दक्षिण दिशा में वैताढ्य पर्वत की ओर प्रस्थित हुआ। चक्ररत्न का अनुसरण करते हुए भरत अपनी सेना के साथ वैताढ्य पर्वत के उत्तरी नितम्ब में पहुंचे। वहां वारह योजन लम्बे व नव योजन चौड़े स्कन्धावार में सेना ने पड़ाव डाला। वार्द्धिक रत्न द्वारा निर्मित पौषधशाला में प्रवेश करने से पूर्व भरत ने पुष्पादि सभी प्रकार की संचित वस्तुओं, आभरणों, अलंकारों एवं आयुधों आदि का परित्याग किया। तदनन्तर पौषधशाला में एक स्थान को प्रमाजित कर वहां दर्भ का आसन बिछाया। उस दर्भसन पर बैठकर महाराज भरत ने नमी एवं विनमी नामक विद्याधर राजाओं को साधने के लिये अष्टम भक्त तप और

पौषधव्रत अंगीकार किया । ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए भरत ने नमी और विनेमी नामक विद्याधर राज का मन में ध्यान किया । इस प्रकार नमी विनमी का ध्यान करते हुए जब भरत का अष्टमभक्त तप पूर्ण होने आया, उस समय उन दोनों विद्याधर राजों को उनकी दिव्य मति से प्रेरणा मिली । वे दोनों परस्पर मिले और एक दूसरे को कहने लगे—“जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में भरत नामक चक्रवर्ती उत्पन्न हुए हैं । भूत, भविष्यत और वर्तमान काल के विद्याधर राजाओं के परम्परागत जीताचार के अनुसार हमें भी चक्रवर्ती के योग्य भेंट लेकर उनकी सेवा में उपस्थित होना चाहिये ।”

इस प्रकार का निश्चय कर विद्याधरों की दक्षिण श्रेणी के राजा नमी ने उत्तम वस्त्राभूषणादि और उत्तर श्रेणी के विद्याधर राज विनमी ने दिव्य मति की प्रेरणा से रूप, लावण्य और स्त्रियोचित सभी उत्तमोत्तम शुभ गुणों में अनिन्द्य सुन्दरी देवांगनाओं को भी तिरस्कृत करने वाला ‘सुभद्रा’ नामक स्त्रीरत्न भरत को भेंट करने के लिये अपने साथ लिया और वे दोनों उत्कृष्ट विद्याधर गति से भरत के पास आये । उन दोनों ने जय-विजय घोषों से भरत को वद्धापित करते हुए निवेदन किया—“अहो देवानुप्रिय ! आपने भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है । हम आप द्वारा शासित देश में रहने वाले आपके आज्ञाकारी किकर हैं । कृपा कर आप हमारी ओर से यह प्रीतिदान ग्रहण करें ।”

भरत के समक्ष इस प्रकार निवेदन कर विनमी ने सुभद्रा नामक स्त्रीरत्न और नमी ने अत्युत्तम वस्त्र, आभूषण अलंकारादि भरत को भेंट किये । भरत ने उन दोनों विद्याधर राजों द्वारा समर्पित की गई भेंट स्वीकार की, उन दोनों का आदर-सत्कार किया और तदनन्तर उन्हें सम्मानपूर्वक विदा किया ।

नमी और विनमी विद्याधरों को विसर्जित करने के उपरान्त भरत ने स्नानादि से निवृत्त हो अपने आठवें अष्टमभक्त तप का पारण किया । तदनन्तर भरत ने उपस्थान शाला में सिंहासन पर आसीन हो अपनी प्रजा को कर, शुल्क आदि से विमुक्त कर विद्याधरराज का अष्टाह्निक महोत्सव मनाने का आदेश दिया । आठ दिन तक उत्तम अशन-पान, नृत्य, संगीत, नाटक आदि विविध सुखोपभोगों का उपभोग करते हुए सब ने बड़े हर्षोल्लास के साथ अष्टाह्निक महोत्सव मनाया ।

अष्टाह्निक महोत्सव के समाप्त होते ही चक्ररत्न आयुधशाला से निकल कर गगन पथ से ईशान कोण में गंगादेवी के भवन की ओर अग्रसर हुआ । अपनी सेना के साथ चक्ररत्न का अनुगमन करते हुए भरत गंगानदी के भवन के पास आये । सेना का पड़ाव डाल भरत ने पौषधशाला में गंगादेवी की आराधना के लिये पौषध सहित अष्टम भक्त तप किया । यह भरत चक्रवर्तीका ६ वां

अष्टम भक्त तप था । अष्टम भक्त की तपस्या के पूर्ण होते ही गंगादेवी भरत के समक्ष भेंट लेकर उपस्थित हुई । गंगादेवी ने हाथ जोड़कर भरत से कहा—  
“देवानुप्रिय ! आपने भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है । मैं आपके राज्य में रहने वाली आपकी आज्ञाकारिणी किकरी हूँ । अतः मैं प्रीतिदान के रूप में आपको यह भेंट समर्पित कर रही हूँ, आप इसे स्वीकार करें । यह कहते हुए गंगादेवी ने रत्नों से भरे एवं भांति-भांति के परम मनोहर अद्भुत चित्रों से चित्रित १००८ कुम्भ-कलश और दिव्य मणि, रत्नादि से जटित दो सोने के सिंहासन भरत को भेंट किये । भरत ने गंगादेवी द्वारा समर्पित भेंट को स्वीकार करते हुए उसका सत्कार-सम्मान करने के पश्चात् उसे विदा किया ।

गंगादेवी के चले जाने के पश्चात् भरत ने स्नानादि से निवृत्त हो अपने नौवें तैले के तप का पारण किया । तत्पश्चात् उपस्थानशाला में आ भरत पूर्वाभिमुख हो सिंहासन पर आसीन हुए । उन्होंने अठारह श्रेणि-प्रश्रेणियों के लोगों को बुला उन्हें अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करते हुए गंगादेवी का अष्टाह्निक महा महोत्सव मनाने का आदेश दिया । आठ दिन तक भांति-भांति की प्रतियोगिताओं, दंगलों, नाटकों, हास्य, विनोद, नृत्य, संगीत, उत्तमोत्तम षड्रस अशन-पानादि का आनन्दोपभोग करते हुए सबने गंगादेवी का महा महोत्सव मनाया ।

गंगादेवी के महोत्सव के सम्पन्न होने के पश्चात् चक्ररत्न आयुधशाला से निकलकर नभ भाग मार्गगा नदी के पश्चिमी तट से दक्षिण दिशा की खंडप्रपात गुफा की ओर बढ़ा । खंड प्रपात गुफा के पास सेना ने पड़ाव डाला । महाराज भरत ने खण्डप्रपात गुफा के अधिष्ठायक देव नैत्यमाल की आराधना के लिये पौषधशाला में प्रवेश कर डाभ के आसन पर बैठ अष्टम भक्त तप और पौषधव्रत किया । यह महाराज भरत का दसवाँ तैले का तप था । उन्होंने पौषध सहित अष्टमभक्त तप में नैत्यमाल देव का चिंतन किया । तपस्या के सम्पन्न होते होते नैत्यमाल देव भरत की सेवा में उपस्थित हुआ । उसने भी हाथ जोड़कर भरत से कृतमाल देव के समान ही निवेदन करते हुए कहा—“हे देवानुप्रिय ! आपने भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है । मैं आपके राज्य में रहने वाला आपका आज्ञाकारी किकर हूँ । कृपा कर आप मेरी यह भेंट प्रीतिदान के रूप में ग्रहण कीजिये ।” यह कह कर उसने अलंकार करने योग्य कंकण आदि रत्नजटित आभूषणों आदि से परिपूर्ण अनेक भांड करण्ड आदि महाराज भरत को भेंट किये । उस भेंट को स्वीकार करते हुए भरत ने नैत्यमाल देव का सत्कार सम्मान किया और कुछ ही क्षणों पश्चात् उसे आदर सहित विदा किया ।

नैत्यमाल देव को विसर्जित करने के पश्चात् महाराज भरत ने स्नानादि से निवृत्त हो भोजनशाला में प्रवेश कर अपने दसवें तैले के तप का पारण

किया। तदनन्तर उपस्थान शाला में आ राजसिंहासन पर आसीन हो उन्होंने कृतमाल देव के समान नृत्यमाल देव का अष्टाह्निक महोत्सव मनाने का आदेश दिया। पहले के अष्टाह्निक महोत्सव के समान ही यह महोत्सव भी मनाया गया।

उस महोत्सव के पूर्ण होने पर महाराज भरत ने सुषेण सेनापतिरत्न को गंगा नदी, पूर्व में अवस्थित लघु खण्ड पर विजय प्राप्त करने की आज्ञा देते हुए कहा—“जिसकी सीमा पश्चिम में गंगानदी के पूर्व में लवण समुद्र, दक्षिण में वैताड्य पर्वत और उत्तर में चुल्लहिमवन्त पर्वत है, उस समस्त लघु खण्ड के सम, विषम आदि सभी भूभागों पर अधिकार कर वहां के शासकों से श्रेष्ठ रत्नादि की भेंट लेकर शीघ्र आओ।”

महाराज भरत की आज्ञा पा सेनापति ने तत्काल गंगानदी के पूर्व में स्थित लघु खण्ड पर विजय प्राप्त करने के लिये सेना के साथ प्रयाण किया। चर्मरत्न की सहायता से सेना सहित गंगा महानदी को पार कर सेनापति ने गंगानदी से पूर्व में लवण समुद्र तक, दक्षिण में वैताड्य पर्वत तक और उत्तर में चुल्लहिमवन्त पर्यन्त सम-विषम सभी प्रकार के भूभाग पर विजय अभियान करते हुए उस सम्पूर्णा लघु खण्ड पर अधिकार किया। वहां के छोटे-बड़े सभी शासकों को महाराज भरत के अधीन बना, उनसे बहुमूल्य और विपुल भेंट लेकर सेनापति सुषेण सेना सहित गंगानदी को पार कर महाराज भरत की सेवा में लौटा। उसने हाथ जोड़कर भरत से निवेदन किया—“देव! आपकी आज्ञा का अक्षरशः पालन कर लिया गया है। वहां के शासकों की ओर से प्राप्त हुई यह भेंट स्वीकार करें।”

कतिपय दिनों के विश्राम के पश्चात् सुषेण सेनापति को बुलाकर महाराज भरत ने उन्हें खण्डप्रपात गुफा के उत्तर दिशा के द्वार खोलने की आज्ञा दी। सेनापति ने अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य कर तिमिस्रप्रभा के कपाटों के समान खण्डप्रपात गुफा के द्वारों को खोलकर महाराज भरत को उनकी आज्ञा की अनुपालना से अवगत किया। तत्पश्चात् महाराज भरत ने तिमिस्रप्रभा की ही तरह खण्डप्रपात गुफा में प्रवेश कर काकिणी रत्न से उस गुफा की दोनों भित्तियों पर एक-एक योजन के अन्तर से कुल मिलाकर ४६ मण्डलों का आलेखन कर उसमें दिन के समान प्रकाश किया और वार्द्धिक रत्न द्वारा निर्मित सेतु से खण्डप्रपात गुफा की उन्मग्नजला और निमग्नजला महानदियों को उत्तीर्ण कर उस गुफा के स्वतः ही खुले दक्षिणी द्वार से खण्डप्रपात गुफा को पार किया।

खण्डप्रपात गुफा से बाहर निकलकर महाराज भरत ने वार्द्धिक रत्न से सेना के लिये पूर्ववत् विशाल स्कन्धावार और अपने लिये प्रासाद एवं पौषध-

शाला का निर्माण करवाया। पौषधशाला में जाकर महाराज भरत ने नव निधिरत्नों की आराधना हेतु पूर्वोक्त विधि के अनुसार पौषध सहित अष्टमभक्त तप किया। यह भरत का ११वां अष्टमभक्त तप था। उस तप में डाभ के आसन पर बैठे हुए वे एकाग्रचित्त से निधि रत्नों का चिंतन करते रहे। नव-निधि के अपरिमित रक्त रत्न शाश्वत, अक्षय एवं अव्यय हैं। उनके अधिष्ठाता देव हैं। वे नव निधिरत्न लोक की पुष्टि करने वाले एवं विश्व-विरूपात हैं।

अष्टम तप का समापन होते-होते वे नव निधिरत्न महाराज भरत के पास ही रहने के लिये आ उपस्थित हुए। उन नव निधिरत्नों के नाम इस प्रकार हैं :—

१. नैसर्प, २. पाण्डुक, ३. पिगल, ४. सर्वरत्न, ५. महापद्म, ६. काल, ७. महाकाल, ८. माणवक और ९. महानिधान शंख।

ये नव निधान सन्दूक के समान होते हैं। इनमें से प्रत्येक के आठ-आठ चक्र (पहिये) होते हैं। ये आठ-आठ योजन की ऊँचाई वाले, नव-नव योजन चौड़े और बारह-बारह योजन लम्बे सन्दूक के संस्थान वाले होते हैं। महानदी गंगा जिस स्थान पर समुद्र में मिलती है, वहाँ ये नवों ही निधान रहते हैं। इनके वैदूर्य रत्नों के कपाट होते हैं। इनकी स्वर्णमयी मंजूषाएँ अनेक प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण रहती हैं। इन सबके द्वार चन्द्र, सूर्य और चक्र के चित्रों से चित्रित रहते हैं। इनमें से प्रत्येक का अधिष्ठाता जो देव हैं, उनका एक-एक पत्योपम का आयुष्य होता है। जिस-जिस निधान के जो-जो देव हैं, उनका नाम भी उस-उस निधान के नाम जैसा ही होता है। उन देवताओं के आवास (निवास) वे निधान ही हैं। वे नव निधिरत्न अपार धन, रत्न आदि के संचय से समृद्ध होते हैं, जो भरत आदि चक्रवर्तियों के पास चले जाते हैं अर्थात् जहाँ-जहाँ चक्रवर्ती जाता है, वहाँ-वहाँ उसके पांवों के नीचे धरती में ये नव निधान चलते हैं।

नव निधानों को अपना वशवर्ती बनाकर महाराज भरत ने स्नानादि से निवृत्त हो अपने ग्यारहवें अष्टमभक्त तप का पारण किया। तप के पारण के पश्चात् भोजनशाला से निकलकर वे उपस्थानशाला में राजसिंहासन पर आसीन हुए। उन्होंने अठारह श्रेणी प्रश्रेणियों को बुलाकर नव निधिरत्नों का अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाने का आदेश दिया।

नव निधियों के अष्टाह्निक महामहोत्सव के पूर्ण होने पर उन्होंने अपने सेनापति को आदेश दिया—“देवानुप्रिय ! दक्षिण में जिसकी गंगा महानदी सीमा है, पूर्व तथा दक्षिण में लवण समुद्र जिसकी सीमा है और उत्तर में जिसकी सीमा वैतादय पर्वत तक है, उस गंगा महानदी के पूर्ववर्ती लघु खण्ड

पर विजय प्राप्त करो, उसके सम अथवा विषम सभी स्थानों पर अधिकार कर वहां के शासकों से भेंट ग्रहण कर शीघ्र ही मेरे पास लौट कर आओ ।”

सेनापतिरत्न ने सदल-बल विजय अभियान कर गंगा महानदी के पूर्ववर्ती लघु खण्ड को जीत वहां के शासकों से भेंट ग्रहण कर भरत की सेवा में लौटकर उन्हें सूचित किया कि उनकी आज्ञा का पूर्णरूपेण पालन कर दिया गया है ।

कुछ समय पश्चात् एक दिन चक्ररत्न आयुधशाला से बाहर निकला और आकाश मार्ग से भरत चक्रवर्ती की विशाल सेना के मध्य भाग में होता हुआ विनीता नगरी की ओर अग्रसर हुआ ।

यह देखकर भरत महाराज बड़े हृष्ट व तुष्ट हुए । उन्होंने सेना को विनीता की ओर प्रस्थान के लिये तैयार होने तथा अपने लिये अभिषेक हस्ति को सुसज्जित करने का आदेश दिया ।

विनीता नगरी की ओर प्रस्थान करने हेतु सम्पूर्ण दल-बल और चतुरंगिणी सेना को सन्नद्ध एवं समुद्यत तथा अपने अभिषेक हस्ति को सुसज्जित देख चौदह रत्नों और नव निधियों के स्वामी, परिपूर्ण कोषों से सम्बद्ध, अहनिश आज्ञापालन में तत्पर ३२ हजार मुकुटधारी महाराजाओं से सेवित, शत्रुमात्र पर विजय करने वाले चक्रवर्ती भरत ६० हजार वर्षों की अवधि में सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के ६ खण्डों की साधना करने के अनन्तर अपनी मुख्य राजधानी विनीता नगरी की ओर लौटने के लिए हस्तिरत्न पर आरूढ़ हुए । कोटि-कोटि कण्ठों से उद्गत उनके जयघोषों से गिरि, गगन और धरातल प्रतिध्वनित हो उठे । उनके सम्मुख सबसे आगे स्वस्तिक, श्री वत्स आदि अष्ट मंगल, उनके पीछे पूर्ण कलश, भारी, दिव्य छत्र, तदनन्तर वैदूर्य रत्नमय विमल दण्डयुत छत्रधर अनुक्रमशः चलने लगे । उनके पीछे अनुक्रमशः ७ एकेन्द्रिय रत्न, १. चक्र रत्न, २. छत्र रत्न, ३. चर्म रत्न, ४. दण्ड रत्न, ५. खड्ग रत्न, ६. मणि-रत्न और ७. काकिणी रत्न चलने लगे । चक्रवर्ती के उन ७ एकेन्द्रिय रत्नों के पीछे नव निधि रत्न चले । उनके पीछे अनुक्रमशः १६ हजार देव चले । देवों के पीछे क्रमशः ३२ हजार महाराजा, सेनापतिरत्न, गाथापतिरत्न, वादिकरत्न और पुरोहितरत्न तथा स्त्रीरत्न चले । स्त्री रत्न के पीछे अनुक्रमशः बत्तीस हजार ऋतु कल्याणिका, उतनी ही जनपद कल्याणिका, बत्तीस प्रकार के नाटक करने वाले बत्तीस हजार पुरुष, ३६० रसोइये, अठारह श्रेणी प्रश्नेणियाँ, चौरासी लाख घोड़े, चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रथ और छयानवे कोटि पदातियों की सेना चली । सेना के पीछे बहुत से राजा, ईश्वर, युवराज, तलवार, सार्थवाह आदि चले । उनके पीछे अनेक खड्गधर, दण्डधर, मालाओं को रखने वाले, चामर बीजने वाले, धनुधर, दूतक्रीडक, परशुधर, पुस्तकधारी,

वीणावाहक, तेल के भाजन ले कर चलने वाले, हड़ नामक द्रव्य के भाजन को लेकर चलने वाले लोग अपने-अपने उपकरणों के अनुरूप चिह्न एवं वेशभूषा पहने हुए चलने लगे। उनके पीछे दण्डी, रुण्ड-मुण्ड, शिखाधारी, जटाधारी, मयूर आदि की पिच्छियों को धारण करने वाले, हास्य करने वाले, द्यूतक्रीडा का पटिया उठाने वाले, कुतूहल करने वाले, मीठे वचन बोलने वाले, चाटुकार कन्दप की चेष्टा करने वाले, वाक्शूर, गायक, वादक, नर्तक आदि नाचते, हँसते, खेलते, कूदते, क्रीडा करते हुए अपना तथा दूसरों का मनोरंजन-मनोविनोद करते हुए, शुभ वचन बोलते हुए एवं जयघोषों से नभमंडल को गुंजायमान करते हुए, राजराजेश्वर भरत के सम्मुख अग्रभाग में सभी प्रकार के श्रेष्ठ अश्वालंकारों से सुचारु रूपेण शृंगारित श्रेष्ठ जाति के लम्बे चौड़े अश्व (सिण्गारू घोड़े), उन अश्वों की बाग पकड़ कर चलने वाले, चल रहे थे। भरत के वाम और दक्षिण दोनों पार्श्वों में अंकुशधरों (महावतों) सहित मदोन्मत्त गजराज और महाराज भरत के पृष्ठ भाग में सारथियों द्वारा कुशलतापूर्वक संचालित अश्वरथों की श्रेणियां चल रही थीं।

इस प्रकार शैलेन्द्र की शिला के समान विशाल वक्षस्थल पर भूमती हुई हारावलियों से सुरेन्द्र के समान शोभायमान, दिग्दिगन्त में लब्धप्रतिष्ठ, सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के एकच्छत्र सम्राट् नरेश्वर भरत चक्ररत्न द्वारा प्रदर्शित पथ पर कल्लोलित सागर की लोल लहरों के समान कल-कल निनाद करती हुई सेना तथा जनसमूह के साथ ग्राम, नगर आदि को उलांघते एवं एक-एक योजन के अन्तर पर पड़ाव डालते हुए एक दिन विनीता नगरी के पास आ पहुँचे। नगरी के बाहर बारह योजन लम्बे, नव योजन चौड़े स्कन्धावार और महाराज भरत के लिए आवास एवं पोषधशाला का निर्माण वादिक रत्न ने मुहूर्त मात्र में ही सम्पन्न कर दिया।

पोषध शाला में प्रवेश कर महाराज भरत ने विनीता राजधानी के देव की आराधना के लिए अष्टमभक्त तप किया। अष्टमभक्त तप के पूर्ण होने पर पोषध शाला से बाहर आ वे सुसज्जित अभिषेक हस्ति पर आरूढ़ हुए। उनके सम्मुख, दोनों पार्श्वों और पीछे की ओर पूर्व वर्णित अनुक्रम से अष्ट-मंगल, १४ रत्न, सोलह हजार देव, ३२ हजार मुकुटधारी महाराजा और विशाल जनसमूह जयघोषों से धरती और आकाश को गुंजाता हुआ चलने लगा। ६ महानिधियां और चतुरंगिणी सेना ने नगर में प्रवेश नहीं किया।

इस प्रकार की अमरेन्द्र तुल्य ऋद्धि के साथ भरत ने विनीता नगरी में प्रवेश किया। विनीता नगरी उस समय नववधू के समान सजी हुई थी। उसके चप्ये-चप्ये की प्रमाजित एवं स्वच्छ करने के पश्चात् उसके बाह्याभ्यन्तर सभी भागों पर गन्धोदक का छिटकाव किया गया था। चमकते हुए रंगों से प्रत्येक

घर को रंजित किया गया था। नगरी के मुख्य द्वारों, राजपथ, वीथियों, चतुष्पथों आदि को ध्वजाओं, पताकाओं, तोरणों आदि अद्भुत कलाकारी द्वारा सजाया गया था। स्थान-स्थान पर रखे हुए धूपपात्रों में मन्द-मन्द धुकधुकाती धूप एवं सुगन्धित धूप गुटिकाओं से निकल कर वायुमण्डल में व्याप्त हो रहे सुगन्धित बूझ से नगरी का समग्र वातावरण गमक उठा था।

महाराज भरत अपनी उस अनुपम ऋद्धि के साथ नगरी के मध्यवर्ती राजपथ पर अग्रसर होते हुए जिस समय राजप्रासाद की ओर बढ़ रहे थे उस समय पग-पग पर नागरिकों द्वारा उनका अभिवादन किया गया, स्थान-स्थान पर उनका स्वागत किया गया, उन पर रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्पों की वर्षा की गई। देवों ने राजपथ पर, वीथियों में और स्थान-स्थान पर सोने, चांदी, रत्नों, आभरणों, अलंकारों एवं वस्त्रों की वर्षा की।

स्तुति पाठकों के सुमधुर कण्ठों से उद्गत अद्भुत शब्द सौष्ठवपूर्ण सस्वर स्तुति गानों से श्रोता सम्मोहित हो उठे। बन्दीजनों द्वारा गाये गये भरत के महिमागान को सुन विनीता के नागरिकों का भाल गर्व से उन्नत और हृदय-कमल हर्ष से प्रफुल्लित हो उठा। विनीता का वातावरण आनन्द और उल्लास से ओतप्रोत हो हर्ष की हिलोरों पर झूम उठा।

इस प्रकार अगाध आनन्दोदधि की उत्ताल तरंगों पर जन-मन और स्वयं को झुलाते हुए निखिल भरत क्षेत्र के एकद्वय अधिपति भरत चक्रवर्ती अपने भव्य राजभवन के अतीव सुन्दर अवतंसक द्वार पर आये। हाथी के होदे से नीचे उतर कर भरत ने क्रमशः सोलह हजार देवों, बत्तीस हजार मुकुटधारी राजाओं, सेनापति रत्न, गाथापति रत्न, वार्द्धिक रत्न, पुरोहित रत्न, ३६० रसोइयों, अठारह श्रेणियों, अठारह ही प्रश्रेणियों, सब राजकीय विभागाध्यक्षों एवं साथैवाह प्रमुखों का सत्कार सम्मान किया और उन्हें अच्छी तरह सम्मानित कर विसर्जित किया। उन सब को विसर्जित करने के पश्चात् महाराज भरत ने अपने स्त्री रत्न, बत्तीस हजार ऋतु कल्याणिकाओं, बत्तीस हजार जनपद कल्याणिकाओं और बत्तीस हजार नाटक सूत्रधारिकाओं के परिवार के साथ अपने गगनचुम्बी विशाल राजप्रासाद में प्रवेश किया। राजप्रासाद में प्रवेश कर भरत ने अपने आत्मीयों, मित्रों, जाति बन्धुओं, स्वजनों, सम्बन्धियों एवं परिजनों से मिल कर उनसे उनके कुशलक्षेम के सम्बन्ध में पूछा। तदनन्तर स्नानादि से निवृत्त हो भोजनशाला में प्रवेश कर अपने १२वें अष्टमभक्त तप का पारण किया। तदनन्तर महाराज भरत ने अपने राजप्रासाद के निजी कक्ष में प्रवेश किया और वहाँ वे बाह्य यन्त्रों की धुनों, तालों और स्वरलहरियों के साथ पूर्णतः तालमेल रखने वाले नृत्य, संगीत और बत्तीस प्रकार के नाटकों का आनन्द लूटते हुए अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम सुखोपभोगों का उपभुंजन करते हुए रहने लगे।



इस प्रकार प्रबल पुण्योदय से प्राप्त होने वाले उत्तमोत्तम भोगोपभोगों का भुंजन करते हुए महाराजा भरत मन में इस प्रकार विचारने लगे— “मैंने अपने बल, वीर्य, पौरुष और पराक्रम के द्वारा चुल्लहिमवंत पर्वत से लवण समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर विजय प्राप्त की है। अतः अब अपना महा-भिषेक करवाना मेरे लिए श्रेयस्कर होगा। मन में इस प्रकार का विचार आने पर प्रातःकालीन आवश्यक कृत्यों से निवृत्त हो महाराज भरत ने उपस्थानशाला में राजसिंहासन पर पूर्वाभिमुख आसीन हो सोलह हजार देवों, बत्तीस हजार राजाओं, सेनापति रत्न, गाथापति रत्न, बार्द्धिक रत्न, पुरोहित रत्न, तीन सौ साठ रसोइयों, अठारह-अठारह श्रेणी प्रश्रेणियों, अन्य राजाओं, ईश्वरों, तलवरो, सारथवाहों आदि को बुला कर कहा—“अहो देवानुप्रियो ! मैंने अपने बल, वीर्य, पौरुष और पराक्रम से सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है, अतः आप लोग अब मेरा राज्याभिषेक करो।”

महाराज भरत की बात सुन कर वे सोलह हजार देव और सभी उपस्थित जन बड़े हूष्ट एवं तुष्ट हुए। सब ने हाथ जोड़ विनयपूर्वक शीश झुका अपनी आन्तरिक सहमति प्रकट की।

तत्पश्चात् महाराजा भरत ने पीषधशाला में जा कर पूर्वोक्त विधि से अष्टमभक्त तप अंगीकार किया और तप में ध्यान करते रहे। अष्टमभक्त तप के पूर्ण होने पर उन्होंने आभियोगिक देवों को बुला कर उन्हें विनीता नगरी के ईशान कोण में एक बड़ा अभिषेक मण्डप तैयार करने की आज्ञा दी।

आभियोगिक देवों ने महाराज भरत की आज्ञानुसार राजधानी विनीता नगरी के ईशान कोण में वैक्रिय शक्ति द्वारा एक अति भव्य एवं विशाल अभिषेक मण्डप का निर्माण किया। उन्होंने उस अभिषेक मण्डप के मध्य भाग में एक विशाल अभिषेक-पीठ (चबूतरे) की रचना की। उस अभिषेक पीठ के पूर्व, दक्षिण और उत्तर में तीन त्रिसोपानों (पगोटियों) की रचना की। तदनन्तर उन आभियोगिक देवों ने अति रमणीय उस अभिषेक पीठिका पर एक बड़े ही नयनाभिराम एवं विशाल सिंहासन की रचना की।

इस प्रकार एक परम सुन्दर और अति विशाल अभिषेक मण्डप की रचना करने के पश्चात् महाराज भरत के सम्मुख उपस्थित हो हाथ जोड़ कर निवेदन किया—“हे देवानुप्रियो ! आपकी आज्ञानुसार एक विशाल अभिषेक मण्डप का निर्माण कर दिया गया है।”

आभिनियोगिक देवों की बात सुन कर महाराज भरत बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने पीषधशाला से बाहर आ कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश दिया कि वे शीघ्रता पूर्वक हस्तिरत्न को अभिषेक के योग्य अलंकारों से सुसज्जित करें।

तदनन्तर स्नान आदि से निवृत्त हो भरत महाराज दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो हस्तिरत्न पर आरूढ़ हुए। उनके आगे अनुक्रमशः अष्ट मंगल, पूर्ण कलश, झारी, दिव्य छत्र, छत्रधर, ७ एकेन्द्रिय रत्न, १६ हजार देव, बत्तीस हजार महाराजा, सेनापति आदि ४ मनुष्य रत्न, स्त्री रत्न, बत्तीस-बत्तीस हजार ऋतु कल्याणिकाएं—जनपदकल्याणिकाएं, बत्तीस हजार बत्तीस प्रकार के नाटक करने वाले, ३६० रसोद्भये, अठारह श्रेणी प्रश्रेणियां, राजा, ईश्वर, तलवर, सार्थवाह एवं गायक, वादक आदि अपार जनसमुद्र चल रहा था।

महाराज भरत के सम्मुख उत्कृष्ट अश्वाभरणों से सजाये हुए श्रेष्ठ जाति के घोड़े, दोनों पाश्वर्यों में मदोन्मत्त गजराज और पृष्ठ भाग में अश्वरथ चल रहे थे।

षट्खण्ड की साधना के पश्चात् विनीता नगरी में महाराज भरत ने जिस कुबेरोपम ऋद्धि के साथ नगर में प्रवेश किया था उसी प्रकार की अनुपम ऋद्धि के साथ महाराज भरत अपने राजप्रासाद से प्रस्थान कर विनीता नगरी के मध्य में होते हुए राजधानी के ईशानकोण में निर्मित अतिविशाल एवं परम रम्य अभिषेक मण्डप के पास आये। वहां अभिषेक हस्तिरत्न के होदे से नीचे उतर कर स्त्री रत्न और चौसठ हजार कल्याणिका स्त्रियों एवं बत्तीस हजार बत्तीस प्रकार के नाटक करने वाली रमणियों के साथ उन्होंने अभिषेक मण्डप में प्रवेश किया और वे अभिषेक-पीठिका के पास आये। अभिषेक पीठिका को प्रदक्षिणावर्त करते हुए वे पूर्व दिशा के सोपान से अभिषेक पीठिका पर चढ़े और उस पीठिका के मध्य भाग में अवस्थित सिंहासन पर पूर्वाभिमुख हो बैठ गये। भरत महाराज के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् ३२ हजार राजाओं ने मण्डप में प्रवेश कर अभिषेक पीठिका की प्रदक्षिणा की और उत्तर दिशा के सोपान से अभिषेक पीठिका पर वे महाराज भरत के पास आये। उन्होंने सांजलि शीश भुका जय-विजय के घोषों से भरत महाराज का अभिवादन एवं वर्द्धापन किया। तदनन्तर वे थोड़ी ही दूरी पर भरत महाराज के पास बैठ गये और उनकी सेवा सुश्रूषा एवं पर्युपासना करने लगे।

तत्पश्चात् भरत महाराज के सेनापति रत्न, सार्थवाहरत्न, वार्द्धिक रत्न और पुरोहित रत्न ने अभिषेक मण्डप में प्रवेश और अभिषेक पीठिका की प्रदक्षिणा की। वे चारों दक्षिण दिशा के सोपान से अभिषेक पीठिका पर चढ़े। उन्होंने भी सांजलि शीश भुका जय-विजय के घोषों के साथ भरत महाराज का अभिवादन अभिवर्द्धापन किया और उनसे थोड़ी दूरी पर पास में बैठ कर वे भरत महाराज की पर्युपासना करने लगे।

तदनन्तर महाराज भरत ने आभियोगिक देवों को बुला कर कहा—

“अहो देवानुप्रियो ! मेरा महा अर्थ वाला, महती श्रद्धि के साथ महा मूल्यवान् महा अभिषेक करो ।”

आभियोगिक देवों ने महाराज भरत की आज्ञा को शिरोधार्य कर हृष्ट-तुष्ट हो ईशान कोण में जा कर वैक्रिय समुद्घात किया ।

आभिनियोगिक देवों द्वारा महाराज भरत का महा अर्थपूर्ण महा श्रद्धि-सम्पन्न एवं महामूल्यवान् महाअभिषेक किये जाने के अनन्तर बत्तीस हजार राजाओं ने शुभ तिथि, शुभ करण, शुभ दिवस, शुभ नक्षत्र एवं शुभ मुहूर्त में, उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र के योग में, विजय नामक आठवें मुहूर्त में स्वाभाविक एवं वैक्रिय से निष्पन्न श्रेष्ठ कमलाकार कलशों में भरे स्वच्छ सुगन्धित एवं श्रेष्ठ पानी से महाराज भरत का क्रमशः अभिषेक किया । प्रत्येक राजा ने हाथ जोड़ कर जय-विजय के निर्घोष के साथ महाराज भरत का अभिवादन, अभिवर्द्धन करते हुए कहा—“त्रिखण्डाधिपते ! आप करोड़ पूर्व तक राज्य करो—सुख पूर्वक विचरण करो ।”

३२ हजार राजाओं के पश्चात् क्रमशः सेनापति रत्न, सार्थवाह रत्न, वार्द्धिक रत्न, पुरोहित रत्न ने, तीन सौ साठ रसोइयों ने अठारह श्रेणियों और प्रश्रेणियों ने और सार्थवाह प्रमुख अन्य अनेकों ने राजाओं की ही तरह कलशों से महाराज भरत का महाअभिषेक किया, जय-विजय के घोषों के साथ “करोड़ पूर्व तक राज्य करो, सुख पूर्वक विचरण करो” इस प्रकार के प्रीतिकारक वचनों से उनका वर्द्धापन, अभिवादन किया, उनकी स्तुति की ।

तदनन्तर सोलह हजार देवों ने स्वच्छ, सुन्दर सुकोमल वस्त्र से महाराज भरत के शरीर को स्वच्छ किया । उन्हें दिव्य वस्त्र, आभरण अलंकार पहनाये, उनके सिर पर दिव्य मुकुट रखा । श्रेष्ठ चन्दन एवं सुगन्धित गन्ध द्रव्यों का कपोल आदि पर मर्दन किया । रंगबिरंगे सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्पों की मालाएं पहनाईं और दिव्य पुष्पस्तवकों से उन्हें विभूषित किया ।

महान् अर्थ वाले, महर्द्धिक, महा मूल्यवान् महाराज्याभिषेक से अभिषिक्त होने के पश्चात् महाराज भरत ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुला कर कहा—“हे देवानुप्रिय ! हाथी के होदे पर बैठ कर शीघ्रातिशीघ्र विनीता नगरी के बाह्याभ्यन्तर सभी भागों में, शृंगाटकों त्रिकों, चतुष्कों, चच्चरों एवं महापथों में डिडिम घोष के साथ स्पष्ट और उच्च स्वरों में उद्घोषणा करो कि सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के छहों खण्डों के इस अदसपिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत के महाराज्याभिषेक के उपलक्ष्य में सभी प्रकार के करों से, शूलकों से, सभी प्रकार के देयों से मुक्त किया जाता है । आज से बारह वर्ष पर्यन्त कोई भी राजपुरुष किसी भी प्रजाजन के घर में प्रवेश न करे, किसी से किसी भी प्रकार का दण्ड

न ले । नगर के निवासी, जनपदों के निवासी, समस्त देश के निवासी बारह वर्ष पर्यन्त प्रमोद करो, आनन्दोत्सव करो ।”

भरत चक्रवर्ती के इस आदेश को सुन कर उनके कौटुम्बिक पुरुष बड़े हर्षित हुए, हर्षातिरेक से उनके हृदय कमल प्रफुल्लित हो गये । उन्होंने चक्रवर्ती की आज्ञा को शिरोधार्य किया और तत्काल हाथी की पीठ पर बैठ कर उन्होंने भरत चक्रवर्ती की आज्ञा की घोषणा विनीता नगरी के बाह्याभ्यन्तर सभी स्थानों में कर दी ।

महाराज्याभिषेक सम्पन्न होने पर चक्रवर्ती सम्राट् भरत अभिषेक सिंहासन से उठे और स्त्री-रत्न आदि समस्त अन्तःपुर के परिवार राजाओं, सेनापति रत्न आदि रत्नों एवं पूर्व वर्णित ऋद्धि के साथ विनीता नगरी के मध्यवर्ती राजपथ से नागरिकों द्वारा स्थान-स्थान पर अभिनन्दित एवं वर्द्धापित होते हुए उसी क्रम से राजप्रासाद में लौटे जिस प्रकार कि अभिषेक मण्डप में गये थे ।

स्नानादि से निवृत्त हो उन्होंने अष्टमभक्त तप का पारण किया और सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर सुचारु रूप से शासन करते हुए चक्रवर्ती की सम्पूर्ण ऋद्धि का सुखोपभोग करते हुए वे सुखपूर्वक रहने लगे । बारह वर्ष तक उनके षट्खण्ड राज्य की प्रजा ने उनके महाराज्याभिषेक का महा महोत्सव मनाया ।

बारह वर्ष का महा महोत्सव सम्पूर्ण होने पर महाराज भरत ने देवों, राजाओं आदि को सत्कार-सम्मानपूर्वक विसर्जित किया । प्रजाजनों को अनेक प्रकार की सुविधाएं प्रदान कीं । उनके राज्य की समस्त प्रजा पूर्ण रूप से सुखी और समृद्ध थी । सब प्रजाजन अपने-अपने कर्तव्य का पालन करते हुए निर्भय होकर सुखमय जीवन व्यतीत करते थे । चक्रवर्ती भरत ने अपनी सम्पूर्ण प्रजा के कल्याण के लिए अनेक स्थायी कार्य किये । उनके राज्यकाल में राज्य और प्रजा दोनों की ही समृद्धि में विपुल अभिवृद्धि हुई ।

चक्रवर्ती भरत की ऋद्धि-समृद्धि अतुल, अद्भुत और अलौकिक थी । उनके पास चौदह रत्न थे । उन चौदह रत्नों में से चक्र रत्न, दण्ड रत्न, खड्ग रत्न, छत्र रत्न—ये चार एकेन्द्रिय रत्न महाराजा भरत की आयुध शाला में उत्पन्न हुए । चर्मरत्न, मणिरत्न और कांकिणीरत्न—ये तीन एकेन्द्रियरत्न उनके भण्डार में उत्पन्न हुए । उनके सेनापतिरत्न, गाथापतिरत्न, वार्द्धिक-रत्न और पुरोहितरत्न—ये चार मनुष्यरत्न महाराज भरत की राजधानी विनीता नगरी में उत्पन्न हुए । अश्वरत्न एवं हस्तिरत्न—ये दोनों त्रिच पंचेन्द्रियरत्न वैताड्य पर्वत की तलहटी में उत्पन्न हुए । चक्रवर्ती भरत की भद्रा नाम की स्त्रीरत्न विद्याधरों की उत्तर दिशा की श्रेणि में उत्पन्न हुई ।

अद्भुत शक्ति एवं गुणों से सम्पन्न उन चौदह रत्नों के अतिरिक्त उनके पास नवनिधियां थीं, जो धन, समृद्धि आदि सभी जीवनोपयोगी उत्तमोत्तम सुखोपभोग की सामग्रियों की अक्षय भण्डार थीं। सोलह हजार देव और बत्तीस हजार मुकुटधारी महाराजा सदा भरत चक्रवर्ती की सेवा में रहते थे। बत्तीस हजार ऋतु कल्याणिकाएं, बत्तीस हजार जनपद कल्याणिकाएं उनकी सेवा के लिए अर्हनिश तत्पर रहती थीं। बत्तीस हजार नाट्य निष्णात सूत्रधार बत्तीस प्रकार के नाटकों से भरत चक्रवर्ती का सदा मनोरंजन करते थे। उनकी सेवा में तीन सौ साठ पण्डितों में निष्णात पाकशालाओं के अधिकारी थे। अठारह श्रेणियां और अठारह प्रश्रेणियां उनके इंगित मात्र पर उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर रहती थीं।

चक्रवर्ती भरत की सैन्य शक्ति अजेय, अनेद्य, अनुपम और सदा सर्वत्र विजयिनी थी। उनकी चतुरंगिणी विशाल सेना में चौरासी लाख अश्व (अश्वारोही), चौरासी लाख हस्ती (गजारोही), चौरासी लाख रथ (रथी सैनिक) और छयानवे करोड़ पदातियों की सेना थी।

उनका सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर एकच्छत्र राज्य था। उनके राज्य में बहत्तर हजार राजधानियों के बड़े नगर, बत्तीस हजार देश, छयानवे करोड़ ग्राम, नन्यानवे हजार द्रोणमुख, अडतालीस हजार पत्तन, चौबीस हजार कर्बट, चौबीस हजार मंडप, बीस हजार आगर, सोलह हजार खेड़े, चौदह हजार संबाह, छप्पन हजार अन्तरोदक अर्थात् अन्तरद्वीप, उनचास भिल्ल आदि के कुराज्य थे।

वे सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के षट्खण्डों की राजधानी विनीता नगरी में रहते हुए चुल्लहिमवन्त पर्वत से लेकर लवण समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर, सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के सभी राजेश्वरों, राजाओं और सम्पूर्ण प्रजा पर न्याय नीति पूर्वक सुचारु रूप से शासन करते थे। भरत चक्रवर्ती ने अपने राज्य के सभी शत्रुओं को काटे की तरह निकाल कुचल कर निर्मूल कर दिया था। इस प्रकार उन्होंने सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी। वे सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के स्वामी, मनुष्यों में इन्द्र के समान दिव्य, हार, मुकुट, वस्त्र, आभूषण और षड्ऋतुओं के सुमनोहर सुगन्धित सुमनों की माला धारण करने वाले, उत्कृष्ट, नाटकों एवं नृत्यों का आनन्द लेते हुए ६४ हजार स्त्रियों के समूह से परिवृत, सब प्रकार की औषधियों, सब प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण मनोरथ, शत्रु-मद भंजक, पूर्वकृत तप के प्रभाव से पुण्य का फल भोगने वाले, इस प्रकार के मनुष्य सम्बन्धी सुखप्रद कामभोगों का उपभोग करने वाले वे भरत नामक चक्रवर्ती थे। चक्रवर्ती भरत एक हजार वर्ष कम छः लाख पूर्व तक चक्रवर्ती पद पर रहते हुए प्रजा का पालन और इस के सुखोपभोगों का उपभुंजन करते रहे।

एक दिन प्रातःकाल चक्रवर्ती भरत स्नान, गन्धमर्दन आदि के पश्चात् दिव्य वस्त्राभूषणालंकारादि से अलंकृत हो शरद् पूर्णिमा के चन्द्र समान प्रियदर्शनीय बन कर स्नानागार से निकले और अपने इन्द्र भवन तुल्य शीश महल में गये । वहां वे अपने सिंहासन पर पूर्व दिशा की ओर मुख किये बैठ गये और उस आरिसा भवन में अपना रूप निरखने लगे । उस समय अपना रूप देखते-देखते उनके अन्तर्मन में शुभ परिणाम प्रकट हुए । शुभ परिणामों, प्रशस्त अर्घ्यवसाय एवं विशुद्ध लेश्या से आत्म-गवेषणा करते-करते वे मतिज्ञानावरण कर्म के क्षय से अपने आत्मा पर लगे कर्मरज को पृथक् करने लगे । इस प्रकार कर्मरज को पृथक् करते-करते उन्होंने अपूर्वकरण में प्रवेश किया । अपूर्वकरण में प्रवेश करते हुए उन्हें अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण प्रतिपूर्ण केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन उत्पन्न हुआ । वे भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल के सम्पूर्ण लोक के समस्त पर्यायों को जानने वाले और देखने वाले केवली बन गये । भरत केवली ने स्वयमेव समस्त आभरणों एवं अलंकारों को उतारा और स्वयमेव पंच मुष्टि लुंचन किया । भरत केवली आरिसा भवन में से निकले और अपने अन्तःपुर के मध्यभाग में होते हुए बाहर निकल कर दस हजार राजाश्रों को प्रतिबोध दे श्रमणधर्म में दीक्षित किया । उन दस हजार मुनियों के साथ वे विनीता नगरी के मध्यवर्ती पथ से विनीता नगरी से बाहर निकल कर मध्य देश में सुख पूर्वक विचरने लगे । लगभग एक लाख पूर्व तक विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करने के पश्चात् वे अष्टापद पर्वत के पास आये । वे अष्टापद पर्वत पर शनैः शनैः चढ़े । अष्टापद पर्वत पर उन्होंने एक पृथ्वी-शिला-मट्ट की प्रतिलेखना की । उस शिला पर संलेखना-भूसना सहित भक्त-पान का प्रत्याख्यान कर उन्होंने पादपोषगमन संथारा किया । काल की कामना रहित वे पादपोषगमन संथारे में स्थिर रहे ।

वे भरत केवली सतहत्तर लाख पूर्व तक कुमारावस्था में रहे । कुमारावस्था के पश्चात् एक हजार वर्ष तक माण्डलिक राजा के पद पर रहे । तदनन्तर एक हजार वर्ष न्यून छह लाख पूर्व तक चक्रवर्ती पद पर रहे । इस प्रकार कुल मिला कर तियासी लाख पूर्व तक गृहवास में रहे । आरिसा भवन में शुभ परिणाम, प्रशस्त अर्घ्यवसाय और विशुद्ध लेश्या से आत्म-गवेषणा में लीन होने के समय से केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट होने के अन्तर्मुहूर्त जैसे समय तक न वे चक्रवर्ती के पद से सम्बन्धित रहे, न श्रमण पर्याय से और न केवली पर्याय से ही । अतः उस समय को छोड़ कर उन्होंने कुछ कम एक लाख पूर्व तक केवली पर्याय का पालन किया एवं उतने ही समय तक प्रतिपूर्ण श्रमण पर्याय का पालन किया ।

इस प्रकार सब मिला कर ८४ लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण कर एक मास

पर्यन्त पानी रहित भक्त प्रत्याख्यान से चन्द्रमा के साथ श्रवण नक्षत्र का योग होने पर शेष वेदनीय, आयुष्य नाम व गोत्र कर्म के क्षीण अर्थात् निर्मूल-हाने पर वे कालधर्म को प्राप्त हो जरामरण के बन्धन से विनिर्मुक्त सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए । संसार के सब कर्मों का, सब दुःखों का अन्त कर वे सब दुःखों से रहित अर्थात् अनन्त, अक्षय, अव्याघात शाश्वत शिव पद के मोक्ष में विराजे ।



## भरत-चक्रवर्ती

आगमेतर साहित्य में भरत चक्रवर्ती की अनासक्ति और स्वरूप-दर्शन के सम्बन्ध में बड़े रोचक विवरण उपलब्ध होते हैं। जनमानस में “अनासक्ति” और “अनित्य-भावना” को उत्पन्न करने के लिए जो प्रयास उत्तरवर्ती आचार्यों ने किया है, उसकी सर्वथा उपेक्षा करना समुचित नहीं होगा। अतः उन आख्यानों को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

### भरत की अनासक्ति :

भारतवर्ष का एकछत्र सार्वभौम साम्राज्य पा कर भी भरत के मन में शान्ति नहीं थी। अपने निन्यानवे भाइयों को खो कर राज्यभोगों में उन्हें गौरवानुभूति नहीं हो रही थी, नश्वर राज्य के लिए अपने भाइयों के मन में जो अन्तर्द्वन्द्व उन्होंने उत्पन्न किया, उसके लिए उनके मन में खेद था। अतः सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के षट्खण्डों पर अखण्ड शासन करते हुए भी उनके मन में आसक्ति नहीं थी।

एक समय भगवान् ऋषभदेव अपने शिष्य समूह के साथ विनीता नगरी के उद्यान में विराजमान थे। उस समय प्रभु की अमोघ दिव्य देशना में अध्यात्म-सुधा की अविरल वृष्टि हो रही थी। सहस्रों-सहस्रों सदेवासुर नर-नारी दत्तचित्त हो प्रभु के प्रवचनमृत का पान कर रहे थे।

श्रोताओं में से किसी एक ने प्रभु से प्रश्न किया—“प्रभो ! चक्रवर्ती भरत किस गति में जायेंगे ?”

प्रभु ने फरमाया—“मोक्ष में।”

प्रश्नकर्त्ता मन्द स्वर में बोल उठा—“अहो ! भगवान् के मन में भी पुत्र के प्रति पक्षपात है।”

यह बात भरत के कानों तक पहुंची। भरत ने सोचा—मेरे कारण भगवान् पर आक्षेप किया जा रहा है। इस व्यक्ति के मन में भगवद्वाणी में जो संदेह हुआ है, उसका मुझे समुचित उपाय से निराकरण करना चाहिये।”

यह सोच कर उन्होंने उम व्यक्ति को बुला कर कहा—“तेल से भरा हुआ एक कटोरा ले कर विनीता के सब बाजारों में घूम आओ। स्मरण रहे, यदि कटोरे में से तेल की एक बूंद भी नीचे गिरा दी तो तुम फांसी के तख्ते पर



लटका दिये जाओगे । कटोरे के तेल की एक बूंद नीचे नहीं गिरने दोगे, तभी तुम मुक्त हो सकोगे ।”

उसी समय विनीता नगरी में अनेक प्रकार के अद्भुत नाटकों और संगीत आदि के मनोरंजक आयोजनों का और उस व्यक्ति को तेल से पूर्ण कटोरा ले कर विनीता नगरी में घूमने का आदेश दिया गया ।

भरत के आदेश से भयभीत हुआ वह व्यक्ति आदेशानुसार सम्पूर्ण नगरी में पूरी सावधानी के साथ घूम कर पुनः चक्रवर्ती भरत के पास लौटा । नगर में सब और नृत्य, नाटक, संगीत आदि के आयोजन चल रहे थे, किन्तु वह व्यक्ति मृत्यु के डर से किसी भी ओर नजर तक उठा कर नहीं देख सका ।

भरत ने पूछा—“तुम पूरी विनीता नगरी में घूम आये हो । बताओ नगरी में तुमने कहां-कहां क्या-क्या देखा ?”

“महाराज कटोरे के अतिरिक्त मैंने कुछ भी नहीं देखा ।” उस व्यक्ति ने विनम्र स्वर में उत्तर दिया ।

भरत ने पूछा—“अरे ! क्या तुमने नगर में हो रहे नाटक नहीं देखे ? संगीत मण्डलियों के मधुर संगीत भी नहीं सुने ?”

उस व्यक्ति ने उत्तर दिया—“नहीं महाराज ! जिसकी दृष्टि के समक्ष मृत्यु नाच रही हो, वह नाटक कैसे देख सकता है ? मृत्यु का भय कैसा होता है, यह तो भुक्तभोगी ही जानता है ।”

“भाई ! जिस प्रकार तुम एक जीवन के मृत्यु-भय से संव्रस्त थे और उस मृत्यु-भय के कारण नाटक आदि नहीं देख सके, संगीत भी नहीं सुन सके, उसी प्रकार मेरे समक्ष सुदीर्घ काल की मृत्यु—परम्परा का भयंकर भय है । अतः साम्राज्य-लीला का उपभोग करते हुए भी मैं उसमें आसक्त नहीं हो पा रहा हूं । मैं तन से संसार के भोगोपभोगों और आरम्भ-परिग्रह में रह कर भी मन से एक प्रकार से निर्लिप्त रहता हूं ।” भरत ने कहा ।

उस शंकाशील व्यक्ति की समझ में यह बात आ गई और भगवान् के वचन के प्रति उसके मन में जो शंका थी, वह तत्काल दूर हो गई ।

भरत ने उस व्यक्ति को इस प्रकार शिक्षा दे सादर विदा किया । भरत के जनहितकारी शासन के कारण ही इस देश का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ ।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> वसुदेव हिण्डी, प्र० खण्ड, पृ० १८६ । श्रीमद्भागवत-११-२-१७।नारद पुराण  
अ० ४८, श्लोक ५

### भरत का स्वरूप-दर्शन

सम्यग्दर्शन के प्रकाश से भरत का अन्तर्भन प्रकाशित था। दीर्घकाल तक साम्राज्य-लीला में संलग्न रह कर भी वे उसमें अलिप्त और स्वरूपदर्शन के लिए लालायित थे।

भरत एक दिन वस्त्रालंकारों से विभूषित होकर अपने शीशमहल (आदर्शभवन) में गये। वहाँ छत, भित्तियों और आंगन के शीशों में उनका सौन्दर्य शतमुखी हो कर प्रतिबिम्बित हो रहा था। आंगन में प्रतिबिम्बित उनकी छवि ऐसी मुशोभित हो रही थी, मानो क्षीरसागर में राजहंस विचरण कर रहा हो। महाराज भरत अपनी उस छटा को देखकर स्वयं उस पर विस्मित एवं मुग्ध से थे। अपनी अंगुलियों की शोभा को निहारते हुए उन्होंने देखा कि प्रकाशमान अंगुलियों के बीच एक अंगुली शोभाविहीन है, सूनी है, क्योंकि उसमें पहनी हुई अंगूठी कहीं गिर पड़ी है। “देखें, इन दूसरी अंगूठियों को उतार देने पर ये अंगुलियां कौसी लगती हैं।” इस प्रकार विचार करते हुए उन्होंने एक-एक कर के अपने सारे आभूषण उतार दिये। आभूषणों को उतार देने के कारण शरीर का कृत्रिम सौन्दर्य विलुप्त हो गया। उन्हें अपना शरीर कमल रहित सरोवर के समान शोभाविहीन प्रतीत हुआ।

भरत के चिन्तन का मोड़ बदला, उन्होंने सोचा—“शरीर का यह सौन्दर्य मेरा अपना नहीं है, यह तो कृत्रिम है, वस्त्राभूषणों से ही यह सुन्दर प्रतीत होता है। क्षण भर पहले जो देह दमक रही थी, वह आभूषणों के अभाव में शोहीन हो गई है।”

उन्हें पहली बार यह अनुभव हुआ—भौतिक अलंकारों से लदी हुई सुन्दरता कितनी सारहीन है, कितनी आमक है। इसके व्यामोह में फँस कर मानव अपने शुद्ध स्वरूप को भूल जाता है। वास्तविक सौन्दर्य की अवस्थिति तो “स्व” में है, “पर” में नहीं। वस्तुतः “स्व” की ओर अधिक ध्यान न दे कर जो मैं आज तक “पर” शरीरादि में ही तत्परता दिखाता रहा, यह मेरी भयंकर भूल थी।”

धीरे-धीरे चक्रवर्ती भरत के चिन्तन का प्रवाह सम, संवेग, और निर्वेद की भूमिका पर पहुंचा और अपूर्वकरण में प्रविष्ट हो उन्होंने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, माहनीय एवं अन्तराय—इन चार घाति कर्मा का क्षय कर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लिया।<sup>1</sup>

वे प्रभु ऋषभदेव के चरणचिह्नों पर चल पड़े और अन्त में शुद्ध, बुद्ध व मुक्त हो गये।

<sup>1</sup> आवश्यक नियुक्ति, गा० ४३९

## परिव्राजक मत का प्रारम्भ

आवश्यक नियुक्ति आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार भगवान् की देशना सुन कर और समवसरण की अद्भुत महिमा देख कर सम्राट् भरत का पुत्र मरीचि भी प्रभु के चरणों में दीक्षित हो गया तथा तप व संयम की विधिवत् आराधना करते हुए उसने एकादश अंगों का अध्ययन भी किया। पर सुकुमारता के कारण एक बार ग्रीष्मकाल के भीषण ताप और अस्नान-परीषह से पीड़ित हो कर वह साधना के कटककीर्ण मार्ग से विचलित हो गया।<sup>१</sup>

वह मन ही मन सोचने लगा—“मेरु गिरि के समान संयम के इस गुरुतर भार को मैं घड़ी भर भी वहन नहीं कर सकता, क्योंकि संयम योग्य धृति आदि गुणों का मुझे अभाव है, तो मुझे क्या करना चाहिये ?”

इस प्रकार विचार करते हुए उसे बुद्धि उत्पन्न हुई कि व्रत-पर्याय में आकर फिर घर लौट जाना तो उचित नहीं, सब लोग उसे कायर कहेंगे और यदि साधु रूप में रह कर विधिवत् संयम का निर्दोष पालन नहीं करता हूँ, तो आत्म-वंचना होगी। अतः अपनी स्थिति के अनुसार नवीन वेश धारण कर विचरना चाहिये। श्रमण-धर्म से उसने निम्न भेद की कल्पना की :—

“जिनेन्द्र मार्ग के श्रमण मन, वचन और काया के अशुभ व्यापार रूप दंड से मुक्त, जितेन्द्रिय होते हैं। पर मैं मन, वाणी और काया से अगुप्त-अजितेन्द्रिय हूँ। इसलिये मुझे प्रतीक रूप से अपना त्रिदंड रखना चाहिये।”<sup>२</sup>

“श्रमण सर्वथा प्राणातिपात विरमण महाव्रत के धारक और सर्वथा हिंसा के त्यागी होने से मुंडित होते हैं, पर मैं पूर्ण हिंसा का त्यागी नहीं हूँ। मैं स्थूल हिंसा से निवृत्ति करूंगा और शिखा सहित क्षुर मुंडन कराऊंगा।”<sup>३</sup>

“श्रमण धन-कंचन रहित एवं शील की सौरभ वाले होते हैं किन्तु मैं परिग्रहधारी और शील की सुगन्ध से रहित हूँ। अतः मैं चन्दन आदि का लेप करूंगा।”<sup>४</sup>

“श्रमण निर्मोही होने से छत्र नहीं रखते, पर मैं मोह भमता सहित हूँ, अतः छत्र धारण करूंगा और उपानत् एवं खड़ाऊ भी पहनूंगा।”<sup>५</sup>

<sup>१</sup> (क) आ० भा० गा० ३७। (ख) आव० नि० गा० ३५०।३५१

<sup>२</sup> आवश्यक नियुक्ति याथा ३५३

<sup>३</sup> " " " ३५४

<sup>४</sup> " " " ३५५

.. ३५६

“श्रमण निरम्बर और शुक्लाम्बर होते हैं, जो स्थविरकल्पी हैं वे निर्मल मनोवृत्ति के प्रतीक श्वेत वस्त्र धारण करते हैं, पर मैं कषाय से कलुषित हूँ, अतः मैं काषाय वस्त्र-रोए वस्त्र धारण करूँगा।”<sup>१</sup>

“पाप-भीरु श्रमण जीवाकुल समझ कर सचित्त जल आदि का आरंभ नहीं करता किन्तु मैं परिमित जल का स्नान-पानादि में उपयोग करूँगा।”<sup>२</sup>

इस प्रकार परिव्राजक वेष की कल्पना कर मरीचि भगवान् के साथ उसी वेष से ग्राम-नगर आदि में विचरने लगा।

मरीचि के पास आकर बहुत से लोग धर्म की पृच्छा करते, वह उन सबको क्षान्ति आदि दशविध श्रमण-धर्म की शिक्षा देता और भगवान् के चरणों में शिष्य होने को भेज देता।

किसी समय भरत महाराज ने भगवान् के समक्ष प्रश्न किया—“प्रभो ! आपकी इस सभा में कोई ऐसा भी जीव है जो भरत क्षेत्र में, आपके समान इस चौबीसी में तीर्थकर होगा ?”<sup>३</sup>

समाधान करते हुए भगवान् ने फरमाया—“भरत ! यह स्वाध्याय-ध्यान में रत तुम्हारा पुत्र मरीचि, जो प्रथम परिव्राजक है, आगे इसी अवसर्पिणी में महावीर नाम का चौबीसवां तीर्थकर होगा। तीर्थकर होने से पहले यह प्रथम वासुदेव और मूका नगरी में चक्रवर्ती भी होगा।”

भगवान् का निर्णय सुनकर सम्राट् भरत अत्यधिक प्रसन्न हुए और मरीचि के पास जाकर उसका अभिवादन करते हुए बोले—“मरीचि ! तुम तीर्थकर बनोगे, इसलिये मैं तुम्हारा अभिवादन करता हूँ। मरीचि ! तेरी इस प्रव्रज्या को एवं वर्तमान जन्म को वंदन नहीं करता हूँ, किन्तु तुम जो भावी तीर्थकर बनोगे, इसलिये मैं वंदन करता हूँ।”

भरत की बात सुनकर मरीचि बहुत ही प्रसन्न हुआ और तीन बार आस्फोटन करके बोला “अहो मैं प्रथम वामुदेव और मूका नगरी में चक्रवर्ती बनूँगा, और इन्ही अवसर्पिणी काल में अन्तिम तीर्थकर भी, कितनी बड़ी कृद्धि ? फिर मेरा कुल कितना ऊँचा ? मेरे पिता प्रथम सम्राट् चक्रवर्ती, दादा

<sup>१</sup> आवश्यक नियुक्ति गाथा ३५७

<sup>२</sup> ” ” ” ३५८

<sup>३</sup> आ० नि० गाथा ३६७।

तीर्थंकर और मैं भी भावी तीर्थंकर, क्या इससे बढ़कर भी कोई उच्च कुल होगा ?”

इस प्रकार कुलमद के कारण मरीचि ने वहाँ नीच गोत्र का बन्ध कर लिया ।<sup>१</sup>

एक दिन शरीर की अस्वस्थावस्था में जब कोई उसकी सेवा करने वाला नहीं था तो मरीचि को विचार हुआ—“मैंने किसी को शिष्य नहीं बनाया, अतः आज सेवा से वंचित रह रहा हूँ। अब स्वस्थ होने पर मैं अपना शिष्य अवश्य बनाऊंगा ।”<sup>२</sup>

समय पाकर उसने कपिल राजकुमार को अपना शिष्य बनाया ।”<sup>३</sup>

महापुराणकार ने कपिल को ही योगशास्त्र और सांख्य-दर्शन का प्रवर्तक माना है ।

इस प्रकार “आदि परिव्राजक” मरीचि के शिष्य कपिल से व्यवस्थित रूप में परिव्राजक परम्परा का आरंभ हुआ ।<sup>४</sup>

### ब्राह्मी और सुन्दरी

प्रातःस्मरणीया सतियों में ब्राह्मी और सुन्दरी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भगवान् आदिनाथ के १०० पुत्रों में जिस प्रकार भरत और बाहुबली प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार उनकी दोनों पुत्रियां ब्राह्मी और सुन्दरी भी सर्वजन-विश्रुत हैं।

भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी के माध्यम से ही जन-समाज को अठारह लिपियों का ज्ञान प्रदान किया।

आवश्यक निर्युक्ति के टीकाकार के अनुसार ब्राह्मी का बाहुबलि से और भरत का सुन्दरी से सम्बन्ध बताया गया है।

यहां यह शंका होती है कि ब्राह्मी और सुन्दरी को बालब्रह्मचारिणी माना गया है, फिर इनका विवाह कैसे ?

संभव है कि ‘उस समय की लोक-व्यवस्थानुसार पहले दोनों का सम्बन्ध घोषित किया गया हो और फिर भोग-विरति के कारण दोनों ने भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली हो।

<sup>१</sup> आ० म० ४२८, ४३१-४३२

<sup>२</sup> आ० म० प० २४७।१

<sup>३</sup> त्रिषष्टि १।६।५२

<sup>४</sup> महापुराण, १।६२।४०३

आवश्यक चूर्ण और मलयगिरि वृत्ति में भी भरत को सुन्दरी और बाहुबली को ब्राह्मी देने के उल्लेख के साथ बताया गया है कि ब्राह्मी तो भगवान् को केवलज्ञान होते ही दीक्षित हो गई, पर सुन्दरी को उस समय भरत ने दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान नहीं की। भरत द्वारा अवरोध उपस्थित किये जाने के कारण वह उस समय दीक्षित नहीं हो सकी। भरत का विचार था कि चक्ररत्न से षट्खण्ड पृथ्वी को जीतकर सुन्दरी को स्त्री-रत्न नियुक्त किया जाय।

आचार्य जिनसेन के अनुसार सुन्दरी ने भगवान् ऋषभदेव के प्रथम प्रवचन से ही प्रतिबोध पाकर ब्राह्मी के साथ दीक्षा ग्रहण की थी।<sup>१</sup>

पर श्वेताम्बर परम्परा के चूर्ण वृत्ति साहित्य के अनुसार भरत की आज्ञा प्राप्त न होने से, वह उस समय प्रथम श्राविका बनी। उसके अन्तर्मन में वैराग्य की प्रबल भावना थी। तन से गृहस्थाश्रम में रहकर भी उसका हृदय संयम में रम रहा था। भरत के स्नेहातिरेक को देख कर सुन्दरी ने रागनिवारण हेतु उपाय सोचा। उसने भरत द्वारा षट्खण्ड विजय के लिए प्रस्थान कर देने पर निरन्तर आयम्बिल (आचाम्ल) तप करना प्रारम्भ कर दिया।

साठ हजार वर्ष पश्चात् जब भरत सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराते हुए षट्खण्ड विजय कर विनीता नगरी को लौटे और बारह वर्ष के महाराज्याभिषेक-समारोह के सम्पन्न होने के पश्चात् जब वे अपने परिवार की सार-सँभाल करते हुए सुन्दरी के पास आये तो सुन्दरी के सुन्दर-सुडौल शरीर को अत्यन्त कृश और शोभाविहीन देखकर बड़े क्षुब्ध हुए। अनुचरों को उपालम्भ देते हुए उन्होंने सुन्दरी के क्षीणकाय होने का कारण पूछा।

अनुचरों ने कहा—“स्वामिन् ! सभी प्रकार के सुख-साधनों का बाहुल्य होते हुए भी इनके क्षीण होने का कारण यह है कि जब से आपने इन्हें संयम-ग्रहण का निषेध किया, उसी दिन से उन्होंने निरन्तर आचाम्ल व्रत प्रारम्भ कर रखा है। हम लोगों द्वारा विविध विधि से पुनः पुनः निवेदन किये जाने के उपरान्त भी इन्होंने अपना व्रत नहीं छोड़ा।”

सुन्दरी की यह स्थिति देखकर भरत ने पूछा—“सुन्दरी ! तुम प्रव्रज्या लेना चाहती हो अथवा गृहस्थ जीवन में रहना चाहती हो ?”

सुन्दरी द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण करने की उत्कट अभिलाषा अभिव्यक्त किये जाने पर भरत ने प्रभु की सेवा में रत ब्राह्मी के पास उसे प्रव्रजित करा दिया। इस प्रकार सुन्दरी कालान्तर में साध्वी हो गई।

<sup>१</sup> (क) महापुराण २४।१७७ (ख) त्रिषष्टि० प० १, स० ३, श्लो० ६५०-५१

इस प्रकार उपरिलिखित रूप में ब्राह्मी और सुन्दरी के सम्बन्ध में आचार्यों ने भिन्न-भिन्न अभिमत व्यक्त किये हैं।

जैन वाङ्मय और धर्मसंघ में ब्राह्मी तथा सुन्दरी इन दोनों बहनों का युगादि से ही बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। युगादि में मानव संस्कृति के निर्माण में इन दोनों का बहुत बड़ा योगदान रहा। सोलह महासतियों में इन दोनों का विशिष्ट स्थान है। दोनों बहनों कुमारारवस्था में ही भगवान् ऋषभदेव के धर्मशासन में श्रमणीधर्म की आराधना कर सिद्ध-पद की अधिकारिणी बन गईं। इनके साधना जीवन के सम्बन्ध में जैसा कि ऊपर बताया गया कुछ आचार्यों में विचारभेद रहा है।

श्वेताम्बर परम्परा के पश्चाद्वर्ती साहित्य में ब्राह्मी की दीक्षा तो संघ स्थापना के समय ही मान्य की गई है पर सुन्दरी की दीक्षा ब्राह्मी से ६० हजार वर्ष पश्चात् अर्थात् भरत चक्रवर्ती के दिग्विजय से लौटने पर मानी गई है। जो विचारणीय है। जैनागम जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भगवान् ऋषभदेव के साध्वीसंघ का परिचय देते हुए कहा गया है—“उसभस्सणं अरहमो कोसलियस्स बंधी-सुन्दरी पामोक्खाओ तिण्ण अज्जियासयसाहस्सीओ उक्कोसिय अज्जिया संपया होत्था।” कल्पसूत्र में भी ऐसा ही लिखा है कि ऋषभदेव प्रभु के ब्राह्मी-सुन्दरी प्रमुख तीन लाख साध्वियों की उत्कृष्ट संपदा थी। इन दोनों ही मूल पाठों में ब्राह्मी के साथ सुन्दरी को भी ३ लाख साध्वियों में प्रमुख बताया गया है, जो ब्राह्मी और सुन्दरी के साथ-साथ दीक्षित होने पर ही संभव हो सकता है। चक्रवर्ती भरत द्वारा सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर दिग्विजय के पश्चात् सुन्दरी की दीक्षा मानने पर हजारों लाखों साध्वियां उनसे दीक्षावृद्ध हो सकती हैं। उस प्रकार की स्थिति में—“बंधी सुन्दरीपामोक्खाओ” पाठ की संगति कैसे होगी? यह समस्या उपस्थित होती है। इसके अतिरिक्त ध्यानस्थ बाहुबली को प्रतिबोध देने हेतु ब्राह्मी के साथ सुन्दरी के भेजने का भी उल्लेख है, वह भी ब्राह्मी और सुन्दरी का दीक्षा-ग्रहण साथ मानने पर ही ठीक बैठता है।

दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन<sup>१</sup> भी जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र के उल्लेख की भांति ही ब्राह्मी और सुन्दरी—दोनों बहनों का एक साथ ही दीक्षित होना मानते हैं।

इसके अतिरिक्त यदि सुन्दरी का संघ-स्थापना के समय श्राविका होना स्वीकार किया जाता है तो श्राविका-संघ में सुन्दरी का प्रमुख नाम आना चाहिये, किन्तु जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और कल्पसूत्र आदि में सुभद्रा को श्राविकाओं में प्रमुख बताया गया है, न कि सुन्दरी को।

<sup>१</sup> महापुराण, २४।१७७

इन सब तथ्यों पर तटस्थता से विचार करने पर अम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और कल्पसूत्र की भावना के अनुसार ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों बहनों का साथ-साथ दीक्षित होना ही विशेष संगत और उचित प्रतीत होता है।

### पुत्रों को प्रतिबोध

पहले कहा जा चुका है कि ऋषभदेव ने अपने सभी पुत्रों को पृथक्-पृथक् ग्रामादि का राज्य देकर प्रव्रज्या ग्रहण की।

जब भरत ने षट्खण्ड के देशों पर विजय प्राप्त की, तब भ्राताओं को भी अपने आज्ञानुवर्ती बनाने के लिए उसने उनके पास दूत भेजे। दूत की बात सुनकर अट्टानवे भाइयों ने मिलकर विचार-विमर्श किया, परन्तु वे कोई निराणय नहीं कर सके। तब उन सबने सोचा कि भगवान् के पास जाकर बात करेंगे और उनकी जैसी आज्ञा होगी, वैसा ही करेंगे।

इस तरह सोचकर वे सब भगवान् के पास पहुँचे और उन्हें सारी स्थिति से अवगत कराते हुए बोले—“भगवन् ! आपने हमको जो राज्य दिया था, वह भाई भरत हमसे छीनना चाहता है। उसके पास कोई कमी नहीं, फिर भी तृष्णा के अधीन हो वह कहता है कि या तो हमारी आज्ञा स्वीकार करो अन्यथा युद्ध करने के लिये तैयार हो जाओ। आपके दिये हुए राज्य को हम यों ही दब कर अर्पण कर दें, यह कायरता होगी और भाई के साथ युद्ध करें तो विनय-भंग होगा, मर्यादा का लोप हो जायगा। ऐसी स्थिति में आप ही बताइये, हमें क्या करना चाहिये ?”

भगवान् ने भौतिक राज्य की नश्वरता और अनुपादेयता बतलाते हुए उनको आध्यात्मिक राज्य का महत्त्व समझाया।

भगवान् के उपदेश का सार सूयगडांग के दूसरे वैतालीय अध्ययन में बताया गया है।

भागवत में भी भगवान् के पुत्रोपदेश का वर्णन इससे मिलता-जुलता ही प्राप्त होता है।<sup>१</sup>

भगवान् की दिव्य वाणी में आध्यात्मिक राज्य का महत्त्व और संघर्ष-जनक भौतिक राज्य के त्याग की बात सुनकर सभी पुत्र अवाक् रह गये।

उन्होंने भगवान् के उपदेश को शिरोधार्य कर इन्द्रियों और मन पर संयम रूप स्वराज्य स्वीकार किया और वे पंच महाव्रत रूप धर्म को ग्रहण कर भगवान् के शिष्य बन गये।

<sup>१</sup> श्रीमद्भागवत प्रथम खण्ड ५।५।५५६



सम्राट् भरत को ज्योंही यह सूचना मिली, तो वे तत्काल वहां पहुँचे और भाइयों से राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगे। पर अट्टानवे भाइयों ने अब राज्य वैभव और माया से अपना मुख मोड़ लिया था, अतः भरत की स्नेह भरी बातें उनको विचलित नहीं कर सकीं, वे अक्षय राज्य के अधिकारी हो गये।

### अहिंसात्मक युद्ध

ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र बाहुबली ने युद्ध में भी अहिंसाभाव रखकर यह बता दिया कि हिंसा के स्थान पर अहिंसा भाव से भी किस प्रकार मन-परिवर्तन का आदर्श उपस्थित किया जा सकता है।

ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र सम्राट् भरत सम्पूर्ण देशों में अपना अखंड शासन स्थापित करने जा रहे थे। अट्टानवे भाइयों के दीक्षित हो जाने से उनका मार्ग अधिकांशतः सरल बन चुका था, फिर भी एक बाधा थी कि महाबली को कैसे जीता जाय ?

जब तक बाहुबली को आज्ञानुवर्ती नहीं बना लिया जाता, तब तक चक्ररत्न का नगर प्रवेश और चक्रवर्तित्व के एकछत्र राज्य की स्थापना नहीं हो सकती थी। अतः उन्होंने अपने छोटे भाई बाहुबली को यह संदेश पहुँचाया कि वह भरत की अधीनता स्वीकार कर लें।

दूत के मुख से भरत का सन्देश सुनकर बाहुबली की भृकुटी तन गई। क्रोध में तमतमाते हुए उन्होंने कहा—“अट्टानवे भाइयों का राज्य-छीन कर भी भरत की राज्य-तृष्णा शान्त नहीं हुई और अब वह मेरे राज्य पर भी अधिकार करना चाहता है। उसे अपनी शक्ति का गर्व है, वह सब को दबा कर रखना चाहता है, यह शक्ति का सदुपयोग नहीं, दुरुपयोग है, भगवान् द्वारा स्थापित सुव्यवस्था का अतिक्रमण है। ऐसी स्थिति में मैं भी चुप्पी नहीं माध सकता। मैं उसे बतला दूँगा कि आक्रमण करना कितना बुरा है।”

बाहुबली की यह बात सुनकर दूत लौट गया। उसने भरत के पास आकर सारी बात कह सुनाई। भरत के समक्ष बड़ी विकट समस्या उपस्थित हो गई। चक्ररत्न के नगर में प्रविष्ट न होने के कारण एक ओर चक्रवर्ती पद की प्राप्ति के लिये किये गये सब प्रयास निष्फल हो रहे थे तो दूसरी ओर भ्रातृ-प्रेम और लोकापवाद के कारण भाई के साथ युद्ध करने में मन कुण्ठित हो रहा था। किन्तु चक्रवर्ती नाम कर्म के प्राक्ल्य के कारण उन्हें भाई पर आक्रमण करने का निश्चय करना पड़ा। उन्होंने विराट् मेना लेकर युद्ध करने हेतु “बहली देश” की सीमा पर आकर मेना का पड़ाव डाल दिया।

दूसरी ओर बाहुबली भी अपनी विशाल सेना के साथ रणांगण में आ डटे। दोनों ओर की सेनाओं के बीच युद्ध कुछ समय तक होता रहा। पर युद्ध में होने वाले जनसंहार से बचने के लिए बाहुबली ने भरत के समक्ष सुझाव रखा कि क्यों नहीं वे दोनों भाई-भाई ही मिलकर निर्णायक द्वन्द्व युद्ध कर लें।

दोनों के एकमत होने पर दृष्टि-युद्ध, वाग्-युद्ध, मुष्टि-युद्ध और दंड-युद्ध द्वारा परस्पर बल-परीक्षण होने लगा।

दोनों भाइयों के बीच सर्वप्रथम दृष्टि-युद्ध हुआ, उसमें भरत की पराजय हुई। तत्पश्चात् क्रमशः वाग्-युद्ध, बाहु-युद्ध और मुष्टि-युद्ध में भी भरत पराजित हो गये।

तब भरत सोचने लगे—“क्या बाहुबली चक्रवर्ती है, जिससे कि मैं कम-जोर पड़ रहा हूँ?”

उनके इस प्रकार विचार करते ही देवता ने भरत के समक्ष अमोघ आयुध चक्ररत्न प्रस्तुत किया। छोटे भाई से पराजित होने पर भरत को गहरा आघात लगा, अतः आवेश में आकर उन्होंने बाहुबली के शिरश्छेदन के लिये चक्ररत्न का प्रहार किया।

बाहुबली ने भरत को प्रहार करते देखा तो वे गर्व के साथ क्रुद्ध हो उछले और उन्होंने चक्र को पकड़ना चाहा। पर तत्क्षण उनके मन में विचार आया कि तुच्छ काम-भोगों के लिये उन्हें ऐसा करना योग्य नहीं। भाई मर्यादा-भ्रष्ट हो गया है तो भी उन्हें धर्म छोड़कर आतृवध जैसा दुष्कर्म नहीं करना चाहिये।<sup>१</sup>

भरत के ही परिवार के सदस्य व चरमशरीरी होने के कारण चक्ररत्न भी बाहुबली की प्रदक्षिणा करके पीछे की ओर लौट गया।<sup>२</sup>

बाहुबली की इस विजय से मगन विजयघोषों से गूँज उठा और भरत मन ही मन बहुत लज्जित हुए। हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में इस सन्दर्भ को निम्न रूप से प्रस्तुत किया गया है :—

<sup>१</sup> (क) भाव० नि० मलयवृत्ति गा० ३२ से ३५ प० २३२ (ख) भाव० चू० प० २१०

<sup>२</sup> न चक्रं चक्रिणः शक्तं, सामान्येऽपि समोत्रजे।

विशेषतस्तु चरमशरीरे नरि तादृशे ॥७२३॥

चक्रं चक्रमृतः पाणि, पुनरप्यापपात तत् ।...७२४॥

[त्रिषष्टि श. पु. चरित्र, पर्व १, सर्ग ५]

बाहुबली ने रुष्ट होकर जब भरत पर प्रहार करने के लिये मुष्टि उठाई तब सहसा दर्शकों के दिल कांप गये और सब एक स्वर में कहने लगे “क्षमा कीजिये, समर्थ होकर क्षमा करने वाला बड़ा होता है। भूल का प्रतीकार भूल से नहीं होता।”

बाहुबली शान्त मन से सोचने लगे—“ऋषभ की सन्तानों की परम्परा हिंसा की नहीं, अपितु अहिंसा की है। प्रेम ही मेरी कुल-परम्परा है। किन्तु उठा हुआ हाथ खाली कैसे जाय ?”

“उन्होंने विवेक से काम लिया, अपने उठे हुए हाथ को अपने ही सिर पर डाला और बालों का लुंचन करके वे श्रमण बन गये। उन्होंने ऋषभदेव के चरणों में वहीं से भावपूर्वक नमन किया और कृत-अपराध के लिए क्षमा-प्रार्थना की।”

### भरत-बाहुबली युद्ध पर शास्त्रीय दृष्टि

कथा-साहित्य में भरत-बाहुबली के युद्ध को बड़े ही आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। कहीं देवों को बीच-बचाव में खींचा है, तो कहीं इन दोनों भाइयों के स्वयं के चिन्तन को महत्त्व दिया गया है। परन्तु जब शास्त्रीय परम्परा की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो वहाँ इस सम्बन्ध में स्वल्पमात्र भी युद्ध का उल्लेख नहीं मिलता। प्रत्युत शास्त्र में तो स्पष्ट उल्लेख है कि चक्रवर्ती किसी राजा, महाराजा से तो क्या, देव-दानव से भी पराजित नहीं होते। इस प्रकार की स्थिति में देव-दानवों द्वारा अज्ञेय भरत चक्रवर्ती को युद्ध में उनके अपने एक भाई महाराजा से पराजित हो जाने का उल्लेख सिद्धान्त के प्रतिकूल प्रतीत होता है।

संभव है उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा बाहुबली के बल की विशिष्टता बतलाने के लिये ऐसा लिखा गया हो। छपस्य साहित्यकारों द्वारा चरित्र-चित्रण में प्रतिशयोक्ति होना असंभव नहीं है।

### बाहुबली का घोर तप और केवलज्ञान

भ० ऋषभदेव की सेवा में जाने की इच्छा होने पर भी बाहुबली आगे नहीं बढ़ सके। उनके मन में द्वन्द था—“पूर्वदीक्षित छोटे भाइयो के पास यों ही कैसे जाऊं ?”

इस बात का स्मरण आते ही वे अहंकार से अभिभूत हो गये। वे बन में ध्यानस्थ खड़े हो गये और एक वर्ष तक गिरिराज के समान अचल-अडोल निष्कम्प भाव से खड़े रहे। शरीर पर बेलें छा गईं, मुकुमल कमल के समान

खिला वदन मुरझा गया, पैर दीमकों की मिट्टी से ढक गये ।<sup>१</sup> इतना सब कुछ होने पर भी उन्हें केवलज्ञान का आभास तक नहीं हुआ ।

त्रिकालदर्शी प्रभु ऋषभदेव ने मुनि बाहुबली की इस प्रकार की मनः-स्थिति देख, उन्हें प्रतिबोध देने हेतु ब्राह्मी और सुन्दरी को उनके पास भेजा ।

दोनों साधवियां तत्काल बाहुबली के पास जाकर प्रेरक मृदु स्वर में उनसे बोली—“भाई ! हाथी से नीचे उतरो, हाथी पर बैठे केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती ।”

बाहुबली साधवियों की बात सुनकर विचारने लगे—“मैं हाथी पर कहाँ बैठा हूँ ? किन्तु साधवियां कभी असत्य नहीं बोलतीं ।<sup>२</sup> अरे समझा, ये ठीक ही कहती हैं, मैं अभिमान रूपी हाथी पर आरूढ़ हूँ ।”

इस विचार के साथ ही सरल भाव से ज्योंही बाहुबली ने अपने छोटे भाइयों को नमन करने के लिये पैर उठाये कि उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया ।

केवली बनकर वे भगवान् के समवसरण में गये और वहाँ नियम के अनुसार प्रभु को वन्दन कर केवली-परिषद् में बैठ गये ।

आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि बाहुबली एक वर्ष तक ध्यान में स्थिर रहे, परन्तु उनके मन में यह विचार बना रहा कि उनके कारण भरत के मन में संकलेश हुआ है । उनके वार्षिक अनशन के पश्चात् भरत के द्वारा क्षमा-याचनापूर्वक वन्दन करने पर उनका मानसिक शल्य दूर हुआ और उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया ।<sup>३</sup>

### भरत द्वारा ब्राह्मण वर्ण की स्थापना

आचार्य जिनसेन के मतानुसार ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है कि कुछ समय के पश्चात् भरत चक्रवर्ती पद पर आसीन हुए तो उनके मन में विचार आया कि उन्होंने दिग्विजय कर विपुल वैभव एवं साधन एकत्रित किये हैं । अन्य लोग भी रातदिन परिश्रम कर अपनी शक्तिभर धनार्जन करते हैं । इस प्रकार परिश्रम से उपार्जित सम्पत्ति का उपयोग किन्हीं

<sup>१</sup> संवच्छरं अच्छई काउसग्गेण वल्लीविताखेण वेढियो पाया य निग्गएहि मुयंगेहि

—आव० म० वृ०, पृ० २३२ (१)—

<sup>२</sup> तात्तो व अलियं न भएति ।

—आवश्यक चूर्ण, पूर्व भाग, पृ० २११—

<sup>३</sup> महापुराण, ३६। १८६—८८। २१७ द्वि० भाग

ऐसे कल्याणकारी कार्यों में किया जाना चाहिये, जो सभी भांति लाभप्रद एवं परम हितकर हों। इस विचार के साथ उन्हें यह भी ध्यान में आया कि यदि बुद्धिजीवी लोगों का एक वर्ग तैयार किया जाय तो उनके द्वारा त्रिवर्ग के अन्य लोगों को भी नैतिक जीवन-निर्माण में बौद्धिक सहयोग प्राप्त होता रहेगा और समाज का नैतिक स्तर भी अधःपतन की ओर उन्मुख न होकर अभ्युन्नति की ओर अग्रसर होता रहेगा।

इस विचार को मूर्त रूप देने के लिये उन्होंने सभी शिष्ट लोगों को अपने यहां आमन्त्रित किया और उनकी परीक्षा के लिये मार्ग में हरी घास बिछवा दी।

हरी घास में भी जीव होते हैं, जिनकी हमारे चलने से विराधना होगी, इस बात का बिना विचार किये ही बहुत से लोग भरत के प्रासाद में चले गये। परन्तु कतिपय विवेकशील लोग मार्ग में हरी घास बिछी देखकर प्रासाद में नहीं गये।

भरत द्वारा उन्हें प्रासाद के अन्दर नहीं आने का कारण पूछने पर उन्होंने कहा—“हमारे आने से वनस्पति के जीवों की विराधना होती, इसलिये हम प्रासाद के अन्दर नहीं आये।”

महाराज भरत ने उनकी दयावृत्ति की सराहना करते हुए उन्हें दूसरे मार्ग से प्रासाद में बुलाया और उन्हें सम्मानित कर ‘माहण’ अर्थात् ‘ब्राह्मण’ की संज्ञा से सम्बोधित किया।

आवश्यक चूर्ण (जिनदास गणी) के अनुसार भरत अपने ६८ भाइयों को प्रवर्जित हुए जानकर अधीर हो उठे और मन में विचार करने लगे कि इतनी बड़ी अतुल सम्पदा किस काम की, जो अपने स्वजनों के भी काम न आ सके। यदि मेरे भाई चाहें तो मैं यह भोग उन्हें अर्पण कर दूँ।

जब भगवान् विनीता नगरी पधारे तो भरत ने अपने दीक्षित भाइयों को भोगों के लिए निमन्त्रित किया, पर उन्होंने त्यागे हुए भोगों को ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया। तब भरत ने उन परिग्रह-त्यागी मुनियों का आहार आदि के दान द्वारा सेवा-सत्कार करना चाहा। अशनादि से भरे ५०० गाड़े लेकर वे उन मुनियों के पास पहुँचे एवं वन्दन नमन के पश्चात् उन्हें अशन-पानादि के उपभोग के लिए आमन्त्रित करने लगे।

भगवान् ऋषभदेव ने फरमाया—इस प्रकार का साधुओं के लिए बना हुआ आधाकर्मो या उनके लिये लाया हुआ आहार साधुओं के लिए ग्राह्य नहीं होना।

इस पर भरत ने प्रभु से प्रार्थना की—भगवन् ! यदि ऐसी बात है तो मेरे लिए पहले से ही बने हुए भोजन को स्वीकार किया जाय ।

जब भगवान् ने उसे भी 'राजपिण्ड' कह कर अग्राह्य बताया तो भरत बड़े खिन्न एवं चिन्तित हो सोचने लगे — क्या पिता ने मुझे सर्वथा परित्यक्त कर दिया है ?

इसी बीच देवराज शक्र ने भरत की व्यथा एवं चिन्ता का निवारण करने के लिए प्रभु से पृच्छा की — भगवन् ! भ्रवग्रह कितने प्रकार के होते हैं ?

प्रभु ने पंचविध भ्रवग्रह में देवेन्द्र और राजा का भी भ्रवग्रह बताया ।

भरत ने इस पर प्रभु से निवेदन किया — भगवन् ! मैं अपने भारतवर्ष में श्रमण-निर्यन्थों को सुखपूर्वक विचरण करने की अनुज्ञा प्रदान करता हूँ ।

इसके बाद श्रमणों के लिये लाये हुए आहार-पानादि के सदुपयोग के सम्बन्ध में भरत द्वारा पूछे जाने पर शक्र ने कहा — राजन् ! जो तुम से विरति गुण में अधिक हैं, उनका इस अशन-पानादि से सत्कार करो ।

भरत ने मन ही मन सोचा — कुल, जाति और वैभव आदि में तो कोई मुझ से अधिक नहीं है । जहां तक गुणाधिक्य का प्रश्न है, इसमें मुझ से अधिक (गुण वाले) त्यागी, साधु व मुनिराज हैं, वे तो मेरे इस पिण्ड को स्वीकार ही नहीं करते । अब रहे गुणाधिक कुछ श्रावक — तो उन्हें ही यह सामग्री दे दी जाय ।

ऐसा सोच कर भरत ने वह भोजन श्रावकों को दे दिया और उन्हें बुला कर कहा — आप अपनी जीविका के लिए व्यवसाय, सेवा, कृषि आदि कोई कार्य न करें, मैं आप लोगों की जीविका की व्यवस्था करूंगा । आपका कार्य केवल शास्त्रों का श्रवण, पठन एवं मनन व देव, गुरु की सेवा करते रहना है ।

इस प्रकार अनेकों श्रावक प्रतिदिन भरत की भोजनशाला में भोजन करते और बोलते — 'वर्द्धते भयं, मा ह्यण, मा ह्यण' — भय बढ़ रहा है, हिंसा मत करो, हिंसा मत करो ।

भरत की ओर से श्रावकों के नाम इस साधारण निमन्त्रण को पाकर अन्यान्य लोग भी अधिकाधिक संख्या में भरत की भोजनशाला में आकर भोजन करने लगे । भोजनशाला के व्यवस्थापकों ने भोजन के लिए आने वालों की दिन प्रतिदिन अप्रत्याशित रूप से निरन्तर बढ़ती हुई संख्या को देखकर सोचा कि यदि यही स्थिति रही तो बड़ी अव्यवस्था हो जाएगी । उन्होंने सारी स्थिति भरत के सम्मुख रखी ।

भरत ने कहा - तुम लोग प्रत्येक व्यक्ति से पूछताछ करने के पश्चात् जो श्रावक हो उसे भोजन खिलाओ ।

भोजनशाला के व्यवस्थापकों ने आगन्तुकों से पूछताछ करना प्रारम्भ किया । जिन लोनों ने अपने व्रतों के सम्बन्ध में सम्यक् रूप से बताया उनको योग्य समझ कर वे भरत के पास ले गये । भरत ने कांकणी रत्न से उन्हें चिह्नित किया और कहा - छः छः महीनों से ऐसा परीक्षण करते रहो ।

इस प्रकार माहण उत्पन्न हुए । उनके जो पुत्र-पौत्र होते, उन्हें भी साधुओं के पास ले जाया जाता और व्रत स्वीकार करने पर कांकणी रत्न से चिह्नित किया जाता । वे लोग आरम्भ, परिग्रह की प्रवृत्तियों से अलग रहकर लोगों को 'मा हन, मा हन,' ऐसी शिक्षा देते, उन्हें 'माहण' अर्थात् 'ब्राह्मण' कहा जाने लगा ।<sup>१</sup>

भरत द्वारा, प्रत्येक श्रावक के - देव, गुरु, धर्म अथवा ज्ञान, दर्शन, चरित्र रूपी रत्नत्रय की आराधना के कारण, कांकणी रत्न से तीन रेखाएं की जातीं । समय पाकर वे ही तीन रेखाएं यज्ञोपवीत के रूप में परिणत हो गईं ।

इस प्रकार ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति हुई । जब भरत के पुत्र आदित्य यश सिंहासनारूढ़ हुए तो उन्होंने सुवर्णमय यज्ञोपवीत धारण करवाई । यह स्वर्ण की यज्ञोपवीत धारण करने की परिपाटी आदित्य यश से आठवीं पीढ़ी तक चलती रही ।<sup>२</sup>

इस तरह भगवान् आदिनाथ से लेकर भरत के राज्यकाल तक चार वर्णों की स्थापना हुई ।

### भगवान् ऋषभदेव का धर्म परिवार

भगवान् ऋषभदेव का गृहस्थ परिवार विशाल था, उसी प्रकार उनका धर्म-परिवार भी बहुत बड़ा था । यों देखा जाय तो प्रभु ऋषभदेव की वीतराग-वाणी को सुनकर कोई विरला ही ऐसा रहा होगा, जो लाभान्वित एवं उनके प्रति श्रद्धाशील नहीं हुआ हो । अगणित नर-नारी, देव-देवी और पशु तक उनके उपासक बने, भक्त बने । परन्तु यहां विशेषकर व्रतियों की दृष्टि से ही उनके धर्म परिवार का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है । जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र

<sup>१</sup> आवश्यक चूलि, पृ० २१३-१४

<sup>२</sup> एवं ते उप्पन्ना माहणा, कामं ज्वा आइक्खजसो जातो तदा सोवन्नियाणि जसोवइमाणि ।  
एवं तेसि षट्ठ पुरिसजुगाणि ताव सोवन्नित्ताणि ॥ भाव० चू० प्र० भा०, पृष्ठ-२१४

के अनुसार<sup>१</sup> कोशलिक ऋषभदेव के धर्मसंघ में गणधरों आदि की संख्या इस प्रकार थी :-

गणधर ऋषभसेन आदि	चौरासी (८४)
केवली साधु	बीस हजार (२०,०००)
केवली साध्वियां	चालीस हजार (४०,०००)
मनः पर्यवज्ञानी	बारह हजार छह सौ पचास (१२,६५०)
अवधिज्ञानी	नौ हजार (९,०००)
चतुर्दश पूर्वधारी	चार हजार सात सौ पचास (४,७५०)
वादी	बारह हजार छह सौ पचास (१२,६५०)
वैक्रिय लब्धिधारी	बीस हजार छह सौ (२०,६००)
अनुत्तरोपपातिक <sup>२</sup>	बाईस हजार नौ सौ (२२,९००)
साधु	चौरासी हजार (८४,०००)
साध्वियां ब्राह्मी और	
सुन्दरी प्रमुख	तीन लाख (३,००,०००)
श्रावक श्रेयांस प्रमुख	तीन लाख पचास हजार (३,५०,०००)
श्राविकाएं सुभद्रा प्रमुख	पांच लाख चौवन हजार (५,५४,०००)

भगवान् ऋषभदेव के इस धर्म परिवार में २० हजार साधुओं और चालीस हजार साध्वियों - इस प्रकार कुल मिलाकर ६० हजार अन्तेवासी साधु-साध्वियों ने आठों कर्मों को समूल नष्ट कर अन्त में मोक्ष प्राप्त किया ।

भगवान् ऋषभदेव के विशाल अन्तेवासी परिवार में बहुत से अणगार ऊर्ध्व जानु और अधोशिर किये ध्यानमग्न रहकर संयम एवं तपश्चरणा से अपनी आत्मा को भावित अर्थात् परिष्कृत करते हुए विचरण करते थे ।

भगवान् ऋषभदेव की दो अन्तकृत् भूमियां हुईं । एक तो युगान्तकृत् भूमि और दूसरी पर्यायान्तकृत् भूमि । युगान्तकृत् भूमि की अवधि असंख्यात पुरुषयुगों तक चलती रही और पर्यायान्तकृत्-भूमि में भुमुक्षु अन्तमुहूर्त की पर्याय से आठों कर्मों का अन्त करने के कामी हुए ।

<sup>१</sup> जम्बूद्वीप प्रजपति सूत्र (अमोलक ऋषिजी म०), पृ०८७-८८

<sup>२</sup> यदि इन २२,९०० मुनियों की ७ लवसत्तम जितनी भी आयुष्य और होती तो ये सीधे मोक्ष में जाते । ७ लवसत्तम जितना समय ही इनके मोक्ष जाने में कम रहा था कि इनकी आयुष्य समाप्त हो गई और ये अनुत्तर विमान में देव रूप से उत्पन्न हुए ।



### अ० ऋषभदेव के कल्याणक

कौशलिक ऋषभदेव भगवान् के पांच कल्याणक उत्तराषाढा नक्षत्र में और छठा कल्याणक अभिजित् नक्षत्र में हुआ। उन कल्याणकों का विवरण इस प्रकार है :-

भ० ऋषभदेव के जीव का उत्तराषाढा नक्षत्र में सर्वाथसिद्ध विमान से च्यवन हुआ और च्यवन कर उत्तराषाढा नक्षत्र में ही गर्भ में आया (१), भ० ऋषभदेव का उत्तराषाढा नक्षत्र में जन्म हुआ (२), उत्तराषाढा नक्षत्र में प्रभु का राज्याभिषेक हुआ (३), उत्तराषाढा नक्षत्र में वे गृहस्थ धर्म का परित्याग कर अणुगार धर्म में प्रव्रजित हुए (४), प्रभु ऋषभदेव ने उत्तराषाढा नक्षत्र में केवलज्ञान प्राप्त किया (५) और अभिजित् नक्षत्र में वे आठों कर्मों को नष्ट कर शुद्ध-बुद्ध मुक्त हुए (६)।

### प्रभु ऋषभदेव का अप्रतिहत विहार

एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व की भाव-तीर्थङ्कर पर्याय में प्रभु ऋषभदेव ने उस समय के बृहत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विहार किया। उन्होंने बहली, अंडबइल्ला-अटक प्रदेश, यवन-यूनान, स्वर्णभूमि और पञ्चव-पशिया जैसे दूर दूर के क्षेत्रों में भी विचरण कर भव्यों को धर्म का उपदेश दिया। उस समय देश के कोने-कोने एवं सुदूरस्थ प्रदेशों में जैनधर्म चहुंमुखी प्रचार-प्रसार के कारण सार्वभौम धर्म के प्रतिष्ठित पद पर अविच्छिन्न हुआ। वह भगवान् आदिनाथ ऋषभ के ही उपदेशों का प्रतिफल था।

वज्र ऋषभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान से सुगठित ५०० धनुष की ऊँचाई वाले सुघड़-सुन्दर शरीर के धनी कौशलिक ऋषभदेव अरिहन्त बीस लाख पूर्व की अवस्था तक कुमार अवस्था में और ६३ लाख पूर्व तक महाराज पद पर रहे। इस प्रकार कुल मिला कर तियासी लाख पूर्व तक गृहवास में। पश्चात् उन्होंने अणुगार धर्म की प्रव्रज्या ग्रहण की। वे १००० वर्ष तक छद्मस्थ पर्याय में रहे। एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व तक वे केवली पर्याय (भाव तीर्थंकर पर्याय) में रहे। सब मिला कर उन्होंने एक लाख पूर्व तक श्रमणधर्म का पालन किया।

अन्त समय में आयु-काल को निकट समझ कर १०,००० अन्तेवासी साधुओं के परिवार के साथ भगवान् ऋषभदेव ने अष्टापद पर्वत के शिखर पर पादपोषगमन संथारा किया। वहाँ, हेमन्त ऋतु के तृतीय मास और पांचवें पक्ष में माघ कृष्ण त्रयोदशी के दिन पानी रहित चौदह भक्त अर्थात् ६ दिन के उपवासों की तपस्या से युक्त, दिन के पूर्व विभाग में, अभिजित् नक्षत्र के योग में

जब कि सुषम-दुःषम नामक तीसरे आरक के समाप्त होने में ८६ पक्ष (तीन वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन) शेष रहे थे, उस समय प्रभु ऋषभदेव निर्वाण प्राप्त हुए। प्रभु के साथ जिन १०,००० साधुओं ने पादपोषगमन संघारा किया था वे भी प्रभु के साथ सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

### आश्चर्य

काल का सूक्ष्मातिसूक्ष्म-अविभाज्य काल, जो समय कहलाता है, उस एक ही समय में भगवान् ऋषभदेव के साथ उन १० हजार अन्तेवासियों में से १०७ अन्तेवासी भी मुक्त हुए। अनादिकाल से यह नियम है कि एक समय में उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो ही जीव एक साथ सिद्ध हो सकते हैं<sup>१</sup>, दो से अधिक नहीं। किन्तु ५०० धनुष की उत्कृष्ट अवगाहना वाले भगवान् ऋषभदेव और उनके १०७ अन्तेवासी कुल मिलाकर १०८ एक समय में ही सिद्ध हो गये, यह प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल का आश्चर्य माना गया है। इस अवसर्पिणी काल में जो १० आश्चर्य घटित हुए हैं, उनमें इस घटना की भी आश्चर्य के रूप में गणना की गई है। वे दस आश्चर्य इस प्रकार हैं :—

१. उवसग्ग, २. गम्भहरणां, ३. इत्थीतित्थं, ४. अभाविद्या-परिसा।
५. कण्हस्स अवरकंका, ६. उत्तरणां चंद-सूराणां ॥
७. हरिवंसकुलुप्पत्ती, ८. चमरुप्पातो य ९. अट्ठसयसिद्धा ।<sup>२</sup>
१०. अस्संजतेसु पूआ, दस वि अणंतेण कालेण ॥<sup>३</sup> स्था. सूत्र, १० स्थान ।

प्रभु के निर्वाण के समय प्रभु सहित उत्कृष्ट अवगाहना वाले १०८, महान् आत्माओं ने एक ही समय में निर्वाण प्राप्त किया। प्रभु के साथ संघारा किये हुए प्रभु के शेष ६८६३ अन्तेवासियों ने भी उसी दिन थोड़े थोड़े क्षणों के अन्तर से शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सिद्ध गति प्राप्त की। प्रभु के साथ मुक्त हुए उन १० हजार श्रमणों में प्रभु के गणधर, पुत्र, पौत्र और अन्य भी सम्मिलित थे।

### निर्वाण महोत्सव

भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण होते ही सौधर्मन्द्र शक्र आदि ६४ इन्द्रों के आसन चलायमान हुए। वे सब इन्द्र अपने-अपने विशाल देव परिवार और अद्भुत दिव्य ऋद्धि के साथ अष्टापद पर्वत के शिखर पर आये। देवराज शक्र

१ उक्कोसोगाहणाए य, सिज्जंते जुगवं दुवे ॥१५॥ उत्तराध्वयन, अ. ३६

२ दस आश्चर्यों के सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रभु महावीर का "गर्भापहार प्रकरण" देखें

की आज्ञा से देवों ने तीन चिताओं और तीन शिविकाओं का निर्माण किया। शक्र ने क्षीरोदक से प्रभु के पार्थिव शरीर को और दूसरे देवों ने गणधरों तथा प्रभु के शेष अन्तेवासियों के शरीरों को क्षीरोदक से स्नान करवाया। उन पर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया गया। शक्र ने प्रभु के और देवों ने गणधरों तथा साधुओं के पार्थिव शरीरों को क्रमशः तीन अतीव सुन्दर शिविकाओं में रखा। “जय जय नन्दा, जय जय भद्रा” आदि जयघोषों और दिव्य देव वाद्यों की तुमुल ध्वनि के साथ इन्द्रों ने प्रभु की शिविका को और देवों ने गणधरों तथा साधुओं की दोनों पृथक्-पृथक् शिविकाओं को उठाया। तीनों चिताओं के पास आकर एक चिता पर शक्र ने प्रभु के पार्थिव शरीर को रखा। देवों ने गणधरों के पार्थिव शरीर उनके अन्तिम संस्कार के लिए निर्मित दूसरी चिता पर और साधुओं के शरीर तीसरी चिता पर रखे। शक्र की आज्ञा से अग्नि कुमारों ने क्रमशः तीनों चिताओं में अग्नि की विकुर्वणा की और वायुकुमार देवों ने अग्नि को प्रज्वलित किया। उस समय अग्निकुमारों और वायुकुमारों के नेत्र अश्रुओं से पूर्ण और मन शोक से बोझिल बने हुए थे। गोशीर्षचन्दन की काष्ठ से चुनी हुई उन चिताओं में देवों द्वारा कालागरु आदि अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्य डाले गये। प्रभु के और उनके अन्तेवासियों के पार्थिव शरीरों का अग्नि-संस्कार हो जाने पर शक्र की आज्ञा से मेघकुमार देवों ने क्षीरोदक से उन तीनों चिताओं को ठंडा किया। सभी देवेन्द्रों ने अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रभु की डाढ़ों और दांतों को तथा शेष देवों ने प्रभु की अस्थियों को ग्रहण किया।

तदुपरान्त देवराज शक्र ने भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों को सम्बोधित करते हुए कहा—“हे देवानुप्रियो! शीघ्रता से सर्वरत्नमय विशाल झालयों (स्थान) वाले तीन चैत्य-स्तूपों का निर्माण करो। उनमें से एक तो तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव की चिता पर, दूसरा गणधरों की चिता पर और तीसरा उन विमुक्त अणुगारों की चिता के स्थान पर हो।” उन चार प्रकार के देवों ने क्रमशः प्रभु की चिता पर, गणधरों की चिता पर और अणुगारों की चिता पर तीन चैत्यस्तूप का निर्माण किया।

आवश्यक नियुक्ति में उन देवनिर्मित और आवश्यक मलय में भरत निर्मित चैत्यस्तूपों के सम्बन्ध में जो उल्लेख है, वह इस प्रकार है :

मडयं मयस्स देहो, तं भरुदेवीए पढम सिद्धो त्ति ।

देवेहि पुरा महियं, भावणया अग्गिसक्कारो य ॥६०॥

सो जिणदेहाईणं, देवेहि कतो चितासु धूभा य ।

सद्दो य रुण्णसद्दो, लोणो वि ततो तहाय कतो ॥६१॥

तथा भगवद्देहादिदग्घस्थानेषु भरतेन स्तूपा कृता, ततो

ल्लोकेऽपि तत आरम्य मृतक दाह स्थानेषु स्तूपा प्रवर्तन्ते ॥ आवश्यक मलय ॥

भ० ऋषभदेव, उनके गणधरों और अन्तेवासी साधुओं की तीन चिताओं पर पृथक्-पृथक् तीन चैत्यस्तूपों का निर्माण करने के पश्चात् सभी देवेन्द्र अपने देव-देवी परिवार के साथ नन्दीश्वर द्वीप में गये। वहाँ उन्होंने भगवान् ऋषभदेव का अष्टाङ्गिक निर्वाण महोत्सव मनाया और अपने-अपने स्थान को लौट गये।<sup>१</sup>

वैदिक परम्परा के साहित्य में माघ कृष्ण चतुर्दशी के दिन आदिदेव का शिवलिंग के रूप में उद्भव होना माना गया है।<sup>२</sup> भगवान् आदिनाथ के शिव-पद प्राप्ति का इससे साम्य प्रतीत होता है। यह सम्भव है कि भगवान् ऋषभदेव की निषद्या (चिता स्थल) पर जो स्तूप का निर्माण किया गया वही आगे चल कर स्तूपाकार चिह्न शिवलिंग के रूप में लोक में प्रचलित हो गया हो।

### जैनेतर साहित्य में ऋषभदेव

जैन परम्परा की तरह वैदिक परम्परा के साहित्य में भी ऋषभदेव का विस्तृत परिचय उपलब्ध होता है। बौद्ध साहित्य में भी ऋषभ का उल्लेख मिलता है। पुराणों में ऋषभ की वंश-परम्परा का परिचय इस प्रकार मिलता है :—

“ब्रह्माजी ने अपने से उत्पन्न अपने ही स्वरूप स्वायंभुव को प्रथम मनु बनाया। स्वायंभुव मनु से प्रियव्रत और प्रियव्रत से आग्नीध्र आदि दस पुत्र हुए। आग्नीध्र से नाभि और नाभि से ऋषभ हुए।<sup>३</sup>

ऋषभदेव का परिचय प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि महात्मा नाभि की प्रिया मरुदेवी की कुक्षि से अतिशय कान्तिमान् ऋषभ नामक पुत्र का जन्म हुआ। महाभाग पृथिवीपति ऋषभदेव ने धर्मपूर्वक राज्यशासन तथा विविध यज्ञों का अनुष्ठान किया और अपने वीर पुत्र भरत को

१ जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति और कल्प सूत्र, १६६ सू०

२ ईशान संहिता ।

(क) माघे कृष्णे चतुर्दश्यामादिदेवो महानिधि ।

शिवलिंगतयाद्भूतः, कोटिसूर्य-समप्रभः ॥

तत्कालव्यापिनी ग्राह्या, शिवरात्रिप्रते तिथिः ।

[ईशान संहिता]

(ख) माघमासस्य शेषे या, प्रथमे फाल्गुनस्य च ।

कृष्णा चतुर्दशी सा तु, शिवरात्रिः प्रकीर्तिता ॥

[कालमाधवीय नागरखण्ड]

३ विष्णु पुराण, अंश २ अ० १। श्लो. ७। १६, २७

राज्याधिकार सौंपकर तपस्या के लिये पुलहाश्रम की ओर प्रस्थान किया ।<sup>१</sup>

जबसे ऋषभदेव ने अपना राज्य भरत को दिया तबसे यह हिमवर्ष लोक में भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।<sup>२</sup>”

श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव को यज्ञपुरुष विष्णु का अंशावतार माना गया है । उसके अनुसार भगवान् नाभि का प्रेम-सम्पादन करने के लिये महारानी मरुदेवी के गर्भ से संन्यासी वातरशना-श्रमणों के धर्म को प्रकट करने के लिये शुद्ध सत्वमय विग्रह से प्रकट हुए । यथा :—

“भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरु-  
देव्यां, धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्धिनां  
शुक्लया तन्वावततार ।<sup>३</sup>”

“ऋषभदेव के शरीर में जन्म से ही वज्र, अंकुश आदि विष्णु के चिह्न थे । उनके सुन्दर और सुडील शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता आदि गुणों के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम ऋषभ (श्रेष्ठ) रखा ।<sup>४</sup>”

श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव को साक्षात् ईश्वर भी कहा है । यथा :—

“भगवान् ऋषभदेव परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब तरह की अनर्थ परम्परा से रहित, केवल आनन्दानुभव-स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे । अज्ञानियों के समान कर्म करते हुए काल के अनुसार प्राप्त धर्म का आचरण करके उसका तत्त्व न जानने वाले लोगों को उन्होंने सत्व धर्म की शिक्षा दी ।<sup>५</sup>”

भागवत में इन्द्र द्वारा दी गई जयन्ती कन्या से ऋषभ का पाणिग्रहण और उसके गर्भ से अपने समान सौ पुत्र उत्पन्न होने का उल्लेख है ।<sup>६</sup>

ब्रह्मावर्त पुराण में लिखा है कि ऋषभ ने अपने पुत्रों को अध्यात्मज्ञान की शिक्षा दी और फिर स्वयं ने अवधूतवृत्ति स्वीकार कर ली । उनके उपदेश का सार इस प्रकार है :

१ विष्णु पुराण, २।१।२८ और २९

२ विष्णु पुराण, २।१।३२

३ श्रीमद्भागवत, ५।३।२०

४ श्रीमद्भागवत, ५।४।२

५ श्रीमद्भागवत, ५।४।१४

६ श्रीमद्भागवत, ५।४।८

“मेरे इस अवतार-शरीर का रहस्य साधारण जनों के लिये बुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्व ही मेरा हृदय है और उसी में धर्म की स्थिति है। मैंने अधर्म को अपने से बहुत दूर पीछे ढकेल दिया है, इसलिये सत्पुरुष मुझे ऋषभ कहते हैं।<sup>१</sup> पुत्रो ! तुम सम्पूर्ण चराचर भूतों को मेरा ही शरीर समझ कर शुद्ध बुद्धि से पद-पद पर उनकी सेवा करो, यही मेरी सच्ची पूजा है।<sup>२</sup>”

“ऋषभदेव की अपरिग्रहवृत्ति का भागवत में निम्न रूप से उल्लेख मिलता है :

“ऋषभदेव ने पृथ्वी का पालन करने के लिए भरत को राज्यगद्दी पर बिठाया और स्वयं उपशमशील, निवृत्ति-परायण महामुनियों के भक्ति-ज्ञान और वैराग्य रूप परमहंसोचित धर्म की शिक्षा देने के लिये बिलकुल विरक्त हो गये। केवल शरीर मात्र का परिग्रह रखा और सब कुछ घर पर रहते ही छोड़ दिया।<sup>३</sup>”

ऋषभदेव के तप की पराकाष्ठा और उनकी नग्नचर्या का परिचय इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :—

“वे तपस्या के कारण सूख कर कांटा हो गये थे और उनके शरीर की शिराएं-धमनियां दिखाई देने लगीं। अन्त में अपने मुख में एक पत्थर की बटिया रख कर उन्होंने नग्नावस्था में महाप्रस्थान किया।<sup>४</sup>”

भागवतकार के शब्दों में ऋषभ-चरित्र की महिमा इस प्रकार है :—

“राजन् ! इस प्रकार सम्पूर्ण वेद, लोक, देवता, ब्राह्मण और गीर्षों के परमगुरु भगवान् ऋषभदेव का विशुद्ध चरित्र मैंने तुम्हें सुनाया है।”

“यह मनुष्य के समस्त पापों को हरने वाला है। जो मनुष्य इस परम मंगलमय पवित्र चरित्र को एकाग्रचित्त से श्रद्धापूर्वक निरन्तर सुनते या सुनाते हैं, उन दोनों की ही भगवान् वासुदेव में अनन्य भक्ति हो जाती है।<sup>५</sup>”

“निरन्तर विषय-भोगों की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध बने हुए लोगों को जिन्होंने करुणावश निर्भय

१. श्रीमद्भागवत, ५।५।१६

२. श्रीमद्भागवत, ५।५।२६

३. श्रीमद्भागवत, ५।५।२८

४. श्रीमद्भागवत, ५।६।७

५. श्रीमद् भा० ५।६।१६

आत्मा लोक का उपदेश दिया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति से सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार है।<sup>१</sup>”

शिवपुराण में शिव का आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के रूप में अवतार लेने का उल्लेख है।<sup>२</sup>

ऋग्वेद में भगवान् ऋषभ को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दुःखों का नाश करने वाला बतलाते हुए कहा है :—

“जैसे जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है, जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वज्ञान के प्रतिपादक ऋषभ (ऋषभ) महान् हैं।”

बौद्ध साहित्य में लिखा है :—

“भारत के आदि सम्राटों में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत की गणना की गई है। उन्होंने हेमवत गिरि हिमालय पर सिद्धि प्राप्त की। वे व्रतपालन में दृढ़ थे। वे ही निर्ग्रन्थ, तीर्थंकर ऋषभ जैनों के आप्त-देव थे।<sup>३</sup>”

धम्मपद में ऋषभ को सर्वश्रेष्ठ वीर कहा है।<sup>४</sup>

ऋषभदेव के समय का उल्लेख करते हुए कुछ इतिहासज्ञों ने निम्न प्रकार से उल्लेख किया है :—

श्री रामधारी सिंह ‘दिनकर’ का कथन है :—

“मोहनजोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर जो श्री ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है, जैसे शक्ति कालान्तर में शिव के साथ समन्वित हो गई। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं है कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेदपूर्व हैं।<sup>५</sup>”

१ श्रीमद् भा० ५।६।१६

२ शिव पुरा० ४।४७।४७

३ प्रजापतेः सुतोनाभिः, तस्यापि सुतमुच्यते। नाभिना ऋषभपुत्रो वै, सिद्धकर्म-दृढव्रतः ॥

तस्यापि भगिणचरो यक्षः, सिद्धो हेमवते गिरौ। ऋषभस्य भरतः पुत्रः।

आर्य मंजु श्री मूल श्लो० ३६०--६१--६२

४ उसमं पवरं वीरं। धम्मपद ४२२

५ आजकल, मार्च १९६२, पृ० ८

डॉ० जिम्भर लिखते हैं :-

“आज प्रागैतिहासिक काल के महापुरुषों के अस्तित्व को सिद्ध करने के साधन उपलब्ध नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे महापुरुष हुए ही नहीं।”

“इस अवसर्पिणी काल में भोगभूमि के अन्त में अर्थात् पाषाणकाल के अवसान पर कृषि काल के प्रारम्भ में पहले तीर्थंकर ऋषभ हुए, जिन्होंने मानव को सभ्यता का पाठ पढ़ाया।”

“उनके पश्चात् और भी तीर्थंकर हुए जिनमें से अनेक का उल्लेख वेद-ग्रन्थों में भी मिलता है। अतः जैन धर्म भगवान् ऋषभदेव के काल से चला आ रहा है।”

### भगवान् ऋषभदेव और भरत का जनेतर पुराणादि में उल्लेख

भगवान् ऋषभदेव और सम्राट् भरत इतने अधिक प्रभावशाली पुण्य-पुरुष हुए हैं कि उनका जैन ग्रन्थों में तो उल्लेख आता ही है, इसके अतिरिक्त वेद के मन्त्रों, जनेतर पुराणों, उपनिषदों आदि में भी उनका उल्लेख मिलता है।

भागवत में मरुदेवी, नाभिराज, वृषभदेव और उनके पुत्र भरत का विस्तृत विवरण मिलता है।

यह दूसरी बात है कि वह कितने ही अंशों में भिन्न प्रकार से दिया गया है। फिर भी मूल में समानता है।

इस देश का भारत नाम भी भरत चक्रवर्ती के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है। निम्नांकित उद्धरणों से हमारे उक्त कथन की पुष्टि होती है :-

आग्नीध्रसूनोर्नाभिस्तु, ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः ।  
 ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताद् वरः ॥३६॥  
 सोऽभिषिच्यषर्भः पुत्रं, महाप्राम्राज्यमास्थितः ।  
 तपस्तेषे महाभागः, पुलहाश्रमसंश्रयः ॥४०॥  
 हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं, भरताय पिता ददौ ।  
 तस्मात्तु भारतं वर्षं, तस्य नाम्ना महात्मनः ॥४१॥

[मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ४०]

(क) डी फिलासफीज आफ इण्डिया, पृ० २१७

(ख) अहिंसा वाणी, वर्ष १२, अंक ६, पृ० ३७६

डॉ० कामताप्रसाद के लेख से उद्धृत।



हिमाह्वयं तु यद्वर्षं, नाभेरासीन्महात्मनः ।  
 तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो, मरुदेव्यां महाद्युतिः ॥३७॥  
 ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रजः ।  
 सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं, भरतं पृथिवीपतिः ॥३८॥

[कूर्म पुराण, अध्याय ४०]

जरा मृत्यु भयं नास्ति, धर्माधर्मौयुगादिकम् ।  
 नाधर्मं मध्यमं तुल्या, हिम देशात्तु नाभितः ॥१०॥  
 ऋषभो मरुदेव्यां च, ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।  
 ऋषभोऽदात् श्री पुत्रे, शाल्यग्रामे हरिर्गतः ॥११॥  
 भरताद् भारतं वर्षं, भरतात् सुमतिस्त्वभूत् ।

[अग्नि पुराण, अध्याय १०]

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं, मरुदेव्यां महाद्युतिः ।  
 ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं, सर्वं क्षत्रस्य पूर्वजम् ॥५०॥  
 ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रजः ।  
 सोऽभिषिच्यार्थ भरतं, पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः ॥५१॥  
 हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं, भरताय न्यवेदयत् ।  
 तस्माद् भारतं वर्षं, तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥५२॥

[वायु महापुराण, पूर्वार्ध, अध्याय ३३]

नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं, मरुदेव्यां महाद्युतिम् ॥५६॥  
 ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं, सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।  
 ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥६०॥  
 सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं, महाप्राव्राज्यमास्थितः ।  
 हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं, तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥६१॥

[ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वार्ध, अनुषंगपाद अध्याय १४]

“नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतः पुत्रश्च तावदग्रजः  
 तस्य भरतस्य पिता ऋषभः हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद् भारतं नाम शशास ।

[वाराह पुराण, अध्याय ७४]

नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि, हिमाकेऽस्मिन्नबोधत ।  
 नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं, मरुदेव्यां महामतिः ॥१६॥  
 ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं, सर्वक्षत्रस्य पूजितम् ।  
 ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रजः ॥२०॥  
 सोऽभिषिच्यार्थ ऋषभो, भरतं पुत्रवत्सलः ।  
 ज्ञानं वैराग्यमाश्रित्य, जित्वेन्द्रियमहोरगान् ॥२१॥

सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य. परमात्मानमीश्वरम् ।  
 नम्नो जटो निराहारोऽचीरो ध्वांतगतो हि सः ॥२२॥  
 निराशस्त्यक्तसंदेहः, शैवभाप परं पदम् ।  
 हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं, भरताय न्यवेदयत् ॥२३॥  
 तस्मात्तु भारतं वर्षं. तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।

[लिङ्ग पुराण, अध्याय ४७]

..... ।  
 न ते स्वस्ति युगावस्था, क्षेत्रेष्वष्टमु सर्वदा ॥२६॥  
 हिमाह्वयं तु वै वर्षं, नाभेरासीन्महात्मनः ।  
 तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः ॥२७॥  
 .....

ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः ॥२८॥

[विष्णु पुराण, द्वितीयांश अध्याय १]

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।  
 तस्यनाम्नात्विदं वर्षं, भारतं चेति कीर्त्यते ॥२७॥

[स्कन्ध पुराण, माहेश्वर खण्ड का कौमार खण्ड, अध्याय ३७]

कुलादि बीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहनः ।  
 चक्षुष्मान् यशस्वी वाभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित् ।  
 मरुदेवश्च नाभिश्च, भरते कुल सप्तमाः ।  
 अष्टमो मरुदेव्यां तु. नाभेर्जाति उत्क्रमः ।  
 दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरामुरनमस्कृतः ।  
 नीति त्रितयकर्ता यो, युगादो प्रथमो जिनः ।

[मनुस्मृतिः]

### भगवान् ऋषभदेव और ब्रह्मा

लोक में ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध जो देव है, वह भगवान् ऋषभदेव को छोड़कर दूसरा नहीं है । ब्रह्मा के अन्य अनेक नामों से निम्नलिखित नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं :-

हिरण्यगर्भ, प्रजापति, लोकेश, नाभिज, चतुरानन, स्रष्टा, स्वयभू ।

इनकी यथार्थ संगति भगवान् ऋषभदेव के साथ बैठती है । जैसे :-

हिरण्य गर्भ—जब भगवान् माता मरुदेवी के गर्भ में आए, उसके छः मास पहले अयोध्यानगरी में हिरण्य, सुवर्ण तथा रत्नों की वर्षा होने लगी

थी । इसलिए आपका हिरण्यगर्भ<sup>१</sup> नाम सार्थक है ।

प्रजापति — कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने के बाद अग्नि, मसि, कृषि आदि छः कर्मों का उपदेश देकर आपने ही प्रजा की रक्षा की थी, अतः आप प्रजापति कहलाये ।

लोकेश — समस्त लोक के स्वामी होने के कारण आप लोकेश कहलाये ।

नाभिज — नाभिराज नामक चौदहवें (सातवें) मनु से उत्पन्न हुए थे, इसलिए नाभिज कहलाए ।

चतुरानन — समवसरण में चारों ओर से आपके दर्शन होते थे, इसलिए आप चतुरानन कहे जाते थे ।

स्रष्टा — भोगभूमि नष्ट होने के बाद देश, नगर आदि का विभाग, राजा, प्रजा, गुरु, शिष्य आदि का व्यवहार और विवाह प्रथा आदि के आप आद्य-प्रवर्तक थे, इसलिए स्रष्टा कहे गए ।

स्वयम्भू — दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओं से अपनी आत्मा के गुराणों का विकास कर स्वयं ही आद्य तीर्थंकर हुए, इसलिए स्वयंभू कहलाए ।  
[आदि पुराणम्, प्रथमो विभागः प्रस्तावना पृ० १५, जिनसेनाचार्य]

### सार्वभौम आदि नायक के रूप में लोकव्यापी कीर्ति

भ० ऋषभदेव के आद्योपान्त समय जीवन चरित्र और उनके सम्बन्ध में भारत के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों—वेदों, वैष्णव, भागवत, शैव प्रभृति विभिन्न आम्नायों के उपरिवर्णित १० पुराणों, मनुस्मृति एवं बौद्ध ग्रन्थ आर्य मंजुश्री आदि के श्रद्धा-श्लाघा से श्रोतश्रोत गौरव गरिमापूर्ण उल्लेखों पर चिन्तन-मनन करने से सहज ही प्रत्येक व्यक्ति को यह विदित हो जाता है कि युगादि की सम्पूर्ण मानवता ने भ० ऋषभदेव को, अपने अन्तस्तल से उद्भूत सर्वसम्मत समवेत स्वर से अपने सार्वभौम लोकनायक-सार्वभौम धर्मनायक और सर्वोच्च सार्वभौम हृदयसम्राट् के रूप में स्वीकार किया था ।

मानव संस्कृति की उच्च एवं आदर्श मानवीय मर्यादाओं के महानिधान तुल्य 'मनुस्मृति' नामक प्राचीन ग्रन्थ में तो नाभि के सुपुत्र मरुदेवीनन्दन

<sup>१</sup> मैया हिरण्मयी वृष्टिर्घनेशेन निपातिता ।

विभोहिरण्यगर्भं त्वमिद्विद्वोषयितुं जगत् ॥ महापुराण पर्व १२-श्लोक ६५

हिरण्यगर्भस्त्वं धाता जगतां त्वं स्वभूरमि ।

निभमात्रं त्वदुत्पत्ती पितुं मन्या यतो वयम् ॥ महापुराण पर्व १५ श्लो० ५७

उत्सुक—भगवान् ऋषभ को, जैन आगमों के उल्लेखों के अनुरूप ही युगादि में लोकनीति, राजनीति और धर्मनीति— इन तीनों नीतियों का जन्मदाता-आदिकर्ता, कर्मवीरों तथा धर्मवीरों के मार्ग का प्रवर्तक, सकल सुरासुरों का वन्दनीय और प्रथम जिन माना गया है ।

भगवान् ऋषभदेव के लोकोत्तर विराट् व्यक्तित्व का जिस श्रद्धा के साथ जैन धर्म के आगम ग्रन्थों में दिग्दर्शन कराया गया है, ठीक उसी प्रकार की अगाध प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ भारत के प्रायः सभी प्राचीन धर्मों के पवित्र धर्म-ग्रन्थों में भी उनके लोकव्यापी सार्वभौम वर्चस्व का, प्रभाव का प्रतिपादन किया गया है । इसका एकमात्र कारण यही है कि युगादि के नितान्त निरीह एवं भोले मानव समाज की विपन्नावस्था से द्रवित हो भ० ऋषभदेव ने जिस प्रकार समग्र मानव समाज को अभाव अभियोगविहीन, सुरोपम समृद्ध और सर्व सौख्य-सम्पन्न लौकिक जीवन के निर्माण का प्रशस्त पथ प्रदर्शित किया, उसी प्रकार संसार के प्राणिमात्र के कल्याण हेतु सौख्यपूर्ण परलोकनिर्माण का जन्म-जरा-मृत्यु का सदा-सर्वदा के लिये अन्त कर अक्षय-अव्याबाध शाश्वत शिवसुख प्राप्ति का मार्ग भी बताया । भगवान् ऋषभदेव ने मानवता को इस लोक के साथ-साथ परलोक को भी सुखद-सुन्दर और अन्ततो गत्वा शाश्वत सौख्यपूर्ण बनाने के जो मार्ग बताये वे दोनों ही मार्ग न केवल मानव मात्र ही अपितु प्राणिमात्र के लिये वरदान स्वरूप सिद्ध हुए । उनके द्वारा आविर्भूत की गई लोकनीति और राजनीति जिस प्रकार किसी वर्ग विशेष अथवा व्यक्ति विशेष के लिये नहीं अपितु समष्टि के हित के लिये थी, उसी प्रकार उनके द्वारा स्थापित धर्ममार्ग भी निश्चेष प्राणिवर्ग के कल्याण के लिये—समष्टि के कल्याण के लिये था । यही कारण था कि भ० ऋषभदेव द्वारा मानव के इहलौकिक हित के लिये स्थापित की गई नीति लोकनीति के नाम से और उनके द्वारा समष्टि के आध्यात्मिक अभ्युत्थान के लिये प्रकट किया गया धर्ममार्ग विश्वधर्म अथवा शाश्वत धर्म के नाम से त्रैलोक्य में विख्यात हुआ । जिस प्रकार भगवान् ऋषभदेव द्वारा संस्थापित लोकनीति किसी वर्ग, जाति, प्रान्त अथवा देश विशेष के लिये नहीं किन्तु सम्पूर्ण मानव समाज के हित के लिये थी, उसी प्रकार उनके द्वारा प्रकट किया गया धर्म भी समष्टि के—विश्व के कल्याण के लिये, आध्यात्मिक उत्थान के लिये था । उनके द्वारा प्रकट किया गया धर्म विश्वधर्म था । यही कारण था कि युगादि के सम्पूर्ण मानव समाज ने भ० ऋषभदेव द्वारा स्थापित लोकनीति को, धर्म को सर्वसम्मति से समवेत स्वरों में शिरोधार्य कर स्वीकार किया । युगादि के मानव समाज द्वारा स्वीकार किये गये, सर्वात्मना-सर्वभावेन अंगीकार किये गये उस विराट् विश्वधर्म का नाम सब प्रकार के विशेषणों से रहित केवल 'धर्म' ही था । भ० ऋषभदेव द्वारा निखिल विश्व के प्राणिमात्र के कल्याण के लिये स्थापित किया गया और युगादि के अखिल

मानव समाज द्वारा शिरोधार्य किया गया वह विराट् विश्व धर्म कोट्यानुकोटि शताब्दियों, पीढ़ी-प्रपीढ़ियों तक लोक में शाश्वत धर्म, नित्य धर्म अथवा ध्रुव-धर्म के नाम से अभिहित किया जाता रहा और उसी के परिणामस्वरूप सार्व-भौम लोकनायक, सार्वभौम धर्मनायक के रूप में भगवान् ऋषभदेव की कीर्ति सम्पूर्ण लोक में व्याप्त रही। यही कारण है कि भारत के प्राचीन धर्मग्रन्थों में भगवान् ऋषभदेव को धाता, भाग्य-विधाता और भगवान् आदि लोकोत्तम अलंकारों से अलंकृत किया गया है।



•

## भगवान् श्री अजितनाथ

तीर्थंकर ऋषभदेव के बहुत समय बाद द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथ हुए ।

प्रकृति का अटल नियम है कि जिसका जीवन जितना उच्छ होगा, उसकी पूर्वजन्म की साधना भी उतनी ही ऊंची होगी । अजितनाथ की पूर्व जन्म की साधना भी ऐसी ही अनुकरणीय और उत्तम थी । उनके पूर्वजन्म की साधना का जो विवरण उपलब्ध होता है वह इस प्रकार है :—

### पूर्वभव

जम्बूद्वीपस्थ महाविदेह क्षेत्र में सीता नाम की महानदी के दक्षिणी तट पर अति समृद्ध एवं परम रमणीय वत्स नामक विजय है । वहां अलका तुल्य अति सुन्दर सुसीमा नाम की नगरी थी । विमलवाहन नामक एक महाप्रतापी राजा वहां राज्य करता था । वह बड़ा ही पराक्रमी, न्यायप्रिय धर्मपरायण, नीतिनिपुण और शासक के योग्य सभी श्रेष्ठ गुणों से युक्त था । संसार में रहते हुए भी उनका जीवन भोगों से अलिप्त था । विशाल राज्य और भव्य भोगों को पाकर भी वे आसक्त नहीं हुए । लोग उनको वीरवर, दानवीर और दयावीर कहा करते थे ।

मुखपूर्वक राज्य करते हुए प्रजावत्सल राजा विमलवाहन एक दिन आत्मनिरीक्षण करने लगे कि मानव भव पाकर प्राणी को क्या करना चाहिये । उनकी चिन्तनधारा और आगे की ओर प्रवाहित हुई । वे सोचने लगे कि संसार के अनन्तानन्त प्राणी कराल काल की विकराल चक्की में अनादि काल से पिसते चले आ रहे हैं । चौरासी लाख जीव योनियों में जन्म-मरण के असह्य व दारुण दुःखों को भोगते हुए तड़प रहे हैं, सिसक रहे हैं और करुण क्रन्दन कर रहे हैं । इस जन्म, जरा, मरण रूपी कालचक्र का कोई ओर है न कोई छोर ही । भवाटवी में अनादि काल से भटकते हुए उन अनन्तानन्त प्राणियों में मैं भी सम्मिलित हूँ । मैं इस भयावहा भवाटवी के चक्रव्यूह से, इस त्रिविध ताप से जाज्वल्यमान भट्टी से और जन्म-मरणके भयावह भव-पाप से कब छुटकारा पाऊंगा ? चौरासी लाख जीव योनियों में केवल एक मानव योनि ही ऐसी है जिसमें प्राणी साधना-पथ पर अग्रसर हो सभी सांसारिक दुःखों का अन्त कर भवपाश से मुक्त हो 'मृत्यं शिवं मुन्दरम्' के सही स्वरूप को प्राप्त कर अनन्त-अव्याबाध-शाश्वत मुखधाम शिवपद को प्राप्त कर सकता है । मुझे भवपाश से विमुक्त होने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ है । अनाद्यनन्त काल तक दुस्सह्य दुःखपूर्ण विविध

योनियों में भटकने के पश्चात् पूर्वोर्पाजित अनन्त-अनन्त पुण्य के प्रताप से मुझे यह दुर्लभ मानव जन्म मिला है । पुण्य भू कर्मभूमि के आर्यक्षेत्र में किसी हीन कुल में नहीं अपितु उत्तम आर्य कुल में मेरा जन्म हुआ है । मुझे स्वस्थ, सशक्त, सुन्दर शरीर, उत्तम संहनन और उत्तम संस्थान मिला है । ऐसा सुन्दर, सुनहरा सुयोग अनन्तकाल तक भव भ्रमण करने के अनन्तर अनन्त पुण्योदय के प्रभाव से ही सभी प्रकार के बाह्य साधन प्राप्त हैं । इस अमूल्य मनुष्य जीवन का एक-एक क्षण अनमोल है । फिर मैं कैसा अभाग मूढ़ हूँ, जो मैंने इस चिन्तामणि तुल्य तत्काल अभीप्सित अमृतफल प्रदायी महाधर्म मानव जन्म की महत्त्वपूर्ण घड़ियों को क्षणभंगुर एवं मृगमरीचिका के समान वास्तविकता-विहीन सांसारिक सुखोपभोग में नष्ट कर दिया है ।

स्वप्न का दृश्य तभी तक दिखता है, जब तक कि आँखें बन्द हैं, आँखें खुलते ही वह दृश्य तिरोहित हो जाता है और स्वप्नद्रष्टा समझ जाता है कि वह दृश्य जंजाल था, धोखा था, अवास्तविक था, किन्तु जागृत अवस्था में दिखने वाला यह संसार का दृश्य तो स्वप्न के दृश्य से भी बहुत बड़ा धोखा है । यह दृश्य जंजाल होते हुए भी जब तक आँखें खुली रहती हैं, तब तक प्राणी को सच्चा प्रतीत होता है और आँखें बन्द हो जाने पर झूठा जंजाल, अवास्तविक, अस्तित्वविहीन अथवा असत् । जीवन भर प्राणी असत् को सत् समझता हुआ भ्रम में रहे, भुलावे में रहे और सब कुछ समाप्त होने पर मानव जन्म रूपी चिन्तामणि रत्न लुट जाने के पश्चात् मरणोपरान्त वास्तविकता का उसे बोध हो, ऐसा भ्रामक व धोखाधड़ी से ओतप्रोत है यह सांसारिक दृश्य । सन्त-कबीर ने ठीक ही कहा है—'माया महा ठगिनी मैं जानी ।' इससे बढ़कर धोखा और क्या हो सकता है ? कितने भुलावे में रहा हूँ मैं ? कितना बड़ा धोखा खाया है मैंने कि जो भवसागर में पार उतारने वाले महापोत तुल्य महत्त्वपूर्ण महान् निर्णायक मनुष्य जीवन को विषय-वासनाओं के एकान्ततः असत् इन्द्रजाल में व्यर्थ ही व्यतीत कर दिया । अब उन बीती अमूल्य घड़ियों का एक भी बहुमूल्य क्षण लौट कर नहीं आ सकता । अनादि काल से अनन्तानन्त तीर्थेश्वर विश्व को शाश्वत सनातन सत्पथ बताते हुए कहते आ रहे हैं :—

जा जा वच्चई रयणी, न सा परिणियट्टई ।  
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइयो ॥  
जा जा वच्चई रयणी, न सा परिणियट्टई ।  
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइयो ॥

जो अनन्त मूल्यवान् समय हाथ से निकल गया, उसके लिये हाथ मल-मल कर पछताने पर भी कुछ हाथ आने वाला नहीं है । जो बीता सो तो बीत गया, अब आगे की सुध लेना ही बुद्धिमत्ता है । अब जो जीवन शेष रहा है,

उससे अधिकाधिक आध्यात्मिक लाभ उठाना ही मेरे लिये परम हितकर होगा। महापुरुषों का कथन है कि अध्यात्म मार्ग पर प्रवृत्त अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाला प्रबुद्ध आत्मदर्शी आत्मा उत्कट भाव द्वारा एक क्षण में भी जो अक्षय आत्मनिधि अर्जित करता है, उस एक क्षण में उपाजित आत्मनिधि के समक्ष संसार की समस्त सम्पदाएं, समग्र निधियां तूण तुल्य तुच्छ हैं। अतः अब मुझे इन सब निस्सार ऐहिक भोगोपभोग, ऐश्वर्य और वैभवादि को विषवत् त्याग कर स्व-पर कल्याणकारी साधना-पथ पर इसी क्षण अग्रसर हो जाना चाहिये।

इस प्रकार संसार से विरक्त हो सुसीमाधिपति महाराज विमलवाहन ने आत्महित साधना का सुदृढ़ संकल्प किया ही था कि उद्यानपाल ने उनके सम्मुख उपस्थित हो प्रणाम कर निवेदन किया - "प्रजावत्सल पृथ्वीपाल! सुसीमावासियों के महान् पुण्योदय से स्वर्गोपमा सुसीमा नगरी के बहिस्थ उद्यान में महान् तपस्वी आचार्य अरिदमन का शुभागमन हुआ है।

इस समयोचित सुखद संवाद को सुनकर महाराज विमलवाहन ने ऐसा अनिर्वचनीय आनन्दानुभव किया - मानो जन्म-जन्मान्तरों के प्यासे को क्षीर सागर का शीतल जल मिल गया हो। उन्होंने उद्यानपाल को उसकी सात पीढ़ी तक के लिये पर्याप्त प्रीतिदान दिया। राजा विमलवाहन ने सोचा - "कैसा अचिन्त्य अद्भुत चमत्कार है शुभ भावनाओं का? अन्तर्मानस में शुभ भावना की तरंग के उद्भूत होते ही तत्काल सन्तसमागम का अमर अमृतफल स्वतः हस्तगत हो गया।

महाराज विमलवाहन परिजनों एवं पुरजनों के साथ उद्यान में पहुँचे। प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति से आचार्य अरिदमन को वन्दन-नमन करने के पश्चात् आचार्य श्री के सम्मुख अवग्रहभूमि छोड़कर राजा विमलवाहन अपने परिजनों एवं पौरजनों के साथ देशना श्रवणार्थ विनयपूर्वक भूमि पर बैठ गया। आचार्य अरिदमन का अमरता प्रदान करने वाला उपदेश सुनकर राजा विमलवाहन का प्रबल वैराग्य अत्युत्कट हो गया। उसने आचार्यदेव से विनयपूर्वक प्रश्न किया - "भगवन्! अनन्त दारुण दुःखों से ओतप्रोत इस संसार में धीरातिधोर दुःखों को निरवच्छिन्न परम्परा से निरन्तर निष्पीडित और प्रताड़ित होते रहने पर भी साधारणतः प्राणियों को संसार से विरक्ति नहीं होती। यह एक प्राश्चर्यजनक तथ्य है। ऐसी स्थिति में आपको संसार से विरक्ति किस कारण एवं किस निमित्त से हुई?"

आचार्यश्री ने कहा - "राजन्! विश्व विचारक के लिये संसार का प्रत्येक कार्यकलाप वैराग्योत्पादक है। विचारपूर्वक देखा जाय तो सम्पूर्ण संसार वैराग्य के कारणों और निमित्तों से भरा पड़ा है। प्रत्येक प्राणी के समक्ष,



उमके प्रत्येक दिन की दिनचर्या में पग-पग पर, प्रतिपल-प्रतिक्षण वैराग्योत्पादक प्रबल से प्रबलतर निमित्त प्रस्तुत होते रहते हैं। परन्तु मोह-ममत्व के मद से मदान्ध बना संसारी प्राणी उन निमित्तों को बाह्य दृष्टि से देखकर भी अन्तर्दृष्टि से न देखने के कारण देखी को अनदेखी कर देता है। सुलभबोधि प्राणी तो संसार की स्वानुभूत अथवा परानुभूत प्रत्येक घटना को वैराग्य का निमित्त समझकर साधारण से साधारण और छोटी से छोटी नगण्य घटना के निमित्त से भी प्रबुद्ध हो संसार से तत्क्षण विरक्त हो जाता है। जहां तक मेरी विरक्ति का प्रश्न है, मैं अपनी विरक्ति का कारण तुम्हें बताता हूं।

राज्य-सिंहासन पर आरोढ़ होने के कुछ समय पश्चात् मैंने दिग्विजय करने का निश्चय किया और अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर मैं विजय यात्रार्थ प्रस्थित हुआ। विजय यात्रा में जाते समय मार्ग में मैंने एक स्थान पर नन्दन वनोपम एक अतीव सुरम्य उद्यान देखा। उस उद्यान में सहस्रों वृक्ष फलों और फूलों से लदे हुए थे। बगीचे के चारों ओर चार-चार कोस का वातावरण भांति-भांति के सुगन्धित पुष्पों की सुखद सुगन्ध से सुरभित हो गमगमा रहा था। देश-विदेशों से आये हुए विभिन्न जातियों, वर्णों, स्वरूपों और आकार से अतीव मनोहर पक्षिसमूह उस बगीचे के सुमधुर-सुस्वादु फलों के रसास्वादन से आकण्ठ तृप्त हो कर्णप्रिय कलरव कर रहे थे। बापी, कूप, तड़ाग एवं लतामण्डपों से आकीर्ण वह उद्यान देव-वन से स्पर्धा कर रहा था। उस उद्यान की मनोहर छटा पर मैं मुग्ध हो गया। मैंने अपने सामन्तों एवं सेनापतियों के साथ उस उद्यान में कुछ समय तक विश्राम किया और पुनः दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया। दिग्विजय काल में मैंने अनेक देशों पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराई, किन्तु उम प्रकार का नयनाभिराम मनोहर उद्यान मुझे कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

दिग्विजय के पश्चात् जब मैं पुनः अपनी राजधानी की ओर लौटा तो मैंने उस उद्यान को पूर्णतः विनष्ट और उजड़ा हुआ देखा। फलों और फूलों से लदे उन विशाल वृक्षों के स्थान पर खड़े सूखे-काले ठूठ ऐसे भयावह प्रतीत हो रहे थे मानो प्रेतों की सेना खड़ी हो। पेड़-पौधे, लता-वल्गरी अथवा किसी प्रकार की हरियाली का वहां कोई नाम-निशान तक नहीं था। जो उपवन कुछ ही समय पहले नन्दनवन सा सुरम्य प्रतीत हो रहा था वही मृत पशु-पक्षियों के ढेर से श्मशान तुल्य वीभत्स, दुर्गन्धपूर्ण और चक्षु-पीड़ाकारक बन गया था। यह देखकर मेरे मन और मस्तिष्क को बड़ा गहरा आघात पहुंचा। अन्तस्तल में एक चिन्तन की धारा प्रबल वेग से उद्भूत हो तरंगित हो उठी। मुझे यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् क्षणभंगुर प्रतीत होने लगा और मेरे मन में विश्राम जम गया कि संसार के सभी प्राणियों की देर अथवा सबेर से एक न

एक दिन यही दशा होनी सुनिश्चित है, अवश्यम्भावी है। जो बच्चा आज जन्मा है, वह अनुक्रमशः कालान्तर में किशोर, युवा एवं जराजर्जरित वृद्ध होगा और एक दिन कराल काल का कवल बन जायगा। आज जो स्वस्थ, सुडील व सुन्दर प्रतीत होते हैं, उनमें से कतिपय गर्हास्पन्द, गलित कुष्ठरोगी, कतिपय काणो, कतिपय नितान्त अन्धे, लूले, लंगड़े बन अथवा राजयक्ष्मा आदि भयंकर रोगों से ग्रस्त हो नरकोपम दारुण दुःखों को भोगते हुए, सिसकते, कराहते, करुण क्रन्दन करते-करते एक दिन कालकवलित हो जाते हैं। जो आज राजा है, वही कल रंक बनकर घर-घर भीख मांगता हुआ भटकता है। जिसके जयघोषों से एक दिन गगन गूँजता था वही दूसरे दिन जन-जन द्वारा दुत्कारा जाता है। जो आज बृहस्पति तुल्य वाग्मी है, वही पक्षाघात, विक्षिप्तता आदि रोगों से ग्रस्त हो महामूढ़ बन जाता है। किस क्षण, किसकी, कौंसी दुर्गति होने वाली है, यह किसी को विदित नहीं। संसार के सभी जीव स्वयं द्वारा विनिर्मित कर्म-रज्जुओं से आवद्ध हो असह्य दारुण दुःखों से ओतप्रोत चौरासी लाख जीव-योनियों में पुनः पुनः जन्म-जरा-मृत्यु की अति विकराल चक्की में निरन्तर पिसते हुए चौदह रज्जु प्रमाण लोक में भटक रहे हैं। किसी बाजीगर की डोर से बँधे मर्कट की तरह परवश हो अनन्त काल से नटवत् विविध देश धारण कर नाट्यरत हैं। भवाग्नि की भीषण ज्वालाओं से धुकधुकाती हुई इस संसार रूपी भट्टी में झुलस रहे हैं, भुन रहे हैं, जल रहे हैं, भस्मीभूत हो रहे हैं। इन घोर दुःखों का कोई अन्त नहीं, एक क्षण भर के लिये भी कोई विश्राम नहीं, सुख नहीं, शान्ति की श्वास-उच्छ्वास लेने का भी अवकाश नहीं।

यही चिन्तन का प्रवाह आत्मनिरीक्षण की ओर मुड़ा तो मैं कांप उठा, सिहर उठा। अनन्त काल से जन्म-मरण की चक्की में पिसते चले आ रहे, दुःख-दावाग्नि में दग्ध होते आ रहे अनन्त अनन्त संसारी प्राणियों में मैं भी एक संसारी प्राणी हूँ। हाय ! मैं भी अनन्त काल से इन अनन्त दुःखों को भोगता आ रहा हूँ। यदि इस समय मैंने सम्हल कर, साधनापथ पर अग्रसर हो इन दुःखों के मूल का अन्त नहीं किया तो मैं फिर अनन्त-अनन्त काल तक इन असह्य, अनन्त दुःखों से त्रस्त होता रहूँगा, भीषण भवाटवी में भटकता रहूँगा।

मुझे उसी क्षण संसार से विरक्ति हो गई। मुझे यह सम्पूर्ण संसार एक अति विशाल अग्निकुण्ड के समान दाहक प्रतीत होने लगा। विषय भोगों को विषवत् ठुकरा कर मैंने श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। तभी से मैं शाश्वत सुखप्रदायी पंच महाव्रतों का पालन कर रहा हूँ।”

आचार्य श्री अरिदमन के प्रवचनों को सुन कर राजा विमलवाहन ने भी अपने पुत्र को राज्यभार सम्हला कर श्रमणधर्म स्वीकार किया।

### तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का उपाजन

मुनि बनने के पश्चात् विमलवाहन ने गुरु की सेवा में रह कर तपश्चरणा के साथ-साथ आगमों का अध्ययन किया। सुदीर्घ काल तक पाँच समिति, तीन गुप्ति की विशुद्ध पालना करते हुए उन्होंने अनन्त काल से संचित कर्मों को निर्जरा की। अरिहन्त-भक्ति आदि बीस बोलों में से कतिपय बोलों की उत्कट आराधना कर मुनि विमलवाहन ने तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म का उपाजन किया। अन्त में अनशनपूर्वक आयु पूर्ण कर मुनि विमलवाहन विजय नामक अनुत्तर विमान में तेतीस सागर की आयु वाले देव रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ उनकी देह एक हाथ की ऊंची और अति विशुद्ध दिव्य पुद्गलों से प्रकाशमान थी।

### माता-पिता

जम्बूद्वीपस्थ भारतवर्ष के दक्षिणी मध्य खण्ड में विनीता नाम की नगरी थी। वहाँ भगवान् ऋषभदेव की इक्ष्वाकु-वंश-परम्परा के असंख्य राजाओं के राज्यकाल के अनन्तर उसी महान् इक्ष्वाकु वंश में जितशत्रु नामक एक महान् प्रतापी और धर्मनिष्ठ राजा हुए। उनकी सहधर्मिणी महारानी का नाम विजया था। महारानी विजया सर्वगुण सम्पन्ना, सर्वांग सुन्दरी, अनुपम रूप-लावण्य सम्पन्ना, विदुषी धर्मनिष्ठा और आदर्श पतिव्रता महिला थी। राजदम्पति न्याय-पूर्वक प्रजा का पालन करते हुए उत्तमोत्तम ऐहिक सुखोपभोगों के साथ-साथ श्रमणोपासक धर्म का सुचारुरूपेण पालन करते थे। उनके राज्य में प्रजा सर्वतः सुखी, सम्पन्न और धर्मपरायणा थी। महाराजा जितशत्रु के राज्य में अभाव-अभियोगों के लिये कहीं कोई अवकाश नहीं था।

### ज्यवन और गर्भ में आगमन

भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण से लगभग ७१ लाख पूर्व कम पचास लाख करोड़ सागर पश्चात् विमल वाहन का जीव, विजय नामक अनुत्तर विमान के देव की तेतीस सागरोपम आयु पूर्ण होने पर वैशाख शुक्ला त्रयोदशी (१३) की रात्रि में रोहिणी नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग होने पर विजय विमान से मति, श्रुति और अवधि इन तीन ज्ञान से युक्त ज्यवन कर चित्रा नक्षत्र में ही विनीता (अयोध्या) नगरी के महाराजा जितशत्रु की महारानी विजया देवी के गर्भ में उत्पन्न हुआ।

उसी रात्रि के अन्तिम प्रहर में महारानी विजया देवी ने अर्द्धसुप्त तथा अर्द्धजागृत अवस्था में चौदह महा स्वप्न देखे। शुभ स्वप्नों को देखते ही महारानी विजया जागृत हो हर्षातिरेक से परम प्रमूदित हुई। उसने तत्काल मन्थर गति से महाराज जितशत्रु के शयनकक्ष में पहुंच कर विनयपूर्वक उन्हें चौदह

स्वप्नों का विवरण सुनाया । स्वप्नों का विवरण सुन महाराज जितशत्रु ने हर्षित हो कहा—महादेवि ! स्वप्न महाकल्याणकारी है । हमें महान् प्रतापी, जगत्पूज्य पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी । हर्षोत्फुल्ला महारानी विजया ने शेष रात्रि जागृत रह कर धर्माराधन में व्यतीत की ।

### दूसरे चक्रवर्ती का गर्भ में आगमन

उसी रात्रि में महाराज जितशत्रु के छोटे भाई युवराज सुमित्र विजय की युवरानी वैजयन्ती ने भी चौदह महास्वप्न देखे, जिनकी प्रभा महारानी विजया के स्वप्नों से कुछ मन्द थी ।

प्रातःकाल महाराज जितशत्रु ने कुशल स्वप्न पाठकों को सम्मान्य आमन्त्रित कर उन्हें महारानी और युवराज्ञी द्वारा देखे गये चौदह महास्वप्नों का फल पूछा । स्वप्न-पाठकों ने समीचीनतया चिन्तन-मनन के पश्चात् कहा—“महारानी विजया देवी की कुक्षि से इस अवसरपिणी काल के द्वितीय तीर्थंकर महाप्रभु का पुत्र रूप में जन्म होगा और युवराज्ञी वैजयन्ती देवी द्वितीय चक्रवर्ती को जन्म देंगी ।”

स्वप्नों का फल सुन कर महाराज जितशत्रु सम्पूर्ण इक्ष्वाकुवंशी परिवार, अमात्यवृन्द और वहाँ उपस्थित परिजन आनन्द विभोर हो उठे । वन्दीजनों ने विरुदावली के रूप में कहा—“धन्य है महाप्रतापी इक्ष्वाकु वंश, जिसमें तिरैसठ शलाका पुरुषों में से दो शलाका पुरुष तो युगादि में ही हो चुके हैं और दो और शलाका पुरुष इस यशस्वी वंश की दो महामहिमामयी कुलवधुओं की रत्नकुक्षि में उत्पन्न हो चुके हैं ।

गर्भस्थ लोकपूज्य प्रभु के प्रभाव से माता महारानी विजया देवी के पूर्व ही से अनुपम प्रताप तेज और कान्ति में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होने लगी । प्रतिपरायणा महारानी धर्माराधन में निरत रहती हुई गर्भ का पालन करने लगी ।

### जन्म

गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ शुक्ला अष्टमी (८) की महा पुनीता रात्रि में चन्द्रमा का रोहिणी नक्षत्र के साथ योग होने पर माता विजया देवी ने सुखपूर्वक त्रिलोकपूज्य पुत्ररत्न को जन्म दिया । प्रभु का जन्म होते ही त्रैलोक्य दिव्य प्रकाश से जगमगा उठा । सम्पूर्ण लोक में हर्ष की लहर दौड़ गई । प्रतिपल, प्रति समय घोर दुःखों का अनुभव करने वाले नरक के जीवों ने भी उस समय कुछ क्षणों के लिये सुख का अनुभव किया । छप्पन दिवकुमारिका देवियों,

देवराज शक्र, चौसठ इन्द्राणियों, देवों तथा देवांगनाओं ने विनीता नगरी में आ कर हर्षोल्लास के साथ राजभवन में जन्म महोत्सव मनाने के अनन्तर प्रभु को मेरु शिखर पर ले जा कर वहाँ उपस्थित ६३ इन्द्रों के साथ बड़े ठाट-बाट से देव-देवेन्द्रों के परम्परागत विधि-विधानों के अनुसार उनका जन्माभिषेक किया ।

प्रभु के जन्म के कुछ समय पश्चात् उसी रात्रि में युवराज सुमित्र की युवरानी वैजयन्ती ने भी द्वितीय चक्रवर्ती पुत्र रत्न को जन्म दिया । प्रथम तो पुत्र जन्म की तदनन्तर थोड़ी ही देर पश्चात् भातृज के जन्म की सुखद बधाई पा कर महाराज जितशत्रु आनन्दविभोर हो गये । उन्होंने तत्काल दोनों बधाइयाँ देने वालों को उनकी अनेक पीढ़ियों के लिए पर्याप्त धन-सम्पत्ति प्रदान कर उन्हें बड़े-बड़े वैभवशालियों की श्रेणी में ला दासत्व से मुक्त कर दिया । अनेकों को प्रीतिदान और अनेकों को पारितोषिक दिये गये । विविध वाद्यों की एक तान पर उठी ध्वनियों एवं किन्नरकण्ठिनी सुहागिनों के कण्ठों से निसृत मंगल गीतों की अति मधुर कर्णप्रिय राग-रागिनियों से विनीता नगरी गन्धर्वराज की राजधानी सी प्रतीत हो रही थी । राजप्रासादों, सामन्तों, अमात्यों के भलीभाँति सजाये गये अति विशाल सुन्दर भवनों, नगरश्रेष्ठि, श्रेष्ठिवरों, श्रीमन्तों के स्फटिकाभ सुन्दर आवासों, राजपथों, वीथियों आदि में स्थान-स्थान पर आयोजित उत्सवों की धूम से राजपरिवार और समस्त प्रजाजन रागरंग और उत्सवों की धूम से भ्रूम उठे । रागरंग और उत्सवों की चहल-पहल के कारण दिन घड़ियों के समान और घड़ियाँ पलों के समान प्रतीत हो रही थीं ।

### नामकरण

जन्म-महोत्सव मनाने के पश्चात् महाराज जितशत्रु ने बन्धु-बान्धवों, अमात्यों, सामन्तों, श्रेष्ठियों एवं मित्रों को आमन्त्रित कर सरस, स्वादिष्ट उत्तमोत्तम भोज्य पक्वान्नों एवं पेष आदि से सब का सम्मान-सत्कार करते हुए कहा—जब से यह बत्स अपनी माता के गर्भ में आया, तब से मुझे कोई जीत न सका, मैं प्रत्येक क्षेत्र में अजित ही रहा, अतः इस बालक का नाम अजित रखा जाय ।' उपस्थित सभी महानुभावों ने हर्षोल्लास पूर्वक अपनी सहमति प्रकट की और प्रभु का नाम अजित रखा गया ।

आवश्यक चूर्ण में उल्लेख है कि गर्भाधान से पूर्व पासों की क्रीड़ा में राजा जितशत्रु ही रानी से जीतते थे पर गर्भाधान के पश्चात् जब प्रभु महारानी विजया के गर्भ में आये तभी से महाराज जितशत्रु हारते रहे और महारानी

१ भगवन्मि समुपपण्णे ण केराई जिअो जएउ सि कलिऊए अम्मापितीहि अजिअोसि एगमं कयं ।  
—चउवन्न महापुरिस बरियं, पृ० ११

विजया जीतती रही। गर्भस्थ प्रभु के प्रताप से गर्भकाल में महारानी-महाराजा से सदा अजित रही। इस चमत्कार को ध्यान में रखते हुए प्रभु का नाम अजित रखा गया।<sup>१</sup> युवराज सुमित्र के पुत्र का नाम सगर रखा गया।

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल का यह एक कैसा अति सुन्दर सुयोग था कि एक ही साथ, एक ही वंश, एक ही परिवार में एवं एक ही घर में दो सहोदरों की धर्मपत्नियों की कुक्षियों में इस अवसर्पिणी के जीवन महापुरुषों में से दो महापुरुषों का—एक त्रिलोक पूज्य धर्म तीर्थंकर का और दूसरे भावी राजराजेश्वर चक्रवर्ती सम्राट् का, केवल कुछ ही क्षणों के अन्तर से एक साथ गर्भ रूप में आगमन हुआ एवं कतिपय क्षणों के अन्तर से एक साथ जन्म और साथ-साथ लालन-पालन एवं संवर्द्धन आदि हुए। उन असाधारण महान् शिशुओं की बाल-लीलाएं भी कितनी ललित, कितनी सम्मोहक, चमत्कारपूर्ण, अद्भुत और दर्शकों को आश्चर्य चकित कर देने वाली होंगी, इसकी कल्पना मात्र से ही प्रत्येक विज्ञ भावुक भक्त का हृदय-सागर आनन्द की तरंगों से तरंगित और हर्ष की हिलोरों से कल्लोलित हो भूम उठता है, गद्गद् हो उठता है। उन महापुरुषों की माताओं ने कितनी बलियां ली होंगी, आवाल वृद्ध पारिवारिक और परिजनों ने कितना अतिशय आनन्दानुभव किया होगा, कितनी महिलाओं के मानस में मधुर मंजुल गुद्गुदी उठी होगी, इसका वर्णन करना सहस्रों जिह्वाओं और लेखनियों के सामर्थ्य के बाहर है, केवल श्रद्धासिक्त अन्तर्मन से अनुभूतियों द्वारा ही इस के अनिर्वचनीय आनन्द का रसास्वादन किया जा सकता है। अस्तु।

दोनों होनहार शिशुओं ने अनेक वर्षों तक अपनी बाल-लीलाओं से माता-पिता, परिचारकों, परिजनों और पौरजनों को आनन्द के विविध रसों का अद्भुत आस्वादन कराते हुए किशोर वय में पदार्पण किया।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, विमल वाहन के जीव ने विजय विमान से तीन ज्ञान के साथ च्यवन किया था। यह सनातन नियम है कि तीर्थंकर पद की पुण्य प्रकृति का बन्ध की हुई सभी महान् आत्माएं अपने पूर्व भव से ही विशिष्ट तीन ज्ञान साथ ले कर माता की कुक्षि में आती है, अतः विशिष्ट तीन ज्ञान युक्त कुमार श्री अजित को तो किसी शिक्षक अथवा कला-चार्य से शिक्षा दिलाने अथवा कलाएं सिखाने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। परन्तु सगर कुमार को विद्याओं एवं कलाओं में निपुण बनाने हेतु सुयोग्य शिक्षाविद् कलाचार्य की नियुक्ति की गई। कुशाग्र बुद्धि के धनी मेधावी सगर कुमार ने बड़ी निष्ठा और विनयपूर्वक अध्ययन प्रारम्भ किया और अनुमानित

१ क्रिसेसो दूतं रमति पुञ्च राया जिगिगड्यो, गम्भ आभूते माता जिगति मदतिविति तेग  
अम्भेसु अजितति अजितो जातो। —आवश्यक चरित्ति पूर्व भाग, पृ० १०

समय से पूर्व ही वे शब्दशास्त्र, साहित्य, छन्दशास्त्र, न्याय आदि विद्याओं एवं बहूतर कलाओं में पारंगत हो गये। सगर कुमार इस अर्थ में महान् भाग्यशाली थे कि उन्हें विशिष्ट तीन ज्ञान के धारक अपने ज्येष्ठ भ्राता अजित कुमार का साहचर्य प्राप्त हुआ था। वस्तुतः यह उनके लिये परम लाभप्रद सुयोग था। सगर कुमार इस अद्भुत सुयोग से अत्यधिक लाभान्वित हुए। अध्ययन काल में मेधावी छात्र सगर कुमार के मन में समय-समय पर अनेक ऐसी जिज्ञासाएं उत्पन्न होतीं, जिनका समुचित समाधान करने में उनके शिक्षक असफल रहते। ज्यों ही सगर कुमार अपनी जिज्ञासाएं जगद्गुरु अजित कुमार के सम्मुख रखते त्यों ही अजित कुमार उन जटिल से जटिलतर समस्याओं का ऐसे समीचीन रूप से समाधान करते कि सगर कुमार तत्काल उनका समुचित समाधान पाकर पूर्णतः सन्तुष्ट हो जाते। इस प्रकार सगरकुमार ने केवल अपने अध्ययन काल में ही नहीं अपितु लम्बे जीवनकाल में प्रभु अजितनाथ से वह तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया जो किसी अन्य शिक्षक एवं कलाचार्य से प्राप्त नहीं होता। सगर कुमार अपने ज्येष्ठ बन्धु अजितकुमार को पिता तुल्य और गुरु समझ कर उनके प्रति सदा अनन्य सम्मान, श्रद्धा और भक्ति प्रकट करते थे।

क्रमशः भ्रातृद्वय श्री अजितकुमार और सगरकुमार ने किशोर वय को पार कर युवावस्था में प्रवेश किया। तब दोनों कुमारों के पाणिग्रहण हेतु अनेक राजाओं के अपनी-अपनी राजकन्याओं के पाणिग्रहण के लिए प्रस्ताव आने लगे। वज्र ऋषभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान के धनी, तपाये हुए विशुद्ध स्वर्ण के समान मनोहारिणी कान्ति वाले उत्तमोत्तम लक्ष्मणों से युक्त, व्यूढोरस्क, वृषस्कन्ध कुमारयुगल को यौवन के तेज से प्रदीप्त देख कर महाराज जितशत्रु और महारानी विजया ने दोनों राजकुमारों का उनके योग्य राजकुमारियों से विवाह करने का प्रस्ताव किया। भोगफल देने वाले भोगावली कर्मों को उदित हुए जान कर अजितकुमार को विवाह के लिये अपनी स्वीकृति येन-केन-प्रकारेण देनी पड़ी। दोनों कुमारों के लिये सभी दृष्टियों से सुयोग्य कन्याओं का बड़ी सावधानी से चयन करने के पश्चात् क्रमशः अजित-कुमार और सगर कुमार का कुल, रूप, लावण्य एवं सर्वगुण सम्पन्ना अनेक राजकुमारियों के साथ विवाह किया गया। रोग से निवृत्त होने के लिये औषधि लेना आवश्यक है, उसी प्रकार उदय में आये हुए भोगावली कर्मों से निवृत्ति पाने के लिये भोगों का उपभोग भी करना है, यह समझ कर श्री अजित-कुमार भोगमार्ग में प्रवृत्त हुए।

जिस समय अजित कुमार की वय १८ लाख पूर्व की हुई, उस समय महाराज जितशत्रु ने संसार से विरक्त हो श्रमण धर्म ग्रहण करने का निश्चय किया। उन्होंने अजित कुमार को अपने संकल्प से अवगत कराते हुए राज्यभार सम्भालने का आग्रह किया। राजकुमार श्री अजित ने प्रव्रज्या ग्रहण के पिता-

श्री के संकल्प की सराहना करते हुए कहा—“मोक्ष की साधना करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये परमावश्यक है। ऐसे पुनीत कार्य में किसी भी विज्ञ को बाधक न बन कर साधक ही बनना चाहिये। राज्यभार आप पितृव्यश्री को ही दीजिये। वे युवराज हैं और राज्यभार ग्रहण करने में समर्थ एवं सुयोग्य भी।” राजकुमार अजित अपनी बात पूरी कह ही नहीं पाये थे कि युवराज सुमित्र ने कहा—“मैं किसी भी दशा में इस सांसारिक राज्य के भंगभट में नहीं फँसूँगा। मैं तो महाराज के साथ ही मोक्ष का शाश्वत साम्राज्य प्राप्त करने के लिये प्रव्रज्या ग्रहण कर साधना करूँगा।”

राजकुमार श्री अजित ने अपने ज्ञानोपयोग से सुमित्र विजय के प्रव्रजित होने में अभी पर्याप्त विलम्ब जान कर अनुरोध किया कि यदि आप किसी भी दशा में राज्यभार ग्रहण करना नहीं चाहते तो आपको कुछ समय तक गृहवास में ही भावयति के रूप में रहना चाहिये।

महाराज जितशत्रु ने भी कहा—“कुमार ठीक कहते हैं। ये स्वयं तीर्थंकर हैं। तुम इनके तीर्थ में सिद्ध होवोगे। अतः अभी भावयति बनकर घर में ही रहो। सुमित्र विजय उन दोनों के अनुरोध को नहीं टाल सके।

### प्रभु अजित का राज्याभिषेक

बड़ी ही साज-सज्जा के साथ भ० अजितनाथ के राज्याभिषेक महोत्सव का आयोजन किया गया। महाराज जितशत्रु ने हर्षोल्लास के वातावरण में दिव्य समारोह के साथ राजकुमार श्री अजित का राज्याभिषेक किया। राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होते ही महाराज श्री अजित ने सगर कुमार को युवराज पद पर अधिष्ठित किया।

### पिता की प्रव्रज्या, केवलज्ञान और मोक्ष

प्रभु के राज्याभिषेक महोत्सव के सम्पन्न हो जाने पर महाराज जितशत्रु का अभिनिष्क्रमण बड़े उत्सव के साथ हुआ। उन्होंने प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ द्वारा स्थापित धर्म तीर्थ की परम्परा के एक स्थविर मुनिराज के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

श्रमणधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् मुनि जितशत्रु ने दीर्घ काल तक कठोर तपश्चरणा के साथ-साथ विशुद्ध संयम की पालना द्वारा चार घाति-कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया और अन्त में शेष ४ अघाति कर्मों को विनष्ट कर अनन्त शाश्वत सुखधाम-मोक्ष प्राप्त किया।

### महाराजा अजित का आदर्श शासन

राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात् महाराज अजित ने तिरेपन लाख पूर्व तक न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन किया। संसार के सर्वोत्कृष्ट पद—



तीर्थकर पद की पुण्य प्रकृतियों के बन्ध वाले विशिष्ट कोटि के मति, श्रुत और अविज्ञान—इन तीन ज्ञान के धारक, अमित शक्ति सम्पन्न महाराज श्री अजित के पुण्य—प्रताप से अन्य राजागण स्वतः श्रद्धा-भक्ति से नतमस्तक हो उनके अधीन हो गये। परचक्र के भय की तो महाराज अजित के राज्य में कभी किसी प्रकार की आशंका ही नहीं रही। महाराज अजित के शासनकाल में समस्त प्रजा सर्वतः सम्पन्न, समृद्ध, सुखी और न्याय-नीति-धर्मपरायण रही।

### धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन के लिये लोकान्तिक देवों द्वारा प्रार्थना

भोगावली कमों के पर्याप्त मात्रा में क्षीण हो चुकने के अनन्तर जब अभिनिष्क्रमण का समय निकट आ रहा था, उस समय एक दिन महाराज अजित ने एकान्त में चिन्तन करते हुए सोचा—“अब मुझे संसार के इन राज्य प्रपंचों, भोगोपभोगादि कार्यकलापों का पूर्णतः परित्याग कर अपने मूल लक्ष्य की सिद्धि के लिए सर्वतः समुद्यत और तत्पर हो जाना चाहिये। निर्वन्ध, निर्विकार, निष्कलंक होने के लिए साधना करने में अब मुझे विलम्ब नहीं करना चाहिये।

जिस समय महाराज अजित के मन में इस प्रकार का चिन्तन चल रहा था, उसी समय लोकान्तिक देव अपने जीताचार का निर्वहन करने हेतु स्वयंबुद्ध प्रभु के समक्ष उपस्थित हो सविनय सांजलि शीश भुका प्रार्थना करने लगे :—

“हे निखिल चराचर जगज्जीवों के शरण्य प्रभो ! आप तो स्वयं सम्बुद्ध हैं। आप जैसे जगद्गुरु से हम क्या निवेदन करें ? तथापि हम अपने परम्परागत कर्तव्य का पालन करने हेतु आपसे प्रार्थना करते हैं—भगवन् ! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कर भव्य प्राणियों का उद्धार कीजिये।” लोकान्तिक देवों ने तीन बार इस प्रकार की प्रार्थना प्रभु से की और प्रभु को वन्दन-नमन कर वे निज देव-धाम की ओर लौट गये।

लोकान्तिक देवों के लौट जाने के पश्चात् अजित प्रभु ने युवराज सगर को बुला कर कहा—“बन्धो ! मैं अब सभी प्रकार के प्रपंचों का परित्याग कर साधनापथ पर अग्रसर होना चाहता हूँ। अतः अब तुम इस राज्यभार को सम्भालो।”

प्रभु के वचन सुन कर युवराज सगर वज्राहत से स्तब्ध-अवाक् रह गये। उनके फुल्लारविन्द तुल्य सुन्दर एवं आयत दृगों से अश्रुधाराएं प्रवाहित हो चली। विषादातिरेक से अबरुद्ध-अति विनम्र स्वर में उन्होंने प्रभु से निवेदन किया—“देव ! मैं तो शैशवकाल से ही छायावत् सदा आपका अनन्य अनुगामी रहा हूँ। मैंने तो सदा आपको ही अपना मात-तात-गुरु और सर्वस्व समझा है।

आपका भी मुझ पर सदा निस्सीम स्नेह और वरद हस्त रहा है। मुझे से ऐसा क्या अपराध हो गया है, जो आप मुझे अनायास ही छोड़-छिटका कर प्रव्रजित होना चाहते हैं? मैं क्षण भर के लिए भी आपकी छत्रछाया से पृथक् नहीं रह सकता। आपके विछोह में मुझे यह राज्य तो क्या समग्र विश्व का एकच्छत्र राज्य भी और मेरा अपना जीवन भी भयंकर विषधर काले नाग के समान भयानक लगेगा। आपके विधोग की कल्पनामात्र से ही मेरा अन्तर्मन उद्विग्न और गात्र के सभी अंगोपांग शिथिल हो गये हैं, मेरे तन की त्वचा जल रही है। प्रभो! मैं तो आपके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। यदि आपने प्रव्रजित होने का ही दृढ़ निश्चय कर लिया है तो मुझे भी आपकी सेवा में रहने की आज्ञा दीजिये। मेरे लिये आपका अर्हनिश सांनिध्य त्रैलोक्य के राज्य से भी बड़ा राज्य होगा। अतः हे देव! मैं आपसे पुनः करबद्ध हो, अन्तःकरण से प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने इस अनन्य अनुगामी को अपने से पृथक् मत कीजिये।” यह कह कर सगर ने अपना मस्तक प्रभु के चरणों पर रख दिया।

तीन ज्ञान के धनी प्रभु अजित को यह विदित ही था कि कुमार सगर इस अवसर्पिणी काल का द्वितीय चक्रवर्ती होगा। अतः उन्होंने आत्मीयता से श्रोतप्रोत आज्ञापूर्ण स्वर में कहा—“कुमार! अभी तुम्हारे विपुल भोगवली कर्म अवशिष्ट हैं, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि अब तुम मेरी आज्ञा का पालन करने के लिये भी इस राज्यभार को सम्भालो और अपने कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होओ।”

सदा पितृवत् पूजित और गुरु तुल्य आदृत अपने अनन्य श्रद्धाविन्दु-भक्तिकेन्द्र ज्येष्ठ बन्धु के आदेश को शिरोधार्य करने के अतिरिक्त अब कुमार सगर के समक्ष और कोई मार्ग ही अवशिष्ट नहीं रह गया था।

प्रभु अजित ने भव्य महोत्सव के साथ सगर कुमार का राज्याभिषेक किया।

### वर्षोदान

सगर का राज्याभिषेक करने के पश्चात् प्रभु अजित ने वर्षोदान दिया। वे प्रतिदिन प्रातःकाल एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान देते थे। इस प्रकार प्रभु ने एक वर्ष में ३ अरब, अठ्यासी करोड़ और अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान दिया।

वर्षोदान के सम्पन्न होते ही सौधर्म कल्प के शक्र आदि चौसठ इन्द्रों के आसन चलायमान हुए। वे सब तत्काल प्रभु की सेवा में उपस्थित हुए। तदनन्तर शक्र आदि देवेंद्रों और महाराजा सगर ने प्रभु के अभिनिष्क्रमण महो-

त्सव का आयोजन किया। सभी इन्द्रों और सगर ने प्रभु का अभिषेक किया। अभिषेकानन्तर दिव्य गन्धादि के विलेपन एवं वस्त्राभूषणों से प्रभु को अलंकृत कर सुप्रभा नाम की शिविका में विराजमान किया गया। देव-देवियों एवं नर-नारियों के समूह प्रभु का अभिनिष्क्रमण महोत्सव देखने के लिए उद्वेलित अथाह उदधि की तरह उमड़ पड़े। नर-नरेन्द्रों एवं देवेन्द्रों ने प्रभु की पालकी को उठाया। देव-देवेन्द्रों तथा नर-नरेन्द्रों के विशाल समूह के कण्ठों से उद्धोषित जयघोषों के बीच, पग-पग पर अभिनन्दित-अभिविद्धित होती हुई प्रभु की सुप्रभा शिविका राजधानी के राजपथ से होती हुई विनीता नगरी के बहिर्भागस्थ सहस्रात्र वन में पहुँची। गगनमण्डल को गुंजरित कर देने वाले जयघोषों के साथ प्रभु सुप्रभा शिविका से उतरे।

### दीक्षा

माघ शुक्ला नवमी के दिन चन्द्र का रोहिणी नक्षत्र के साथ योग होने पर प्रभु अजितनाथ ने स्वयं ही वस्त्रालंकारों को उतार कर इन्द्र द्वारा समर्पित देवदूष्य धारण किया। तदनन्तर प्रभु ने पंचमुष्टिक लुंचन कर 'नमो सिद्धाण' के उच्चारण के साथ सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार कर षष्ठभक्त की तपश्चर्या सहित एक हजार राजाओं के साथ यावज्जीवन सामायिक चारित्र्य स्वीकार किया।

दीक्षित होते ही तीर्थकरों को मनःपर्यवज्ञान हो जाता है, यह एक अपरिवर्तनीय सनातन नियम है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, प्रभु अजितनाथ विजयविमान से च्यवन के समय से ही मति, श्रुति और अवधि— इन तीन ज्ञान के साथ माता विजयादेवी के गर्भ में आये थे। इस प्रकार दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व वे इन तीन ज्ञान के धारक तो थे ही। सामायिक चरित्र स्वीकार करते समय भगवान् अजितनाथ प्रशस्त भावों के उत्तम रस युक्त अप्रमत्त गुणस्थान में स्थित थे। अतः दीक्षा ग्रहण करते ही उनके मन में उसी समय संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को ज्ञात कराने वाला चौथा ज्ञान-मनःपर्यव-ज्ञान भी प्रकट हो गया।

### छद्मस्थकाल

प्रभु द्वारा चारित्र्यधर्म स्वीकार कर लिए जाने पर सभी देवेन्द्र, देव, सगर आदि राजा-महाराजा और उपस्थित जन प्रभु को भक्तिपूर्वक वन्दन-नमन कर अपने-अपने स्थान की ओर प्रस्थित हुए।

दीक्षा ग्रहण करने के दूसरे दिन प्रभु को साकेत (अयोध्या-अपर नाम विनीता) में ही राजा ब्रह्मदत्त ने अपने यहाँ क्षीरान्न से बेले के तप का पारणा

करवाया। वहाँ पांच प्रकार की दिव्य वृष्टि हुई। इस प्रकार राजा ब्रह्मदत्त प्रभु अजितनाथ के प्रथम भिक्षादाता हुए।

भगवान् अजितनाथ दीक्षित होने के पश्चात् बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था में ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। बारह वर्ष तक बाह्य और आभ्यन्तर तपश्चरण द्वारा प्रभु कर्म समूह को ध्वस्त करते रहे। एक दिन प्रभु सहस्राश्रमन में बेले की तपस्या के साथ ध्यानमग्न थे। ध्यानावस्था में घाति कर्मों का समूलोच्छेद करने वाली क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ हुए और अप्रमत्त गुणस्थान से प्रभु ने आठवें अपूर्वकरण नामक गुणस्थान में प्रवेश किया। वे श्रुत के किसी शब्द पर चिन्तन में प्रवृत्त हुए। शब्द-चिन्तन, अर्थ-चिन्तन और अर्थ चिन्तन में शब्द पर ध्यान केन्द्रित करते हुए वे अनेक प्रकार के श्रुत विचार वाले पृथक्त्व वितर्क सविचार नामक शुक्लध्यान के प्रथम चरण में प्रविष्ट हुए। आठवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त रह कर ध्यान की प्रबल शक्ति से प्रभु ने मोहनीय कर्म की हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा इन छः प्रकृतियों को समूल नष्ट कर नवें अनिवृत्ति बादर नामक गुणस्थान में प्रवेश किया। इस नवें गुणस्थान में प्रभु की ध्यानशक्ति और अधिक प्रबल होनी गई। उस प्रबल होती हुई ध्यान शक्ति से आपने वेद मोहनीय की प्रकृतियों, कषाय मोहनीय के संज्वलन क्रोध, मान और माया को नष्ट करते हुए सूक्ष्मपराय नामक दशम गुणस्थान में प्रवेश किया। ध्यान-बल से ज्यों-ज्यों मोह का क्षय होता गया, त्यों-त्यों आत्मशक्ति भी बढ़ती गई और गुणस्थान भी बढ़ते गये। मोहनीय कर्म को पूर्णरूपेण मूलतः नष्ट कर प्रभु क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में आये। यहाँ तक शुक्ल-ध्यान का प्रथम चरण कार्यसाधक बना। शुक्लध्यान के प्रथम चरण के बल से मोहनीय कर्म को नष्ट कर भगवान् अजितनाथ परम वीतराग हो गये। बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में शुक्ल-ध्यान का एकत्व वितर्क सविचार नामक दूसरा चरण प्रारम्भ हुआ। शुक्ल-ध्यान के इस द्वितीय चरण में स्थिरता प्राप्त कर ध्यान एक ही वस्तु पर स्थिर होना है। शुक्लध्यान के इस द्वितीय चरण में इसके प्रथम चरण के समान शब्द से अर्थ और अर्थ से शब्द पर ध्यान के जाने की स्थिति न रह कर शब्द और अर्थ इन दोनों में केवल एक पर ही ध्यान स्थिर रहता है। शुक्लध्यान के इस द्वितीय चरण के प्राप्ति होते ही प्रभु ने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन शेष घाति कर्मों को एक साथ नष्ट कर युगपत् केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति के साथ तेरहवें सयोगि केवली नामक गुणस्थान में प्रवेश किया। इस प्रकार बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था में साधना के अनन्तर भगवान् अजितनाथ ने पौष शुक्ला एकादशी के दिन चन्द्रमा का रोहिणी नक्षत्र के साथ योग होने पर विनीता (अयोध्या) नगरी के सहस्राश्रमन में अनादि काल से चली आ रही छद्मस्थावस्था का अन्त कर युगपत् प्रकट हुए अनन्त ज्ञान और अनन्त-दर्शन से सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गये।

अब भगवान् अजितनाथ भाव अरिहन्त कहलाये वे सम्पूर्ण लोक के देव, मनुष्य, असुर, नारक, तिर्यंच और चराचर सहित समग्र द्रव्यों की त्रिकालवर्ती सभी पर्यायों को जानने तथा देखने वाले एवं सभी जीवों के गुप्त अथवा प्रकट सभी तरह के मनोगत भावों को जानने वाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये ।

देवों ने पंच दिव्यों की वृष्टि की और देवों तथा इन्द्रों ने केवलज्ञान की महिमा करते हुए सहस्राब्दवन उद्यान में समवसरण की रचना की । उद्यानपाल ने महाराज सगर को तत्काल बधाई दी कि भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है । इस हर्षप्रद शुभ संवाद को सुन कर महाराज सगर ने असीम आनन्द का अनुभव करते हुए उद्यानपाल को प्रीतिदान दे मालामाल कर दिया । वे तत्काल अपने अमात्यों, परिजनों और पौरजनों सहित समस्त राजसी ठाठ के साथ प्रभुदर्शन के लिये उद्यान की ओर प्रस्थित हुए । समवसरण में पहुंच कर उन्होंने प्रभु को अमित श्रद्धा-भक्ति एवं आह्लाद सहित वन्दन-नमन किया और वे सब यथास्थान बैठ गये । समवसरण में देवों द्वारा निर्मित उच्च सिंहासन पर आसीन हो प्रभु ने पीयूषवर्षिणी अमोघ देशना दी ।

प्रभु की देशना से प्रबुद्ध हो अनेक पुरुषों ने प्रभु के पास धर्म धर्म, अनेक महिलाओं ने श्रमणीधर्म और हजारों पुरुषों ने श्रावक धर्म तथा महिलाओं ने श्राविका धर्म स्वीकार किया । भगवान् अजितनाथ के ६८ गणधर हुए, जनमें प्रथम गणधर का नाम सिंहसेन था । प्रभु की प्रथम शिष्या का नाम फल्गु था जो प्रभु के साध्वीसंघ की प्रवर्तिनी हुई । इस प्रकार प्रभु अजितनाथ ने प्रथम देशना में भव्य प्राणियों को श्रुतधर्म और चारित्र्य धर्म की शिक्षा देकर माधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की । चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के पश्चात् प्रभु अपने शिष्य परिवार सहित विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए भव्य प्राणियों को धर्ममार्ग में स्थित एवं स्थिर करने लगे ।

### शालिग्राम निवासियों का उद्धार

इस प्रकार देवों, देवेन्द्रों, नरेन्द्रों और लोकसमूहों द्वारा बंधमान भगवान् अजितनाथ विभिन्न क्षेत्रों और प्रदेशों के भव्य जीवों को शाश्वत सत्यधर्म के उपदेश द्वारा मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ करते हुए विहारानुक्रम से कौशांबी नगरी के बाहर उत्तर दिशा में अवस्थित उद्यान में पधारे । देवों ने समवसरण की रचना की । समवसरण में अशोक वृक्ष के नीचे विशाल सिंहासन पर प्रभु विराजमान हुए । सौ धर्मन्द्र और ईशानेन्द्र प्रभु के दोनों पाश्र्व में खड़े हो कर चक्र वृत्ताने लगे । सुरों, असुरों और मनुष्यों आदि की धर्म-परिषद में प्रभु ने अमोघ देशना प्रारम्भ की । उसी समय एक ब्राह्मण सपत्नीक समवसरण में उपस्थित हुआ और प्रभु को आर्दक्षिणा प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन-नमन कर उनके चरण कमलों के पाम अवग्रह भूमि छोड़ बैठ गया ।

भगवान् की देशना के अनन्तर उस ब्राह्मण ने हाथ जोड़ कर पूछा—  
“प्रभो ! यह इस प्रकार क्यों है ?”

भगवान् अजितनाथ ने फुरमाया—“हे देवानुप्रिय ! यह सम्यक्त्व का प्रभाव है ।”

ब्राह्मण ने पूछा—“किस प्रकार प्रभो ?”

प्रभु ने ब्राह्मण के “किस प्रकार ?” इस प्रश्न का उत्तर देते हुए फुरमाया—“सौम्य ! सम्यक्त्व का प्रभाव बहुत बड़ा है । सम्यक्त्व के प्रभाव से वैर शान्त हो जाते हैं, व्याधियां नष्ट हो जाती हैं, अशुभ कर्म विलीन हो जाते हैं, अभीप्सित कार्य सिद्ध होते हैं, देवायु का बन्ध होता है, देव-देवीगण सहायतार्थ सदा समुद्यत रहते हैं । ये सब तो सम्यक्त्व के साधारण फल हैं । सम्यक्त्व की उत्कृष्ट उपासना से प्राणी समस्त कर्म-समूह को भस्म कर विश्ववन्द्य तीर्थंकर पद तक प्राप्त कर शुद्ध, बुद्ध हो शाश्वत शिवपद प्राप्त करते हैं ।

प्रभु के मुखारविन्द से यह सुन कर ब्राह्मण ने कहा—“भगवन् यह ऐसा ही है, यथातथ्य है, अविषय है । किञ्चिन्मात्र भी अन्यथा नहीं है ।” यह कहकर ब्राह्मण अस्यन्त सन्नुष्ट मुद्रा में अपने स्थान पर बैठ गया ।

शेष सब श्रोताओं को इस प्रश्नोत्तर के रहस्य से अवगत कराने हेतु परम उपकारी प्रभु के मुख्य गणधर ने पूछा—“प्रभो ! ब्राह्मण के प्रश्न और आपके द्वारा दिये गये उत्तर का रहस्य क्या है ?”

भगवान् अजितनाथ ने फुरमाया—“सौम्य ! सुनो, यहां से थोड़ी ही दूरी पर शालिग्राम नामक एक ग्राम है । उस ग्राम में दामोदर नामक एक ब्राह्मण रहता था । उसकी धर्मपत्नी का नाम सीमा था । उनके पुत्र का नाम शुद्धभट्ट था । सिद्धभट्ट नामक एक ब्राह्मण की सुलक्षणा नाम्नी कन्या के साथ शुद्धभट्ट का विवाह किया गया । नवदम्पति सांसारिक सुखों का उपभोग करने लगा । कालान्तर में उन दोनों के माता-पिता का देहावसान हो गया और उनका पूर्वसंचित धन-वैभव भी विनष्ट हो गया । स्थिति यहां तक बिगड़ी कि अति कष्टसाध्य घोर परिश्रम के उपरान्त भी उन्हें दोनों समय भोजन तक का मिलना भी दूभर हो गया । अपने घर की इस दारिद्र्यपूर्ण दयनीय दशा को देख कर शुद्धभट्ट बड़ा दुःखित हुआ । एक दिन वह अपनी पत्नी को बिना कहे ही चुपचाप घर से निकल कर परदेश चला गया । सुलक्षणा को अन्य लोगों से ही पति के परदेश गमन का वृत्तान्त ज्ञात हुआ ।

पति के इस प्रकार चुपचाप उसे छोड़ कर चले जाने से सुलक्षणा के हृदय को बड़ा भारी आघात पहुंचा । वह शोक सागर में डूबी हुई सब से दूर

एकाकिनी और वैरागिनी की तरह रहने लगी। उसे संसार के किसी कार्य में रस की कोई अनुभूति नहीं हो रही थी। उन्हीं दिनों उसके पूर्वकृत पुण्यों के उदय से विपुला नाम की एक प्रवर्तिनी दो अन्य साध्वियों के साथ उस ग्राम में वर्षावास हेतु आई और सुलक्षणा से वर्षाकाल में रहने के लिये उसके घर में एक स्थान मांग कर रहने लगी। सुलक्षणा प्रतिदिन बड़ी रुचि से प्रवर्तिनीजी के धर्मोपदेशों को सुनने लगी। प्रवर्तिनीजी के धर्मोपदेशों को सुनने से सुलक्षणा की धर्म के प्रति रुचि जागृत हुई। उसकी मिथ्यात्व की पतें दूर हुई तो उसके अन्त-स्तल में सम्यक्त्व प्रकट हुआ। सुलक्षणा ने जीव, अजीव आदि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया। उसने संसार सागर से पार उतारने वाले जिनोपदिष्ट शाश्वत धर्म जैन धर्म को अंगीकार किया। इससे उसके कषायों का उपशमन हुआ और विषयों के प्रति उसके मन में विरक्ति, अरुचि हुई। जन्म-मरण की परम्परा से उसे भय का अनुभव होने लगा। षड्जीवनिकाय के प्रति उसके अन्तर में अनु-कम्पा उत्पन्न हुई और परलोक के अस्तित्व के सम्बन्ध में उसे पूर्ण आस्था हो गई। सम्पूर्ण चातुर्मास काल उसने अनवरत निष्ठा के साथ साध्वियों की सेवा-सुश्रूषा करते हुए व्यतीत किया। वर्षावास की समाप्ति पर साध्वियों ने सुलक्षणा को बारह अणुव्रतों का नियम ग्रहण करवा कर श्राविका बनाया और वहाँ से अन्यत्र विहार किया।

साध्वियों के विहार करने के पश्चात् विदेश में उपाजित विपुल धनराशि के साथ शुद्धभट्ट भी शालिग्राम में लौट आया। पति के आगमन से सुलक्षणा परम प्रसन्न हुई। शुद्धभट्ट ने पूछा—“शुभे ! मेरे वियोग में तुम्हारा समय किस प्रकार बीता ?”

सुलक्षणा ने उत्तर दिया—“प्रियतम ! मैं आपके वियोग से पीड़ित थी उसी समय गरिणीजी यहां पधार गईं। उनके दर्शन से आपके विरह का दुःख शान्त हो गया। गरिणीजी ने चार मास तक यहां अपने घर में विराज कर इसे पवित्र किया। मैंने उनसे सम्यक्त्वरत्न प्राप्त कर अपना जन्म सफल किया।

शुद्धभट्ट ने जिज्ञासा व्यक्त की—“सम्यक्त्व किसे कहते हैं, कैसा होता है वह ?”

सुलक्षणा ने वीतराग जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित विश्वकल्याणकारी शाश्वत धर्म का स्वरूप अपने पति को समझाते हुए कहा—“राग-द्वेषादि समस्त दोषों को नष्ट कर वीतराग बने त्रिलोकपूज्य, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अरिहन्त प्रभु द्वारा प्ररूपित जैन धर्म को स्वीकार कर सुदेव में देवबुद्धि रखना, सद्गुरु में गुरु-बुद्धि रखना, विश्व-कल्याणकारी शुद्ध धर्म में धर्मबुद्धि रखना और इन तीनों-सुदेव, सद्गुरु और शुद्ध धर्म के प्रति अटल श्रद्धा रखना ही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व का

ही दूसरा नाम सम्यग्दर्शन है। इनमें आस्था न रख कर रागद्वेष वाले कुदेव, कुगुरु एवं अधर्म में श्रद्धा रखना, इनमें धर्म मानना मिथ्यात्व कहलाता है। मिथ्यात्व का पर्यायवाची अर्थात् दूसरा नाम मिथ्यादर्शन है।

जिस प्रकार वीतराग, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हितोपदेशी, शुद्ध धर्म का प्ररूपण करने वाले देव ही वास्तव में सुदेव हैं, उसी प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच महाव्रतों को जीवनपर्यन्त पालने वाले, निरन्तर सामायिक—चारित्र्य की आराधना करने वाले, समय पर प्राप्त सरस-नीरस अथवा शुष्क, निर्दोष भिक्षा से जीवन-निर्वाह करने वाले शान्त, दान्त, निर्लोभी, धैर्यशाली और विशुद्ध धर्म का उपदेश करने वाले गुरु ही सद्गुरु हैं।

उसी प्रकार शुद्ध धर्म भी वही है, जो दुर्गति में गिरते हुए जीवों को उस मार्ग से हटा कर सद्गति के पथ पर लगावे। राग-द्वेष से रहित वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, विश्वबन्धु, जगत्पूज्य अरिहंत भगवन्तों द्वारा बताया हुआ धर्म ही मोक्ष प्रदान करने वाला है।

सम्यक्त्व की पहचान—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था अर्थात् आस्तिक्य—इन पांच लक्षणों से होती है। सम्यक्त्व से विचलित होते हुए स्वधर्मी बन्धुओं को सम्यक्त्व में स्थिर करना, प्रभावना, भक्ति, जिनशासन में कुशलता और चतुर्विध तीर्थ की सेवा—ये पांच गुण सम्यक्त्व के भूषण हैं। इसके विपरीत शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्या दृष्टि की प्रशंसा और मिथ्या दृष्टि से परिचय-संसर्ग—ये पांच अवगुण सम्यक्त्व के दूषण हैं, सम्यग्दर्शन को दूषित करने वाले हैं।

सम्यग्दर्शन और जैनधर्म के स्वरूप को अपनी पत्नी से अच्छी तरह समझ कर शुद्धभट्ट बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने भी सम्यक्त्वरत्न प्राप्त किया। इस प्रकार शुद्धभट्ट और सुलक्षणा—दोनों ही पति-पत्नी सम्यक्त्वधारी बन कर जैनधर्म का पालन करने लगे। कालान्तर में सुलक्षणा ने एक पुत्र को जन्म दिया। पति-पत्नी दृढ़ आस्था के साथ श्रावकधर्म का पालन करते हुए सुखपूर्वक अपना जीवन-यापन करने लगे। उस गांव के ब्राह्मण उन दोनों पति-पत्नी को श्रावकधर्म का पालन करते हुए देख कर उनकी निन्दा करने लगे कि इन्होंने कुलक्रमागत धर्म को छोड़ दिया है और ये श्रावकधर्म का पालन कर रहे हैं।

सर्दी के दिनों में प्रातःकाल एक बार शुद्धभट्ट अपने पुत्र को लिये “धर्म अग्निष्टिका” के पास गया, जहां अनेक ब्राह्मण अग्नि के चारों ओर बैठे ताप रहे थे। शुद्धभट्ट को अपने पास आया हुआ देख कर वे लोग बोले—“तुम श्रावक हो, अतः तुम्हारे लिये हमारे यहाँ कोई स्थान नहीं है।” यह कह कर वे लोग उस “धर्म-अग्नीठी” को चारों ओर से इस प्रकार घेरते हुए बैठ गये कि शुद्धभट्ट



के लिये वहाँ बैठने को किञ्चिन्मात्र भी स्थान नहीं रहा । तदनन्तर अट्टहास कर उन लोगों ने शुद्धभट्ट का उपहास किया । उन लोगों के इस प्रकार के तिरस्कार-पूर्ण व्यवहार से प्रतिहत हो शुद्धभट्ट ने क्रोधावेश में उच्च स्वर से कहा—“यदि जिनधर्म संसार-सागर से पार उतारने वाला नहीं हो, यदि अर्हत्, तीर्थकर और सर्वज्ञ नहीं हों, यदि सम्यक् ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य मोक्ष का मार्ग नहीं हो और यदि सम्यक्त्व नाम की कोई वस्तु ही संसार में नहीं हो तो मेरा यह पुत्र इस अग्नि में जल जाय, और यदि ये सब हैं, तो इसके एक रोम को भी आँच न आये ।” यह कहते हुए शुद्धभट्ट ने अपने पुत्र को खैर के जाज्वल्यमान अंगारों से भरी उस विशाल वेदी में फेंक दिया ।

यह देख कर वहाँ बैठे हुए सभी लोग एक साथ हाहाकार और कोलाहल करते हुए उठे और आक्रोशपूर्ण उच्च स्वर में चिल्लाने लगे—“हाय, हाय ! इस अनार्य ने अपने पुत्र को जला दिया है ।”

पर ज्योंही उन्होंने वेदिका की ओर दृष्टिपात किया तो वे सभी आश्चर्याभिभूत हो अवाक्-स्तब्ध रह गये । उनके आश्चर्य का कोई पारावार ही नहीं रहा । उन्होंने देखा कि वेदी में जहाँ कुछ ही क्षण पूर्व ज्वालामालाओं से आकुल अग्नि प्रज्वलित हो रही थी, वहाँ अग्नि का नाम तक नहीं है । अग्नि के स्थान पर एक पूर्ण विकसित कमल का अति सुन्दर पुष्प सुशोभित है और उस पर वह बालक खिलखिलाता हुआ बालक्रीड़ा कर रहा है । कोलाहल सहसा शान्त हो गया । वहाँ उपस्थित सभी लोग परम आश्चर्यान्वित मुद्रा में इस अद्भुत चमत्कार को अपलक दृष्टि से देखते ही रह गये ।

वास्तव में हुआ यों कि जिस समय शुद्धभट्ट ने क्रुद्ध हो अपने पुत्र को प्रज्वलित अग्नि से पूर्ण वेदिका में डाला, उस समय सम्यक्त्व के प्रभाव को प्रकट करने में सदा तत्पर रहने वाली पास ही में कहीं रही हुई व्यन्तर जाति की देवी ने बड़ी ही तत्परता से अग्नि को तिरोहित कर वेदिका में विशाल कमलपुष्प की रचना कर उस बालक की अग्नि से रक्षा की । वह व्यन्तरी पूर्व जन्म में एक माध्वी थी । श्रमणधर्म की विराधना करने के फलस्वरूप वह माध्वी मर कर व्यन्तरी हुई । व्यन्तर जाति में देवी रूप से उत्पन्न होने के के पश्चात् उमने एक दिन एक केवली प्रभु से प्रश्न पूछा कि वह व्यन्तरी किस कारण बनी ? केवली ने कहा—“श्रमण्य की विराधना के कारण तुम व्यन्तर योनि में उत्पन्न हुई हो । तुम सुलभ-बोधि हो किन्तु तुम्हें सदा सम्यक्त्व के विकास के लिये सरल भाव से समुद्यत रहना चाहिये ।”

केवली के वचन सुनने के पश्चात् वह व्यन्तरदेवी सदा सम्यक्त्व के प्रभाव को प्रकट करने में तत्पर रहती । शुद्धभट्ट द्वारा अपने पुत्र को अग्नि में फेंके

जाने के वृत्तान्त को अविधिज्ञान के उपयोग द्वारा जान कर वह व्यन्तर जाति की देवी, उस वेदिका के निकट आ उपस्थित हुई और उसने सम्यक्त्वधारी ब्राह्मण-दम्पति के बालक की रक्षा कर सम्यक्त्व के प्रभाव को प्रकट किया ।

शुद्धभट्ट अपने पुत्र को लिये घर लौटा । उसने अपनी पत्नी सुलक्षणा को सब वृत्तान्त सुनाया । उक्त वृत्तान्त सुन कर सुलक्षणा ने अपने पति से कहा— “आपने यह अच्छा नहीं किया । क्योंकि यदि उस समय देवता का सांनिध्य नहीं होता और हमारा पुत्र जल जाता तो क्या सम्यक्त्व, जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित धर्म त्रिलोकपूज्य सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अर्हत् प्रभु का अस्तित्व निरस्त हो जाता इनका अस्तित्व तो त्रिकालसिद्ध है ।”

इस प्रकार कह कर यह ब्राह्मणी सुलक्षणा उमृ गाँव के उन नव लोगों को और अपने पति को सम्यक्त्व में स्थिर करने के लिए अपने साथ ले कर यहाँ आई है ।

इस ब्राह्मण ने यहाँ आ कर मुझ से उसी सम्बन्ध में पूछा और मैंने भी उसे सम्यक्त्व का प्रभाव बताया ।

भगवान् अजितनाथ के मुखारविन्द से यह सुन कर ब्राह्मण दम्पति के साथ आये हुए शालिग्राम के निवासियों ने दृढ़ आस्था प्राप्त की । समवसरण में उपस्थित अन्य अनेक भव्यों ने भी सम्यक्त्व ग्रहण किया । शुद्धभट्ट और सुलक्षणा ने उसी समय प्रभु से श्रमणाधर्म की दीक्षा ग्रहण की और अनेक वर्षों तक विमुद्द श्रमणाचार का पालन करते हुए उन दोनों ने समस्त कर्मसमूह को ध्वस्त कर अन्त में मोक्ष प्राप्त किया ।

### धर्म परिवार .

भ० अजितनाथ का धर्म-परिवार इस प्रकार था :—

गणधर <sup>१</sup>	पचानवे (६५)
केवली <sup>२</sup>	बाईस हजार (२२,०००)
मनःपर्यवज्ञानी	बारह हजार पाँच सौ (१२,५००)
अविधिज्ञानी	नव हजार चार सौ (९,४००)
बीदह पूर्वधारी	तीन हजार सात सौ (३,७००)
वैक्रियलम्बिधारी	बीस हजार चार सौ (२०,४००)
बादी	बारह हजार चार सौ (१२,४००)

१ हरिबन्ध पुराण और त्रिलोकपद्मति में ६० नखधर होने का उल्लेख है ।

२ विचष्टि कताका पुस्तक चरित, पर्व २, सर्ग ६, श्लो० १६३ से १७० ।

समवादांश सूत्र ।

साधु	एक लाख (१,००,०००)
साध्वी	तीन लाख तीस हजार (३,३०,०००)
श्रावक	दो लाख अठानवे हजार (२,९८,०००)
श्राविका	पांच लाख पैंतालीस हजार (५,४५,०००)

### परिनिर्वाण

अन्त में बृहत्तर लाख पूर्व की आयु पूर्ण कर प्रभु अजितनाथ एक हजार मुनियों के साथ सम्मेलित शिखर पर एक मास के अनशनपूर्वक चैत्र शुक्ला पंचमी को मृगशिर तक्षत्र में सिद्ध बुद्ध-मुक्त हुए । वही आपका निर्वाण दिवस है ।

आपने अठारह लाख पूर्व कुमार अवस्था में तिरेपन लाख पूर्व से कुछ अधिक समय राज्य-शासक की अवस्था में, बाराह वर्ष छद्मस्थ अवस्था में और कुछ कम एक लाख पूर्व केवली पर्याय में बिताये ।

चिरकाल तक आपका धर्म-शासन जयपूर्वक चलता रहा. जिसमें अमंथ्य आत्माओं ने अपना कल्याण किया ।



## चक्रवर्ती सगर

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल में जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र के प्रथम चक्रवर्ती भरत के पश्चात् द्वितीय चक्रवर्ती सगर हुए ।

भगवान् अजितनाथ द्वारा तीर्थप्रवर्तन के कतिपय वर्षों पश्चात् महाराज सगर की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ । इस हर्षप्रद प्रसंग के उपलक्ष्य में महाराज सगर के आदेश से सम्पूर्णा राज्य में आठ दिन तक बड़े हर्षोल्लास के साथ महोत्सव मनाया गया । चक्ररत्न को मिलाकर चक्रवर्ती सगर के यहां कुल चौदह रत्न उत्पन्न हुए, उनके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) चक्ररत्न, (२) छत्ररत्न, (३) चर्मरत्न, (४) मणिरत्न, (५) काकिली रत्न, (६) खड्गरत्न और (७) दण्डरत्न—ये सात रत्न तो एकेन्द्रिय थे । शेष (८) अश्वरत्न, (९) हस्तिरत्न, (१०) सेनापतिरत्न, (११) गाथापतिरत्न, (१२) पुरोहितरत्न, (१३) बढईरत्न और (१४) स्त्रीरत्न—ये सात रत्न पंचेन्द्रिय थे ।

सगर चक्रवर्ती ने भी भरत चक्रवर्ती के समान बत्तीस हजार वर्ष तक भरतक्षेत्र के ६ खण्डों की दिग्विजय कर सम्पूर्णा भरतक्षेत्र पर अपना एकच्छत्र शासन स्थापित किया । सगर के यहां ६ निधियां उत्पन्न हुईं । उन ६ निधियों के नाम इस प्रकार हैं :—

(१) नैसर्प महानिधि, (२) पाण्डुक महानिधि, (३) पिंगल महानिधि, (४) सर्वरत्न महानिधि, (५) महापद्म महानिधि, (६) काल महा निधि, (७) महाकाल निधि, (८) माणवक महानिधि और (९) शंख महानिधि ।

चक्रवर्ती सगर की सेवा में, ३२ हजार मुकुटधर महाराजा, सदा उनकी आज्ञा का पालन करने के लिये तत्पर रहते थे । चक्रवर्ती सगर के अन्तःपुर में स्त्रीरत्न प्रमुख ६४ हजार रानियां थी । महाराजाधिराज चक्रवर्ती सगर के सहस्रांशु, सहस्राक्ष, जह्नु, सहस्रबाहु आदि ६० हजार पुत्र हुए । सुदीर्घकाल तक चक्रवर्ती षट्खण्ड के राज्य का सुखोपभोग करते रहे ।

आचार्य शीलांक के जीवन महापुरिस चरियम् और आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित त्रिपिटशलाका पुरुष चरित्र में ऐसा उल्लेख है—“सहस्रांशु आदि सगर के ६० हजार पुत्र चक्रवर्ती सगर की आज्ञा प्राप्त कर सेनापतिरत्न, दण्डरत्न आदि रत्नों और एक बड़ी सेना के साथ भरतक्षेत्र के भ्रमण के लिये प्रस्थित हुए । अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुए जब वे अष्टापद पर्वत के पास

आये तब उन्होंने अष्टापद पर जिन-मन्दिरों को देखा और उनकी सुरक्षा के लिये पर्वत के चारों ओर एक खाई खोदने का विचार किया। इन दोनों आचार्यों के उपरि उद्धृत ग्रन्थों में उल्लेख है कि जह्नु आदि उन ६० हजार सगरपुत्रों ने भवनपतियों के भवन तक गहरी खाई खोद डाली। जह्नुकुमार ने दण्डरत्न के प्रहार से गंगा नदी के एक तट को खोदकर गंगा के प्रवाह को उस खाई में प्रवाहित कर दिया और उस खाई को भर दिया। खाई का पानी भवनपतियों के भवनों में पहुंचने से वे रुष्ट हुए और नागकुमारों ने रोष वश उन ६० हजार सगरपुत्रों को दृष्टिविष से भस्मसात् कर डाला।

इस प्रकार का कोई उल्लेख शास्त्रों में दृष्टिगोचर नहीं होता। न भरत द्वारा निर्मित जिनमन्दिर का ही शास्त्रों में कहीं उल्लेख है। देवों द्वारा चैत्य अर्थात् स्तूप बनाने का उल्लेख जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में मिलता है। वह भी कृत्रिम होने के कारण संख्यात काल के पश्चात् नहीं रह सकता। अतः यह कथा विचारणीय प्रतीत होती है। संभव है, पुराणों में शताश्वमेधी की कामना करने वाले महाराज सगर के यज्ञाश्व को इन्द्र द्वारा पाताललोक में कपिल मुनि के पास बांधने और सगरपुत्रों के वहां पहुंचकर कोलाहल करने से कपिल ऋषि द्वारा उन्हें भस्मसात् करने की घटना से प्रभावित हो जैन आचार्यों ने ऐसी कथा प्रस्तुत की हो।

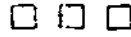
संसार की उच्चतम कोटि की भौतिक शक्तियां भी कर्मों के दारुण विपाक से किसी प्राणी की रक्षा नहीं कर सकती इस शाश्वत तथ्य का दिग्दर्शन उपर्युक्त दोनों आचार्यों ने अपने उपरिलिखित ग्रन्थों में सगर चक्रवर्ती के अग्रतर इतिवृत्त के माध्यम से करवाया है। सगर का इतिवृत्त वस्तुतः बड़ा ही वैराग्योत्पादक और शिक्षाप्रद है, अतः उसे यहां संक्षेप में दिया जा रहा है।

अपने सभी पुत्रों के एक साथ मरण का अतीव दुःखद समाचार सुनकर छः खण्डों का एकच्छत्र अधिपति, चौदह रत्नों और ९ महानिधियों का स्वामी सगर चक्रवर्ती शोकसागर में निमग्न हो क्रमशः अपने चौदह रत्नों को आक्रोश-पूर्ण उपालम्भ देते हुए अति दीन स्वर में असहाय अनाथ के समान विलाप करने लगा। उसने विलाप करते हुए कहा—ओ सेनापति रत्न ! रणांगण में तुम्हारे सम्मुख कोई भी शत्रु, चाहे वह कितना ही महान् शक्तिशाली क्यों न रहा हो, क्षण भर भी नहीं ठहर सकता था। पर मेरे प्राणप्रिय पुत्रों पर आये प्राण-संकट के समय तुम्हारा वह अप्रतिम पौरुष कहां चला गया ? ओ पुरोहित रत्न ! तुमने अनेक घोर अनिष्टों को समय-समय पर शान्त किया किन्तु तुम इस महा नाशकारी अरिष्ट को शान्त क्यों नहीं कर सके ? हे हस्तिरत्न ! तुम पर मुझे बड़ा विश्वास था, पर तुम भी मेरे पुत्रों की रक्षा करने में निष्क्रिय रहे। अरे ! तुम नागराज होकर भी एक क्षुद्र नाग को वश में नहीं कर सके :

हाय, ! महाशोक ! ओ वद्ध कीरत्न ! तुम भी मेरे पुत्रों की रक्षा करने में असमर्थ रहे । हे पवन तुल्य वेगवाले भ्रश्व रत्न ! तुमने मेरे पुत्रों को अपनी पीठ पर बैठाकर उन नागकुमारों की पहुंच के बाहर सुरक्षित स्थान पर क्यों नहीं पहुंचा दिया ? हे मणिरत्न ! तुम तो सब प्रकार के विष के नाशक हो । तो फिर तुमने मेरे पुत्रों की नागकुमारों के विष से रक्षा क्यों नहीं की ? ओ काकिणी रत्न ! तुमने नागकुमार के विष को नष्ट क्यों नहीं किया ? ओ छत्ररत्न ! तुम तो लाखों लोगों को आच्छादित कर उनकी सभी संकटों से रक्षा करने वाले हो । फिर तुमने अपनी छत्र छाया द्वारा मेरे पुत्रों की सुरक्षा क्यों नहीं की ? हे खड्गरत्न ! तुमने उस नागकुमार का सिर तत्काल ही क्यों नहीं काट डाला ? भरे दण्डरत्न ! तुम्हें तो मैं किन शब्दों में उपालम्भ दूँ, इस महान् अनर्थ का उद्भव ही तुम से ही हुआ है । हाय ! ओ चर्मरत्न ! तुमने नागकुमार को धरातल से निकलते ही अपने आवरण में बन्दी क्यों नहीं बना लिया ? ओ अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न चक्ररत्न ! तुमने मेरे इंगित पर अनेक दुर्दान्त शत्रुओं के सिर कमल नालवत् काट गिराये थे । पृथ्वी के विवर से जिस समय नागकुमार निकले उसी समय तुमने मेरे प्राण प्रिय पुत्रों की रक्षार्थ उनके सिर क्यों नहीं काट डाले ? संसार में चक्रवर्ती के एक-एक रत्न की शक्ति अचिन्त्य व अपरिमेय मानी गई है । पर तुम शत्रु-रत्न मिलकर भी मेरे पुत्रों की रक्षा नहीं कर सके । इससे बढ़कर भौतिक शक्ति की, भौतिक शक्ति की, निस्सारता का, दयनीयता का और कोई उदाहरण नहीं हो सकता । अपनी दयनीय असहायवस्था के साथ-साथ इन भौतिक अनुपम शक्तियों की अकिंचनता का भी मुझे अपने जीवन में यह पहली ही बार बोध हुआ है । अब तक मैं अपने आप को षट्खण्डाधिपति समझता आ रहा था, वह मेरा दम्भ था । लोग भी मुझे षट्खण्डाधिपति कहते हैं, यह भी वस्तुतः एक बड़ी विडम्बना है, भुलावा है । तथ्य तो यह है कि मैं अपने परिवार का तो क्या, स्वयं अपना भी अधिपति नहीं हूँ । वास्तव में यह संसार असार है । धोखे से भरा मायाजाल है । मानव का जीवन वस्तुतः पर्वत से निकली नदी के वेग के समान क्षणिक है । लक्ष्मी बादल की छायातुल्य चंचल और क्षणभंगुर है । जीवन जल के बुद्बुदे के समान क्षण विध्वंसी और कुटुम्बी परिजनों का समागम, भोग, ऐश्वर्य आदि सब कुछ मायामय इन्द्रजाल के दृश्य के समान है, अवास्तविक एवं असत्य है । मैं व्यर्थ ही आज तक इस व्यामोह में फंसा रहा । मैंने अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को इस निस्सार ऐश्वर्य के पीछे व्यर्थ ही खो दिया । जो समय बीत चुका है, उसका तो अब एक भी क्षण पुनः लौटकर नहीं आ सकता । अब तो जो जीवन अवशिष्ट रहा है, उसमें मुझे अपना आत्म-कल्याण कर अपने इस दुर्लभ मानव भव को कृतार्थ करता है ।

इस प्रकार संसार से विरक्त हो सगर चक्रवर्ती ने अपने पौत्र भगीरथ को

राज्य सिंहासन पर आसीन किया और उन्होंने तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ<sup>१</sup> के चरणों में श्रमण धर्म अंगीकार कर लिया। विशुद्ध संयम का पालन करते हुए सगर मुनि ने अनेक प्रकार की उग्र तपश्चर्याएँ कीं। तप और संयम की अग्नि में चार घाति कर्मों को मूलतः ध्वस्त कर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और अन्त में अघाति कर्मों को नष्ट कर अक्षय अव्याबाध शाश्वत सुखधाम निर्वाण प्राप्त किया।



१ (अ) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में भ० अजितनाथ के पास सगर चक्रवर्ती के दीक्षित होने का उल्लेख है।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व २, सर्ग ६, पृ० २५०-२५१, श्लोक सं० ६१६ से ६५१--

(ब) चउवनमहापुरिसचरियं में सुस्थित नामक आचार्य के पास सगर चक्रवर्ती के दीक्षित होने का उल्लेख है। यथा:—

“अप्पणा य मुणिकुण संसारा सारत्तसं.....सुद्धियायरियसयासे कुमार  
सहगयमहासामतेहि सद्धि गहिया एीस्सेसकम्मणिअरणभूया.....पवब्बा

—चउवन म० पु० चरियं, पृ० ७१—

## भगवान् श्री संभवनाथ

भगवान् अजितनाथ के बहुत समय बाद तीसरे तीर्थंकर श्री संभवनाथ हुए । आपने राजा विपुलवाहन के भव में उच्च करणी का बीज बोया जिससे तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया ।

### पूर्वभव

किसी समय क्षेमपुरी के राजा विपुलवाहन के राज्यकाल में भयंकर दुष्काल पड़ा । प्रजावत्सल राजा को इसकी बड़ी चिन्ता हुई । उसने देखा कि लोग भोजन के लिये तड़प रहे हैं । करुणाशील नृपति इस भयंकर दृश्य को नहीं देख सका । उसने भंडारियों को आज्ञा दी कि राज्य के अन्न-भण्डारों को खोल कर प्रजाजनों में बांट दिया जाय ।

इतना ही नहीं उसने संत और प्रभु-भक्तों की भी नियमानुसार सुधि ली । वह साधु-साध्वियों को निर्दोष तथा प्राशुक आहार स्वयं देता और सज्जन एवं धर्मनिष्ठ जनों को अपने सामने खिला कर संतुष्ट करता ।

इस प्रकार निर्मल भाव से चतुर्विध संघ की सेवा करने के कारण उसने तीर्थंकर पद के योग्य शुभ कर्म उपार्जित कर लिये ।

एक बार संघ्या के समय बादलों को बनते और बिखरते देखकर उसे संसार की नश्वरता का सही स्वरूप ध्यान में आया और मन में विरक्ति हो गई । आचार्य स्वयंप्रभ की सेवा में दीक्षित होकर उसने संघम धर्म की आराधना की और अन्त में समाधि-मरण से काल कर नवम-कल्प-आनत<sup>१</sup> देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुआ ।

### जन्म

देवलोक से निकल कर उसी त्रिपुलवाहन के जीव ने श्रावस्ती नगरी के महाराज जितारि के यहां पुत्र रूप में जन्म लिया । इनकी माता का नाम रानी सेनादेवी<sup>२</sup> था ।

१ सत्तरिसय द्वार, द्वार १२, गा० ५५-५६ में सप्तम प्रवेयक और तिलोयपन्नति मे अष्टोप्रवेयक से च्यवन होने का उल्लेख है ।

२ तिलोयपन्नति (गा० ५२६ से ५४६) में सुसेना नाम दिया है ।



फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को मृगशिर नक्षत्र में स्वर्ग से च्यवन कर जब आप गर्भ में आये तब माता ने चौदह प्रमुख शुभ स्वप्न देखे और महाराज जितारि के मुख से स्वप्नफल सुनकर परम प्रसन्न हुई ।

उचित आहार-विहार और मर्यादा के नव महीने तक गर्भ की प्रतिपालना कर मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को अर्द्धरात्रि के समय मृगशिर नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया ।

### नामकरण

आपके जन्म समय में सारे संसार में आनन्द-मंगल की लहर फैल गई और जब से प्रभु गर्भ में आये तब से देश में प्रभूत मात्रा में साम्ब एवं मूंग आदि धान्य की उत्पत्ति हुई । चारों ओर देश की भूमि धान्य से लहलहा उठी, अतः माता-पिता ने आपका नाम संभवनाथ रखा ।<sup>१</sup>

### बिवाह और राज्य

बाल्यकाल पूर्ण कर जब संभवनाथ युवा हुए तो महाराज जितारि ने योग्य कन्याओं से उनका पाणिग्रहण संस्कार करवाया और पुत्र को राज्य देकर स्वयं प्रव्रजित हो गये ।

संभवनाथ पिता के आग्रह से सिंहासनारूढ़ तो हुए पर मन में भोगों से विरक्त रहे । उन्होंने संसार के विषयों को विषमिश्रित पक्वान्न की तरह माना । वे विचार करने लगे—“जैसे विषमिश्रित पक्वान्न खाने में मधुर होकर भी प्राणहारी होते हैं, वैसे ही संसार के भोग तत्काल मधुर और सुभाक्ने होकर भी शुभ आत्मगुणों की घात करने वाले हैं । बहुत लज्जा की बात है कि मानव अनन्त पुण्य से प्राप्त इस मनुष्य जन्म को यों ही आरम्भ-परिग्रह और विषय-कषाय के सेवन में गंवा रहे हैं । अमृत का उपयोग लोग पैरों को घोलने में कर रहे हैं । मुझे चाहिये कि संसार को सम्यक् बोध देने के लिये मैं स्वयं त्याग-मार्ग में अग्रणी होकर जन-समाज को प्रेरणा प्रदान करूँ ।”

### दीक्षा

आपने भोगावली कर्मों को चुकाने के लिये चवालीस लाख पूर्व और चार पूर्वांग काल तक राज्यपद का उपभोग किया, फिर स्वयं विरक्त हो गये, क्योंकि स्वयं-बुद्ध होने के कारण तीर्थंकरों को किसी दूसरे के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती । फिर भी मर्यादा के अनुसार लोकान्तिक देवों ने आकर

१ गन्धर्वे जिणिवे णिहाणाइयं बहुयं संभूयं, जायम्मिय रज्जस्स सयलस्स वि सुहं संभूवं  
ति कलिकरुण संभवाहिहाणं कुणति सामिणो ॥ श्री० महापुरिस ४०, पृ० ७२ ।

प्रार्थना की और प्रभु ने भी वर्षीदान देकर प्रव्रज्या ग्रहण करने की भावना प्रकट की ।

वर्षीदान के पश्चात् जब भगवान् दीक्षित होने को पालकी में बैठकर सहस्राभवन में आये तब उनके त्याग से प्रभावित होकर अन्य एक हजार राजा भी उन्हीं के साथ घर से निकल पड़े और मंगसिर मुदी पूर्णिमा को मृगशिर नक्षत्र में पंच-मुष्टिक लुंचन कर व सम्पूर्ण पाप कर्मों का परित्याग कर प्रभु संयम-धर्म में दीक्षित हो गये ।

आपके परम उच्च त्याग से देव, दानव और मानव सभी बड़े प्रभावित थे, क्योंकि आप चक्षुः, श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों पर और क्रोध, मान, माया, एवं लोभ रूप चार कषायों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर मुंडित हुए । दीक्षित होते ही आपको मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ और जन-जन के मन पर आपकी दीक्षा का बड़ा प्रभाव रहा ।

### बिहार और पारणा

जिस समय आपने दीक्षा ग्रहण की, उस समय आपको निर्जल पण्ट-भक्त का तप था । दीक्षा के दूसरे दिन प्रभु सावत्थी नगरी में पधारे और मुरेन्द्र राजा के यहां प्रथम पारणा किया । फिर तप करते हुए विभिन्न ग्राम नगरों में विचरते रहे ।

### केवलज्ञान

चौदह वर्षों की छद्मस्थकालीन कठोर तपःसाधना में आपने शुक्ल ध्यान की अग्नि में मोहनीय कर्मों को सर्वथा भस्मीभूत कर डाला, फिर क्षीणामोद गुणस्थान के अन्त में जानावरण, दर्शनावरण और अन्तर्गम्य कर्मों का युगपद् क्षय कर कार्तिक कृष्णा पंचमी की श्रावस्ती नगरी में मृगशिर नक्षत्र में केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति की ।

केवलज्ञान होने के पश्चात् धर्म-देशना देकर आपने माधु, माध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की और फिर आप भाव-तीर्थकर कहलाये ।

### धर्म परिवार

आपके मुख्य शिष्य चारुजी हुए । आपका धर्म-संघ निम्न प्रकार था :-

गणधर	—	एक सौ दो (१०२)
केवली	—	पन्द्रह हजार (१५,०००)
मनःपर्यवज्ञानी	—	बारह हजार एक सौ पचास (१२,१५०)

अवधि ज्ञानी	-	नौ हजार छः सौ (९,६००)
चौदह पूर्वधारी	-	दो हजार एक सौ पचास (२,१५०)
वैक्रिय लब्धिधारी	-	उन्नीस हजार आठ सौ (१९,८००)
वादी	-	बारह हजार (१२,०००)
साधु	-	दो लाख (२,००,०००)
साध्वी	-	तीन लाख छत्तीस हजार (३,३६,०००)
श्रावक	-	दो लाख तिरानवे हजार (२,९३,०००)
श्राविका	-	छः लाख छत्तीस हजार (६,३६,०००)

### परिनिर्वाण

चार पूर्वांग कम एक लाख पूर्व वर्षों तक केवली पर्याय में रहकर आप चंद्र शुक्ला छठ को मृगशिर नक्षत्र में अनशन पूर्वक शुक्ल ध्यान के अन्तिम चरण में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं निवृत्त हो गये ।

आपने पन्द्रह लाख पूर्व वर्ष कुमार अवस्था में, चार पूर्वांग सहित चवालीस लाख वर्ष पूर्व राज्य-शासक अवस्था में और कुछ कम एक लाख पूर्व वर्ष दीक्षा अवस्था में बिताये । इस प्रकार सब मिलाकर साठ लाख पूर्व वर्षों का आपने आयुष्य पाया ।



# भगवान् श्री अभिनन्दन

## पूर्वभव

भगवान् संभवनाथ के पश्चात् चतुर्थ तीर्थंकर श्री अभिनन्दन हुए ।

इन्होंने पूर्वभव में महाबल<sup>१</sup> राजा के जन्म में आचार्य विमलचन्द्र के पास दीक्षित होकर तीर्थंकर गोत्र के बीस स्थानों की आराधना की और अन्त में आप समाधिभाव के साथ काल-धर्म प्राप्त कर विजय विमान में अनन्तर देव हुए ।

## जन्म

विजय विमान<sup>२</sup> से च्यवन कर महाबल का जीव अयोध्या नगरी में महाराज संवर के यहां तीर्थंकर रूप से उत्पन्न हुआ । वैशाख शुक्ला चतुर्थी को पुष्य नक्षत्र में आपका विजय विमान से च्यवन हुआ । महारानी सिद्धार्थी ने गर्भ धारण किया<sup>३</sup> और उसी रात्रि को १४ मंगलकारी शुभ स्वप्न देखे ।

गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ शुक्ला द्वितीया को पुष्य नक्षत्र के योग में माता सिद्धार्थी ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया । आपके जन्म के समय नगर और देश में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व में सुख-शान्ति एवं आनन्द की लहरें फैल गईं । देवीं और देवपतियों ने आपका जन्म महोत्सव मनाया ।

## नामकरण

जबसे प्रभु माता के गर्भ में आये, सर्वत्र प्रसन्नता छा गई और जन-जन के मन में हर्ष की लहरें हिलोरें लेने लगीं । अतः माता-पिता और परिजनों ने मिलकर इनका नाम अभिनन्दन रखा ।<sup>४</sup>

## विवाह और राज्य

बाल-लीला के पश्चात् जब प्रभु ने युवावस्था में प्रवेश किया तब महाराज संवर ने योग्य कन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण करवाया । कुछ समय

१ समव्यास सूत्र में महाबल के स्थान पर धर्मसिंह नाम दिया हुआ है ।

२ आचार्य हेमचन्द्र ने पुष्य नक्षत्र के स्थान पर अभीचि को कत्याण नक्षत्र माना है ।

[त्रि. श. पर्व, २ अ. २, श्लो. ५०-६२]

३ हरिवंशपुराण (गा० १६६-१८०) में माघ शुक्ला १२ लिखा है ।

४ भगवन्मि गन्धर्व्ये कुलं रज्जं रामरं अभिगंदद, त्ति तेण जराणि

जराएहिं वियारिज्जरा गुणनिष्फणां अभिगंदसो ति रामं कयं ।

[च० महापुरिस च०, पृ० ७५]

पश्चात् राजा ने पौद्गलिक मुखों से विरक्त हो निवृत्ति-मार्ग ग्रहण करने की भावना से अभिनन्दन कुमार का राज्यपद पर अभिषेक किया और स्वयं मुनि-धर्म की दीक्षा लेकर आत्म-साधना में लग गये ।

### दीक्षा और पारणा

प्रायः देखा जाता है कि साधारण मनुष्य तभी तक शान्त और निर्मल बना रह पाता है जब तक कि उसके सामने विकारी साधन न आने पावें, किन्तु सम्राट् का सम्मानपूर्ण पद पाकर भी अभिनन्दन स्वामी जरा भी हर्षातिरेक से विचलित नहीं हुए । उन्होंने यह प्रमाणित कर दिखाया कि महापुरुष विकार के हेतुओं में रहकर भी विकृत नहीं होते ।

प्रजाजनों को कर्तव्य-पालन और नीति-धर्म की शिक्षा देते हुए साढ़े छत्तीस लाख पूर्व वर्षों तक उत्तम प्रकार से राज्य का संचालन कर प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की । लोकान्तिक देवों की प्रार्थना और वर्षादान देने के पश्चात् माघ शुक्ला द्वादशी को अभीष्ट-अभिजित नक्षत्र के योग में एक हजार राजाओं के साथ प्रभु ने सम्पूर्ण पापकर्मों का त्याग किया और वे पंच मुष्टिक लोच कर सिद्ध की साक्षी से संयम स्वीकार कर संसार से विमुख हो मुनि बन गये । उस समय शापको बेलें की तपस्या थी ।

दीक्षा के दूसरे दिन आप साकेतपुर पधारे और वहां के महाराज इन्द्रदत्त के यहां प्रथम पारणा किया । उस समय देवों ने पंच-दिव्य प्रकट कर 'अहो दानं, अहो दानं' का दिव्य घोष किया ।

### केवलज्ञान

दीक्षा ग्रहण कर वर्षों तक उग्र तपस्या करते हुए प्रभु ग्रामानुग्राम विचरते रहे । ममत्वभाव-रहित संयम-धर्म की साधना करते हुए अठारह वर्षों तक आप छद्मस्थ-चर्या से विचरे और फिर प्रभु ने अयोध्या में शुक्ल ध्यान की प्रबल अग्नि में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय रूप कर्म के इन्धनों को जलाकर संपूर्ण घाती कर्मों का क्षय किया और पौष शुक्ला चतुर्दशी<sup>१</sup> को अभिजित नक्षत्र में केवलज्ञान की उपलब्धि की ।

केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर आपने देव और मनुष्यों की सभा में धर्म-देशना दी तथा धर्माधर्म का भेद समझा कर लोगों को कल्याण का पथ दिखाया । धर्मतीर्थ की स्थापना करने से आप भाव-तीर्थकर कहलाए ।

१ तिलोय प. (गा० ६४४-६६७) में तेले की तपस्या का उल्लेख है ।

२ (क) भाव. नि. व सत्तरिसय प्रकरण (ख) तिलोय प. में कार्तिक शु. ५ का उल्लेख है ।

### धर्म परिवार

आपका धर्म परिवार निम्न संख्या में था :-

गण एवं गणधर	- एक सो सोलह (११६)
केवली	- चौदह हजार (१४,०००)
मनःपर्यवज्ञानी	- ग्यारह हजार छः सौ (११,६००)
अवधि ज्ञानी	- नौ हजार आठ सौ (९,८००)
चौदह पूर्वधारी	- एक हजार पांच सौ (१,५००)
वैक्रिय लब्धिधारी	- उन्नीस हजार (१९,०००)
बादी	- ग्यारह हजार (११,०००)
साधु	- तीन लाख (३,००,०००)
साध्वी	- छः लाख तीस हजार (६,३०,०००)
श्रावक	- दो लाख अठ्यासी हजार (२,८८,०००)
श्राविका	- पांच लाख सत्ताईस हजार (५,२७,०००)

### परिनिर्वाण

पचास लाख पूर्व वर्षों की पूर्ण आयु में आपने साढ़े बारह लाख पूर्व तक कुमार अवस्था, आठ पूर्वांग सहित साढ़े छत्तीस लाख पूर्व तक राज्यपद और आठ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक दीक्षा पर्याय का पालन किया।

फिर अन्त में जीवन काल की समाप्ति निकट समझ कर वैशाख शुक्ला अष्टमी को<sup>१</sup> पुष्य नक्षत्र के योग में आपने एक मास के अनशन में एक हजार मुनियों के साथ सकल कर्म क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया। आपके परम पावन उपदेशों से असंख्य आत्माओं ने अपना कल्याण-साधन किया।



१ वैशाखम्य मित्ताष्टम्यां, पुष्यम्ये रजनीकरे ।

ममं मुनियहस्रं गाऽपुनरागम्यगात् पदम् ॥ त्रिपष्टि ज०पु०च०, पर्व ३, सर्ग ३, श्लो. १७२

(क) मत्तरिमयद्वार, डा. १४७, गा. ३०६ मे ३१०

(ख) प्रवचनसरोद्वार, हरिवंश और निलोय पत्रिका में वैशाख शु. ७ निर्वाण तिथि का उल्लेख है ।

## भगवान् श्री सुमतिनाथ

चाँथे तीर्थकर भगवान् अभिनन्दन के पञ्चात् नव लाख करोड़ सागर जैसी मुदीर्घावधि के अनन्तर पंचम तीर्थकर श्री सुमतिनाथ हुए ।

### भ० सुमतिनाथ का पूर्वभव

जम्बूद्वीप के पुष्कलावती विजय में सुसमृद्ध एवं सुखी प्रजाजनों से परिपूर्ण शंखपुर नामक एक परम सुन्दर नगर था । वहाँ विजयसेन नामक राजा राज्य करता था । महाराजा विजयसेन की पट्ट-राजमहिषी का नाम सुदर्शना था । महादेवी सुलक्षणा एवं अपनी अन्य महारानियों के साथ सभी प्रकार के ऐहिक सुखोपभोग करता हुआ राजा विजयसेन न्यायपूर्वक प्रजा का पालन कर रहा था ।

एक दिन किसी लीलोत्सव के अवसर पर शंखपुर के सभी वर्गों के नागरिक आमोद-प्रमोद के लिये उद्यान में गये । पालकी पर आरूढ़ महारानी सुदर्शना ने उस उद्यान में आठ वधुओं से परिवृता एक महिला को उत्सव का आनन्द लेते हुए देखा । महारानी ने कंचुकी से पूछा—“यह महिला कौन है, किसकी पत्नी है और इसके साथ ये आठ सुन्दरियाँ कौन हैं ?”

कंचुकी ने तत्काल उस महिला का पूर्ण परिचय प्राप्त कर निवेदन किया—“महादेवी ! यह महिला इसी नगर के श्रेष्ठी नन्दिषेण की पत्नी है । इसका नाम सुलक्षणा है । इसके दो पुत्र हैं, जिनका चार-चार रूपसी कन्याओं के साथ विवाह किया गया । यह श्रेष्ठी पत्नी सुलक्षणा अपनी उन्हीं आठ पुत्र-वधुओं के साथ आनन्दमग्न हो सभी भाँति के सुखों का उपभोग कर रही है ।”

यह सुनकर निरपत्या महारानी सुदर्शना के अन्तर्मन में संतति का अभाव शूल की भाँति खटकने लगा । उसे अपने प्रति बड़ी आत्मम्लानि हुई कि वह एक भी संतान की माता न बन सकी । वह मन ही मन अति खिन्न हो सोचने लगी—“उस महिला का जन्म, जीवन, यौवन, धन-वैभव, ऐश्वर्य सभी कुछ निरर्थक है, जिसने सभी प्रकार के सांसारिक सुखों के मार्गभूत सुतरतन को जन्म नहीं दिया । उस स्त्री के मानव तन धारण करने और जीवित रहने में कोई सार नहीं, जिसकी गोद को उसका धूलिधूमरित पुत्र मुशोभित नहीं करता । वे माताएं धन्य हैं, जो पुत्र को जन्म देती हैं, उसे स्तन्यपान कराती और हर्षातिरेक से उसके मुखचन्द्र का चम्बन कर अंक में भर उसे अपने हृदय से लगा लेती हैं । उन पुण्यशालिनी पुत्रवती महिलाओं के लिये स्वर्गसुख तृणावत् तुच्छ है जो

अपने हृदय के हार पुत्र की तुलनाती हुई मृदु वाणी का अपने करणरन्ध्रों से पान कर सदा आनन्दविभोर रहती है।” इस प्रकार चिन्तन करती हुई महारानी अथाह शोकसागर में निमग्न हो गई। वनमहोत्सव उसे परमपीडाकारी और श्मशान तुल्य प्रतीत होने लगा। उसने तत्काल कंचुकी को राजप्रासाद की ओर लौटने का आदेश दिया।

राजप्रासाद के अपने कक्ष में प्रविष्ट होते ही महारानी पलंग पर लेट कर दीर्घ निश्वास लेती हुई फूट फूट कर रोने लगी। अपनी स्वामिनी की यह दशा देख दासियां शोकाकुल एवं भयभीत हो गई। एक दासी ने तत्काल महाराज विजयसेन को महारानी की उस अदृष्ट पूर्व स्थिति से अवगत कराया।

महाराज विजयसेन यह सूचना पाते ही महारानी के महल में आये। महारानी के अश्रुपूर्ण लाल लोचनयुगल और मलिन मुख को देखकर राजा ने संवेदना मिश्रित स्नेहपूर्ण स्वर में पूछा—“प्राणाधिके राजराजेश्वरी ! तुम्हारे इस प्रकार शोकसंतप्त होने का कारण क्या है ? क्या किसी ने तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन किया है ? क्या कराल काल का कवल बनने के डच्छुक किसी अभागे ने तुम्हारे लिये कुछ अप्रीतिकर कहा अथवा किया है ? शीघ्र बताओ, मैं तुम्हें क्षण भर के लिये भी शोकातुरावस्था में नहीं देख सकता।”

महारानी सुदर्शना ने कहा—“आर्यपुत्र ! आपकी छत्रछाया में मेरी आज्ञा का उल्लंघन करने का कोई साहस नहीं कर सकता। देव ! मैं तो अपने आन्तरिक दुःख से ही उद्विग्न हूँ। मुझे अपने इस निरर्थक जीवन से ही ग्लानि हो गई है कि अभी तक मैं एक पुत्र की मां नहीं बन सकी। प्राणनाथ ! आप मुझ पर पूर्णतः प्रसन्न हैं तथापि यदि औषधोपचार, विद्या, मन्त्रादि के उपाय करने पर भी मेरे सन्तान नहीं हुई तो मैं अपने इस निरर्थक शरीर का निश्चित रूप से त्याग कर दूंगी।”

महाराज विजयसेन ने महारानी सुदर्शना को मधुर वचनों से आश्वस्त करते हुए कहा कि वे सब प्रकार के उचित औषधोपचारादि विविध उपायों के करने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखेंगे, जिनसे कि महारानी का मनोरथ शीघ्र ही पूर्ण हो।

एक दिन महाराज विजयसेन ने बेले की तपस्या कर कुलदेवी की आराधना की। तप और निष्ठापूर्ण आराधना के प्रताप से कुलदेवी ने राजा विजयसेन को स्वप्न में दर्शन दे कहा—“नरेन्द्र उद्विग्न होने की आवश्यकता नहीं। शीघ्र ही तुम्हें एक महाप्रतापी पुत्र की प्राप्ति होगी।” महाराज विजयसेन आश्वस्त हुए। अपने पति से यह सुसंवाद सुनकर महारानी सुदर्शना बड़ी ही प्रमुदित हुई। उसके हर्ष का पारावार न रहा।



स्वल्प समय पश्चात् ही रात्रि के अन्तिम प्रहर में सुखप्रमुप्ता महादेवी सुदर्शना ने एक स्वप्न देखा कि एक केसरिकिशोर उसके मुख में प्रविष्ट हो गया है। भयभीत हो महारानी उठी और उसने तत्काल अपने पति के शयनकक्ष में जा उन्हें उस स्वप्नदर्शन का वृत्तान्त सुनाया। स्वप्नदर्शन विषयक महारानी का कथन सुनकर महाराज विजयसेन ने हर्षानुभव करते हुए कहा—“महादेवी ! कुलदेवी के कथनानुसार तुम्हें सिंह के समान पराक्रमी एवं प्रतापी पुत्ररत्न की प्राप्ति होने वाली है।

गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी सुदर्शना ने सर्व सुलक्षणा सम्पन्न एवं परम सुन्दर तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया और अपने जीवन को सफल समझा। राज्य भर में उत्सवों की धूम मच गई। बन्दियों को कारागारों से मुक्त किया गया। महाराज विजयसेन ने स्थान-स्थान पर दानशालाएं, भोजनशालाएं खोल दीं और बड़ी उदारतापूर्वक स्वजन-परिजन-पुरजन-अर्थीजनों को समुचित सम्मान-दानादि से सन्तुष्ट किया।

नामकरण-महोत्सव के आयोजन में अपने सम्बन्धियों, परिजनों एवं पौरजनों आदि को आमन्त्रित-सम्मानित कर राजकुमार का नाम पुरुषसिंह रखा। राजसी ठाट-बाट से राजकुमार का लालन-पालन किया गया। शिक्षा-योग्य वय में राजकुमार को सुयोग्य शिक्षाविदों से सभी प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं की शिक्षा दिलाई गई। राजकुमारोचित सभी विद्याओं में निष्णात हो राजकुमार पुरुषसिंह ने युवावस्था में पदापंग किया। माता-पिता ने बड़े ही हर्षोल्लासपूर्वक राजकुमार पुरुषसिंह का रूपलावण्यवती अनिन्द्य सौन्दर्य सम्पन्ना आठ सुलक्षणी राजकन्याओं के साथ विवाह किया। सर्वांग सुन्दर सुस्वस्थ व्यक्तित्व का धनी अतुल बलशाली राजकुमार पुरुषसिंह अपनी आठ युवराजियों के साथ विविध ऐहिक भोगोपभोगों का सुखोपभोग करता हुआ आमोद-प्रमोदपूर्णा सुखमय जीवन व्यतीत करने लगा। विशिष्ट विज्ञान, कुल, शील, रूप, बिनयादि सर्व गुणों से सम्पन्न एवं शस्त्रास्त्रादि समस्त विद्याओं में कुशल राजकुमार पुरुषसिंह सभी पुरजनों व परिजनों के मन को मुग्ध एवं नयनों को आनन्दित करने वाला था। उसका सुन्दर स्वरूप कामदेव के समान इतना सम्मोहक था कि जिस ओर से वह निकलता, वहाँ आबालवृद्ध प्रजाजनों के समूह उसे अपलक दृष्टि से देखते ही रह जाते थे। संक्षेप में कहा जाय तो वह सब ही को प्राणाधिक प्रिय था।

कालान्तर में एक दिन राजकुमार पुरुषसिंह मनोविनोद एवं आमोद-प्रमोदार्थ शंखपुर के बहिस्थ एक सुरम्य उद्यान में गया। उस उद्यान में राजकुमार ने मुनिवृन्द से परिवृत बिनयानन्द नामक आचार्य को एक सुरम्य स्थान पर बैठे देखा। आचार्यश्री को देखते ही राजकुमार पुरुषसिंह का हृदय हर्षाति-

रेक से प्रफुल्लित, लोचनयुगल हर्षाश्रुओं से प्रपूरित और रोम-रोम पुलकित हो उठा। साश्चर्य उसने सोचा—“यह महापुरुष कौन हैं, जो परिपूर्ण यौवनकाल में विश्वविजयी कामदेव पर विजय प्राप्त कर श्रमणा बन गये हैं। तो चलो मैं इनसे धर्म के विषय में कुछ विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करूँ।” यह विचार कर राजकुमार आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित हुआ। आचार्यश्री और श्रमणावर्ग को वन्दन कर वह उनके समक्ष बैठ गया। कुछ क्षणों तक आचार्यश्री के दर्शनों से अपने अन्तर्मन को आप्यायित करने के पश्चात् पुरुषसिंह सविनय, सांजलि शीश झुका बोले—“भगवन् ! यह तो मैं आपके महान् त्याग से ही समझ गया कि यह संसार निस्सार है। संसार के सुख नीरस हैं, कर्मों का परिपाक अतीव विषम है, तथापि यह बताने की कृपा कीजिये कि संसार सागर से पार उतारने में कौनसा धर्म सक्षम है ?”

आचार्यश्री विनयानन्द ने राजकुमार का प्रश्न सुनकर कहा—“सौम्य ! तुम धन्य हो कि इस प्रकार की रूप-यौवन सम्पदा के स्वामी होते हुए भी तुम्हारे अन्तर्मन में पूर्वाजित पुण्य के प्रभाव से धर्म के प्रति रुचि जागृत हुई है। दान, शील, तप और भावना के भेद से धर्म चार प्रकार का है। दान भी चार प्रकार का है—ज्ञानदान, अभयदान, धर्मोपग्रहदान और अनुकम्पादान। ज्ञानदान से जीव बन्ध, मोक्ष और सकल पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर हेय का परित्याग एवं उपादेय का ग्रहण-आचरण करते हैं। अधिक क्या कहा जाय, जीव इहलोक और परलोक में सुखों का भागी ज्ञान से ही होता है। ज्ञानदान वस्तुतः ज्ञान का दान करने वाले और ग्रहण करने वाले—दोनों ही के लिये सौख्यप्रदायी है।” दूसरा दान है—अभयदान। ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही जीवों की अभयदान की ओर प्रवृत्ति होती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति काय के एकेन्द्रिय जीवों और विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीवों की मन, वचन, तथा काया से रक्षा करना—उनकी हिंसा न करना, उन्हें भयरहित स्थिति प्रदान करना—जीवनदान देना—यह अभयदान है। अभयदान वास्तव में महादान है। क्योंकि सभी जीव, चाहे वे कितने ही दुःखी क्यों न हों, जीना चाहते हैं, उन्हें जीवन ही सर्वाधिक प्रिय है। अतः प्रत्येक मुमुक्षु एवं प्रत्येक विवेकी का यह सबसे पहला परम आवश्यक कर्तव्य है कि वह प्राणिमात्र को अभयदान प्रदान करे।

तीसरा दान है—धर्मोपग्रह दान। तप, संयम में निरत साधक निश्चिन्तता और दृढ़तापूर्वक निर्बाध रूप से निरन्तर धर्माराधन में प्रवृत्त होते रहें—इसके लिए उनको आठ मदस्थानों से रहित—दायकशुद्ध, ग्राहकशुद्ध, कालशुद्ध और भावशुद्ध प्राशुक अशन, पान, औषध, भेषज्य, वस्त्र, पात्र, पाठ, फलक आदि धर्म उपकरणों का दान देना वस्तुतः निर्जरा आदि महान् फलों का देने वाला

है। इस प्रकार प्रगाढ़ श्रद्धा—भक्तिपूर्वक एकान्ततः कर्मों की निर्जरा की भावना से विशुद्ध संयम की पालना करने वाले तपस्वी श्रमणों को धर्म में सहायक उपकरण अर्थात् उपग्रहों का किया हुआ दान उपजाऊ भूमि में बोये गये बीज के समान अनेक अचिन्त्य फल देने वाला है। दायकशुद्धदान का अर्थ है दानदाता आठ मदस्थानों से दूर रह कर केवल निर्जरार्थ दान दे। ग्राहकशुद्ध—दान का अर्थ है—दान लेने वाला साधक पंच महाव्रतधारी, प्राणिमात्र का सच्चा हितैषी, परीषहोपसर्गों से कभी विचलित न होने वाला, परिग्रहत्यागी और अप्रतिहत विहारी हो। कालशुद्ध—दान वह है—जिस प्रकार समय पर हुई वर्षा खेती के लिए परम लाभकारी है, उसी प्रकार श्रमणों के अशन-पान ग्रहण करने के अवसर पर उन्हें धर्मोपग्रह प्रदान किये जायें। भावशुद्ध दान वह है कि दानदाता दान देते समय अपने आपको अन्तर्मन से कृतार्थ समझे। मैं तपस्वी श्रमणों को दान दूँ, इस प्रकार की भावना आते ही जिसकी रोमावलि हर्ष से पुलकित हो उठे, दान देते समय उसके हर्ष का पारावार न हो और दान देने के पश्चात् भी उसका मन हर्षसागर में हिलोरें लेता रहे। नवकोटि—विशुद्ध दान देते समय दानदाता सोचे कि मेरे पूर्वोपाजित प्रबल पुण्यों के प्रताप से आज मैं साधुओं को अशन-पानादि प्रदान कर कृतकृत्य हो गया हूँ। चौथा दान है अनुकम्पा—दान। अभाव-अभियोगों से प्रपीडित लोगों का उनकी आवश्यकतानुसार हितमिश्रित अनुकम्पा की भावना से प्रेरित हो अशन, पान, वस्त्र, द्रविय आदि का दान करना अनुकम्पा—दान है। यह चतुर्विध धर्म के प्रथम भेद चार प्रकार के दान का स्वरूप है।

धर्म का दूसरा भेद है—शील। पंच महाव्रतों का पालन, क्षमा, मृदुता, सरलता, सन्तोष, मन को वश में करना, प्रतिपल-प्रतिक्षण अप्रमत्त भाव से सजग रह कर जानाराधन करना, प्राणिमात्र को मित्र समझना और अपने सानुकूल अथवा अननुकूल संसार के सभी कार्यकलापों में मध्यस्थ भाव से निरीह, निस्संग, निर्लिप्त रहना—यह धर्म का द्वितीय प्रकार शीलधर्म है।

धर्म का तीसरा भेद है—तपधर्म। तप दो प्रकार का है—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। अनशन, अवमोदर्य आदि बाह्य तप हैं और स्वाध्याय, ध्यान, इन्द्रिय-दमन आदि आभ्यन्तर तप। जहाँ तक सम्भव हो, इन दोनों प्रकार की तपश्चर्याओं का उत्तरोत्तर अधिकाधिक आराधन करना तप-धर्म है। जिस प्रकार तृण-काष्ठ आदि के पर्वततुल्य समूहों को भी अग्नि अनायास ही भस्म कर देती है, उसी प्रकार बाह्य एवं आभ्यन्तर तपश्चर्या की अग्नि जन्म-जन्मान्तरों, भव-भवान्तरों में संचित कर्मों के विपुल से विपुलतर समूहों को पूर्णरूपेण भस्मसात् तथा मूलतः नष्ट कर कर्म-कलुषित आत्माओं को सच्चिदानन्दघन स्वरूप प्रदान कर देती है।

चौथे प्रकार का धर्म है—भावनाधर्म । भावनाएँ बारह प्रकार की हैं; अतः भावना-धर्म बारह प्रकार का है । यथा :—

१. अनित्य भावना—यौवन, धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, ऐहिक सुखोपभोग, पुत्र-पौत्र-कलत्र आदि परिजन, यह शरीर और जीवन आदि आदि—ये संसार के समग्र कार्यकलाप अनित्य हैं—क्षणविध्वंसी हैं, मृगमरीचिका तुल्य, इन्द्र-जालवत्, स्वप्न-दर्शन समान नितान्त असत्य, मायास्वरूप, भ्रान्ति अथवा व्यामोहपूर्ण हैं । संसार में एक भी वस्तु ऐसी नहीं, जो चिरस्थायिनी हो । ये सब मुझ से भिन्न हैं, मैं इन सबसे भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप विशुद्ध चैतन्य हूँ । इन अनित्य जड़ तत्वों के संग से, अज्ञानवश इन्हें अपना समझ कर मैं ध्रौव्यधर्मा शाश्वत होते हुए भी इन अनित्य जड़ तत्वों की भांति उत्पाद-व्ययधर्मा बन कर जन्म-जरा-मृत्यु की विकराल चक्की में अनादि काल से पिसता चला आ रहा हूँ । इन क्षणविध्वंसी अनित्य एवं जड़ पदार्थों के साथ मुझे अविनाशी ध्रौव्यधर्मा, नित्य शाश्वत, विशुद्ध चैतन्य का संग वस्तुतः मेरा व्यामोह मात्र है । अब इन उत्पत्ति-विनाशधर्मा जड़ पदार्थों के साथ, इस अनित्य जगत् के साथ मैं कभी किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं रखूँगा । यह अनित्य भावना नाम की पहली भावना है ।

२. अशरण भावना—मैं सच्चिदानन्द ज्ञानधन स्वरूप चैतन्य होते हुए भी मदारी के मर्कट की भांति कर्मरज्जु से आबद्ध हो अशरण बना हुआ असहाय, अनाथ की भांति अनादि काल से अनन्तानन्त दुस्सह दारुण दुःख भोगता हुआ भवाटवी में भटकता आ रहा हूँ । तात, मात, भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र, स्वजन, स्नेही आदि में से कोई भी मुझे शरण देने वाला नहीं है, कोई मेरा दुखों से त्राण करने वाला नहीं है । केवल वीतराग जिनेन्द्र प्रभु ही मुझे शरण देने वाले हैं । अतः मैं इसी क्षण से जिनेन्द्र देव की—जिनेन्द्र प्ररूपित धर्म की, प्राणिमात्र के हितैषी, पंच महाव्रतधारी गुरुदेव की—जिनशासन की सर्वात्मना सर्वभावेन अविचल आस्था और दृढ़ विश्वास के साथ शरण ग्रहण करता हूँ । अहनिश प्रतिपल, प्रतिक्षण इस प्रकार की भावना अन्तर्मन से भाना अशरण भावना नाम की दूसरी भावना है ।

३. एकत्व भावना—मैं एकाकी हूँ । मेरा कोई संगी साथी नहीं । मेरे द्वारा उपार्जित कर्मों का फल केवल एकाकी मुझे ही भोगना पड़ेगा । कोई भी स्वजन अथवा परिजन उसमें भागीदार बनने वाला नहीं है । क्योंकि मेरे सिवा और कोई मेरा है ही नहीं । मैं तो अनादि से एकाकी ही हूँ और एकाकी ही रहूँगा । प्रतिपल अन्तर्मन से इस प्रकार की भावना भाना एकत्व भावना नामक तीसरी भावना है ।

४. अन्यत्व भावना—इस संसार में मैं किसी का नहीं और न कोई मेरा ही है। माता, पिता, भाई, स्वजन, परिजन, मित्र, स्नेही आदि मुझे अपना कहते हैं और मैं भी इन्हें अपना ही समझता आया हूँ। पर वस्तुतः ये मेरे नहीं, मुझ से अन्य हैं। मैं भी इनका नहीं। क्योंकि ये अन्य हैं और मैं भी अन्य हूँ। ये मुझ से भिन्न हैं और मैं इनसे भिन्न हूँ। अन्यत्व में अपनत्व की, ममत्व की वृद्धि वस्तुतः असत्य है, भ्रान्ति और व्यामोह मात्र है। यह है चौथी अन्यत्व भावना।

५. अशुचि भावना—मैं कितना मूढ़ हूँ कि अपनी इस अपवित्र-अशुचि-भण्डार देह पर गर्व करता हूँ, फूला नहीं समाता। अस्थि-चर्म-रुधिर-मांस-मज्जा का ढाँचा यह मेरा शरीर मल-मूत्र, लार-कफ, पित्त आदि अशुचियों से भरा पड़ा है। इसमें पवित्रता एवं रमणीयता कहां? इस प्रकार की भावना अशुचि भावना नामक पांचवीं भावना है।

६. असार भावना—यह संसार नितान्त निस्सार-सर्वथा असार है। कहीं किसी भी सांसारिक कार्यकलाप में कोई किंचिन्मात्र भी तो सार नहीं, सब कुछ तृणवत् त्याज्य, असार है। यह है 'असार भावना' नामक छठी भावना।

७. आश्रव भावना—हाय ! मैं अनन्त संसार में अनन्तानन्त काल तक भटकने की ओर—छोर विहीन अपार सामग्री एकत्रित कर रहा हूँ। सब ओर से खुले मेरे व्रत—नियम विहीन अथाह आत्मनद में महानदियों के अत्युग्र-प्रति विशाल जल प्रवाह से भी प्रति भयंकर अतिविशाल प्रवाह एवं प्रति तीव्र वेग वाले कर्माश्रव (कर्मों की महा नदियों के असंख्य समूह) गिर रहे हैं। यदि मैंने व्रत नियमादि के द्वारा आत्मनद में अहर्निश प्रतिपल-प्रतिक्षण गिरते हुए कर्म-प्रवाह के इन आश्रव द्वारों को नहीं रोका तो मैं अनन्तानन्त काल तक इस भयावहा भवाटवी में भटकता रहूँगा, अनन्त अपार, अथाह भवसागर में डूबा रहूँगा। यह है सातवीं "आश्रव भावना।"

८. संवर भावना—आत्मनद में अहर्निश, प्रतिक्षण महानदियों के पूर की तरह गिरते हुए कर्माश्रवों का निरोध संवर द्वारा ही किया जा सकता है। अतः मुझे नियमित रूप से व्रत, नियम, प्रत्याख्यान महाव्रतादि ग्रहण तथा कषायों के अधिकाधिक निग्रह द्वारा द्रव्य संवर और भाव संवर, दोनों ही प्रकार के संवर से इन आश्रवों को रोकना चाहिये। नियमित रूप से व्रत, नियम, महाव्रत आदि ग्रहण कर के ही मैं इन आश्रवों से अपनी आत्मा का संवरण तथा संरक्षण कर सकता हूँ। अन्तर्मन से इस प्रकार की भावना भाने का नाम आठवीं "संवर भावना" है।

९. निर्जरा भावना—मैं अनादि काल से कर्मशत्रुओं द्वारा जकड़ा हुआ

दुस्सह्य दारुण दुःख भोगता चला आ रहा हूँ। मेरे घर के बाह्य एवं आभ्यन्तर भाग में इन कर्म-चोरों ने पूर्ण अधिकार जमा रखा है। मुझे मन-वचन-काय-विशुद्धिपूर्वक तपश्चरणा, पांच समितियों और तीन गुण्डियों की समीचीनतया आराधना कर इन कर्मशत्रुओं की निर्जरा करनी है, इन कर्मचोरों को नष्ट करना है। कर्मों की पूर्णरूपेण जब तक निर्जरा नहीं करूँगा, जब तक कर्मों का समूल नाश नहीं करूँगा तब तक इन अनन्त दुःखों से मेरा झुटकारा होना असम्भव है। दुःखों से सदा सर्वदा के लिये विमुक्त होने हेतु मैं भावशुद्धि एवं तपश्चरणादि द्वारा कर्मों की निर्जरा करने का पूरा प्रयास करूँगा। इस प्रकार की भावना भाने का नाम है नवी भावना “निर्जरा भावना।”

१०. लोक-स्वरूप भावना—अनन्त अलोकाकाश के मध्यभाग में अवस्थित यह लोक सभी ओर से क्रमशः घनोदधि, घनवात और तनवात नामक तीन प्रकार की वायु के वलयों से वेष्टित एवं इन्हीं तीन प्रकार की वायु के आघार पर अवस्थित है।

### लोक का स्वरूप

सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई चौदह राजू प्रमाण है। लोक का आकार दोनों पैरों को फैला कर कमर पर हाथ रख कर खड़े पुरुष के आकार के समान है। सम्पूर्ण लोक मुख्यतः अधोलोक, मध्यलोक (तिरछीलोक) और ऊर्ध्वलोक इन तीन विभागों में विभक्त किया जाता है। अधोलोक के सबसे निचले भाग की चौड़ाई (विस्तार) देशोन सात राजू परिमाण का है। इससे ऊपर इसका विस्तार अनुक्रमशः घटते-घटते कमर के भाग अर्थात् मध्य भाग में एक राजू रह गया है। मध्य भाग से ऊपर इसका विस्तार क्रमशः बढ़ते-बढ़ते दोनों हाथों की कुहनियों के स्थान पर पांच राजू परिमाण का है। दोनों कुहनियों के ऊपर पुनः अनुक्रमशः घटते-घटते मस्तक के स्थान अर्थात् लोक के अग्र भाग पर इसका विस्तार एक राजू परिमाण रह गया है।

### अधोलोक

अधोलोक की ऊँचाई सात राजू से कुछ अधिक है। अधोलोक का आकार पर्यंक अथवा वेत्रासन के समान है। इस वेत्रासनाकार अधोलोक में मध्यलोक के नीचे क्रमशः रत्नप्रभा आदि गोत्र वाली घम्मा, वंशा, शिला, अंजना, अरिष्टा, मधा और माधवई—ये ७ पृथ्वियां हैं। इन सातों पृथ्वियों में पहली पृथ्वी घम्मा (रत्नप्रभा गोत्र) की मोटाई १ लाख ८० हजार योजन, दूसरी शर्करा प्रभा की १ लाख ३२ हजार योजन, तीसरी बालुकाप्रभा की एक लाख २८ हजार योजन, चौथी पंकप्रभा पृथ्वी की मोटाई १ लाख २४ हजार योजन, पाँचवीं धूम्रप्रभा पृथ्वी की मोटाई १ लाख २० हजार योजन, छठी तमः प्रभा

पृथ्वी की मोटाई १ लाख १६ हजार योजन और सातवीं महातमः प्रभा पृथ्वी की मोटाई १ लाख ८ हजार योजन है। ये सातों पृथ्वियां अपने से पहली पृथ्वी से अनुक्रमशः असंख्यात हजार योजन नीचे हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी की १ लाख ८० हजार योजन की कुल मोटाई में से १ हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे की मोटाई को छोड़ शेष १ लाख ७८ हजार योजन के बीच के क्षेत्र के ऊपरी भाग में व्यन्तर एवं भवनपति देवों के निवास हैं और नीचे के भाग में नारकों के नरकावास हैं।

इन सातों पृथ्वियों में अनुक्रमशः १३, ११, ९, ७, ५, ३, १—यों कुल मिला कर ४९ पाथड़े हैं। इस प्रकार ४९ पाथड़ों में विभक्त उपरिलिखित ७ पृथ्वियों में अनुक्रमशः ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, ३ लाख, ९९९९५ और ५—यों कुल मिला कर ८४ लाख नरकावास हैं, जहां अनेक प्रकार के घोर पाप करने वाले महादम्भी जीव नारकीय के रूप में उत्पन्न होते हैं। उन नरकावासों में सदा-सर्वकाल असंख्यात नारकीय जीव क्षेत्रजन्य, परस्परजन्य असंख्यात प्रकार के परम दुस्सह अति दारुण दुःख असंख्यात काल तक भोगते हैं। उन नारकीय जीवों को अपने असंख्यात काल के लम्बे जीवन में केवल घोर दुःख ही दुःख हैं। कभी पलक भ्रपकने जितने समय के लिये भी उन्हें चैन नहीं मिलता। नारक भूमियों के कण-कण में नारकीय जीवों के अंग-प्रत्यंग और रोम-रोम में इतनी भयंकर दुस्सह दुर्गन्ध भरी हुई है कि उसकी उपमा देने के लिये तिर्छालोक में कोई वस्तु नहीं। वहां की वायु मध्यलोक की भीषण से भीषण भट्टी की आग की अपेक्षा असंख्यात गुना अधिक तापकारिणी है। नरक की वैतरणी का जल यहां के तेज से तेज तेजाब की अपेक्षा अत्यधिक दाहक होता है, जिससे नारकीयों के शरीर फट जाते हैं। वहां के असिपत्र वृक्षों के पत्तों से नारक जीवों के शरीर, अंग-प्रत्यंग कट जाते हैं। क्रूरकर्मा नारक जीव एक दूसरे को तलवारों से काटते, करवत से चीरते, कुल्हाड़े से छिन्न-भिन्न करते, बसोले से छीलते, भालों से बीधते, सूली पर लटकाते, भाड़ में भूनते और खोलते हुए तैल से भरी कड़ाही में तलते हैं। वे नारक जीव सिंह, व्याघ्र गीध आदि का रूप बना परस्पर लड़ते, कराल दंष्ट्रालों से चीर-फाड़ करते, वज्रमयी चोंचों से एक दूसरे की आंखें, आंतें निकाल-निकाल कर एक-दूसरे को घोर यातनाएं पहुंचाते हैं। छेदन-भेदन से उन्हें दुस्सह पीड़ा होती है पर पारद के बिखरे कणों के समान उनके कटे हुए अंग-प्रत्यंग पुनः जुड़ जाते हैं। इन पीड़ाओं से वे मरते नहीं, आयु पूर्ण होने पर ही मरते हैं। तीसरी नरक तक परमाधामी असुर वहां के नारकियों को परस्पर उकसाते, लड़ाते और दारुण दुःख देते हैं। इन सात नारक भूमियों में असंख्यात काल

पर्यन्त नारकीय जीव जो घोर दुःख भोगते हैं, उन दुःखों का पूरा वर्णन किया जाना जिह्वा अथवा लेखनी द्वारा सम्भव नहीं।<sup>१</sup>

### मध्यलोक

मध्यलोक (तिर्छालोक) का आकार भालर के समान गोल है। मध्यलोक की ऊँचाई ६०० योजन ऊपर और ६०० योजन नीचे—इस प्रकार कुल मिला कर १८०० योजन है। मध्यलोक के बीच में एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीप के चारों ओर दो लाख योजन विस्तार वाला बलयाकार लवण समुद्र, उसके चारों ओर चार लाख योजन विस्तार का घातकी खण्ड द्वीप, उसके चारों ओर ८ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। कालोदधि समुद्र के चारों ओर बलयाकार सोलह लाख योजन वाला पुष्करद्वीप है। पुष्कर द्वीप के बीच में, इस द्वीप को बराबर दो भागों में विभक्त करने वाला गोलाकार मानुषोत्तर पर्वत है। पुष्कर द्वीप से आगे उत्तरोत्तर द्विगुणित आकार वाले अनुक्रमशः पुष्करोद समुद्र, बरुणवर द्वीप आदि असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। इन सब के अन्त में असंख्यात योजन विस्तार वाला स्वयंभूरमण समुद्र है। मनुष्य केवल जम्बूद्वीप, घातकी खण्ड द्वीप और पुष्करार्ध द्वीप में मानुषोत्तर पर्वत की परिधि के अन्तर्वर्ती क्षेत्र में ही रहते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के आगे मनुष्य नहीं रहते, केवल तिर्यंच पशु-पक्षी आदि ही रहते हैं। तिर्छालोक के मध्यभाग में जम्बूद्वीप है और जम्बूद्वीप के मध्यभाग में मेरु पर्वत है, जो मूल में १० हजार योजन विस्तार वाला और एक लाख योजन ऊँचा है। मेरु पर्वत की दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा में पूर्व से पश्चिम तक लम्बाई वाले हिमवन्त, महाहिमवन्त, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी नामक ६ वर्षधर पर्वत तथा भरत, हेमवत, हरि देवकुरु (मेरु के दक्षिण में), पूर्व महाविदेह, पश्चिम महा विदेह (मेरु के पूर्व में पूर्व महाविदेह और पश्चिम में पश्चिम महाविदेह), उत्तरकुरु (मेरु के उत्तर में), रम्यक, हेरण्यवत और शिखरी पर्वत के उत्तर में ऐरवत—ये १० क्षेत्र हैं। इन दस क्षेत्रों में से पूर्व तथा पश्चिम दोनों महाविदेह, भरत और ऐरवत ये क्षेत्र कर्मभूमियां हैं और शेष सब अकर्म भूमियां अर्थात् भोग भूमियां। कर्म भूमियों के मनुष्य असि, मसि, कृषि आदि कर्मों से अपनी आजीविका चलाते हैं और यहां के मनुष्य एवं तिर्यंच स्वयं द्वारा किये गये पाप अथवा पुण्य के अनुसार मृत्यु के पश्चात्, देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नरक इन चारों गतियों में उत्पन्न होते हैं। महाविदेह, भरत और ऐरवत क्षेत्रों के मनुष्य ही कठोर आध्यात्मिक साधना द्वारा आठों कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। घातकी खण्ड द्वीप तथा पुष्करार्ध द्वीप—इन दोनों में से प्रत्येक द्वीप

१ अञ्छिणिमीलियमेत्तं, एत्थि सुहं दुक्खमेव अणुवं एरण्ण एरेइयावं, अहोणिसि पक्खमा एणं ॥



में इन भोग भूमियों और कर्म भूमियों की संख्या जम्बूद्वीप की इन भूमियों की अपेक्षा दुगुनी-दुगुनी है। इस प्रकार ढाई द्वीप में कुल मिला कर १५ कर्म भूमियां हैं। पांच महाविदेह क्षेत्रों में काल सदा-सर्वदा अवस्थित अर्थात् एक सा रहता है। वहां सदा दुःखम्-सुखम् नामक चतुर्थ आरक जैसी स्थिति रहती है। पांच भरत और पांच ऐरवत इन १० कर्म भूमियों में अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणीकाल के रूप में कालचक्र चलता रहता है। पूर्ण कालचक्र २० कोटाकोटि सागरोपम काल का होता है, जिसमें दश कोटाकोटि सागरोपम का अवसर्पिणी काल और दश कोटाकोटि सागरोपम का ही उत्सर्पिणी काल होता है। अवसर्पिणी काल में ४ कोटाकोटि सागरोपम का सुखमासुखम् नामक प्रथम आरक, ३ कोटाकोटि सागरोपम का सुखम् नामक द्वितीय आरक, २ कोटाकोटि सागरोपम का सुखम्-दुःखम् नामक तीसरा आरक, ४२ हजार वर्ष कम एक सागर का दुःखम्-सुखम् नामक चतुर्थ आरक, २१ हजार वर्ष का दुःखम् नामक पंचम आरक और २१ हजार वर्ष का ही दुःखमा-दुःखम् नामक छठा आरक—ये छः आरक होते हैं। दश कोटाकोटि सागरावधि के उत्सर्पिणी काल में ये ही छः आरक उल्टे क्रम से होते हैं। जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में जघन्य (कम से कम) ४ तीर्थकर, घातकी खण्ड द्वीप के दोनों महाविदेह क्षेत्रों में ८ और पुष्करार्द्ध द्वीप के दोनों महाविदेह क्षेत्रों में ८, इस प्रकार ढाई द्वीप में कुल मिला कर जघन्य २० तिहरभान तीर्थकर समकालीन अवश्यमेव सदा ही विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक महाविदेह क्षेत्र में बत्तीस-बत्तीस विजय हैं। इस प्रकार ढाई द्वीप के पांचों महाविदेह क्षेत्रों के विजयों की संख्या कुल मिला कर १६० है। जिस समय इन सभी विजयों में एक-एक तीर्थकर होते हैं उस समय केवल पंच महाविदेह क्षेत्रों में तीर्थकरों की संख्या १६० हो जाती है। तीर्थकरों की यह संख्या जिस समय ढाई द्वीप के पांच भरत और पांच ऐरवत क्षेत्रों में अवसर्पिणी काल के तृतीय आरक के अन्तिम भाग एवं चतुर्थ आरक में तथा उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरक में तथा चतुर्थ आरक के प्रारम्भिक काल में इन दशों क्षेत्रों की दशों चौबीसियों के अनुक्रमशः प्रथम से ले कर चौबीसवें तीर्थकर उत्पन्न होते हैं, उस समय ढाई द्वीप की इन १५ कर्मभूमियों में तीर्थकरों की उत्कृष्ट संख्या समकाल में १७० हो जाती है। इस दृष्टि से ढाई द्वीप में एक ही समय में तीर्थकरों की जघन्य संख्या २० और उत्कृष्ट संख्या १७० मानी गयी है।

ढाई द्वीप में जो भोग भूमियां हैं, उनमें से देवकुरु एवं उत्तरकुरु में सदा सर्वदा सुखम्-सुखम् नामक प्रथम आरक जैसी, हरिवर्ष एवं रम्यकवर्ष क्षेत्रों में सुखम् नामक द्वितीय आरक जैसी तथा हेमवत एवं हिरण्यवत् क्षेत्रों में सदाकाल सुखम्-दुःखम् नामक तृतीय आरक जैसी स्थिति रहती है।

कर्म भूमि और अकर्म भूमि के इन मनुष्य क्षेत्रों के अतिरिक्त ५६ अन्तर्दीपों में भी मनुष्य रहते हैं। चुल्ल हिमवन्त और शिखरी पर्वत इन दोनों पर्वतों

के नैऋत्य आदि चारों कोणों में जो दाढ़ें हैं, उनमें से प्रत्येक दाढ़ पर सात-सात अन्तर्द्वीप हैं। इस प्रकार इन दोनों पर्वतों की आठ दाढ़ों पर कुल मिला कर ५६ अन्तर्द्वीप हैं। इन दोनों पर्वतों के पहले ८ अन्तर्द्वीप इन पर्वतों की जगती से तीन सौ योजन दूर लवण समुद्र में हैं। प्रथम अष्टक से ४०० योजन आगे दूसरा अन्तर्द्वीपाष्टक, उससे आगे ५०० योजन पर तीसरा, तीसरे से ६०० योजन आगे चौथा, उससे ७०० योजन आगे पाँचवाँ, उससे ८०० योजन आगे छठा और छठे अष्टक से ९०० योजन आगे इन ५६ अन्तर्द्वीपों का सातवाँ अर्थात् अन्तिम अष्टक है। इन छप्पन अन्तर्द्वीपों के मनुष्य तथा तिर्यच यौगलिक होते हैं और कल्पवृक्षां से अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इन ५६ अन्तर्द्वीपों में सदा-सर्वदा सुखम्-दुःखम् नामक तृतीय आरक के उत्तरार्द्ध जैसी स्थिति रहती है। इन अन्तर्द्वीपों के मनुष्यों का देहमान ८०० धनुष और स्त्रियों का देहमान ८०० धनुष से कुछ कम होता है। इनके शरीर में ६४ पसलियाँ होती हैं और ये यौगलिक अपने संतति युगल का ७६ दिवस तक पालन करने के पश्चात् काल कर भवनपति अथवा वाणव्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं।

मध्यलोक की ऊँचाई जम्बूद्वीप के समतल भाग से ९०० योजन ऊपर तक है। मध्यलोक के इस उपरितन भाग में अर्थात् ७६० योजन की ऊँचाई से ९०० योजन की ऊँचाई तक ज्योतिर्मण्डल अथवा ज्योतिषी लोक है। ११० योजन की ऊँचाई वाले इस ज्योतिर्लोक में चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारक ये पाँच प्रकार के ज्योतिषी देवों के विमान हैं। इस ज्योतिषी लोक का विस्तार लोक की चारों दिशाओं एवं चारों विदिशाओं में मेरु पर्वत के चारों ओर ११२१ योजन छोड़कर लोक के अन्तिम समुद्र स्वयम्भूरमण समुद्र के अन्तिम कूल से ११२१ योजन पहले तक है। ९०० योजन की ऊँचाई और स्वयम्भूरमण समुद्र के अन्तिम तट से ११२१ योजन पूर्व तक विस्तार वाले इस मध्यलोक के आकाश में ७६० योजन की ऊँचाई पर सर्व प्रथम तारों के विमान हैं। तारों से १० योजन ऊपर सूर्य के, सूर्य से ८० योजन की ऊँचाई पर चन्द्र के, चन्द्र से ४ योजन ऊपर नक्षत्रों के, नक्षत्रों से चार योजन ऊपर बुध के, बुध से ३ योजन ऊपर शुक्र के, शुक्र से ३ योजन ऊपर बृहस्पति के, उससे ३ योजन ऊपर मंगल के, मंगल से ३ योजन ऊपर शनि के विमान हैं। पाँच जाति के ज्योतिषी देवों के केवल ढाई द्वीपवर्ती विमान ही गतिशील हैं। ढाई द्वीप से बाहर शेष असंख्य योजन विस्तृत क्षेत्र के असंख्य ज्योतिषी विमान गतिशील नहीं, अपितु स्थिर हैं।

### ऊर्ध्व लोक

समतल भूमि से ९०० योजन तक की ऊँचाई वाले मध्यलोक से ऊपर सात राजू से कुछ अधिक ऊँचाई वाले ऊर्ध्वलोक में बारह देवलोक, ९ भ्रूवेयक और ५ अनुत्तर विमान हैं। बारह देवलोकों में कल्पवासी देव रहते हैं। इन

देवों के इन्द्र, सामानिक, त्रायविंश, पारिषद, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोगिक और कित्खिषी ये दश विभाग होते हैं । इसी कारण इन बारह देवलोकों को १२ कल्प के नाम से भी अभिहित किया जाता है । केवल पहले के दो देवलोकों में ही देवियां उत्पन्न होती हैं शेष में नहीं । प्रथम और द्वितीय कल्प में उत्पन्न होने वाली देवियां दो प्रकार की होती हैं— एक तो परिग्रहीता और दूसरी अपरिग्रहीता । अपरिग्रहीता देवियां ऊपर के आठवें स्वर्ग तक जाती हैं । प्रथम और दूसरे स्वर्ग की परिग्रहीता देवियां परिणीता कुलीन मानव स्त्रियों के समान अपने-अपने दाम्पत्य जीवन में उन्हीं देवों के साथ दाम्पत्य जीवन का सुखोपभोग करती हैं, जिन देवों की वे परिग्रहीता देवियां हैं । प्रथम और दूसरे स्वर्ग के देव परिग्रहीता और कतिपय अपरिग्रहीता दोनों प्रकार की देवियों के साथ विषय सुख का रसास्वादन करते हुए काया से इन देवियों का उपभोग करते हैं । अतः प्रथम के इन सौधर्म एवं ईशान दोनों कल्पों के देवों को काय परिचारक देव कहा गया है । तीसरे सनत्कुमार एवं चौथे माहेन्द्र कल्प के देव प्रथम तथा द्वितीय कल्प की अपरिग्रहीता देवियों का स्पर्श मात्र से सेवन करते हैं, अतः तीसरे और चौथे कल्प के देवों को स्पर्श परिचारक देव कहा गया है । पाँचवें ब्रह्मलोक और छठे लान्तक कल्प के देव प्रथम तथा द्वितीय कल्प की अपरिग्रहीता देवियों का रूप मात्र देख कर ही अपनी काम-वासना की तृप्ति कर लेते हैं, अतः पाँचवें और छठे देवलोक के देवों को रूप-परिचारक देव कहा गया है । सातवें सहस्रार और आठवें महाशुक्र कल्प के देव प्रथम एवं द्वितीय कल्प की अपरिग्रहीता देवियों का, उनके शब्दों (गीत-संभाषण) मात्र से सेवन करते हैं, अतः सातवें और आठवें कल्प के देवों को शब्द-परिचारक देव कहा गया है । आनत, प्राणत, आरण और अच्युत—क्रमशः नवें, दशवें, ग्यारहवें और बारहवें—इन चार उपरितन कल्पों के देव अपरिग्रहीता देवियों का मन मात्र से चिन्तन कर अपनी विषय वासना की तृप्ति कर लेते हैं, अतः आनत आदि ऊपर के चारों कल्पों के देवों को मन परिचारक देव कहा गया है ।<sup>१</sup>

जम्बूद्वीप के मध्यवर्ती मेरु पर्वत से दक्षिण की ओर ऊर्ध्वलोक में तारागण, सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्रात्मक ज्योतिषी मण्डल से अनेक कोटानुकोटि योजन ऊपर अर्द्ध चन्द्राकार प्रथम सौधर्म कल्प और मेरु के उत्तरवर्ती ऊर्ध्वलोक में

१ दोसु कप्येसु देवा कायपरियारगा पण्यत्ता तं जहा—सौहर्मे चैव ईसारे चैव । दोसु कप्येसु देवा फासपरियारगा पण्यत्ता तं जहा—सशंकुमारे चैव माहिदे चैव । दोसु कप्येसु देवा रूपपरियारगा पण्यत्ता तं जहा—बन्धलोए चैव संतए चैव । दोसु कप्येसु देवा सहपरियारगा पण्यत्ता तं जहा—महासुबके चैव सहस्रारे चैव ।

(टीका) आनतादिषु चतुर्षु कल्पेषु मनः परिचारका देवा भवन्तीति वक्तव्यम् ।

—स्थानांग. ठाणा २

सौधर्मकल्प के समान ऊँचाई पर ईशान कल्प नामक द्वितीय कल्प संस्थित है। इन दोनों अर्द्ध चन्द्राकार कल्पों का आकार परस्पर मिलाने से वलयाकार बन गया है। सौधर्म कल्प में दक्षिणाद्ध लोकपति शक्र और ईशान कल्प में उत्तरार्द्ध लोकपति ईशानेन्द्र अपने सामानिक, त्रयार्त्रिश, पारिषद, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक आभियोगिक और किल्वषी देवों तथा अग्रमहिषियों एवं विशाल देवी परिवार के साथ रहते हैं।

इन प्रथम दो कल्पों से कोटानुकोटि योजन ऊपर, सौधर्म कल्प के ऊपर अर्द्धचन्द्राकार सनत्कुमार नामक तीसरा कल्प और ईशानकल्प के ऊपर अर्द्धचन्द्राकार माहेन्द्र नामक चौथा कल्प है।

तीसरे और चौथे कल्प से अनेक कोटानुकोटि योजन ऊपर ब्रह्मलोक नामक पाँचवाँ कल्प है। इसमें ब्रह्मेन्द्र नामक इन्द्र अपने विशाल देव परिवार के साथ रहता है। ब्रह्मलोक के अरिष्ट नामक विमान तक जो आठ कृष्ण राजियां आई हुई हैं, उनके आठ अवकाशान्तरों में स्थित अर्चि, अर्चिमाली, वैरोचन, (प्रभंकर, शुभंकर), चन्द्राभ, सुराभ, शुक्राभ, सुप्रतिष्ठाभ और रिष्टाभ नामक आठ लोकांतिक विमानों में क्रमशः सारस्वत, आदित्य, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, आग्नेय और रिष्ट जाति के लोकांतिक देव रहते हैं। ये लोकांतिक देव महाज्ञानी और एक भवावतारी होते हैं। ये लोकांतिक देव तीर्थंकरों द्वारा दीक्षा ग्रहण करने का विचार किये जाने पर अपने जीताचार के अनुसार उन्हें दीक्षार्थ प्रार्थना करने उनकी सेवा में उपस्थित होते हैं। ये लोकांतिक देवों के विमान जिन आठ कृष्णराजियों के अवकाशान्तरालों में अवस्थित हैं, वे कृष्णराजियां एक प्रदेश की श्रेणी वाली तमस्काय हैं। निर्द्धालोक में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के पश्चात् जो अरुणोदय समुद्र है उससे पहले के अरुणवरद्वीप की वेदिका के बहिरंग भाग से ४२ लाख योजन दूर अरुणोदय सागर के पानी के ऊपर के भाग से तमस्काय का प्रारम्भ हुआ है। अरुणोदय सागर के जल से १७२१ योजन ऊपर उठ कर ऊपर की ओर उत्तरोत्तर फैलती हुई ये अष्ट कृष्णराजियां ब्रह्मकल्प नामक पाँचवें देवलोक के रिष्ट विमान तक पहुँच कर पूर्ण हुई हैं।

ब्रह्मलोक नामक पाँचवें कल्प के अनेक कोटानुकोटि योजन ऊपर छठा लान्तक नामक कल्प, उससे अनेक कोटानुकोटि योजन ऊपर सातवाँ सहस्रार नामक कल्प और उससे कोटानुकोटि योजन ऊपर महाशुक्र नामक आठवाँ कल्प है। इन कल्पों में से प्रत्येक कल्प में एक-एक इन्द्र है, जो इन कल्पों के देवों का स्वामी है।

महाशुक्र नामक आठवें कल्प के अनेक कोटानुकोटि योजन ऊपर आनत और प्राणत नामक नवें और दशवें कल्प हैं। इन दोनों स्वर्गों का स्वामी आनत-

प्राणतेन्द्र प्राणत नामक स्वर्ग में रहता है। ये दोनों कल्प सौधर्म और ईशान कल्प के समान समभाग ऊँचाई पर अवस्थित हैं। इन दोनों में से प्रत्येक का आकार अर्द्धचन्द्र के समान और दोनों को मिला कर वलयकार है। आनत एवं प्राणत कल्पों से अनेक कोटानुकोटि योजन ऊपर आरारण नामक ११वां और अच्युत नामक १२वां स्वर्ग है। ये दोनों कल्प भी अर्द्धचन्द्राकार हैं और दोनों अर्द्धचन्द्राकारों को मिला कर इन दोनों का सम्मिलित आकार वलय के तुल्य बन गया है। इन दोनों कल्पों का स्वामी भी एक ही इन्द्र है जिसे अच्युतेन्द्र के नाम से अभिहित किया जाता है।

आरारण एवं अच्युत कल्प से अनेक कोटानुकोटि योजन ऊपर लोक के ग्रीवा स्थान में भद्र, सुभद्र, सुजात, सौमनस, प्रियदर्शन, सुदर्शन, अमोह (अमोघ), सुप्रबुद्ध और यशोधर नामक ६ ग्रैवेयक विमानप्रस्तर हैं। नौ ग्रैवेयकों के निवासी सभी देव कल्पातीत अर्थात् अहमिन्द्र हैं।

नौ ग्रैवेयक विमान प्रस्तरों से बहुत ऊपर पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्व—इन पांच दिशाओं में विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध नामक पांच अनुत्तर महाविमान हैं। इन पांचों अनुत्तर महाविमानों के देवों की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम होती है और वे सभी देव अहमिन्द्र-कल्पातीत, सम्यग्दृष्टि और एक भवावतारी होते हैं। प्रथम कल्प से लेकर अनुत्तर विमान तक के देवों के बल, वीर्य, अज, तेज, ऋद्धि, कान्ति, ऐश्वर्य, आयु आदि में उत्तरोत्तर अधिकाधिक वृद्धि होती गई है।

सर्वार्थसिद्ध विमान से १२ योजन ऊँचाई पर मनुष्यलोक के ठीक ऊपर ऊर्ध्व लोक के अन्त में पैंतालीस लाख योजन, विस्तार वाली गोलाकार ईषत्प्राग्भारा नाम की पृथ्वी है। यह पृथ्वी मध्यभाग में ८ योजन मोटी और चारों ओर अनुक्रमशः घटते-घटते अन्त में मक्षिका की पंखुड़ी से भी पतली रह गई है। इसका आकार चांदी के छत्र के समान है। उस ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी की परिधि १,४२,३०,२४६ योजन है। इस पृथ्वी का सम्पूर्ण भूमिभाग अनुपम एवं लोक के समस्त शेष भाग की अपेक्षा परम रमणीय है। स्थानांग सूत्र में इस पृथ्वी के ईषत्, ईषत्प्राग्भारा, तन्वी, तन्वीतन्वीतरा, सिद्धि, सिद्धालया, मुक्ति और मुक्तालया ये आठ नाम और प्रज्ञापना सूत्र में इन आठ नामों के अतिरिक्त लोकाग्र, लोकाग्रस्तूपिका, लोकाग्रप्रतिवाहिनी और सर्वप्राणि-भूत-जीव-सत्व-सुखावहा ये १२ नाम बताये गये हैं। संसार में परिभ्रमण कराने वाले आठों कर्मों को समूल नष्ट कर जन्म-जरा मृत्यु से विमुक्त आत्माएं सिद्धगति को प्राप्त कर इस सिद्धि, सिद्धालया, मुक्ति अथवा मुक्तालया नाम की ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी पर निवास करतीं और अनन्तकाल तक अनन्त, अक्षय अव्याबाध निरुपम सुख का उपभोग करती हैं। इस सिद्धालय में पहुंचने के पश्चात् कोई आत्मा पुनः

कभी संसार में नहीं लौटता। सिद्धों को जो अनन्त, अक्षय-अव्याबाध सुख प्राप्त है, उसको प्रकट करने के लिए संसार में कोई उपमा तक नहीं है। त्रिकालवर्ती सब मनुष्यों एवं सब देवों के सम्पूर्ण सुखों को यदि एकत्रित किया जाय तो वे देव-मनुष्यों के सब सुख सिद्धात्मा के सुख के अनन्तानन्तवें भाग की तुलना में भी नगण्य ही ठहरेंगे। यदि सिद्धों के सुख को पुंजीभूत किया जाय तो उसको समाने में सम्पूर्ण आकाश भी अपर्याप्त ही रहेगा। मुक्ति को छोड़ शेष समग्र लोक असंख्य प्रकार के दारुण दुःखों से ओतप्रोत है। संसारी जीव अनादि काल से चौरासी लाख योनियों में भटकते हुए घोरतिघोर दुस्सह दुःख भोगते चले आ रहे हैं और जब तक कोई भी जीव आठों कर्मों को नष्ट कर मुक्ति प्राप्त नहीं कर लेगा तब तक अनन्त काल तक भवाटवी में भटकता हुआ घोरतिघोर दुस्सह, दारुण दुःख भोगता ही रहेगा।

इस प्रकार तीनों लोक के स्वरूप का चिन्तन करते हुए प्रत्येक सुखाभिलाषी प्राणी को समस्त दुःखों का सदा सर्वदा के लिए अन्त करने और भव-भ्रमण से छुटकारा पाने हेतु आठों कर्मों के निर्मूलन एवं मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रतिपल, प्रतिक्षण प्राणपण से प्रयत्न करते रहना चाहिये। यह है लोकस्वरूप भावना नाम की दशवीं भावना।

११. बोधिदुर्लभ भावना—संसार में बोधि वस्तुतः परम दुर्लभ है। बोधि का अर्थ है—सम्यक् ज्ञान, परमार्थ का ज्ञान, वास्तविक ज्ञान, सम्यक्त्व प्राप्ति अथवा सब प्रकार के दुःखों का अन्त करने वाले जिनप्रणीत धर्म का बोध। जितने भी जीव सिद्ध हुए, जितने जीव सिद्ध हो रहे हैं, और जितने भी जीव भविष्य में सिद्ध होंगे, उनकी मुक्ति में मूलभूत कारण बोधि के होने से वह सब बोधि का ही प्रताप माना गया है। बिना बोधि अर्थात् बिना परमार्थ के ज्ञान के न कभी किसी जीव ने मुक्ति प्राप्त की है और न भविष्य में ही प्राप्त कर सकेगा। इसीलिए शास्त्रों में बोधि को दुर्लभ कहा गया है।

संसारी प्राणी अनादि काल से निगोद, स्थावर, त्रस-नर, नारक, तिर्यंच, देवादि चौरासी लाख योनियों में भटकते चले आ रहे हैं। एक-एक निगोद शरीर में अनन्त जीव हैं और उनकी संख्या भूतकाल में जितने सिद्ध हुए हैं, उनसे अनन्तानन्त गुनी अधिक है। अनन्त काल तक निगोद में निवास करने के पश्चात् बड़ी कठिनाई से पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावर काय में आता है। सम्पूर्ण लोक बादर-सूक्ष्म निगोद जीवों के देहों से एवं पृथ्वीकायादिपंच स्थावरों से भरा पड़ा है। जिस प्रकार अथाह सागर में गिरी हीरे की छोटी से छोटी कणिका को खोज निकालना अति दुष्कर है, उसी प्रकार अनन्त काल तक निगोद में भटकने के पश्चात् भी पंच स्थावर योनियों में आना स्थावर योनियों से द्वीन्द्रिय योनि में, द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय में, त्रीन्द्रिय से चत्वरिन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय में, असंज्ञी

पंचेन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय योनियों में उत्पन्न होना अत्यन्त दुष्कर है। संज्ञी पंचेन्द्रिय हो कर भी यदि वह अशुभ लेश्या का धारक और रौद्र परिणाम वाला होता है तो पुनः नरक, तिर्यंच, स्थावर आदि योनियों में दीर्घ काल तक दारुण दुःखों का भागी बनता है। इस प्रकार मानव-भव मिलना बहुत कठिन है। पुण्य के प्रताप से मानव-भव भी मिल जाय तो आर्य क्षेत्र में एवं उत्तम कुल में उत्पन्न होना बड़ा कठिन है। आर्य क्षेत्र एवं उत्तम कुल में उत्पन्न हो जाने के उपरान्त भी सर्वांगपूर्ण सुदृढ़ स्वस्थ शरीर एवं दीर्घायु के साथ सत्संगति का पाना दुर्लभ है। सत्संगति मिल जाने पर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य का पाना बड़ा कठिन है। सम्यक्चारित्र्य को अंगीकार कर लेने के उपरान्त भी जीवन भर उसका सुचारुरूपेण निर्वहन करते हुए समाधि-मरण प्राप्त करना बड़ा दुर्लभ है। मुक्ति वस्तुतः मानव शरीर से ही प्राप्त की जा सकती है। मानव शरीर प्राप्त किये बिना रत्नत्रय का आराधन, जन्म-मरण के बीजभूत कर्मों को निर्मूल करने की क्षमता एवं निर्वाण का प्राप्त करना असम्भव है। अतः प्रत्येक मुमुक्षु मानव को अहर्निश इस प्रकार का चिन्तन करना--इस प्रकार की भावना भाना चाहिये कि जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य के प्रताप से मानव भव के साथ-साथ जो आर्य क्षेत्र एवं उत्तम कुल में जन्म, सत्संग तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का सुयोग मिला है, इसका मुझे पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिये। विषय-कषायों एवं क्षण विध्वंसी सांसारिक भोगोपभोगों को तिलांजलि दे समस्त कर्मों के निर्मूलन और अक्षय-अव्याबाध-अनन्त सुखधाम मुक्ति की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिये।

इस प्रकार की भावना का नाम है बोधि दुर्लभ नामक ग्यारहवीं भावना।

१२. धर्म भावना—जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु, ताड़न-तर्जन, छेदन-भेदन, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि असंख्य प्रकार के दारुण दुःखों से ओतप्रोत संसार-सागर में निमग्न प्राणिवर्ग के लिए एक मात्र वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत धर्म ही त्राण, सहारा अथवा सच्चा सखा है। वस्तुतः केवली-प्रणीत धर्म अनाथों का नाथ, निर्धनों का धन, असहायों का सहायक, निर्बलों का बल, अशरण्यों का शरण्य, छोटी-बड़ी सभी प्रकार की व्याधियों की एक मात्र औषध, त्रिविध ताप-संताप-पाप-कलुषकल्मष संहारकारी परमामृत है। बारह प्रकार के श्रावकधर्म और दश प्रकार के यतिधर्म को मिला कर धर्म मुख्य रूप से बाईस प्रकार का है। सम्यक्त्व मूलक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—यह श्रावक का बारह प्रकार का धर्म है। क्षांति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिंचन और ब्रह्मचर्य यह दश प्रकार का अणुगार धर्म अर्थात् यतिधर्म है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, प्रतिवासुदेव, देव, देवेन्द्र, नरेन्द्र आदि पद तथा जितने भी सांसारिक ऐश्वर्य, वैभव, सुखसाधन भोगोपभोग आदि प्राणि को प्राप्त होते हैं, वे सब धर्म के प्रताप से ही प्राप्त होते हैं। दशविध

अणुगारधर्म के सम्यगाराधन से ही प्राणी सब प्रकार के मूल बीजभूत आठों कर्मों को मूलतः नष्ट कर अजरामर, अक्षय, अव्याबाध अनन्त शाश्वत सुखधाम मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। अतः प्रत्येक शाश्वत सुखाभिलाषी मुमुक्षु को सदा सर्वदा केवली प्रणीत धर्म का आराधन करने में अर्हनिश निरत रहना चाहिये। यह धर्मभावना नाम की बारहवीं भावना है।

जो मुमुक्षु इन बारह भावनाओं में से किसी एक भावना का भी विशुद्ध मन से पुनः पुनः उत्कट चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करता है, वह सुनिश्चित रूप से शीघ्र ही शाश्वत शिवसुख का अधिकारी हो जाता है।

आचार्य विनयानन्द के मुखारविन्द से धर्म के वास्तविक स्वरूप को सुन कर राजकुमार पुरुषसिंह के अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो गये। उसे संसार विषय कषायों की जाज्वल्यमान ज्वालाओं से संकुल अति विशाल भीषण भट्टी के समान महा तापसंतापकारी एवं सर्वस्व को भस्मसात् कर देने वाला प्रतीत होने लगा। राजकुमार पुरुषसिंह ने हाथ जोड़ मस्तक झुकाते हुए आचार्य विनयानन्द से निवेदन किया—“भगवन् ! आपने धर्म का जो सुन्दर स्वरूप बताया है, उससे मेरे घट के पट खुल गये हैं। भवसागर की भयावहता से मैं भयभीत हो रहा हूँ। मुझे संसार से विरक्ति हो गई है। मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि सर्वात्मना-सर्वभावेन आपके चरणों पर अपना जीवन समर्पित कर सब दुःखों का अन्त एवं अक्षय अनन्त शाश्वत सुख प्रदान करने वाले धर्म का आराधन करूँ। मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि आप मुझे श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान कर अपने चरणों की शीतल छाया में शरणा दें।”

आचार्य विनयानन्द ने कहा—“सौम्य ! तुम्हारा संकल्प अत्युत्तम है। माता-पिता आदि गुरुजनों से परामर्श पूर्वक आज्ञा प्राप्त कर तुम श्रमण धर्म में दीक्षित हो सकते हो।”

राजकुमार पुरुषसिंह ने तत्काल अपने माता-पिता के पास उपस्थित हो उनके समक्ष अपना अटल निश्चय रखा और उनसे अनुमति ले आचार्य विनयानन्द के पास श्रमण धर्म में दीक्षित हो गया। श्रमणधर्म अंगीकार करने के पश्चात् अणुगार पुरुषसिंह ने गुरुचरणों में बैठ कर बड़ी निष्ठा से आगमों का अध्ययन किया और उनमें निष्णातता प्राप्त की। मुनि पुरुषसिंह ने सुदीर्घ काल तक निरतिचार संयम का पालन करते हुए तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कराने वाले बीस बोलों में से कतिपय बोलों को उत्कट आराधना कर तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया और अन्त में समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर वह वैजयन्त नामक अनुत्तर विमान में ३३ सागरोपम की आयुष्य वाले महद्दिक अहमिन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ।



### जन्म

वैजयन्त विमान की स्थिति पूर्ण हो जाने पर श्रावण शुक्ला द्वितीया को मघा नक्षत्र में पुरुषसिंह का जीव वैजयन्त विमान से च्युत हुआ और अयोध्यापति महाराज मेघ की रानी मंगलावती के गर्भ में आया। तत्पश्चात् माता मंगलावती गर्भ-सूचक चौदह शुभ स्वप्न देखकर परम प्रसन्न हुई। गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख शुक्ला अष्टमी को मध्य रात्रि के समय मघा नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया।

पुण्यशाली पुरुषों का जन्म किसी खास कुल या जाति के लिए नहीं होता। वे तो विश्व के लिए उत्पन्न होते हैं अतः उनकी खुशी और प्रसन्नता भी सारे संसार को होती है। फिर जन्म की नगरी में इस जन्म से आनन्द और हर्ष का अतिरेक होना स्वाभाविक ही था।

महाराज मेघ ने जन्मोत्सव की खुशी में दश दिनों तक नागर-जनों के आमोद-प्रमोद के लिए सारी सुविधाएं प्रदान कीं।

### नामकरण

बारहवें दिन नामकरण के लिए स्वजन एवं बान्धवों को एकत्र कर महाराज मेघ ने कहा—“बालक के गर्भ में रहते समय इसकी माता ने बड़ी-बड़ी उलझी हुई समस्याओं का भी अनायास ही अपनी सन्मति से हल ढूँढ़ निकाला, अतः इसका नाम सुमतिनाथ रखना ठीक जंचता है।”

सबके पूछने पर महाराज ने रानी की सन्मति के उदाहरणस्वरूप निम्न घटना सबके सामने रखी।

एक बार किसी सेठ की दो पत्नियों में अपने एक शिशु को लेकर कलह उत्पन्न हो गया। सेठ व्यवसाय के प्रसंग में शिशु को दोनों माताओं की देख-रेख में छोड़कर देशान्तर गया हुआ था। वहाँ उसकी मृत्यु हो गई। इधर शिशु की विमाता माता से भी बढ़कर बच्चे का लालन-पालन करती थी। आपस में प्रेम की अधिकता से पुत्र की माता लाड़-प्यार के कार्य में सीत को दखल नहीं देती। बालक दोनों को बराबर मानता था, उसके निर्मल और निश्छल मानस में माता और विमाता का भेदभाव नहीं था।

जब सेठ के मरने की सूचना मिली तो विमाता ने पुत्र और धन दोनों पर अपना अधिकार प्रदर्शित किया। बालक की माता भला ऐसे निराधार अधिकार को चुपचाप कैसे सहन कर लेती? फलतः दोनों का विवाद निरायण के लिए राजा मेघ के पास पहुंचा। बच्चे के रंग, रूप और आकार-प्रकार से महाराज किसी

उचित निर्णय पर नहीं पहुंच सके और इसी ऊहापोह में उन्हें भोजन के लिए जाने में देर हो गई।

जब रानी सुमंगला को सुह पता लगा तो वह महाराज के पास आयी और बोली—“स्वामिन् ! आज भोजन में इतनी देर क्यों ?”

जब महाराज ने सारी कथा कह सुनायी तो सुमंगला बोली—“महाराज ! आप भोजन और आराम करें। मैं शीघ्र ही इस समस्या का हल निकाल देती हूँ।”

ऐसा कह कर उसने दोनों सैठानियों को बुलाकर उनकी बातें सुनीं और बोली—“मेरे गर्भ में तीन ज्ञान का धारक अतिशय पुण्यवान् प्राणी है। वह जन्म लेकर तुम्हारे इस विवाद का निर्णय कर देगा, तब तक बच्चे को मेरे पास रहने दो। मैं सब तरह से इसकी देखभाल और लालन-पालन करती रहूंगी।”

इस पर विमाता बोली—“ठीक है, आप इसे अपने पास निर्णय होने तक रखें, मुझे आपकी शर्त स्वीकार है।”

मगर जननी का हृदय अपने प्राणप्रिय पुत्र के इस निरवधि-वियोग के कारण दुःख को कैसे सहन कर लेता ? वह जोरों से चीख उठी—“नहीं, मुझे आपकी वह शर्त स्वीकार नहीं है। मैं अपने नयन-तारे को इतने समय तक अपने से अलग रखना पसन्द नहीं करूँगी। मैं अपने प्राण त्याग सकती हूँ किन्तु पुत्र का क्षणिक त्याग भी मेरे लिये असह्य है।”

रानी सुमंगला ने उसकी बातों से समझ लिया कि पुत्र इस ही का है। क्योंकि कोई भी जननी अपने अंश को परवशता के बिना अपने से अलग रखना स्वीकार नहीं कर सकती। इसी आधार पर उन्होंने धन सहित पुत्र की वास्तविक अधिकारिणी उस ही को माना। इस तरह रानी ने इस विकट समस्या का समाधान अपनी सदबुद्धि से कर दिया।

यह सुन कर उपस्थित जनों ने एक स्वर से कुमार का नाम सुमतिनाथ रखने में अपनी सम्मति दे दी। इस प्रकार कुमार का नाम सुमतिनाथ रखा गया।

### विवाह और राज्य

युवावस्था में प्रविष्ट होने पर महाराज मेघ ने योग्य कन्याओं से उनका पाणिग्रहण कराया। उनतीस लाख पूर्व वर्षों तक राज्य-पद का उपभोग कर जब उन्होंने भोग कर्म को क्षीण हुआ समझा तो संयम धर्म के लिए तत्पर हो गये।

१ गम्भगत भट्टारए माताए दोहूँ सवत्तीणं छम्मासितो ववहारो छिण्णो

एत्थं असोमवर पादवे एस मम पुत्तो महामती छिदिहित्ति, ताए जावत्ति भसित्ताओ, इतरी भणित्ति एवं होतु, पुत्तमाता रोच्छत्तित्ति सातूणं, छिण्णो एतस्स गम्भगतस्स गुणेणित्ति सुमति जातो ॥ आवश्यक चूणि पूर्व भाग, पृ० १०

### दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवों की प्रार्थना से वर्षादान देकर एक हजार राजाओं के साथ आप दीक्षार्थ निकले और वैशाख शुक्ला नवमी के दिन मघा नक्षत्र में सिद्धों को नमस्कार कर प्रभु ने पंचमुष्टिक लोच किया और सर्वथा पापकर्म का त्याग कर मुनि बन गये ।

उस समय आपको षष्टभक्त--दो दिन का निर्जल तप था । दूसरे दिन विहार कर प्रभु विजयपुर पधारे और वहाँ के महाराज पद्म के यहाँ तप का प्रथम पारणा स्वीकार किया ।

### केवलज्ञान व देशना

बीस वर्षों तक विविध प्रकार की तपस्या करते हुए प्रभु छद्मस्थ दशा में विचरे । धर्मध्यान और शुक्लध्यान से बड़ी कर्म निर्जरा की । फिर सहस्राब्द वन में पधार कर ध्यानावस्थित हो गये । शुक्लध्यान की प्रकर्षता से चार घातिक कर्मों के ईन्धन को जला कर चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि की ।

केवलज्ञान की प्राप्ति कर प्रभु ने देव, दानव और मानवों की विशाल सभा में मोक्ष-मार्ग का उपदेश दिया और चतुर्विध संघ की स्थापना कर आप भाव-तीर्थंकर कहलाये ।

### धर्म परिवार

इनके संघ में निम्न परिवार था :-

गणधर	-- एक सौ (१००)
केवली	-- तेरह हजार (१३,०००)
मनः पर्यवज्ञानी	-- दस हजार चार सौ पचास (१०,४५०)
अवधिज्ञानी	-- ग्यारह हजार (११,०००)
चौदह पूर्वधारी	-- दो हजार चार सौ (२,४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	-- अठारह हजार चार सौ (१८,४००)
वादी	-- दस हजार छ सौ पचास (१०,६५०)
साधु	-- तीन लाख बीस हजार (३,२०,०००)
साध्वी	-- पांच लाख तीस हजार (५,३०,०००)
श्रावक	-- दो लाख इक्यासी हजार (२,८१,०००)
श्राविका	-- पांच लाख सोलह हजार (५,१६,०००)

### परिनिर्वाण

चालीस लाख पूर्व की आयु में से प्रभु ने दस लाख पूर्व तक कुमारावस्था, उनतीस लाख ग्यारह पूर्वांग राज्यपद, बारह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक परित्र-पर्याय का पालन किया, फिर अन्त समय निकट जान कर एक मास का प्रनशन किया और चैत्र शुक्ला नवमी को पुनर्वसु नक्षत्र में चार अघाति-कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो निर्वाण-पद प्राप्त किया । □ □

# भगवान् श्री पद्मप्रभ

## पूर्वम्ब

भगवान् सुमतिनाथ के पश्चात् छोटे तीर्थंकर श्री पद्मप्रभ स्वामी हुए । अन्य तीर्थंकरों की तरह आपने भी राजा अपराजित के भव में तीर्थंकर पद की विशिष्ट योग्यता उपाजित की ।

सुसीमा नगरी के महाराज अपराजित ऐसे धर्मपूर्ण व्यवहार वाले थे कि जैसे सदेह धर्म ही हों । इन्हें न्याय ही मित्र, धर्म ही बन्धु और गुण-गमूह ही सच्चा धन प्रतीत होता था । अन्य मित्र, बन्धु और धन आदि बाहरी साधनों में उनकी प्रीति नहीं थी ।

एक दिन भूपति ने सोचा कि ये बाह्य साधन जब तक मुझको नहीं छोड़ें तब तक पुरुषार्थ का बल बढ़ाकर मैं ही इनको त्याग दूँ तो श्रेयस्कर होगा । इस प्रकार विचार करके उन्होंने पिहिताश्रव मुनि के चरणों में संयम ग्रहण कर लिया और अर्हद्-भक्ति आदि स्थानों की आराधना कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपाजन किया ।

अन्त समय में समाधि के साथ आयु पूर्ण कर वे ३१ सागर की परम स्थिति वाले श्रैवेयक देव हुए ।

## जन्म

देव भव की स्थिति पूर्ण कर अपराजित के जीव ने कोशाम्बी नगरी के महाराजा घर के यहां तीर्थंकर रूप में जन्म लिया । वह मात्र कृष्णा षष्ठी के दिन चित्रा नक्षत्र में देवलोक से च्यवन कर माता सुसीमा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । उसी रात्रि को महारानी सुसीमा ने चौदह महाशुभस्वप्न देखे ।

फिर कार्तिक कृष्णा द्वादशी के दिन चित्रा नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया । जन्म के प्रभाव से लोक में सर्वत्र शान्ति और हर्ष की लहर दौड़ गई ।

## नामकरण

गर्भ काल में माता को पद्म (कमल) की शय्या में सोने का दोहद उत्पन्न हुआ और बालक के शरीर की प्रभा पद्म के समान थी, इसलिए इनका नाम पद्मप्रभ रक्खा गया ।<sup>१</sup>

१ "गन्धत्थे य भगवम्मि जणणीए पउमसयणीयम्मि दोहलो आसि' त्तिरेण भगवन् जहत्थमेव पउमप्पभो' त्तिणामं कयं ।" चउप्पन महापुरिस चरियं, पृ० ८३

पपवणं पपचिन्हं, सा देवी सुषुवे सुतं । त्रि. ३।४।३८

पपशय्या दोहदोऽस्मिन् यन्मातुर्गमंनेऽभवत् ।

पपाभन्नेत्यमुं पपप्रभ इत्याह्वयत् पिता । त्रि. ३।४।५१

## विवाह और राज्य

बाल्यकाल पूर्ण कर जब पद्मप्रभ ने यौवन में प्रवेश किया तब महाराजा घर ने योग्य कन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण कराया ।

आठ लाख वर्ष पूर्व कुमार पद में रहकर आपने राज्य-पद ग्रहण किया । इक्कीस लाख वर्ष से अधिक राज्य-पद पर रहकर इन्होंने न्याय-नीति से प्रजा का पालन किया और नीति-धर्म की शिक्षा दी ।

## दीक्षा और पारणा

दीर्घकाल तक राज्य सुख का उपभोग कर जब देखा कि भोगावली कर्म-क्षीण हो गये हैं, तो प्रभु मुक्ति-मार्ग की ओर अग्रसर हुए ।

लोकान्तिक देवों की प्रार्थना से एक वर्ष तक दान देकर प्रभु ने कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन षष्ठभक्त—दो दिन के निर्जल तप से विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की । उस समय राजन्य आदि वर्गों के एक हजार पुरुषों ने आपके संग दीक्षा ग्रहण की ।

दूसरे दिन ब्रह्मस्थल के महाराज सोमदेव के यहाँ प्रभु का पारणा हुआ । देवों द्वारा दान की महिमा हेतु पंच दिव्य बरसाये गये ।

## केवलज्ञान

आप छः मास तक उग्र तपस्या करते हुए छद्मस्थ चर्या में विचरे और फिर विहार क्रम से सहस्रात्र वन में आए । मोह कर्म को तो प्रभु प्रायः क्षीण कर चुके थे । फिर शेष कर्मों की निर्जरा के लिये षष्ठभक्त तप के साथ वट वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित होकर आपने शुक्लध्यान से घातिकर्मों का क्षय किया और चैत्र सुदी पूर्णिमा के दिन चित्रा नक्षत्र में केवलज्ञान प्राप्त किया ।

घाती कर्मों के बन्धन से मुक्त होने के बाद प्रभु ने धर्म-देशना देकर चतुर्विध संघ की स्थापना की एवं आप अनन्त चतुष्टय (अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त वीर्य) के धारक होकर लोकालोक के ज्ञाता, द्रष्टा, उपदेष्टा और भाव-तीर्थकर हो गये ।

## धर्म परिवार

आपके धर्म परिवार की संख्या निम्न है :—

गराधर	—	एक सौ सात (१०७)
केवली	—	बारह हजार (१२,०००)

मनःपर्यवज्ञानी	—	दस हजार तीन सौ (१०,३००)
अवधिज्ञानी	—	दस हजार (१०,०००)
चौदह पूर्वधारी	—	दो हजार तीन सौ (२,३००)
वैक्रिय लब्धिधारी	—	सोलह हजार आठ सौ (१६,८००)
वादो	—	नौ हजार छः सौ (९,६००)
साधु	—	तीन लाख तीस हजार (३,३०,०००)
साध्वी	—	चार लाख बीस हजार (४,२०,०००)
श्रावक	—	दो लाख छिहत्तर हजार (२,७६,०००)
श्राविका	—	पांच लाख पांच हजार (५,०५,०००)

### परिनिर्वाण

केवली बन कर प्रभु ने बहुत वर्षों तक संसार को कल्याणकारी मार्ग की शिक्षा दी ।

फिर जब अन्त में आयुकाल निकट देखा तब एक मास का अनशन कर मंगसिर बदी एकादशी के दिन चित्रा नक्षत्र में सम्पूर्ण योगों का निरोध कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए ।

आपकी कुल आयु तीस लाख पूर्व की थी जिसमें सोलह पूर्वांग कम साढ़े सात लाख पूर्व तक कुमार रहे, साढ़े इक्कीस लाख पूर्व तक राज्य किया और कुछ कम एक लाख पूर्व तक चारित्र्य धर्म का पालन कर प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया ।



# भगवान् श्री सुपाश्वनाथ

## पूर्वभय

भगवान् पद्मप्रभ के बाद सातवें तीर्थंकर श्री सुपाश्वनाथ हुए । क्षेमपुरी के महाराज नन्दिसेन के भव में इन्होंने त्याग एवं तप की उत्कृष्ट साधना की ।

आचार्य अरिदमन के पास संयम ले इन्होंने बीस स्थानों की आराधना की एवं तीर्थंकर नाम कर्म का उपाजन किया और अन्त समय की आराधना से काल-धर्म प्राप्त कर आप छठे श्रैवेयक में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए ।

## जन्म

श्रैवेयक से निकल कर नन्दिसेन का जीव भाद्रपद कृष्ण अष्टमी के दिन विशाखा नक्षत्र में वाराणसी नगरी के महाराज प्रतिष्ठसेन की रानी पृथ्वी की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ । उसी रात्रि को महारानी पृथ्वीदेवी ने महा-पुरुष के जन्म-सूचक चौदह मंगलकारी शुभ-स्वप्न देखे ।

विधिपूर्वक गर्भकाल पूर्ण कर माता ने ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को विशाखा नक्षत्र में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

## नामकरण

बारहवें दिन नामकरण के समय महाराज प्रतिष्ठसेन ने सोचा कि गर्भकाल में माता के पार्श्व-शोभन रहे, अतः बालक का नाम सुपाश्वनाथ रक्खा जाय ।<sup>१</sup> इस तरह से आपका नाम सुपाश्वनाथ रक्खा गया ।

## विवाह और राज्य

शिशव के पश्चात् महाराज प्रतिष्ठसेन ने उनका योग्य कन्याओं से पारिग्रहण करवाया और राज्य-पद से उन्हें सुशोभित किया ।

चौदह लाख पूर्व कुछ अधिक समय तक प्रभु राज्य-श्री का उपभोग करते हुए प्रजाजनों को नीति-धर्म की शिक्षा देते रहे ।

## दीक्षा और पारणा

फिर राज्य-काल के बाद जब प्रभु ने भोगावली कर्म को क्षीण देखा तो संयम-ग्रहण की इच्छा की ।

आपने लोकान्तिक देवों की प्रार्थना पर वर्ष भर दान देने के पश्चात् ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी को एक हजार अन्य राजाओं के साथ दीक्षा के लिए

१ भगवम्भि य गम्भगए जएणी जाया सुपासत्ति तएओ भगवओ सुपासत्तिणामं कयं । व.

निष्क्रमण किया। षष्ठभक्त की तपस्या के साथ उद्यान में पहुंच कर प्रभु ने पंच-मुष्टि लोच करके सर्वथा पापों का त्याग कर, मुनिव्रत ग्रहण किया।

दूसरे दिन पाटलिखण्ड नगर के प्रधान नायक महाराज महेन्द्र के यहां उनका पारणा सम्पन्न हुआ।

### केवलज्ञान

नव मास तक विविध प्रकार का तप करते हुए प्रभु छद्मस्थचर्या में विचरते रहे। फिर उसी सहस्राब्द वन में आकर शुक्लध्यान में स्थित हो गए।

ज्ञानावरणादि चार घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर, फाल्गुन शुक्ला षष्ठी को विशाखा नक्षत्र में प्रभु ने केवलज्ञान एवं केवलदर्शन प्राप्त किया।

केवली बनकर देव-मनुजों की विशाल परिषद् में प्रभु ने धर्म-देशना दी और जड़ और चेतन का भेद समझाते हुए फरमाया कि दृश्य जगत् की सारी वस्तुएं, यहां तक कि तन भी अपना नहीं है। तन, धन, परिजन आदि बाह्य वस्तुओं को अपना मानना ही दुःख का मूल कारण है।

उनके इस प्रकार के सदुपदेश से सहस्रों नर-नारी संयम-धर्म के आराधक बने और प्रभु ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना कर भाव-अरिहन्त पद को प्राप्त किया।

### धर्म परिवार

प्रभु के संघ में निम्न परिवार था :—

गरण एवं गरणधर	— पिच्यानवे (६५) जिनमें मुख्य विदर्भजी थे।
केवली	— ग्यारह हजार (११,०००)
मनःपर्यवज्ञानी	— नौ हजार एक सौ पचास (९,१५०)
अवधिज्ञानी	— नौ हजार (९,०००)
चौदह पूर्वधारी	— दो हजार तीन सौ पचास (२,३५०)
वैक्रिय लब्धिधारी	— पन्द्रह हजार तीन सौ (१५,३००)
वादी	— आठ हजार चार सौ (८,४००)
साधु	— तीन लाख (३,००,०००)
साध्वी	— चार लाख तीस हजार (४,३०,०००)
श्रावक	— दो लाख सत्तावन हजार (२,५७,०००)
श्राविका	— चार लाख तिरानवे हजार (४,६३,०००)



## परिनिर्वाण

बीस लाख पूर्व की कुल आयु में से पाँच लाख पूर्व कुमार अवस्था में, चौदह लाख कुछ अधिक पूर्व राज्य-पद पर और बीस पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक सम्यक् चारित्र्य का पालन कर जब आपने अपना अन्त समय निकट समझा तो एक मास का अनशन कर पाँच सौ मुनियों के साथ चार अघाति-कर्मों का क्षय करके फाल्गुन कृष्ण सप्तमी को सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण पद प्राप्त किया ।



## भगवान् श्री चन्द्रप्रभ स्वामी

भगवान् सुपार्श्वनाथ के बाद माठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ स्वामी हुए ।

### पूर्वभव

घातकीखण्ड में मंगलावती नगरी के महाराज पद्म के भव में इन्होंने उच्च योगों की साधना की, फलतः इनको वैराग्य हो गया और उन्होंने युगन्धर मुनि के पास संयम ग्रहण कर दीर्घकाल तक चारित्र्य-धर्म का पालन करते हुए बीस स्थानों की आराधना की और तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया । अन्त समय की आराधना से काल-धर्म प्राप्त कर ये विजय-विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए ।

### जन्म

विजय विमान से निकल कर महाराज पद्म का जीव चैत्र कृष्णा पंचमी को अनुराधा नक्षत्र में चन्द्रपुरी के राजा महासेन की रानी सुलक्षणा के यहां गर्भ रूप में उत्पन्न हुआ । महारानी सुलक्षणा ने उसी रात्रि में परम सुखदायी फलदायक चौदह शुभ स्वप्न देखे ।

सुखपूर्वक गर्भकाल को पूर्ण कर माता सुलक्षणा ने पौष कृष्णा (द्वादशी) एकादशी के दिन<sup>१</sup> अनुराधा नक्षत्र में अर्द्ध रात्रि के समय पुत्ररत्न को जन्म दिया । देव-देवेन्द्र ने अति-पाण्डु-कम्बल-शिला पर प्रभु का जन्माभिषेक बड़े उल्लास एव उत्साहपूर्वक मनाया ।

### नामकरण

महाराज महासेन ने जन्म-महोत्सव के बाद बारहवें दिन नामकरण के लिये मित्रजनों को एकत्र कर कहा—“बालक की माता ने गर्भकाल में चन्द्रपान की इच्छा पूर्ण की और इस बालक के शरीर की प्रभा भी चन्द्र जैसी है, अतः बालक का नाम चन्द्रप्रभ रखा जाता है ।”<sup>२</sup>

१ शलाका पुरुष चरित्र के अनुसार जन्मतिथि पौष कृष्णा १३ मानी गई है । त्रि.व.३।६।३२

२ (क) गर्भस्थेऽस्मिन् मातुरासीच्चन्द्रपानाय दोहदः ।

चन्द्राभश्चैष इत्याह्वच्चन्द्रप्रभममुं पिता ॥ त्रि. श्र. पु. च. ३।६।४९

(ख) पित्रा य 'चंदप्पहसमाणो' ति कलिऊण चंबप्पहो ति एगमं कयं भगवओ ॥

च. म. पु. च., ८८

### विवाह और राज्य

युवावस्था सम्पन्न होने पर राजा ने उत्तम राजकन्याओं से प्रभु का पारिश्रहण करवाया ।

ठाई लाख पूर्व तक युवराज-पद पर रह कर फिर आप राज्य-पद पर अभिषिक्त किये गये और छः लाख पूर्व से कुछ अधिक समय तक राज्य का पालन करते हुए प्रभु नीति-धर्म का प्रसार करते रहे । इनके राज्य-काल में प्रजा सब तरह से सुख-सम्पन्न और कर्तव्य-मार्ग का पालन करती रही ।

### दीक्षा और पारणा

संसार के भोग्य-कर्म क्षीण हुए जानकर प्रभु ने मुनि-दीक्षा का संकल्प किया । लोकान्तिक देवों की प्रार्थना और वर्षोदान के बाद एक हजार राजाओं के साथ षष्ट-भक्त की तपस्या से इनका निष्क्रमण हुआ ।

पौष कृष्णा त्रयोदशी को अनुराधा नक्षत्र में सम्पूर्ण पाप-कर्मों का परित्याग कर प्रभु ने विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की । दीक्षा के दूसरे दिन पक्षण्ड के सोमदत्त राजा के यहां क्षीरान्न से प्रभु का पारणा हुआ । देवों ने पंच-दिव्य वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की ।

### केवलज्ञान

तीन मास तक छद्यस्थ-चर्या में विचर कर फिर प्रभु सहस्राब्ज वन में पधारे । वहां प्रियंगु वृक्ष के नीचे शुक्ल ध्यान में ध्यानावस्थित हो गये । फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणादि चार घाति-कर्मों का क्षय कर, प्रभु ने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की ।

फिर देव-मानवों की विशाल सभा में श्रुत व चारित्र-धर्म की देशना देकर भगवान ने चतुर्विध संघ की स्थापना की । कुछ कम एक लाख पूर्व तक केवली पर्याय में रहकर प्रभु ने लाखों जीवों का कल्याण किया ।

### धर्म परिवार

यों तो महापुरुषों का परिवार "वसुधैव कुटुम्बकम्" होता है, फिर भी व्यवहारदृष्ट्या उनके उपदेशों का पालन एवं प्रसार करने वाले अधिक कृपापात्र होने से उनके धर्म-परिवार में गिने गये हैं जो इस प्रकार हैं :—

गण एवं गणधर	— तिरानवे (६३) दत्त आदि
केवली	— दस हजार (१०,०००)
मनःपर्यवज्ञानी	— आठ हजार (८,०००)
धवधि ज्ञानी	— आठ हजार (८,०००)

चौदह पूर्वधारी	- दो हजार (२,०००)
वैक्रिय लब्धिधारी	- चौदह हजार (१४,०००)
वादी	- सात हजार छः सौ (७,६००)
साधु	- दो लाख पचास हजार (२,५०,०००)
साध्वी	- तीन लाख अस्सी हजार (३,८०,०००)
श्रावक	- दो लाख पचास हजार (२,५०,०००)
श्राविका	- चार लाख इकरानवे हजार (४,६१,०००)

### परिनिर्वाण

जिस समय प्रभु ने अपने जीवनकाल का अन्त निकट देखा उस समय सम्भेद शिखर पर एक हजार मुनियों के साथ एक मास का अनशन किया और अयोगी दशा में चार अघाति-कर्मों का क्षय कर भाद्रपद कृष्ण सप्तमी को अनुराधा नक्षत्र में सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया

इनकी कुल आयु दस लाख पूर्व वर्षों की थी, जिसमें ढाई लाख पूर्व तक युवराज-पद और साढ़े छः लाख पूर्व तक राज्य-पद पर रहे तथा कुछ कम एक लाख पूर्व तक प्रभु ने चारित्र-धर्म का पालन कर सिद्ध पद प्राप्त किया ।



## भगवान् श्री सुविधिनाथ

तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के पश्चात् नौवे तीर्थंकर श्री सुविधिनाथ हुए । इन्हें पुष्पदन्त भी कहा जाता है ।

### पूर्वभव

पुष्कलावती विजय के भूपति महापद्म के भव में इन्होंने संसार से विरक्त होकर मुनि जगन्नन्द के पास दीक्षा ग्रहण की और उच्चकोटि की तप-साधना करते हुए तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया ।

अन्त समय में अनशनपूर्वक काल कर वे वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए ।

### जन्म

काकन्दी नगरी के महाराज सुग्रीव इनके पिता और रामादेवी इनकी माता थी ।

वैजयन्त विमान से निकलकर महापद्म का जीव फाल्गुन कृष्णा नवमी को मूल नक्षत्र में माता रामादेवी की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ । माता ने उसी रात्रि में चौदह मंगलकारी शुभ स्वप्न देखे । महाराज से स्वप्न-फल सुनकर महारानी हर्षविभोर हो गई ।

गर्भकाल पूर्ण कर माता ने मंगसिर कृष्णा पंचमी को मध्यरात्रि के समय मूल नक्षत्र में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया । माता-पिता व नरेन्द्र-देवेन्द्रों ने जन्मोत्सव की खुशियां मनाई । दस दिनों तक नगर में आमोद-प्रमोद का मंगल वातावरण बना रहा ।

### नामकरण

नामकरण के समय महाराजा सुग्रीव ने सोचा कि बालक के गर्भकाल में माता सब विधियों में कुशल रहीं, इसलिये इसका नाम सुविधिनाथ और गर्भकाल में माता को पुष्प का दोहद उत्पन्न हुआ, अतः पुष्पदन्त रखा जाय । इस प्रकार सुविधिनाथ और पुष्पदन्त प्रभु के ये दो नाम प्रख्यात हुए ।<sup>१</sup>

१ कुशला सर्वविधियुः गर्भस्थेऽस्मिन् जनन्यभूत्

पुष्पदोहदतो दन्तोद्गमोऽस्यसमभूदिति ।

सुविधिः पुष्पदन्तश्चेत्यभिधानद्वयं विभोः । महोत्सवेन चक्रान्ते, पितरौ दिवसे शुभे ।

त्रि० ३ प. ७ स० ४६।५०

### विवाह और राज्य

दो लाख पूर्व की आयु में चौथा भाग अर्थात् पचास हजार पूर्व का समय बीतने पर महाराज सुग्रीव ने योग्य कन्याओं में इनका पाणिग्रहण करवाया तथा योग्य जानकर राज्य पद पर भी अभिषिक्त कर दिया। कुछ अधिक पचाम हजार पूर्व तक प्रभु ने अलिप्त भाव से लोक हितार्थ कुशलतापूर्वक राज्य का संचालन किया।

### दीक्षा और पारणा

राज्यकाल के बाद जब प्रभु ने भोगवली कर्म को क्षीण होते देखा तब संयम ग्रहण करने की इच्छा की।

लोकान्तिक देवों ने अपने कर्त्तव्यानुसार प्रभु से प्रार्थना की और वर्षोदान देकर प्रभु ने भी एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ निष्क्रमण किया। मंगसिर कृष्णा षष्ठी के दिन मूल नक्षत्र के समय सूरप्रभा शिविका से प्रभु सहस्रात्र वन में पहुँचे और सिद्ध की साक्षी से, सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर दीक्षित हो गये। दीक्षा ग्रहण करते ही इन्होंने मनःपर्यवज्ञान प्राप्त किया।

दूसरे दिन श्वेतपुर के राजा पुष्प के यहां प्रभु का परमात्म से पारणा हुआ और देवों ने पंच-दिव्य प्रकट कर दान की महिमा बतलाई।

### केवलज्ञान

चार मास तक प्रभु विविध कष्टों को सहन करते हुए आमानुग्राम विचरते रहे। फिर उसी उद्यान में आकर प्रभु ने क्षपकश्रेणी पर आरोहण किया और शुक्ल ध्यान से घातिकर्मों का क्षय कर मालूर वृक्ष के नीचे कार्तिक शुक्ला तृतीया को मूल नक्षत्र में केवलज्ञान की प्राप्ति की।

केवली होकर देव-मानवों की महती सभा में प्रभु ने धर्मोपदेश दिया और वे चतुर्विध संघ की स्थापना कर, भाव-तीर्थंकर कहलाये।

### धर्म परिवार

प्रभु के संघ में निम्न गणधरादि हुए :—

गणधर	—	अठ्यासी (८८) वाराहजी आदि।
केवली	—	सात हजार पांच सौ (७,५००)
मनःपर्यवज्ञानी	—	सात हजार पांच सौ (७,५००)
अवधि ज्ञानी	—	आठ हजार चार सौ (८,४००)
चौदह पूर्वधारी	—	एक हजार पांच सौ (१,५००)
वैक्रिय लब्धिधारी	—	तेरह हजार (१३,०००)

वादी	—	छः हजार (६,०००)
साधु	—	दो लाख (२,००,०००)
साध्वी	—	एक लाख बीस हजार (१,२०,०००)
श्रावक	—	दो लाख उन्तीस हजार (२,२६,०००)
श्राविका	—	चार लाख बहत्तर हजार (४,७२,०००)

### परिनिर्वाण

कुछ कम एक लाख पूर्व तक संयम का पालन कर जब प्रभु ने अपना आयु-काल निकट समझा तब एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर एक मास का अनशन धारण किया, फिर योगनिरोध करते हुए चार अघाति-कर्मों का क्षय कर भाद्रपद कृष्णा नवमी के दिन मूल नक्षत्र में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण पद प्राप्त किया ।

कहा जाता है कि कालदोष से सुविधिनाथ के बाद साधुकर्म का विच्छेद हो गया और श्रावक लोग इच्छानुसार दान आदि धर्म का उपदेश करने लगे । संभव है यह काल ब्राह्मण संस्कृति के प्रचार-प्रसार का प्रमुख समय रहा हो ।



## भगवान् श्री शीतलनाथ

भगवान् श्री सुविधिनाथ के बाद भगवान् श्री शीतलनाथ दसवें तीर्थंकर हुए ।

### पूर्वजन्म

सुसीमा नगरी के महाराज पद्मोत्तर के भव में बहुत वर्षों तक राज्य का उपभोग कर इन्होंने 'स्रस्ताघ' नाम के आचार्य के पास संयम ग्रहण किया और विशिष्ट प्रकार की तपः साधना से तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया ।

अन्त समय में अनशन की आराधना से काल प्राप्त कर प्राणत स्वर्ग में बीस सागर की स्थिति वाले देव हुए ।

### जन्म

महिलपुर के राजा दृढरथ इनके पिता और नन्दादेवी इनकी माता थीं । वैशाख कृष्ण षष्ठी के दिन पूर्वाषाढा नक्षत्र में प्राणत स्वर्ग से च्यव कर पद्मोत्तर का जीव नन्दादेवी के गर्भ में उत्पन्न हुआ । महारानी उसी रात्रि को महा मंगलकारी चौदह शुभ स्वप्न देखकर जागृत हुई । उसने महाराज के पास जाकर उन स्वप्नों का फल पूछा । उत्तर में यह सुनकर कि वह एक महान् पुण्यशाली पुत्र को जन्म देने वाली है, महारानी अत्यधिक प्रसन्न हुई ।

गर्भकाल के पूर्ण होने पर माता नन्दा ने माघ कृष्ण द्वादशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया । प्रभु के जन्म से अखिल विश्व में शान्ति एवं आनन्द की लहर फैल गई । महाराज दृढरथ ने मन खोलकर जन्मोत्सव मनाया ।

### नामकरण

बालक के गर्भकाल में महाराज दृढरथ के शरीर में भयंकर दाह-ज्वर की पीड़ा थी जो विभिन्न उपचारों से भी शान्त नहीं हुई, पर एक दिन नन्दादेवी के कर-स्पर्श मात्र से वह बेइना शान्त हो गई और तन, मन में शीतलता छा गई । अतः सबने मिलकर बालक का नाम शीतलनाथ रखा ।<sup>१</sup>

१ राज्ञः सन्तप्तमप्यंगं, नन्दास्पर्शेन शीत्यभूत् ।

गर्भस्पर्शेऽस्मिन्निति तस्य, नाम शीतल इत्यभूत् ॥ त्रिष० ३।८।४७



### विवाह और राज्य

हर्ष और उल्लास के वातावरण में शैशवकाल पूर्ण कर जब इन्होंने यौवनावस्था में प्रवेश किया, तब माता-पिता के आग्रह से योग्य कन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण संस्कार किया गया।

पच्चीस हजार पूर्व तक कुंवर पद पर रहकर फिर पिता के अत्याग्रह से प्रभु ने निर्लेप भाव से राज्यपद लेकर शासन का सम्यक् रूप से संचालन किया। पचास हजार पूर्व तक राज्यपद पर रहने के पश्चात् जब भोगावली कर्म का भोग पूर्ण हुआ, तब प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा की।

### दीक्षा और प्रथम पारणा

लोकान्तिक देवों की प्रार्थना और वर्षादान के बाद एक हजार राजाओं के साथ चन्द्रप्रभा शिविका में आरूढ़ होकर प्रभु सहस्राब्द वन में पहुँचे और माघ कृष्णा द्वादशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में षष्ठ-भक्त तपस्या से सम्पूर्ण पाप कर्मों का परित्याग कर मुनि बन गये।

श्रमण-दीक्षा लेते ही इन्होंने मनःपर्यवज्ञान प्राप्त किया। दूसरे दिन अरिष्टपुर के महाराज पुनर्वसु के यहां परमान्न से इनका प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ। देवों ने पंच-दिव्य प्रकट करके दान की महिमा बतलाई।

### केवलज्ञान

विविध प्रकार के परिषहों को सहन करते हुए तीन मास छत्रस्थ-चर्या के बिताकर फिर प्रभु सहस्राब्द वन पधारे और प्लक्ष [पीपल] वृक्ष के नीचे शुक्ल-ध्यान में स्थित हो गये। शुक्ल ध्यान से ज्ञानावरण आदि चार घाती कर्मों का सम्पूर्ण क्षय कर प्रभु ने पौष कृष्णा चतुर्दशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया।

केवली होकर प्रभु ने देवासुर मानवों की विशाल सभा में धर्मदेशना दी। संसार के नश्वर पदार्थों की प्रीति को दुःखजनक बतलाकर उन्होंने मोक्ष-मार्ग में यत्न करने की शिक्षा दी और चतुर्विध-संघ की स्थापना कर, आप भावतीर्थकर कहलाए।

### धर्म परिवार

भगवान् शीतलनाथ के संघ में निम्न गणाधर आदि हुए :—

गण एवं गणाधर	— इक्यासी (८१)
केवली	— सात हजार (७,०००)

मनःपर्यवज्ञानी	— सात हजार पांच सौ (७,५००)
अवधिज्ञानी	— सात हजार दो सौ (७,२००)
चौदह पूर्वधारी	— एक हजार चार सौ (१,४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	— बारह हजार (१२,०००)
वादी	— पांच हजार आठ सौ (५,८००)
साधु	— एक लाख (१,००,०००)
साध्वी	— एक लाख और छः (१,००,००६)
श्रावक	— दो लाख नब्वासी हजार (२,८६,०००)
श्राविका	— चार लाख अट्ठावन हजार (४,५८,०००)

### परिनिर्वाण

कुछ कम पच्चीस हजार पूर्व तक संयम का पालन कर जब आयु काल निकट देखा तब प्रभु ने एक हजार मुनियों के साथ एक मास का अनशन किया ।

अन्त में मन-वचन-कायिक योगों का निरोध करते हुए सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर वैशाख कृष्ण द्वितीया को पूर्वाषाढा नक्षत्र में प्रभु ने सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया ।



## भगवान् श्री श्रेयांसनाथ

भगवान् श्री शीतलनाथ के पश्चात् ग्यारहवें तीर्थंकर श्री श्रेयांसनाथ हुए ।

### पूर्वभव

पुष्कर द्वीप के राजा नलिनगुल्म के भव में इन्होंने राज रोग की तरह राज्य भोग को छोड़कर ऋषि वज्रदन्त के पास दीक्षा ले ली और तीव्र तप से कर्मों को कृश करते हुए निर्मोह भाव से विचरते रहे ।

वहां बीस स्थानों की आराधना कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपाजन किया । अन्त समय में शुभ-ध्यान से आयु पूर्णकर नलिनगुल्म महाशुक्र कल्प में ऋद्धिमान देव हुए ।

### जन्म

भारतवर्ष की भूषणस्वरूपा, सिंहपुरी नगरी के अधिनायक महाराज विष्णु इनके पिता और सद्गुणधारिणी विष्णुदेवी इनकी माता थीं ।

ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी के दिन श्रवण नक्षत्र में 'नलिनगुल्म' का जीव स्वर्ग से निकलकर माता विष्णु की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । माता ने उसी रात्रि में १४ महा शुभ-स्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण कर माता ने फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया । आपके जन्मकाल में सर्वत्र सुख, शांति और हर्ष का वातावरण फैल गया ।

### नामकरण

बालक के जन्म से समस्त राजपरिवार और राष्ट्र का श्रेय-कल्याण हुआ, अतः माता-पिता ने शुभ समय में बालक का गुणसम्पन्न नाम श्रेयांसनाथ रखा ।

### विवाह और राज्य

बाल्यकाल में देव, दानव और मानव कुमारों के संग खेलते हुए जब प्रभु युवावस्था में प्रविष्ट हुए तो पिता के आग्रह से योग्य कन्याओं के संग आपने पाणिग्रहण किया और इक्कीस लाख वर्ष के होने पर आप राज्य-पद के अधिकारी बनाये गये ।

बयालीस लाख वर्ष तक आप मही-मंडल पर न्यायपूर्वक राज्य का संचालन करते रहे ।

१ जिनस्य मातापितरावुत्सवेन महीयसा,

प्रभिक्षां श्रेयसि दिने, श्रेयांस इति चक्रतुः ॥४॥१॥८६ त्रि० शलाका पु. च.

### दीक्षा और पारणा

भोग्य-कर्म के क्षीण होने पर जब आपने संयम ग्रहण करने की इच्छा की, तब लोकान्तिक देवों ने अपनी मर्त्यादा के अनुसार सेवा में आकर प्रभु से प्रार्थना की। फलतः वर्ष भर तक निरन्तर दान देकर एक हजार अन्य राजाओं के साथ बेल्ले की तपस्या में आपने दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया और फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी को श्रवण नक्षत्र में सहस्राभ्रवन के अशोक वृक्ष के नीचे सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर आपने विधिपूर्वक प्रव्रज्या स्वीकार की।

दूसरे दिन सिद्धार्थपुर में राजा नन्द के यहां प्रभु का परमात्म से पारणा सम्पन्न हुआ।

### केवलज्ञान

दीक्षा के पश्चात् दो मास तक छद्मस्थभाव में आप विविध ग्राम-नगरों में विचरते हुए आगत कष्टों को सहन करने में अचल-स्थिर बने रहे। माघ कृष्णा अमावस्या को क्षपकश्रेणी द्वारा मोह-विजय कर शुक्लध्यान की उच्च स्थिति में धाति-कर्मा का सर्वथा क्षय कर षष्ठ तप से आपने केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि की। केवली होकर प्रभु ने देव-मानवों की विशाल सभा में श्रुति-चारित्र्य धर्म की देशना दी और चतुर्विध संघ की स्थापना कर, आप भाव-तीर्थंकर कहलाये।

### राज्य शासन पर श्रेयांस का प्रभाव

केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भगवान् श्रेयांसनाथ विचरते हुए पोतन-पुर पधारे। भगवान् के पधारने की शुभ सूचना राजपुरुष ने तत्कालीन प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ को दी।

त्रिपृष्ठ यह शुभ समाचार सुनकर इतना अधिक प्रसन्न हुआ कि उसने शुभ संदेश लाने वाले को साढ़े बारह करोड़ मुद्राओं से पुरस्कृत किया और अपने बड़े भाई अचल बलदेव के साथ भगवान् के चरणारविन्दों को बन्दन करने गया। भगवान् की सम्यक्त्व-सुधा बरसाने वाली वाणी को सुनकर दोनों भाइयों ने सम्यक्त्व धारण किया।<sup>१</sup>

यह त्रिपृष्ठ वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम वासुदेव और इसके भाई अचल प्रथम बलदेव थे।

१ सम्यक्त्वं प्रतिपेदाते बलभद्रहरी पुनः ॥ त्रि० पु० च० ४।१।८४५

भगवान् महावीर के पूर्वभवीय मरीचि के जीव ने ही महाराज प्रजापति की महारानी भद्रा की कुक्षि से त्रिपृष्ठ के रूप में जन्म ग्रहण किया ।

इधर प्रथम प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव को निमित्तज्ञों की भविष्यवाणी से जब यह ज्ञात हुआ कि उसका संहार करने वाला प्रथम वासुदेव जन्म ग्रहण कर चुका है तो वह चिन्तातुर हो रात-दिन अपने प्रतिद्वन्दी की खोज में तत्पर रहने लगा ।

प्रजापति के पुत्र त्रिपृष्ठ और बलदेव के पराक्रम एवं अद्भुत साहस की सौरभ सर्वत्र फैल रही थी । उससे अश्वग्रीव के मन में शंका उत्पन्न हुई कि हो न हो प्रजापति के दोनों महा पराक्रमी पुत्र ही मेरे लिये काल बनकर पैदा हुए हों, अतः वह उन दोनों को छल-बल से मरवाने की बात सोचने लगा ।

उन दिनों अश्वग्रीव के राज्य में किसी शालिखेत में एक शेर का भयंकर आतंक छाया हुआ था । अश्वग्रीव की ओर से शेर को मरवाने के सारे उपाय निष्फल हो जाने पर उसने प्रजापति को आदेश भेजा कि वह शालिखेत की शेर से रक्षा करे ।

प्रजापति शालिखेत पर जाने को तैयार हुए ही थे कि राजकुमार त्रिपृष्ठ आ पहुँचे । उन्होंने साहस के साथ महाराज प्रजापति से कहा—“शेर से खेत की रक्षा करना कौनसा बड़ा काम है, मुझे आज्ञा दीजिये, मैं ही उस शेर को समाप्त कर दूँगा ।”

पिता की आज्ञा से त्रिपृष्ठ, अचल बलदेव के साथ शालिखेत पर जा पहुँचे । लोगों के मुख से सिंह की भयंकरता और प्रजा में व्याप्त आतंक के संबंध में सुनकर उन्होंने उसे मिटाने का संकल्प किया । त्रिपृष्ठ ने सोचा कि प्रजा में व्याप्त सिंह के आतंक को समाप्त कर दूँ, तभी मेरे पौरुष की सफलता है ।

दोनों भाई निर्भीक हो शेर की माँद की ओर बढ़े और त्रिपृष्ठ ने निर्भय सोये हुए शेर को ललकारा । सिंह भी बार-बार की आवाज से क्रुद्ध हुआ और भयंकर दहाड़ के साथ त्रिपृष्ठ पर झपटा । त्रिपृष्ठ ने विद्युत् वेग से लपक कर सिंह के दोनों जबड़ों को पकड़ आसानी से पुराने बांस की तरह उसे चीर डाला । सिंह मारे क्रोध और ग्लानि के तड़प रहा था और विचार रहा था—“आज एक मानव-किशोर ने मुझे कैसे मार डाला ?” सारथी ने शेर को आश्वस्त करते हुए कहा—“वनराज शोक न करो, जिस प्रकार तुम पशुओं में राजा हो

१ आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिपृष्ठ की माता का नाम मृगावती लिखा है । यथा :-

विश्वभूतिश्च्युतः शुक्रान्मृगावत्या भयोदरे ।

[त्रिपृष्ठि श. पु. च., पर्व १०, स. १, श्लो. ११८]

उसी प्रकार यह तेजस्वी युवक भी मनुष्यों में राजा है। तुम किसी छोटे व्यक्ति के हाथ से नहीं मारे जा रहे हो।”

त्रिपृष्ठ द्वारा उस भयंकर और शक्तिशाली सिंह के मारे जाने की खबर सुन कर अश्वघ्रीव कांप उठा और उसे निश्चय हो गया कि इसी कुमार के हाथों उसकी मृत्यु होगी।

कुछ सोच विचार के बाद उसको एक उपाय सूझा कि इस वीरता के उपलक्ष में पुरस्कार देने के बहाने उन दोनों कुमारों को यहां बुला कर छल-बल से मरवा दिया जाय। अश्वघ्रीव ने महाराज प्रजापति को संदेश भिजवाया—  
“आपके दोनों राजकुमारों ने जो वीरतापूर्ण कार्य किया है उसके लिये हम उनको पुरस्कृत और सम्मानित करना चाहते हैं, अतः आप उन्हें यहां भिजवा दें।”

अश्वघ्रीव के उपरोक्त संदेश के उत्तर में त्रिपृष्ठ ने कहलवा भेजा—“जो राजा एक शेर को भी नहीं मार सका उससे हम किसी प्रकार का पुरस्कार लेने को तैयार नहीं हैं।”

कुमार त्रिपृष्ठ के इस उत्तर से अश्वघ्रीव तिलमिला उठा और एक बड़ी चतुरगिरी सेना लेकर उसने प्रजापति पर चढ़ाई कर दी। बलदेव और त्रिपृष्ठ भी अपनी सेना के साथ रणांगण में आ डटे। दोनों ओर की सेनाएं भिड़ गईं और बड़ा भीषण लोमहर्षक युद्ध हुआ।

उस समय त्रिपृष्ठ ने अश्वघ्रीव से कहलाया कि निरर्थक नर-संहार से तो यह अच्छा रहेगा कि हम दोनों आपस में द्वन्द्वयुद्ध कर लें। अश्वघ्रीव भी त्रिपृष्ठ के इस प्रस्ताव से सहमत हो गया और दोनों में भयंकर द्वन्द्वयुद्ध चल पड़ा। अन्ततोगत्वा प्रतिवासुदेव अश्वघ्रीव, वासुदेव त्रिपृष्ठ द्वारा युद्ध में मारा गया। इस प्रकार त्रिपृष्ठ अर्द्ध-भरत का अधिपति वासुदेव हो गया।

त्रिपृष्ठ और अश्वघ्रीव के बीच का यह युद्ध भगवान् श्रेयांसनाथ को केवलज्ञान प्राप्त होने से पूर्व हुआ था।

वासुदेव त्रिपृष्ठ के यहां किसी दिन कुछ संगीतज्ञ, जो अत्यन्त मधुर स्वर से संगीत प्रस्तुत करने में दक्ष थे, आये। शयन का समय होने से त्रिपृष्ठ ने शय्यापाल को आज्ञा दी कि जिस समय मुझे नींद आ जाय, तत्काल संगीत बन्द करा देना।

संगीत की मधुर कर्णप्रिय ध्वनि की मस्ती में भूलकर शय्यापाल ने त्रिपृष्ठ को निद्रा आ जाने पर भी संगीत बन्द नहीं कराया। रात भर संगीत चलता

रहा, सहसा त्रिपृष्ठ जाग उठे और क्रुद्ध होकर शय्यापाल से पूछा—“अरे ! संगीत बन्द क्यों नहीं कराया ?”

शय्यापाल ने कहा—“महाराज ! संगीत मुझे इतना कर्णप्रिय लगा कि समय का कुछ भी ध्यान नहीं रहा ।”

त्रिपृष्ठ ने क्रुद्ध हो अन्य सेवकों को आदेश दिया कि शीशा गरम करके उसके कानों में उड़ेल दिया जाय । राजाज्ञा को कौन टाले ? शय्यापाल के कानों में गरम २ शीशा उड़ेल दिया गया और वह तड़प-तड़प कर मर गया ।

इस तरह के क्रूर कर्मों से वासुदेव त्रिपृष्ठ ने घोर नरक-आयु का बन्ध कर लिया । क्रूर अर्धवसाय से उसका सम्यक्त्वभाव खंडित हो गया । ८४ लाख वर्ष की आयु भोगकर वह सातवें नरक का अधिकारी बना ।

बलदेव अचल ने जब भाई का मरण सुना तो शोक से आकुल हो गये, विवेकी होकर भी अविवेकी की तरह करुण स्वर में विलाप करने लगे । बार-बार उठने की आवाज देने पर भी त्रिपृष्ठ महानिद्रा से नहीं उठे तो अचल मूर्च्छित हो भूतल पर गिर पड़े । कालान्तर में मूर्च्छा दूर होने पर वृद्धजनों से प्रबोधित किये गये ।

दुःख में वीतराग के चरण ही एकमात्र आधार होते हैं, यह समझकर बलदेव भी प्रभु श्रेयांसनाथ के चरणों का ध्यान कर और उनकी वाणी का स्मरण कर संसार की नश्वरता के बारे में सोचते हुए सांसारिक विषयों से पराङ्मुख हो गये ।<sup>१</sup>

आखिर धर्मघोष आचार्य की वाणी सुनकर अचल बलदेव विरक्त हुए और जिनदीक्षा ग्रहण कर तप-संयम से सकल कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये । इनकी ८५ लाख वर्ष की आयु थी ।

### धर्म परिवार

श्रेयांसनाथ के संघ में निम्न गण एवं गणाधरादि परिवार हुआ :-

गणाधर	— छिहत्तर <sup>२</sup> (७६)
केवली	— छ हजार पांच सौ (६,५००)
मनःपर्यवज्ञानी	— छ हजार (६,०००)

१ श्रेयांसस्वामिपादानां, स्मरन् श्रेयस्करी गिरम् ।

संसारामारतां ध्यायन्, विषयेभ्यो पराङ्मुखः ॥ त्रि० ४।१।६०२॥

२ कहीं पर ६६ का उल्लेख भी मिलता है ।

अवधिज्ञानी	- छ हजार (६,०००)
चौदह पूर्वधारी	- तेरह सौ (१,३००)
वैक्रिय लब्धिधारी	- ग्यारह हजार (११,०००)
वादी	- पांच हजार (५,०००)
साधु	- चौरासी हजार (८४,०००)
साध्वी	- एक लाख तीन हजार (१,०३,०००)
श्रावक	- दो लाख उन्यासी हजार (२,७६,०००)
श्राविका	- चार लाख अड़तालीस हजार (४,४८,०००)

### परिनिर्वाण

केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् दो मास कम इक्कीस लाख वर्ष तक भूमंडल में विचर कर प्रभु ने लोगों को आत्मकल्याण की शिक्षा दी ।

फिर मोक्षकाल निकट समझकर एक हजार मुनियों के साथ अनशन स्वीकार किया और शुक्लध्यान के अन्तिम चरण में अयोगीदशा को प्राप्त कर श्रावण कृष्णा तृतीया को धनिष्ठा नक्षत्र में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए । आपकी पूर्ण आयु चौरासी लाख वर्ष की थी ।





## भगवान् श्री वासुपूज्य

श्रेयांसनाथ के बाद बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी हुए ।

### पूर्वभव

इन्होंने पुष्कराब्द द्वीप के मंगलावती विजय में पद्मोत्तर राजा के भव में निरन्तर जिनशासन की भक्ति की । इनके मन में सदा यही ध्यान रहता कि लक्ष्मी चपला की तरह चंचल है और पुण्यबल अजलिगत जल की तरह नश्वर है, अतः इस नाशवान् शरीर से अविनश्वर मोक्ष-पद की प्राप्ति करने में ही जीवन का वास्तविक कल्याण है ।

संयोगवश भावना के अनुरूप उनका वज्रनाभ गुरु के साथ समागम हुआ । उनके उपदेश से विरक्त होकर इन्होंने संयम ग्रहण किया और उग्र-कठोर तप एवं अर्हद्-भक्ति आदि शुभ स्थानों की आराधना से तीर्थंकर-नामकर्म का उपा-र्जन किया । अन्तिम समय शुभध्यान में काल कर वे प्राणत स्वर्ग में ऋद्धिमान् देव हुए ।

### जन्म

प्राणत स्वर्ग से निकल कर यही पद्मोत्तर का जीव तीर्थंकर रूप से उत्पन्न हुआ । भारत की प्रसिद्ध चम्पानगरी के प्रतापी राजा वसुपूज्य इनके पिता और जयादेवी माता थीं ।

ज्येष्ठ शुक्ला नवमी को शतभिषा नक्षत्र में पद्मोत्तर का जीव स्वर्ग से निकलकर माता जया की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ । उसी रात्रि में माता जया ने चौदह महा शुभ-स्वप्न देखे जो महान् पुण्यात्मा के जन्म-सूचक थे । माता ने उचित आहार-विहार से गर्भकाल पूर्ण किया और फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन शतभिषा नक्षत्र के शुभ योग में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

### नामकरण

महाराज वसुपूज्य के पुत्र होने के कारण आपका नाम वासुपूज्य रखा गया ।

### विवाह और राज्य

आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार वासुपूज्य अविवाहित माने गये हैं, ऐसा

ही जिनसेन आदि दिगम्बर परम्परा के आचार्यों का भी मन्तव्य है। हेमचन्द्र के अनुसार शैशवकाल पूर्ण होने पर भी जब वासुपूज्य शिशु की तरह भोग से सर्वथा विमुख दिखाई दिये, तब महाराज वासुपूज्य ने पाणिग्रहण का प्रस्ताव रखते हुए पुत्र से अनुरोध की भाषा में कहा—“कुमार ! अब तुम्हें विवाह करना चाहिये। जैसे ऋषभ ने पितृवचन से सुनन्दा और सुमंगला से पाणिग्रहण किया और अजितनाथ से श्रेयांसनाथ तक के भूतकालीन तीर्थंकरों ने भी पिता के अनुरोध से राज्य का उपभोग कर फिर मोक्ष-मार्ग का साधन किया। इसी प्रकार तुम्हें भी विवाह, राज्य, दीक्षा और तपःसाधन की पूर्व-परम्परा का पालन करना चाहिये। यही हमारी अभिलाषा है।”

पितृ-वचन को सुनकर वासुपूज्य ने सादर कहा—“तात ! पूर्वं पुरुषों के पावन चरित्र को मैं भी जानता हूँ, किन्तु सबके भोग्य-कर्म समान नहीं होते। उनके जैसे-जैसे कर्म और भोगफल अवशेष थे, वैसे मेरे भोग-कर्म अवशिष्ट नहीं हैं। साथ ही भविष्य में भी मल्लिनाथ, नेमनाथ आदि तीर्थंकर भोग्य-कर्म अवशेष नहीं होने से बिना विवाह के ही दीक्षित होंगे, ऐसे मुझे भी अविवाहित रहकर दीक्षा-ग्रहण करना है। अतः आप आज्ञा दीजिये जिससे मैं दीक्षित होकर स्व-पर का कल्याण कर सकूँ।”

इस प्रकार माता-पिता को समझा कर विवाह और राज्य-ग्रहण किये बिना ही इनके दीक्षा-ग्रहण का उल्लेख मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार वासुपूज्य बालब्रह्मचारी रहे एवं उन्होंने न विवाह किया और न राज्य ही। किन्तु आचार्य शीलांक के “चउपन्न महापुरिस चरियं” में दार-परिग्रह करने और कुछ काल राज्यपालन कर दीक्षित होने का उल्लेख है।

वास्तव में तीर्थंकर की गृहचर्या भोग्यकर्म के अनुसार ही होती है, अतः उनका विवाहित होना या नहीं होना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। विवाह से तीर्थंकर की तीर्थंकरता में कोई बाधा नहीं आती।

### दीक्षा और पारणा

भोग्यकर्म क्षीण होने पर प्रभु ने लोकान्तिक देवों से प्रेरित होकर वर्षभर तक निरन्तर दान दिया, फिर अठारह लाख वर्ष पूर्ण होने पर छह सौ राजाओं के साथ चतुर्थ-भक्त से दीक्षार्थ निष्क्रमण किया और फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को शतभिषा नक्षत्र में सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर श्रमणवृत्ति स्वीकार की।

दूसरे दिन महापुर में जाकर राजा सुनन्द के यहां प्रभु ने परमात्म से प्रथम पारणा किया। देवों ने पंच-दिव्य बरसा कर पारणा की बड़ी महिमा की।

१ तत्रो कुमारभावमणुवालिक्रण किचिकालं क्यदारपरिग्रहो रायसिरिमणुवालिक्रण...  
चउ० महापुरिस च० पृ० १०४।

### केवलज्ञान

दीक्षा लेकर भगवान् तपस्या करते हुए एक मास ह्यस्थचर्या में विचरे और फिर उसी उद्यान में आकर पाटला वृक्ष के नीचे ध्यानस्थित हो गये। शुक्ल-ध्यान के दूसरे चरण में चार घातिकर्मों का अर्थ कर माघ शुक्ला द्वितीया की शतभिषा के योग में प्रभु ने चतुर्थ-भक्त (उपवास) से केवलज्ञान की प्राप्ति की।

केवली होकर प्रभु ने देव-असुर-मानवों की विशाल सभा में धर्म-देशना दी तथा क्षान्ति आदि दशविध धर्म का स्वरूप समझाकर चतुर्विध संघ की स्थापना की और भाव-तीर्थकर कहलाये।

विहार करते हुए जब प्रभु द्वारिका के निकट पधारे तो राजपुरुष ने वासुदेव द्विपृष्ठ को प्रभु के पधारने की शुभ-सूचना दी। भगवान् वासुपूज्य के पधारने की शुभ-सूचना की बधाई सुनाने के उपलक्ष में वासुदेव ने उसको साढ़े बारह करोड़ मुद्राओं का प्रीतिदान दिया।

त्रिपृष्ठ के बाद ये भरत क्षेत्र में इस समय के दूसरे वासुदेव होते हैं।

### धर्म-परिवार

आपके संघ में निम्न परिवार था :-

गण एवं गणधर	— छियासठ [६६]
केवली	— छ हजार [६,०००]
मनःपर्यवज्ञानी	— छ हजार एक सौ [६,१००]
अवधिज्ञानी	— पांच हजार चार सौ [५,४००]
चौदह पूर्वधारी	— एक हजार दो सौ [१,२००]
वैक्रिय लब्धिधारी	— दस हजार [१०,०००]
वादी	— चार हजार सात सौ [४,७००]
साधु	— बहत्तर हजार [७२,०००]
साध्वी	— एक लाख [१,००,०००]
श्रावक	— दो लाख पन्द्रह हजार [२,१५,०००]
श्राविका	— चार लाख छत्तीस हजार [४,३६,०००]

### राज्य-शासन पर धर्म-प्रभाव

श्रेयांसनाथ की तरह भगवान् वासुपूज्य का धर्मशासन भी सामान्य लोक-जीवन से लेकर राजघराने तक व्यापक हो चला था। छोटे-बड़े राजाओं के अतिरिक्त उस समय के अर्द्धचक्री (वासुदेव) द्विपृष्ठ और विजय बलदेव पर भी उनका विशिष्ट प्रभाव था।

प्रभु के पधारने की खबर सुनकर द्विपृष्ठ ने भी साढ़े बारह करोड़ मुद्राओं का प्रीतिदान किया और वासुपूज्य भगवान् की वीतरागमयी वासी सुनकर सम्यक्त्व ग्रहण किया तथा विजय बलदेव ने श्रावकधर्म अंगीकार किया। कालान्तर में मुनि-धर्म स्वीकार कर विजय ने शिव-पद प्राप्त किया।

### परिनिर्वाण

एक मास कम चौवन लाख वर्ष तक केवली पर्याय में विचर कर प्रभु ने लाखों भव्य-जनों को धर्म का संदेश दिया। फिर मोक्ष-काल निकट जानकर चम्पा नगरी पधारे और छह सौ मुनियों के साथ एक मास का अनशन कर शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण से अक्रिय होकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय किया एवं आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होकर प्रभु ने निर्वाण-पद की प्राप्ति की।



## भगवान् श्री विमलनाथ

भगवान् वासुपूज्य के बाद तेरहवें तीर्थंकर भगवान् श्री विमलनाथ हुए ।

### पूर्वभव

तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन करने के लिये इन्होंने भी घातकी खण्ड की महापुरी नगरी में राजा पद्मसेन के भव में वैराग्य प्राप्त किया और जिनशासन की बड़ी सेवा की ।

मुनि सर्वगुप्त का उपदेश सुनकर ये विरक्त हुए और शिक्षा-दीक्षा लेकर निर्मलभाव से आपने संयम की आराधना की । वहाँ बीस स्थानों की आराधना कर इन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया और अन्त में समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर आठवें सहस्रार-कल्प में ऋद्धिमान् देव रूप से उत्पन्न हुए ।

### जन्म

सहस्रार देवलोक से निकल कर पद्मसेन का जीव वंशाख शुक्ला द्वादशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में माता श्यामा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ ।

इनकी जन्मभूमि कंपिलपुर थी । विमल यशधारी महाराज कृतवर्मा इनके पिता थे और उनकी सुशीला पत्नी श्यामा आपकी माता थी । माता ने गर्भ धारण के पश्चात् मंगलकारी चौदह शुभ-स्वप्न देखे और उचित आहार-विहार से गर्भकाल पूर्ण कर माघ शुक्ला तृतीया को उत्तराभाद्रपद में चन्द्र का योग होने पर सुखपूर्वक सुवर्णकान्ति वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

देवों ने सुमेरु पर्वत की अति पांडुकम्बल शिला पर प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाया । महाराज कृतवर्मा ने भी हृदय खोल कर पुत्र जन्म की खुशियां मनाई ।

### नामकरण

दश दिनों के आमोद-प्रमोद के पश्चात् महाराज कृतवर्मा ने नामकरण के लिये मित्रों व बान्धवजनों को एकत्र किया और बालक के गर्भ में रहने के समय माता तन, मन से निर्मल बनी रही, अतः बालक का नाम विमलनाथ रखा ।<sup>१</sup>

१. गर्भस्थे जननी तस्मिन् विमला यदजायत ।

ततो विमल इत्याख्यां, तस्य चक्रे पैता स्वयम् ॥ त्रिष० ४।३।४८

### विवाह और राज्य

एक हजार आठ लक्षण वाले विमलनाथ जब तरुण हुए तो भोगों में रति नहीं होने पर भी माता-पिता के आग्रह से प्रभु ने योग्य कन्याओं के साथ पाणि-ग्रहण किया ।

पन्द्रह लाख वर्ष कुंवर-पद में बिता कर आप राज्य-पद पर आरूढ़ हुए और तीस लाख वर्ष तक प्रभु ने न्याय-नीतिपूर्वक राज्य का संचालन किया ।

पैंतालीस लाख वर्ष के बाद जब भव-विपाकी कर्म को क्षीण हुआ समझा तब प्रभु ने भवजलतारिणी आर्हंती दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की ।

### दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवों द्वारा प्रार्थित प्रभु वर्ष भर तक कल्पवृक्ष की तरह याचकों को इच्छानुसार दान देकर एक हजार राजाओं के संग दीक्षार्थ सहस्राब्ध वन में पधारे और माघ शुक्ला चतुर्थी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में षष्ठभक्त की तपस्या से सब पाप-कर्मों का परित्याग कर दीक्षित हो गये ।

दूसरे दिन धान्यकट पुर में जाकर प्रभु ने महाराज जय के यहां परमान्न से पारणा किया ।

### केवलज्ञान

पारणा करने के पश्चात् वहां से विहार कर दो वर्ष तक प्रभु विविध ग्राम नगरों में परिषहों को समभाव से सहन करते हुए विचरते रहे ।

फिर दीक्षास्थल में पहुंचकर अपूर्वकरण गुणस्थान से क्षपक-श्रेणी में आरूढ़ हुए और ज्ञानावरण आदि चार घाति-कर्मों को क्षय कर पीष शुक्ला षष्ठी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में बने की तपस्या से प्रभु ने केवलज्ञान, केवल-दर्शन की प्राप्ति की ।

केवलज्ञान के पश्चात् जब प्रभु विहार कर द्वारिका पधारे और समव-सरण हुआ तब राजपुरुष ने तत्कालीन वासुदेव स्वयंभू को अर्हद्दर्शन की शुभ-सूचना दी । उन्होंने भी प्रसन्न होकर साढ़े बारह करोड़ रोप्यमुद्राओं का प्रीतिदान देकर उसको संतुष्ट किया और प्रभु की देशना सुनकर जहां हजारों नरनारियों ने चारित्र-धर्म स्वीकार किया वहां वासुदेव ने भी सम्यक्त्व-धर्म स्वीकार किया । चतुर्विध संघ की स्थापना कर प्रभु ने भाव-तीर्थंकर का पद सायंक किया ।

### धर्म परिवार

आपके संघ में मन्दर आदि छप्पन गणधरादि सहित निम्न परिवार था:—

गण एवं गणधर	—	छप्पन (५६)
केवली	—	पांच हजार पांच सौ (५,५००)

भनःपर्यवज्ञानी	—	पांच हजार पांच सौ (५,५००)
अवधिज्ञानी	—	चार हजार आठ सौ (४,८००)
चौदह पूर्वधारी	—	एक हजार एक सौ (१,१००)
वैक्रिय लब्धि-धारी	—	नौ हजार (९,०००)
वादी	—	तीन हजार दो सौ (३,२००)
साधु	—	अड़सठ हजार (६८,०००)
साध्वी	—	एक लाख आठ सौ (१,००,८००)
श्रावक	—	दो लाख आठ हजार (२,०८,०००)
श्राविका	—	चार लाख चौबीस हजार (४,२४,०००)

### राज्य-शासन पर धर्म-प्रभाव

तेरहवें तीर्थंकर भगवान् विमलनाथ के समय में मेरक प्रतिवासुदेव और स्वयंभू वासुदेव हुए ।

विमलनाथ के धर्म-शासन का साधारण जन से लेकर लोकनायक-शासकों पर भी पूरा प्रभाव था । भगवान् विमलनाथ के समयसरण की बात जान कर वासुदेव स्वयंभू भी अपने ज्येष्ठ भ्राता भद्र बलदेव के साथ वन्दन करने गया और प्रभु की वाणी सुनकर स्वयंभू ने सम्यक्त्व धारण किया और भद्र बलदेव ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया ।

वासुदेव स्वयंभू की मृत्यु के पश्चात् बलदेव भद्र ने विरक्त होकर मुनिधर्म ग्रहण किया और पैंसठ लाख वर्ष की आयु भोग कर अन्तिम समय की आराधना से मुक्ति प्राप्त की ।

### परिनिर्वाण

दो वर्ष कम पन्द्रह लाख वर्ष तक केवली रूप से जन-जन को सत्य-मार्ग का उपदेश देकर जब प्रभु ने अपना आयुकाल निकट देखा तब छः सौ साधुओं के साथ उन्होंने एक मास का अनशन किया और मास के अन्त में शेष चार अर्धाति-कर्मों का क्षय कर आषाढ कृष्णा सप्तमी को पुष्य नक्षत्र में शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया । आपकी पूर्ण आयु साठ लाख वर्ष की थी ।



१ प्रवचन सारोद्धार, हरिवंश पु. और तिलोपपञ्चति में आषाढ कृष्णा ८ उल्लिखित है, जब कि सत्तरिसय द्वार की गोथा ३०६ से ३१० में आषाढ कृष्णा ७ ।

## भगवान् श्री अनन्तनाथ

भगवान् विमलनाथ के पश्चात् चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्तनाथ हुए ।

### पूर्वसद्व

इन्होंने धातकीखण्ड की अरिष्टा नगरी में महाराज पद्मरथ के भव में तीर्थंकर-पद की साधना की । महाराज पद्मरथ बड़े शूरवीर और पराक्रमी राजा थे ।

विरोधी राजाओं और समस्त महीमंडल को जीतकर भी मोक्ष-लक्ष्मी की साधना में उन्होंने उसको नगण्य समझा और कुछ समय बाद वैराग्यभाव से चित्तरक्ष गुरु के पास संयम ग्रहण कर तप-संयम की विशिष्ट साधना की और तीर्थंकर-नामकर्म का उपाजन किया ।

अन्त समय में शुभ ध्यान से प्राण त्याग कर दसवें स्वर्ग के ऋद्धिमान् देव हुए ।

### जन्म

अयोध्या नगरी के महाराज सिंहसेन इनके पिता और महारानी सुयशा इनकी माता थीं । श्रावण कृष्णा सप्तमी को रेवती नक्षत्र में स्वर्ग से निकलकर पद्मरथ का जीव माता सुयशा की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ । माता ने चौदह शुभ-स्वप्न देखे । गर्भकाल-पूर्ण होने पर वैशाख कृष्णा त्रयोदशी के दिन रेवती नक्षत्र के योग में माता सुयशा ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया । देवों, दानव और मानवों ने जन्म की खुशियां मनाईं ।

### नामकरण

दश दिन तक आमोद-प्रमोद मनाने के उपरान्त नामकरण करते समय महाराज सिंहसेन ने विचार किया—“बालक की गर्भावस्था में आक्रमणार्थ आये हुए अतीव उत्कट अपार शत्रु-सैन्य पर भी मैंने विजय प्राप्त की अतः हम बालक का नाम अनन्तनाथ रखा जाय ।” इस विचार के अनुरूप ही प्रभु का नामकरण हुआ ।

१ (क) गर्भस्थेऽस्मिन् जितं पित्रातन्तं परबलं यतः ।

ततश्चक्रेऽनन्तजित्वास्यां परमेष्ठितुः ॥ त्रि० ष० ४।४।४७

(ख) गन्धर्धे य भगवन्मि पिउसा अणतं परबलं जियं ति तधो

जहत्थं अणन्तजिगो ति कानं नामं मुवणगुरुणो ॥ च० महापुरिम चरियं, पृ. १२६



### विवाह और राज्य

चन्द्रकला की तरह बढ़ते हुए प्रभु नेकीमारकाल के सात लाख पचास हजार वर्ष पूर्ण कर जब तारुण्य प्राप्त किया तब पिता सिंहसेन ने अत्याग्रह से योग्य कन्याओं के साथ आपका पाणिग्रहण करवाया और राज्य की व्यवस्था के लिये आपको राज्य-पद पर भी अभिषिक्त किया ।

पन्द्रह लाख वर्ष तक समुचित रीति से राज्य का पालन कर जब आपने भोग्य-कर्म को क्षीण समझा तो मुनिव्रत ग्रहण करने का संकल्प किया ।

### दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवों की प्रेरणा से प्रभु ने वर्षादान से याचकों को इच्छानुकूल दान देकर वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को रेवती नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण की । उस समय आपके बेले की तपस्या थी ।

दीक्षा के बाद दूसरे दिन वर्द्धमानपुर में जाकर प्रभु ने विजय भूप के यहां परमात्म से पारण किया ।

### केवलज्ञान

दीक्षित होने के बाद प्रभु तीन वर्ष तक छद्मस्थचर्या से ग्रामानुग्राम विचरते रहे फिर अवसर देख सहस्रास्र वन में पधारि और अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थित हो गये । क्षपक-श्रेणी से कषायों का उन्मूलन कर शुक्लध्यान के दूसरे चरण से प्रभु ने घाति-कर्मों का क्षय किया और वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को रेवती नक्षत्र में अष्टमभक्त-तपस्या से केवलज्ञान की उपलब्धि की ।

केवली होकर देव-मानवों की सभा में प्रभु ने धर्म-देशना दी और चतुर्विध संघ की स्थापना कर भाव-तीर्थकर कहलाये । द्वारिका के पास पहुंचने पर तत्कालीन वासुदेव पुरुषोत्तम ने भी आपका उपदेश-श्रवण किया और सम्यक्त्व धर्म की प्राप्ति की ।

### धर्म परिवार

भगवान् अनन्तनाथ के संघ में निम्न धर्म-परिवार था :-

गण एवं गणधर	—	पचास [५०]
केवली	—	पांच हजार [५,०००]
मनःपर्यवज्ञानी <sup>१</sup>	—	पांच हजार [५,०००]

१ हेमचन्द्राचार्य ने त्रि० शलाका पुरू० च० में ४५०० मनःपर्यवज्ञानी लिखे हैं ।

अवधिज्ञानी	—	चार हजार तीन सौ [४,३००]
चौदह पूर्वधारी	—	नौ सौ [९००]
वैक्रिय लब्धिधारी	—	आठ हजार [८,०००]
वादी	—	तीन हजार दो सौ [३,२००]
साधु	—	छियासठ हजार [६६,०००]
साध्वी	—	बासठ हजार [६२,०००]
श्रावक	—	दो लाख छः हजार [२,०६,०००]
श्राविका	—	चार लाख चौदह हजार [४,१४,०००]

### राज्य-शासन पर धर्म-प्रभाव

चौदहवें तीर्थंकर भगवान् अनन्तनाथ के समय में भी पुरुषोत्तम नाम के वासुदेव और सुप्रभ नाम के बलदेव हुए।

भगवान् के निर्मल ज्ञान की महिमा से प्रभावित होकर पुरुषोत्तम भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के साथ इनके वन्दन को गया और भगवान् की अमृतमयी वाणी से अपने मन को निर्मल कर उसने सम्यक्त्व-धर्म की प्राप्ति की।

बलदेव सुप्रभ ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया और भाई की मृत्यु के पश्चात् संसार की मोह-माया से विरक्त हो मुनि-धर्म ग्रहण कर अन्त में मुक्ति-पद प्राप्त किया।

### परिनिर्वाण

तीन वर्ष कम सात लाख वर्ष तक केवली पर्याय में विचर कर जब मोक्ष-काल निकट समझा तब प्रभु ने एक हजार साधुओं के साथ एक मास का अनशन किया और चैत्र शुक्ला पंचमी को रेवती नक्षत्र में तीस लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर, सकल कैर्मों को क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।



## भगवान् श्री धर्मनाथ

भगवान् अनन्तनाथ के पश्चात् पद्महर्वे तीर्थकर श्री धर्मनाथ हुए ।

### पूर्वभव

एक समय धातकीखण्ड के पूर्व-विदेह में स्थित भद्विलपुर के महाराज सिंहस्थ प्रबल पराक्रमी और विशाल साम्राज्य के अधिपति होकर भी धर्म में बड़े दृढ़प्रतिज्ञ थे । नित्यानन्द की खोज में उन्होंने संसार के सभी सुखों को नीरस समझकर निस्पृह-भाव से इन्द्रिय-सुखों का परित्याग कर विमलवाहन मुनि के पास दुर्लभतम चारित्र्यधर्म को स्वीकार किया एवं तप-संयम की साधना करते हुए तीर्थकर-नामकर्म की योग्यता प्राप्त की ।

समता को उन्होंने योग की माता और तितिक्षा को जीवन-सहचरी सखी माना । दीर्घकाल की साधना के बाद समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर वे वैज-यन्त विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए । यही सिंहस्थ का जीव आगे चलकर धर्मनाथ तीर्थकर हुआ ।

### जन्म

सिंहस्थ का जीव वैजयन्त विमान से च्यवन कर वैशाख शुक्ला सप्तमी<sup>१</sup> को पुष्य नक्षत्र में रत्नपुर के महाप्रतापी महाराज भानु की महारानी सुव्रता के गर्भ में उत्पन्न हुआ । महारानी सुव्रता तीर्थकर के जन्म-सूचक चौदह महामंगल-कारी शुभ-स्वप्न देखकर हर्षविभोर हो गई ।

गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ शुक्ला तृतीया को पुष्य नक्षत्र के योग में माता सुव्रता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया । देवेन्द्रों और महाराज भानु ने बड़े ही हर्षोल्लास के साथ भगवान् धर्मनाथ का जन्म-महोत्सव मनाया ।

### नामकरण

बारहवें दिन सब लोग नामकरण के लिये एकत्रित हुए । महाराज भानु ने सबको संबोधित करते हुए कहा—“बालक के गर्भ में रहते माता को धर्म-साधन के उत्तम दोहद उत्पन्न होते रहे और उसकी भावना सदा धर्मभय

१ अण्णया वइसाइ सुद्धपंचमीए पूसजोगम्मि.....वैजयन्तविमाराणो चविअण सुब्बयाए कुच्चिसि सम्पण्णो.....[चउ० म० पु० च०, पृ० १३३]

रही, अतः बालक का नाम धर्मनाथ रखा जाता है।”

### विवाह और राज्य

देव-कुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए प्रभु ने शैशवकाल पूर्ण किया। फिर पिता की चिरकालीन अभिलाषा को पूर्ण करने और भोग्य-कर्म को चुकाने के लिये आपने पाणिग्रहण किया।

दो लाख पचास हजार वर्ष के बाद पिता के अनुरोध से आपने राज्यभार ग्रहण किया और पांच लाख वर्ष तक भली भाँति पृथ्वी का पालन करने के पश्चात् आप भोग्य-कर्म को हल्का हुआ जानकर दीक्षा ग्रहण करने को तत्पर हुए।

### दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवों ने प्रार्थना की—“भगवन् ! धर्म-तीर्थ को प्रवृत्त कीजिये।”

उनकी विज्ञप्ति से वर्ष भर तक दान देकर नागदत्ता शिविका से प्रभु नगर के बाहर उद्यान में पहुँचे और एक हजार राजाओं के साथ बेले की तपस्या से माघ शुक्ला त्रयोदशी को पुष्य-नक्षत्र में सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर आपने दीक्षा ग्रहण की।

दूसरे दिन सौमनस नगर में जाकर धर्मसिद्ध राजा के यहां प्रभु ने परमान्न से प्रथम पारणा किया। देवों ने पंच-दिव्य बरसा कर दान की महिमा प्रकट की।

### केवलज्ञान

विभिन्न प्रकार के तप-नियमों के साथ परीषहों को सहते हुए प्रभु दो वर्ष तक छद्मस्थचर्या से विचरे, फिर दीक्षा-स्थान में पहुँचे और दधिपर्ण वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। शुक्लध्यान से क्षपक-श्रेणी का आरोहण करते हुए षोडश शुक्ला पूर्णिमा के दिन भगवान् धर्मनाथ ने पुष्य नक्षत्र में ज्ञाना-वरणादि घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति की।

१ (क) गर्मस्थेऽस्मिन् धर्मविधौ, यन्मातुर्दोहदोऽभवत् ।

तेनास्य धर्म इत्याख्यामकार्षीत् भानुभूपतिः ॥त्रि० ४।५।४६॥

(ख) “भगवन्मि गम्भस्त्वे’ अतीव जगत्सीए धम्मकरणदोहलो आसि त्ति तन्नो धम्मो त्ति नामं कयं तिहुयणगुहणी । च० महा पु० च० पृ० १३३

(ग) अम्मा पितरो सावग धम्मे मुज्जो बुक्के खलति, उववण्णे दढव्वताणि ॥

[भा. सू., पूर्व. भा., पृ. ११]

केवली बनकर देवासुर-मनुजों की विशाल सभा में देशना देते हुए प्रभु ने कहा—“मानवो ! बाहरी शत्रुओं से लड़ना छोड़कर अपने अन्तर के विकारों से युद्ध करो । तन, धन और इन्द्रियों का दास बनकर आत्मगुण की हानि करने वाला नादान है । नाशवान् पदार्थों में प्रीति कर अनन्तकाल से भटक रहे हो, अब भी अपने स्वरूप को समझो और भोगों से विरत हो सहजानन्द के भागी बनो ।”

प्रभु का इस प्रकार का उपदेश सुनकर हजारों नर-नारियों ने चारित्र्य-धर्म स्वीकार किया । वासुदेव पुरुषसिंह और बलदेव सुदर्शन भी भगवान् के उपदेश से सम्यग्-दृष्टि बने । चतुर्विध-संघ की स्थापना कर प्रभु भाव-तीर्थकर कहलाये ।

### भगवान् धर्मनाथ के शासन के तेजस्वी रत्न

भगवान् धर्मनाथ के केवलज्ञान की महिमा सुनकर वासुदेव पुरुषसिंह और बलदेव सुदर्शन भी प्रभावित हुए ।

प्रतिवासुदेव निशुंभ को मार कर पुरुषसिंह त्रिखण्डाधिपति बन चुका था । भगवान् के अश्वपुर नगर में पधारने पर बलदेव सुदर्शन और पुरुषसिंह भी वंदन को गये । प्रभु की वाणी सुनकर बलदेव व्रतधारी श्रावक बने और पुरुषसिंह वासुदेव सम्यग्दृष्टि ।

महारंभी होने से पुरुषसिंह मर कर छठी नरकभूमि में गया और बलदेव भातृवियोग से विरक्त होकर संयमी बन गये । तप-संयम की सम्यग् आराधना कर वे मुक्ति के अधिकारी बने । यह भगवान् धर्मनाथ के उपदेश का ही फल था ।

वासुदेव की तरह भगवान् के शासन में चक्रवर्ती भी उनकी उपासना करते । चक्री मघवा और सनत्कुमार जैसे बल रूप और ऐश्वर्य-सम्पन्न सम्राट् भी त्याग-मार्ग की शरण लेकर मोक्ष-मार्ग के अधिकारी हो गये । ये दोनों चक्रवर्ती पन्द्रहवें तीर्थकर भगवान् धर्मनाथ और सोलहवें तीर्थकर भगवान् शान्तिनाथ के अन्तराल-काल में अर्थात् भगवान् धर्मनाथ के शासनकाल में हुए । उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

भगवान् धर्मनाथ के पश्चात् तीसरे चक्रवर्ती मघवा हुए । सावर्धी नगरी के महाराज समुद्रविजय की पतिव्रता देवी भद्रा से मघवा का जन्म हुआ, माता ने चौदह शुभ-स्वप्नों में इन्द्र के समान पराक्रमी पुत्र के होने की बात जानकर बालक का नाम मघवा रखा ।

समुद्रविजय के बाद वे राज्य का संचालन करने लगे । त्रायुधशाला में चक्ररत्न के उत्पन्न होने पर षट्खण्ड की साधना कर चक्रवर्ती बने । भोग की

विपुल सामग्री पाकर भी आप उसमें आसक्त नहीं हुए अपितु अपनी धर्मकरणी में वृद्धि करते रहे। अन्त में सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर चारित्र्यधर्म स्वीकार किया और समाधिभाव में काल कर तीसरे देवलोक में महद्दिक देव हुए।

चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार भी भगवान् धर्मनाथ के शासन में हुए। आप प्रतिशय रूपवान् और शक्तिसम्पन्न थे। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में हस्तिनापुर नगर के शासक महाराज अश्वसेन शील, शौर्य आदि गुणसम्पन्न थे। उनकी धर्मशीला रानी सहदेवी की कुक्षि में एक स्वर्गीय जीव उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह शुभ-स्वप्न देखे और स्वप्नों का शुभ फल जानकर प्रसन्न हुईं एवं समय पर तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। स्वर्ण के समान कान्ति वाले पुत्र को देखकर बालक का नाम सनत्कुमार रखा।

सनत्कुमार ने बड़े होकर विविध कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया। उसका एक मित्र महेन्द्रसिंह था जो बहुत ही पराक्रमी और गुणवान् था। एक दिन राजकुमार ने महाराज अश्वसेन को भेंट में प्राप्त हुए उत्तम जाति के घोड़े देखे और उनमें जो सर्वोत्तम घोड़ा था, उसकी लगाम पकड़ कर सनत्कुमार उस पर आरूढ़ हो गया। सनत्कुमार के आरूढ़ होते ही घोड़ा वायुवेग से उड़ता सा बढ़ चला। कुमार ने लगाम खींचकर घोड़े को रोकने का भरसक प्रयत्न किया, पर ज्यों-ज्यों कुमार ने घोड़े को रोकने का प्रयास किया, त्यों-त्यों घोड़े की गति बढ़ती ही गई।

महेन्द्रसिंह आदि सब साथी पीछे रह गये और सनत्कुमार अदृश्य हो गया। राजा अश्वसेन, अपने पुत्र सनत्कुमार के अदृश्य होने की बात सुनकर बड़े चिन्तित हुए और स्वयं उसकी खोज करने लगे। आंधी के कारण मार्ग के चरण-चिह्न भी मिट गये थे।

महेन्द्रसिंह ने महाराज अश्वसेन को किसी तरह पीछे लौटाया और स्वयं एकाकी ही कुमार को खोजने की धुन में निकल पड़ा। इस प्रकार खोज करते-करते लगभग एक वर्ष बीत गया, पर राजकुमार का कहीं पता नहीं लगा।

सनत्कुमार की खोज में विविध स्थानों और वनों में घूमते-घूमते महेन्द्रसिंह ने एक दिन किसी एक जंगल में हंस, सारस, मयूरादि पक्षियों की आवाज सुनी और शीतल-सुगन्धित वायु के झोंके उस दिशा से आकर उसका स्पर्श करने लगे तो वह कुछ आशान्वित हो उस दिशा की ओर आगे बढ़ा।

कुछ दूर जाकर उसने देखा कि कुछ रमणियाँ मधुर-ध्वनि के साथ आमोद-प्रमोद कर रही हैं। उन रमणियों के मध्य एक परिचित युवा को

देखकर ज्योंही वह आगे बढ़ा तो अपने चिरप्रतीक्षित सखा सनत्कुमार से उसका साक्षात्कार हो गया । दोनों एक दूसरे को देखकर हर्षविभोर होगये । पारस्परिक कुशलवृत्त पूछने के पश्चात् महेन्द्र ने सनत्कुमार के साथ बीती सारी बात जाननी चाही । राजकुमार ने कहा—“मैं स्वयं कहूँ इसकी अपेक्षा विद्याधर-कन्या बकुलमति से सुनेंगे तो अच्छा रहेगा ।”

बकुलमति ने सनत्कुमार के शौर्य की कहानी सुनाते हुए बताया कि किस प्रकार आर्य-पुत्र ने यक्ष की दानवी शक्तियों से लोहा लेकर विजय पाई और किस प्रकार वे सब उनकी (सनत्कुमार की) अनुचरियां बन गईं ।

सनत्कुमार की गौरवगाथा सुनकर महेन्द्रसिंह अत्यन्त प्रसन्न हुआ । तदनन्तर उसने राजकुमार को माता-पिता की स्मृति दिलाई । फलस्वरूप राजकुमार अपने परिवार सहित हस्तिनापुर की ओर चल पड़े । कुमार के आगमन का समाचार सुनकर महाराज अश्वसेन के हर्ष का पारावार नहीं रहा । उन्होंने बड़े उत्सव के साथ कुमार का नगर-प्रवेश कराया और पुत्र के शौर्यातिरेक को देखकर उसे राज्य-पद पर अभिषिक्त किया और महेन्द्रसिंह को सेनापति बनाकर स्वयं भगवान् धर्मनाथ के शासन में स्थविर मुनि के पास दीक्षित हो गये ।

न्याय-नीति के साथ राज्य का संचालन करते हुए सनत्कुमार की पुण्य-कला चतुर्मुखी हो चमक उठी । उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ, तब षट्खण्ड की साधना कर उन्होंने चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया ।

सनत्कुमार की रूपसंपदा इतनी अद्भुत थी कि स्वर्ग में भी उनकी प्रशंसा होने लगी । एक बार सौधर्म देवलोक में दूसरे स्वर्ग का एक देव आया तो उसके रूप से वहां के सारे देव चकित हो गये । उन्होंने कालान्तर में इन्द्र से पूछा—“इसका रूप इतना अलौकिक कैसे है ?”

इन्द्र ने कहा—“इसने पूर्वजन्म में आर्यबिल-वर्द्धमान तप किया था, उसका यह आंशिक फल है ।”

देवों ने पूछा—“क्या ऐसा दिव्य रूप कोई मनुष्य भी पा सकता है ?”

इन्द्र ने कहा—“भरतक्षेत्र में सनत्कुमार चक्री ऐसे ही विशिष्ट रूप वाले हैं ।”

इन्द्र की बात सब देवों ने मान्य की, पर दो देवों ने नहीं माना । वे ब्राह्मण का रूप बनाकर आये और उन्होंने द्वारपाल से चक्रवर्ती के रूप-दर्शन की उत्कंठा व्यक्त की ।

उस समय सनत्कुमार स्नान-पीठ पर खुले बदन नहाने बैठे थे, ब्राह्मणों की प्रबल इच्छा जानकर चक्री ने कहा—“आने दो ।” ब्राह्मण आये और सनत्कुमार का रूप-लावण्य देखकर चकित हो गये ।

चक्री ने कहा—“अभी क्या देख रहे हो ? स्नान के पश्चात् जब वस्त्रा-भूषणों से सुसज्जित हो सभा में बैठूँ तब देखना ।”

ब्राह्मणों ने कहा—“जैसी आज्ञा ।”

कुछ ही समय में स्नानादि से निवृत्त हो महाराज कल्पवृक्ष की तरह अलंकृत विभूषित हो राजसभा में आये, उस समय उन दोनों ब्राह्मणों को भी बुलाया गया ।

ब्राह्मणों ने देखा तो शरीर का रंग बदल गया था । वे मन ही मन खेद का अनुभव करने लगे ।

चक्रवर्ती ने पूछा—“चिन्तित क्यों हैं ?”

ब्राह्मण बोले—“राजन् ! शरीरं व्याधिर्मदिरम्” आपके सुन्दर शरीर में कीड़े उत्पन्न हो गये हैं ।”

शरीर की इस नश्वरता से सनत्कुमार संभल गये और विरक्त हो सम्पूर्ण आरंभ-परिग्रह का त्यागकर मुनि बन गये । दीक्षित होकर वे निरन्तर ब्रेले-ब्रेले की तपस्या करने लगे, रोग आदि प्रतिकूल परीषहों में भी विचकित नहीं हुए । दीर्घकाल की इस कठिन तपस्या एवं साधना से उनको अनेक लब्धियाँ प्राप्त हो गईं ।

एक बार पुनः स्वर्ग में उनकी प्रशंसा हुई और देव उनके धैर्य की परीक्षा करने आया ।

देव वैद्य का रूप बनाकर आया और आवाज लगाते हुए मुनि के पास से निकला—“लो दवा, लो दवा । रोग मिटाऊँ ।”

मुनि ने कहा—“वैद्य ! कौनसा रोग मिटाते हो ? भाव-रोग दूर कर सकते हो तो करो, द्रव्य-रोग की क्या चिन्ता, उसकी दवा तो मेरे पास भी है ।”

यों कहकर मुनि ने रक्तसाव से गलित अंगुली के थूक लगाया और तत्काल ही वह अंगुली कंचन के समान हो गई ।

देव भी चकित एवं लज्जित हो मुनि के चरणों में नतमस्तक हो बार-बार क्षमायाचना करते हुए अपने स्थान को चला गया ।



इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् धर्मनाथ का प्रवचन देवों में सर्वत्र जनमानस में घर किये हुए था और सबके लिये आदरणीय बना हुआ था ।

महामुनि सनत्कुमार एक लाख वर्ष तक संयम का पालन कर, अन्त समय की आराधना से सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गये ।

### धर्म परिवार

भगवान् धर्मनाथ के संघ में निम्न परिवार था :—

गणधर	— तियालीस [४३] अरिष्ट आदि
केवली	— चार हजार पांच सौ [४,५००]
मनःपर्यवज्ञानी	— चार हजार पांच सौ [४,५००]
अवधिज्ञानी	— तीन हजार छः सौ [३,६००]
चीदह पूर्वधारी	— ती सौ [६००]
वैक्रिय लब्धिधारी	— सात हजार [७,०००]
वादी	— दो हजार आठ सौ [२,८००]
साधु	— चौसठ हजार [६४,०००]
साध्वी	— बासठ हजार चार सौ [६२,४००]
श्रावक	— दो लाख चवालीस हजार [२,४४,०००]
श्राविका	— चार लाख तेरह हजार [४,१३,०००]

### परिनिर्वाण

दो कम ढाई लाख वर्ष तक केवली-पर्याय में विचरकर प्रभु ने लाखों जीवों का उद्धार किया ।

फिर प्रभु ने अपना मोक्षकाल निकट देखकर आठ सौ मुनियों के साथ सम्भेत-शिखर पर एक मास का अनशन किया और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को पुण्य नक्षत्र में अयोगी-भाव में स्थित हो, मकल कर्मों का क्षय कर दस लाख वर्ष की आयु में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया ।

## चक्रवर्ती मघवा

पन्द्रहवें तीर्थंकर भगवान् धर्मनाथ और सोलहवें तीर्थंकर भ० शान्तिनाथ के अन्तराल काल में तीसरा चक्रवर्ती मघवा हुआ ।

इसी भरतक्षेत्र की श्रावस्ती नामक नगरी में समुद्रविजय नामक एक महा प्रतापी राजा राज्य करता था । उनकी पट्टमहिषी का नाम भद्रा था । राजा और रानी दोनों ही बड़े न्यायप्रिय और धर्मनिष्ठ थे । एक रात्रि में महारानी भद्रा ने १४ शुभस्वप्न देखे । दूसरे दिन प्रातःकाल महाराज समुद्रविजय ने स्वप्नपाठकों को बुलाकर महारानी के स्वप्नों के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की । नैमित्तिकों ने १४ महास्वप्नों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने के पश्चात् महाराजा से निवेदन किया कि महारानी के गर्भ में एक महान् पुण्यशाली एवं महाप्रतापी प्राणी आया है । महादेवी ने जो उत्तम १४ महास्वप्न देखे हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे चक्रवर्ती सम्राट् की माता बनेंगी ।

गर्भकाल पूर्ण होने पर महादेवी भद्रा ने एक महान् तेजस्वी, सुन्दर एवं सुकुमार पुत्ररत्न को जन्म दिया । महाराजा समुद्रविजय ने देवेन्द्र के समान अोजस्वी तथा तेजस्वी अपने पुत्र का नाम मघवा रखा । राजकुमार मघवा का बड़े ही राजसी ठाट-वाट से लालन-पालन किया गया और शिक्षायोग्य वय में उन्हें उस समय उच्च कोटि के कलाचार्यों के पास सभी प्रकार की राजकुमारोचित कलाओं एवं विद्याओं का अध्ययन कराया गया भोगसमर्थ युवावस्था में राजकुमार मघवा का अनेक कुलीन राजकन्याओं के साथ पारिग्रहण कराया गया । युवराज मघवा २५,००० वर्ष तक कुमारावस्था में रहकर ऐहिक विविध सुखों का उपभोग करते रहे । तदनन्तर महाराज समुद्रविजय ने उनका राज्याभिषेक किया । महाराज मघवा २५ हजार वर्ष तक माण्डलिक राजा के रूप में न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करते रहे । अपनी आयुधशाला में चक्ररत्न के उत्पन्न होने पर महाराज मघवा ने १० हजार वर्ष तक षट्खण्ड की साधना की और षट्खण्ड की सम्पूर्ण साधना के पश्चात् उनका चक्रवर्ती के पद पर महाभिषेक किया गया । ३६ हजार (३६,०००) वर्ष तक वे भरतक्षेत्र के छहों खण्डों पर एकच्छत्र शासन करते हुए चक्रवर्ती की सभी ऋद्धियों का सुखोपभोग करते रहे । उनचालीस हजार वर्ष तक चक्रवर्ती सम्राट् के पद पर रहने के अनन्तर उन्होंने श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की । पचास हजार वर्ष तक उन्होंने विशुद्ध श्रमणाचार का पालन किया और अन्त में ५,००,००० वर्ष की आयु पूर्ण होने पर वे तीसरे देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुए । चक्रवर्ती मघवा

के देवलोकगमन के सम्बन्ध में "तित्थोगाली पइन्नय" नामक प्राचीन ग्रन्थ की एक गाथा प्रकाश डालती है, जो इस प्रकार है :—

अट्ठेव गया मोक्खं, सुहुमो बंभो य सत्तमि पुडवि ।  
मघवं सणकुमारो, सणकुमारं गया कप्पं ॥५७॥

अर्थात्—बारह चक्रवर्तियों में से आठ चक्रवर्ती मोक्ष में गये । सुभूम और ब्रह्मदत्त नामक दो चक्रवर्ती सातवें नरक में गये तथा मघवा और सनत्कुमार नामक दो चक्रवर्ती सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक में गये ।

कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि चक्रवर्ती मघवा मोक्ष में गये, न कि सनत्कुमार नामक देवलोक में । अपनी इस मान्यता की पुष्टि में उनके द्वारा यह युक्ति प्रस्तुत की जाती है कि उत्तराध्ययनसूत्र के "संजइज्जं" नामक अठारहवें अध्यायन में भरतादि मुक्त हुए राजर्षियों के साथ चक्रवर्ती मघवा और सनत्कुमार का स्मरण किया गया है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि चक्रवर्ती मघवा मोक्ष में गये । परन्तु उत्तराध्ययन सूत्र के अठारहवें अध्यायन में सभी राजर्षियों के लिये प्रयुक्त शब्दावलि पर मनन के उपरान्त उन विद्वानों की वह मान्यता केवल अनुमान ही प्रतीत होने लगती है । उक्त अध्यायन की ३५ वीं गाथा में भरत एवं सगर चक्रवर्ती के लिये "परिनिब्बुडे" और ३८ से ४३ संख्या तक की गाथाओं में भगवान् शान्तिनाथ, कुंयुनाथ और अरनाथ तथा चक्रवर्ती महापद्म, हरिषेण एवं जयसेन के लिये "पत्तो गइमणुत्तरं" पद का प्रयोग किया गया है । इसके विपरीत उक्त अध्यायन की गाथा सं० ३६ में चक्रवर्ती मघवा के लिये 'पव्वज्जमभुवगण्णो" और गाथा सं० ३७ में चक्रवर्ती सनत्कुमार के लिये "सावि राया तवं चरे"—पद का प्रयोग किया गया है । यदि ३७ वीं गाथा और ३८ वीं गाथाओं के अन्तिम चरण क्रमशः "मघवं परिनिब्बुडो" तथा "पत्तो गइमणुत्तरं"—इस रूप में होते तो निश्चित रूप से यह कहा जा सकता था कि वे मुक्ति में गये । स्थानांगसूत्र में चक्रवर्ती सनत्कुमार के सम्बन्ध में तो—“दीहेणं परियाणं सिज्भइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ” स्थानांग सूत्र के इस मूल पाठ पर गहन चिन्तन-मनन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे उसी भव में मुक्त हो गये होंगे, किन्तु इस प्रकार का कोई मूलपाठ मघवा चक्रवर्ती के सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं होता । इस प्रकार की स्थिति में तित्थोगाली पइन्नय की उपर्युद्धृत गाथा और टीकाकारों के उल्लेखों को देखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि चक्रवर्ती मघवा सुदीर्घकाल तक श्रमणपर्याय का पालन कर सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुए ।

## भगवान् श्री शान्तिनाथ

भगवान् धर्मनाथ के बाद सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ हुए। इनका जीवन बड़ा प्रभावशाली और लोकोपकारी था। इन्होंने अनेक भवों से तीर्थंकर-पद की योग्यता सम्पादित की। इनके शीघ्रणा, युगलिक आदि के भवों में से यहाँ वज्रायुध के भव से संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

### पूर्वभव

पूर्व-विदेह के मंगलावती-विजय में रत्नसंचया नाम की नगरी थी। रत्न-संचया के महाराज क्षेमंकर की रानी रत्नमाला से वज्रायुध का जन्म हुआ।

बड़े होने पर लक्ष्मीवती देवी से उनका विवाह हुआ और वे सुदीर्घ काल तक उसके साथ सांसारिक सुखोपभोग करते रहे। कालान्तर में लक्ष्मीवती ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम सहस्रायुध रखा गया।

किसी समय स्वर्ग में इन्द्र ने देवगण के समक्ष वज्रायुध के सम्यक्त्व की प्रशंसा की। समस्त देवगण द्वारा उसे मान्य करने पर भी चित्रचूल नाम के एक देव ने कहा—“मैं परीक्षा के बिना ऐसी बात नहीं मानता।”

ऐसा कहकर वह क्षेमंकर राजा की सभा में आया और बोला—“संसार में आत्मा, परलोक और पुण्य-पाप आदि कुछ नहीं है। लोग अन्धविश्वास में व्यर्थ ही कष्ट पाते हैं।”

देव की बात का प्रतिवाद करते वज्रायुध बोला—“आयुष्मन् ! आपको जो दिव्य-पद और वैभव मिला है, अवधिज्ञान से देखने पर पता चलेगा कि पूर्व-जन्म में यदि आपने विशिष्ट कर्तव्य नहीं किया होता तो यह दिव्य-भव आपको नहीं मिलता। पुण्य-पाप और परलोक नहीं होते तो आपको वर्तमान की श्रद्धि प्राप्त नहीं होती।”

वज्रायुध की बात से देव निरुत्तर हो गया और उसकी दृढ़ता से प्रसन्न होकर बोला—“मैं तुम्हारी दृढ़ सम्यक्त्वनिष्ठा से प्रसन्न हूँ, अतः जो चाहो सो माँगो।”

वज्रायुध ने निस्पृहभाव से कहा—“मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि तुम सम्यक्त्व का पालन करो।”

वज्रायुध की निःस्वार्थ-वृत्ति से देव बहुत प्रसन्न हुआ और दिव्य-अलंकार भेंट कर वज्रायुध के सम्यक्त्व की प्रशंसा करते हुए चला गया ।

किसी समय वज्रायुध के पूर्वभव के शत्रु एक देव ने उनको क्रीड़ा में देख-कर ऊपर से पर्वत गिराया और उन्हें नाग-पाश में बांध लिया । परन्तु प्रबल-पराक्रमी वज्रायुध ने वज्रऋषभ-नाराच-संहनन के कारण एक ही मुष्टि-प्रहार से पर्वत के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और नागपाश को भी तोड़ फेंका ।

कालान्तर में राजा क्षेमंकर ने वज्रायुध को राज्य देकर प्रव्रज्या ग्रहण की और केवलज्ञान प्राप्त कर भाव-तीर्थंकर कहलाये । इधर भावी-तीर्थंकर वज्रायुध ने आयुधशाला में चक्र-रत्न के उत्पन्न होने पर छः खण्ड पृथ्वी को जीत कर सार्वभौम सम्राट् का पद प्राप्त किया और सहस्रायुध को युवराज बनाया ।

एक बार जब वज्रायुध राज-सभा में बैठे हुए थे कि "वचाओ, वचाओ" की पुकार करता हुआ एक विद्याधर वहाँ आया और राजा के चरणों में गिर पड़ा ।

शरणागत जानकर वज्रायुध ने उसे आश्वस्त किया । कुछ समय बाद ही शस्त्र हाथ में लिए एक विद्याधर दम्पति आया तथा अपने अपराधी को माँगने लगा और उसने कहा—“महाराज ! इसने हमारी पुत्री को विद्या-साधन करते समय उठाकर आकाश में ले जाने का अपराध किया है, अतः इसको हमें सौंपिये, हम इसे दण्ड देंगे ।”

वज्रायुध ने उनको पूर्वजन्म की बात सुनाकर उपशान्त किया और स्वयं ने भी पुत्र को राज्य देकर दीक्षा ग्रहण की । वे संयम-साधना के पश्चात् पादोप-गमन संभारा कर आयु का अन्त होने पर प्रवेयक में देव हुए ।

प्रवेयक से निकलकर वज्रायुध का जीव पुण्डरीकिणी नगरी के राजा घनरथ के यहाँ रानी प्रियमती की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ । उसका नाम मेघरथ रखा गया ।

महाराज घनरथ की दूसरी रानी मनोरमा से दूदरथ का जन्म हुआ । युवा होने पर सुमंदिरपुर के राजा की कन्या के साथ मेघरथ का विवाह हुआ । मेघरथ महान् पराक्रमी होकर भी बड़े दयालु और साहसी थे ।

महाराज घनरथ ने मेघरथ को राज्य देकर दीक्षा ग्रहण की । मेघरथ राजा बन गया, फिर भी धर्म को नहीं भूला । एक दिन व्रत ग्रहण कर वह पौषध-शाला में बैठा था कि एक कवूतर आकर उसकी गोद में गिर गया और भय से

कंपित हो अभय की याचना करने लगा ।' राजा ने स्नेहपूर्वक उसकी पीठ पर हाथ फेरा और उसे निर्भय रहने को आश्वस्त किया ।

इतने में ही वहां एक बाज आया और राजा से कबूतर की मांग करने लगा । राजा ने शरणागत को लौटाने में अपनी असमर्थता प्रकट की तथा बाज से कहा—“खाने के लिए तू दूसरी वस्तु से भी अपना पेट भर सकता है, फिर इसको मार कर क्या पायेगा ? इसको भी प्राण अपने समान ही प्रिय हैं ।”

इस पर बाज ने कहा—“महाराज ! एक को मार कर दूसरे को बचाना, यह कहां का न्याय व धर्म है ? कबूतर के ताजे मांस के बिना मैं जीवित नहीं रह सकता, आप धर्मात्मा हैं तो दोनों को बचाइये ।”

यह सुनकर मेघरथ ने कहा—“यदि ऐसा ही है तो मैं अपना ताजा मांस तुम्हें देता हूं, लो इसे खाओ और असहाय कबूतर को छोड़ दो ।”

बाज ने राजा की बात मान ली । तराजू मँगाकर राजा ने एक पलड़े में कबूतर को रखा और दूसरे में अपने शरीर का मांस काट-काट कर रखने लगे । राजा के इस अद्भुत साहस को देख कर पुरजन और अधिकारी वर्ग स्तब्ध रह गये, राज परिवार में शोक का वातावरण छा गया । शरीर का एक-एक अंग चढ़ाने पर भी जब उसका भार कबूतर के भार के बराबर नहीं हुआ तो राजा स्वयं सहर्ष तराजू पर बैठ गया ।

बाज रूप में देव, राजा की इस अविचल-श्रद्धा और अपूर्व-त्याग को देख कर मुग्ध हो गया और दिव्य-रूप से उपस्थित होकर मेघरथ के करुणाभाव की प्रशंसा करते हुए बोला—“धन्य है महाराज मेघरथ की ! मैंने इन्द्र की बात पर विश्वास न करके आपको जो कष्ट दिया, एतदर्थ क्षमा चाहता हूं । आपकी श्रद्धा सचमुच अनुकरणीय है ।” यह कह कर देव चला गया ।<sup>३</sup>

कुछ समय बाद मेघरथ ने पीषधशाला में पुनः अष्टम-तप किया । उम समय राजा ने जीव-दया के उत्कृष्ट अध्यवसायों में महान् पुण्य-संचय किया ।

ईशानेन्द्र ने स्वर्ग से नमन कर इनकी प्रशंसा की, किन्तु इन्द्राणियों को विश्वास नहीं हुआ । उन्होंने आकर मेघरथ को ध्यान से विचलित करने के लिए

१ एयम्मि देसयाले, भीष्मो पारेवन्नो परथरेतो ।

पोसहमालमद्गन्नो 'रायं ! सरणं ति सरणं' ति ॥

[वसुदेव टिप्पणी, द्वि० खण्ड, पृ. ३३७]

२ आचार्य शीलाक के अनुसार बज्जायुध ने पारावत की रक्षा करने को पीषधशाला में अपना मांस काटकर देना स्वीकार किया तो देव उनकी दृढ़ता देख प्रसन्न हो चला गया ।

[चउ. म. पु. च. पृ. १४६]

विविध परीषद् दिये परन्तु राजा का ध्यान विचलित नहीं हुआ। सूर्योदय होते-होते देवियां अपनी हार मानती हुई राजा को नमस्कार कर चली गईं।

प्रातःकाल राजा मेघरथ ने दीक्षा लेने का संकल्प किया और अपने पुत्र को राज्य देकर महामुनि घनरथ के पास अनेक साथियों के संग दीक्षा ले ली। प्राणि-दया से प्रकृष्ट-पुण्य का संचय किया ही था, फिर तप, संयम की आराधना से उन्होंने महती कर्म-निर्जरा की और तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन कर लिया।

अन्त-समय अनशन की आराधना कर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए तथा वहां तैंतीस सागर की आयु प्राप्त की।

### जन्म

भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को भरणी नक्षत्र के शुभ योग में मेघरथ का जीव सर्वार्थसिद्ध-विमान से च्यव कर हस्तिनापुर के महाराज विश्वसेन की महारानी अचिरा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। माता ने गर्भधारण कर उसी रात में मंगलकारी चौदह शुभ-स्वप्न भी देखे। उचित आहार-विहार से गर्भकाल पूर्ण कर ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र में मध्यरात्रि के समय माता ने सुखपूर्वक कांचनवर्णीय पुत्ररत्न को जन्म दिया। इनके जन्म से सम्पूर्ण लोक में उद्योत हुआ और नारकीय जीवों को भी क्षण भर के लिए विराम मिला। महाराज ने अनुपम आमोद-प्रमोद के साथ जन्म-महोत्सव मनाया।

### नामकरण

शान्तिनाथ के जन्म से पूर्व हस्तिनापुर नगर एवं देश में कुछ काल से महामारी का रोग चल रहा था। प्रकृति के इस प्रकोप से लोग भयाक्रान्त थे। माता अचिरादेवी भी इस रोग के प्रसार से चिन्तित थीं।

माता अचिरादेवी के गर्भ में प्रभु का आगमन होते ही महामारी का भयंकर प्रकोप शान्त हो गया, अतः नामकरण संस्कार के समय आपका नाम शान्तिनाथ रखा गया।<sup>१</sup>

### विवाह और राज्य

द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढ़ते हुए कुमार शान्तिनाथ जब पच्चीस हजार वर्ष के हो युवावस्था में आये तो पिता महाराज विश्वसेन ने अनेक राजकन्याओं के साथ इनका विवाह करा दिया<sup>२</sup> और कुछ काल के बाद

१ गङ्गादेवः य भगवथा सन्वदेसे संतीसमुष्पण्णा त्ति काऊण सन्तितियाम् अम्मापितीहि कयं ॥ च. म. पु. च. पृ. १५०

२ ततो सो जोक्वणं पत्तो पणुवीसवाससहस्तासि कुमारकालं गमेइ ।

[वसुदेव हिण्डी दूसरा भाग पृष्ठ ३४०]

शान्तिनाथ को राज्य देकर स्वयं महाराज विश्वसेन ने आत्मशुद्धार्थ मुनिव्रत स्वीकार किया ।

अब शान्तिनाथ राजा हो गये । उन्होंने देखा कि अभी भोग्य-कर्म अवशेष हैं । इसी बीच महारानी यशोमती से उनको पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई जो कि दृढरथ का जीव था । पुत्र का नाम चक्रायुध रखा गया । पच्चीस हजार वर्ष तक मांडलिक राजा के पद पर रहते हुए आयुधशाला में चक्ररत्न के उत्पन्न होने पर उसके प्रभाव से शान्तिनाथ ने षट्खण्ड पृथ्वी को जीत कर चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया और पच्चीस हजार वर्ष तक चक्रवर्ती-पद से सम्पूर्ण भारतवर्ष का शासन किया । जब भोग्य-कर्म क्षीण हुए तो उन्होंने दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा की ।

### दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवों से प्रेरित होकर प्रभु ने वर्ष भर याचकों को इच्छानुसार दान दिया और एक हजार राजाओं के साथ छट्ठ-भक्त की तपस्या से ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी को भरणी नक्षत्र में दीक्षार्थ निष्क्रमण किया । देव-मानव-वृन्द से घिरे हुए प्रभु सहस्रात्र वन में पहुंचे और वहां सिद्ध की साक्षी से सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर दीक्षा ग्रहण की ।

दूसरे दिन मंदिरपुर में जाकर महाराज सुमित्र के यहां परमान्न से आपने प्रथम पारणा किया । पंचदिव्य बरसा कर देवों ने दान की महिमा प्रकट की ।

वहां से विहार कर वर्ष भर तक आप विविध प्रकार की तपस्या करते हुए छद्मस्थ-रूप से विचरे ।

### केवलज्ञान

एक वर्ष बाद फिर हस्तिनापुर के सहस्रात्र उद्यान में आकर आप ध्यानावस्थित हो गये । आपने शुक्लध्यान से क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर सम्पूर्ण घाति-कर्मों का क्षय किया और पौष शुक्ला नवमी को भरणी नक्षत्र में केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की ।

केवली होकर प्रभु ने देव-मानवों की विशाल सभा में धर्म-देशना देते हुए समझाया—“संसार के सारभूत षट्-द्रव्यों में आत्मा ही सर्वोच्च और प्रमुख है । जिस कार्य से आत्मा का उत्थान हो वही उत्तम और श्रेयस्कर है । मानव-जन्म पाकर जिसने कल्याण-साधन नहीं किया उसका जीवन अजा-गल-स्तन की तरह व्यर्थ एवं निष्फल है ।”

धर्म-देशना सुन कर हजारों नर-नारियों ने संयम-धर्म स्वीकार किया । चतुर्विध-संघ की स्थापना कर प्रभु भाव-तीर्थकर कहलाये ।



### धर्म-परिवार

भगवान् शान्तिनाथ का धर्म-परिवार निम्न प्रकार था :—

गण एवं गणधर <sup>१</sup>	— छत्तीस [ ३६ ]
केवली	— चार हजार तीन सौ [ ४,३०० ]
मनःपर्यवज्ञानी	— चार हजार [ ४,००० ]
अवधिज्ञानी	— तीन हजार [ ३,००० ]
चौदह पूर्वधारी	— आठ सौ [ ८०० ]
वैक्रिय लब्धिधारी	— छः हजार [ ६,००० ]
वादी	— दो हजार चार सौ [ २,४०० ]
साधु	— बासठ हजार [ ६२,००० ]
साध्वी	— इकसठ हजार छः सौ [ ६१,६०० ]
श्रावक	— दो लाख नब्बे हजार [ २,९०,००० ]
श्राविका	— तीन लाख तिरानवे हजार [ ३,९३,००० ]

### परिनिर्वाण

प्रभु ने एक वर्ष कम पच्चीस हजार वर्ष केवली-पर्याय में विचर कर लाखों लोगों को कल्याण का संदेश दिया । फिर अन्तकाल समीप जानकर उन्होंने नौ सौ साधुओं के साथ एक मास का अनशन किया और ज्येष्ठ कृष्ण त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र में चार अघाति-कर्मों का क्षय कर सम्मैत-शिखर पर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया । आपकी पूर्ण आयु एक लाख वर्ष की थी ।



१ (क) धावश्यक नि० दीपिका प्र० भा०, पृ० ६७ (१), गा० २६७

(ख) समवायांग, समवाय ६ में ६० गणधर होने का उल्लेख है ।

## भगवान् श्री कुंथुनाथ

भगवान् श्री शान्तिनाथ के बाद सत्रहवें तीर्थंकर श्री कुंथुनाथ हुए ।

### पूर्वभव

पूर्व-विदेह की खड्गी नगरी के महाराज सिंहावह संसार से विरक्ति होने के कारण संवराचार्य के पास दीक्षित हुए और अर्हद्-भक्ति आदि विशिष्ट स्थानों की आराधना कर उन्होंने तीर्थंकर-नामकर्म का उपाजन किया ।

अन्तिम समय में समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर सिंहावह सर्वार्थसिद्ध विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए ।

### जन्म

सर्वार्थसिद्ध विमान से निकल कर सिंहावह का जीव हस्तिनापुर के महाराज वसु की धर्मपत्नी महारानी श्रीदेवी की कुक्षि में श्रावण बदी नवमी को कृतिका नक्षत्र में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ । उसी रात्रि को महारानी श्रीदेवी ने सर्वोत्कृष्ट महान् पुरुष के जन्म-सूचक चौदह परम-मंगलप्रदायक-शुभस्वप्न देखे ।

गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को कृतिका नक्षत्र में सुखपूर्वक प्रभु ने जन्म धारण किया ।

### नामकरण

दस दिन तक जन्म-महोत्सव प्रामोद-प्रमोद के साथ मनाने के बाद महाराज वसुसेन ने उपस्थित मित्रजनों के समक्ष नामकरण का हेतु प्रस्तुत करते हुए कहा—“गर्भ-समय में बालक की माता ने कुंथु नाम के रत्नों की राशि देखी, अतः बालक का नाम कुंथुनाथ रखा जाता है ।”

### विवाह और राज्य

बाल्यकाल पूर्ण कर युवावस्था में प्रवेश करने के बाद प्रभु ने भोग्य-कर्म को समाप्त करने के लिए योग्य राज-कन्याओं से पारिग्रहण किया ।

तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष के बाद आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न

१ सुमिरी य शुभं दठ्ठूण जणसी विउड ति, गग्भगये य कुंथुसभाणा सेसपडिक्खा दिट्ठति काऊणं कुंथु ति णामं कयं भगवओ ॥ च. म. पु. च., पृ. १५२

होने पर आपने षट्खण्ड-पृथ्वी को जीत कर चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया एवं चौदह रत्न, नव-निधान और सहस्रों राजाओं के अधिनायक हुए।

बाईस हजार वर्ष तक माण्डलिक राजा के पद पर रह कर तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष तक चक्रवर्ती-पद से राज्य का शासन करते हुए प्रभु समुचित रीति से प्रजा का पालन करते रहे।

### दीक्षा और पारणा

भोग्य-कर्म क्षीण होने पर प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा की। उस समय लोकान्तिक देवों ने आकर प्रार्थना की—“भगवन् ! धर्म-तीर्थ को प्रवृत्त कीजिये।”

एक वर्ष तक याचकों को इच्छानुसार दान देकर आपने वैशाख कृष्ण पंचमी को कृत्तिका नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ निष्क्रमण किया और सहस्राम्र वन में पहुँचकर छद्म-भक्त की तपस्या से सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही आपको मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन विहार कर प्रभु 'चक्रपुर' नगर में पधारे और राजा व्याघ्रसिंह के यहाँ प्रथम पारणा ग्रहण किया।

### केवलज्ञान

विविध प्रकार की तपस्या करते हुए प्रभु छद्मस्थ-चर्या में सोलह वर्ष तक आमानुश्राम विचरते हुए पुनः सहस्राम्र वन में पधारे और ध्यानस्थित हो गये। शुक्लध्यान के दूसरे चरण में तिलक वृक्ष के नीचे मोह और अज्ञान का सर्वथा नाश कर चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन कृत्तिका के योग में प्रभु ने केवलज्ञान की प्राप्ति की।

केवली होकर देव-मानवों की विशाल सभा में श्रुतधर्म-चारित्र्यधर्म की महिमा बतलाते हुए चतुर्विध-संघ की स्थापना कर आप भाव-तीर्थकर कहलाये।

### धर्म-परिवार

भगवान् कुंथुनाथ के संघ में निम्न धर्म-परिवार था :-

- |                |  |
|----------------|--|
| गणधर एवं गण    | — पैंतीस [३५] स्वयम्भू आदि गणधर एवं ३५ ही गण |
| केवली          | — तीन हजार दो सौ [३,२००]                     |
| मनःपर्यवज्ञानी | — तीन हजार तीन सौ चालीस [३,३४०]              |

अवधिज्ञानी	- दो हजार पाँच सौ [२,५००]
चौदह पूर्वधारी	- छः सौ सत्तर [६७०]
वैक्रियलब्धिधारी	- पाँच हजार एक सौ [५,१००]
त्रादी	- दो हजार [२,०००]
साधु	- साठ हजार [६०,०००]
साध्वी	- साठ हजार छः सौ [६०,६००]
श्रावक	- एक लाख उन्यासी हजार [१,७६,०००]
श्राविका	- तीन लाख इक्यासी हजार [३,८१,०००]

### परिनिर्वाण

मोक्षकाल समीप जान कर प्रभु सम्प्रेतशिखर पधारे । वहाँ केवलज्ञान के बाद तेईस हजार सात सौ चांतीस वर्ष बीतने पर एक हजार मुनियों के साथ एक मास का अनशन किया और वैशाख कृष्ण प्रतिपदा को कृत्तिका नक्षत्र में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर प्रभु सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए ।

इनकी पूर्ण आयु पिञ्चानवे हजार वर्ष की थी, जिसमें से तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमार अवस्था, तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष माण्डलिक-पद और उतने ही वर्ष अर्थात् २३ हजार सात सौ पचास वर्ष चक्रवर्ती-पद पर रहे एवं तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष संयम का पालन किया ।



## भगवान् श्री अरनाथ

भगवान् कुंथुनाथ के पश्चात् अठारहवें तीर्थकर भगवान् अरनाथ हुए ।

### पूर्वभव

पूर्व महा-विदेह की सुसीमा नगरी के महाराज धनपति के भव में इन्होंने तीर्थकर-पद की अर्हता प्राप्त की । धनपति ने अपने नगरवासियों को प्रेमपूर्वक संयम और अनुशासन में रहने की ऐसी शिक्षा दी थी कि उन्हें दण्ड से समझाने की कभी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई ।

कुछ समय के बाद धनपति ने संसार से विरक्त होकर संवर मुनि के पास संयम-धर्म की दीक्षा ग्रहण की और तप-नियम की साधना करते हुए महीमंडल पर विचरने लगे ।

एक बार चातुर्मासी तप के पारण पर जिनदास सेठ ने मुनि को श्रद्धापूर्वक प्रतिलाभ दिया । इस प्रकार देव, गुरु, धर्म के विनय और तप-नियम की उत्कृष्ट साधना से उन्होंने तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन किया और अन्त में समाधि-पूर्वक काल कर वे ग्रैवेयक में महद्भिक देव-रूप से उत्पन्न हुए ।

### जन्म

ग्रैवेयक से निकल कर यही धनपति का जोव हस्तिनापुर के महाराज सुदर्शन की रानी महादेवी की कुक्षि में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को गर्भरूप में उत्पन्न हुआ । उस समय महारानी ने चौदह शुभ-स्वप्नों को देख कर परम प्रमोद प्राप्त किया ।

अनुक्रम से गर्भकाल पूर्ण होने पर मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक कनक-वर्णीय पुत्र-रत्न को जन्म दिया । देव और देवेन्द्रों ने जन्म-महोत्सव मनाया । महाराज सुदर्शन ने भी नगर में बड़े आमोद-प्रमोद के साथ प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाया ।

### नामकरण

गर्भकाल में माता ने बहुमूल्य रत्नमय चक्र के अर को देखा, इसलिए बालक के नामकरण के समय सुदर्शन ने पुत्र का नाम भी उपस्थित मित्रजनों के समक्ष अरनाथ रखा ।<sup>१</sup>

१ पड्ढाविंश से गाम सुमिरामि महारिहाऽरदंसणत्तरोणं अरो त्ति । [च. पु. च. पृ. १५३]

### विवाह और राज्य

बालक्रीड़ा करते हुए प्रभु द्वितीया के चन्द्र की तरह बड़े हुए। युवावस्था में पिता की आज्ञा से योग्य राजकन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण कराया गया। इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर राजा सुदर्शन ने कुमार को राज्य-पद पर अभिषिक्त किया। इक्कीस हजार वर्ष तक वे माण्डलिक राजा के रूप में रहे और फिर आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हो जाने पर प्रभु देश-विजय को निकले और षट्खण्ड-पृथ्वी को जीत कर चक्रवर्ती बन गये। इक्कीस हजार वर्ष तक चक्रवर्ती के पद से आपने जनपद का शासन कर देश में सुख, शान्ति सुशिक्षा और समृद्धि की वृद्धि की।

### दीक्षा और पारणा

भोग-काल के बाद जब उदय-कर्म का जोर कम हुआ तब प्रभु ने राज्य-वैभव का त्याग कर संयम-साधना की इच्छा व्यक्त की। लोकान्तिक देवों ने आकर नियमानुसार प्रभु से प्रार्थना की और अरविन्दकुमार को राज्य देकर आप वर्षोदान में प्रवृत्त हुए तथा याचकों को इच्छित-दान देकर हजार राजाओं के साथ बड़े समारोह से दीक्षार्थ निकल पड़े।

सहस्रात्र वन में आकर मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को रेवती नक्षत्र में छट्ठभक्त-बेले की तपस्या से सम्पूर्णा पापों का परित्याग कर प्रभु ने विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही आपको मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ।

फिर दूसरे दिन राजपुर नगर में अपराजित राजा के यहां प्रभु ने परमात्र से पारणा ग्रहण किया।

### केवलज्ञान

वहां से विहार कर त्रिविध अभिग्रहों को धारण करते हुए तीन वर्ष तक प्रभु छद्मस्थ-विहार से विचरे। वे निद्रा-प्रमाद का सर्वथा वर्जन करते हुए ध्यान की साधना करते रहे। विहारक्रम से प्रभु सहस्रात्र वन आये और आत्र-वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। कान्तिक शुक्ला द्वादशी को रेवती नक्षत्र के योग में शुक्लध्यान से क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर आठवें, नवमें, दशवें और बारहवें गुणस्थान को प्राप्त किया और घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर आपने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवली होकर प्रभु ने देवामुर-मानवों की विशाल सभा में धर्म-देशना

१ आबश्यक में छद्मस्थकाल तीन अष्टांग का माना है। सम्पादक

देकर चतुर्विध-संघ की स्थापना की और वे भाव-तीर्थकर एवं भाव-अरिहंत कहलाये । भाव-अरिहंत अठारह दोषों से रहित होते हैं । जो इस प्रकार हैं :—

- |                                  |                |
|----------------------------------|----------------|
| १. ज्ञानावरण कर्मजन्य अज्ञान-दोष | ८. रति         |
| २. दर्शनावरण कर्मजन्य निद्रा-दोष | ९. अरति-खेद    |
| ३. मोहकर्मजन्य मिथ्यात्व-दोष     | १०. भय         |
| ४. अविरति-दोष                    | ११. शोक-चिन्ता |
| ५. राग                           | १२. दुःख       |
| ६. द्वेष                         | १३. काम        |
| ७. हास्य                         |                |

(१४ से १८) अन्तरायजन्य दानान्तराय आदि पाँच अन्तराय-दोषों को मिलाने से अठारह ।

कुछ लोग अठारह दोषों में आहार-दोष को भी गिनते हैं, पर आहार शरीर का दोष है, अतः आत्मिक दोषों में उसकी गणना उचित प्रतीत नहीं होती । उससे केवलज्ञान की प्राप्ति में अवरोध नहीं होता । अरिहन्त बन-जाने पर तीर्थकर प्रभु ज्ञानादि अनन्त-चतुष्टय और अष्ट-महाप्रातिहार्य के धारक होते हैं ।

### धर्म-परिवार

आपके संघ में निम्न धर्म-परिवार था :—

गणधर एवं गण	— कुंभजी आदि तैंतीस [३३] गणधर एवं तैंतीस [३३] ही गण
केवली	— दो हजार आठ सौ [२,८००]
मनःपर्यवजानी	— दो हजार पाँच सौ इक्यावन [२,५५१]
अवधिजानी	— दो हजार छः सौ [२,६००]
चौदह पूर्वधारी	— छः सौ दस [६१०]
वैक्रिय लब्धिधारी	— सात हजार तीन सौ [७,३००]
वादी	— एक हजार छः सौ [१,६००]
साधु	— पचास हजार [५०,०००]
साध्वी	— साठ हजार [६०,०००]
श्रावक	— एक लाख चौगसी हजार [१,८४,०००]
श्राविका	— तीन लाख बहत्तर हजार [३,७२,०००]

### परिनिर्वाण

तीन कम डक्कीम हजार वर्ष केवली-त्रयी में विचार कर जब आपको

अपना मोक्षकाल समीप प्रतीत हुआ तो एक हजार मुनियों के साथ सम्मेलनशिवर पर प्रभु ने एक मास का अनशन ग्रहण किया और अन्त समय में शैलेशी दशा को प्राप्त कर चार अघाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र के योग में चौरासी हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर प्रभु सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए, अर्थात् शरीर त्याग निरञ्जन-निराकार-सिद्ध बन गये ।





## भगवान् श्री मल्लिनाथ

अठारहवें तीर्थंकर भगवान् अरनाथ के निर्वाण के पश्चात् पञ्चपन हजार वर्ष कम एक हजार करोड़ वर्ष व्यतीत हो जाने पर उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान् श्री मल्लिनाथ का जन्म हुआ ।

### पूर्वभव

महाविदेह क्षेत्र के सलिलावती विजय में भगवान् मल्लिनाथ के जीवने तीर्थंकर भव से पूर्व के अपने तीसरे भव-महाबल के जीवन में पहले तो स्त्री-वेद का बन्ध और तदनन्तर तीर्थंकर गोत्र-नाम कर्म का उपाजन किया । भगवान् मल्लिनाथ का पूर्व का यह तीसरा भव वस्तुतः प्रत्येक साधक के लिये बड़ा ही प्रेरणाप्रदायी और शिक्षादायक है ।

भगवान् मल्लिनाथ का जीव अपने तीसरे पूर्व भव में महाबल नामक महाराजा था । वह अपने छह बालसखा राजाओं के साथ श्रमणधर्म में दीक्षित हुआ । द्वादशांगी का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् महाबल आदि उन सातों ही अणुगारों ने परस्पर विचार विनिमय के पश्चात् यह प्रतिज्ञा की कि वे सातों मुनि सदा साथ-साथ और समान तप करेंगे । उन सातों मित्र श्रमणों ने अपनी प्रतिज्ञानुसार साथ-साथ समान तप का आचरण प्रारम्भ भी कर दिया । तदनन्तर मुनि महाबल के मन में इस प्रकार के विचार उत्पन्न हुए :—

“इन छहों साथियों के साथ मैंने समान तपश्चरणा की प्रतिज्ञा तो कर ली । पर वस्तुतः श्रमण जीवन से पूर्व में इन सब से ऋद्धि, समृद्धि, ऐश्वर्य आदि में बड़ा रहा हूँ, आगे रहा हूँ । ये छहों मेरे समकक्ष नहीं थे । मुझसे छोटे थे तो अब तपश्चरणा में मैं इनके बराबर कैसे रहूँ । अतः मुझे तपश्चरणा में इनसे अत्यधिक उत्कृष्ट नहीं तो कम से कम थोड़ा बहुत तो विशिष्ट रहना ही चाहिये ।”

इस बड़प्पन के अहं ने मुनि महाबल के अन्तर्मन में माया को, छल-छद्म को जन्म दिया । उसने अपने साथियों से विशिष्ट प्रकार का तपश्चरणा करना प्रारम्भ कर दिया । उसके छहों साथी षष्ठ भक्त तप करते तो महाबल अष्टमभक्त तप करता । वे अष्टमभक्त तप करते तो वह दशम भक्त तप करता । सारांश यह कि उसके छहों साथी जिस किसी प्रकार का छोटा अथवा बड़ा तप करते, उनसे वह महाबल मुनि विशिष्ट तप करता । अपने तप के पारण के दिन

उसके साथी मुनि महाबल से पारण न करने का कारण पूछते तो सही बात नहीं कहकर वह कभी शारीरिक तो कभी मानसिक ऐसा कारण बताकर बात को टाल देता कि उसके वे छहों साथी मुनि आश्वस्त हो उसकी बात मान जाते। उनके मन में किसी भी प्रकार की शंका नहीं रहती।

इस प्रकार तपश्चरण में महाबल के मन में अपने साथियों से आगे रहने की, विशिष्ट रहने की अथवा बड़े रहने की आकांक्षा रही। शंका, आकांक्षा, वितिगिच्छा, पर पाषंड प्रशंसा और पर पाषंड संस्तव—यें सम्यक्त्व के पाँच दोष हैं। अहं वशात् बड़े रहने की आकांक्षा से महाबल का सम्यक्त्व दूषित हुआ। इस प्रकार अहं वशात् आकांक्षा और माया से अपने साथियों को, वस्तुस्थिति नहीं बताते हुए विशिष्ट प्रकार के तप करते रहने के कारण घोर तपस्वी होते हुए भी मुनि महाबल ने माया, छल छद्म के परिणामस्वरूप स्त्री नामकर्म का, अर्थात् स्त्रीवेद का बन्ध कर लिया।

“गहना कर्मणो गतिः”—कर्मगति बड़ी विचित्र है। साधक अपनी साधना में जहाँ कहीं किंचित्मात्र भी चूका, साधना में प्रमादवश, अहंवश अथवा माया के वश हो अपनी साधना में कहीं लेशमात्र भी दोष को अवकाश दिया कि कर्म तत्काल अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है और उसका फल प्रदान करने के पश्चात् ही पिण्ड छोड़ता है। चाहे कोई कितना ही बड़े से बड़ा साधक क्यों न हो, उसकी किसी भी त्रुटि को कर्म कभी क्षमा नहीं करता। उस त्रुटि का फल देकर ही त्रुटि करने वाले का पीछा छोड़ता है। सम्यक् तपश्चरण वस्तुतः विकटतम कर्मवन को भस्मावशेष कर देने में कल्पान्तकालीन कृशानु तुल्य है। किन्तु उस तपश्चरण में भी अहं को, माया को अवकाश दे देने के कारण आगे चलकर त्रिलोकपूजित महामहिम तीर्थंकर नाम, गोत्र कर्म का उपाजन कर लेने वाले महान् आत्मा महाबल मुनि ने भी अपने प्रारम्भिक साधनाकाल में स्त्री नाम कर्म का—स्त्रीवेद का बन्ध कर लिया। महामुनि महाबल ने स्त्रीवेद का बन्ध कर लेने के पश्चात् जब सब प्रकार के शक्तियों से रहित हो, अहं, आकांक्षा, माया आदि को अपने साधक जीवन में किंचित्मात्र भी अवकाश न देते हुए विशुद्ध निष्काम भाव से अपने साथी मुनियों के साथ निष्काम घोर तपश्चरण करते हुए तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म की पुण्य प्रकृतियों का बन्ध कराने वाले बीस बोलों की आराधना उत्कट भावों से की तो उन्होंने संसार के सर्वोत्कृष्ट पद-तीर्थंकर पद की पुण्य प्रकृतियों का उपाजन कर लिया।

अतः महामुनि महाबल का जीवन प्रत्येक मुमुक्षु साधक के लिये बड़ा ही शिक्षाप्रद और प्रेरणाप्रदायी है। मुनि महाबल का जीवन प्रत्येक मुमुक्षु साधक के लिये पग-पग पर, प्रतिपल, प्रति क्षण सावधान करने वाला, सजग करने वाला दिशावबोधक प्रदीप-स्तम्भ है। जह प्रत्येक साधक को, उसके साधनाकाल में पूरी तरह जागरूक रहने की प्रेरणा देता है कि उसकी साधना

में कहीं कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म शल्य भी प्रवेश न कर पाये, साधक अपने साधना जीवन में सतत सावधान व निरन्तर जागरूक रहकर निष्काम भाव से साधना में लीन रहे ।

### महाबल का जीवन वृत्त

सुदीर्घ अतीत काल की बात है । उस काल और उस समय में इसी जम्बू-द्वीप के महाविदेह क्षेत्र में मेरु पर्वत से पश्चिम, निषध पर्वत से उत्तर, महानदी शीतोदा से दक्षिण, सुखोत्पादक वक्षस्कार पर्वत से पश्चिम एवं पश्चिमी लवण समुद्र से पूर्व दिशा में सलिलावती नामक जो विजय है, उसमें वीतशोका नाम की नगरी थी । नौ योजन चौड़ी और १२ योजन लम्बी अलका तुल्य वीतशोका नगरी सलिलावती विजय की राजधानी थी । उस नगरी के बाहर ईशान कोण में इन्द्रकुम्भ नामक एक सुरम्य और विशाल उद्यान था । वीतशोका नगरी में बल नामक महाराजा था । बल महाराजा के अन्तःपुर में महारानी धारिणी आदि एक सहस्र रानियों का परिवार था ।

उस धारिणी महारानी ने एक रात्रि के अन्तिम प्रहर में, जबकि वह सुखपूर्वक सोयी हुई थी, अर्द्ध जागृतावस्था में एक स्वप्न देखा कि एक केसरी सिंह उसके मुख में प्रवेश कर रहा है । स्वप्नफल पूछने पर राजा और स्वप्न पाठकों ने बताया कि महारानी एक महान् प्रतापी पुत्र को जन्म देने वाली है । समय पर महारानी ने एक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । राजा बल ने अपने उस पुत्र का नाम महाबल रखा । शिक्षायोग्य वय में सकल कलाओं में निष्णात होने के अनन्तर जब राजकुमार महाबल ने युवावस्था में प्रवेश किया तो महाराजा बल ने अपने पुत्र महाबल का एक ही दिन में कमलश्री आदि पांच सौ (५००) अनुपम रूप लावण्यमयी राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण करवा दिया ।

महाबल को कन्या पक्षों की ओर से दहेज में सांसारिक सुखोपभोग की उत्तमोत्तम विपुल सामग्री मिली । उसे दहेज में मिली प्रत्येक वस्तु की संख्या पांच सौ थी । युवराज महाबल के पिता महाराज बल ने अपनी पांच सौ ही पुत्रवधुओं के लिये पांच सौ भव्य प्रासाद बनवा दिये । विवाहोपरान्त युवराज महाबल शुरबालाओं के समान अनुपम रूप लावण्यवती ५०० युवराज्ञियों के साथ सभी प्रकार के उत्तमोत्तम सांसारिक भोगोपभोगों का उपभोग करते हुए सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा ।

कालान्तर में वीतशोका नगरी के बाहर ईशान कोण में अवस्थित इन्द्रकुम्भ नामक उद्यान में स्थविर मुनियों का आगमन हुआ । अपने परिजनों एवं पुरजनों के साथ महाराजा बल भी उन स्थविर मुनियों के दर्शन एवं प्रवचन-मृत का पान करने की उत्कंठा से इन्द्रकुम्भ नामक उद्यान में पहुंचा । स्थविरो-

सम महामुनि ने भवतापहारिणी वीतरागवाणी का उपदेश दिया। महामुनि का उपदेश सुनकर महाराजा बल का मानस वैराग्य रस से ओतप्रोत हो उठा। देशान्तर विशाल परिषद् नगर की ओर लौट गई। महाराजा बल ने सांज्ञ-लिक शोष भुका महामुनि से निवेदन किया—“भगवन् ! आपके मुखारविन्द से भवितथ वीतरागवाणी को सुनकर मुझे संसार से पूर्ण विरक्ति हो गई है। मैं अपने पुत्र को सिंहासनारूढ़ कर आत्महित साधना हेतु आपके पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ।”

महामुनि ने कहा—“राजन् ! जिसमें तुम्हें सुख प्रतीत हो रहा है, वही करो, उस सुखकर कार्य में किसी प्रकार का प्रमाद मत करो।”

महाराजा बल ने अपने राजप्रासाद में लौटकर अपने पुत्र महाबल का राज्याभिषेक किया और पुनः महास्थविरों की सेवा में उपस्थित हो उसने महामुनि के पास जन्म-मरण आदि संसार के सभी दुःखों का अन्त करने वाली भागवती दीक्षा अंगीकार की। बल मुनि ने एकादशांगी के गहन अध्ययन के साथ-साथ विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए अपनी आत्मा को भावित करना प्रारम्भ किया। उग्रतम तपश्चरणा और 'स्व' तथा 'पर' का कल्याण करते हुए मुनि बल ने अनेक वर्षों तक पूर्ण निष्ठा और प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ श्रमण्य पर्याय का पालन किया। अन्त में चारु पर्वत पर जाकर संलेखना, भूसना के साथ अशन-पानादि का पूर्णतः आजीवन प्रत्याख्यान कर संथारा किया। अन्त में उन्होंने एक मास के अनशन पूर्वक समस्त कर्मों का अन्त कर निर्वाण प्राप्त किया।

उधर राज्य सिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात् महाराजा महाबल ने न्याय और नीतिपूर्वक अपनी प्रजा का पालन करना प्रारम्भ किया। कालान्तर में महाबल की महारानी कमलश्री ने एक ओजस्वी पुत्र को जन्म दिया। महाबल ने अपने उस पुत्र का नाम बलभद्र रखा। महाराजा महाबल ने अपने पुत्र बलभद्र को शिक्षा योग्य वय में सुयोग्य कलाचार्यों के पास शिक्षार्थ रखा और जब कुमार बलभद्र सकल कलाओं में पारंगत हो गया तो उसे युवराज पद प्रदान किया।

महाराजा महाबल के अचल, धरणा, पूरणा, वसु, वैश्रमणा और अभिचन्द नामक छह सभवयस्क बालसखा थे। महाबल, अचल आदि उन सातों मित्रों में परस्पर इतनी प्रगाढ़ मैत्री थी कि वे सदा साथ-साथ रहते, साथ-साथ ही उठते, बैठते, खाते, पीते और आमोद-प्रमोद करते थे। एक दिन महाबल आदि सातों मित्रों ने परस्पर वार्तालाप करते समय यह प्रतिज्ञा की कि वे जीवन भर साथ-साथ रहेंगे। आमोद-प्रमोद, अशन, पान, आदि ऐहिक सुखोपभोग और यहाँ

तक कि पारलौकिक हित साधना के दान, दया, धर्म से लेकर श्रमणत्व अंगीकार करने तक के सभी कार्य साथ साथ ही करेंगे। कभी एक दूसरे से बिछुड़ेंगे नहीं। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने के पश्चात् वे आमोद-प्रमोद, सुखोपभोग आदि सभी कार्य साथ-साथ करते हुए जीवन व्यतीत करने लगे।

कालान्तर में एक दिन वीतशोका नगरी के बहिर्भाग में अवस्थित इन्द्र-कुम्भ उद्यान में तपस्वी स्थविर श्रमणों के शुभागमन का शुभ संवाद सुनकर वे सातों मित्र उन स्थविरों के दर्शन एवं उपदेश श्रवण के लिये उस उद्यान में गये। धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् महाबल ने स्थविर श्रमणमुख्य की सेवा में उपस्थित हो निवेदन किया—“महामुने! आपके उपदेश को सुनकर मुझे संसार से विरक्त हो गई है। मैं अपने पुत्र को राज्यभार संभला कर आपके पास श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ।” स्थविरमुख्य ने महाबल से कहा—“राजन्! जिससे तुम्हें सुख हो, वही करो। अच्छे कार्य में प्रमाद मत करो।”

महाबल ने अपने अचल आदि छहों मित्रों के समक्ष निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म में दीक्षित होने का अपना विचार रखा। छहों मित्रों ने एक स्वर में महाबल से कहा—“देवानुप्रिय! यदि तुम्हीं श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर रहे हो तो इस संसार में हमारे लिये और कौनसा आधार है और कौनसा आकर्षण अवशिष्ट रह जाता है। यदि आप प्रव्रजित होते हैं तो हम छहों भी आपके साथ ही प्रव्रजित होंगे।”

महाबल ने कहा—“यदि ऐसी बात है तो अपने-अपने पुत्रों को अपने-अपने राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त कर आप लोग शीघ्रतापूर्वक मेरे पास आ जाइये।”

अपने अनन्य सखा महाराज महाबल की बात सुनकर वे छहों मित्र बड़े प्रमुदित हुए। वे अपने अपने राजप्रासाद में गये। तत्काल अपने अपने बड़े पुत्र को अपने अपने राजसिंहासन पर आसीन कर एक एक सहस्र पुरुषों द्वारा उठाई गई छह पालकियों में बैठ महाबल के पास लौट आये। महाराजा महाबल ने भी अपने पुत्र बलभद्र का राज्याभिषेक किया और वह एक हजार पुरुषों द्वारा वहन की जाने वाली पालकी में आरूढ़ हो अपने मित्रों को साथ लिये स्थविरों के पास इन्द्रकुम्भ उद्यान में उपस्थित हुआ। तदनन्तर महाबल आदि सातों मित्रों ने अपना अपना स्वयमेव पंचमुष्टि लुचन कर उन स्थविर महामुनि के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की।

श्रमणधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् उन सातों ही मुनियों ने साथ साथ एकादशांगी का अध्ययन किया और वे अपनी आत्मा को संयम एवं तप द्वारा

भावित करते हुए अप्रतिहत विहार से विचरण करने लगे। कालान्तर में उन सातों ही साथी मुनियों ने परस्पर विचार-विमर्श के पश्चात् यह प्रतिज्ञा की कि वे सातों साथ साथ एक समान तपस्याएं करते हुए विचरण करेंगे। अपनी इस प्रतिज्ञाके अनुसार वे सातों ही मुनि एक दूसरे के समान चतुर्थ भक्त, षष्ठ भक्त, अष्ट भक्त आदि तपस्याएं साथ-साथ करते हुए विचरण करने लगे। तदनन्तर उस महाबल अणुगार ने इस कारण स्त्री नामकर्म का उपार्जन कर लिया कि जब उसके साथी छहों मुनि चतुर्थ भक्त तप करते तो वह महाबल षष्ठभक्त तप कर लेता। यदि उसके छहों साथी मुनि षष्ठ भक्त तप करते तो वह महाबल अणुगार अष्टम भक्त तप कर लेता। इसी प्रकार वे छहों अणुगार यदि अष्टम भक्त तप करते तो महाबल दशमभक्त तप करता और वे छहों अणुगार यदि दशम भक्त तप करते तो महाबल अणुगार द्वादश भक्त तप अर्थात् पाँच उपवास का तप करता।

इस प्रकार अपने छहों मित्रों के साथ संयुक्त रूप से की गई समान तपस्या करने की अपनी प्रतिज्ञा के उपरान्त भी अपने मित्रों को अपने अन्तर्भन का भेद न देते हुए उनसे अधिक तपस्या करते रहने के कारण स्त्री नामकर्म का बन्ध कर लेने के पश्चात् मुनि महाबल ने अहंभक्ति (१), सिद्ध भक्ति (२), प्रवचन भक्ति (३), गुरु (४), स्थविर (५), बहुश्रुत (६), तपस्वी इन चारों की वात्सल्य सहित सेवा भक्ति के साथ उनके गुणों का उत्कीर्तन (७), ज्ञान में निरन्तर उपयोग (८), सम्यक्त्व की विशुद्धि (९), गुरु आदि व गुणवानों के प्रति विनय (१०), दोनों संघ्या विधिवत् षडावश्यक करना (११), शील और व्रतों का निर्दोष पालन (१२), क्षण भर भी प्रमाद न करते हुए शुभ ध्यान करना अथवा वैराग्य भाव की वृद्धि करना (१३), यथाशक्ति बारह प्रकार का तप करना (१४), त्याग-अभयदान, सुपात्रदान देना (१५) आचार्य आदि बड़ों की वैयावृत्य-शुश्रूषा करना (१६), प्राणिमात्र को समाधि मिले, इस प्रकार का प्रयास करना (१७), अपूर्व ज्ञान का अभ्यास करना (१८), श्रुतभक्ति अर्थात् जिनप्ररूपित आगमों में अनुराग रखना (१९) और प्रवचन प्रभावना अर्थात् संसार सागर में डूबते हुए प्राणियों की रक्षा के प्रयास, सभस्त जगत् के जीवों को जिन शासन रसिक बनाने के प्रयास, मिथ्यात्व महान्धकार को मिटा सम्यग्ज्ञान के प्रचार-प्रसार के प्रयास के साथ-साथ करण सत्तरी तथा चरण सत्तरी की आराधना करते हुए जिनशासन की महिमा बढ़ाना (२०)— इन बीस बोलों में से प्रत्येक की पुनः पुनः उत्कट आराधना, करते हुए तीर्थकर नाम-गोत्र कर्म की उपार्जना की।

तदनन्तर महाबल आदि उन सातों ही साथी भ्रमणों ने भिक्षु की बारहों प्रतिमाओं को क्रमशः धारण किया। तदनन्तर उन महाबल आदि सातों ही महामुनियों ने स्थविरों से आज्ञा लेकर लघु सिंहनिष्क्रीडित और महासिंह

निष्क्रीडित जैसी ६ वर्ष २ मास और १२ रात्रियों में निष्पन्न की जाने वाली घोर-उग्र तपश्चर्याओं की आग में अपने-अपने आत्मदेव की तपा-तपा कर अपने-अपने कर्म मल को क्षीण से क्षीणतर करने का प्रबल प्रयास किया। लघुसिंह निष्क्रीडित और महासिंह निष्क्रीडित तपस्याओं को पूर्ण करने के पश्चात् वे सातों मुनि उपवास, बेला, तेला आदि तपस्याएं करते हुए अपने कर्मसमूह को नष्ट करने में प्रयत्नशील रहे।

इस प्रकार घोर तपश्चरण करते रहने के कारण महाबल आदि सातों मुनियों के शरीर केवल चर्म से ढँके हुए अस्थि पंजर मात्र अवशिष्ट रह गये, उस समय उन्होंने स्थविरों से आज्ञा लेकर चार पर्वत पर सलेखना के साथ यावज्जीव अशन-पानादि का प्रत्याख्यान रूप पादपोषणन संधारा किया। उन महाबल आदि सातों महामुनियों ने ८४ लाख वर्ष तक श्रमण पर्याय का पालन किया और अन्त में ४ मास की तपस्यापूर्वक ८४ लाख वर्ष की अपनी-अपनी आयु पूर्ण कर जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र देव हुए। महाबल पूर्ण ३२ सागर की आयु वाला देव और शेष अचल आदि छहों मुनि बत्तीस सागर में कुछ कम स्थिति वाले देव हुए। जयन्त विमान में वे सातों मित्र देव अपने महद्दिक देव भव के दिव्य सुखों का उपभोग करने लगे।

### अचल आदि ६ मित्रों का जयन्त विमान से च्यवन

महाबल को छोड़ शेष अचल आदि छहों मित्रों के जीव जयन्त विमान की अपनी देव आयु पूर्ण होने पर इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विशुद्ध मातृ-पितृ वंश वाले राजकुलों में पुत्र रूप से उत्पन्न हुए। अचल का जीव कौशल देश की राजधानी अयोध्या में प्रतिवृद्धि नामक कौशल नरेश हुआ। धरण का जीव अंग जनपद की राजधानी चम्पा नगरी में चन्द्रछाया नामक अंगराज हुआ। अभिचन्द का जीव काशी जनपद की राजधानी बनारस में शंख नामक काशी नरेश्वर हुआ। पूरण का जीव कुणाला जनपद की राजधानी कुणाला नगरी में रुक्मी नामक कुणालाधिपति हुआ। वसु का जीव पुरु जनपद की राजधानी हस्तिनापुर में अदीनशत्रु नामक कुरुराज और वैश्रवण का जीव पांचाल जनपद की राजधानी काम्पित्यपुरी नगरी में जितशत्रु नामक पांचालाधिपति हुआ।

### भगवान् मल्लिनाथ का गर्भ में आगमन

महाबल का जीव जयन्त नामक अनुत्तर विमान के देव भव की अपनी आयु पूर्ण होने पर १६वें तीर्थंकर मल्लिनाथ के रूप में उत्पन्न हुआ।

जिस समय सूर्यादि ग्रह उच्च स्थान में स्थित थे, चारों दिशाएँ दिग्दाहादि उपद्रवों से विहीन होने के कारण सौम्य, तीर्थंकर पुण्य प्रकृति के बन्ध वाले

जीव के गर्भागमन काल के कारण अन्धकार रहित—प्रकाशमान और भङ्गावात, रजकण आदि से विहीन होने के कारण स्वच्छ, निर्मल थीं, जिस समय पक्षि-गण अपने-अपने नीडों में विश्राम करते हुए जय-विजय-कल्याणसूचक कलरव कर रहे थे। शीतल सुगन्धित मलयानिल मन्द-मन्द और अनुकूल गति से प्रवाहित हो रहा था। धान्यादिक से आच्छादित सस्य-श्यामला वसुन्धरा हरी-भरी थी। जनपदों का जनगण-मन प्रमुदित एवं भांति-भांति की क्रीड़ाओं में निरत था। ऐसे सम्मोहक, शान्त रात्रि के समय में, अश्विनी नक्षत्र का चन्द्र के साथ योग होने पर फाल्गुन शुक्ला चौथ (४) की अर्द्धरात्रि के समय जयन्त नामक अनुत्तर विमान की अपनी ३२ सागर प्रमाण देवायु के पूर्ण होने पर जयन्त विमान से अपने मति-श्रुति और अवधि इन तीन ज्ञान युक्त ज्यवन कर, इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की मिथिला राजधानी के महाराजा कुम्भ की महारानी प्रभावती देवी की कुक्षि में गर्भ रूप में उत्पन्न हुआ।

उसी रात्रि में सुखपूर्वक सोयी हुई महारानी प्रभावती देवी ने अर्द्धजागृत अवस्था में गज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, पूरुंकलश, पद्मसरोवर, समुद्र, देवविमान, रत्नराशि और निर्धूम अग्नि—इन चौदह महा-स्वप्नों को देखा।

उन चौदह स्वप्नों को देखने के तत्काल पश्चात् महारानी प्रभावती जागृत हुई और उठ बैठी। वह सहज ही अपार आनन्द का अनुभव करने लगी। वह अपने आपको परम प्रमुदित एवं प्रफुल्लित अनुभव करने लगी। उसके हर्ष का वेग द्रुत गति से बढ़ने लगा। उसके रोम पुलकित हो उठे। उसने अनुभव किया कि हर्ष उसके हृदय में समा नहीं रहा है। उसने हृदय में समा नहीं पा रहे अपने हर्ष को बाँटना उचित समझा। स्वप्नों का फल जानने की इच्छा भी बलवती हो रही थी और पूर्व में अननुभूत हर्ष का कारण जानने की भी। वह अपनी सुकोमल सुखशय्या से उठी। अपने शयनकक्ष से बाहर आई। उसने देखा व्योम शान्त था, दिशाएं सौम्य, स्वच्छ, निर्मल एवं प्रकाशमान थीं। मन्द-मन्द मादक मलयानिल धिरक रहा था। उसे समग्र संसार सुहाना लगा। संसार का सम्पूर्ण वातावरण लुभावना प्रतीत होने लगा। उसके पदयुगल मन्द-मन्थर गयन्द गति से अपने स्वामी मिथिलेश महाराजा कुम्भ के शयन कक्ष की ओर बढ़े। स्वप्न फल की जिज्ञासा के साथ-साथ वह यह भी जानना चाहती थी कि आज उसका तन, मन अनायास ही उद्धलित आनन्द सागर की उत्तुंग तरंगों पर क्यों भूल रहा है। उसे क्या ज्ञात था कि चराचर का शरण्य, स्वामी और सच्चा स्नेही त्रिलोकीनाथ उसकी रत्नगर्भा कुक्षि में आ चुका है।

सहमते, सकुचाते शनैः शनैः महारानी ने अपने स्वामी के शयन कक्ष में प्रवेश किया। कुछ क्षण वह शय्या के पास खड़ी इष्ट, कान्त, प्रिय, मृदु-मधुर



वाणी बोलती रही। महारानी के मृदु वचन सुनकर महाराज की निद्रा खुली। वे शय्या पर उठ बैठे।

“स्वागत है महादेवि! आज इस समय शुभागमन कैसे?” महाराज कुम्भ ने स्नेहसिक्त स्वर में प्रश्न किया। पर महारानी के मुखमण्डल पर दृष्टि पड़ते ही अपने इस प्रश्न के उत्तर की प्रतीक्षा न कर उत्कण्ठापूर्ण मुद्रा में पूछा— “महादेवि! आज तुम्हारे मुखमण्डल पर भ्रमण्डल का सा दिव्य प्रकाश स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रहा है। तुम आज अतीव प्रसन्न प्रतीत हो रही हो। तुम्हारे लोचन युगल से आज अलौकिक आलोक की किरणें प्रकट हो रही हैं। अवश्य ही आज तुम कोई न कोई विशिष्ट शुभ संवाद सुनाने आई हो। हमें भी अपने हर्ष का भागीदार बनाओ।

महारानी प्रभावती ने अंजलि भाल से छुआते हुए विनम्र, मृदु, मंजुल स्वर में कहा— “देव! अभी अभी अर्द्धजागृतावस्था में मैंने अद्भुत, १४ स्वप्न देखे हैं। उन स्वप्नों को देख कर मेरी निद्रा भंग हुई। सहसा मैं उठ बैठी। अकारण ही मेरा मनमयूर हर्ष विभोर हो नाच उठा। मैंने आज से पहले इतने असीम और अद्भुत आनन्द का अनुभव कभी नहीं किया। मुझे आज सब कुछ सुहाना लग रहा है। मैं अपने आनन्द का पारावार शब्दों से प्रकट करने में अक्षम हूँ। मुझे स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि मेरे सीमित मानस में आनन्द का उद्वेलित अथाह उदधि समा नहीं रहा है, इसीलिये अपने आनन्द का आधा भाग आपकी देकर अपने आनन्द के भार को हल्का करने हेतु आपकी यह चरणा चंचरीका आपकी सेवा में इस समय उपस्थित हुई है। प्राणाधार! मैं अभी तक अपने इस पारावार विहीन हर्ष का कारण नहीं समझ पा रही हूँ। ऐसा आभास होता है कि हो न हो इन स्वप्नों का इस अपार आनन्द से अवश्य ही कोई सम्बन्ध है।

मिथिलेश्वर महाराज कुम्भ महारानी प्रभावती के मुख से उन चौदह स्वप्नों को सुन कर परम प्रमुदित हुए और बोले— “महादेवि! तुम्हारे ये स्वप्न यही बता रहे हैं कि अलौकिक शक्ति सम्पन्न कोई महान् पुण्यशाली प्राणी तुम्हारी कुक्षि में आया है। उस महान् आत्मा के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही तुम्हारे मुख मण्डल और अंग प्रत्यंग से प्रकाशपुंज प्रकट हो रहा है। तुम्हारे असीम आनन्द का स्रोत भी तुम्हारी कुक्षि में आया हुआ वही पुण्यवान् प्राणी प्रतीत होता है। महादेवि! तुम वस्तुतः महान् भाग्यशालिनी हो। तुम्हारे महास्वप्न निश्चित रूप से महान् शुभ फल प्रदायी होंगे, ऐसी मेरी धारणा है। प्रातःकाल स्वप्न पाठकों को बुला कर उनसे इन महास्वप्नों के फल के विषय में विस्तृत विवरण ज्ञात कर लिया जायगा।

अपने पति के मुख से स्वप्नों का फल सुन कर महारानी प्रभावती मन ही मन अपने नारी जीवन को धन्य समझ प्रमुदित हुईं। नारी सुलभ लज्जा से

उसके विशाल-आयत-ललित लोचन युगल की पलकें मृगाल तुल्या ग्रीवा के साथ ही झुक गईं । उसने ईषत् स्मित के साथ अंजलि भाल पर रख हर्षातिरेक-वशात् अवरुद्ध कण्ठ से वीणा के तार की झंकार तुल्य सुमधुर विनम्र स्वर में धीमे से कहा—“प्राणाधिक दयिते ! आपके ये सुधासिक्त परम प्रीति प्रदायक वचन करारुद्रों के माध्यम से मेरे मानस में अमृत उंडेल उसे आप्लावित, आप्यायित कर रहे हैं । अब मुझे अपने अन्तर में हर्ष सागर के उद्वेलित होने का कारण समझ में आ गया है । आपके वचन अक्षरशः सत्य हैं । मेरे सब उहापोह शान्त हो गये हैं । मैं आश्वस्त हो गई हूँ । अब आप विश्राम करें ।”

यह कह कर महारानी प्रभावती उठी । उसने महाराज कुम्भ को झुककर प्रणाम किया और वह अपने शयनकक्ष की ओर लौट गई । आँखों में, तन-मन में और रोम-रोम में आनन्दातिरेक समाया हुआ था, निद्रा के लिये वहाँ कोई अवकाश ही नहीं रहा । इसके साथ ही साथ महारानी को यह आशंका भी थी कि अब सोने पर कहीं कोई दुःस्वप्न न आ जाय, इसलिये उसने शेष रात्रि धर्माराधन करते हुए धर्मजागरणा के रूप में व्यतीत की ।

दैनिक आवश्यक कृत्यों से निवृत्त हो प्रातःकाल महाराज कुम्भ ने स्वप्न पाठकों को सादर आमन्त्रित किया । उन्हें महारानी के चौदह महास्वप्नों का विवरण सुना कर स्वप्न-फल पूछा ।

स्वप्न-शास्त्र के पारंगत स्वप्न पाठकों ने स्वप्न-शास्त्र के प्रमाणां के आधार पर परस्पर विचार-विमर्श द्वारा स्वप्नों के फल के सम्बन्ध में सर्वसम्मत निर्णय किया । तदनन्तर स्वप्न पाठकों के मुखिया ने स्वप्न-फल सुनाते हुए महाराज कुम्भ से कहा—“महाराज ! जो स्वप्न महारानी ने देखे हैं, वे स्वप्नों में सर्वश्रेष्ठ स्वप्न है । स्वप्न-शास्त्र में इन स्वप्नों को “चौदह महास्वप्न” की संज्ञा दी गई है । इस प्रकार चौदह महास्वप्न वस्तुतः केवल तीर्थंकरों और चक्रवर्तियों की माताएं ही गर्भधारण की रात्रि में देखती हैं । महारानी द्वारा देखे गये ये महास्वप्न पूर्व-सूचना देते हैं कि महारानी की रत्नकुक्षि में ऐसा महान् पुण्यशाली प्राणी आया है, जो भविष्य में धर्म-चक्रवर्ती तीर्थंकर अथवा भरत क्षेत्र के छहों खण्डों का अधिपति चक्रवर्ती सम्राट् होगा ।”

स्वप्न पाठकों के मुख से स्वप्नों का फल सुन मिथिलापति महाराज कुम्भ और महारानी प्रभावती—दोनों ही बड़े प्रसन्न-प्रमुदित हुए । महाराज कुम्भ ने स्वप्न पाठकों को पुरस्कारादि से सन्तुष्ट एवं सम्मानित कर बिदा किया ।

तदनन्तर परम प्रमुदिता महारानी प्रभावती संयमित एवं समुचित आहार-विहार का पूरा ध्यान रख कर सुखपूर्वक गर्भ को वहन करती हुई सदा ज्ञान्त एवं प्रसन्न मुद्रा में सुखोपभोग करने लगी । इस प्रकार सुखोपभोग करते

हुए उसके गर्भकाल के तीन मास पूर्ण हो गये, तब उसे एक अतीव प्रशस्त दोहद (दोहला) उत्पन्न हुआ। उसके मन में एक उत्कट साध जगी, जो इस प्रकार थी :—

“वे मातए धन्य हैं, जो जल और स्थल में उत्पन्न एवं प्रफुल्लित हुए पाँच रंगों के सुगन्धित सुमनोहर पुष्पों के ढेर से समीचीनतया सुसंस्कारित, समाच्छादित, सुसंभिजित शय्या पर बैठती और शयन करती हैं, और गुलाब, मोगरा, चम्पक, अशोक, पुन्नाग, नाग, मरुआ, दमनक और कुब्जक के रंग-बिरंगे हृदय-हारी सुमनों के समूह से उत्कृष्ट कलात्मक कौशलपूर्वक ग्रथित किये गये, स्पर्श करने में सुतरां सुकोमल, देखने में नयनानन्दप्रदायक-प्रीतिकारक, तृप्तिकारक, सम्मोहक, मादक महा सुरभि से सम्पूर्ण वायुमण्डल को मगमगायमान सुरभित, सुगन्धित करने वाले दामगण्ड-पुष्पस्तबक को सूँघती हुई अपने गर्भ-मनोरथ की, अपने गर्भकाल की साध की, अपनी गुविणी अवस्था के दोहद की पूति करती हैं।”

समीप ही में रहने वाले वाणव्यन्तर देवों ने, महारानी प्रभावती के दोहदोत्पत्ति का परिज्ञान होते ही, दोहद के अनुरूप, जल तथा स्थल में उत्पन्न हुए पाँच वर्णों के प्रफुल्लित एवं सुन्दर पुष्पों के ढेर से महारानी की शय्या को सुचारुरूपेण समाच्छादित एवं सजा दिया और दोहद की पूति करने में पूर्णरूपेण सक्षम, उपरिवर्णित सभी भाँति के सुगन्धित, सुविकसित, सुन्दरातिसुन्दर सुमनों से उत्कृष्टतम कला-कौशल पूर्वक गुंथा हुआ एक अद्भुत अलौकिक दामगण्ड-पुष्पस्तबक (गुलदस्ता) महारानी के समक्ष लाकर प्रस्तुत कर दिया।

जल तथा थल में पुष्पित-विकसित पंच वर्णात्मक प्रभूत पुष्पनिचय से चातुरीपूर्वक चित्रित-समाच्छादित नयनाभिराम सुकोमल पुष्प शय्या को और अपने मनोरथ के शतप्रतिशत अनुकूल, नयन-नासिका-श्रवण-तन-मन-मस्तिष्क को सर्वथा संतृप्त कर देने वाले मनोज्ञ सुमन-स्तबक को देखते ही महारानी हर्षविभोर हो उठी, उसके हृदय की कली-कली खिल उठी। उसने सुकोमल सुमन-शय्या पर बैठ कर, शयन कर और पुष्पस्तबक को सूँघ-सूँघ कर, देख-देख कर अपने प्रशस्त दोहद की पूर्णरूपेण पूति की। उसकी पाँचों इन्द्रियां तृप्त हो गई, रोम-रोम तुष्ट हो गया। इस प्रकार राजा एवं प्रजा द्वारा प्रशंसित प्रशस्त अपना दोहद पूर्ण होने पर महारानी प्रभावती पूर्णतः प्रसन्न एवं प्रमुदित रहने लगी। गर्भकाल के सत्रा नौ मास पूर्ण होने पर मार्ग-शीर्ष शुक्ला एकादशी की मध्यरात्रि के समय चन्द्रमा का अश्विनी नक्षत्र के साथ योग होने पर, जिस समय कि सूर्य आदि ग्रह उच्च स्थान पर स्थित थे, जनपदों के निवासी आनन्दमग्न एवं परम प्रसन्न थे, उस समय महारानी प्रभावती ने बिना किसी बाधा-पीड़ा के मुखपूर्वक १६वें तीर्थकर को जन्म दिया। चौसठ

इन्द्रों, इन्द्राणियों, चार जाति के देवों एवं देवियों ने बड़े ही हर्षोल्लास के साथ १६वें तीर्थंकर का जन्म महोत्सव मनाया ।

चारों जाति के देवों द्वारा जन्म महोत्सव मनाये जाने के पश्चात् महाराजा कुम्भ ने भगवान् का नामकरण किया । गर्भकाल में माता को पांच वर्षों के पुष्टों की शय्या और दामगण्ड का दोहद उत्पन्न हुआ था, जिसकी कि पूति देवों द्वारा की गई थी । अतः महाराजा कुम्भ ने अपनी पुत्री का नाम मल्ली रखा । मल्ली राजकुमारी अनुक्रमशः दिन प्रतिदिन वृद्धिगत होने लगी । वे ऐश्वर्य आदि गुणों से युक्त थीं । वे जयन्त नामक विमान से च्यवन कर आई थीं और अनुपम कान्ति एवं शोभा से सम्पन्न थीं । वे दासियों तथा दासों से परिवृत्त और समवयस्का सहचरियों-सहेलियों के परिकर अर्थात् समूह से युक्त थीं ।

उनके बाल भ्रमर के समान काले और चमकीले थे । आँखें बड़ी ही सुहानी थीं । ओष्ठ बिम्ब फल के समान लाल-लाल और दन्तपक्ति श्वेत एवं चमकीली थी । उनके अंगोपांग नवविकसित कमल पुष्पवत् मृदुल मंजुल एवं कोमल थे । उनके निश्वासों से प्रफुल्लित नीलकमल की गन्ध के समान सुगन्ध समग्र वातावरण में व्याप्त हो जाती थी ।

इस प्रकार शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्र की कला के समान अनुक्रमशः वृद्धिगत होती हुई विदेह राजकुमारी भगवती मल्ली जब बाल्यावस्था से किशोरी अवस्था में प्रविष्ट हुई तो उनकी देहयष्टि अत्युत्कृष्टतम रूप, लावण्य एवं यौवन से सम्पन्न हो गई । जब वह मल्ली कुमारी सौ वर्ष से कुछ ही न्यून अवस्था की हुई, उस समय अपने पूर्वजन्म के मित्र इक्ष्वाकुराज प्रतिबुद्धि, अंग देशाधिप चन्द्रच्छाय, काशीराज-शंख, कुणालाधिपति रूपी, कुरुराज अदीनशत्रु और पांचाल नरेश जितशत्रु—इन छहों राजाओं को अपने विपुल अवधिज्ञान द्वारा देखती, जानती हुई अपनी सखियों के साथ सुस्रपूर्वक विचरण करने लगी । उस समय मल्ली राजकुमारी ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुला कर कहा—“हे देवानुप्रियो ! तुम लोग अशोक वाटिका में सैकड़ों स्तम्भों पर आधारित एक विशाल मोहन-घर का निर्माण कर उसके मध्य भाग में छैः गर्भ ग्रहोंके बीचोबीच एक जालीगृह की रचना कर उस जालगृह के मध्यभाग में एक मणिमयी पीठिका (चबूतरे) का निर्माण करो । यह सब निर्माण कार्य शीघ्र ही सम्पन्न कर मुझे सूचित करो । मल्ली विदेह राजकुमारी के कौटुम्बिक पुरुषों ने भगवती मल्ली की आज्ञा का पालन करते हुए उनकी इच्छा के अनुरूप अतीव मनोहर उस मोहनघर में पृथक्-पृथक् छैः गर्भग्रह, जालीगृह और छहों गर्भग्रहों से स्पष्टतः दिखने वाले मणिपीठ का निर्माण कर, उस निर्माण कार्य के सम्पूर्ण होने की सचना भगवती मल्ली को दी ।

तदनन्तर भगवती मल्ली ने उस मणिपीठिका पर साक्षात् अपने ही समान देहाकार, वर्ण, वय, रूप, लावण्य और यौवन आदि गुणों से सर्वथा सम्पन्न एक स्वर्गमयी ऐसी पुतली का निर्माण किया, जिसको देखते ही सुविचक्षण से सुविचक्षण दर्शक भी यही समझे कि यह भगवती मल्ली खड़ी हैं। अपनी उस प्रतिमा के शिर पर भगवती मल्ली ने एक छिद्र रख कर उसे पद्मपत्र के ढक्कन से ढक दिया। साक्षात् अपने जैसी ही प्रतिमा का निर्माण करने के पश्चात् मल्ली भगवती स्वयं जो जो मनोज्ञ अशन, पान, खादिम और स्वादिम-चार प्रकार का आहार करती उस चार प्रकार के आहार में से एक-एक ग्रास (कवल) प्रतिदिन उस पुतली में डाल कर उसे पद्मपत्र के ढक्कन से ढक देती। प्रतिदिन का यह क्रम निरन्तर चलता रहा। उस कनकमयी पुतली में मस्तक के छिद्र से प्रतिदिन चतुर्विध आहार का एक एक ग्रास डालते रहने से उस में बड़ी ही भयंकर और दुस्सह्य दुर्गन्ध उत्पन्न हुई। वह दुर्गन्ध मृत मानव अथवा मृत पशु के कलेवर के कई दिन पड़े रहने पर, उससे निकलने वाली दुर्गन्ध से भी अनेक गुना अधिक दुस्सह्य, अनिष्टतम, अमनोज्ञतम और आस-पास के सम्पूर्ण वायुमण्डल को दुर्गन्धित एवं दूषित बना देने वाली थी।

### अलौकिक सोन्दर्य की ख्याति

उन्मुक्त-बालभावा भगवती मल्ली के अलौकिक रूप-लावण्य और उत्कृष्टतम गुणों की ख्याति दिग्दग्ध में फैलने लगी।

जिन दिनों मति, श्रुति और अवधिज्ञान से सम्पन्ना भगवती मल्ली अपने पूर्वभव के मित्र राजाओं के मोहभाव का शमन करने के लिये मोहन घर का निर्माण करवा रहीं थीं, उन्हीं दिनों भगवती मल्ली के पूर्वजन्म के बालसखा उन छहों राजाओं को भगवती मल्ली के प्रति विभिन्न ६ कारणों से प्रगाढ़ प्रीति उत्पन्न हुई। प्रतिबुद्ध आदि उन छहों राजाओं को जिस-जिस निमित्त से भगवती मल्ली के प्रति गाढ़तम अनुराग हुआ, उन निमित्तों का सार रूप विवरण इस प्रकार है :—

### कौशलाधीश प्रतिबुद्धि का अनुराग

एक बार साकेतपुर में प्रतिबुद्धि राजा ने रानी पद्मावती के लिये नागधर के यात्रा महोत्सव की घोषणा की और मालाकारों को अच्छे से अच्छा माल्य गुच्छ (पुष्पस्तबक) बनाने का आदेश दिया। जब राजा और रानी नागधर में आये और नाग प्रतिमा को उन्होंने वन्दन किया, उस समय मालाकारों द्वारा प्रस्तुत एक श्री दामगण्ड (पुष्पस्तबक) को राजा ने देखा और चिस्मित हो कर अपने सुबुद्धि नामक प्रधान से प्रश्न किया—“हे देवानुप्रिय ! तुम राजकार्य से बहुत से ग्राम, नगर आदि में घूमते रहते हो, राजाओं के भवनों

में भी प्रवेश करते हो, क्या तुमने ऐसा मनोहर श्री दामगण्ड कहीं अन्यत्र भी देखा है ?

सुबुद्धि ने कहा—“महाराज ! मैं आपका संदेश ले कर एक बार मिथिला गया था । वहाँ महाराज कुम्भ की पुत्री मल्ली विदेह राजवर कन्या के वार्षिक जन्म-महोत्सव के अवसर पर जो दिव्य श्री दामगण्ड मैंने देखा, उसके समक्ष महाराज्ञी देवी पद्मावती का यह श्री दामगण्ड लक्षांश भी नहीं है । उसने विदेह रायवर कन्या मल्लीकुमारी के सौन्दर्य का बड़ा ही आश्चर्यकारी परिचय दिया, जिसे सुन कर कौशलेश प्रतिबुद्धि मल्लीकुमारी पर पराङ्गुण मुग्ध हो गये ।

राजप्रासाद में आकर कौशलाधीश महाराज प्रतिबुद्धि ने अपने एक अति कुशल दूत को बुला कर कहा—“देवानुप्रिय ! तुम आज ही मिथिला की ओर प्रस्थान करो और मिथिला के महाराजा कुम्भ के समक्ष जा कर मेरा यह सन्देश सुनाओ कि इक्ष्वाकु कुल कमल दिवाकर साकेत पति कौशलेश्वर महाराजा प्रतिबुद्धि आपकी पुत्री विदेह वर राजकन्या मल्लीकुमारी को अपनी पत्नी के रूप में वरण करना चाहता है । राजकुमारी मल्ली को प्राप्त करने के लिये कौशलेश्वर अपने कौशल जनपद के सम्पूर्ण राज्य को भी न्यौछावर करने के लिये समुद्यत हैं ।”

दूत ने सांजलि शीश भुका “यथाज्ञापयति देव !” कहते हुए अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य किया । वह दूत अतीव प्रमुदित हो अपने घर आया और पाथेय, अनुचर और कुछ सैनिकों की व्यवस्था कर उन्हें साथ ले मिथिला की ओर प्रस्थित हो गया ।

### अरहन्क द्वारा दिव्य कुण्डल-युगल की भेंट

जिस समय भगवती मल्ली ने किशोरी वय में प्रवेश किया, उस समय अंग जनपद के अधीश्वर चन्द्रच्छाग अंग राज्य की राजधानी चम्पा नगरी में (अंग जनपद के) राजसिंहासन पर आसीन थे ।

उस समय चम्पा नगरी में सम्मिलित रूप से व्यापार करने वाले अरहन्नक प्रमुख बहुत से पोतवणिक रहते थे । वे व्यापारी जहाजों द्वारा दूर-दूर के अनेक देशों में व्यापार के लिये साथ-साथ समुद्री यात्राएं करते रहते थे । वे सभी पोतवणिक विपुल वैभव शाली, ऐश्वर्यशाली और समृद्ध थे । उनके भण्डार धन, धान्यादिक से परिपूर्ण थे । कोई भी व्यक्ति उनका पराभव करने में समर्थ नहीं था । उन नौकाओं से व्यापार करने वाले व्यापारियों में अरहन्नक नाम का प्रमुख व्यापारी न केवल धन-धान्यादिक से ही समृद्ध था, अपितु वह धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा रखने वाला सच्चा श्रमणोपासक और जीव तथा अजीव के स्वरूप का ज्ञाता, तत्वज्ञ एवं मर्मज्ञ था । धर्म में उसकी आस्था अविचल थी ।

एक दिन उन सब पोतवणिकों ने विचार विनिमय के पश्चात् समुद्र पार के सुदूरस्थ देशों से व्यापार करने का निश्चय किया। तदनुसार गरिम अर्थात् गिनती पूर्वक क्रय-विक्रय करने योग्य नारियल, सुपारी आदि, धरिम—अर्थात् तुला पर तोल कर क्रय-विक्रय करने योग्य सस्यादि मेय अर्थात्—पल, सेतिका आदि के परिमाण से व्यवहृत होने योग्य और परिच्छेय—अर्थात् गुणों की परीक्षा के द्वारा क्रय-विक्रय किये जाने योग्य मणि, रत्न, वस्त्र आदि इन चार प्रकार के क्रयाणकों की वस्तुओं से दो विशाल जलपोतों (जहाजों) को भर कर उन्होंने शुभ मुहूर्त में समुद्री यात्रा प्रारम्भ की। समुद्र यात्रा करने का, अंग नरेश का आदेश-पत्र उनके साथ था। अनेक प्रकार के क्रयाणकों, भोजन सामग्री, सेवकों, पोतरक्षकों एवं पोत-वणिकों से भरे दोनों जलपोत समुद्र में मिलती वेगवती नदियों की तीव्र धाराओं पर तैरते, उदधि की उत्ताल तरंगों से जूझते हुए समुद्र के वक्षस्थल को चीरते हुए समुद्र में बहुत दूर निकल गये।

जलपोतों के ऊपर बाँधे गये सुदृढ़ श्वेत वस्त्र के पालों में निरन्तर अवरुद्ध होती हुई वायु के वेग से द्रुत गति पकड़े हुए दोनों जलपोत कुछ ही दिनों में समुद्र के अन्दर सैकड़ों योजनों की दूरी पर पहुँच गये, चारों ओर कल्लोलित सागर की लोल लहरें और छोर विहीन जलराशि के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी। उस समय आकाश में अनेक प्रकार के उत्पात होने लगे। महसा पोतवणिकों ने देखा कि कज्जलगिरि के समान काला और अति विशाल एक पिशाच घनघटा की तरह गर्जन, अट्टहास और कराल भँरव की तरह नृत्य करता हुआ उनके जहाजों की ओर बढ़ा चला आ रहा है। उसकी जंघाएँ सात-आठ ताल वृक्षों, जितनी लम्बी-लम्बी, वक्षस्थल कज्जल के गिरिराज की अति विशाल शिला के समान विस्तीर्ण एवं भयानक, कपोल और मुख गहरे गड्ढे की तरह भीतर घुसे हुए, नाक छोटी, चिपटी और बैठी हुई, आँखें खद्योत की चमक के समान लाल-लाल, ओष्ठ बड़े-बड़े और लटकते हुए, चौके के चारों दाँत हस्ति दंत के समान बाहर निकले हुए, जिह्वा लम्बी-लम्बी और लपलपाती हुई, भौहें अति वक्र तनी हुई और भयावनी, नख सूप के समान, कान ऊपर चोटी तक ऊँचे उठे हुए और नीचे दोनों स्कन्धों तक लटकते हुए थे। वह नर-मुण्डों की माला धारण किये हुए था। उसके कानों में कर्णपूरों के स्थान पर दो भयंकर काले नाग फनों को उठाये हुए थे। उसने अपने दोनों स्कन्धों पर मार्जारों और शृगालों को और शिर पर घू-घू की घोर ध्वनि करने वाले उल्लुओं को बैठा रखा था। उसकी दोनों भुजाओं में रुधिर से रंजित हस्तिचर्म लिपटे हुए थे। हाथ में दुधारा विकराल खड्ग धारण किये हुए अपने गले में बँधे घंटों का घोर-रव करता हुआ जलपोतों की ओर आकाश से उतर रहा था।

इस प्रकार के भीषण कालतुल्य पिशाच को देख कर अरहन्नुक को छोड़ शेष सभी पोतवणिक भयभीत हो थर-थर काँपते हुए एक-दूसरे से चिपट गये।

किन्तु श्रमणोपासक अरहन्नक उस काल के समान विकराल पिशाच को देख कर किचिन्मात्र भी भयभीत अथवा विचलित नहीं हुआ। वह पूर्णतः शान्त और निरुद्विग्न बना रहा। उसने जलपोत के एक स्थान को वस्त्र के छोर से प्रमार्जित किया, उस स्थान को जीवादि से रहित विणुद्ध बना कर वहीं स्थिर-अचल आसन से बैठ गया। उसने अपने दोनों हाथों को जोड़ अंजलि से अपने भाल को छुआ और आवर्त करते हुए इन्द्रस्तव से धैर्यपूर्वक सिद्ध प्रभु की स्तुति की। तदनन्तर यह उच्चारण करते हुए कि यदि मैं इस पिशाचकृत उपसर्ग से बच गया तो अशननादि ग्रहण करूंगा और यदि मैं इस उपसर्ग से नहीं बचा, जीवित नहीं रहा तो जीवन पर्यन्त अशन-पानादि ग्रहण नहीं करूंगा, उसने आगार सहित अनशन का प्रत्याख्यान किया। इस प्रकार अरहन्नक द्वारा सागारिक संथारा ग्रहण किये जाने के कुछ ही क्षण पश्चात् वह विकराल पिशाच हाथ में दुधारा खड्ग लिये हुए अरहन्नक के पास आया और अत्यन्त क्रुद्ध मुद्रा में लाल-लाल भयावनी आंखें दिखाते हुए अरहन्नक से कहने लगा—“अरे ओ! प्राणि-मात्र द्वारा अप्रार्थित मृत्यु की प्रार्थना करने वाले, कृष्णपक्ष की चतुर्दशी अथवा अभावस्था की कालरात्रि में जन्म ग्रहण किये हुए लज्जा और शोभा विहीन अरहन्नक! तेरे द्वारा ग्रहण किये गये ४ शिक्षाव्रतों, ५ अणुव्रतों और ३ गुणव्रतों रूप १२ प्रकार के श्रावक धर्म को पूर्णतः अथवा अंशतः खण्डित करवाने में तुझे सम्यक्त्व से, तेरे इस १२ प्रकार के श्रमणोपासक धर्म से पतित करने में कोई भी देव-दानव की शक्ति असमर्थ है। तेरा भला इसी में है कि तू स्वतः ही सम्यक्त्व का—बारह प्रकार के श्रमणोपासक धर्म का परित्याग कर दे, अन्यथा मैं तेरे इन जलपोतों को दो अंगुलियों से उठा कर आकाश में बहुत ऊपर ले जा कर इस अथाह समुद्र में डुबो दूंगा, जिसके परिणाम स्वरूप तू घोर आर्तध्यान करता हुआ अकाल में ही काल का कवल बन जायगा। श्रमणोपासक अरहन्नक को पूर्ववत् निश्चल और निर्भय रूपेण ध्यानमग्न देख उस पिशाच ने और भी अधिक तीव्र क्रोध और आक्रोशपूर्ण कड़कते हुए स्वर में अपने उक्त कथन को दूसरी बार दोहराया। इस पर भी अरहन्नक धीर, गम्भीर और निर्भय बना रहा। उसने मन ही मन उस पिशाच को सम्बोधित करते हुए कहा—“हे देवानु-प्रिय! मैं अरहन्नक नामक श्रमणोपासक हूँ। मैंने जीव अजीव आदि तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान समीचीनतया हृदयंगम कर उस पर अटूट श्रद्धा और अविचल आस्था की है। मुझे अपनी इस निर्ग्रन्थ प्रवचन की श्रद्धा से संसार की कोई भी शक्ति किचिन्मात्र भी क्षुभित, स्खलित अथवा विचलित नहीं कर सकती। इसलिए हे देव! तुम जो कुछ भी करना चाहते हो, वह सब कुछ कर लो, मैं अपनी श्रद्धा का, आस्था का, सम्यक्त्व अथवा बारह प्रकार के श्रमणोपासक धर्म का लेश मात्र भी परित्याग नहीं करूंगा।”

अरहन्नक को उसी प्रकार अनुद्विग्न, अविकम्प, अविचल, निर्भय और



शान्त देख कर प्रलयघटा में कड़कती बिजली के स्वर में जल, स्थल और नभ को प्रकम्पित करते हुए दूसरी बार अपने उसी उपर्युक्त कथन को दोहराया। इस कर्णवेधी अति कर्कश, कठोर कथन का अरहन्नक के तन, मन अथवा हृदय पर कोई प्रभाव पड़ा कि नहीं, इस प्रकार की प्रतिक्रिया की कुछ क्षणों तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् जब उस पिशाच ने यह देखा कि उसके द्वारा सभी प्रकार का भय दिखाये जाने पर अरहन्नक अडिग आसन से पूर्णतः शान्त, निर्भय मुद्रा में ध्यान मग्न हैं, तो उसे अरहन्नक के साथ-साथ अपनी असफलता पर भी परम क्षोभ और भीषण क्रोध आया। उसने भयावह हुंकार से दशों दिशाओं को कम्पायमान करते हुए अरहन्नक के जलपोत को अपनी दो अंगुलियों पर उठा लिया। जलपोत को अपनी मध्यमा और तर्जनी अंगुलियों पर रख उसने आकाश की ओर ऊंची छलांग भरी। आकाश में सात-आठ ताल वृक्ष प्रमाण ऊंचाई पर जा कर गगन को गुंजायमान कर देने वाले उच्चतम आकाशपूर्ण स्वर में एक बार पुनः अपने उपर्युक्त कथन को दोहराते हुए कहा—“अरे ओ ! अप्राथित मृत्यु की प्रार्थना करने वाले निर्लज्ज, निश्चरीक अरहन्नक ! अब भी समय है, अपने सम्यक्त्व को, अपनी आस्था को, अपने बारह प्रकार के श्रमणोपासक धर्म को छोड़ दे, अन्यथा मैं तुम्हें तेरे इस जलयान के साथ ही भीषण दंष्ट्राकराल वाले बुभुक्षित मकरों से संकुल सागर के अगाध जल में डूबीता हूँ।”

अपने इस कथन के उपरान्त भी जब उस पिशाच ने अपने अविधिज्ञान के उपयोग से देखा कि अरहन्नक के तन, मन, मस्तिष्क अथवा हृदय पर उसके अति कर्कश कथन और प्राणान्तक भीषण कृत्य का भी कोई किञ्चिन्मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा है, वह पूर्ववत् अपने धर्म पर, अपनी श्रद्धा-आस्था पर, सम्यक्त्व पर पूर्णरूपेण सुस्थिर है, उसकी निर्ग्रन्थ प्रवचन पर जो अटूट आस्था है, उस आस्था श्रद्धा से उसे विचलित करने के लिए उरुने जितने भीषण से भीषण उपाय किये हैं, वे सब निष्फल सिद्ध हुए हैं, वह अपने धर्म पथ से किञ्चिन्मात्र भी स्खलित अथवा विचलित नहीं हुआ है, तो उसने अरहन्नक को उपसर्ग देने का विचार त्याग दिया। उसने अरहन्नक के जलपोत को शनैः शनैः समुद्र के जल की सतह पर रखा। तदनन्तर उसने अपने घोर भयावह पिशाच रूप का परित्याग कर दिव्य देव रूप को धारण किया। उस देव ने हाथ जोड़ कर अरहन्नक से क्षमा मांगते हुए सादर भुक्त कर विनम्र स्वर में कहा—“हे देवानु-प्रिय अरहन्नक ! तुम धन्य हो कि तुमने निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति इस प्रकार की अनुपम अविचल आस्था, मंसार की किसी भी शक्ति से किञ्चिन्मात्र भी परिचलित नहीं की जा सकने वाली श्लाघनीय अगाध अक्षोभ्य श्रद्धा अवाप्त की है। सौधर्मपति देवराज इन्द्र ने अपने सौधर्मवितंसक विमान में स्थित सौधर्म सभा में विशाल देवममूह के समक्ष दृढ़ विश्वास के साथ, गुरु-गम्भीर तथा सुस्पष्ट शब्दों में अपने आन्तिक उद्गार अभिव्यक्त करते हुए कहा था कि

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की चम्पा नामक नगरी में जीव, अजीव आदि तत्वों का ज्ञाता एवं निर्ग्रन्थ प्रवचन में अटूट आस्था रखने वाला ऐसा श्रद्धानिष्ठ श्रावक है कि उसकी निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति अगाध आस्था एवं अविचल आस्था की कोई भी देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर अथवा किंपुरिस विचलित नहीं कर सकता। मुझे एक मानव की प्रशंसा में कहे गये देवराज शक्र के वे वचन रुचिकर नहीं लगे, मुझे उनके इन वचनों पर विश्वास नहीं हुआ। मैंने देवेन्द्र के इन वचनों को अतुल शक्ति सम्पन्न देवों की दिव्य शक्ति के लिये चुनौती समझा। मुझे विश्वास नहीं हो रहा था कि अस्थि-मांस-मज्जा से निर्मित मानव शरीर में इस प्रकार की शक्ति हो सकती है। मैंने तुम्हारी परीक्षा लेने की ठानी। वस्तुतः तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए ही मैंने घोर भयावह पिशाच का रूप धारण कर तुम्हारे समक्ष इस प्रकार का घोर उपसर्ग उपस्थित किया है। मेरे मन में तुम्हारे प्रति अन्य किसी भी प्रकार की दुर्भावना नहीं थी। मैंने तुम्हारी परीक्षा के लिए तुम्हें घोरतिघोर प्राण संकट में डाला, किन्तु तुम अपने धर्म से, अपनी श्रद्धा से लेशमात्र भी विचलित नहीं हुए, तुम्हारे मन में किंचिन्मात्र भी भय उत्पन्न नहीं हुआ। तुम्हारी इस परीक्षा के पश्चात् मुझे पक्का विश्वास हो गया है कि सौधर्मन्द्र ने जिन शब्दों में तुम्हारी प्रशंसा की, वह अक्षरशः सत्य है। वस्तुतः तुम दृढधर्मा, गुणों के भण्डार, तेजस्वी, ओजस्वी और यशस्वी हो। तुम्हारे धैर्य, वीर्य, पौरुष और पराक्रम को घोरतिघोर विपत्तियाँ भी विचलित नहीं कर सकतीं।”

यह कह कर वह अलौकिक कान्ति वाला देव अरहन्नक के चरणों पर गिर पड़ा। उसने बारम्बार अपने अपराध के लिये क्षमा माँगते हुए अरहन्नक को दिव्य कुण्डलों की दो जोड़ियाँ भेंट की और वह अपने स्थान को लौट गया।

उस देवकृत उपसर्ग के समाप्त हो जाने के पश्चात् अरहन्नक ने अपने सागारिक संधारे का पारण किया। वे सब व्यापारी पुनः सुखपूर्वक समुद्र की यात्रा करने लगे। वायु से प्रेरित उनके जलपोत एक दिन एक विशाल बन्दरगाह पर आये। उन पोत वणिकों ने अपने जलपोतों को बन्दरगाह पर ठहराया और उनमें से अपने समस्त क्रयणकों को गाड़ों में भर कर अनेक स्थलों में व्यापार करते हुए वे मिथिला नगरी में आये। वहाँ वे मिथिला नगरी के बहिस्थ उद्यान में ठहरे। उन व्यापारियों का मुखिया अरहन्नक श्रमणोपासक महाराजा को भेंट करने योग्य अनेक प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएँ और देव द्वारा प्रदत्त कुण्डलों की दो जोड़ियों में से एक जोड़ी ले कर मिथिलाधिपति महाराजा कुम्भ की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने वह दिव्य कुण्डल-युगल और उपहार स्वरूप लाई हुई वस्तुएँ महाराजा कुम्भ को भेंट की। महाराजा कुम्भ ने उसी समय भगवती मल्ली को बुलाया और उन्हें वे कुण्डल कानों में धारण करवा दिये।

तदनन्तर महाराज कुम्भ ने अरहन्नक प्रमुख पोतवणिकों को प्रीतिदान में विपुल वस्त्र, गन्ध, अलंकारादि प्रदान किये और उन्हें अच्छी तरह सत्कार सम्मानपूर्वक विदा किया। उन पोतवणिकों ने अपने साथ लाये हुए क्रयणिकों का मिथिला में विक्रय किया और वहां से विभिन्न प्रकार के आवश्यक क्रयणिक का क्रय कर उनसे अपने गाड़ों को भर उसी गंभीरी पोतपत्तन की ओर प्रस्थान किया जहां कि उनके जलपोत थे। मिथिला से क्रीत क्रयणिक को उन्होंने उन दोनों पोतों में भरा और समुद्री यात्रा करते हुए, एक दिन उनके जलपोत चम्पा नगरी के पास पोतपत्तन में पहुंचे। उन्होंने जलपोतों को पोतपत्तन पर ठहराया और लंगर लगा दिये। वहां उन्होंने अपने साथ राजा को भेंट करने योग्य अनेक वस्तुओं के साथ वह शेष दिव्य कुण्डलों की जोड़ी ली और वे चम्पा के राजप्रासाद में अंग्राधिप चन्द्रच्छाग की सेवा में उपस्थित हुए। अरहन्नक ने प्रणामादि के पश्चात् वह दिव्य कुण्डल युगल और अनेक बहुमूल्य वस्तुएं महाराज चन्द्रच्छाग को उपहारस्वरूप भेंट कीं।

चम्पा नरेश चन्द्रच्छाग ने भेंट स्वीकार करते हुए अरहन्नक से पूछा—“समुद्र यात्रा करते हुए आप लोग अनेक द्वीपों, देश देशान्तरों में व्यापार करते रहते, क्या आपने कहीं कोई आश्चर्यकारी दृश्य, वृत्त अथवा वस्तु देखी है?”

अरहन्नक श्रमणोपासक ने कहा—“महाराज ! यों तो विदेशों में, देश-देशान्तरों, राज्यों और राजधानियों में व्यापार करते हुए छोटे-बड़े अनेक प्रकार के आश्चर्य देखते ही रहते हैं, किन्तु इस बार हमने मिथिला के राजप्रासाद में एक अदृष्टपूर्व आश्चर्य देखा। इस बार हम अनेक प्रकार की वस्तुओं से गाड़े भर कर मिथिला नगरी में गये। वहां हम मिथिलेश महाराज कुम्भ की सेवा में एक दिव्य कुण्डल युगल और बहुत सी बहुमूल्य वस्तुएं ले कर पहुंचे। हमने उन वस्तुओं के साथ कुण्डल महाराज कुम्भ को भेंट किये। उन्होंने उसी समय विदेहराज पुत्री मल्ली को बुलाया और उनके कानों में वे दिव्य कुण्डल पहना दिये। उस समय हमने कुम्भ राजा के राजप्रासाद में विदेह की राजकुमारी मल्ली को संसार के सर्वोत्कृष्ट आश्चर्य के रूप में देखा। जैसी सुन्दर, रूप लावण्य सम्पन्ना महाराज कुम्भ की कन्या, महारानी प्रभावती की आत्मजा विदेह राजकुमारी मल्ली है, उस प्रकार की तो क्या उसके अंगुष्ठ के शतांश भाग से तुलना करने वाली कोई मानव कन्या तो क्या देवकन्या भी नहीं हो सकती।”

तदनन्तर महाराज चन्द्रच्छाग ने उन पोतवणिकों का सत्कार-सम्मान कर उन्हें आदर सहित विदा किया। अरहन्नक के मुख से भगवती मल्ली के रूप का परमाश्चर्यकारी विवरण सुन कर उसके हृदय में मल्ली को प्राप्त करने की उत्कण्ठा जागृत हुई। उसने दौत्यकार्य में अतीव कुशल अपने दूताग्रणी को बुला कर आदेश दिया—“देवानुप्रिय ! तुम मिथिला नगरी के महाराजा कुम्भ

के पास जा कर उनसे उनकी कन्या मल्लिकुमारी की मेरे लिए मेरी भार्या के रूप में याचना करो। यदि उस राजकुमारी के लिए कन्या-शुल्क के रूप में मुझे अपना सम्पूर्ण राज्य भी देना पड़े तो मैं देने के लिए समुद्यत हूँ।”

अंगपति महाराज चन्द्रच्छाग का आदेश सुन कर दूत बड़ा हूट और नुष्ट हुआ। वह द्रुतगति से अपने घर गया और यात्रा के लिए सैनिक, अनुचर, पाथेय, द्रुतगामी वाहनादि का समुचित प्रबन्ध करने के पश्चात् अनेक सैनिकों के साथ मिथिला की ओर प्रस्थित हो गया।

### कुणालाधिपति रूपी का अनुराग

कुणाला जनपद में भी मल्लिकुमारी के सौन्दर्य की घर-घर चर्चा होने लगी। श्रावस्ती में कुणालाधिपति महाराज रूपी का शासन था। उनकी पुत्री, महारानी धारिणी की आत्मजा सुबाहु वड़ी ही रूपवती थी। एक बार कन्या के चातुर्मासिक मज्जन का महोत्सव था। उस समय राजा ने स्वर्णकार मण्डल को आदेश दिया—“राजमार्ग के पास बने पुष्प मण्डप में अनेक रंगों से रंगे हुए चावलों से नगर की रचना करो। उस नगर के मध्यभाग में एक पट्टक बनाओ।”

स्वर्णकारों ने अपने महाराजा की आज्ञा के अनुसार सब कार्य सम्पन्न कर उन्हें सूचित किया।

अपनी आज्ञानुसार नगरी का आलेखन हो जाने पर राजा ने कन्या को पट्ट पर विठला कर सुवर्ण-रौप्यमय कलशों से उसे स्नान कराया, फिर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित एवं अलंकृत हो कन्या पितृवन्दन को आई तो राजा उसके रूप-लावण्य को देख कर विस्मित हो गया। वर्षधर पुरुषों को बुला कर राजा ने पूछा—“क्या तुमने कहीं सुबाहु कन्या के समान रूप-लावण्य अन्य किसी कन्या का देखा है?”

एक वर्षधर पुरुष ने कहा—“महाराज! एक बार हम राज-कार्य से मिथिला गये थे, वहाँ महाराज कुम्भ की पुत्री सिन्धु राजवर कन्या मल्लिकुमारी का मज्जन देखा। उसके सम्मुख यह सुबाहु का मज्जन लाखों भाग भी नहीं है।”

यह सुन कर कुणालाधिपति का गर्व गल गया और वह मल्लिकुमारी के सौन्दर्य के दर्शन को अत्यन्त व्यग्र और लालायित हो गया।

कुणालाधिपति रूपी ने भी कुम्भ महाराज के पास अपने दूत को जाने की आज्ञा देते हुए कहा—“तुम शीघ्र ही मिथिला जा कर महाराज कुम्भ से

मेरा यह संदेश कहो कि मैं उनकी पुत्री मल्लिकुमारी का अपनी भार्या के रूप में वरण करना चाहता हूँ।”

अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य कर महाराजा रूपी का वह दूत कतिपय सैनिकों, अनुचरों और पाथेधादि को अपने साथ ले मिथिला की ओर तत्काल प्रस्थित हुआ।

### काशी जनपद के महाराजा शंख का अनुराग

भगवती मल्ली के अलौकिक सौन्दर्य एवं अनुपम गुणों की ख्याति काशी नरेश के पास भी पहुंची। उन दिनों काशी जनपद पर महाराजा शंख का राज्य था। दे काशी जनपद की राजधानी बनारस में रहते थे।

भगवती मल्ली के कानों के अरहन्नक श्रावक द्वारा महाराज कुम्भ को भेंट किये गये कुण्डल युगल में से एक दिन एक कुण्डल की सन्धि पृथक् हो गई। मिथिला के स्वर्णकारों को वह कुण्डल सन्धि जोड़ने के लिए दिया गया, परन्तु मिथिला के स्वर्णकारों में से कोई भी स्वर्णकार उस कुण्डल की सन्धि को नहीं जोड़ सका। इससे क्रुद्ध हो महाराज कुम्भ ने उन स्वर्णकारों को अपने राज्य विदेह जनपद की सीमा से निर्वासित कर दिया।

महाराज कुम्भ द्वारा विदेह जनपद से निष्कासित कर दिये जाने पर व स्वर्णकार काशी नरेश शंख के पास पहुंचे और उन्होंने उनकी छत्रछाया में सुख से रहने की इच्छा अभिव्यक्त की। काशीपति ने उन्हें मिथिला के राज्य से निर्वासित करने का कारण पूछा और स्वर्णकारों द्वारा अपने निष्कासन का उपयुक्त कारण बताये जाने पर महाराज कुम्भ की पुत्री मल्लिकुमारी के सौन्दर्य के सम्बन्ध में काशीराज ने स्वर्णकारों से जानकारी चाही। स्वर्णकारों ने उपयुक्त अवसर देख कर कह डाला—“महाराज ! कोई देवकन्या भी मल्ली जैसी सुन्दर नहीं होगी, वह अनुपम, उत्कृष्टतम और अलौकिक कान्ति-वाली है।

स्वर्णकारों के मुख से विदेह राजवर कन्या मल्लिकुमारी के अलौकिक सौन्दर्य की बात सुन कर काशी नृपति भी भगवती मल्ली के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया। उसने तत्काल अपने प्रमुख दूत को बुला कर आदेश दिया—“देवानु-प्रिय ! तुम आज ही मिथिला की ओर प्रस्थान करो और महाराज कुम्भ के पास जा कर उन्हें मेरा यह संदेश सुनाओ—काशी जनपद के अधीश्वर महाराजा-धिराज शंख आपकी पुत्री विदेह राजवर कन्या मल्लिकुमारी को अपनी पट्ट महिषी बनाने के लिये समुत्सुक हैं। मल्लिकुमारी को प्राप्त करने के लिये वे अपना विशाल राज्य भी देने को समुद्यत हैं।”

अपने स्वामी की आज्ञा सुनकर द्रुत बड़ा प्रमुदित हुआ । उसने साष्टांग प्रणाम करते हुए महाराज शंख की आज्ञा को शिरोधार्य किया और अपने साथ कुछ सैनिक, कतिपय अनुचर और पर्याप्त पाथेय ले कर वह मिथिला की ओर प्रस्थित हुआ ।

### कुरुराज अदीनशत्रु का अनुराग

भगवती मल्ली के अनुपम सौन्दर्य की सौरभ फैलते-फैलते कुरु देश तक भी पहुंच गई । उन दिनों कुरु जनपद पर महाराजा अदीनशत्रु का शासन था । वे कुरु जनपद की राजधानी हस्तिनापुर नगर में रहते थे ।

एक दिन भगवती मल्ली के कनिष्ठ भाई मल्लदिग्ध कुमार ने अपने प्रमद वन में चित्रकारों द्वारा चित्रसभा की रचना करवाई । जब राजकुमार चित्रसभा देखने गये तो वहां एक चित्र को देख कर वे स्तम्भित हो गये । वस्तुस्थिति यह थी कि एक चित्रकार ने भगवती मल्ली के पैर का अंगुष्ठ किसी समय देख लिया था । उसी के आधार पर उस चित्रकला-विशारद ने अपनी योग्यता से अंगुष्ठ के आधार पर मल्लो का पूरा चित्र वहां चित्रसभा में चित्रित कर दिया था ।

मल्लदिग्ध कुमार ने जब उस चित्र को देखा तो यह सोच कर कि यह मल्ली विदेह राजकन्या ही यहां खड़ी हुई है, वे लज्जित हो गये । ज्येष्ठ भगिनी के संकोच से वे पीछे की ओर हट गये । जब उन्हें धाई मां से यह ज्ञात हुआ कि यह मल्ली नहीं, किन्तु चित्रकार द्वारा आलिखित उनका चित्र है तो वे बड़े क्रुद्ध हुए और चित्रकार को उन्होंने प्राणदण्ड की आज्ञा दे दी । प्रजा और चित्रकार-मण्डल की प्रार्थना पर उसे अंगुष्ठ-छेदन का दण्ड दे कर निर्वासित कर दिया । वह चित्रकार कुरु नरेश के पास पहुंचा और उन्हें भगवती मल्ली का चित्र भेंट किया । चित्रपट को देख और मल्लिकुमारी के रूप की प्रशंसा सुन कर कुरुराज अदीनशत्रु भी मल्लिकुमारी पर मुग्ध हो गये ।

उन्होंने तत्काल अपने दूत को बुला कर आज्ञा दी—“देवानुप्रिय ! तुम आज ही मिथिला की ओर प्रस्थान करो और मिथिलाधिपति महाराज कुम्भ को मेरा यह सन्देश सुनाओ—कुरुराज अदीनशत्रु आपकी पुत्री विदेह राजकन्या मल्लिकुमारी को अपनी पट्टमहिषी बनाने के लिये व्यग्र हैं । वे मल्लिकुमारी को प्राप्त करने के लिये अपना सम्पूर्ण कुरु जनपद का राज्य भी देने को समुद्यत हैं ।”

अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य कर कुरुराज का दूत भी तत्काल आवश्यक पाथेय, अनुचर और कतिपय सैनिकों को साथ ले मिथिला की ओर प्रस्थित हुआ ।

### पांचाल नरेश जितशत्रु का अनुराग :

जिस समय भगवती मल्ली १०० वर्ष से कुछ कम अवस्था की हुई, उस समय पांचाल (आधुनिक पंजाब) जनपद पर जितशत्रु नामक महाराजा राज्य करता था। उस समय पांचाल जनपद की राजधानी काम्पिल्यपुर नगर में थी। काम्पिल्यपुर बड़ा ही समृद्ध और विशाल नगर था। पांचाल राज्य की राजधानी होने के कारण देश-विदेश के व्यापारी वहाँ व्यापार करने आते रहते थे। काम्पिल्यपुर में पांचालपति जितशत्रु का विशाल और भव्य राजप्रासाद था। उसके राजप्रासाद में अति सुरम्य और विशाल अन्तःपुर था। राजा जितशत्रु के अन्तःपुर में धारिणी प्रमुख १००० रानियाँ थीं और वे सभी अनिन्द्य सुन्दरियाँ थीं।

उधर उन्हीं दिनों मिथिला नगरी में चोक्षा नाम की एक परिव्राजिका रहा करती थी। चोक्षा परिव्राजिका ऋग्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदों एवं स्मृति आदि समस्त शास्त्रों की पारंगत विदुषी थी। वह विदुषी परिव्राजिका मिथिला के सभी राज्याधिकारियों, श्रेष्ठियों, सार्थवाहों एवं सभी सम्भ्रान्त परिवारों के नर-नारियों के समक्ष शौच मूलक धर्म, दानधर्म एवं तीर्थाभिषेक आदि का विशद व्याख्यापूर्वक उपदेश एवं अपने आचरण से उन धर्मों का प्रदर्शन भी करती थी। एक दिन वह चोक्षा परिव्राजिका मेरुएँ (भगवाँ) वस्त्र धारण किये हुए हाथ में त्रिदण्ड और कमण्डलु लिये अनेक परिव्राजिकाओं के परिवार से परिवृत्त हो अपने मठ से राजप्रासाद की ओर प्रस्थित हुई। वह मिथिला नगरी के मध्यवर्ती राजपथ से चल कर राजप्रासाद में प्रविष्ट हो भगवती मल्ली के कन्यान्तःपुर में पहुँची। भगवती मल्ली के प्रासाद में अन्य परिव्राजिकाओं ने भूमि को जल से छिड़क कर उस पर दर्भ का आसन बिछाया। चोक्षा परिव्राजिका उस दर्भासन पर बैठ गई और भगवती मल्ली के समक्ष शौचधर्म, दानधर्म और तीर्थाभिषेक की महत्ता के सम्बन्ध में निरूपण करने लगी। उसकी प्ररूपणा को सुनने के पश्चात् भगवती मल्ली ने चोक्षा परिव्राजिका से प्रश्न किया—“हे चोक्षे ! तुम्हारे यहां धर्म का मूल किसे माना गया है ?”

मल्ली भगवती के प्रश्न का उत्तर देते हुए चोक्षा परिव्राजिका ने कहा—  
“देवानुप्रिये ! हमारे यहां धर्म को शौचमूलक बताया गया है। इसी कारण जब कभी हमारी कोई भी वस्तु अशुचि-अपवित्र हो जाती है तो हम उसे मट्टी और पानी से धो कर पवित्र कर लेते हैं। हमारे इस शौचमूलक धर्म के अनुसार जल से स्नान करने पर हमारी आत्मा पवित्र हो जाती है और हम शीघ्र ही बिना किसी विघ्न अथवा बाधा के स्वर्ग में पहुँच जाते हैं।”

चोक्षा परिव्राजिका द्वारा की गई शौचमूलक धर्म की यह व्याख्या सुनकर भगवती मल्ली ने कहा—“हे परिव्राजिके ! रुधिर से प्रलिप्त वस्त्र को यदि कोई व्यक्ति रुधिर से ही धोवे तो क्या वह शुद्ध या स्वच्छ हो जायगा ? कदापि नहीं । रुधिर से सने वस्त्र को रुधिर से धोने पर शुद्धि हो जाती है, इस बात को कोई साधारण से साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी नहीं मान सकता । रुधिर से लिप्त वस्त्र को रुधिर से धोने पर तो वस्तुतः वह और अधिक गंदा एवं रुधिर लिप्त होगा, और अधिक रक्तवर्ण होगा । ठीक इसी प्रकार चोक्षे ! हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, मिथ्यादर्शन, शल्य आदि आदि पाप कर्मों से आत्मा कर्ममल से लिप्त होता है, वह आत्मा पर लगा हिंसा आदि पाप कर्म का मैल हिंसा-कारक जल-स्नान, यज्ञ-यागादि पापपूर्ण कार्यों से कदापि शुद्ध नहीं हो सकता ।

जिस प्रकार रुधिर रंजित वस्त्र को सज्जी अथवा क्षारादि से प्रलिप्त कर उसे किसी पात्र में रख कर अग्नि से तपाया जाय और तत्पश्चात् उसे शुद्ध पानी से धोया जाय तभी वह वस्त्र शुद्ध और स्वच्छ-निर्मल होता है, उसी प्रकार हिंसा आदि पापकर्मों से प्रलिप्त आत्मा को सम्यक्त्व रूपी क्षार से लिप्त कर शरीर भाण्ड में तपश्चर्या की अग्नि से तपा कर संयम के विशुद्ध जल से धोने पर ही आत्मा कर्ममल रहित हो सकता है, न कि रुधिर रंजित वस्त्र को रुधिर से धो कर साफ करने के प्रयास तुल्य पापपंक से लिप्त आत्मा को जल-स्नान, यज्ञ, यागादि पाप पूर्ण कृत्यों द्वारा पवित्र करने के विनाशकारी प्रयास से ।”

मल्ली भगवती द्वारा इस प्रकार समझाये जाने पर वह चोक्षा परिव्राजिका शंका, कांक्षा, वित्तिगिच्छायुक्त और निरुत्तर हो गई । वह चुपचाप मल्ली भगवती की ओर देखती ही रह गई ।

चोक्षा परिव्राजिका की इस प्रकार की हतप्रभ अवस्था देख कर मल्ली राजकुमारी की दासियों, परिचारिकाओं आदि ने अनेक प्रकार की भावभंगिमायें बना कर उसका उपहास किया । दासियों के इस प्रकार के व्यवहार से उसने अपने आपको अपमानित अनुभव किया । वह अपमान की ज्वाला से संतप्त और मल्ली भगवती के प्रति प्रद्वेष करती हुई प्रासाद से उठी और अपने मठ में आकर अपनी सभी परिव्राजिकाओं के साथ मिथिला से काम्पिल्यपुर की ओर प्रस्थित हुई । उसके अन्तर्मन में भगवती मल्ली के प्रति विद्वेषाग्नि भड़क उठी । कतिपय दिनों पश्चात् वह काम्पिल्यपुर पहुंची और वहां वह राज्याधिकारियों, सार्थवाहों, श्रेष्ठियों और विभिन्न वर्गों के नागरिकों के समक्ष अपने शौचमूलक धर्म का उपदेश देने लगी ।

कुछ समय पश्चात् एक दिन वह चोक्षा परिव्राजिका अपनी अनेक शिष्याओं के साथ पांचालाधीश्वर जितशत्रु के अन्तःपुर में गई । उस समय



राजा जितशत्रु अपनी एक सहस्र चारुहासिनी रानियों के विशाल परिवार से परिवृत्त हुआ अपने अन्तःपुर में बैठा हुआ आमोद-प्रमोद कर रहा था। चोक्षा परिव्राजिका को देखते ही राजा अपने सिंहासन से उठा। परिव्राजिकाओं को प्रणाम करने के पश्चात् उन्हें आसन पर बैठने का निवेदन किया। चोक्षा परिव्राजिका ने राजा को जय-विजय शब्दों के उच्चारण पूर्वक अभिवादन किया। जल से छिटके हुए दर्भसन पर बैठ कर चोक्षा परिव्राजिका ने राजा और रानियों से कुशलक्षेम पूछा। कुशलक्षेम पूछने की पारस्परिक औपचारिकता के पश्चात् चोक्षा परिव्राजिका ने राजा के अन्तःपुर में शौच, दान और तीर्थाभिषेक के सम्बन्ध में उपदेश दिया।

उस समय अपने अन्तःपुर के विशाल परिवार और एक सहस्र सुमुखी सर्वांग सुन्दरी रानियों के रूप, लावण्य एवं अनमोल वस्त्रालंकारों को देख-देख-कर जितशत्रु मन ही मन अपने अतुल ऐश्वर्य पर गर्व का अनुभव कर रहा था। धर्मोपदेश की ममाप्ति के पश्चात् महाराजा जितशत्रु ने चोक्षा परिव्राजिका से प्रश्न किया—“देवानुप्रिये परिव्राजिके ! आप ग्राम, नगर आदि में परिभ्रमण करती हुई बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली राजाओं के अन्तःपुरों में भी जाया करती हैं। क्या आपने कहीं मेरे अन्तःपुर के समान किसी अन्य राजा का अन्तःपुर देखा है ?”

महाराजा जितशत्रु के प्रश्न को सुन कर चोक्षा परिव्राजिका कुछ क्षणों तक हँसती रही। तत्पश्चात् उसने राजा को सम्बोधित करते हुए कहा—“राजन् ! आप भी संयोगवशात् समुद्र से किसी कूप में आये हुए मेंढक के समक्ष समुद्र की विशालता जानने के अभिप्राय से अपने कूप में छलांगें मार-मार कर बार-बार प्रश्न पूछने वाले कूपमण्डूक जैसी ही बात कर रहे हैं। जिस प्रकार कूपमण्डूक समझता है कि जिस कूप में वह जन्मा और बड़ा हुआ है, संसार में उससे बड़ा और कोई कूप, जलाशय अथवा जलधि हो ही नहीं सकता, उसी प्रकार आप अपने अन्तःपुर को ही सर्वश्रेष्ठ अन्तःपुर समझते हुए यह प्रश्न पूछ रहे हैं। पांचालपति ! सावधान हो कर सुनो ! विदेह राज मिथिलेश महाराज कुम्भ की कन्या, महारानी प्रभावती की आत्मजा विदेह राजकन्या मल्लिकुमारी को हमने देखा है। मल्लिकुमारी संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है। वस्तुतः वह अनुपम है। किसी भी मानव कन्या की तो बात ही क्या, संसार की कोई परम सुन्दरी देवकन्या, नागकन्या भी रूप, लावण्य, यौवन आदि गुणों में मल्लिकुमारी के समक्ष तुच्छ प्रतीत होती है। राजन् ! सच कहती हूँ, तुम्हारा यह समस्त अन्तःपुर परिवार विदेह राजकन्या मल्लिकुमारी के चरसांगुष्ठ के एक लाखवें अंश की भी समता नहीं कर सकता। उसके रूप के समक्ष आपका यह अन्तःपुर नगण्य और तुच्छ है।”

तदनन्तर समग्र अन्तःपुर को आश्चर्य, व्यामोह और ऊहापोह में निमग्न करती हुई चोक्षा परिव्राजिका अपने गन्तव्य स्थान की ओर प्रस्थित हुई ।

चोक्षा परिव्राजिका के मुख से भगवती मल्ली के अनुपम रूप-लावण्य का विवरण सुन कर पांचालाधिपति जितशत्रु मल्लिकुमारी पर इतना अधिक अनुरक्त हुआ कि वह अपने समग्र पांचाल राज्य के पण से अर्थात् पांचाल देश का पूरा राज्य दे कर भी मल्लिकुमारी को भार्या के रूप में प्राप्त करने के लिये कृतसंकल्प हो गया ।

उसने अपने दूत को बुला कर आदेश दिया—“देवानुप्रिय ! तुम शीघ्रातिशीघ्र मिथिला के महाराज कुम्भ के पास जाओ । उनसे निवेदन करो कि पांचालपति जितशत्रु आपकी पुत्री विदेह राजकुमारी मल्ली की अपनी भार्या के रूप में आपसे याचना करते हैं । वे समग्र पांचाल प्रदेश का राज्य देकर भी मल्ली राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प हैं ।”

अपने स्वामी का आदेश सुन कर दूत बड़ा प्रसन्न हुआ । यात्रा के लिये आवश्यक प्रबन्ध करने के पश्चात् वह विपुल पाथेय, सैनिकों और अनुचरों के साथ मिथिला की ओर प्रस्थित हुआ ।

इस भांति प्रतिबुद्ध आदि छहों राजाओं द्वारा भगवती मल्ली की अपनी-अपनी भार्या के रूप में महाराज कुम्भ से याचना करने के लिये भेजे गये छहों दूत अपने-अपने नगर से प्रस्थित हो चलते-चलते संयोगवश एक ही साथ मिथिला नगरी पहुंचे । उन छहों दूतों ने मिथिला नगरी के बाहर प्रधान उद्यान में अपने अलग-अलग स्कन्धावार-डोरे डाले । स्नानादि आवश्यक कृत्यों से निवृत्त हो दूतयोग्य परिधान धारण कर वे छहों दूत मिथिला नगरी के मध्यभाग में होते हुए राजप्रासाद में महाराज कुम्भ के पास उपस्थित हुए । उन छहों दूतों ने महाराज कुम्भ को सांजलि शीघ्र भुका प्रणाम करने के पश्चात् क्रमशः अपने-अपने स्वामी नरेश का सन्देश महाराज कुम्भ को सुनाया ।

दूतों के मुख से प्रतिबुद्ध आदि राजाओं का सन्देश सुनते ही महाराज कुम्भ अत्यन्त क्रुद्ध हुए, क्रोध के कारण उनकी दोनों आंखें लाल हो गईं, ललाट पर त्रिवलि उभर आई और भौहें तन गईं । उन्होंने आवेशपूर्ण स्वर में गर्जते हुए उन दूतों से कहा—“ओ दूतो ! कह दो अपने-अपने राजाओं से जा कर कि मैं अपनी पुत्री विदेह राजवर कन्या मल्लिकुमारी तुम्हारे राजाओं के लिये नहीं दूंगा ।”

इस प्रकार महाराज कुम्भ ने आक्रोशपूर्ण नकारात्मक उत्तर दे कर बिना किसी प्रकार का सत्कार सम्मान किये उन छहों राजाओं के दूतों को राज-

प्रासाद के अपद्वार (पृष्ठ भाग के छोटे द्वार) से बाहर निकलवा दिया। इस प्रकार राजप्रासाद से निकलवा दिये जाने पर वे छहों दूत तत्काल अपने-अपने अनुचरों एवं सैनिकों के साथ मिथिला से अपने-अपने नगर की ओर प्रस्थित हुए। अपने-अपने नगर में पहुंच कर वे दूत अपने-अपने राजा की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने अपने-अपने स्वामी राजा को हाथ जोड़ कर सिर झुकाते हुए निवेदन किया—“हम छहों राजाओं के छहों ही दूत एक साथ मिथिला में और मिथिलापति महाराज कुम्भ की राज्यसभा में पहुंचे थे। हम छहों दूतों ने अपने-अपने स्वामी का वक्तव्य-सन्देश महाराज कुम्भ को सुनाया। महाराज कुम्भ सुनते ही क्रोध से तिलमिला उठे। उन्होंने आक्रोश और आवेशपूर्वक स्पष्ट शब्दों में कहा—“मैं अपनी पुत्री विदेह राजकन्या मल्लिकुमारी तुम लोगों में से किसी के स्वामी को नहीं दूंगा।” यह कह कर महाराजा कुम्भ ने हम छहों दूतों को असत्कारित एवं असम्मानित करते हुए अपद्वार से निकलवा दिया।

उन छहों दूतों ने अपने-अपने राजा को निवेदन किया—“स्वामिन् ! मिथिलाधिपति महाराज कुम्भ अपनी कन्या मल्लिकुमारी आपको नहीं देगे।”

जितशत्रु आदि छहों राजा अपने-अपने दूतों की उक्त बात सुन कर बड़े क्रुद्ध हुए। उन छहों राजाओं ने परस्पर एक दूसरे के पास दूत भेज कर कहलवाया—“हम छहों राजाओं के दूतों को राजा कुम्भ ने एक साथ अपमानित कर अपने राजप्रासाद के अपद्वार से निकलवा दिया। अतः अब हम लोगों के लिए यही श्रेयस्कर है कि महाराजा कुम्भ को पराजित करने के लिए हम छहों मिल कर अपनी सेनाओं के साथ मिथिला पर आक्रमण कर दें।”

दूतों के माध्यम से इस प्रकार का परामर्श कर प्रतिबुद्ध आदि छहों राजाओं ने एकमत हो अपनी-अपनी चतुरंगिणी सेना साथ ले मिथिला पर आक्रमण करने के लिये अपने-अपने नगरों से प्रस्थान किया। एक निश्चित स्थान पर छहों राजा एक-दूसरे से मिले। तदनन्तर उन छहों राजाओं ने अपनी-अपनी सेना के साथ मिथिला की ओर प्रयाण किया।

जब मिथिलेश महाराज कुम्भ को अपने गुप्तचरों के माध्यम से ज्ञात हुआ कि जितशत्रु आदि छह राजा अपनी-अपनी चतुरंगिणी सेनाओं के साथ मिथिला पर आक्रमण करने के लिये आ रहे हैं तो वे (कुम्भ) भी आक्रमणकारी राजाओं से अपने जनपद की रक्षा के लिए सुसज्जित हो शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित चतुरंगिणी सेना के साथ अपने राज्य विदेह जनपद की सीमा पर आक्रामक राजाओं के आने से पहले ही पहुंच गये। विदेह जनपद की सीमा पर उन्होंने अपनी सेना का सन्निवेश स्थापित किया और युद्ध के लिये कटिबद्ध हो उन राजाओं के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

### युद्ध और पराजय

थोड़ी ही प्रतीक्षा के पश्चात् जितशत्रु आदि छहों राजा अपनी विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ विदेह-जनपद की सीमा के पास उसी स्थान पर आये जहां महाराज कुम्भ की सेना थी। उन छहों राजाओं ने आते ही छहों राज्यों की सम्मिलित सैन्य शक्ति के साथ महाराजा कुम्भ की सेना पर आक्रमण कर दिया। छहों राज्यों की सम्मिलित विशाल सैन्य शक्ति के समक्ष एकाकी कुम्भ राजा की सेना अधिक समय तक डटी नहीं रह सकी। तुमुल युद्ध में जितशत्रु आदि छह राजाओं की सेना ने विदेहराज कुम्भ की सेना के अनेक योद्धाओं को मौत के घाट उतार दिया, अनेक योद्धाओं को क्षत-विक्षत और बहुत से योद्धाओं को गम्भीर रूप से आहत कर दिया। उन छहों राजाओं ने मिलकर महाराजा कुम्भ के छत्र, पताका आदि राज चिह्नों को पृथ्वी पर गिरा दिया। अन्ततो-गत्वा महाराजा कुम्भ को उन छहों राजाओं ने घेर लिया। इस प्रकार महाराजा कुम्भ के प्राण संकट में पड़ गये। छहों राजाओं की संगठित विशाल सेना द्वारा अपनी स्वल्प सैन्य शक्ति को इस प्रकार छिन्न-भिन्न और क्षीण होती देखकर महाराजा कुम्भ निरस्ताह हो गये। उन्होंने अच्छी तरह जान लिया कि परबल अजेय है। अतः वे शीघ्र ही त्वरित वेग से मिथिला की ओर प्रस्थित हुए। अपनी बची हुई सेना के साथ मिथिला में प्रवेश करते ही मिथिला के सभी प्रवेश द्वारों को बन्द करवा, शत्रु के आवागमन के सभी मार्गों को अवरुद्ध कर वे नगर की रक्षा का प्रबन्ध करने में व्यस्त हो गये।

अपने सैनिकों के साथ महाराजा कुम्भ के मिथिला में प्रवेश कर लेने के पश्चात् वे जितशत्रु आदि छहों राजा भी अपनी सेनाओं के साथ मिथिला की ओर बढ़े और मिथिला पहुंचने पर उन्होंने मिथिला नगरी को चारों ओर से घेर लिया। छह जनपदों के राजाओं की सम्मिलित विशाल सेना द्वारा डाला गया वह मिथिला का घेरा इतना कड़ा था कि मित्र राजाओं की सहायता प्राप्त करने के लिये दूत को भेजना तो दूर, कोई एक व्यक्ति भी नगर के प्राकार के बाहर अथवा अन्दर आ जा नहीं सकता था। मिथिला नगरी को इस प्रकार के कड़े घेरे से अवरुद्ध देख महाराज कुम्भ अपने किले के आभ्यन्तर भाग की अपनी उपस्थान शाला में राजसिंहासन पर बैठ कर उन छहों शत्रु-राजाओं के गुप्त दूषणों, मानव सुलभ दुर्बलताओं, छिद्रों एवं विवरों की टोह में रहने लगे। पर जब उन्हें अपने उन शत्रुओं का किसी प्रकार का छिद्र अथवा दूषण दृष्टि-गोचर नहीं हुआ तो उन्होंने अपने मन्त्रियों के साथ बैठ कर औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी एवं परिणामिकी—इन सभी प्रकार की बुद्धि से अपने कार्य की सिद्धि के लिये उपाय ढूँढ़ने का प्रयास किया। किन्तु सभी भाँति अच्छी तरह विचार करने के उपरान्त भी इष्ट-सिद्धि का कोई उपाय दृष्टिगोचर नहीं हुआ तो महाराजा कुम्भ बड़े हतोत्साह हुए और वे आर्तध्यान करने लगे।

उसी समय स्नानोपरान्त वस्त्राभरणों से अलंकृत भगवतीमल्ली ने महाराज कुम्भ के पास आकर उनके चरणों में प्रणाम किया। किन्तु उद्विग्न होने के कारण महाराज कुम्भ चिन्तामग्न ही रहे। न तो वे भगवती मल्ली से बोले और न उनका उनकी ओर ध्यान हो गया।

अपने पिता की इस प्रकार की मनोदशा देखकर भगवती मल्ली ने उनसे पूछा—“तात ! आज से पहले तो सदा आप मुझे आती देखते ही प्रफुल्लित हो जाते थे, मेरा आदर एवं दुलार कर मुझसे बात करते थे, परन्तु आज क्या कारण है कि आप इस प्रकार हतोत्साह हुए चिन्तामग्न बैठे हैं ?”

अपनी पुत्री का प्रश्न सुनकर महाराज कुम्भ ने कहा—“हे पुत्रि ! तुम्हारे साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये जितशत्रु आदि इन छहों राजाओं ने मेरे पास अपने दूत भेजे थे। मैंने उनके प्रस्ताव को ठुकरा कर उनके छहों दूतों को अनादृत कर अपद्वार से राजप्रासाद के बाहर निकलवा दिया। जब अपने-अपने दूतों के मुख से उन छहों राजाओं ने यह सब वृत्त सुना तो वे बड़े क्रुपित हुए। यही कारण है कि उन छहों राजाओं ने मिथिला नगरी को सब ओर से घेर लिया है, न किसी को बाहर जाने देते हैं और न किसी को बाहर से अन्दर ही आने देते हैं। मैंने इनको परास्त करने के विचार से अनेक प्रकार के उपाय सोचे पर न तो उनका कोई छिद्र ही दिखाई दे रहा है और न इनको परास्त करने का कोई उपाय ही। यही कारण है कि मैं हतमना चिन्ताग्रस्त बना बैठा हूँ।”

### जितशत्रु आदि को प्रतिबोध

यह सुनकर भगवती मल्ली ने कहा—“तात न तो आपको हतमना होने की आवश्यकता है और न चिन्ताग्रस्त होने की ही। इस विषय में मैं आपको एक उपाय बताती हूँ। वह यह है कि आप उन जितशत्रु आदि छहों राजाओं में से प्रत्येक के पास एकान्त में अपना दूत भेजिये। वह दूत प्रत्येक राजा को यही कहे—“हम अपनी पुत्री विदेह राजवर कन्या मल्ली कुमारी तुम्हें देंगे।”

उन छहों राजाओं को पृथक्-पृथक् दूत से इस प्रकार कहलवा कर उनमें से एक एक को अलग अलग निस्तब्ध रात्रि में, जबकि सब लोग निद्रा की गोद में सोये हुए हों, नगर में प्रवेश करवाइये और छहों को पृथक्-पृथक् गर्भगृहों में एक एक करके ठहा दीजिये। जब वे छहों राजा छहों गर्भगृहों में प्रविष्ट हो जायं, उस समय मिथिला के सभी प्रवेशद्वारों को बन्द करवा दीजिये और इस प्रकार उन छहों राजाओं को यहाँ रोककर आत्मरक्षा कीजिये।”

भगवती मल्ली के कथनानुसार महाराज कुम्भ ने छहों राजाओं को

पृथक्-पृथक् दूत भेजकर रात्रि के समय नगर में एक-एक को प्रवेश करवा कर पृथक्-पृथक् गर्भगृहों में ठहरा दिया ।

सूर्योदय होते ही मोहनघर के गर्भगृहों के वातायनों में से जितशत्रु आदि उन छहों राजाओं ने भगवती मल्ली द्वारा निर्मित साक्षात् मल्ली कुमारी के समान अनुपम सुन्दरी, रूप, लावण्य यौवन सम्पन्ना भगवती मल्ली की प्रतिकृति-प्रतिमा को मणिपीठ पर देखा । मल्ली भगवती की उस प्रतिकृति को देखते ही “अरे, यह तो विदेह राजावर कन्या मल्ली कुमारी है”—मन ही मन यह कहते हुए वे सब उसके रूप-लावण्य पर पूर्णतः मुग्ध, लुब्ध और आसक्त हो निनिमेष दृष्टि से आँखें विस्फारित कर देखते ही रह गये । उसी समय भगवती मल्ली वस्त्रालंकारों से विभूषित हो कुब्जा आदि अनेक दासियों के साथ जालघर में अपनी कनकमयी प्रतिकृति के पास आई । उसने पुतली के शिर पर रखे पद्म कमल के ढक्कन को उठा लिया । प्रतिमा पुतली के शिर से ढक्कन के उठाने ही उसमें से ऐसी असह्य और भीषण दुर्गन्ध निकली जैसी कि मृत सर्प, गोह और श्वान के सड़े हुए शरीर में से निकलती है । वह भीषण दुस्सह्य दुर्गन्ध तत्क्षण समस्त वायुमण्डल में व्याप्त हो गई । उस घोर दुस्सह्य दुर्गन्ध के निकलते ही जितशत्रु आदि उन छहों राजाओं ने अपने-अपने उत्तरीय के अंचल से अपनी-अपनी नाक को ढँक लिया और दूसरी ओर मुख मोड़कर बैठ गये ।

उन छहों राजाओं को इस प्रकार की अवस्था में देखकर भगवती मल्ली ने उन्हें संबोधित करते हुए कहा—“हे देवानुप्रियो ! आप लोग अपने-अपने उत्तरीय से अपनी नाक ढाँप कर और पुतली को ओर से मुख मोड़कर क्यों बैठ गये हो ?”

मल्ली भगवती का यह प्रश्न सुनकर उन छहों राजाओं ने कहा—“हे देवानुप्रियो ! हम लोगों को यह अशुभ दुस्सह्य दुर्गन्ध किसी भी तरह किंचिन्मात्र भी सहन नहीं हो रही है । इसी कारण हम उत्तरीय से नाक ढँक कर और मुख मोड़कर बैठ गये हैं ।”

इस पर भगवती मल्ली ने कहा—“हे देवानुप्रियो ! इस कनकमयी पुतली में अति स्वादिष्ट एवं मनोज्ञ अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्य इन चार प्रकार के आहार का एक-एक ग्रास डाला जाता रहा है । मेरी इस कनक निर्मिता प्रतिकृति स्वरूपा पुतली में डाला गया मनोज्ञ अशन, पानादि का एक एक ग्रास का पुद्गलपरिणामन इस प्रकार का अमनोज्ञ, तन, मन और मस्तिष्क में इस प्रकार की विकृति का उत्पादक एवं नितान्त असह्य, घोर अशुभ, दुस्सह्य व दुर्गन्ध-पूर्ण बन गया तो वीर्य एवं रज से निर्मित श्लेष्म, लार, मल, मूत्र, मज्जा, शोणित आदि अशुचियों के भण्डार, नाड़ियों के जाल से आवद्ध, आन्त्रजाल के कोष्ठा-

गार, पीढ़ी-प्रपीढ़ियों से परम्परागत सभी प्रकार के रोगों के घर, अस्थि, चर्म और मांसमय इस अशुचि के भण्डार शङ्खधर्मा, पतनधर्मा, विनश्वर औदारिक शरीर में प्रतिदिन डाले गये अशन, पानादि चार प्रकार के मनोज्ञ आहार का पुद्गल परिणामन कितना घोर दुर्गन्धपूर्ण होगा, यह एक साधारण से साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी समझ सकता है ।

अतः हे देवानुप्रियो ! इस शाश्वत सत्य को ध्यान में रखते हुए तुम लोग मनुष्य-भव सम्बन्धी काम-भोगों में मत फँसो, सांसारिक कामभोगों में अनुराग, आसक्ति, तृष्णा, लोलुपता, गृद्धि और विमुग्धता मत रखो ।

याद करो देवानुप्रियो ! हम सातों अपने इस मानव भव से पूर्व के तीसरे भव में, महाविदेह क्षेत्र के सलिलावती विजय की राजधानी वीतशोका नगरी में सात समवयस्क बालसखा, अनन्य मित्र राजपुत्र थे । हम सातों साथ ही जन्मे, साथ-साथ ही बड़े, साथ-साथ ही बाल-क्रीड़ा में निरत रहे, साथ-साथ ही हमने अध्ग्रयन किया, साथ-साथ ही राज्योपभोग-सांसारिक सुखोपभोग आदि किया और निमित्त पा हम सातों ही अनन्य मित्रों ने एक साथ श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी । हम सातों ही मित्र मुनियों ने साथ-साथ समान तप करने का निश्चय किया था ।

मैंने इस कारण स्त्री नामकर्म का बन्ध किया कि तुम छहों साथी मुनि यदि दो उपवासों की तपस्या का प्रत्याख्यान करते तो मैं तीन उपवासों की तपस्या कर लेता, तुम छहों यदि तीन उपवासों की तपस्या करते तो मैं चार उपवासों की तपस्या कर लेता । इस प्रकार मुनि जीवन की अपनी प्रारम्भिक साधना में मैं तुम छहों साथी मुनियों से किसी न किसी बहाने विशिष्ट तप करता रहा । इस कारण मैंने स्त्री नाम कर्म का बन्ध कर लिया । किन्तु अपने प्रारम्भिक साधना-जीवन के पश्चात् हम सबने विशुद्ध भाव से एक समान दुष्कर तपश्चरण किया । मैंने तीर्थंकर नाम-गोत्र-कर्म की महान् पुण्य प्रकृति का उपाजर्जन कराने वाले अर्हद्भक्ति आदि बीसों ही स्थानों की पुनः पुनः उत्कट भावना से आराधना की । उस कारण मैंने तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म का उपाजर्जन किया । हम सातों ने घोर तपश्चरण द्वारा अपनी देहयष्टियों को केवल चर्म से आवृत अस्थिपंजरावशिष्ट बना दिया और अन्त में हमने देखा कि हमने धर्मारोधन के साधन अपने अपने शरीर से पूरा सार ग्रहण कर लिया है, अब उसमें तपश्चरण करते हुए विचरण करने की शक्ति समाप्तप्राय हो चुकी है, तो हम सातों ही मुनियों ने चार पर्वत पर जाकर संलेखनापूर्वक साथ-साथ ही पादपोषगमन संधारा किया और समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर हम सातों ही जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए । हम सातों ने ही जयन्त विमान में अपने देवभव के दिव्य भोगों का उपभोग किया । तुम छहों की जयन्त विमान

के देवभव की आयु ३२ सागर से कुछ कम थी, अतः तुम छहों मुझ से पूर्व ही जयन्त विमान से च्यवन कर अपने इस वर्तमान भव में इन छह जनपदों के अधिपति बने हो। मेरी जयन्त विमान के देवभव की आयु पूरे बत्तीस सागर की थी। अतः मैंने तुम छहों के पश्चात् जयन्त विमान से च्यवन कर विदेह जनपद के महाराजा कुम्भ की महारानी प्रभावती देवी की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हो गर्भकाल समाप्त होने पर कन्या के रूप में जन्म ग्रहण किया है।

हे राजाओं ! क्या आप लोग अपने इस भव से पूर्व के भव को भूल गये हो, जिसमें कि हम सातों ही जयन्त नामक अनुत्तर विमान में कुछ कम बत्तीस सागर जैसी सुदीर्घावधि तक साथ-साथ देव बन कर रहे हैं। वहाँ हम सातों ने प्रतिज्ञा की थी कि हम देवलोक से च्यवन करने के पश्चात् परस्पर एक दूसरे को प्रतिबोधित करेंगे। आप लोग अपने उस देव भव को स्मरण करो।”<sup>१</sup>

### छहों राजाओं को जातिस्मरण

भगवती मल्ली के मुखारविन्द से अपने दो पूर्वभवों का विवरण सुनकर वे छहों राजा विचारमग्न हो गये। विचार करते करते शुभ परिणामों, प्रशस्त अर्घ्यवसायों, लेश्याओं की विशुद्धि एवं ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, मार्गण, गवेषण करने से उन छहों राजाओं को संज्ञि जातिस्मरणज्ञान हो गया।

जितशत्रु आदि छहों राजाओं को जातिस्मरण ज्ञान होते ही मल्ली भगवती को विदित हो गया कि इन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया है। मल्ली भगवती ने तत्काल गर्भगृहों के द्वारों को खुलवा दिया। द्वार खुलते ही जितशत्रु आदि छहों राजा भगवती मल्ली के पास आये और पूर्वभवों के वे सात मित्र एक स्थान पर सम्मिलित हो गये।

तदनन्तर भगवती मल्ली ने उन छहों राजाओं को सम्बोधित करते हुए कहा—“देवानुप्रियो ! मैं तो संसार के भवभ्रमण रूपी भय से उद्विग्न हूँ, अतः प्रव्रजित होऊँगी। अब आप लोगों का क्या विचार है, क्या करना चाहते हैं, आप लोगों का हृदय कितना सशक्त—कितना समर्थ है ?”

भगवती मल्ली का प्रश्न सुनकर उन जितशत्रु आदि छहों राजाओं ने उनसे निवेदन किया—“हे देवानुप्रिये ! जब आप प्रव्रजित हो रही हैं, तो फिर

१ किं च तयं पम्हुट्टं, जं च तथा भो जयंत पवरंमि ।

पुत्या समयं निबद्धं, देवा ! तं संभरह जाइ ॥सू० ३५ ॥



हमारा अन्य कौन सहायक होगा ? कौन हमारा आधार होगा और कौन हमें उन्माई के बचा सन्मार्ग में लगायगा ? अतः जिस प्रकार आप आज से पहले के तीसरे ब्रह्म में हमारे धुराग्रणी, मेढ़ि अथवा मार्गदर्शक बनकर रहे, उसी प्रकार इस भव में भी आप ही धर्ममार्ग में प्रवृत्ति कराने वाले हमारे धुराग्रणी रहें, पथप्रदर्शक रहें । हे देवानुप्रिये ! हम भी भवभ्रमण से भयभीत हैं, हम लोग भी आपके साथ प्रव्रजित, दीक्षित होंगे ।”

छहों राजाओं की बात सुनकर भगवती मल्ली ने कहा— “यदि आप सब संसार के भय से उद्विग्न हैं और मेरे साथ प्रव्रजित होना चाहते हैं, तो अपने अपने घर जायें और अपने अपने ज्येष्ठ पुत्र को राजसिंहासन पर आसीन कर एक-एक सहस्र पुरुषों द्वारा खटाई जाने वाली शिबिकाओं में आरूढ़ हो मेरे पास लौट आयें ।”

उन छहों राजाओं ने भगवती मल्ली की बात को स्वीकार किया । भगवती मल्ली उन छहों राजाओं को साथ लेकर महाराज कुम्भ के पास गई । उन छहों राजाओं को महाराज कुम्भ के चरणों में झुका उनसे प्रणाम करवाया ।

महाराज कुम्भ ने उन छहों राजाओं का चार प्रकार के मनोज्ञ आहार, पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माला आदि से सत्कार किया । तदनन्तर उन्हें विदा किया । वहां से विदा हो वे जितशत्रु आदि छहों राजा अपने अपने राज्यों की ओर प्रस्थित हुए और अपने अपने राजप्रासादों में आकर राजकार्य में संलग्न हो गये ।

तदनन्तर तीर्थंकर मल्ली भगवती ने मन में निश्चय कर लिया कि वे एक वर्ष समाप्त होने पर दीक्षा ग्रहण करेंगी ।

मल्ली भगवती के इस प्रकार का विचार करते ही सौधर्मन्द्र देवराज शक्र का आसन चलायमान हुआ । उसे अवधिज्ञान के उपयोग से विदित हुआ कि अर्हत् मल्ली भगवती ने प्रव्रजित होने का विचार कर लिया है । त्रिकालवर्ती सौधर्मन्द्रों का यह परम्परागत जीताचार रहा है कि वे प्रव्रजित होने के लिये तत्पर तीर्थंकरों के यहां अर्थात् तीर्थंकरों के माता-पिता के घर में तीन सौ अट्टघासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राएं दें अर्थात् प्रस्तुत करें । इस प्रकार विचार कर शक्र ने वैश्रमण देव (कुबेर) को बुलाकर उसे कुम्भ राजा के राजप्रासाद में उपर्युक्त प्रमाण में स्वर्णमुद्राएं रखवाने की आज्ञा दी । कुबेर

१ तिष्णोव य कोडिसया, इद्रासीति च ह्येति कोडीयो ।

असिति च सयसहस्ता, इदा वलयति अरहाणं ॥१॥

—जाताधर्मकथांग सूत्र, अ० ८

ने शंकर की आज्ञा को शिरोधार्य कर जम्भक देवों को बुलाया और उन्हें तीन सौ अट्टधासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्णमुद्राएं महाराज कुम्भ के राजप्रासाद में पहुंचाने की आज्ञा दी। जम्भक देवों ने तत्काल उत्कृष्ट देवगति से मिथिला के राजप्रासाद में आकर महाराज कुम्भ के भण्डारों को तीन सौ अट्टधासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्णमुद्राओं से भर दिया।

### भगवती मल्ली द्वारा वर्षोदान

इन्द्र की आज्ञा से जम्भक देवों द्वारा महाराज कुम्भ के भण्डारों को स्वर्णमुद्राओं द्वारा पूरित कर दिये जाने के पश्चात् भगवती मल्ली ने वर्षोदान देना प्रारम्भ किया। निरन्तर एक वर्ष पर्यन्त वे प्रतिदिन प्रातःकाल से मध्याह्न काल पर्यन्त दो प्रहर तक बहुत से सनाथों, अनार्थों, पान्थिकों, पथिकों, खप्परधारियों आदि को एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राएं दान करती रहीं।

महाराज कुम्भ ने उस समय मिथिला नगरी में अनेक स्थानों पर भोजनशालाएं खुलवा दीं। उन भोजनशालाओं में रसोइये प्रचुर मात्रा में चारों प्रकार के स्वादिष्ट अशन, पानादि बनाते और वहां आने वाले पन्थिकों, पथिकों, खप्परधारियों, भिक्षुकों, कथाधारी भिक्षुकों, गृहस्थों आदि सभी प्रकार के लोगों को भोजन कराया जाता। अस्वस्थों, अपाहिजों आदि, वहां आने में असमर्थ लोगों को, उनके स्थान पर ले जाकर भोजन दिया जाता। चारों ओर लोग यत्र-तत्र भगवान् के वर्षोदान और महाराज कुम्भ द्वारा किये जाने वाले भोजनदान की महिमा गाने लगे।

त्रिलोकपूज्य तीर्थंकरों के निष्क्रमण के समय निरन्तर एक वर्ष तक प्रतिदिन बार बार इस प्रकार की घोषणाएँ की जाती हैं कि जिसे जो चाहिये वही मांगे। इन घोषणाओं के अनुसार जो भी जाता उसे, जो वह चाहता, वही दिया जाता।

इस प्रकार दान देते समय अन्त में भगवान् मल्लिनाथ ने मन में विचार किया कि प्रतिदिन १ करोड़ ८ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करती हुई एक वर्ष में तीन अरब अट्टधासी करोड़, अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान अर्थात् तीर्थंकरों द्वारा अभिनिष्क्रमण के अवसर पर इतने ही परिमाण में दिये जाने वाले दान के सम्पन्न हो जाने पर वे प्रव्रज्या ग्रहण करेंगे।

प्रभु मल्लिनाथ के मन में इस प्रकार के विचार आते ही लोकांतिक देवों के आसन प्रकम्पित हुए। अवधिज्ञान के उपयोग से उन्हें विदित हुआ कि वर्षोदान समाप्त कर जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के १६वें तीर्थंकर प्रभु मल्ली प्रव्रजित होने का विचार कर रहे हैं। अभिनिष्क्रमण काल में तीर्थंकरों को संबोधित करने की त्रिकालवर्ती लोकांतिक देवों की मर्यादा के अनुसार वे

लोकान्तिक देव भगवती मल्ली के पास उपस्थित हुए और आकाश में खड़े रह उन्होंने प्रभु को अंजलि सहित शिर झुका कर प्रणाम करने के पश्चात् प्रार्थना की—“हे लोकनाथ प्रभो ! आप भव्य जीवों को बोध दो, चतुर्विध धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करो । वह धर्मतीर्थ संसार के प्राणियों के लिये हितकर, सुखकर और निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्षदायक हो ।” लोकान्तिक देवों ने तीन बार प्रभु मल्ली से इस प्रकार की प्रार्थना की और तदनन्तर प्रभु को वन्दन-नमन कर वे अपने-अपने स्थान को लौट गये ।

इस प्रकार लोकान्तिक देवों द्वारा सम्बोधित होने के पश्चात् प्रभु मल्ली अपने माता-पिता के पास आये । हाथ जोड़कर उन्होंने माता-पिता के चरणों में नमस्कार कर कहा—“हे अम्ब-तात ! मैं आप लोगों से आज्ञा प्राप्त कर मुण्डित हो प्रव्रजित होना चाहती हूँ ।”

महाराज कुम्भ और महारानी प्रभावती—दोनों ने ही अपनी पुत्री भगवती मल्ली की बात सुनकर कहा—“देवानुप्रिये ! जिससे तुम्हें सुख हो वही करो । विलम्ब मत करो ।” अपनी पुत्री को प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर महाराज कुम्भ ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर उन्हें एक हजार आठ (१००८) स्वर्ण कलश, रौप्य कलश, मणिमय कलश, स्वर्ण-रौप्य कलश, स्वर्ण-मणि निर्मित कलश, रौप्य-मणि निर्मित कलश, स्वर्ण-रौप्य-मणि निर्मित कलश, मिट्टी के कलश तथा तीर्थकर के निष्क्रमणाभिषेक के लिये आवश्यक सभी प्रकार की अन्यान्य सामग्री शीघ्र ही उपस्थित करने की आज्ञा दी । महाराज कुम्भ की आज्ञा का पालन करते हुए कौटुम्बिक पुरुषों ने उनके निर्देशानुसार कलशादि सभी सामग्री तत्काल वहाँ ला प्रस्तुत की ।

उस समय चमरेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र पर्यन्त ६४ इन्द्र महाराज कुम्भ के राजप्रासाद में आ उपस्थित हुए । देवराज शक्र ने आभियोगिक देवों को स्वर्ण, मणि आदि से निर्मित १००८ कलश और तीर्थकर के अभिनिष्क्रमणाभिषेक के सभी प्रकार के विपुल साधन वहाँ प्रस्तुत करने की आज्ञा दी । आभियोगिक देवों ने देवराज शक्र की आज्ञानुसार सभी प्रकार की सामग्री वहाँ प्रस्तुत कर दी और उसे महाराज कुम्भ द्वारा एकत्रित किये गये कलशों आदि के साथ रख दिया ।

अभिनिष्क्रमणाभिषेक के लिये आवश्यक सभी प्रकार की सामग्री के यथास्थान रख दिये जाने के पश्चात् देवराज शक्र और महाराज कुम्भ ने अर्हत् मल्ली को अभिषेक सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया । तदनन्तर देवराज शक्र ने और महाराज कुम्भ ने उन अष्टोत्तर एक एक हजार कलशों से भगवान् मल्ली का अभिषेक किया । जिस समय भगवान् मल्ली का अभिषेक किया जा

रहा था उस समय देव नगर के अन्दर और बाहर चारों ओर हर्षातिरेक से दिव्य कुतूहल कर रहे थे। अभिषेक के अनन्तर महाराज कुम्भ ने भगवान् मल्ली को पुनः सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाकर उन्हें समस्त अलंकारों से अलंकृत किया और अपने कौटुम्बिक पुरुषों को मनोरमा नाम की शिबिका उपस्थित करने को कहा। देवराज शक्र ने भी आभियोगिक देवों को सैकड़ों स्तम्भों वाली अति सुरम्य शिबिका लाने का आदेश दिया। आभियोगिक देवों ने शक्र की आज्ञा के अनुरूप एक दिव्य शिबिका वहां ला उपस्थित की। शक्र द्वारा मंगवाई गई दिव्य शिबिका अपने दिव्य प्रभाव से कुम्भ राजा द्वारा मंगवाई गई शिबिका से मिल गई।

### अभिनिष्क्रमण एवं दीक्षा

तदनन्तर भगवान् मल्ली अभिषेक सिंहासन से उठकर शिबिका के पास आये और उसे अपने दक्षिण पार्श्व की ओर कर उस पर आरूढ़ हो उसमें रखे उच्च सिंहासन पर पूर्वाभिमुख हो विराज गये।

तदनन्तर सद्यस्नात अठारह श्रेणियों और प्रश्रेणियों के जनों तथा अठारह प्रकार के अवान्तर जातीय पालकी उठाने वाले पुरुषों ने महाराज कुम्भ की आज्ञानुसार सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो उस मनोरमा नाम की पालकी को अपने कन्धों पर उठा लिया। देवराज शक्र ने उस मनोरमा शिबिका के दक्षिण दिशावर्ती ऊपर के डण्डे को पकड़ा। ईशानेन्द्र ने उत्तर की दिशा वाले ऊपर के डण्डे को पकड़ा। चमरेन्द्र ने दक्षिण दिशा वाले नीचे के डण्डे को और बलीन्द्र ने उत्तरदिग्विभागवर्ती नीचे के डण्डे को पकड़ा। अवशिष्ट भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक इन्द्रों ने अपनी अपनी योग्यतानुसार उस शिबिका का परिवहन किया। हर्षातिरेक से रोमांचित हुए मनुष्यों ने सर्व प्रथम उस शिबिका को अपने कन्धों पर उठाया। उनके पश्चात् देवेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नागेन्द्रों ने उस शिबिका को अपने कन्धों पर उठाया। भगवान् मल्ली की पालकी के सबसे आगे स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्द्धमान, भद्रासन, कलश, मत्स्ययुग्म और दर्पण ये अष्ट मंगल चल रहे थे। मिथिला नगरी के मध्यवर्ती राजमार्ग से होती हुई भगवान् मल्लिनाथ के महाअभिनिष्क्रमण की शोभायात्रा सहस्राम्र वन नामक उद्यान में पहुंची। उस उद्यान में भगवान् की पालकी जब अशोकवृक्ष के नीचे पहुंची तब पालकी को मनुष्यों और देवेन्द्रों आदि ने अपने कन्धों से नीचे उतारा। तदनन्तर अर्हत् मल्ली उस मनोरमा शिबिका से नीचे उतरे। उन्होंने अपने आभरणालंकारों को स्वतः ही उतारा, जिन्हें महारानी प्रभावती ने अपने वस्त्रांचल में रख लिया। तदनन्तर प्रभु मल्ली ने अपने केशों का पंचमुष्टि लुंचन किया। उन केशों को शक्र ने अपने वस्त्र में रख कर क्षीर समुद्र में प्रक्षिप्त कर दिया।

तत्पश्चात् अर्हत् मल्ली ने “एगोत्थु एणं सिद्धाणं” अर्थात् सिद्धों को नमस्कार हो—“इस उच्चारण के साथ सिद्धों को नमस्कार कर सामायिक चारित्र्य को धारण किया। जिस समय भगवान् मल्ली ने सामायिक चारित्र्य को अंगीकार किया, उस समय शक्र की आज्ञानुसार देवों तथा मनुष्यों द्वारा किये जा रहे जय घोषों एवं विविध वाद्य यन्त्रों और गीतों की ध्वनियों को बन्द कर दिया गया। सामायिक चारित्र्य को अंगीकार करते ही भगवान् मल्ली को मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हो गया और प्रभु चार ज्ञान के धारक हो गये।

जिस समय अर्हत् मल्ली ने सामायिक चारित्र्य अंगीकार किया, उस समय पौष मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन का पूर्वाह्न काल था। प्रभु उस समय अष्टम भक्त की तपस्या किये हुए थे। उस समय अश्विनी नक्षत्र का चन्द्र के साथ योग था।

भगवान् मल्ली के साथ उनकी आभ्यन्तर परिषद् की तीन सौ महिलाओं और बाह्य परिषद् के तीन सौ पुरुषों ने मुडित होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। अर्हत् मल्ली के साथ नन्द, नन्दिमित्र, सुमित्र, बलमित्र, भानुमित्र, अमरपति, अमरसेन और महासेन नामक आठ राजकुमारों ने भी दीक्षा ग्रहण की।

चार प्रकार के देवों ने भगवान् मल्ली के अभिनिष्क्रमण की खूब महिमा की और नन्दीश्वर नामक आठवें द्वीप में जाकर उन्होंने अष्टाह्निक महोत्सव किया। तदनन्तर वे चारों जाति के देव अपने अपने स्थान को लौट गये।

### केवल ज्ञान

भगवान् मल्ली ने जिस दिन प्रव्रज्या ग्रहण की थी, उसी दिन, उस दिवस के पश्चिम प्रहर में जब वे अशोक वृक्ष के नीचे शिलापट्ट पर सुखासन से ध्यानावस्थित थे, उस समय प्रभु मल्ली ने शुभ परिणाम, प्रशस्त अर्घ्यवसाय और विशुद्ध लेश्याओं के द्वारा घनघातिक कर्मों के सम्पूर्ण आवरणों को क्षय करने वाले अपूर्वकरण में प्रवेश किया और उन्होंने अल्प समय में ही अष्टम, नवम, दशम और बारहवें गुणस्थान को पार कर पौष शुक्ला एकादशी को ही दिन के पश्चिम प्रहर में अनन्त केवलज्ञान और केवल दर्शन को प्रकट कर लिया। वे सम्पूर्ण संसार के सचराचर द्रव्यों, द्रव्यों के पर्यायों और समस्त भावों को साक्षात् युगपद् जानने और देखने लगे।

इस ऋषभादि महावीरान्त चौबीसी के अन्य तीर्थकरों की अपेक्षा प्रभु मल्लिनाथ की यह विशिष्टता रही कि आपने जिस दिन प्रव्रज्या ग्रहण की, उसी दिन आपको केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हो गये। आपका छद्मस्थकाल अन्य तेवीस तीर्थकरों से सर्वाधिक कम अर्थात् एक प्रहर से कुछ अधिक अथवा

१ सत्तरिसय द्वार आदि में मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को दीक्षा दिन लिखा है।

डेढ़ प्रहर के लगभग तक का ही रहा ।<sup>१</sup> भगवान् मल्लिनाथ का प्रथम पारंगक भी केवलज्ञान में ही मिथिला के महाराजा कुम्भ के अधीनस्थ राजा विश्वसेन के यहां सम्पन्न हुआ ।

### प्रथम देशना एवं तीर्थ-स्थापना

जिस समय भगवान् मल्लिनाथ को अनन्त केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुए उसी समय देव-देवेन्द्रों के सिंहासन चलायमान हुए । अश्वघ्नज्ञान के उपयोग से जब उन्हें ज्ञात हुआ कि भगवान् मल्लिनाथ को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हो गये हैं तो उन्होंने हृष्ट-तुष्ट हो प्रभु का केवलज्ञान-महोत्सव मनाते हुए पंच दिव्यों की वृष्टि की । तत्काल देवों द्वारा सहस्राश्र्वन उद्यान में समवसरण की रचना की गई । महाराजा कुम्भ भी अपने समस्त परिवार, पुरजनों एवं परिजनों के विशाल समूह के साथ समवसरण में उपस्थित हुए । भगवान् मल्लिनाथ के केवलज्ञान उत्पन्न होने का सुखद शुभ संवाद तत्काल सर्वत्र प्रसृत हो गया । उत्ताल तरंगों से सुविशाल भू-खण्ड को अपने क्रीड में लेते हुए उद्वेलित सागर के समान जनसमुद्र प्रभु के समवसरण की ओर उमड़ पड़ा ।

जितशत्रु आदि छहों राजा भी अपने अपने ज्येष्ठ पुत्रों के स्कन्धों पर अपने अपने राज्य का भार रखकर एक एक सहस्र पुरुषों द्वारा वहन की जा रही शिविकाओं में बैठ ठीक उसी समय समवसरण में पहुँचे ।

देव-देवियों, नर-नारियों और तिर्यचों की विशाल परिषद् के समक्ष भगवान् मल्लिनाथ ने समवसरण के मध्यभाग में देवकृत उच्च सिंहासन पर आसीन हो अपनी पहली दिव्य एवं अमोघ देशना दी । तीर्थंकर भगवान् मल्ली ने अपनी प्रथम देशना में घोर दुःखानुबन्धी दुःखों की ओरछोर विहीन अनाद्यनन्त परम्परा वाले दुःखों से अतीतप्रोत चतुर्विधगतिक संसार के उत्पाद, व्यय और धीव्यात्मक स्वभाव पर अज्ञान घनान्धकार विनाशक प्रकाश डालते हुए संसार के भव्य जीवों का कल्याण करने के लिये संसार के सब प्रकार के दुःखों का अन्त करने वाले धर्म का सच्चा स्वरूप संसार के समक्ष रखा ।

प्रभु मल्लिनाथ को त्रिविधताप-संताप हारिणी, पाप-पंक प्रक्षालिनी अमोघ देशना को सुनकर भव्यजीवों ने अपने आपको धन्य समझा । प्रभु

१ तते रां मल्लि अरहा ज चैव दिवसं पव्वत्तिए तस्सेव दिवसस्स पुब्बाऽ(पच्च)वरण्हकाल-समयसि असो गबरपायवस्स अहे पुढविसिलावट्टयसि सुहासएवरगयस्स सुहेणं परिणाभेणं पसत्थेहि अज्जभवसाणेहि पसत्थाहिं लेसाहिं विसुज्जभाणीहिं तथावरणकम्मरयविकरणकरं अपुव्वकरणं अणुपविट्टस्स अणंते जाव केवलनाणादसणे समुप्पन्ने ।

—ज्ञातावर्मकथांग सूत्र, अ० ८

मल्लिनाथ ने चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना की। मिथिलेश महाराज कुम्भ ने तीर्थंकर भगवान् मल्लिनाथ से श्रावकधर्म और महारानी प्रभावती ने श्राविका-धर्म अंगीकार किया।

भगवान् मल्लिनाथ की प्रथम देशना सुनकर जितशत्रु आदि छहों राजाओं को संसार से पूर्ण विरक्ति हो गई। उन छहों राजाओं ने प्रभु के पास श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की। आगे चलकर वे चतुर्दश पूर्वघर और तदनन्तर केवली हो कर अन्त में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

धर्मदेशना के पश्चात् मनुष्य, देव आदि की परिषद् अपने अपने स्थान को लौट गई। चार प्रकार के देव नन्दीश्वर द्वीप में प्रभु के केवलज्ञान का अष्टा-ह्लिक महोत्सव मनाने के लिये चले गये। चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना कर प्रभु भावतीर्थंकर कहलाये।

तदनन्तर भगवान् मल्ली तीर्थंकर सहस्रांश्रवन उद्यान से विहार कर अन्य क्षेत्रों में अप्रतिहत विहार करते हुए अनेक भव्यों का उद्धार करने लगे।

तीर्थंकर भगवान् मल्लिनाथ का देह मान २५ धनुष ऊँचा, प्रियंगु (जामुन) के समान नीला, शरीर का संस्थान समचतुरस्र और संहतन वज्र-ऋषभ नाराच था। उन्होंने ५४६०० वर्षों तक अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए अनेक भव्यों को धर्म मार्ग पर आरूढ़ कर उनका कल्याण किया।

भगवान् मल्लिनाथ के प्रथम शिष्य एवं प्रमुख गणघर का नाम भिषक् और समस्त साध्वी संघ की प्रवर्तिनी प्रथम शिष्या का नाम बन्धुमती था। भगवान् मल्लिनाथ के अतिरिक्त ऋषभादि तेवीसों तीर्थंकरों के एक ही प्रकार की परिषद् थी। किन्तु तीर्थंकर मल्लिनाथ के साध्वियों की आभ्यन्तर परिषद् और साधुओं की बाह्य परिषद्—इस भाँति दो प्रकार की परिषदें थीं।<sup>१</sup>

### धर्म-परिवार

भगवान् मल्लिनाथ के धर्मसंघ में निम्नलिखित धर्म परिवार था :—

गण एवं गणघर	— अट्टाईस (२८) गण एवं अट्टाईस (२८) ही गणघर
केवली	— तीन हजार दो सौ (३,२००)

१ तिहि इत्थीसएहि अम्भितरियाए परिसाए तिहि पुरिससएहिबाहिरियाए परिसाए सदि बु डेभविता पब्बइए....।

मनःपर्यवज्ञानी	- आठ सौ (८००)
अवधिज्ञानी	- दो हजार (२,०००)
चौदह पूर्वधारी	- छह सौ (६००)
वैक्रिय लब्धिधारी	- तीन हजार पांच सौ (३,५००)
वादी	- एक हजार चार सौ (१,४००)
साधु	- चालीस हजार (४०,०००)
अनुत्तरोपपातिक मुनि	- दो हजार (२,०००)
साध्वी	- पचपन हजार (५५,०००)
श्रावक	- एक लाख चौरासी हजार (१,८४,०००)
श्राविका	- तीन लाख पैंसठ हजार (३,६५,०००)

भगवान् मल्लिनाथ की अन्तकृद्भूमि—अर्थात् उनके तीर्थ में उसी भव से मोक्ष जाने वालों की कालावधि, दो प्रकार की थी। एक तो युगान्तकृद्भूमि और दूसरी पर्यायान्तकृद्भूमि। युगान्तकृद्भूमि में भगवान् मल्लिनाथ के निर्वाण से लेकर उनके २०वें पट्टधर आचार्य के समय तक उसी भव में मोक्ष जाने वाले साधक अर्थात् साधु, साध्वी अपने आठों कर्मों का अन्त कर मोक्ष जाते रहे। यह उनकी युगान्तकृद्भूमि थी। भगवान् मल्लिनाथ के बीसवें पट्टधर के समय के पश्चात् प्रभु के धर्मतीर्थ में कोई साधक मोक्ष नहीं गया। उनके तीर्थ में मोक्ष जाने का क्रम प्रभु के २०वें पट्टधर के समय तक ही चलता रहा। उसके पश्चात् उनके तीर्थ में कोई मोक्ष नहीं गया। दूसरी उनकी अन्तकृद्भूमि पर्यायान्तकृद्भूमि थी। प्रभु मल्लिनाथ की पर्यायान्तकृद्भूमि अर्थात् उनकी केवली पर्याय में उसी भव में मोक्ष जाने वालों का काल प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न होने के दो वर्ष पश्चात् प्रारम्भ होकर उनके निर्वाण प्राप्त करने के समय तक चलता रहा। तात्पर्य यह है कि भगवान् मल्लिनाथ के धर्म तीर्थ में, प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त होने के दो वर्ष पश्चात् मोक्ष जाने वालों का क्रम प्रारम्भ हुआ। उससे पहले उनके तीर्थ में कोई मुक्त नहीं हुआ। प्रभु को केवलज्ञान की उत्पत्ति के दो वर्ष पश्चात् से लेकर उनके निर्वाण काल तक उनके तीर्थ में साधकों का मुक्ति में जाने का क्रम चलता रहा, वह ५४८६८ वर्ष का काल भगवान् मल्लिनाथ की पर्यायान्तकृद्भूमि थी। उनके निर्वाण के पश्चात् उनके शिष्य-प्रशिष्यों की बीसवीं पीढ़ी अर्थात् उनके बीसवें पट्टधर के समय तक उनके तीर्थ में जो मुक्त होने का क्रम चलता रहा, वह प्रभु मल्लि की युगान्तकृद्भूमि थी। उनके बीसवें पट्टधर के समय के पश्चात् उनके तीर्थ में कोई साधक मुक्त नहीं हुआ।

### परिनिर्वाण

भगवान् मल्लिनाथ १०० वर्ष तक आगारवास में अर्थात् अपने गृह में रहे। ५४,६०० वर्ष तक प्रभु केवली पर्याय में रहे। लगभग १०० वर्ष कम



५५ हजार वर्ष तक देश के विभिन्न क्षेत्रों में केवलीपर्याय से सुखपूर्वक विचरते रहने के पश्चात् भगवान् मल्लिनाथ समेत पर्वत के शिखर पर पधारें । वहां प्रभु ने अपनी आभ्यन्तर परिषद् की ५०० साध्वियों और बहिरंग परिषद् के ५०० साधुओं के साथ पादपोषण संथारा कर एक मास का, पानी रहित अनशन का प्रत्याख्यान किया । अपनी दोनों विशाल भुजाओं को फैलाये हुए शान्त-निश्चल भाव से प्रभु ने शेष चार घातिकर्मों को नष्ट किया और अपनी ५५ हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर चैत्र शुक्ला चौथ की अर्द्ध रात्रि के समय भरणी नक्षत्र का चन्द्र के साथ योग होने पर एक महीने का अनशन पूर्ण कर ५०० साध्वियों और ५०० साधुओं के साथ निर्वाण प्राप्त किया । भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण महोत्सव का जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में जिस प्रकार का वर्णन है, उसी प्रकार देवों, देवेन्द्रों और नर-नरेन्द्रों ने भगवान् मल्लिनाथ और उनके साथ मुक्त हुए साधुओं एवं साध्वियों के पार्थिव शरीर का अन्तिम संस्कार कर प्रभु का निर्वाण महोत्सव मनाया ।



## सुभूम चक्रवर्ती

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल में इस भरतक्षेत्र का आठवां चक्रवर्ती सम्राट् सुभूम अठारहवें तीर्थंकर एवं सातवें चक्रवर्ती भ० अरनाथ तथा उन्नीसवें तीर्थंकर भ० मल्लिनाथ के अन्तराल काल में हुआ। सुभूम हस्तिनापुर के पुराण प्रसिद्ध महाशक्तिशाली राजा कूर्तवीर्य सहस्रार्जुन का पुत्र था। उसकी माता का नाम तारा था। चक्रवर्ती सुभूम का जो जीवनवृत्त आचार्य शीलान्क द्वारा रचित 'चउप्पन्न महापुरिस चरिय' में उल्लिखित है, उसका सारांश इस प्रकार है :—

“इसी जम्बूद्वीप के भरतखण्ड में हस्तिनापुर नामक नगर था। उस नगर के पार्श्व के एक सघन, विशाल वन के मध्यभाग में तापसों का एक आश्रम था। उस आश्रम के कुलपति का नाम जम अथवा यम था। एक मातृ-पितृ विहीन कोई ब्राह्मण बालक किसी सार्थवाह के साथ जाता हुआ अपने सार्थ से बिछुड़ गया और इधर-उधर घूमता हुआ अन्ततोगत्वा एक दिन उस तापस आश्रम में पहुंचा। जम कुलपति ने उस ब्राह्मण बालक को आश्वासन दे अपने पास रखा। कुलपति के पास रहते रहते उस बालक को कालान्तर में सांसारिक प्रपञ्चों से वैराग्य हो गया और उसने जम कुलपति के पास संन्यास-धर्म की प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। संन्यस्त होने पर उस नवप्रव्रजित ब्राह्मण कुमार का नाम अग्नि रखा गया। गृह के नाम के साथ अपने नाम का उच्चारण करते रहने के कारण वह अभिनव तापस 'जमदग्नि' (जमयग्नि) के नाम से प्रसिद्ध हो गया। वह घोर तपश्चरण करने लगा और शीघ्र ही महातपस्वी के रूप में उसकी गणना की जाने लगी।

जिस समय घोर तपश्चरण में निरत जमदग्नि ऋषि की महातपस्वी के रूप से ख्याति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई थी, उस समय दो देवों ने सम्यक्त्व-धर्म अर्थात् श्रावकधर्म और तापसधर्म की परीक्षा करने का निश्चय किया। उन दो देवों में से एक देव श्रावकधर्म का भक्त था और दूसरा देव तापसधर्म का। श्रावकधर्म के उपासक देव ने तापसधर्म के उपासक देव से कहा—“मित्र ! तपश्चर्या की दृष्टि से तुम्हारे धर्म में जो सर्वोत्कृष्ट तापस हो, उसकी परीक्षा की जाय।”

तापसोपासक देव ने कहा—“तथास्तु ! जमदग्नि तापस जो इस समय

घोर तपश्चरणा में निरत है, वही वस्तुतः वर्तमान समय का महातपस्वी है। अतः उसी का परीक्षण करना उचित होगा।”

इस प्रकार पारस्परिक विचार-विमर्श के अनन्तर दोनों देवों ने महातपस्वी तापस जमदग्नि की परीक्षा करने का निश्चय किया। वे दोनों देव, चकोर एवं चकोरी का रूप धारण कर जिस स्थान पर जमदग्नि तपस्या कर रहा था, वहाँ पहुँचे और उस वृक्ष पर बैठ गये। रात्रि के समय चकोरी ने चकोर को सम्बोधित करते हुए प्रश्न किया—“खगश्रेष्ठ! इस वृक्ष के नीचे एक पैर पर खड़ा हुआ यह जो महातपस्वी तापस दुष्कर तपश्चरणा कर रहा है, क्या यह इस तपस्या के प्रभाव से अगले जन्म में स्वर्ग के अनुपम दिव्य सुखों का अधिकारी होगा?”

चकोर ने स्पष्ट स्वर में उत्तर दिया—“नहीं, नहीं, खगोत्तमे! ऐसा कदापि नहीं हो सकता।”

चकोरी ने आश्चर्य प्रकट करते हुए प्रश्न किया—“क्यों? इतना बड़ा तपस्वी दिव्य देव सुखों का अधिकारी क्यों नहीं हो सकता? कारण क्या है?”

चकोर ने सुसंयत स्वर में कहा—“कारण तो स्पष्ट एवं सर्वविदित ही है कि यह तापस सन्ततिविहीन है और “अपुत्रस्य गतिर्नास्ति”—इस आप्तवचन के अनुसार पुत्राभाव में कोई भी व्यक्ति, चाहे वह बड़े से बड़ा तपस्वी ही क्यों न हो, सुगति का अधिकारी नहीं हो सकता।”

अपने शिर के ऊपर थोड़ी ही ऊंचाई पर वृक्ष की टहनी पर बैठे हुए उन पक्षियों का वार्तालाप सुनकर जमदग्नि ऋषि विचारसागर में निमग्न हो गये। उनके मन और मस्तिष्क में ऊहापोहों एवं संकल्प-विकल्पों का बवंडर सा उठा। जप-तप-ध्यान-योग सब कुछ भूलकर वे रात भर विभिन्न प्रकार की विचारवीचियों से कल्लोलित चिन्ता सागर में गोते लगाते रहे। ब्राह्म मुहूर्त में वे एक संकल्प पर आरूढ़ हुए। वे अपने आप से कहने लगे—“पक्षियुगल ठीक ही तो कह रहा था—अपुत्रस्य गतिर्नास्ति—चिर पठित, चिर परिचित इस आप्त वचन पर मैंने आज तक गहराई से कभी विचार ही नहीं किया। वस्तुतः बिना पुत्र प्राप्ति के तपश्चरणा द्वारा सुगति की आशा करना मरुमरीचिका से प्यास बुझाने की आशा तुल्य नितान्त निरर्थक प्रयास है। अब मैं घोर तपश्चरणा द्वारा काया को व्यर्थ ही क्लेश पहुँचाने के स्थान पर अनिन्द्य सुन्दर कुलीना कन्या से विवाह कर उससे पुत्र प्राप्ति का प्रयास करूँगा।”

अपने इस दृढ़ संकल्प के साथ सूर्योदय होते ही तापस जमदग्नि ने अपने ढण्ड-कमण्डलु उठा मिथिला नगरी की ओर प्रस्थान कर दिया। बिना किसी

स्थान पर रुके त्वरित गति से लक्षप्रस्थल की ओर बढ़ते हुए वे एक दिन मिथिला-धिपति के राजप्रासाद में पहुंचे । उन्होंने मिथिलेश्वर से कहा—“राजन् ! तुम्हारी १०० पुत्रियों में से एक राजकन्या मुझे दो ।”

यह महातपस्वी कहीं रुष्ट हो मेरा घोर अनिष्ट न कर दे—इस डर से राजा ने तत्काल तापस की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए कहा—“भगवन् ! मेरी १०० पुत्रियों में से जिसे आप चाहें, उसे ही ले लें । जमदग्नि ने सौ राज-पुत्रियों में से रेणुका नाम की राजपुत्री को अपनी भार्या बनाने के लिये चुना । राजा ने जमदग्नि के साथ अपनी पुत्री रेणुका का विवाह कर दिया । जमदग्नि अपनी पत्नी रेणुका के साथ अपने तपोवन में लौट आये ।

रेणुका की एक बहिन का नाम तारा था । मिथिलेश ने अपनी उस तारा नाम की राजकुमारी का विवाह हस्तिनापुर के कौरववंशी महाराजा कार्तवीर्य सहस्रार्जुन के साथ किया । जहां एक बहिन रेणुका ऋषि पत्नी बनी, वहां दूसरी ओर दूसरी बहिन तारा महाराजरानी बनी ।

रेणुका ने एक पुत्र को जन्म दिया । जमदग्नि ने कुलपति परम्परा से क्रमागत अपना परशु अपने उस पुत्र को दिया । और उसका नाम परशुराम रखा ।

कालान्तर में रेणुका अपनी बहिन तारा के यहां हस्तिनापुर के राज प्रासाद में अतिथि बन कर गई । महारानी तारा ने अपनी बहिन रेणुका का बड़े ही राजसी ठाट-बाट से आतिथ्य-सत्कार एवं सम्मान किया । हस्तिनापुर के राजप्रासाद में रहते हुए राज्यलक्ष्मी के लोभ, विषय भोगों की मनोज्ञता, अपनी इन्द्रियों के चाञ्चल्य एवं कर्मपरिणति की कल्पनातीत शक्ति के प्रभाव के वशीभूत हो ऋषिपत्नी रेणुका अपने बहनोई (भगिनीपति) कार्तवीर्य पर आसक्त हो गई और उसके साथ अहर्निश कामभोगों में अनुरक्त रहने लगी । तापस जमदग्नि को जब कामदेव के इस प्रपञ्च के सम्बन्ध में ज्ञात हुआ तो वह हस्तिनापुर पहुंचा और वहां से रेणुका को अपने आश्रम में ले आया । जमदग्नि ने अपने पुत्र परशुराम को उसकी माता की दुश्चरित्रता का वृत्तान्त सुनाया तो परशुराम ने अपनी माता का शिर काट गिराया ।<sup>२</sup>

रेणुका की हत्या का वृत्तान्त सुनकर कार्तवीर्य सहस्रार्जुन अपने दल-बल के साथ जमदग्नि के आश्रम में पहुंचा और परशुराम को वहां न पा उसने जमदग्नि तापस को मार डाला ।

१ चउप्यक्ष महापुरिसचरियं, पृ० १६५

२ वही ।

कार्तवीर्य सहस्रार्जुन द्वारा अपने पिता के मारे जाने की बात सुनकर परशुराम की क्रोधाग्नि भड़क उठी। उसने हस्तिनापुर जाकर अपने पिता के घातक कार्तवीर्य सहस्रार्जुन को मार डाला। इस पर भी उसकी क्रोधाग्नि शान्त नहीं हुई। वह क्षत्रिय वर्ग का ही द्रोही बन गया और उसने दूर दूर तक के प्रदेशों में धूम धूमकर क्षत्रियों को मारा। इस प्रकार पृथ्वी को निक्षत्रिय करने के लिये परशुराम ने सात बार क्षत्रियों का भीषण सामूहिक संहार किया।

उस समय कार्तवीर्य सहस्रार्जुन की रानी तारा गभिणी थी अतः वह हस्तिनापुर से प्रच्छन्नरूपेण पलायन कर एक अन्य तापस आश्रम में पहुँची और वहाँ एक भूमिगृह (तलघर) में रहने लगी। गर्भकाल पूर्ण होने पर तारा ने एक ऐसे पुत्र को जन्म दिया, जिसके मुख में जन्म ग्रहण करने के समय ही दाढ़ें और दाँत थे। तारा का वह पुत्र माता की कुक्षि से बाहर निकलते ही भूमितल को अपनी दाढ़ों में पकड़कर खड़ा हो गया अतः उसका नाम सुभूम रखा गया। उस तलघर में ही सुभूम का लालन-पालन किया गया और वहीं वह क्रमशः बड़ा हुआ। तापस-आश्रम के कुलपति के पास सुभूम ने शास्त्रों और विद्याओं का अध्ययन किया।

युवावस्था में पदार्पण करते ही सुभूम ने अपनी माता से पूछा—  
“मातेश्वरी ! मेरे पिता कौन हैं और कहाँ हैं ? क्या कारण है कि मुझे इस भूमि के विवर में रखा जा रहा है ?”

तारा ने आंसुओं की अविरल धाराएं बहाते हुए मौन धारण कर लिया। इस पर सुभूम को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अपनी माता से विस्मय एवं आक्रोश मिश्रित उच्च स्वर में सब कुछ सच-सच बताने के लिये कहा। माता ने अथ से इति तक सम्पूर्णा वृत्तान्त अपने पुत्र सुभूम को कह सुनाया।

परशुराम द्वारा अपने पिता के मारे जाने का वृत्तान्त सुनते ही सुभूम की क्रोधाग्नि प्रचण्ड वेग से प्रज्वलित हो उठी। उसके दोनों लोचन रक्तवर्ण हो अग्निवर्षा सी करने लगे। उसने अपने अधर की दाँतों से चबाते हुए माता से प्रश्न किया—“अम्ब ! मेरा वह पितृघाती शत्रु रहता कहाँ है ?”

माता ने उत्तर दिया—“पुत्र ! वह नृशंस पास ही के एक नगर में रहता है। अपने हाथों मारे गये क्षत्रियों की संख्या से अवगत रहने के लिये उसने स्वयं द्वारा मारे गये क्षत्रियों की एक एक दाढ़ उखाड़कर सब दाढ़ें एक बड़े थाल में एकत्रित कर रखी हैं। किसी भविष्यवक्ता नैमित्तिक ने भविष्यवाणी कर

परशुराम को बताया है कि जो व्यक्ति उच्च सिंहासन पर बैठकर इन दाढ़ों से भरे थाल में दाढ़ों के पायस (खीर) के रूप में परिणत हो जाने पर उस खीर को खायेगा, वहाँ व्यक्ति तुम्हारे प्राणों का अन्त करने वाला होगा। नैमित्तिक द्वारा की गई भविष्यवाणी सुनकर परशुराम ने सत्रागार मण्डप बनवाया। उस विशाल मण्डप के बीचों बीच एक उच्च सिंहासन रखवाया और उस सिंहासन से संलग्न उस पीठ पर स्वयं द्वारा मारे गये क्षत्रियों की दाढ़ों से भरा थाल रख दिया। परशुराम ने उस विशाल सत्रागार में प्रतिदिन ब्राह्मणों को भोजन करवाना प्रारम्भ कर दिया। उस सत्रागार मण्डप के चारों ओर परशुराम ने बहुत बड़ी संख्या में सशक्त सैनिकों को उस सिंहासन, थाल एवं मण्डप की रक्षा के लिये नियुक्त कर रखा है।<sup>१</sup>

अपनी माता के मुख से यह सारा वृत्तान्त सुनते ही सुभूम अपने पितृ-घातक परशुराम का वध करने के दृढ़-संकल्प के साथ तत्काल परशुराम के नगर की ओर प्रस्थित हुआ। सत्रागार के द्वार पर पहुँचकर सुभूम ने सत्रागार की रक्षा के लिये नियुक्त सशस्त्र सैनिकों का संहार कर डाला और विद्युत् वेग से वह उस उच्च सिंहासन पर आसीन हो गया। उच्च सिंहासन पर बैठा सुभूम ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो लोहितवर्ण बाल रवि उदयाचल पर आ विराजमान हुआ हो। उसने क्षत्रियों की दाढ़ों से भरे थाल की ओर दृष्टि डालकर देखा। सुभूम के दृष्टिपात के साथ ही वे दाढ़ें अदृष्ट शक्ति के प्रभाव से खीर के रूप में परिणत हो गईं। सुभूम तत्काल उस खीर को खाने लगा।<sup>१</sup>

यह देखकर परशुराम के हितचिन्तकों एवं सत्रागार के आहत रक्षकों ने तत्काल परशुराम की सेवा में उपस्थित हो उनसे निवेदन किया—“देव ! सिंह शावक के समान अति तेजस्वी एक बालक हमें हताहत कर उस श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ गया है। क्षत्रियों की दंष्ट्राओं से भरा वह थाल दाढ़ों के स्थान पर पायस से भर गया है। वेष-भूषा से ब्राह्मण सा प्रतीत होने वाला वह बालक उस पायस को खा रहा है। उस तेजस्वी बालक की आँखों से, अंग-प्रत्यंग से और रोम-रोम से तेज एवं अोज बरस रहा है। भला मानव का तो क्या साहस देवगण भी उसकी ओर आँख उठाकर देखने में भय विह्वल हो उठते हैं।”

आरक्षकों की बात सुनते ही भविष्यवक्ता की भविष्यवाणी परशुराम के कर्णान्ध्रों में मानो प्रतिध्वनित होने लगी और वह परम कोपाविष्ट हो तत्काल सत्रागार मण्डप में पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि एक बालक उस उच्च सिंहासन पर बैठा हुआ सिंह के समान निर्भीक और निश्शंक ही थाल में भरी खीर खा रहा है। परशुराम ने कड़क कर कर्कश स्वर में सुभूम को सम्बोधित करते हुए

१ चतुष्पन्न महापुरिसचरित्यं, पृ० १६६

कहा—“अरे ओ ब्राह्मण के बच्चे बटुक ! यह श्रेष्ठ सिंहासन तुझे किसने दिया है, जिस पर बैठकर तू अपना जंगलीपन प्रकट कर रहा है ? इन मानव अस्थियों का तो तुझे स्पर्श तक नहीं करना चाहिए पर अरे तू तो ब्राह्मण बटुक होकर भी इन मानव अस्थियों का भक्षण कर रहा है । तू दिखने में तो ब्राह्मण बटुक ही प्रतीत होता है । यदि यह सच है तो सुन ले—मेरा यह घोर परशु केवल क्षत्रियों के ही रुधिर का प्यासा है, दीन श्रोत्रिय ब्राह्मणों पर प्रहार करने में यह लज्जा का अनुभव करता है । यदि तू क्षत्रिय कुमार है और मेरे भय के कारण तूने ब्राह्मणों के समान वेष और आचार अंगीकार कर लिया है तो भी तुझे मुझसे डरने की आवश्यकता नहीं क्योंकि पृथ्वी के अनेक बार निक्षत्रिय कर दिये जाने पर अब तुम जैसे लोग वस्तुतः कुलीनों के लिये प्रगाढ़ अनुकम्पा के पात्र हो । अतः बुद्धिमानों द्वारा निन्दित एवं गहिर्त मानव अस्थियों के इस अशुचि आहार का परित्याग कर मेरे इस सत्रागार में स्वादिष्ट से स्वादिष्टतम सात्विक षड्रस व्यंजनों का भोजन करो । अपनी भुजाओं के बल-पराक्रम के भरोसे यदि तू मेरे साथ युद्ध करना चाहता है तो भी तुझ जैसे निष्शस्त्र बालक पर प्रहार करने में मुझे स्वयं अपने ऊपर घृणा का अनुभव होता है । क्योंकि जो लोग अपने घर आये हुए पुरुष पर प्रहार करते हैं, उन लोगों की सत्पुरुषों में गणना नहीं की जा सकती ।”<sup>१</sup>

सुभूम सहज निर्भीक-निश्शंक मुद्रा धारण किये खीर भी खाता रहा और परशुराम की बातें भी सुनता रहा । परशुराम की बात पूरी होते होते सुभूम भी क्षीर भोजन से निवृत्त हुआ । परशुराम के कथन के पूर्ण होते ही सुभूम ने उसे उसकी बातों के उत्तर में अपनी बात कहना प्रारम्भ किया—“ओ परशुराम ! सुन । दूसरों के द्वारा दिये गये आसन को ग्रहण करना पराक्रमियों के लिये कदापि शोभास्पद नहीं होता । केसरी सिंह का वन के राजा के रूप में कौन अभिषेक करता है ? मदोन्मत्त महाबलशाली गजराज को यूथपति के पद पर कौन अभिषिक्त करता है ? वे अपने पौरुष-पराक्रम के बल पर स्वतः ही वनराज एवं यूथपति बन जाते हैं । इसी प्रकार मैं भी अपने भुजबल के भरोसे, पौरुष-पराक्रम के बल के प्रभाव से इस सिंहासन पर आ बैठा हूँ । प्रत्येक सत्पुरुष अपने दुष्कृत पर लज्जित होता है किन्तु इसके विपरीत तूम तो इतने अधिक दुष्कृत्य करने के पश्चात् भी अपने द्वारा मारे गये लोगों की दाढ़ों से थाल को भर कर फूले नहीं समा रहे हो, अपने दुष्कृत्यों की सराहना कर रहे हो । ओ मूढ़ ! क्या तुम यह भी नहीं जानते कि दाढ़ें किसी मनुष्य के द्वारा चबाई नहीं जा सकती । मैं दाढ़ें नहीं अपितु किसी अदृष्ट शक्ति द्वारा इस थाल में परोसी गई खीर खा रहा हूँ । मैं तुम्हें स्पष्ट बता दूँ कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ ।

१ चउपन्न महापुरिसचरियं, पृ० १६६, गा० १७-२७

मैं क्षत्रिय कुमार हूँ और तुम्हारा वध करने के लिये यहां आया हूँ। ऋषियों के आश्रम में मेरा लालन-पालन हुआ है इसीलिये आश्रमवासियों जैसा मेरा यह वेष है। सुभटों का शस्त्र नृसिंह के समान केवल उनकी भुजाएं ही होती हैं और कायर पुरुष यदि अपने हाथ में वज्र भी धारण किया हुआ हो तो भी वह निहत्था ही है। अतः तुम मुझे जो शस्त्रविहीन कह रहे हो, यह भ्रम मात्र है। मुझे बालक समझ उपेक्षा करने की भूल मत कर बैठना। उदयाचल पर नवीदित बाल-भानु क्या दिग्दिगन्तव्यापी घनान्धकार को तत्काल ही विनष्ट नहीं कर देता? वैर का प्रतिषोध लेकर पितृऋण से उन्मुक्त होने के लिये मेरी भुजाएं फड़क रही हैं, मेरा अन्तःकरण आतुर हो रहा है। अतः शीघ्र ही शस्त्र उठा और अपना पौरुष दिखा। सावधान होकर सुन ले—जिन महान् योद्धा कार्तवीर्य सहस्राजुंन को तुमने रणांगण में मारा था, उन्हीं महाबलशाली महाराज कार्तवीर्य सहस्राजुंन का मैं पुत्र हूँ। पितृवध का प्रतिषोध लेने के लिये तेरे सम्मुख उपस्थित हूँ। अब तो यदि तू पाताल में भी प्रविष्ट हो जाय तो भी निश्चित रूप से मैं तुझे पशु की मीत मारकर ही विश्राम लूंगा। तूने सात बार पृथ्वी को निक्षत्रिया किया है अतः २१ बार पृथ्वी को निर्बाह्यण करने पर ही मेरी कोपाग्नि शान्त होगी, अन्यथा कदापि नहीं।”

सुभूम की इस प्रकार की ललकार सुनते ही परशुराम का रोम-रोम क्रोधाग्नि से प्रज्वलित हो उठा। उसने तत्काल अपने धनुष की प्रत्यञ्चा पर सरसमूह का संधान कर सुभूम पर सरवर्षा की ऋड़ी लगा दी। सुभूम ने उस थाल को ढाल से सब बाणों को निरर्थक कर पृथ्वी पर गिरा दिया। यह देख परशुराम आश्चर्याभिभूत एवं हतप्रभ हो गया। अनेक भीषण युद्धों में सदा विजयश्री दिलाने वाले अपने प्रचण्ड कोदण्ड और पैंने बाणों को एक बालक के समक्ष मोघता की देखकर परशुराम झुंझला उठे। धनुष बाण को एक और पटक उन्होंने अपना परशु सम्हाला। पर परशु को भी निष्प्रभ देख उन्हें बड़ी निराशा हुई। परशुराम के मुख से हठात् ये शब्द निकले—“अरे यह क्या हो गया, सहस्रों-सहस्रों क्षत्रियों का शिरोच्छेदन करने वाला यह घोर परशु आज प्रभाहीन कैसे प्रतीत हो रहा है?” कतिपय क्षणों तक इसी प्रकार चिन्ताग्रस्त एवं विचारमग्न रहने के अनन्तर परशुराम ने सुभूम के मस्तक को काट गिराने की अभिलाषा से उसकी घीवा को लक्ष्य कर अपने प्रभाविहीन परशु को तीव्र वेग से सुभूम की ओर फेंका। कोपाकुल परशुराम द्वारा फेंका गया वह परशु सुभूम के पैरों के पास जा गिरा।

१ तुहकयतिउण्ण मंह पसमइ कोवाणलो नवरं ॥३६॥

—चउप्पन्न महापुरिसचरियं, पृ० १६७ ॥



परशुराम द्वारा फेंके गये परशु को अपने पैरों के नीचे भूमि पर पड़ा देख सुभूम ने अट्टहास किया और परशुराम के वध के लिये कृत-संकल्प हो उसने अपने सम्मुख रखे थाल को उठाया । सुभूम के हाथ में जाते ही वह थाल अमोघ सहस्रार चक्र के समान तेज से जगमगा उठा । कोपाविष्ट सुभूम ने अपने शत्रु की ग्रीवा को लक्ष्य कर उस थाल को प्रबल वेग से घुमाते हुए परशुराम की ओर फेंका । उस थाल से कट कर परशुराम का मुण्ड ताल फल की तरह पृथ्वी पर लुढ़कने लगा ।<sup>१</sup>

परशुराम के शिरोच्छेदन के उपरान्त भी सुभूम की क्रोधाग्नि शान्त नहीं हुई । उसने पुनः-पुनः ब्राह्मणों का भीषण सामूहिक संहार कर पृथ्वी को २१ बार ब्राह्मण विहीन बना दिया ।

सुभूम ने भरतक्षेत्र के छहों खण्डों पर अपनी विजय वैजयन्ती फहरा कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया । ६ निधियों और १४ रत्नों का स्वामी सुभूम सुदीर्घ काल तक षट्खण्डों के विशाल साम्राज्य का परिपालन एवं अनुपम ऐहिक भोगोपभोगों का सुखोपभोग करता रहा और अन्त में आयु पूर्ण होने पर घोर नरक का अधिकारी बना ।<sup>२</sup>

१ ताल फलं पिडव क्षिप्त्वा पडह सिरं परसुरामस्स ॥४७॥

—चण्ड्यन्न महापुरिसचरिम्, पृ० १६७

## भगवान् श्री मुनिसुव्रत

भगवान् मल्लिनाथ के बाद बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत हुए ।

### पूर्वसंथ

अपर-विदेह की चम्पा नगरी में राजा सुरश्रेष्ठ के भव में इन्होंने नन्दन मुनि की सेवा में संयम स्वीकार किया और अर्हत्-भक्ति आदि बीस स्थानों की सम्यक् आराधना कर तीर्थंकर नामकर्म का उपाजन किया । अन्त समय में समाधिपूर्वक काल कर दशवें प्राणत देवलोक में देव हुए ।

### जन्म

स्वर्ग की स्थिति पूर्ण कर यही सुरश्रेष्ठ का जीव श्रवण शुक्ला पूर्णिमा को श्रवण नक्षत्र में स्वर्ग से च्यव कर राजमृही के महाराज सुमित्र की महारानी देवी पद्मावती के गर्भ में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के रूप में उत्पन्न हुआ ।

माता ने मंगलप्रद चतुर्दश शुभ-स्वप्न देखे और प्रशस्त दोहदों से प्रमोद-पूर्वक गर्भकाल पूर्ण किया । ज्येष्ठ कृष्णा नवमी<sup>१</sup> के दिन श्रवण नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया । इन्द्र, नरेन्द्र और पुरजनों ने भगवान् के जन्म का मंगल-महोत्सव मनाया ।

### नामकरण

इनके गर्भ में रहते माता को विधिपूर्वक व्रत-पालना की इच्छा बनी रही और वह सम्यक् रीति से मुनि की तरह व्रत पालना करती रही अतः महाराज सुमित्र ने बालक का नाम मुनिसुव्रत रखा ।<sup>२</sup>

### विवाह और राज्य

युवावस्था प्राप्त होने पर पिता सुमित्र ने प्रभावती आदि अनेक योग्य राजकन्याओं के साथ कुमार मुनिसुव्रत का विवाह किया और कालान्तर में उनको राज्य का भार सौंप कर स्वयं आत्म-कल्याण की इच्छा से वैराग्यभाव-पूर्वक दीक्षित हो गये ।

१ प्र० व्याकरण में ज्येष्ठ कृष्णा ८ है ।

२ गन्मगण मायापिया य सुखता जाता । (भाव. जू. उक्त. पृ. ११)

मुनिसुव्रत ने पिता के पीछे राज्य संभाला पर राजकीय वैभव और इन्द्रियों के सुख में लिप्त नहीं हुए ।

### दीक्षा और पारणा

पन्द्रह हजार वर्षों तक राज्य का भलीभांति संचालन करने के पश्चात् प्रभु मुनिसुव्रत ने लोकान्तिक देवों की प्रार्थना से वर्षादान किया एवं अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य पर अभिषिक्त कर फाल्गुन कृष्णा अष्टमी<sup>१</sup> के दिन श्रवण नक्षत्र में एक हजार राजकुमारों के साथ दीक्षा ग्रहण की ।

दूसरे दिन राजगृही में ब्रह्मदत्त राजा के यहां प्रभु के बेले का प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ । देवों ने पंच-दिव्य बरसा कर दान की महिमा प्रकट की ।

### केवलज्ञान

ग्यारह मास तक छद्मस्थ रूप से विचरण कर फिर प्रभु दीक्षा वाले उद्यान में पधारे और वहां चम्पा वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गये । फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होकर उन्होंने घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय किया और लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान व केवलदर्शन की प्राप्ति की ।

केवली बनकर प्रभु ने श्रुतधर्म एवं चारित्र-धर्म की देशना दी और हजारों व्यक्तियों को चारित्र-धर्म की दीक्षा देकर चतुर्विध संघ की स्थापना की ।

### धर्म-परिवार

भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के धर्म संघ में निम्न परिवार था :-

गण एवं गणधर	—अठारह [ १८ ] गण एवं अठारह [ १८ ] ही गणधर
केवली	—एक हजार आठ सौ [ १,८०० ]
मनःपर्यवज्ञानी	—एक हजार पांच सौ [ १,५०० ]
अवधिज्ञानी	—एक हजार आठ सौ [ १,८०० ]
चौदह पूर्वधारी	—पांच सौ [ ५०० ]
वैक्रिय लब्धिधारी	—दो हजार [ २,००० ]
वादी	—एक हजार दो सौ [ १,२०० ]
साधु	—तीस हजार [ ३०,००० ]
साध्वी	—पचास हजार [ ५०,००० ]
श्रावक	—एक लाख बहत्तर हजार [ १,७२,००० ]
श्राविका	—तीन लाख पचास हजार [ ३,५०,००० ]

१ स० द्वा ६ में फाल्गुन शुक्ला १२ उल्लिखित है ।

### परिनिर्वाण

तीस हजार वर्ष की पूर्ण आयु में से प्रभु साढ़े सात हजार वर्ष कुमारवस्था में रहे, पन्द्रह हजार वर्ष तक राज्य-पद पर रहे और साढ़े सात हजार वर्ष तक उन्होंने संयम-धर्म की आराधना की।

अन्त में केवलज्ञान से जीवन का अन्तिम काल निकट जानकर प्रभु ने एक हजार मुनियों के साथ एक मास का निर्जल भ्रमशन किया और ज्येष्ठ कृष्णानवमी के दिन अश्विनी नक्षत्र में सकल कर्मों का क्षय कर वे सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए।

जैन इतिहास और पुराणों के अनुसार मर्यादा-पुरुषोत्तम राम, जिनका अपर नाम पद्म बलदेव है और वासुदेव लक्ष्मण भी भगवान् मुनिसुव्रत के शासन-काल में हुए। राम ने उत्कृष्ट साधना से सिद्धि प्राप्त की और सीता का जीव बरहवें स्वर्ग का अधिकारी हुआ। इनका पवित्र चरित्र "पउमचरियं" एवं पद्म-पुराण आदि ग्रन्थों में विस्तार से उपलब्ध होता है।



## चक्रवर्ती महापद्म

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल में इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में, बीसवें तीर्थंकर म० मुनिसुव्रत स्वामी की विद्यमानता में नौवें चक्रवर्ती महापद्म हुए । चक्रवर्ती महापद्म के ज्येष्ठ भ्राता का नाम विष्णु कुमार था ।

प्राचीन काल में भरतक्षेत्र के आर्यावर्त खण्ड में हस्तिनापुर नामक एक सुसमृद्ध एवं सुन्दर नगर था । वहां भगवान् ऋषभदेव की वंश परम्परा में पद्मोत्तर नामक एक महाप्रतापी राजा न्याय-नीतिपूर्वक अपने राज्य की प्रजा का पालन करते थे । उनकी पट्टमहिषी का नाम ज्वाला था । एक रात्रि में सुप्रसुप्ता महारानी ज्वाला ने स्वप्न में देखा कि एक केसरीसिंह उसके मुख में प्रविष्ट हो गया है । दूसरे दिन प्रातःकाल राजा पद्मोत्तर ने स्वप्न पाठकों को बुला कर उनसे महादेवी के उक्त स्वप्न के फल के सम्बन्ध में प्रश्न किया । स्वप्न पाठकों ने स्वप्नशास्त्र के आधार पर महाराज को बताया कि अक्षय कीर्ति का उपाजर्न करने वाला एक महान् पुण्यशाली प्राणी महारानी की कुक्षि में आया है ।

गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी ज्वाला देवी ने एक अतीव सुन्दर, सुकुमाल एवं तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम विष्णुकुमार रखा ।

कालान्तर में महारानी ज्वालादेवी ने एक रात्रि में चौदह महास्वप्न देखे । स्वप्नफल सम्बन्धी राजा-रानी की जिज्ञासा को शान्त करते हुए नैमित्तिकों ने बताया कि महारानी की कुक्षि से एक महान् पराक्रमी पुत्ररत्न का जन्म होगा, जो समय पर सम्पूर्ण भरतक्षेत्र का चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा ।

गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी ज्वालादेवी ने सर्व शुभ लक्षण सम्पन्न एक महान् तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । माता-पिता ने स्वजन-परिजनों के साथ विचार-विमर्श कर अपने उस दूसरे पुत्र का नाम महापद्म रखा ।

विष्णुकुमार और महापद्म—ये दोनों भाई शुक्लपक्ष की द्वितीया के चन्द्र के समान अनुक्रमशः वृद्धिगत होते हुए शैशवावस्था को पार कर किशोर वय में और किशोर वय से युवावस्था में प्रविष्ट हुए । दोनों राजकुमारों को उस समय के लोकविश्रुत बड़े-बड़े शिक्षा शास्त्रियों एवं कलाविदों के सांनिध्य में रख कर उन्हें राजकुमारोचित सभी विद्याओं एवं कलाओं का अध्ययन कराया गया । सुतीक्ष्ण बुद्धि दोनों भ्राता सभी प्रकार की विद्याओं में पारंगत हो गये ।

ज्येष्ठ राजपुत्र विष्णुकुमार की बाल्यकाल से ही सांसारिक कार्यकलापों एवं ऐहिक भोगोपभोग के प्रति किसी प्रकार की अभिरुचि नहीं थी। अतः उन्होंने कालान्तर में माता-पिता की अनुज्ञा प्राप्त कर श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। अंगशास्त्रों के अभ्यास एवं विशुद्ध श्रमणाचार की परिपालना के साथ-साथ मुनि विष्णुकुमार ने सुदीर्घ काल तक अति कठोर दुष्कर तपश्चरणा किया। उग्र तपश्चर्याओं के प्रभाव से मुनि विष्णुकुमार को अनेक प्रकार की उच्चकोटि की लब्धियां एवं विद्याएं स्वतः ही प्रकट हो गईं।

महाराजा पद्मोत्तर ने होनहार चक्रवर्ती सम्राट् के योग्य सभी लक्षणों से युक्त अपने द्वितीय पुत्र महापद्म को युवराज पद पर अभिषिक्त कर शासन-संचालन के भार से निवृत्ति ली।

उन्हीं दिनों बीसवें तीर्थंकर भ० मुनिसुव्रत स्वामी के शिष्य आचार्य सुव्रत अप्रतिहत विहार करते हुए विहारक्रम से उज्जयिनी पधारे। आचार्यश्री के शुभागमन का सम्वाद सुन उज्जयिनीपति श्रीवर्मा भी अपने प्रधानामात्य नमुचि एवं अपने परिजनो-पौरजनों आदि के साथ आचार्यश्री के दर्शनार्थ नगर के बहिस्थ उद्यान में गया। सुव्रताचार्य का वन्दन नमन करने के पश्चात् राजा उपदेश श्रवण की अभिलाषा से उनके सम्मुख बैठा। नमुचि को अपने पाण्डित्य का बड़ा अभिमान था। वहां बैठते ही वह वैदिक कर्मकाण्ड की प्रलाघा और वीतराग जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्ररूपित धर्म की निन्दा करने लगा। नमुचि को वितण्डावाद का आश्रय लिये देख सुव्रताचार्य तो मौन रहे किन्तु उनका एक लघु वयस्क शिष्य नमुचि द्वारा किये जा रहे वितण्डावाद और अनर्गल प्रलाप को सहन नहीं कर सका। उसने नमुचि के साथ शास्त्रार्थ कर उसे महाराजा श्री वर्मा के समक्ष ही पराजित कर दिया। उस समय तो वह निरुत्तर हो जाने के कारण कुछ भी नहीं बोल सका किन्तु राजा और प्रजा के सम्मुख एक छोटे से साधु द्वारा पराजित कर दिये जाने के अपमान की अग्नि में उसका तन, मन और रोम-रोम जलने लगा। अपने इस अपमान का प्रतिशोध लेने की भावना के वशीभूत हुआ वह नमुचि उन्मत्त बना रात्रि के घनान्धकार में एक नंगी तलवार लिये घर से निकला और उस उद्यान में प्रविष्ट हुआ, जहां सुव्रताचार्य अपने शिष्यमण्डल के साथ विराजमान थे। नमुचि दबे पांवों उद्यान के मध्य भाग में अवस्थित भवन की ओर बढ़ा। उसने देखा कि वहां सब मुनि निश्शंक भाव से निद्राधीन हैं, चारों ओर अर्द्धरात्रि की निस्तब्धता छाई हुई है। निद्राधीन लघु मुनि को दूर से देखते ही क्रोधाविष्ट हो नमुचि ने तलवार की मूठ को दोनों हाथों में कस कर पकड़ा। लघु मुनि की ग्रीवा पर तलवार का भरपूर वार करने के लिये उसने तलवार पकड़े हुए अपने दोनों हाथों को अपने दक्षिणस्कन्ध के ऊपर तक उठाया। नमुचि पूरी शक्ति जुटा कर लघु मुनि की गर्दन पर तलवार का वार करने के लिए उनकी ओर भपटा किन्तु किसी

अदृष्ट शक्ति के प्रभाव से अथवा मुनिमण्डल के तपोनिष्ठ श्रमणजीवन के प्रताप से उस उद्यानशाला के द्वार पर ही वह स्तम्भित हो गया। नमुचि के हाथ ऊपर के ऊपर ही उठे रह गये। जब नमुचि ने यह अनुभव किया कि वह अपने हाथों को और तलवार को तिलमात्र भी इधर से उधर नहीं कर पा रहा है तो उसी अवस्था में उसने वहाँ से भाग निकलने का उपक्रम किया। परन्तु उसने पाया कि वह पूर्ण रूप से स्तम्भित हो चुका है, पूरी शक्ति लगा कर सभी प्रकार के प्रयास करने के उपरान्त भी वह अपने किसी भी अंगप्रत्यंग को किञ्चित्मात्र भी हिलाने में असमर्थ है। अन्ततोगत्वा नमुचि निराश हो गया। सूर्योदय होते ही उसकी कैसी भयंकर दुर्दशा होगी, दुर्गति होगी, कलंक-कालिमापूर्ण उसकी भयंकर अपकीर्ति प्रातःकाल होते ही दिग्दगन्त में फैल जायगी, नरेश्वर को और नागरिकों को वह अपना काला मुँह किस प्रकार दिखायेगा—इन विचारों से वह सिंहर उठा, उसका मुख विवर्ण हो काला पड़ गया। वह मन ही मन सोचने लगा—“अच्छा हो यह धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ, छुप जाऊँ।” पर भला, पाप भी क्या कभी छुपाये छुपा है। न धरती ही फटी और न वह अपने आपको छुपा ही पाया। ब्राह्म मुहूर्त में सर्वप्रथम मुञ्जताचार्य ने नमुचि को उस रूप में खड़े देखा। तदनन्तर मुनिमण्डल ने भी देखा। हर्षामर्ष-विहीन-सम शत्रु-मित्र मुनिमण्डल समभाव से सदा की भांति अपनी आवश्यक धर्मक्रियाओं के निष्पादन में निरत हो गया। प्रातःकाल होते ही मुनिमण्डल के दर्शनार्थ आये हुए श्रद्धालु नागरिकों ने नमुचि को उस रूप में स्तब्धवस्था में देखा। विद्युत् वेग से यह संवाद नगर के कोने-कोने में प्रसृत हो गया। सहस्रों-सहस्रों नागरिकों के समूह पहाड़ी नदी के प्रवाह के समान उस उद्यान की ओर उमड़ पड़े। उद्यान नागरिकों से खचाखच भर गया। चारों ओर से नमुचि पर कटु-वचनों की अनवरत वर्षा होने लगी। सब ओर उसकी भयंकर अपकीर्ति फैल गई। नमुचि बड़ा अपमानित हुआ। स्तम्भन का प्रभाव परिसमाप्त होते ही वह अपने घर में आ कर छुप गया। उज्जयिनी में रहना उसके लिए वस्तुतः अब ज्वालामालाओं से संकुल भीषण भट्टी में रहने तुल्य दुस्सह्य एवं दूभर हो गया। एक दिन चुपचाप वह उज्जयिनी से निकला और घूमता-घामता हस्तिनापुर पहुँचा।

हस्तिनापुर पहुँचने के पश्चात् नमुचि युवराज महापद्म के सम्पर्क में आता रहा और युवराज ने उसे अपनी मन्त्रि-परिषद् में स्थान दिया। उन्हीं दिनों हस्तिनापुर राज्य में युवराज महापद्म के एक अधीनस्थ राजा सिंहरथ ने उत्पात करना प्रारम्भ किया। सिंहरथ अपने अड़ोस-पड़ोस के क्षेत्रों में युवराज महापद्म की प्रजा को लूट-मार कर अपने दुर्ग में घुस जाता। युवराज पद्मरथ ने सिंहरथ को पकड़ कर दण्ड देने हेतु अपनी सेना भेजी किन्तु सिंहरथ का सुदृढ़ दुर्ग दुर्भेद्य एवं दुर्जेय था अतः युवराज की सेना उसे पकड़ने में असफल रही। अन्ततोगत्वा युवराज ने सिंहरथ को बन्दी बना कर लाने के लिये अपने मंत्री

नमुचि को आज्ञा दी। नमुचि ने एक सशक्त एवं विशाल सेना के साथ सिंहरथ पर आक्रमण किया। उसने सिंहरथ के सुदृढ़ दुर्ग को चारों ओर से घेर कर रसद पहुंचने के सभी मार्गों को पूर्णरूपेण भवरुद्ध कर दिया। लम्बे समय तक दुर्ग के चारों ओर अपनी सेना का घेरा डाले रखने के अनन्तर नमुचि ने दाम-नीति और भेद-नीति का आश्रय ले दुर्गरक्षकों को अपने पक्ष में कर लिया। इस प्रकार उसे एक दिन सहसा अपनी सेना के साथ सिंहरथ के दुर्ग में प्रवेश करने का अवसर मिल गया। नमुचि ने तत्काल दुर्ग पर युवराज महापद्म का आधिपत्य स्थापित कर दिया और सिंहरथ को बन्दी बना युवराज के समक्ष उपस्थित किया। दुर्भेद्य दुर्ग और दुर्दान्त शत्रु को अपने वश में पा युवराज महापद्म परम प्रसन्न हुआ। नमुचि को उसकी इस दुस्साध्य सफलता पर साधुवाद देते हुए युवराज ने उसे एक अभीप्सित वस्तु मांगने का आग्रह किया। नमुचि ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए युवराज महापद्म से निवेदन किया—“स्वामिन् ! आपका कृपाप्रसाद ही मेरे लिये पर्याप्त है, तदुपरान्त भी आपका आग्रह है तो मेरे इस वर को आप धरोहर के रूप में अपने पास रखिये, आवश्यकता पड़ने पर मैं आपसे यह वर मांग लूंगा।” युवराज ने नमुचि की प्रार्थना स्वीकार कर उसको दिये हुए वरदान को अपने पास धरोहर के रूप में रख लिया।

कालान्तर में महापद्म की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। उसने षट्खण्ड की साधना की और वह १४ रत्नों एवं ६ निधियों का स्वामी बना।

जिस समय भरतक्षेत्र के छहों खण्डों का एकछत्र अधिपति चक्रवर्ती सम्राट् महापद्म हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर आसीन हो सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर शासन कर रहा था, उस समय सुव्रताचार्य अपने शिष्य समूह के साथ हस्तिनापुर पधारे और धर्मनिष्ठ श्रद्धालु नगर निवासियों की प्रार्थना पर चातुर्मासावधि पर्यन्त उन्होंने नगर के बाहर एक उद्यान में रहना स्वीकार कर लिया।

अपने अपमान का प्रतिशोध लेने का यह उपयुक्त अवसर समझ नमुचि ने चक्रवर्ती महापद्म को उनके पास धरोहर में रखे हुए अपने वरदान का स्मरण दिलाते हुए निवेदन किया—“भरतेश्वर ! मेरी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि मैं अपने परलोक की सिद्धि हेतु एक महान् यज्ञ करूं। वह महायज्ञ सभी भांति सुचारु रूप से सम्पन्न हो, इसके लिए मैं धरोहर के रूप में रखे गये उस वरदान के रूप में आपसे यह मांगता हूं कि आज से ले कर यज्ञ की पूर्णाहुति होने तक आपके सम्पूर्ण राज्य का स्वामी मैं रहूं। सर्वत्र मेरी आज्ञा शिरोधार्य एवं अनुल्लंघनीय रहे।”

सत्यसन्ध चक्रवर्ती महापद्म ने तत्काल यज्ञ की पूर्णाहुति के समय तक के लिए अपना सम्पूर्ण राज्याधिकार नमुचि को दे अन्तःपुर में अपना निवास कर दिया।



नमुचि के हाथों में सम्पूर्णा भरतक्षेत्र के शासन की बागडोर आते ही प्रतिष्ठित पौरजनों, सामन्तों, विभागाध्यक्षों एवं विभिन्न धर्मों के धर्माचार्यों ने नमुचि के पास उपस्थित हो उसे वर्द्धापित करते हुए उसके यज्ञ की सफलता के लिए अपनी ओर से शुभकामनाएँ अभिव्यक्त कीं। सभी प्रकार के ऐहिक प्रपंचों से सदा दूर रहना, यह श्रमणाचार की एक बहुत बड़ी महत्त्वपूर्ण मर्यादा है, इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए सुव्रताचार्य नमुचि के पास नहीं गये। इस पर नमुचि बड़ा क्रुद्ध हुआ। सुव्रताचार्य और श्रमणावर्ग के प्रति अपनी वैर भावना से प्रेरित हो कर ही तो नमुचि ने यह सब प्रपंच रचा था। वह क्रोधा-विष्ट हो सुव्रताचार्य के पास गया और उन्हें राज्य विरोधी, पाखण्डी, मर्यादा-लोपक आदि अशिष्ट एवं हीन विशेषणों से सम्बोधित करते हुए उनसे कहा— “तुम लोग सात दिन के अन्दर-अन्दर मेरे राज्य की सीमा से बाहर चले जाओ। उस अवधि के पश्चात् तुम लोगों में से यदि कोई भी साधु मेरे राज्य में रहा तो उसे कठोर से कठोर मृत्यु दण्ड दिया जायगा। बस, यह मेरी अन्तिम और अपरिहार्य आज्ञा है।” इस प्रकार की आज्ञा देने के पश्चात् नमुचि अपने आवास की ओर लौट गया।

श्रमण संघ को इस घोर संकट से बचाने के लिए सुदूरस्थ प्रदेश में तपश्चरणा में निरत अपने शिष्य महान् लब्धिधारी मुनि विष्णुकुमार को सुव्रताचार्य ने बुलवाया। लब्धिधारी महामुनि विष्णुकुमार ने हस्तिनापुर में आते ही नमुचि को समझाने का भरसक प्रयास किया। किन्तु राज्यमद में मदान्ध नमुचि अपने हठ पर डटा ही रहा। अन्त में मुनि विष्णुकुमार ने नमुचि से कहा—“अच्छा नमुचि ! कम से कम तीन चरण भूमि तो मुझे रहने के लिए दे दो।”

नमुचि ने कहा—“मैं तुम्हें तीन चरण भूमि देता हूँ। उस तीन चरण भूमि से बाहर जो भी साधु रहेगा, उसे तत्काल मार दिया जायेगा।”

तीन चरण भूमि देने की स्वीकृति ज्यों ही नमुचि ने दी कि मुनि विष्णुकुमार ने वैक्रिय लब्धि के प्रयोग से अपना शरीर बढ़ाना प्रारम्भ किया। देखते ही देखते असौम आकाश विष्णु मुनि के विराट् शरीर से आपूरित हो गया। संसागरा, सपर्वता पृथ्वी प्रकम्पित हो उठी, आकाश आन्दोलित हो उठा। मुनि विष्णुकुमार के इस अद्भुतपूर्व विराट् स्वरूप को देख कर नमुचि आश्चर्या-भिभूत एवं भयाक्रान्त हो धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। मुनि विष्णुकुमार ने अपना एक चरण समुद्र के पूर्वीय तट पर और दूसरा चरण सागर के पश्चिमी तट पर रखा और प्रलय-घनघटा की गड़गड़ाहट सन्निभ स्वर में नमुचि से पूछा—“अब बोल नमुचे ! मैं अपना तीसरा चरण कहाँ रखूँ ?”

उस अद्भुत-अश्रुतपूर्व चमत्कारकारी भयावह दृश्य से भयभीत हुआ नमुचि भ्रंभावात से भ्रकभोरित पीपल के पत्ते के समान कांपता ही रहा।

प्रकृति-परिवर्तनकारी इस आकस्मिक उत्पात का कारण जानने के लिए चक्रवर्ती महापद्य अन्तःपुर से बाहर घटनास्थल पर आये। उन्होंने मुनि विष्णुकुमार को वन्दन नमन किया और नतमस्तक हो वे उनसे अपने उपेक्षा-जन्य अपराध के लिए पुनः पुनः क्षमाप्रार्थना करने लगे। संघ तथा नागरिकों ने पुनः पुनः क्षमायाचना करते हुए मुनि विष्णुकुमार से शान्त होने की प्रार्थना की। सामूहिक प्रार्थना को सुन मुनि शान्त हुए। उन्होंने वैक्रियजन्य अपने विराट् स्वरूप का संवरण किया। सम शत्रुमित्र मुनिवर विष्णुकुमार ने नमुचि की ओर क्षमापूर्णा दृष्टिपात किया और संघ की रक्षा हेतु किये गये अपने कार्य का प्रायश्चित्त ले कर वे पुनः आत्मसाधना में लीन हो गये। तप-संयम की साधना से उन्होंने अन्त में आठों कर्मों को मूलतः विनष्ट कर अक्षय, अब्याबाध शाश्वत सुखधाम मोक्ष प्राप्त किया।

चक्रवर्ती महापद्य ने भी २० हजार वर्ष की वय में श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की। उन्होंने १० हजार वर्ष तक विशुद्ध संयम का पालन करते हुए धीरे तपश्चरण द्वारा आठों कर्मों का अन्त कर मोक्ष प्राप्त किया।



## भगवान् श्री नमिनाथ

भगवान् श्री मुनिसुव्रत स्वामी के पश्चात् इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथ हुए ।

### पूर्वभव

तीर्थंकर नमिनाथ का जीव जब पश्चिम विदेह की कोशाम्बी नगरी में सिद्धार्थ राजा के भव में था, तब किसी निमित्त को पाकर इनको वैराग्य हो आया ।

उसी समय सुदर्शन मुनि का सहज समागम हुआ और उन्होंने उत्कृष्ट भाव से दीक्षित होकर उनके पास विशिष्ट रूप से तप-संयम की साधना की । फलस्वरूप तीर्थंकर नाम-कर्म का बंध किया और अन्त समय में शुभ भाव के साथ काल कर वे अपराजित स्वर्ग में देव रूप से उत्पन्न हुए ।

### जन्म

यही सिद्धार्थ राजा का जीव स्वर्ग से निकलकर अश्विन शुक्ला पूर्णिमा के दिन अश्विनी नक्षत्र में मिथिला नगरी के महाराज विजय की भार्या महारानी वप्रा के गर्भ में उत्पन्न हुआ । मंगलकारी चौदह शुभ-स्वप्नों को देखकर माता प्रसन्न थीं । योग्य आहार, विहार और आचार से महारानी वप्रा ने गर्भ का पालन किया ।

पूर्ण समय होने पर माता वप्रा देवी ने श्रावण कृष्णा अष्टमी को अश्विनी नक्षत्र में कनकवर्ण वाले पुत्ररत्न को सुखपूर्वक जन्म दिया । नरेन्द्र और सुरेन्द्रों ने मंगल महोत्सव मनाया ।

### नामकरण

बारहवें दिन नामकरण करते समय महाराज विजय ने अपने बन्धु-बान्धवों के बीच कहा—“जब यह बालक गर्भ में था उस समय शत्रुओं ने मिथिला नगरी को घेर लिया । माता वप्रा ने जब राजप्रासाद की छत पर जाकर उन शत्रुओं की ओर सौम्य दृष्टि से देखा तो शत्रु राजा का मन बदल गया और वे मेरे चरणों में आकर झुक गये । शत्रुओं के इस प्रकार नमन के कारण बालक का नाम नमिनाथ रखना उचित प्रतीत होता है ।

१ (क) गम्भगयम्मि य भगवते एमिया नीसेसरिउरणो तन्नो एमि ति एमं कयं भगवन्नो ।

[अ. म. पु. च., पृ. १७७]

(ख) नगरं रोहिज्जति, देवी अट्टे संठिता दिट्ठा, पच्छा पणता रामाणो

अण्णो य पच्चंतिया रामाणो पणता तेण नमी [भाव. सू. पृ. ११, उत्तरार्द्ध]

उपस्थित लोगों ने सहर्ष राजा की बात का समर्थन किया और आपका नाम नमिनाथ रखा गया ।

### बिवाह और राज्य

नमिनाथ के युवावस्था को प्राप्त होने पर महाराज विजय ने अनेक सुन्दर और योग्य राजकन्याओं के साथ नमिनाथ का पाणिग्रहण करवाया और दो हजार पांच सौ वर्ष की अवस्था होने पर राजा ने बड़े ही सम्मान और समारोह के साथ कुमार नमि का राज्याभिषेक किया ।

नमिनाथ ने भी पांच हजार वर्ष तक राज्य का पालन कर जन-मन को जीतकर अपना बना लिया । बाद में भोग्य कर्मों को क्षीण हुए जानकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण करने का विचार किया । मर्यादा के अनुसार लोकान्तिक देवों ने आकर प्रभु से तीर्थ-प्रवर्तन के लिए प्रार्थना की ।

### दीक्षा और पारणा

एक वर्ष तक निरन्तर दान देकर नमिनाथ ने राजकुमार सुप्रभ को राज्य-भार सौंप दिया और स्वयं एक हजार राजकुमारों के साथ सहस्राब्द वन की ओर दीक्षार्थ निकल पड़े ।

वहां पहुंचकर छट्ठ भक्त की तपस्या से विधिबत् सम्पूर्णा पापों का परित्याग कर आषाढ़ कृष्णा नवमी को उन्होंने दीक्षा ग्रहण की ।

दूसरे दिन विहार कर प्रभु वीरपुर पधारे और वहां के महाराज 'दत्त' के यहां परमात्म से प्रथम पारणा ग्रहण किया । दान की महिमा बढ़ाने हेतु देवों ने पंचदिव्य बरसाये और महाराज दत्त की कीर्ति को फैला दिया ।

### केवलज्ञान

नौ मास तक विविध प्रकार की तपस्या करते हुए प्रभु छत्रस्थचर्या में विचरे और फिर उसी उद्यान में आकर वीरसली वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये । वहां मृगशिर कृष्णा एकादशी<sup>१</sup> को शुक्ल-ध्यान की प्रचण्ड अग्नि में सम्पूर्णा धातिकर्मों का क्षय किया और केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि कर प्रभु-भाव-अरिहन्त कहलाये ।

केवली होकर देवासुर-मानवों की विशाल सभा में आपने धर्म-देशना दी और चतुर्विध संघ की स्थापना कर प्रभु भाव-तीर्थकर बन गये ।

### धर्म-परिवार

भगवान् नमिनाथ के संघ में निम्न धर्म-परिवार था—

गण एवं गणधर

—सत्रह गण (१७) एवं सत्रह ही (१७)

गणधर

१ ....नावश्यक निर्दुक्ति और सत्तरिसय द्वार में मार्गशीर्ष शु. ११ है

केवली	—एक हजार छः सौ [१,६००]
मनःपर्यवज्ञानी	—एक हजार दो सौ सात [१,२०७]
अवधिज्ञानी	—एक हजार छः सौ [१,६००]
चौदह पूर्वधारी	—चार सौ पचास [४५०]
वैक्रिय लब्धिधारी	—पांच हजार [५,०००]
वादी	—एक हजार [१,०००]
साधु	—बीस हजार [२०,०००]
साध्वी	—इकतालीस हजार [४१,०००]
श्रावक	—एक लाख सत्तर हजार [१,७०,०००]
श्राविका	—तीन लाख अड़तालीस हजार [३,४८,०००]

इस प्रकार प्रभु के उपदेशामृत का पान कर लाखों लोगों ने भक्तिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन कर आत्म-कल्याण किया ।

### परिमर्षाण

नव मास कम ढाई हजार वर्ष तक केवली पर्याय से धर्मोपदेश करते हुए जब प्रभु ने मोक्षकाल समीप समझा तब एक हजार मुनियों के साथ सम्मेलन शिखर पर जाकर अनशन प्रारम्भ किया ।

एक मास के अन्त में शुक्ल-ध्यान के अन्तिम चरण में योग निरोध करके वैशाख कृष्ण दशमी को अश्विनी नक्षत्र में सकल कर्मों का क्षय कर प्रभु सिद्ध बुद्ध, मुक्त हुए । आपकी पूर्ण आयु १० हजार वर्ष की थी ।

मुनिसुव्रत स्वामी के छः लाख वर्ष पञ्चात् नमिनाथ मोक्ष पश्चारे । इनके समय में हरिषेण और शासनकाल में जय नाम के चक्रवर्ती राजा हुए ।

यहां इतना ध्यान रहे कि तीर्थंकर नमिनाथ और मिथिला के नमि राजर्षि एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं । नाम और नगर की एकरूपता से अधिकांश लेखक दोनों को एक समझ लेते हैं, पर वस्तुतः दोनों एक नहीं हैं ।

तीर्थंकर 'नमिनाथ' महाराज विजय के पुत्र और स्वयंबुद्ध हैं; जबकि नमिराज सुदर्शनपुर के युवराज युगबाहु के पुत्र और प्रत्येकबुद्ध हैं ।

नमिराज दाह रोग से पीड़ित थे, दाह शान्ति के लिए चन्दन घिसती हुई रानियों के करों में एक-एक चूड़ी देकर वे प्रतिबोधित हुए । राज्यपद से वे श्राविक बने, अतः राजर्षि कहलाये ।



## चक्रवर्ती हरिषेण

इक्कीसवें तीर्थंकर भ० नमिनाथ के समय में, उनकी विद्यमानता में ही इस भरतक्षेत्र के दसवें चक्रवर्ती सम्राट् हरिषेण हुए ।

इसी जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र के पांचाल प्रदेश के काम्पिल्यनगर में महा-हरि नामक एक इक्ष्वाकुवंशीय राजा न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करते थे । उनकी पट्ट महिषी का नाम महिषी था । अनेक वर्षों तक ऐहिक ऐश्वर्य एवं विविध भोगों का उपभोग करते हुए महारानी महिषी ने एक रात्रि में चौदह शुभ स्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी ने चक्रवर्ती के सभी लक्षणों से युक्त एक अज्ञोस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । माता-पिता ने अपने उस पुत्र का नाम हरिषेण रखा । राजकुमार हरिषेण का ऐश्वर्यपूर्ण राजसी ठाट-वाट से लालन-पालन किया गया । समय पर उसे उच्चकोटि के कलाचार्यों से सभी प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं का शिक्षण दिलाया गया । भोगसमर्थ वय में युवराज हरिषेण का अनेक कुलीन राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण करवाया गया ।

३२५ वर्ष तक राजकुमार हरिषेण कुमारावस्था में रहे । तदनन्तर महाराजा महाहरि ने अपने पुत्र हरिषेण का काम्पिल्य राज्य के राजसिंहासन पर महोत्सवपूर्वक राज्यभिषेक किया । ३२५ वर्ष तक महाराजा हरिषेण ने माण्डालिक राजा के रूप में अपनी प्रजा का न्याय-नीतिपूर्वक पालन किया । उस समय एक दिन महाराजा हरिषेण की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ । चक्ररत्न के मार्गदर्शन में महाराजा हरिषेण ने दिग्विजय का अभियान किया । १५० वर्षों तक दिग्विजय करते-करते महाराज हरिषेण ने सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के छहों खण्डों की साधना की और वे चक्रवर्ती सम्राट् के पद पर अभिषिक्त एवं चौदह रत्नों तथा नौ निधियों के स्वामी हुए । ८८५० वर्ष तक चक्रवर्ती पद पर रहते हुए उन्होंने सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर शासन किया । तदनन्तर उन्होंने षट्खण्ड के विशाल साम्राज्य और चक्रवर्ती की सभी ऋद्धियों को तृणवत् ठुकरा कर सभी प्रकार के सावद्य कार्यों का परित्याग करते हुए श्रमसाधर्म की दीक्षा ग्रहण की । मुनि हरिषेण ने ३५० वर्ष तक घोर तपश्चरण करते हुए विशुद्ध संयम की परिपालना की और आठों कर्मों का अन्त कर १० हजार वर्ष की आयु पूर्ण होने पर अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, शाश्वत सुखधाम मोक्ष में पधारे ।



## चक्रवर्ती जयसेन

इक्ष्वासुवं तीर्थंकर भ० नमिनाथ के परिनिर्वाण के दीर्घकाल पश्चात् उन्हीं के शासनकाल अर्थात् धर्मतीर्थ काल में इस भरतक्षेत्र के ग्यारहवें चक्रवर्ती सम्राट् जयसेन हुए ।

आज से सुदीर्घ काल पूर्व मगध राज्य की राजधानी राजगृही नगरी में विजय नामक राजा राज्य करते थे । उनकी पट्टरानी का नाम वप्रा था । एक रात्रि में सुखप्रसुप्ता महारानी वप्रा ने १४ शुभ स्वप्न देखे । स्वप्नों को देखते ही महारानी जागृत हुई एवं हर्षविभोर हो उसी समय अपने पति महाराज विजय के शयनकक्ष में गई और उन्हें अपने चौदह स्वप्नों का पूरा विवरण सुनाया । महाराज विजय ने प्रातःकाल स्वप्न पाठकों को बुलवाया और उन्हें महारानी द्वारा देखे गये स्वप्नों का वृत्तान्त सुनाते हुए उन स्वप्नों का फल पूछा । स्वप्नशास्त्र में उल्लिखित तथ्यों पर चिन्तन-मनन के पश्चात् स्वप्न-पाठकों ने महाराज विजय से निवेदन किया—“राजराजेश्वर ! राजेश्वरी महारानी ने जो चौदह स्वप्न देखे हैं, उनकी स्वप्नशास्त्र में सर्वश्रेष्ठ स्वप्नों में गणना की गई है । ये स्वप्न महाशुभ फलप्रदायी हैं । ये स्वप्न यही पूर्व सूचना देते हैं कि महाराज्ञी महापराक्रमी चक्रवर्ती पुत्ररत्न को जन्म देंगी ।

स्वप्न फल सुन कर राजदम्पति, उनके परिजनों एवं पौरजनों के हर्ष का पारावार नहीं रहा । गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी वप्रा ने एक महा-तेजस्वी एवं नयनानन्दकारी पुत्ररत्न को जन्म दिया । महाराज विजय ने परिजनों, पौरजनों और भ्रम्यर्षियों को मुक्तहस्त हो सम्मान-दानादि से सन्तुष्ट किया । राजदम्पति ने अपने पुत्र का नाम जयसेन रखा । राजकुमार जयसेन का शैशवकाल में राजसी ठाट-बाट से लालन-पालन, किशोर वय में राजकुमारोचित शिक्षण-दीक्षण और भोगसमर्थ युवावस्था में अनेक अनिन्द्य सुन्दरी कुलीन राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण कराया गया । शास्त्र-शस्त्रास्त्रादि विद्याओं तथा कलाओं में निप्लाज्ञ राजकुमार जयसेन ३०० वर्षों तक कुमारावस्था में रहे । तदनन्तर महाराज विजय अपने पुत्र जयसेन को राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त कर प्रव्रजित हो गये । महाराज बनने के पश्चात् जयसेन ने ३०० वर्ष तक माण्डलिक राजा के रूप में शासन किया । अपनी धायुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न होने के पश्चात् महाराज जयसेन ने १०० वर्ष तक दिग्विजय करते हुए सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के छहों खण्डों पर अपनी विजयवैजयन्ती फहराई और वे चक्रवर्ती सम्राट् बने । चौदह रत्नों और ६ निधियों के स्वामी जयसेन

ने १६०० वर्ष तक चक्रवर्ती सम्राट् के पद पर रहते हुए सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर शासन किया। चक्रवर्ती जयसेन ने २६०० वर्ष की अवस्था में षट्खण्ड के विशाल साम्राज्य, ६ निधियां और सम्पूर्ण ऐहिक प्रपंचों का परित्याग कर श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। ४०० वर्ष के अपने संयमी साधु-जीवन में विशुद्ध श्रमणाचार का पालन और घोर तपश्चरण करते हुए उन्होंने आठों कर्मों को मूलतः विनष्ट कर ३००० वर्ष की आयु पूर्ण होने पर, जहां जाने के पश्चात् संसार में कभी लौटना नहीं पड़ता, उस अनन्त शाश्वत सुखधाम भोज में गमन किया।





## भगवान् श्री अरिष्टनेमि

भगवान् नमिनाथ के पश्चात् बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि हुए ।

### पूर्वभव

भगवान् अरिष्टनेमि के जीव ने शंख राजा के भव में तीर्थंकर पद की योग्यता का सम्पादन किया । भारतवर्ष में हस्तिनापुर के भूपति श्रीषेण की भार्या महारानी श्रीमती ने शंख के समान उज्ज्वल वर्ण वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया, अतः उसका नाम शंख कुमार रखा गया ।

किसी समय कुमार अपने मित्रों के संग क्रीडांगण में क्रीडा कर रहे थे कि महाराज श्रीषेण के पास लोगों ने आकर ददंभरी पुकार की—“राजन् ! सीमा पर पल्लीपति समरकेतु ने सीमावासियों को लूट कर उन पर भयंकर अतंक जमा रखा है । यदि समय रहते सैनिक कार्यवाही नहीं की गई तो राज्य शत्रु के हाथ में चला जायेगा । आप जैसे वीरों की छत्रछाया में राज्य का संरक्षण नहीं हुआ तो फिर हम अन्य से तो किसी प्रकार की आशा नहीं कर सकते ।”

यह पुकार सुनकर महाराज श्रीषेण बड़े क्रुद्ध हुए और उन्होंने तत्काल पल्लीपति का सामना करने के लिये सेना सहित जाने की घोषणा कर दी । कुमार को जब ज्ञात हुआ कि पिताजी युद्ध में जा रहे हैं तो वे महाराज के सम्मुख उपस्थित होकर बोले—“तात ! हमारे रहते आप एक साधारण पल्लीपति से लड़ने के लिये जायें, यह हमारे लिये शोभास्पद नहीं है । इस तरह हम युद्धकौशल भी कैसे सीख पायेंगे तथा हमारा उपयोग भी क्या होगा ? आपकी आज्ञा भर की देर है, हमें पल्लीपति को जीतने में कुछ भी देर नहीं लगेगी ।”

कुमार के साहसपूर्ण वचन सुनकर महाराज ने प्रसन्न हो सैन्य सहित उन्हें युद्ध में जाने की अनुमति दे दी ।

पिता की आज्ञा पाते ही कुमार सैन्य सजाकर चल पड़े और पल्लीपति के किले को अपने अधिकार में लेकर चारों ओर से पल्लीपति को घेर लिया और उसके द्वारा लूटे गये धन को उससे छीन कर उन प्रजाजनों को लौटा दिया जिनका कि धन लूटा गया था । कुमार ने कुशलता से उस लुटेरे पल्लीपति को पकड़ कर महाराज श्रीषेण के सम्मुख बन्दी के रूप में प्रस्तुत करने हेतु हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किया ।

मार्ग में जितारि की कृत्या यशोमती का हरण कर ले जाने वाले विद्याधर मणिलेखर से कुमार ने युद्ध किया और उसे पराजित कर दिया। यशोमती ने कुमार की वोरता पर मुग्ध होकर सहर्ष उनका वरण किया।

जब राजकुमार शंख ने पत्नीपति को बन्दी के रूप में महाराज के सम्मुख प्रस्तुत किया तो वे बड़े प्रसन्न हुए और राजकुमार को सुयोग्य समझ उसे राज्य-पद पर अभिषिक्त कर स्वयं दीक्षित हो गये। श्रीषेण मुनि ने निर्मल भाव से साधना करते हुए घाति-कर्मों को क्षय कर केवलज्ञान की प्राप्ति की।

एक बार महाराज शंख अपने परिवार सहित मुनि श्री की सेवा में वन्दना करने गये और उनकी देशना सुनकर बोले—“भगवन् ! मेरा यशोमती पर इतना स्नेह क्यों है, जिससे कि मैं चाहकर भी संयम नहीं ले सकता ?”

केवली मुनि ने पूर्वजन्म का परिचय देते हुए कहा—“शंख ! तुम जब धनकुमार के भव में थे तब यह तुम्हारी पत्नी थी। फिर सौधर्म देवलोक में भी तुम दोनों पति-पत्नी के रूप में रहे। चौथे भव में महेन्द्र देवलोक में तुम दोनों मित्र थे। फिर पांचवें अपराजित के भव में भी तुम दोनों पति-पत्नी के रूप में थे। छठे जन्म में आरणा देवलोक में भी तुम दोनों देव हुए। यह सातवां जन्म है, जहां तुम पति-पत्नी के रूप में हो। पूर्व भवों के दीर्घकालीन सम्बन्ध के कारण तुम्हारा इसके साथ प्रगाढ़ प्रेम चल रहा है। आगे भी एक देव का भव पूर्णकर तुम बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के रूप से जन्म लगे।”

श्रीषेण केवली के पास पूर्वभव की बात सुनकर महाराज शंख के मन में वैराग्य जागृत हुआ और उन्होंने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर बन्धु-बान्धवों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

तप-संयम के साथ अर्हत्, सिद्ध, साधु की भक्ति में उत्कृष्ट अभिरुचि और उत्कट भावना के साथ निरत रहने के कारण उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का उपाजन किया एवं समाधिभाव से आयु पूर्णकर वे अपराजित विमान में अहमिन्द्र रूप से अनुत्तर वैमानिक देव हुए।

### जन्म

महाराज शंख का जीव अपराजित विमान से अहमिन्द्र की पूर्ण स्थिति भोगकर कार्तिक कृष्णा १२ को चित्रा नक्षत्र के योग में च्युत हुआ और महाराज समुद्र विजय की धर्मशीला महारानी शिवा देवी की कुक्षि में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ।

शिवादेवी १४ शुभ-स्वप्नों के दर्शन से परम भाग्यशाली पुत्र-लाभ की बात जानकर बहुत प्रसन्न हुईं और उचित आहार-विहार से गर्भकाल को पूर्ण

कर श्रावण शुक्ला पंचमी के दिन चित्रा नक्षत्र के योग में उसने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

भाग्यशाली पुत्र के पुण्य-प्रभाव से देव-देवेन्द्रों ने जन्म-महोत्सव किया । महाराज समुद्रविजय ने भी प्रमोद से याचकों को मुक्तहस्त से दान देकर संतुष्ट किया । नगर में घर-घर मंगल-महोत्सव मनाया गया ।

### शारीरिक स्थिति और नामकरण

अरिष्टनेमि सुन्दर लक्षण और उत्तम स्वर से युक्त थे । वे एक हजार आठ शुभ लक्षणों के धारक, गौतम गोत्रीय और शरीर से श्याम कान्ति वाले थे । उनकी मुखाकृति मनोहर थी । उनका शारीरिक संहनन वज्र सा दृढ़, संस्थान-आकार समचतुरस्र था और उदर मडली जैसा था । उनका बल देव एवं देवपतियों से भी बढ़कर था ।

बारहवें दिन महाराज समुद्र विजय ने स्वजनों एवं मित्रजनों को निमन्त्रित कर प्रीतिभोज दिया और नामकरण करते हुए बोले—“बालक के गर्भकाल में हम सब प्रकार के अरिष्टों से बचे तथा माता ने अरिष्ट रत्नमय चक्र-नेमि का दर्शन किया इसलिए इस बालक का नाम अरिष्टनेमि<sup>१</sup> रखा जाता है ।

अरिष्टनेमि के पिता महाराज समुद्र विजय हरिवंशीय प्रतापी राजा थे । अतः यहां पर उनके वंश परिचय में हरिवंश की उत्पत्ति का परिचय आवश्यक समझ कर दिया जा रहा है :—

### हरिवंश की उत्पत्ति

दशवें तीर्थंकर भगवान् शीतलनाथ के तीर्थ में<sup>२</sup> वत्स देश की कौशाम्बी नगरी में सुमुह नाम का राजा था । उसने वीरक नामक एक व्यक्ति की वन-माला नाम की परम सुन्दरी स्त्री को प्रच्छन्न रूप से अपने पास रख लिया । पत्नी के विरह में विलाप करता हुआ वीरक अर्द्धविक्षिप्त सा रहने लगा और कालान्तर में वह बालतपस्वी हो गया । उधर वनमाला कौशाम्बीपति सुमुह की परमप्रिया होकर विविध मानवी भोगों का उपभोग करती हुई रहने लगी ।

१ वज्ररिहसह संघयणो समचउरंसो भसोयरो ।

[उ. सू., अ. २२]

२ अरिष्टं अग्रशस्तं तदनेन नामितं, नेमि सामान्यं,

विसेसो रिट्ठरयणामई नेमी, उज्जयमाणी सुबिणो पेच्छति । [आब. कृण्ण, उक्त. पृ. ११]

३ सीयलजिणस्स तित्थे, सुमुहो नामेण आसि महिपालो ।

कोसम्बीनयरीए, तत्थं व य बीरय कुविन्दो ॥ [पउम. व. उ. २१ गा. २]

इस प्रकार सुख से जीवन बिताते हुए एक दिन राजा सुमुह अपनी प्रिया वनमाला के साथ वनविहार करने गया और वहाँ वीरक को बड़ी दयनीय दशा में देखकर अपने कृकृत्य के लिए पश्चात्ताप करने लगा—“ओह ! मैंने कितना बड़ा दुष्कृत्य किया है, मेरे ही अन्याय और दोष के कारण यह वीरक इस अवस्था को प्राप्त होकर तपस्वी बना है।”

वनमाला भी इसी प्रकार पश्चात्ताप करने लगी। इस तरह पश्चात्ताप करते हुई दोनों ने भद्र एवं सरल परिणामों के कारण मनुष्य आयु का बन्ध किया। सहसा बिजली गिरने से दोनों का वहीं प्राणान्त हो गया और वे हरिवास नामकी भोगभूमि में युगल रूप में उत्पन्न हुए।

कालान्तर में वीरक भी मर कर सौधर्म कल्प में कित्विषी देव हुआ और उसने अवधिज्ञान से देखा कि उसका शत्रु हरि अपनी प्रिया हरिणी के साथ भोगभूमि में अनपवर्त्य आयु से उत्पन्न होकर भोगोपभोग का सुख भोग रहा है।

वह कुपित होकर सोचने लगा—“क्या इस दुष्ट को निष्ठुरतापूर्वक कुचल कर चूर्ण कर दूँ ? मेरा अपकार करके भी ये भोगभूमि में उत्पन्न हुए हैं अतः इन्हें यों तो नहीं मार सकता। पर इन्हें ऐसे स्थान पर पहुँचाया जाय जहाँ तीव्र बन्ध योग्य भोग, भोग कर ये दुःख परम्परा में फँस जायं।”

उसने ज्ञान से देखा व सोचा—“चम्पा का नरेश अभी-अभी कालधर्म को प्राप्त हुआ है अतः इन्हें वहाँ पहुँचा दूँ क्योंकि एक दिन का भी आसक्तिपूर्वक किया गया राज्य-भोग दुर्गति का कारण होता है, तो फिर अधिक दिन की तो बात ही क्या है ?”

ऐसा विचारकर देव ने करोड़ पूर्व की आयु वाले हरि-युगल को चित्तरस कल्पवृक्ष सहित उठाकर चम्पा नगरी के उद्यान में पहुँचा दिया और नागरिक-जनों को आकाशवाणी से कहने लगा—“तुम लोग राजा की खोज में चिन्तित क्यों हो, मैं तुम्हारे लिए करुणा कर यह राजा लाया हूँ। तुम लोग इनका उचित आहार-विहार से पोषण करो, मांस-रस-भावित फल से इनका प्रेम-सम्पादन करते रहना।”

ऐसा कहकर देव ने हरि-युगल की करोड़ पूर्व की आयु का एक लाख वर्ष में अपवर्तन किया और अवगाहना (शरीर की ऊँचाई) भी घटा कर १००

१ पुण्ड्रकोडीसेसाउएसु तेसि वेरं सुमरिऊण वाससयसहस्सं विघारेऊण चम्पाए रायहाणीए इक्खागम्मि चन्दकित्तिपरिथेवे अपुत्ते वोच्छिण्ण्णे नागरयाणं रायकखियाणं हरिवरिसाओ, तं मिहुणं साहरइ...कुणति य से दिव्वप्पभावेण घणुसयं उच्चत्तं ।

[वसुदेवाहंसी, खं. १, भाग २. पृ. ३५७]

धनुष की कर दी। देव के कथनानुसार नामरिकों ने हरि का राज्याभिषेक किया और बड़े सम्मान से उसका पोषण करते रहे। तमोगुणी आहार और भोगासक्ति के कारण हरि और हरिणी दोनों मर कर नरक गति के अधिकारी बने। यह एक आश्चर्यजनक घटना हुई क्योंकि युगलिकों का नरकगमन नहीं होता।

इसी हरि और हरिणी के युगल से हरिवंश की उत्पत्ति हुई। हरिवंश की उत्पत्ति का समय तीर्थंकर शीतलनाथ के निर्वाण पश्चात् और भगवान् श्रेयांसनाथ के पूर्व माना गया है।<sup>१</sup>

हरिवंश में अनेक शक्तिशाली, प्रतापी और धर्मात्मा राजा हुए, जिनमें से अनेकों ने कई नगर बसाये। कुछ नगर आज तक भी उन प्रतापी नराधिपतियों के नाम पर विख्यात हैं।

### हरिवंश की परम्परा

हरिवंश के आदिपुरुष हरि के पश्चात् इस वंश में जो पैंत्रिक अधिकार के आधार पर उत्तराधिकारी राजा हुए उनके कुछ नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—

- (१) पृथ्वीपति (हरि का पुत्र)
- (२) महागिरि
- (३) हिमगिरि
- (४) वसुगिरि
- (५) नरगिरि
- (६) इन्द्रगिरि

इस तरह इस हरिवंश में असंख्य राजा हुए। बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनिमुव्रत भी इसी प्रशस्त हरिवंश में हुए।

सामान्य रूप में युगलिक जीव अनपवर्तनीय आयु वाले माने गये हैं पर इनकी आयु का अपवर्तन हुआ क्योंकि बन्ध ऐसा ही था। वास्तव में जितना आयु बन्धा है उसमें घट बढ़ नहीं होती फिर भी जो व्यवहार में यह जानते हैं कि भोगभूमि का आयु असंख्य वर्ष का ही होता है, वे करोड़ पूर्व की आयु के पहले मरण जानकर यही समझेंगे कि इसकी आयु घट गयी है। इस दृष्टि से व्यवहार में इसे अपवर्तन कहा जाता है।

—सम्पादक

१ समझकते सीयल जिणाम्मि तहणाणए य सेयसे ।

एत्थंतरम्मि जाओ हारिवंसो जह तहा सुणह ॥

[चउ. म. पु. च., पृष्ठ १८०]

माधव इन्द्रगिरि का पुत्र दक्ष प्रजापति हुआ । इस दक्ष प्रजापति की रानी का नाम इला और पुत्र का नाम इल था । किसी कारणवश महारानी इला अपने पति दक्ष से रूठकर अपने पुत्र इल को साथ ले दक्ष के राज्य से बाहर चली गई और उसने ताम्रलिप्ति प्रदेश में इलावर्द्धन नामक नगर बसाया और इल ने माहेश्वरी नगरी बसाई ।

राजा इल के पश्चात् इसका पुत्र पुलिन राज्य-सिंहासन पर आरोहण हुआ । पुलिन ने एकदा वन में एक स्थान पर देखा कि एक हरिणी कुंडी बनाकर कुण्डलाकार मुद्रा में एक सिंह का सामना कर रही है । इसे उस क्षेत्र का प्रभाव समझकर पुलिन ने उस स्थान पर 'कुण्डिणी' नगरी बसाई ।

पुलिन के पश्चात् 'वरिम' नामक राजा हुआ, जिसने इन्द्रपुर नगर बसाया । इसी वंश के राजा 'संजती' ने वगवासी अथवा वाणवासी नाम की एक नगरी बसाई । इसी राजवंश में कोल्लयर नगर का अधिपति 'कुण्डिम' नाम का एक प्रसिद्ध राजा हुआ । फिर इसका पुत्र महेन्द्र दत्त राजा हुआ । महेन्द्र दत्त के अरिष्टनेमि और मत्स्य नामक दो पुत्र बड़े प्रतापी राजा हुए । अरिष्टनेमि ने गजपुर नामक नगर बसाया और मत्स्य ने भद्रिलपुर नगर । अरिष्टनेमि और मत्स्य के, प्रत्येक के सौ-सौ-पुत्र हुए ।

इसी हरिवंश के 'अयधरणू' नामक एक राजा ने सोज्झ नामक नगर बसाया । इसके अनन्तर 'मूल' नामक राजा हुआ । राजा मूल के पश्चात् 'विशाल' नामक नृप हुआ जिसने 'मिथिला' नगरी को बसाया ।

राजा विशाल के पश्चात् क्रमशः 'हरिषेण', 'नहषेण', 'संख', 'भद्र' और 'अभिचन्द्र' नाम के बहुत से राजा हुए । 'अभिचन्द्र' का पुत्र 'वसु' एक बड़ा प्रसिद्ध राजा हुआ जो आगे चलकर उपरिचर वसु (आकाश में अधर सिंहासन पर बैठने वाला) के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

### उपरिचर वसु

यह वसु हरिवंश का एक महान् प्रतापी राजा था । उसने बाल्यावस्था में क्षीरकदम्बक नामक उपाध्याय के पास अध्ययन किया । महर्षि नारद एवं आचार्यपुत्र पर्वत भी वसु के सहपाठी थे । ये तीनों शिष्य जिस समय उपाध्याय क्षीरकदम्बक के पास अध्ययन कर रहे थे, उस समय किसी एक अतिशय-ज्ञानी ने अपने साथी साधु से कहा कि इन तीनों विद्यार्थियों में से एक तो राजा बनेगा, दूसरा स्वर्ग का अधिकारी होगा और तीसरा नरक में जायगा ।<sup>१</sup>

१ लक्ष्मणो अइसयनारणी, तेण इयरो भशिओ—एए तिष्णि जणा, एएसि एवको राजा भविस्सइ, एगो नरगगामि, एगो देवलीयगामि ति

[ वसुदेव हिण्डी, प्र० खण्ड, पृ० १८६-६० ]

क्षीरकदम्बक ने किसी तरह यह बात सुनली और मन में विचार किया कि वसु तो राजा बनेगा पर नारद और पर्वत, इन दोनों में से नरक में कौन जायगा, इसका निर्णय करना आवश्यक है। अपने पुत्र पर्वत और नारद की परीक्षा करने के लिये उपाध्याय ने एक कृत्रिम बकरा बनाया और उसमें लाधारस भर दिया। उपाध्याय द्वारा निर्मित वह बकरा वस्तुतः सजीव बकरे के समान प्रतीत होता था।

उपाध्याय ने नारद को बुलाकर कहा—“वत्स ! मैंने इस बकरे को मन्त्र-बल से स्तम्भित कर दिया है। आज बहुला अष्टमी है अतः संध्या के समय, जहां कोई नहीं देखता हो, ऐसे स्थान पर इसे मार कर शीघ्र लौट आना।”

अपने गुरु के आदेशानुसार नारद संध्या के समय उस बकरे को लेकर निर्जन स्थान में गया और विचार किया कि यहाँ तो तारे और नक्षत्र देख रहे हैं। वह और भी घने जंगल के अन्दर चला गया और वहाँ पर भी उसने सोचा कि यहाँ पर भी वनस्पतियाँ देख रही हैं जो कि सचेतन हैं। उस घने जंगल के उस निर्जन स्थान से भी नारद बकरे को लिये हुए आगे बढ़ा और एक देवस्थान में पहुँचा। पर वहाँ पर भी उसने मन में विचार किया कि वहाँ पर भी देव देख रहे हैं।

नारद असमंजस में पड़ गया। उसके मन में विचार आया—“गुरु-आज्ञा यह है कि जहाँ कोई नहीं देखता हो, उस स्थान पर इसका वध करना। पर ऐसा तो कहीं कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ कि कोई न कोई नहीं देखता हो। ऐसी दशा में यह बकरा निश्चित रूप से अवध्य है।”

अन्ततोगत्वा नारद उस बकरे को बिना मारे ही गुरु के पास लौट आया और उसने गुरु के समक्ष अपने सारे विचार प्रस्तुत किये।

गुरु ने साधुवाद के साथ कहा—“नारद ! तुमने बिल्कुल ठीक तरह से सोचा है। तुम जाओ, इस सम्बन्ध में किसी से कुछ न कहना।”

१ (क) वसुदेव हिण्डी, पृष्ठ १६०

(ख) आचार्य हेमचन्द्र ने उपाध्याय द्वारा तीनों शिष्यों को पृथक्-पृथक् एक-एक कृत्रिम कुक्कुट देने का उल्लेख किया है। यथा :—

समर्प्य गुरुरस्माकमेकैकं पिष्टकुक्कुटम् ।

उवाचामी तत्र वध्या, यत्र कोऽपि न पश्यति ॥

[ अरिष्टनेमि पु. च., पर्व ३, मंत्र २, श्लोक ३६१ ]

नारद के चले जाने के अनन्तर उपाध्याय ने अपने पुत्र पर्वत को बुलाया और उसे भी वही कृत्रिम बकरा सम्ह्लाते हुए उसी प्रकार का आदेश दिया, जैसा कि नारद को दिया था ।

बकरे को लेकर पर्वत एक जन-शून्य गली में पहुँचा । उसने वहाँ खड़े होकर चारों ओर देखा कि कहीं कोई उसे देख तो नहीं रहा है । जब वह आश्वस्त हो गया कि उसे उस स्थान पर कोई मनुष्य नहीं देख रहा है, तो उसने तत्काल उस बकरे को काट डाला । कृत्रिम बकरे की गर्दन कटते ही उसमें भरे लाक्षारस से पर्वत के वस्त्र लाल हो गये । पर्वत ने लाक्षारस को लहू समझकर वस्त्रों सहित ही स्नान किया और घर पहुँचकर यथावत् सारा विवरण अपने पिता के समक्ष कह सुनाया ।

उपाध्याय क्षीरकदम्बक को अपने पुत्र की बात सुनकर अपार दुःख हुआ । उन्होंने क्रुद्ध-स्वर में कहा—“ओ पापी ! तूने यह क्या कर डाला ? क्या तू यह नहीं जानता कि सम्पूर्ण ज्योतिमण्डल के देव, वनस्पतियाँ और अदृश्य रूप से विचरण करने वाले गुह्यक सब के कार्यों को प्रतिक्षण देखते रहते हैं ? इन सबके अतिरिक्त तू स्वयं भी तो देख रहा था । इस पर भी तूने बकरे को मार डाला । तू निश्चित रूप से नरक में जायगा । हट जा मेरे दृष्टिपथ से ।”<sup>१</sup>

कालान्तर में नारद अपना अध्ययन समाप्त होने पर गुरु की पूजा कर अपने निवास-स्थान को लौट गया ।

वसु ने गुरुकुल से विदाई लेते समय जब अपने गुरु से गुरुदक्षिणा के लिये आग्रह किया तो उपाध्याय क्षीरकदम्बक ने कहा—“वत्स ! राजा बन जाने पर तुम अपने समवयस्क पर्वत के प्रति स्नेह रखना । बस, यही मेरी गुरुदक्षिणा है । मैं तुम्हारा महन्त हूँ ।”

कुछ समय पश्चात् वसु चेदि देश का राजा बना । एक बार मृगया के लिये जंगल में घूमते हुए वसु ने एक मृग को निश्चाना बनाकर तीर चलाया, पर मृग एवं तीर के बीच में आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक पत्थर था अतः बाण राह में ही उससे टकरा कर गिर गया । पास में जाकर वसु ने जब स्फटिक पत्थर को देखा तो उसके मन में विचार आया कि यह स्फटिक पत्थर एक राजा के लिये बड़ी महत्वपूर्ण वस्तु है । वसु ने पास ही के वृक्षों की टहनियाँ

१ तेण भणियो—पावकम्म ! जोइसियदेवा वणप्फतीओ य पच्छण्णचारियगुज्झया पस्संति जण्णचरियं, सयं च पस्समाणो ‘न पस्सामि’ त्ति विवाडेसि छगलगं, गतो सि नरगं, भवसर त्ति ।



काटकर उनसे उस स्फटिक पत्थर को आच्छादित कर दिया और अपने नगर में लौटने पर प्रधानामात्य को स्फटिक पत्थर के सम्बन्ध में अवगत किया ।

प्रधानामात्य ने वह स्फटिक पत्थर राजप्रासाद में मंगवा लिया और उस पर वसु का राजसिंहासन रख दिया । कहीं इस रहस्य का भण्डाफोड़ नहीं हो जाय, इस आशंका से स्फटिक पत्थर लाने वाले सब लोगों को उनकी स्त्रियों सहित प्रधानामात्य ने मरवा डाला ।

स्फटिकशिला पर रखे राजसिंहासन पर बैठने के कारण वसु की ख्याति दिग्दिगन्त में फैल गई कि न्याय एवं धर्मपरायण होने के कारण वसु का राजसिंहासन आकाश में अधर रहता है और इस प्रकार वह उपरिचर वसु के नाम से लोक में प्रख्यात हो गया ।

आचार्य क्षीरकदम्बक की मृत्यु के पश्चात् पर्वत उपाध्याय बना और अध्यापन का कार्य करने लगा । पर्वत अपने शिष्यों को 'अजैर्यष्टव्यं' इस वेद-वाक्य का यह अर्थ बताने लगा कि 'बकरों से यज्ञ करना चाहिए ।'

नारद को जब इस अनर्थ की सूचना मिली तो वह पर्वत के पास पहुँचा । पर्वत ने इस गर्व से कि वह राजा के द्वारा पूजनीय है, जन-समुदाय के समक्ष कहा—“अजा अर्थात् बकरों से यज्ञ करना चाहिए ।”<sup>१</sup>

नारद ने पर्वत को अच्छी तरह समझाया कि वह परम्परागत पवित्र वेद-वाक्य के अर्थ का अनर्थकारी प्रलाप न करे । अज का अर्थ ऋषि-महर्षि और श्रुतियाँ सदा से त्रैवाषिक यव-त्रीही बताती आ रही, हैं न कि छाग ।

नारद द्वारा बार-बार समझाने-बुझाने पर भी पर्वत ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा । ज्यों-ज्यों विवाद बढ़ता गया, त्यों-त्यों पर्वत का दुराग्रह भी बढ़ता गया । अन्त में क्रुद्ध हो पर्वत ने अपने असत्य-पक्ष पर अड़े रहकर एकत्रित विद्वानों के समक्ष यह कह दिया—“नारद ! मेरा पक्ष सत्य है । यदि मेरी बात मिथ्या साबित हो जाय तो विद्वानों के समक्ष मेरी जिह्वा काट डाली जाय अन्यथा तुम्हारी जिह्वा काट ली जाय ।”<sup>२</sup>

१ कथाहं च महाजलमज्जे पञ्चयम्भो 'रायपूजिम्भो अहं' ति गच्छिम्भो पण्णवेत्ति—अजा छागला तेहिं य जइयव्वं ति। [वसुदेव हिण्डी, प्रथम खं. पृ० १६०-१६१]

२ ततो तेसिं समञ्चरे विवादे वट्टमाणे पञ्चयम्भो अण्णति—

जइ अहं पित्तहवादी ततो मे जिह्मञ्चैदो विउसाणं पुरम्भो, तव वा ।

[वसुदेव हिण्डी प्र. खं. पृ० १६१]

नारद ने कहा—“पर्वत ! दुराग्रह का अवलम्बन लेकर इस प्रकार की प्रतिज्ञा न करो । मैं तो तुमसे बार-बार यही कहता हूँ कि इस प्रकार का अनर्थ और अधर्म मत करो । हमारे पूज्यपाद उपाध्याय ने हमें अज का अर्थ नहीं उगने वाला धान्य बताया है । यह तुम भी अपने मन में भलीभांति जानते हो । केवल दुराग्रहवश तुम जो यह अधर्मपूर्ण अनर्थ करने जा रहे हो, यह तुम्हारे लिये भी अकल्याणकर है और लोकों के लिये भी ।”

इस पर पर्वत ने कहा—“इस वेदवाक्य का अर्थ मैं भी अपनी बुद्धि से नहीं बता रहा हूँ । आखिर मैं भी उपाध्याय का पुत्र हूँ । पिताजी ने मुझे इसी प्रकार का अर्थ सिखाया है ।”

नारद ने कहा—“पर्वत ! हमारे स्वर्गीय गुरु के हम दोनों के अतिरिक्त तीसरे शिष्य हरिवंशोत्पन्न महाराज उपरिचर वसु भी हैं । अतः ‘अजैर्यष्टव्य’ का अर्थ उनसे पूछा जाय और वे जो इसका अर्थ बताएं, उसे प्रामाणिक और सत्य माना जाय ।”

पर्वत ने नारद के प्रस्ताव को स्वीकार किया और अपनी माता के समक्ष नारद के साथ हुए अपने विवाद की सारी बात रखी ।

माता ने पर्वत से कहा—“पुत्र ! तूने बहुत बुरा किया । तेरे पिता द्वारा, नारद सदा ही सम्यक् प्रकार से विद्या ग्रहण करने वाला और ग्रहण की हुई विद्या को हृदयंगम करने वाला माना जाता था ।”

इस पर पर्वत ने अपनी माता से कहा—“मां ! ऐसा न कहो । मैंने अच्छी तरह सूत्रों के अर्थ को समझा है । तुम देखना, मैं वसु के निर्णय से नारद को हराकर उसकी जिह्वा कटवा दूंगा ।”

पर्वत की माता को अपने पुत्र की बात पर विश्वास नहीं हुआ । वह महाराज वसु के पास गई और वसु के समक्ष ‘अजैर्यष्टव्य’ इस वेदवाक्य को लेकर नारद और पर्वत के बीच जो विवाद खड़ा हुआ, उसके सम्बन्ध में दोनों के पक्ष को प्रस्तुत करने के पश्चात् वसु से उसने पूछा—“तुम्हारे आचार्य से तुम लोगों ने ‘अजैर्यष्टव्यम्’ इस वेदवाक्य का क्या अर्थ सीखा था ?”

उत्तर में वसु ने कहा—“मात ! इस पद का अर्थ जैसा कि नारद बताता है, वही हम लोगों ने हमारे पूज्यपाद आचार्य से अवधारित किया है ।”

वसु का उत्तर सुन कर पर्वत की माता शोकसागर में निमग्न हो गई । उसने वसु से कहा—“वत्स ! यदि तुमने इस प्रकार का निर्णय दिया तो मेरे पुत्र पर्वत का सर्वनाश सुनिश्चित है । पुत्र-वियोग में मैं भी अपने प्राणों को धारण

नहीं कर सकूँगी। अतः अपने पुत्र की मृत्यु से पहले ही मैं तुम्हारे सम्मुख अभी इसी समय अपने प्राणों का परित्याग किये देती हूँ।”

यह कह कर पर्वत की माता ने तत्काल अपनी जिह्वा अपने हाथ से पकड़ ली।

मरणोद्यता उपाध्यायिनी को देखकर वसु नृपति अवाक् रह गये। उसी समय पाखण्ड-पन्थ के उपासक कुछ लोगों ने राजा वसु से कहा—“देव! उपाध्यायिनी के वचनों को सत्य समझिये। यदि कहीं ऐसा अनर्थ हो गया तो हम इस पाप से तत्क्षण ही नष्ट हो जायेंगे।”

अपनी उपाध्यायिनी द्वारा की जाने वाली आत्महत्या के निवारणार्थ और पर्वत के समर्थक पाखण्डपन्थानुयायी लोगों के कहने में आकर अबश हो वसु ने कहा—“मां! ऐसा न करो। मैं पर्वत के पक्ष का समर्थन करूँगा।”

अपना कार्य सिद्ध हुआ देख आचार्य क्षीरकदम्बक की विधवा पत्नी अपने घर की लौट गई।

दूसरे दिन जन-समुदाय दो दलों में विभक्त हो गया। कई नारद की प्रशंसा करने लगे तो कई पर्वत की। विशाल जनसमूह के साथ नारद और पर्वत महाराज उपरिचर वसु की राजसभा में पहुँचे। उपरिचर वसु अदृश्य तुल्य स्फटिक-प्रस्तर-निर्मित विशाल स्तम्भ पर रखे अपने राजसिंहासन पर विराजमान थे अतः यही प्रतीत हो रहा था कि वे बिना किसी प्रकार के सहारे के आकाश में अधर सिंहासन पर विराजमान हैं।

नारद और पर्वत ने क्रमशः अपना-अपना पक्ष महाराज उपरिचर वसु के समक्ष रखा और उन्हें निर्णय देने का अनुरोध किया कि दोनों पक्षों में से किसका पक्ष सत्य है?

सत्य-पक्ष को जानते हुए भी अपनी आचार्य-पत्नी, पर्वत की माता को दिये गये आशवासन के कारण असत्य-पक्ष का समर्थन करते हुए महाराज वसु ने निर्णय दिया—“अज अर्थात् छाग-बकरे से यज्ञ करना चाहिये।”

असत्य-पक्ष का जान-बूझ कर समर्थन करने के कारण उपरिचर वसु का सिंहासन उसी समय सत्य के समर्थक देवताओं द्वारा ठुकराया जाकर पृथ्वी पर गिरा दिया गया और इसी तरह ‘उपरिचर’ वसु ‘स्थलचर’ वसु बन गया।

तत्काल वसु के समक्ष प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थ रखे गये और उससे कहा गया कि उन्हें देखकर पुनः वह सही निर्णय दे। पर फिर भी वसु ने मूढतावश यही कहा—“जैसा पर्वत कहता है, वही इसका सही अर्थ है।”

अदृष्ट शक्तियों द्वारा वसु तत्काल घोर रसातल में ढकेल दिया गया। उपस्थित जनसमुदाय पर्वत को धिक्कारने लगा कि इसने वसु का सर्वनाश करवा डाला। अधर्मपूर्ण असत्य-पक्ष का समर्थन करने के कारण राजा वसु नरक के दारुण दुखों का अधिकारी बना।<sup>१</sup>

तत्पश्चात् नारद वहाँ से चले गये। पर्वत ने तत्कालीन राजा सगर के शत्रु महाकाल नामक देव की सहायता से यज्ञों में पशुबलि का सूत्रपात किया।

### महाभारत में वसु का उपाख्यान

महाभारत के शान्तिपर्व में भी वसुदेव हिण्डी से प्रायः काफी अंशों में मिलता-जुलता महाराज वसु का उपाख्यान दिया हुआ है। चेदिराज वसु द्वारा असत्य-पक्ष का समर्थन करने के कारण वैदिकी श्रुति 'अजैर्यष्टव्यम्' में दिये गये 'अज' शब्द का अर्थ त्रैवाषिक यवों के स्थान पर छाग अर्थात् बकरे प्रतिपादित किया जाकर यज्ञों में पशुबलि का सूत्रपात्र हुआ, इस तथ्य को जैन और वैष्णव दोनों परम्पराओं के प्राचीन और सर्वमान्य ग्रन्थ एकमत से स्वीकार करते हैं।

प्राचीनकाल के ऋषि, महर्षि, राजा एवं सम्राट् अज अर्थात् त्रैवाषिक यव, घृत एवं वन्य औषधियों से यज्ञ करते थे। उस समय के यज्ञों में पशु-हिंसा का कोई स्थान ही नहीं था और यज्ञों में पशुबलि को घोरतिघोर पापपूर्ण, गहित एवं निन्दनीय दुष्कृत्य समझा जाता था, यह महाभारत में उल्लिखित तुलाधार-उपाख्यान,<sup>२</sup>

१ ततो उपरिचरो वसुराया, सोत्तीभतीए पम्बय-नारद विवाते 'अजेहिं अबीजेहिं छगलेहिं वा जइयम्ब' ति पमुवषषायअलियबयण सास्त्रिकण्णे देवया एिपाइयो अषरि गति गमो ।

[वसुदेव हिण्डी, द्वि. खं., पृ० ३३७]

२ न भूतानामहिंसाया, ज्यायान् घर्मोऽस्ति कश्चन ।

यस्मान्नोद्विजते भूतं, जातु किञ्चिद् कथंचन ॥

सोऽभयं सर्वभूतेभ्यः, सम्प्राप्नोति महामुने ॥३०॥

[शान्ति पर्व, अ० २६२]

यदेव सुकृतं हव्यं, तेन तुष्यन्ति देवताः ।

नमस्कारेण हविषा, स्वाध्यायैरोषधैस्तथा ॥८॥

[शा० प०, अ० २६३]

पूजा स्याद् देवतानां हि, यथा शास्त्रनिदर्शनम् ।....६॥

[वही]

सतां वर्तमानुवर्तन्ते, यजन्ते चाविहितया ।

वनस्पतीनीषधीन्, फलं मूलं च ते विदुः ॥२६॥

[वही]

विचरन्तु-उपास्यान्' एवं उपरिचर राजा वसु के उपास्यानां से स्पष्टरूपेण मिद्ध होता है।

यज्ञ में पशुबलि का वचनमात्र से अनुमोदन करने के कारण उपरिचर वसु की रसातल के अन्धकारपूर्ण गहरें गर्न में गिरना पड़ा, इस मन्दर्भ में महाभारत में उल्लिखित वसु का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :-

“राजा वसु को घोर तपश्चर्या में निरत देखकर इन्द्र को शंका हुई कि यदि यह इसी तरह तपश्चर्या करते रहे तो एक न एक दिन उसका इन्द्र-पद उससे छीन लेंगे। इस आशंका से विह्वल हो इन्द्र तपस्वी वसु के पास आया और उसे तप से विरत करने के लिये उसने समृद्ध चेदि का विशाल राज्य देने के साथ-साथ स्फटिक रत्नमय गगनबिहारी विमान एवं सर्वज्ञ होने का वरदान आदि दिये। वसु की राजधानी शुक्तिमती नदी के तट पर थी।”<sup>१</sup>

### वसु का हिंसा-रहित यज्ञ

“इन्द्र द्वारा प्रदत्त आकाशगामी विमान में विचरण करने के कारण ये उपरिचर वसु के नाम से लोक में विख्यात हुए। उपरिचर वसु बड़े सत्यनिष्ठ, अहिंसक और यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन करने वाले थे।”

१ सर्वकर्मरविहिंसा हि, धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।

कामकाराद् विहिंसन्ति, बहिर्वैद्यां पशून् नराः ॥१॥

[शा० पर्व, अ० २६४]

...अहिंसा सर्वभूतेभ्यो, भर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥६॥

[वही]

यदि यज्ञाश्च, वृक्षाश्च, यूपाश्चोद्दिश्य मानवाः।

वृथा मांसं न खादन्ति, नैषधर्मः प्रशस्यते ॥८॥

[वही]

सुरा मत्स्याः मधुमासमामवं कृमरौदनम्।

भूतैः प्रवर्तितं ह्यं तर्त्रैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥९॥

[वही]

मानान्मोहाच्च लाभाच्च, लौत्यमेतत्प्रकल्पितम्।

विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ॥१०॥

[वही]

२ राजोपरिचरो नाम, धर्मनित्यो महीपतिः।

वभूव मृगयां गन्तुं, सदा किल घृतव्रतः ॥१॥

स चेदिविषयं रम्यं, वसुः पौरवनन्दनः।

इन्द्रोपदेशाज्जग्राह, रमणीयं महीपतिः ॥२॥

(शेष अगले पृष्ठ पर)

“अंगिरस पुत्र—बृहस्पति इनके गुरु थे । न्याय, नीति एवं धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करते हुए राजा वसु ने महान् अश्वमेध यज्ञ किया । उस अश्वमेध यज्ञ के बृहस्पति, होता तथा एकत, द्वित, त्रित, धनुष, रैम्य, मेधातिथि, शालिहोत्र, कपिल, वैशम्पायन, कण्व आदि १६ महर्षि सदस्य हुए । उस महान् यज्ञ में यज्ञ के लिये सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री एकत्रित की गई परन्तु उसमें किसी भी पशु का वध नहीं किया गया । राजा उपरिचर वसु पूर्ण अहिंसक भाव से उस यज्ञ में स्थित हुए । वे हिंसाभाव से रहित, कामनाओं से रहित, पवित्र तथा उदारभाव से अश्वमेध यज्ञ करने में प्रवृत्त हुए । वन में उत्पन्न हुए फल मूलादि पदार्थों से ही उस यज्ञ में देवताओं के भाग निश्चित किये गये थे ।”

“भगवान् नारायण ने वसु के इस प्रकार यज्ञ से प्रसन्न हो स्वयं उस यज्ञ में प्रकट हो महाराज वसु को दर्शन दिये और अपने लिये अप्रति पुरोडाश (यज्ञभाग) को ग्रहण किया ।” यथा :-

सम्भूताः सर्वसम्भारास्तस्मिन् राजन् महाकृती ।  
न तत्र पशुघातोऽभूत्, स राजैवं स्थितोऽभवत् ॥१०॥  
अहिंसः शुचिरक्षुद्रो, निराशीः कर्मसंस्तुतः ।  
आरण्यकपदोद्भूता, भागास्तत्रोपकल्पिताः ॥११॥  
प्रीतस्ततोऽस्य भगवान्, देवदेवः पुरातनः ।  
साक्षात् तं दर्शयामास, सौऽदृश्योऽन्येन केनचित् ॥१२॥

तमाश्रमे न्यस्तशस्त्रं, निवसन्तं तपोनिधिम् ।  
देवाः शक्र पुरोगा वै, राजानमुपतस्थिरे ॥३॥  
इन्द्रत्वमहो राजायं, तपसेत्यनुचिन्त्य वै ।  
तं सान्त्वेन नृपं साक्षात्, तपसः संन्यवर्तयन् ॥४॥  
दिविष्ठस्य मुविष्ठस्त्वं, सखाशूतो मम प्रियः ।  
रम्यः पृथिव्यां यो देशस्तमावस नराधिप ॥७॥  
.....न तेऽस्त्यविदितं किञ्चित्, त्रिषु लोकेषु यद्भवेत् ॥८॥  
देवोपभोग्यं दिव्यं त्वामाकाशे स्फाटिकं महत् ।  
आकाशगं त्वां महत्तं विमानमुपपत्स्यते ॥१३॥  
त्वमेकः सर्वमस्येषु विमानवरमास्थितः ।  
अरिभ्यस्त्रुपरिस्थो हि, देवो विग्रहवानिव ॥१४॥  
इदामि ते वैजयन्तीं, मालामम्लानपंकजाम् ।  
वारयिष्यति संग्रामे, या त्वां शस्त्रैरविस्रतम् ॥१५॥  
यष्टि च वैष्णवीं तस्मै, ददौ वृत्रनिषूदनः ।  
इष्टप्रदानमुद्दिश्य, शिष्टानां प्रतिपालिनीम् ॥१७॥

[महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ६३]

स्वयं भागमुपाध्याय, पुरोडाशं गृहीतवान् ।  
अदृश्येन हृतो भागो, देवेन हरिमेधसा ॥१३॥

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३६]

उस महान् अश्वमेध-यज्ञ को पूर्ण करने के पश्चात् राजा वसु बहुत काल तक प्रजा का पालन करता रहा ।<sup>१</sup>

### ‘अजैर्यष्टव्यम्’ को लेकर विवाद

एक बार ऋषियों और देवताओं के बीच यज्ञों में दी जाने वाली आहुति के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ । देवगण ऋषियों से कहने लगे—“अजेन यष्टव्यम्” (अजैर्यष्टव्यम्) अर्थात् ‘अज के द्वारा यज्ञ करना चाहिए’ यह, ऐसा जो विधान है, इसमें आये हुए ‘अज’ शब्द का अर्थ बकरा समझना चाहिए न कि अन्य कोई पशु । निश्चित रूप से यही वास्तविक स्थिति है ।”

इस पर ऋषियों ने कहा—“देवताओ ! यज्ञों में बीजों द्वारा यजन करना चाहिए, ऐसी वैदिकी श्रुति है । बीजों का ही नाम अज है; अतः बकरे का वध करना हमें उचित नहीं है । जहां कहीं भी यज्ञ में पशुओं का वध हो, वह सत्-पुरुषों का धर्म नहीं है । यह श्रेष्ठ सत्ययुग चल रहा है । इसमें पशु का वध कैसे किया जा सकता है ?”

यथा :-

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।  
ऋषीणां चैव संवादं, त्रिदशानां च भारत ॥२॥  
अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान् ।  
स च च्छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः ॥३॥

ऋषयः ऊचुः

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।  
अजसंज्ञानि बीजानि, च्छागं नो हन्तुमर्हथ ॥४॥  
नैष धर्मः सतां देवा, यत्र वध्येत वै पशुः ।  
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं, कथं वध्येत वै पशुः ॥५॥

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

जिस समय देवताओं और ऋषियों के बीच इस प्रकार का संवाद चल रहा था, उसी समय नृपश्रेष्ठ वसु भी आकाशमार्ग से विचरण करते हुए उस स्थान पर पहुंच गये । उन अन्तरिक्षचारी राजा वसु को सहसा आते देख

१ समाप्तयज्ञो राजापि प्रजां पालितवान् वसुः ।.....६२ ॥

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

ब्रह्मर्षियों ने देवताओं से कहा—“ये नरेश हम लोगों के संदेह दूर कर देंगे । क्योंकि ये यज्ञ करने वाले, दानपति, श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण भूतों के हितैषी एवं प्रिय हैं । ये महान् पुरुष वसु शास्त्र के विपरीत वचन कैसे कह सकते हैं ?”

इस प्रकार ऋषियों और देवताओं ने एकमत हो एक साथ राजा वसु के पास जाकर अपना प्रश्न उपस्थित किया—“राजन् ! किसके द्वारा यज्ञ करना चाहिए ? बकरे के द्वारा अथवा अन्न द्वारा ? हमारे इस संदेह का आप निवारण करें । हम लोगों की राय में आप ही प्रामाणिक व्यक्ति हैं ।”

तब राजा वसु ने हाथ जोड़कर उन सबसे पूछा—“विप्रवरो ! आप लोग सच-सच बताइये, आप लोगों में से किस पक्ष को कौनसा मत अभीष्ट है ? अज शब्द का अर्थ आप में से कौनसा पक्ष तो बकरा मानता है और कौनसा पक्ष अन्न ?”

वसु के प्रश्न के उत्तर में ऋषियों ने कहा—“राजन् ! हम लोगों का पक्ष यह है कि अन्न से यज्ञ करना चाहिए तथा देवताओं का पक्ष यह है कि छाग नामक पशु के द्वारा यज्ञ होना चाहिये । अब आप हमें अपना निर्णय बताइये ।”<sup>१</sup>

### वसु द्वारा हिंसापूर्वक यज्ञ का समर्थन व रसातल-प्रवेश

राजा वसु ने देवताओं का पक्ष लेते हुए कह दिया—“अज का अर्थ है छाग (बकरा) अतः बकरे के द्वारा ही यज्ञ करना चाहिए ।”

१ महाभारतकार के स्वयं के शब्दों में यह आख्यान इस प्रकार दिया गया है :-

तेषां संवदतामेवमृषीणां विबुधैः सह ।

मार्गागतो नृपश्रेष्ठस्तं देशं प्राप्तवान् वसुः ॥६॥

अन्तरिक्षचरः श्रीमान्, समग्रबलवाहनः ।

तं दृष्ट्वा सहसाऽऽयान्तं वसुं ते त्वन्तरिक्षगम् ॥७॥

ऊचुद्विजातयो देवानेष च्छेतस्यति मंशयम् ।

यज्वा दानपतिः श्रेष्ठः सर्वभूतहित प्रियः ॥८॥

कथस्विदन्यथा ब्रूयादेष वाक्यं महान् वसुः ।

एवं ते संविदं कृत्वा, विमुधा ऋषयस्तथा ॥९॥

अपृच्छन् सहिताभ्येत्य, वसुं राजानमन्तिकात् ।

भो राजन् केन यष्टव्यमजेनाहोस्विदीपधैः ॥१०॥

एतन्नः संशयं छिन्धि प्रमाणं वो भवान् मतः ।

म तान् कृताञ्जलिभूर्त्वा, परिपप्रच्छ वै वसु ॥११॥

कस्य वै को मतः कामो, ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः ।

भान्दैर्यष्टव्यमित्येव, पक्षोऽस्माकं नराधिप ॥१२॥

देवानां तु पशुः पक्षो मतो राजन् वदस्व नः । [महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]



यथा :-

देवानां तु मतं ज्ञात्वा, वसुना पक्षसंश्रयात् ।

छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा ॥१३॥

यह सुनकर वे सभी सूर्य के समान तेजस्वी ऋषि क्रुद्ध हो उठे और विमान पर बैठकर देवपक्ष का समर्थन करने वाले वसु से बोले—“राजन् ! तुमने यह जान कर भी कि ‘अज’ का अर्थ अन्न है, देवताओं का पक्ष लिया है अतः तुम आकाश से नीचे गिर जाओ। आज से तुम्हारी आकाश में विचरने की शक्ति नष्ट हो जाय। हमारे शाप के आघात से तुम पृथ्वी को भेद कर पाताल में प्रवेश करोगे। नरेश्वर ! तुमने यदि वेद और सूत्रों के विरुद्ध कहा हो तो हमारा यह शाप तुम पर अवश्य लागू हो और यदि हम लोग शास्त्र-विरुद्ध वचन कहते हों तो हमारा पतन हो जाय।”

ऋषियों के इतना कहते ही तत्क्षणा राजा उपरिचर वसु आकाश से नीचे आ गये और तत्काल पृथ्वी के विवर में प्रवेश कर गये।

इस सन्दर्भ में महाभारतकार के मूल श्लोक इस प्रकार हैं :-

कुपितास्ते ततः सर्वे, मुनयः सूर्यवर्चसः ॥१४॥

ऊचुवसुं विमानस्थं, देवपक्षार्थवादिनम् ।

सुरपक्षो गृहीतस्ते, यस्मात् तस्माद् दिवःपत ॥१५॥

अद्यप्रभृति ते राजन्नाकाशे विहता गतिः ।

अस्मच्छापाभिधातेन, महीं भित्वा प्रवेक्ष्यसि ॥१६॥

(विरुद्धं वेदसूत्राणामुक्तं यदि भवेन्नृप ।

वयं विरुद्धवचना, यदि तत्र पतामहे ॥)

ततस्तस्मिन् मुहूर्तेऽथ, राजोपरिचरस्तदा ।

अधो वै संबभूवाशुः भूमेर्विवरगो नृप ॥१७॥

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

वसु के आठ पुत्रों में से छः पुत्र क्रमशः एक के बाद एक राजसिंहासन पर बैठते ही दैवी-शक्ति द्वारा मार डाले गये, शेष दो पुत्र ‘सुवसु’ और ‘पिहृदय’ ‘शुक्तिमती’ नगरी से भाग खड़े हुए। ‘सुवसु’ मथुरा में जा बसा। और ‘पिहृदय’ का उत्तराधिकारी राजा ‘सुबाहु’ हुआ। सुबाहु के पश्चात् क्रमशः ‘दीर्घबाहु’, वज्रबाहु, अर्द्धबाहु, भानु और सुभानु नामक राजा हुए। सुभानु के पश्चात् उनके पुत्र यदु इस हरिवंश में एक महान् प्रतापी राजा हुए। यदु के वंश में ‘सौरी’ और ‘वीर’ नाम के दो बड़े शक्तिशाली राजा हुए। महाराज सौरी ने सौरिपुर और वीर ने सौवीर नगर बसाया।’

१ सौरिणा सौरिपुरं निवेशावियं, वीरेण सौवीरं । [वसु० हि०, पृ० ३५७]

### भगवान् नेमिनाथ का पैतृक कुल

पूर्वकथित इन्हीं हरिवंशीय महाराज सौरी से 'अन्धकवृष्णि' और भोग-वृष्णि, दो पराक्रमी पुत्र हुए । 'अन्धकवृष्णि' के 'समुद्रविजय', अक्षोभ, स्तिमित, सागर, हिमवान्, अचल, धरणा, पूरण, अभिचन्द और वसुदेव ये दश पुत्र थे<sup>१</sup> जो दशार्ह नाम से प्रसिद्ध हुए ।

इनमें बड़े समुद्रविजय और छोटे वसुदेव ये दो विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न एवं प्रभावशाली थे । समुद्रविजय बड़े न्यायशील, उदार एवं प्रजावत्सल राजा हुए ।<sup>२</sup> अपने छोटे भाई वसुदेव का लालन-पालन, रक्षण, शिक्षण एवं संगोपन इनकी देख-रेख में ही होता रहा ।

समय पाकर वसुदेव ने अपने पराक्रम से देश-देशान्तर में ख्याति प्राप्त की । सौरपुर के एक भाग में उनका भी राज्यशासन रहा । वसुदेव का विशेष परिचय यहाँ दिया जा रहा है ।

### वसुदेव का पूर्वभव और बाल्यकाल

कुमार वसुदेव अत्यन्त रूपवान्, पराक्रमी और लोकप्रिय थे । पूर्वजन्म में नन्दीषेण ब्राह्मण के भव में माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् कुटुम्बीजनों ने उसे घर से निकाल दिया ।

एक माली ने उसका पालन-पोषण कर बड़ा किया और अपनी पुत्रियों में से किसी एक से उसका विवाह करने का उसे आश्वासन दिया किन्तु जब तीनों पुत्रियों द्वारा वह पमन्द नहीं किया जाकर ठुकरा दिया गया, तो उसे बड़ी आत्म-भ्रान्ति हुई ।

नन्दीषेण ने घने बीहड़ जंगल में जाकर फांसी डालकर मरना चाहा । वहाँ किसी मुनि ने देखकर उसे आत्महत्या करने से रोका और उपदेश दिया ।

१ समुद्रविजयो, अक्षोभो, थिमियो, सागरो हिमवतो ।

अयत्तो धरणो, पूरणो, अभिचन्दो वसुदेवो त्ति ॥ [ वसु० हि० पृ० ३५८ ]

२ सौरियपुरम्हिन नयरे, प्रासी राया समुद्रविजमोत्ति ।

तस्सामि अग्गमहिमी, भिवत्ति देवी अणुज्जगी ॥

तेसि पुत्ता चउगे, अरिट्ठनेमि तहेव रहनेमी ।

तइमो अ सच्चनेमी, चउत्थमो होइ दठनेमी ॥

जो सो अरिट्ठनेमि, बावीसइमो अहेमि सो अग्गहा ।

रहनेमी सच्चनेमी, एए पत्तेयबुद्धाउ ॥

[ उत्तराध्ययन नि०, गा० ४४३-४४५ ]

मुनि के उपदेश से विरक्त हो उसने मुनि-दीक्षा स्वीकार की एवं ज्ञान-ध्यान और तप-संयम से साधना करने लगा। कठोर तप से अपने तिरस्कृत जीवन को उपयोगी बनाने के लिए उसने प्रतिज्ञा की कि किसी भी रोगी साधु की सूचना मिलते ही पहले उसकी सेवा करेगा, फिर अन्न ग्रहण करेगा। तपस्या से उसे अनेक लब्धियां प्राप्त थीं अतः हरण साधुओं की सेवा के लिए उसे जिस वस्तु की आवश्यकता होती, वही मिल जाती थी। इस सेवा के कारण वह समस्त भरत-खण्ड में महातपस्वी के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

उसकी सेवा की प्रशंसा स्वर्ग के इन्द्र भी किया करते थे। दो देवों द्वारा घृणाजनक सेवा की परीक्षा करने पर भी नन्दीषेण विचलित नहीं हुए। निस्वार्थ साधुसेवा से इन्होंने महान् पुण्य का संचय किया।

अन्त में कन्याओं द्वारा किये गये अपने तिरस्कार को बाष्प यादकर उन्होंने निदान किया—“मेरी तपस्या का फल हो तो मैं अगले मानव-जन्म में स्त्री-बल्लभ होऊँ।” इसी निदान के फलस्वरूप नन्दीषेण देवलोक का भव कर अन्धकवृषिण के यहाँ वसुदेव रूप से उत्पन्न हुआ।

वसुदेव का बाल्यकाल बड़ा सुखपूर्वक बीता। ज्योंही वे आठ वर्ष के हुए, कलाचार्य के पास रखे गये। त्रिषिष्ट बुद्धि के कारण अल्प समय में ही वे गुरु के कृपापात्र बन गये।<sup>१</sup>

### वसुदेव की सेवा में कंस

जिस समय कुमार वसुदेव का विद्याध्ययन चल रहा था, उस समय एक दिन एक रसवर्णिक उनके पास एक बालक को लेकर आया और कुमार से अभ्यर्थना करने लगा—“कुमार! यह बालक कंस आपकी सेवा करेगा, इसे आप अपनी सेवा में रखें।”

वसुदेव ने रसवर्णिक की प्रार्थना स्वीकार करली और तब से कंस कुमार की सेवा में रहने लगा और उनके साथ विद्याभ्यास करने लगा।

१ श्रीमद्भागवत में जो वसुदेव और नारद का संवाद दिया हुआ है, उसमें भी पूर्वभव में निदान किये जाने की भूलक मिलती है। यथा :-

अहं किल पुरानन्तं, प्रजायते भुवि मुक्तिदम् ।

अपूजयं न मोक्षाय, मोहितो देवमायया ॥ ८ ॥

यथा विचित्र व्यसनाद्, भवद्भविष्यतो भयाद् ।

मुच्येम ह्यञ्जसंवाद्धो, तथा नः शाधि सुव्रत ॥ ९ ॥

[श्रीमद्भागवत्, स्कन्ध ११, अ० २]

२ वसुदेव हिण्डी ।

एक दिन जरासन्ध ने समुद्रविजय के पास दूत भेजा और कहलवाया—  
“सिंहपुर के उद्दण्ड राजा सिहरथ को जो पकड़ कर मेरे पास उपस्थित करेगा,  
उसके साथ मैं अपनी पुत्री जीवयशा का विवाह करूंगा और उपहार में एक  
नगर भी दूंगा।”

वसुदेव को जब इस बात की सूचना मिली तो उन्होंने समुद्रविजय से  
प्रार्थना की—“देव ! आप मुझे आज्ञा दें, मैं सिहरथ को बांध कर आपकी सेवा  
में उपस्थित करूंगा।”

समुद्रविजय ने कुमार वसुदेव के आग्रह और उत्साह को देखकर सबल  
सेना के साथ उन्हें युद्ध के लिये विदा किया।

### वसुदेव का युद्ध-कौशल

वसुदेव का सेना सहित आगमन सुनकर सिहरथ भी अपने दल-बल के  
साथ रणांगण में आ डटा। दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ। सिहरथ  
के प्रचण्ड पराक्रम और तीक्ष्ण प्रहारों से वसुदेव की सेना के पैर उखड़ने लगे।  
यह देख कर वसुदेव ने अपने सारथी कंस को आदेश दिया कि वह उनके रथ को  
सिहरथ की ओर बढ़ावे। कंस ने सिहरथ की ओर रथ बढ़ाया और वसुदेव ने  
देखते ही देखते शरवर्षा की झड़ी लगाकर सिहरथ के सारथी और घोड़ों को  
बाणों से बीध दिया। उन्होंने अपने रण-कौशल और हस्तलाघव से सिहरथ को  
हतप्रभ कर दिया। कंस ने भी परशु-प्रहार से सिहरथ के रथ के पहियों को  
चकनाचूर कर दिया और भपट कर सिहरथ को बन्दी बना लिया एवं वसुदेव  
के रथ में ला रखा। यह देख सिहरथ की सारी सेना भाग छूटी।

वसुदेव सिहरथ को लेकर सोरियपुर लौट आये और समुद्रविजय के समक्ष  
उसे बन्दी के रूप में उपस्थित किया।<sup>१</sup> किशोरवय के कुमार वसुदेव की इस  
वीरता से समुद्रविजय बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उल्लास एवं उत्सव के साथ  
कुमार का नगर-प्रवेश करवाया।<sup>२</sup>

### कंस का जीवयशा से विवाह

समुद्रविजय ने एकान्त पाकर वसुदेव से कहा—“वत्स ! मैंने कोष्ठुकी  
(नैमित्तिक) से जीवयशा के लक्षणों के सम्बन्ध में पूछा तो ज्ञात हुआ कि  
जीवयशा उभय-कुलों का विनाश करने वाली है। जीवयशा से विवाह करना  
श्रेयस्कर प्रतीत नहीं होता।”

१ 'चउवन्न महापुरिम चरिय' में वसुदेव द्वारा सिहरथ को सीधा जरासन्ध के पास ले जाने  
का उल्लेख है।

२ वसुदेव हिण्डी।

वसुदेव ने समुद्रविजय की बात शिरोधार्य करते हुए कहा—“सिहरथ को बन्दी बनाने में कंस ने साहसपूर्ण कार्य किया है, अतः उसके पारितोषिक रूप में जीवयज्ञा का कंस के साथ पाणिग्रहण करा देना चाहिये ।”

समुद्रविजय द्वारा यह प्रश्न किये जाने पर कि एक उच्च कुल के राजा-धिराज की कन्या एक रसवणिक के पुत्र से कैसे ब्याही जा सकेगी;—वसुदेव ने कहा—“महाराज ! क्षत्रियोचित साहस को देखते हुए कंस क्षत्रिय होना चाहिए न कि रसवणिक ।” वास्तविकता का पता लगाने हेतु रसवणिक को बुलाकर पूछा गया ।

रसवणिक ने कहा—“महाराज ! यह मेरा पुत्र नहीं है, मैंने तो यमुना में बहती हुई कांस्य-पेटिका से इसे प्राप्त किया है । तामसिक स्वभाव के कारण बड़ा होने पर यह बालकों को मारता-पीटता था । इसलिये इससे ऊबकर मैंने इसे कुमर की सेवा में रख दिया । कांसी की पेटि ही इसकी माँ है और इसीलिये इसका नाम कंस रखा गया है । इसके साथ पेटि में यह नामांकित मुद्रिका भी प्राप्त हुई थी, जो सेवा में प्रस्तुत है ।”

मुद्रिका पर महाराज उपसेन का नाम देखकर समुद्रविजय को बड़ा आश्चर्य हुआ । वे सिहरथ और कंस को लेकर जरासंध के पास पहुँचे और बन्दी सिहरथ को जरासंध के समक्ष उपस्थित करते हुए उन्होंने कंस के पराक्रम की प्रशंसा की और बताया कि यह कंस महाराज उपसेन का पुत्र है । यह सब सुनकर जरासंध बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने अपनी पुत्री जीवयज्ञा का कंस के साथ विवाह कर दिया ।

अपने पिता द्वारा उदी में बहा दिये जाने की बात सुन कंस पहले ही अपने पिता से बदला लेने पर तुला हुआ था । जरासंध का जाभाता बनते ही उसने जरासंध से मथुरा का राज्य मांग लिया और मथुरा में आकर द्वेषवश उपसेन को कारागृह में डालकर वह मथुरा का राज्य करने लगा ।

### × वसुदेव का सम्मोहक व्यक्तित्व

युवावस्था प्राप्त करते ही वसुदेव श्वेत परिधान पहने जातिमान् चंचल अश्व पर आरूढ़ हो एक उपवन से दूसरे उपवन में, इस वन से उस वन में प्रकृति की छटा का भ्रानन्द लूटने लगे । नयनाभिराम वसुदेव को राजपथ से आते-जाते देखकर नागरिक जन उनके अलौकिक सौन्दर्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते और महिलाएँ तो उनकी कमनीय कान्ति पर मुग्ध हो उन्हें एकटक निहारती हुई मन्त्र-मुग्ध हरिणियों की तरह सुध-बुध भूले उनके पीछे-पीछे चलने लगतीं । इस प्रकार हँसी-खुशी के साथ उनका समय बीतने लगा ।

१ वसुदेव हिण्डी ।

एक दिन वसुदेव उपवनों से घूमकर राजप्रासाद में लौटे ही थे कि समुद्र-विजय ने उन्हें बड़े दुलार से कहा—“कुमार ! तुम इस प्रकार दिन में बाहर मत घूमा करो, तुम्हारा सुकुमार मुख धूलिधूसरित और कुम्हलाया सा दिख रहा है। घर में ही रहकर सीखी हुई कलाओं का अभ्यास किया करो—कहीं तुम उन कलाओं को भूल न जाओ।”

वसुदेव ने सहज विनयभाव से कहा—“ऐसा ही करूंगा महाराज।” और उस दिन से वसुदेव राजप्रासाद में ही रहने लगे।

एक दिन समुद्रविजय के लिए विलेपन तैयार करतो हुई कुब्जा दासी से वसुदेव ने पूछा—“यह उबटन किसके लिये तैयार कर रही हो ?”

दासी का छोटा सा उत्तर था—“महाराज के लिए।”

“क्या यह मेरे लिये नहीं है ?”

वसुदेव के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दासी ने कहा—“कुमार आपने अपराध किया है, अतः महाराज आपको उत्तम वस्त्राभूषण विलेपनादि नहीं देते।”

जब वसुदेव ने दासी द्वारा मना किये जाने पर भी बलात् विलेपन ले लिया तो दासी ने तुरन्त कर कहा—“इस प्रकार के आचरणों के कारण ही तो राजप्रासादों में अवरोध किये गये हो, फिर भी अविनय से बाज नहीं आते।”

वसुदेव ने चीकन्ने होकर आग्रहपूर्वक दासी से पूछा—“अरी ! कौनसा अपराध हो गया है, जिससे कि महाराज ने मुझे प्रासाद में ही रोक रखा है ?”

दासी ने कहा कि इस रहस्य के उद्घाटन से उसे राजा समुद्रविजय द्वारा शिष्ट होने का डर है। वसुदेव ने प्रेमपूर्ण संभाषण से दासी को आखिर प्रसन्न कर लिया और उसने वसुदेव से कहा—“सुनिये कुमार ! एक बार आपकी अनुपस्थिति में नगर के अनेक प्रतिष्ठित नागरिकों ने महाराज के सम्मुख उपस्थित हो निवेदन किया कि शरद् पूर्णिमा के चन्द्र के समान मानव-मात्र के नयनों को आह्लादित करने वाले, विशुद्ध-निर्मल चरित्रवान् छोटे राजकुमार नगर में जिस किसी स्थान से निकलते हैं, तो वहाँ का नवयुवति-वर्ग कुमार के अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध हो उनके पीछे-पीछे मन्त्रमुग्धा हिरणियों के झुण्ड की तरह परिभ्रमण करता रहता है। कुमार अब इस पथ से निकलेंगे, इस

आशा में नगर की युवतियाँ सूर्योदय से पूर्व ही वातायनों, गवाक्षों, जाली-भरोखों और गृह-द्वारों पर जा डटती हैं और यह कहती हुई कि “जब कुमार वहाँ से निकलेंगे तो उन्हें देखेंगी” सारा दिन चित्रलिखित पुतलियों की तरह वहीं बैठी-बैठी बिता देती हैं तथा रात्रि में निद्रावस्था में भी बार-बार चौक-चौक कर बड़बड़ाती हैं—अरे ! यह रहे वसुदेव, देखो-देखो ! यही तो हैं वसुदेव ।”

रमणियाँ शाक, पत्र, फलादि खरीदने जाती हैं तो वहाँ भी उनका यही ध्यान रहता है, कहती हैं—“ला वसुदेव दे-दे ।” बच्चे जब क्रन्दन करते हैं तो कुमार के प्रागमन-पथ पर दृष्टि डाले युवतियाँ बच्चों को गाय के बछड़े समझकर रस्सियों से बाँध देती हैं । इस प्रकार प्रायः सभी नगर-वधुएँ उन्माद की अवस्था को प्राप्त हो चुकी हैं, गृहस्थी का सारा कामकाज चौपट हो चुका है, देव और अतिथि-पूजन का प्रमुख गृहस्थाचार शिथिल हो नष्टप्रायः हो चुका है । अतः देव ! कृपा कर ऐसा प्रबन्ध कीजिये कि कुमार बार-बार नद्यान में नहीं जायें ।”

इस पर महाराज समुद्रविजय ने उन लोगों को आश्वस्त करते हुए कहा—“आप लोग विश्वस्त रहें, मैं कुमार को ऐसा करने से रोक दूंगा ।” जो परिजन वहाँ उपस्थित थे, उन्हें महाराज ने निर्देश दिया कि इस सम्बन्ध में कुमार से कोई कुछ भी नहीं कहे ।

दासी के मुँह से यह सब सुनकर वसुदेव बड़े चिन्तित हुए और उन्होंने निश्चय किया कि अब उनका वहाँ रहना श्रेयस्कर नहीं है । उन्होंने अपना स्वर और वेश बदलने की गोलियाँ तैयार कीं और सन्ध्या-समय वल्लभ नामक दास के साथ नगर के बाहर चले आये । श्मशान में एक शव को पड़ा देखकर वसुदेव ने अपने दास वल्लभ से कहा—“लकड़ियाँ लाकर चिता तैयार कर ।”

सेवक ने चिता तैयार कर दी । वसुदेव ने सेवक से फिर कहा—“अरे ! जा मेरे शयनागार से मेरा रत्नकरण्डक ले आ, द्रव्य का दान कर मैं अग्नि-प्रवेश करता हूँ ।” वल्लभ ने कहा—“स्वामिन् ! यदि आपने यही निश्चय किया है तो आपके साथ मैं भी अग्नि-प्रवेश करूँगा ।”

वसुदेव ने कहा—“जैसे तुझे अच्छा लगे वही करना, पर खबरदार इस रहस्य का भेद किसी को मत देना । रत्नकरण्डक लेकर शीघ्र लौट आ ।”

“अभी लाया महाराज !” यह कहकर वल्लभ शीघ्रता से नगर की ओर दौड़ा ।

१ वसुदेव हिण्डी ।

वसुदेव ने उस अनाथ के शव को चिता पर रखकर अग्नि प्रज्वलित कर वी और श्मशान में पड़ी एक अधजली लकड़ी से माता और गुरुजनों से क्षमा मांगते हुए यह लिख दिया—“विशुद्ध स्वभाव का होते हुए भी नागरिकों ने दोष लगाया, इसलिए वसुदेव ने अपने आपको आग में जला डाला।”

पत्र को श्मशान में एक खम्भे से बाँध कर वसुदेव त्वरित गति से वहाँ से चला पड़े। बड़ी लम्बी दूरी तक पथ से दूर चलते हुए वे एक मार्ग पर आये और मार्ग तय करने लगे। उस मार्ग से एक युवती गाड़ी में बैठी हुई ससुराल से अपने मातृगृह को जा रही थी। वसुदेव को देखते ही उसने अपने साथ के वृद्ध से कहा—“ओह ! यह परम सुकुमार ब्राह्मणकुमार पैदल चलते हुए परिश्रान्त हो गया होगा। इसे गाड़ी में बैठा लो। आज रात अपने घर पर विश्राम कर कल आगे चला जायगा।”

वृद्ध ने गाड़ी में बैठने का आग्रह किया। गाड़ी में बैठे हुए सब की निगाहों से छुपकर जा सकूँगा, यह सोचकर वसुदेव गाड़ी में बैठ गए। सुगाम नामक नगर में पहुँचकर स्नान, ध्यान भोजनादि से निवृत्त हो वसुदेव विश्राम करने लगे।

पास ही के यक्षायतन में उस गाँव के कुछ लोग बैठे हुए थे। कुमार ने उन्हें नगर से आए हुए लोगों द्वारा यह कहते हुए सुना—“आज नगर में एक बड़ी दुःखद घटना हो गई, कुमार वसुदेव ने अग्नि-प्रवेश कर आत्मदाह कर लिया। वसुदेव का वल्लभ नामक सेवक जलती हुई चिता को देखकर कर्ण कन्दन करता हुआ नगर में दौड़ आया। लोगों द्वारा कारण पूछे जाने पर उसने कहा कि जनापवाद के डर से राजकुमार वसुदेव ने चिता में जलकर प्राणत्याग कर दिया।” इतना सुनते ही नगर में सर्वत्र चीत्कार और हाहाकार व्याप्त हो गया।

नागरिकों के रुदन को सुनकर नौ ही भाई तत्काल श्मशान में पहुँचे और वहाँ कुमार के हाथ से लिखे हुए पत्र को पढ़कर शोक से रोते-रोते उन्होंने चिता को घृत और मधु से सींचा; चन्दन, अमर और देवदारु की लकड़ियों से आच्छादित कर दिया तथा उसे जलाकर प्रेतकार्य सम्पन्न कर वे सब अपने घर को लौट गये।

यह सब सुन कर वसुदेव की चिन्ता हुई। इनके मुँह से अनायास निकल गया—“यह सांसारिक बन्धन कितना गूढ़ और रहस्यपूर्ण है, चलो, मेरे आस्थीयजनों को विश्वास हो गया कि वसुदेव मर गया। अब वे मेरी कोई खोज



नहीं करेंगे, अब मुझे निःशंक हो निर्विघ्न रूप से स्वच्छन्द-विचरण करना चाहिए ।”

रात भर विश्राम कर वसुदेव ने दूसरे दिन वहाँ से प्रस्थान किया और वैताड्य गिरि की उपत्यकाओं में बसे विभिन्न नगरों और अनेक देशों में पर्यटन किया । वसुदेव ने अपने इस पर्यटन-काल में अनेक अद्भुत साहसपूर्ण कार्य किये, वेदों और अनेक विद्याओं का अध्ययन किया । वसुदेव के सम्मोहक व्यक्तित्व और अद्भुत पराक्रम पर मुग्ध हो अनेक बड़े-बड़े राजाओं ने अपनी सर्वगुण-सम्पन्न सुन्दर कन्याओं का उनके साथ विवाह कर विपुल सम्पदाओं से उन्हें सम्मानित किया ।

एकदा देशाटन करते हुए वसुदेव कोशल जनपद के प्रमुख नगर अरिष्टपुर में पहुँचे । वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि कोशलाधीश महाराज ‘रुधिर’ की अनुपम रूपगुणसम्पन्ना राजकुमारी ‘रोहिणी’ के स्वयंवर में जरासन्ध, दमघोष, दन्तवक्र, पाण्डु, समुद्रविजय, चन्द्राभ और कंस आदि अनेक बड़े-बड़े अवनिपति आये हुए हैं, तो वसुदेव भी पगाव-वाद्य हाथ में लिये स्वयंवर-मण्डप में पहुँचे और एक मंच पर जा बैठे ।<sup>१</sup>

परिचारिकाओं से घिरी हुई राजकुमारी ‘रोहिणी’ ने वरमाला हाथ में लेकर ज्योंही स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश किया, सारा राज-समाज उसके अनुपम सौन्दर्य की कान्ति से चकाचौंध हो चित्रलिखित सा रह गया । यह त्रैलोक्य सुन्दरी न मालूम किस का वरण करेगी, इस आशंका से सबके दिल धड़क रहे थे, सबकी धमनियों में रक्तप्रवाह उच्चतम गति को पहुँच चुका था ।

जिन राजाओं के सामने रोहिणी अपने हाथों में ली हुई वरमाला क. बिना हिलाये ही आगे बढ़ गई उन राजाओं के मुख राहु-प्रस्त सूर्य की तरह निस्तेज हो काले पड़ गये । वसुदेव ने अपने पगाव पर हल्का सा मन्द-मधुर नाद किया कि रोहिणी मन्त्रमुग्धा मयूरी की तरह बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं का अतिक्रमण करती हुई वसुदेव की ओर बढ़ गई और उनकी ओर देखते ही उनके गले में वरमाला डाल दी व उनके मस्तक पर अक्षतकणा चढ़ाकर रनि-वास में चली गई ।

मण्डप में इससे हलचल मच गई । सब राजा लोग एक दूसरे से पूछने लगे—“किसको वरण किया ?” उत्तर में अनेक स्वर गूँज रहे थे—“एक गायक को ।”

१ वसुदेव हिण्डी ।

राजाओं का क्षोभ उग्र रूप धारण करने लगा। महाराज दन्तवक्र ने गरजते हुए कोशलपति को कहा—“तुम्हारी कन्या यदि एक गायक को ही चाहती थी तो इन उच्चकुलीन बड़े-बड़े क्षत्रिय राजाओं को क्यों आमन्त्रित किया गया? कोई क्षत्रिय इस अपमान को सहन नहीं करेगा।”

कोशलपति ने कहा—“स्वयंवर में कन्या को अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता है, इसके अनुसार उसने जिसको योग्य समझा, उसे अपना पति बना लिया। अब परदारा की आकांक्षा करना क्या किसी कुलीन के लिए शोभाप्रद है?”

दन्तवक्र ने कहा—“तुमने अपनी कन्या को स्वयंवर में दिया है, यह ठीक है, पर मर्यादा का अतिक्रमण तो नहीं होना चाहिये। अतः तुम्हारी कन्या इस वर को छोड़कर किसी भी क्षत्रिय का वरण करे।”

वसुदेव ने दन्तवक्र को सम्बोधित करते हुए कहा—“दन्तवक्र! जैसा तुम्हारा नाम टेढ़ा है वैसी ही टेढ़ी तुम बात भी कर रहे हो। क्या क्षत्रियों के लिये कला-कौशल की शिक्षा वर्जित है, जो तुम मेरे हाथ में पराव को देखने मात्र से ही समझ रहे हो कि मैं क्षत्रिय नहीं हूँ?”

इस पर दमघोष ने कहा—“अज्ञातवंश वाले को कन्या किसी भी दशा में नहीं दी जा सकती। अतः राजकुमारी इसे छोड़कर अन्य किसी भी क्षत्रिय का वरण करे।”

विदुर द्वारा यह मत प्रकट करने पर कि इनसे इनके वंश के सम्बन्ध में पूछ लिया जाय; वसुदेव ने कहा—‘क्योंकि सब विवाद में लगे हुए हैं, अतः कुल-परिचय के लिए यह उपयुक्त समय नहीं है, अब तो मेरा बाहुबल ही मेरे कुल का परिचय देगा।’

इतना सुनते ही जरासन्ध ने क्रुद्ध-स्वर में कहा—“पकड़ लो राजा रुधिर को।”

कोशलपति ने भी अपनी सेना तैयार कर ली। स्वयम्बर में एकत्रित सब राजाओं ने मिलकर उन पर आक्रमण किया और भीषण संग्राम के पश्चात् कोशलपति को घेर लिया। यह देख अरिजयपुर के विद्याधर-राजा ‘दधिमुख’ के रथ में आरूढ़ हो वसुदेव ने सबको ललकारा। वसुदेव के इस अदम्य साहस और तेज से राजा लोग बड़े विस्मित हुए और कहने लगे “ओह! कितना इसका साहस है जो सब राजाओं के समक्ष एकाकी युद्ध हेतु सन्नद्ध है।”

१ वसुदेव हिण्डी।

सब राजाओं को एक साथ वसुदेव पर आक्रमण करने के लिए उद्यत देख महाराजा पाण्डु ने कहा—“यह क्षत्रियों का धर्म नहीं है कि अनेक मिलकर एक पर आक्रमण करें।”

महाराज पाण्डु से सहमति प्रकट करते हुए जरासन्ध ने भी निर्यायिक स्वर में कहा—“हाँ, एक-एक राजा इसके साथ युद्ध करे, जो जीत जायगा रोहिणी उसी की पत्नी होगी।”

इस प्रकार युद्ध प्रारम्भ होने पर वसुदेव ने क्रमशः शत्रुञ्जय, दन्तवक्र और कालमुख जैसे महापराक्रमी राजाओं को अपने अद्भुत रणकौशल से पराजित कर दिया।

इन शक्तिशाली राजाओं को पराजित हुआ देख कर जरासन्ध ने महाराज समुद्रविजय से कहा—“आप इस शत्रु को पराजित कर सब क्षत्रियों की अनुमति से रोहिणी को प्राप्त करें।”

अन्ततोगत्वा महाराज समुद्रविजय शरवर्षा करते हुए वसुदेव की ओर बढ़े। वसुदेव ने समुद्रविजय के बाणों को काट गिराया, पर उन पर प्रहार नहीं किया। इस पर समुद्रविजय क्रुपित हुए। उस समय वसुदेव ने अपना नामांकित बाण उनके चरणों में प्रेषित किया। वसुदेव के नामांकित तीर को देखकर समुद्रविजय चकित हुए, गौर से देखा और धनुष-बाण को एक ओर रख हर्षोन्मत्त हो वे वसुदेव की ओर बढ़े। वसुदेव भी शस्त्रास्त्र रखकर अपने बड़े भाई की ओर अग्रसर हुए।

समुद्रविजय ने अपने चरणों में झुकते हुए वसुदेव को बाहु-पाश में धाबद्ध कर हृदय से लगा लिया। अक्षोभादि श्लेष आठ भाई और महाराजा पाण्डु, दमघोष आदि भी हर्षोत्फुल्ल हो वसुदेव से मिले और कंस भी बड़े प्रेम से वसुदेव की सेवा में आ उपस्थित हुआ।

जरासन्ध आदि सब राजा कोशलेश्वर के भाग्य की सराहना करने लगे। इससे प्रसन्न हो कोशलपति रुधिर ने भी बड़े समारोह के साथ वसुदेव से रोहिणी का विवाह सम्पन्न किया। उत्सव की समाप्ति पर सब नरेश अपने-अपने नगरों को प्रस्थान कर गए, पर महाराजा रुधिर के आग्रह के कारण समुद्रविजय को एक वर्ष तक अरिष्टपुर में ही रहना पड़ा। कंस भी इस अवधि में वसुदेव के साथ ही रहा। कोशलेश के आग्रह को मान देते हुए समुद्रविजय ने वसुदेव को अरिष्टपुर में कुछ दिन और रहने की अनुमति प्रदान की और अन्त में विवा

१ वसुदेव हिण्डी।

होते हुए समुद्रविजय ने वसुदेव से कहा—“कुमार ! तुम बहुत धूम चुके हो, अब सब कुलवधुओं को साथ लेकर शीघ्र ही घर आ जाना ।”

कंस ने भी विदा होते समय वसुदेव से कहा—“देव सूरसेण राज्य आपका ही है, मैं वहां आप द्वारा रक्षित-मात्र हूँ ।”

वसुदेव और रोहिणी बड़े आनन्द के साथ अरिष्टपुर में रहे । वहां रहते हुए रोहिणी ने एक रात्रि में चार शुभ-स्वप्न देखे और समय पंर चन्द्रमा के समान गौरवर्ण पुत्र को जन्म दिया । रोहिणी के इस पुत्र का नाम बलराम रखा गया ।

तदनन्तर कुछ समय अरिष्टपुर में रहने के पश्चात् वसुदेव ने अपनी सामली, नीलयशा, मदनवेगा, प्रभावती, विजयसेना, गन्धर्वदत्ता, सोमश्री, धनश्री, कपिला, पद्मा, अश्वसेना, पौंडा, रत्नवती, प्रियंगुसुंदरी, बन्धुमती, प्रियदर्शना, केतुमती, भद्रमित्रा, सत्यरक्षिता, पद्मावती, पद्मश्री, ललितश्री और रोहिणी—इन रानियों के साथ चलकर सोरियपुर आ पहुँचे ।

कुछ समय पश्चात् कंस वसुदेव के पास आया और बड़े ही अनुरय-विनय के साथ प्रार्थना कर उन्हें सपरिवार मथुरा ले गया । वसुदेव भी मथुरा के राज-प्रासादों में बड़े आनन्द के साथ रहने लगे ।<sup>१</sup>

### वसुदेव-देवकी विवाह और कंस को वचन-दान

एक दिन कंस के आग्रह से महाराज वसुदेव देवक राजा की पुत्री देवकी को वरण करने के लिए मृत्तिकावती नगरी की ओर चले । बीच में ही उन्हें नेम-नारद मिले । वसुदेव ने उनसे देवकी के बारे में पूछा तो नारद ने उसके रूप, गुण और शील की बड़ी प्रशंसा की । यह सुनकर वसुदेव ने नेम-नारद से कहा—“भार्य ! जैसा देवकी का वर्णन आपने मेरे सामने किया है, वैसे ही देवकी के सामने मेरा परिचय भी रखना ।”

“एवमस्तु” कह कर नारद वहां से राजा देवक के यहां गये और देवकी के सामने वसुदेव के रूप, गुण की भूरि-भूरि प्रशंसा की ।

वसुदेव कंस के साथ मृत्तिकावती पहुँचे और कंस द्वारा वसुदेव के गुण-वर्णन से प्रभावित होकर देवक ने शुभ दिन में वसुदेव के साथ देवकी का विवाह कर दिया ।<sup>२</sup>

वसुदेव के सम्मान में देवक ने बहुत सा धन, दास, दासी और कोटि गायों का गोकुल, जो कि नन्द को प्रिय था, कम्पादान-दहज के रूप में अर्पित

१ वसुदेव हिन्दी ।

२ कसेण तस्स विद्या, पित्तिय भूया य देवकी खामं । [च० म० पु० च० पृ० १६३]

किया । बड़ी ऋद्धि के साथ देवकी को लेकर वसुदेव वहाँ से चलकर मथुरा पहुँचे । कंस भी उस मंगल महोत्सव में वसुदेव के साथ मथुरा पहुँचा और विनयपूर्वक वसुदेव से बोला—“देव ! इस खुशी के अवसर पर मुझे भी मुंह-मांगा उपहार दीजिये ”

वसुदेव के 'हां' कहने पर हर्षित हो कंस ने देवकी के सात गर्भ माँगे । मैत्री के वश सहज भाव से बिना किसी अनिष्ट की आशंका के वसुदेव ने कंस की बातें मान लीं ।

कंस के चले जाने पर वसुदेव को मालूम हुआ कि अतिमुक्तक कुमार श्रमण ने कंस-पत्नी जीवयशा द्वारा उन्हें देवकी का आनन्दवस्त्र दिखाकर उपहास किये जाने पर क्रुद्ध हो कर कहा था—“जिस पर प्रसन्न हो तू नाचती है, उस देवकी का सातवाँ पुत्र तेरे पति और पिता का घातक होगा ।”

कंस ने श्रमण के इसी शाप से भयभीत हो कर उक्त वरदान की याचना की है । वसुदेव ने मन ही मन विचार किया—“क्षत्रिय कभी अपने वचन से पीछे नहीं लौटते । मैंने शुद्ध मन से जब एक बार कंस को गर्भदान का वचन दे दिया है तो फिर इस वचन का निर्वाह करना ही होगा, भले ही इसके लिए बड़ी से बड़ी विपत्ति का सामना क्यों न करना पड़े ।”

विवाह के पश्चात् देवकी ने क्रमशः छः बार गर्भ धारण किये पर प्रसव-काल में ही देवकी के छः पुत्र सुलसा गायाम्पत्नी के यहां तथा सुलसा के छः मृत पुत्र देवकी के यहां हरिराँगमेषी देव ने अपनी देवमाया द्वारा अज्ञात रूप से पहुँचा दिये । वे ही छः पुत्र वसुदेव ने अपनी प्रतिज्ञानुसार प्रसव के तुरन्त पश्चात् ही कंस को सौंपे और कंस ने उन्हें मृत समझकर फेंक दिया ।

सातवाँ बार जब देवकी ने गर्भ धारण किया तो सात महाशुभ-स्वप्न देख कर वह जागृत हुई और वसुदेव को स्वप्नों का विवरण कह सुनाया । वसुदेव ने स्वप्नफल सुनाते हुए कहा—“देवि ! तुम एक महान् भाग्यशाली पुत्र को जन्म दोगी । यही तुम्हारा सातवाँ पुत्र अइमुक्त श्रमण के वचनानुसार कंस और जरासंध का विघातक होगा ।”

१ (क) आनन्दवस्त्रमेतत्ते, देवक्याः स्वसुरीक्ष्यताम् ॥

[हरिवंश पु० स० ३० श्लोक ३३]

(ख) जीवजसाए हसिङ्गे, अइमुक्त मुणी य मत्ताए ॥४३॥

तेणाय कोवावूरियं, हियएणं मुणिवरेण सा सत्ता ।

जो देवतीय गम्भो, सो बुद्ध पइणो विणासाय ॥४४॥

[प० म० पु० पृष्ठ १५३]

२ वसुदेव हिण्डी ।

देवकी स्वप्नफल सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई और वसुदेव से एकान्त में बोली—“देव ! कृपा कर इस सातवें गर्भ की रक्षा करना, इसमें जो वचन-भंग का पाप होगा वह मुझे हो, पर एक पुत्र तो मेरा जीवित रहना ही चाहिए ।”

वसुदेव ने देवकी को आश्वस्त किया । नव भास पूर्ण होने पर देवकी ने कमलदलसम श्याम कान्ति वाले महान् तेजस्वी बालक को जन्म दिया ।

प्रसवकाल में देवकी की संतान का स्थानान्तरण न हो, इस शंका से कंस ने पहरेदार नियुक्त कर रखे थे । पर पुण्य प्रभाव से देवकी ने जब पूर्ण काल में तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया, उस समय दिव्य प्रभाव से पहरेदार निद्राधीन हो गये । ज्ञात कर्म होने पर वसुदेव जब बालक को गोकुल की ओर ले जाने लगे, उस समय मन्द-मन्द वर्षा होने लगी । देवता ने अदृश्य छत्र धारण किया और दोनों ओर दो दिव्य ज्योतियाँ जगमगाती हुई साथ-साथ चलने लगीं ।

वसुदेव निर्बाध गति से अँधेरी रात में कृष्ण को लिए चल पड़े और यमुना नदी को सरलता से पार कर व्रज पहुँचे । वहाँ नन्द गोप की पत्नी यशोदा ने उसी समय एक बालिका को जन्म दिया था । यशोदा को बालक अर्पित किया और बालिका को लेकर वसुदेव तत्काल अपने भवन में लौट आये तथा देवकी के पास कन्या को रख कर शीघ्र अपने शयनागार में चले गये । कंस की दासियाँ जागृत हुईं और सद्यःजाता उस बालिका को लेकर कंस की सेवा में उपस्थित हुईं । कंस भी अपना भय टला समझ कर प्रसन्न हुआ ।<sup>१</sup>

कंस को देवकी की संतान के हाथों अपनी मृत्यु होने का भय था अतः वह नहीं चाहता था कि देवकी की कोई संतान जीवित बची रहे ।

इसी कारण श्रीकृष्ण की सुरक्षा हेतु उनका लालन-पालन गोकुल में किया गया । बालक कृष्ण के अनेक अद्भुत शौर्य और साहसपूर्ण कार्यों की कहानी कंस ने सुनी तो उस को संदेह हो गया कि कहीं यही बालक बड़ा होने पर उसका प्राणान्त न कर दे, अतः उसने बालक कृष्ण को मरवा डालने के लिये अनेक षड्यन्त्र किये ।

कंस ने अपने अनेक विश्वस्त मायावी मित्रों एवं सहायकों को छद्म वेष में गोकुल भेजा । बालक कृष्ण को मार डालने के लिए अनेक बार छल-प्रपंच पूर्ण प्रयास किये गये, पर हर बार श्रीकृष्ण को मारने का प्रयास करने वाले वे मायावी ही बलराम और कृष्ण द्वारा मार डाले गये ।

अन्त में कंस ने मथुरा में अपने राजप्रासाद में मल्लयुद्ध का आयोजन किया और कृष्ण एवं बलराम को मारने के लिए मदनोन्मत्त दो हाथियों व चाणूर

१ वसुदेव हिण्डी के आधार पर ।

तथा मुष्टिक नामक दो दुर्दान्त मल्लों को तैनात किया। पर कृष्ण और बलराम ने उन दोनों मल्लों और मत्त हाथियों को मौत के घाट उतार दिया।

अपने षडयन्त्र को विफल हुआ देखकर कंस बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने अपने योद्धाओं को आदेश दिया कि वे कृष्ण और बलराम को तत्काल मार डालें। तत्क्षण कंस के अनेक सैनिक कृष्ण और बलराम पर टूट पड़े। महाबली बलराम कंस के सैनिकों का संहार करने लगे और कृष्ण ने क्रुद्ध शार्दूल की तरह छलांग भर कंस को राजसिंहासन से पृथ्वी पर पटक कर पछाड़ डाला।

इस प्रकार कृष्ण ने कंस का वध कर डाला जिससे कि कंस के अत्याचारों से त्रस्त प्रजा ने सुख की सांस ली।

### कंस के वध से जरासंध का प्रकोप

कंस के मारे जाने पर महाराज समुद्रविजय ने उग्रसेन को कारागार से मुक्त कर अपने भाइयों तथा बलराम एवं कृष्ण के परामर्श से उन्हें मथुरा के राजसिंहासन पर बिठाया। उग्रसेन ने भी अपनी पुत्री सत्यभामा का श्रीकृष्ण के साथ बड़ी धूमधाम से विवाह कर दिया।

अपने पति कंस की मृत्यु से क्रुद्ध हो जीवयशा यह कहती हुई राजगृह (कुसुमपुर) की ओर प्रस्थान कर गयी कि बलराम कृष्ण और दशाहों का संतति सहित सर्वनाश करके ही वह शान्त बैठेगी, अन्यथा अभि-प्रवेश कर आत्मदाह कर लेगी।

जीवयशा ने राजगृह पहुंचकर रोते-रोते, अपने पिता जरासंध को मुनि अतिमुक्तक की भविष्यवारी से लेकर कृष्ण द्वारा कंसवध तक का सारा विवरण कह सुनाया।

जरासंध सारा वृत्तान्त सुनकर अपनी पुत्री के वैधव्य से बड़ा दुःखित हुआ। उसने जीवयशा को आश्वस्त करते हुए कहा—“पुत्री! तू मत रो। अब तो सब ही यादवों की स्त्रियाँ रोवेंगी। मैं यादवों को मारकर पृथ्वी को यादव-विहीन कर दूंगा।”

### कालकुमार द्वारा यादवों का पीछा और अग्नि-प्रवेश

अपनी पुत्री को आश्वस्त कर जरासंध ने अपने पुत्र एवं सेनापति कालकुमार को आदेश दिया कि वह पाँच सौ राजाओं और एक प्रबल एवं विशाल सेना के साथ जाकर समस्त यादवों को मौत के घाट उतार दे।

१ ‘चउप्यञ्च महापुरिस चरिबं’ में कुसुमपुर को जरासंध की राजधानी बताया गया है। यथा... कुसुमपुरे एवरे जरासंधो महाबलपरक्कमो राया। [पृ० १८१]

नाम के अनुरूप ही सेनापति कालकुमार ने जरासंध के समक्ष प्रतिज्ञा की—“देव ! यादव लोग जहाँ भी गये होंगे उनको मारकर ही मैं लौटूँगा । अगर वे मेरे भय से अग्नि में भी प्रवेश कर गये होंगे तो मैं वहाँ भी उनका पीछा करूँगा ।”

जब यादवों को अपने गुप्तचरों से यह पता चला कि कालकुमार टिड्डी दल के समान अपार सेना लेकर मथुरा की ओर बढ़ रहा है, तो मथुरा और शौर्यपुर से १८ कोटि यादवों को अपनी चल-सम्पत्ति सहित साथ लेकर समुद्र-विजय और उग्रसेन ने दक्षिण-पश्चिम समुद्र की ओर प्रयाण कर दिया । कल्पान्त कालीन विक्षुब्ध समुद्र की तरह कालकुमार की सेना यादवों का पीछा करती हुई बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लगी और थोड़े ही समय में विन्ध्य पर्वत की उन उपत्यकाओं के पास पहुँच गयी जहाँ से थोड़ी ही दूरी पर समस्त यादवों ने पड़ाव डाल रक्खा था ।

उस समय हरिवंश की कुलदेवी ने अपनी देव-माया से उस मार्ग पर एक ही द्वार वाला गगनचुम्बी पर्वत खड़ा कर दिया और उसमें अगणित चितायें जला दीं ।

कालकुमार ने उस उत्तुंग गिरिराज की घाटी में अपनी सेना के साथ प्रवेश किया और देखा कि वहाँ अगणित चितायें धाय-धाय करती हुई जल रही हैं तथा एक बड़ी चिता के पास बैठी हुई एक बुढ़िया हृदयद्रावी करुण-चिलाप कर रही है ।

कालकुमार ने उस बुढ़िया से पूछा—“बृद्धे ! यह सब क्या है और तुम इस तरह फूट-फूटकर क्यों रो रही हो ?”

उसने सिसकियां भरते हुए उत्तर दिया—“देव ! त्रिखण्डाधिपति जरासंध के भय से समस्त यादव समुद्र की ओर भागे चले जा रहे थे । जब उन्हें यह सूचना मिली कि साक्षात् काल के समान कालकुमार एक प्रचण्ड सेना के साथ उनका संहार करने के लिए उनके पीछे—पवनवेग से बढ़ता हुआ आ रहा है, तो अपने प्राणों की रक्षा का कोई उपाय न देख कर उन्होंने यहाँ चिताएँ जला लीं और सबने धधकती चिताओं में प्रवेश कर आत्मदाह कर लिया है । दशों ही दशार्ह, बलदेव और कृष्ण भी इन चिताओं में जल मरे हैं । अतः अपने कुटुम्बियों के विनाश से दुःखित होकर अब मैं भी अग्नि-प्रवेश कर रही हूँ ।”

यह कहकर वह महिला धधकती हुई उस भीषण चिता में कूद पड़ी और कालकुमार के देखते-रे जलकर राख हो गयी ।

यह देखकर कालकुमार ने अपने भाई सहदेव, यवन एवं साथ के राजाओं से कहा—“मैंने अपने पिता के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि यदि यादव आग में



प्रविष्ट हो जायेंगे तो उनका पीछा करते हुए आग में से भी मैं उन्हें बाहर खींच-खींचकर मारूंगा। सब यादव मेरे डर से आग में कूद पड़े हैं, तो अब मैं भी अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह हेतु आग में कूदूंगा और एक-एक यादव को आग में से घसीट-घसीटकर मारूंगा।”

यह कहकर कालकुमार हाथ में नंगी तलवार लिये हुए क्रोधावेश में परिणाम की चिता किये बिना चिता की धधकती आग में प्रवेश कर गया और अपने बंधु-बंधवों एवं सैनिकों के देखते ही देखते जलकर भस्मीभूत हो गया।

जरासन्ध की सेना हाथ मलते हुए वापिस राजगृह की ओर लौट पड़ी।

### द्वारिका नगरी का निर्माण

जब यादवों को कालकुमार के अग्निप्रवेश और जरासन्ध की सेना के लौट जाने की सूचना मिली तो वे प्रसन्नतापूर्वक समुद्रतट की ओर बढ़ने लगे। उन्होंने सौराष्ट्र प्रदेश में रैवत पर्वत के पास आकर अपना खेमा डाला।

वहाँ सत्यभामा ने भानु और भामर नामक दो युगल पुत्रों को जन्म दिया एवं कृष्ण ने दो दिन का उपवास कर लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का एकाग्रचित्त से ध्यान किया।

तृतीय रात्रि में सुस्थित देव ने प्रकट हो श्रीकृष्ण को पांचजन्य शंख, बलराम को सुधोष नामक शंख एवं दिव्य-रत्न और वस्त्रादि भेंट में दिये तथा कृष्ण से पूछा कि उसे किस लिए याद किया गया है ?

श्रीकृष्ण ने कहा—“पहले के अर्द्ध चक्रियों की द्वारिका नगरी को आपने अपने अंक में छिपा लिया है। अब कृपा कर वह मुझे फिर दीजिए।”

देव ने तत्काल उस स्थल से अपनी जलराशि को हटा लिया। शक्र की आज्ञा से वैश्रवण ने उस स्थल पर बारह योजन लम्बी और ६ योजन चौड़ी द्वारिकापुरी का एक अहोरात्र में ही निर्माण कर दिया। अपार धनराशि से भरे मणिखचित भव्य प्रासादों, सुन्दर वापी-कूप-तडागों, रमणीय उद्यानों एवं विस्तीर्ण राजपथों से सुशोभित दृढ़ प्राकारयुक्त तथा अनेक गोपुरों वाली द्वारिकापुरी में यादवों ने शुभ-मूर्हत्त में प्रवेश किया और वे वहाँ महान् समृद्धियों का उपभोग करते हुए आनन्द से रहने लगे।

### द्वारिका की स्थिति

द्वारिका के पूर्व में शैलराज रैवत, दक्षिण में माल्यवान पर्वत, पश्चिम में सोमनस पर्वत और उत्तर में गन्धमादन पर्वत था।<sup>१</sup> इस तरह चारों ओर से

<sup>१</sup> तस्याः पुरो रैवतकोऽप्याच्यामासीत्तु माल्यवान् ।

सोमनसार्द्धं प्रतीच्यामुदीच्यां गन्धमादनः ॥४१८॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ५]

उत्तुंग एवं दुर्गम शैलाधिराजों से घिरी हुई वह द्वारिकापुरी प्रबल से प्रबल शत्रुओं के लिए भी अजेय और दुर्भेद्य थी ।

### बालक अरिष्टनेमि की अलौकिक बाललीलाएं

जरासन्ध के आतंक से जिस समय यादवों ने मथुरा और शौर्यपुर से निष्क्रमण कर अपने समस्त परिवार स्त्री, पुत्र, कलत्र आदि के साथ समुद्रतट की ओर प्रयाण किया, उस समय भगवान् अरिष्टनेमि की आयु लगभग चार, साढ़े चार वर्ष की थी और वे भी अपने माता-पिता तथा बन्धु-बान्धवों के साथ थे ।<sup>१</sup>

यादवों के द्वारिका नगरी में बस जाने पर बालक अरिष्टनेमि दशों दशाहों और राम-कृष्ण आदि को प्रमुदित करते हुए क्रमशः बड़े होने लगे । उनकी विविध बाल-लीलाएं बड़ी ही आकर्षक और अतिशय आनन्दप्रदायिनी होती थीं, अतः उनके साथ खेलने की अद्भुत सुखानुभूति के लिए उनसे बड़ी वय के यादवकुमार भी अरिष्टनेमि के सुकोमल छोटे शरीर के अनुरूप अपना कद छोटा बनाने की चेष्टा करते हुए खेला करते थे ।<sup>२</sup>

बालक अरिष्टनेमि की सभी बाल-लीलाएं और समस्त चेष्टाएं माता-पिता, परिजनों एवं नागरिकों को आश्चर्यचकित कर देने वाली होती थीं । यादव कुल के सभी राजकुमारों में बालक अरिष्टनेमि अतिशय प्रतिभाशाली, ओजस्वी एवं अनुपम शक्ति-सम्पन्न माने जाते थे । आपके प्रत्येक कार्य एवं चेष्टा को देखकर, देखने वाले बड़े प्रभावित हो जाते थे । उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि यह बालक आगे चलकर महान् प्रतापी महापुरुष होगा और संसार में अनेक महान् कार्य करेगा ।

राजकीय समुचित लालन-पालन के पश्चात् ज्योंही अरिष्टनेमि कुछ बड़े हुए तो उन्हें योग्य आचार्य के पास विद्याभ्यास कराने की बात सोची गई । पर महाराज समुद्रविजय ने देखा कि बालक अरिष्टनेमि तो इस वय में भी स्वतः ही सर्व-विद्यासम्पन्न हैं, उन्हें क्या सिखाया जाये ? महापुरुषों में पूर्वजन्मों की संचित ऐसी अलौकिक प्रतिभा होती है कि वे संसार के उच्च से उच्च कोटि के विद्वानों को भी चमत्कृत कर देते हैं । जिस प्रकार श्रीकृष्ण का बाल्यकाल

१ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग १, श्लोक ३८८

२ तन्वन्मुदं दशाह्रासां, भ्रात्रोश्च हलिकृष्णयोः ।

अरिष्टनेमिमंगवान्, ववृषे तत्र च क्रमाद् ॥२॥

ज्यायांसोऽपि लघूभूय, चिक्रीडुः स्वामिना समम् ।

सर्वेऽपि भ्रातरः श्रीडा शैलोद्यानादि भूमिषु ॥३॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ६]

गोकुल में और शेष प्रायः सारा जीवन भीषण संघर्षों में बीतने के कारण आचार्य संदीपन के पास शिक्षा-ग्रहण का उन्हें यथेष्ट समय नहीं मिला था तथापि वे सर्वकला-विशारद थे ।

भगवान् अरिष्टनेमि तो जन्म से ही विशिष्ट मति, श्रुति एवं अवधिज्ञान के धारक थे । उन्हें भला संसार का कोई भी कलाचार्य या शिक्षाशास्त्री क्या सिखाता ?

### जरासन्ध के दूत का यादव-सभा में आगमन

यादवों के साथ द्वारिकापुरी में रहते हुए बलराम और कृष्ण ने अनेक राजाओं को वश में कर अपनी राज्यश्री का विस्तार किया । यादवों की समृद्धि और ऐश्वर्य की यशोगाथाएं देश के सुदूर प्रान्तों में भी गाई जाने लगीं ।

जब जरासंध को ज्ञात हुआ कि उसके शत्रु यादवगण तो अतुल धनसम्पत्ति के साथ द्वारिका में देवोपम सुख भोग रहे हैं और उसका पुत्र कालकुमार व्यर्थ ही पतंगे की तरह छल-प्रपंच से अग्नि-प्रवेश द्वारा मारा गया, तो उसने क्रुद्ध होकर एक दूत समुद्रविजय के पास द्वारिका भेजा ।

दूत ने द्वारिका पहुँचकर यादवों की सभा में महाराज समुद्रविजय को सम्बोधित करते हुए जरासंध का उन लोगों के लिए लाया हुआ सन्देश सुनाया—

“मेरा सेनापति मारा गया, उसकी तो मुझे चिन्ता नहीं है क्योंकि अपने स्वाभी के लिए रणक्षेत्र में जूझने वाले सुभटों के लिए विजय या प्राणाहूति इन दो में से एक अवश्यंभावी है । पर अपने भुजबल और पगक्रम पर ही विश्वास करने वाले आप जैसे युद्धनीति-निपुण राजाओं के लिए इस प्रकार का छल-प्रपंच नितान्त अशोभनीय और निन्दाजनक है । आप लोगों ने युद्धनीति का उल्लंघन कर जो कपटपूर्ण व्यवहार कालकुमार के साथ किया है, उसका फल भोगने के लिए उद्यत हो जाइये । त्रिखण्ड भरताधिपति महाराज जरासंध अपने कल्पान्त-कालोपम क्रोधानल में सब यादवों की भस्मीभूत कर डालने के लिए सदलबल आ रहे हैं । अब चाहे आप लोग समुद्र के उस पार चले जाओ, दुर्गम पर्वतों के शिखरों पर चढ़ जाओ, चाहे ईश्वर की भी शरसा में चले जाओ, तो भी किसी दशा में कहीं पर भी आप लोगों के प्राणों का त्राण नहीं है । अब तो आप लोग यदि डर कर पाताल में भी प्रवेश कर जाओगे तो भी क्रुद्ध शार्दूल जरासंध तुम्हारा सर्वनाश किये बिना नहीं रहेगा ।”

जरासन्ध के दूत के मुख से इस प्रकार की अत्यन्त कटु और धृष्टतापूर्ण बातें सुनकर अक्षोभ, अचल आदि दशाहों, बलराम-कृष्ण, प्रद्युम्न, शाम्ब और सब यदुसिंहों के भुजदण्ड फड़क उठे; यहां तक कि त्रैलोक्यैकधीर, अथाह

अम्बुधि-गम्भीर, किशोर अरिष्टनेमि की शान्त मुखमुद्रा पर भी हल्की सी लाली दृष्टिगोचर होने लगी। यादव योद्धाओं के हाथ अनायास ही अपने-अपने शस्त्रों पर जा पड़े।

महाराज समुद्रविजय ने इंगित मात्र से सबको शान्त करते हुए घनवत् गम्भीर स्वर में कहा—“दूत ! यदि यादवों के विशिष्ट गुणों पर मुग्ध हो स्नेह के वशीभूत होकर किसी देवी ने तुम्हारे सेनापति को मार दिया तो इसमें यादवों ने कौनसा छल-प्रपञ्च किया ?”

“यदि पीढ़ियों से चले आ रहे अपने परस्पर के प्रगाढ़ प्रेमपूर्ण सम्बन्धों को तोड़कर तेरा स्वामी सेना लेकर आ रहा है तो उसे आने दे। यादव भी भीरु नहीं हैं।”

भोज नरेश उग्रसेन ने कहा—“सुनो दूत ! तुम दूत हो और हमारे घर आये हुए हो, अतः यादव तुम्हें अवध्य समझकर क्षमा कर रहे हैं। अब व्यर्थ प्रलाप की आवश्यकता नहीं। जाओ और अपने स्वामी से कह दो कि जो कार्य प्रारम्भ कर दिया है, उसे आप शीघ्र पूर्ण करो।”<sup>१</sup>

### उस समय की राजनीति

दूत के चले जाने के अनन्तर दशार्ह, बलराम-कृष्ण, भोजराज उग्रसेन, मन्त्रपरिषद् और प्रमुख यादव मन्त्रणार्थ मन्त्रणाभवन में एकत्रित हुए। गुप्त मन्त्रणा प्रारम्भ करते हुए समुद्रविजय ने मन्त्रणा-परिषद् के समक्ष यह प्रश्न रखा—“हमें इस प्रकार की अवस्था में शत्रु के साथ किस नीति का अवलम्बन करते हुए कैसा व्यवहार करना चाहिये ?”

भोजराज उग्रसेन ने कहा—“महाराज ! राजनीति-विशारदों ने साम, भेद, उपप्रदान (दास) और दण्ड—ये चार नीतियाँ बताई हैं। जरासन्ध के साथ साम-नीति से व्यवहार करना अब पूर्णरूपेण व्यर्थ है क्योंकि अब वह हमारी ओर से किये गये मृदु से मृदुतर व्यवहार से भी छोड़े हुए भयानक काले नाग की तरह क्रुद्ध हो कर फूटकार कर उठेगा।”

“दूसरी जो भेदनीति है उसका भी जरासन्ध पर प्रयोग किया जाना असम्भव है क्योंकि भगधेश द्वारा अतिशय दान-मानादि से सुसमृद्ध एवं सम्मानित उसके समस्त सामन्त भगधपति के ऋण से उच्छ्रय होने के लिए उसके एक ही इंगित पर अपने सर्वस्व और प्राणों तक को न्यौछावर करने में अपना ग्रहोभाग्य समझते हैं।”

१ चउवन महापुरुष चरियम् [पृ० १८३-८४]

“तीसरी उपप्रदान (दाम) नीति का तो जरासंध के विरुद्ध प्रयोग करना नितान्त असाध्य है। क्योंकि जरासंध ने अपनी अनुपम उदारता से अपने समस्त सामन्तों, अधिकारियों एवं सैनिकों तथा दासादिकों को कंचन-कामिनी, मणिरत्नादि से पूर्ण वैभवसम्पन्न बना रखा है।”

“अतः चौथी दण्ड-नीति का अवलम्बन ही हमारे लिए उपादेय और श्रेयस्कर है।”

“इन चार नीतियों के अतिरिक्त नीति-निपुणों ने एक और उपाय भी बताया है कि अजेय प्रबल शत्रु से संघर्ष को टालने हेतु उसके समक्ष आत्म-समर्पण कर देना चाहिये अथवा अपने स्थान का परित्याग कर किसी अन्य स्थान की ओर पलायन कर जाना चाहिये।”

“पर ये दोनों प्रकार के हीन आचरण हमारे आत्म-सम्मान के घातक हैं और बलराम व कृष्ण जैसे पुरुषसिंह जब हमारे सहायक हैं, उस अवस्था में पलायन अथवा आत्म-समर्पण का प्रश्न ही नहीं उठता।”

“किन्तु दण्ड-नीति का अवलम्बन करते समय रण-नीति के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का अक्षरशः पालन करना होगा कि युद्ध में उलभा हुआ व्यक्तित्व अन्तिम विजय तक प्राण-पण से जूझता रहे और एक क्षणभर के लिए भी सुख और विश्राम की आकांक्षा न करे।”

उग्रसेन की साहस और नीतिपूर्ण बातों का सभी सभासदों ने ‘साधु-साधु’ कहकर एक स्वर से समर्थन करते हुए कहा—“घन्य है आपकी नीतिकुशलता, मार्मिक अभिव्यंजना और वीरोचित गौरव-गरिमा को। हम सब हृदय से आपका अभिनन्दन करते हैं।”

तदनन्तर सभी सभासद महाराज समुद्रविजय का अभिमत जानने के लिए उनकी ओर उत्कण्ठित हो देखने लगे।

महाराज समुद्रविजय ने गम्भीर स्वर में कहा—“महाराज उग्रसेन ने मानो मेरे ही मन की बात कह दी है। जिस प्रकार तीव्र ज्वर में सम अर्थात् ठंडी औषधि ज्वर के प्रकोप को भीषण रूप से बढ़ा देती है, उसी प्रकार अपने बल-दर्प से गर्वोन्मत्त शत्रु के प्रति किया गया साम-नीति का व्यवहार उसके दर्प को बढ़ाने वाला और अपनी भीरुता का द्योतक होता है।”

“भेद-नीति भी छल-प्रपञ्च, कुटिलता और वंचना से भरी होने के कारण गहिष्ठ और निन्दनीय है, अतः वह भी महापुरुषों की दृष्टि में हेय मानी गई है।”

“इसी तरह उपप्रदान की नीति भी आत्मसम्मान का हनन करने वाली व अपमानजनक है।”

“अतः अभिमानी जरासन्ध के गर्व को चूर-चूर करने के लिए हमें दण्ड-नीति का ही प्रयोग करना चाहिये और वह भी दुर्ग का आश्रय लेकर नहीं अपितु उसके सम्मुख जाकर उसकी सीमा पर उससे युद्ध के रूप में करना चाहिये। क्योंकि दुर्ग का आश्रय लेकर शत्रु से लड़ने में संसार के सामने अपनी भीरुता प्रकट होने के साथ ही साथ अपने राज्य के बहुत बड़े भाग पर शत्रु का अधिकार भी हो जाता है।”

शत्रु के सम्मुख जाकर उसकी सीमा पर युद्ध करने की दशा में अपनी भीरुता के स्थान पर पौरुष प्रकट होता है, अपने राज्य का समस्त भू-भाग अपने अधिकार में रहता है। शत्रु भी हमारे शौर्य एवं साहस से आश्चर्यचकित हो किर्कर्तव्यविमूढ हो जाता है। अपनी प्रजा और सैन्यबल का साहस तथा मनोबल बढ़ता है और अपनी सीमा-रक्षक सेनाएं भी युद्ध में हमारी सहायता कर सकती हैं। दण्ड-नीति के इन सब गुणों को ध्यान में रखते हुए हमारे लिए यही श्रेयस्कर है कि हम अपने शत्रु को उसके सम्मुख जाकर युद्ध में परास्त करें।”

### दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ

मन्त्रणा-परिषद् में उपस्थित सभी सदस्यों ने जयजयकार और हर्षध्वनि के साथ महाराज समुद्रविजय की मन्त्रणा की स्वीकार किया। शंख-ध्वनि और रणभेरी के नाद से समस्त गगनमण्डल गूँज उठा। मित्र राजाओं के पास तत्काल दूत भेज दिये गये। योद्धा रण-साज सजने लगे।

शुभ मुहूर्त में यादवों की चतुरंगिणी प्रबल सेना ने रणक्षेत्र की ओर प्रलयकालीन आंधी की तरह प्रयाण कर दिया। आषाढ़ की घनघोर मेघघटा के गर्जन तुल्य ‘घर-घर’ रव से गगनमण्डल को गुंजाते हुए रथों के पहियों से, तरल तुरंग-सेना की टापों से और पदाति सेना के पाद-प्रहारों से उड़ी हुई धूलि के समूहों ने अस्ताचल पर अस्त होने वाले सूर्य को मध्याह्न-वेला में ही अस्तप्रायः कर दिया।

इस तरह कूच पर कूच करती हुई यादवों की सेना कुछ ही दिनों में द्वारिका से ४५ योजन अर्थात् ३६० माइल (१८० कोस) दूर सरस्वती नदी के तटवर्ती सिनीपल्ली (सिणवल्लिया) नामक ग्राम के पास पहुँची और वहाँ

१ चउवन महापुरुष चरियम् [पृ १८४-८५]

रणक्षेत्र के लिए उपयुक्त समतल भूमि देख, वहाँ पर सैन्य-शिविरो का निर्माण करा समुद्रविजय ने सेना का पड़ाव डाल दिया ।<sup>१</sup>

यादवों की सेना के पड़ाव से आगे अर्थात् सेनपल्ली ग्राम से ४ योजन की दूरी पर जरासन्ध की सेना पड़ाव डाले हुए थी ।<sup>२</sup>

यादव सेना ने जिस समय सेनपल्ली में पड़ाव डाला उस समय अपने भ्रमणकाल में वसुदेव द्वारा उपकृत कतिपय विद्याधर-पति अपनी सेनाओं के साथ यादवों की सहायता के लिए वहाँ आये और उन्होंने समुद्रविजय-को प्रणाम कर निवेदन किया—“आपके महामहिम यादव कुल में यों तो महापुरुष अरिष्टनेमि एकाकी ही समस्त विश्व का त्राण और विनाश करने में समर्थ हैं, कृष्ण और बलदेव जैसे अनुपम बलशाली व प्रद्युम्न, शाम्ब आदि करोड़ों योद्धा हैं, वहाँ हमारे जैसे लोग आपकी सहायता कर ही क्या सकते हैं । तथापि हम भक्तिवश इस अवसर पर आपकी सेवा में आ गये हैं. अतः आप हमें अपने सामन्त समझ कर आज्ञा दीजिये कि हम भी आपकी यथाशक्ति सेवा करें । कृपा कर आप वसुदेव को हमारा सेनापति रखिये और शाम्ब एवं प्रद्युम्न को वसुदेव की सहायतार्थ हमारे साथ रखिये ।”

उन विद्याधरों ने समुद्रविजय से यह भी निवेदन किया “वैताढ्य गिरि के अनेक शक्तिशाली विद्याधर-राजा मगधराज जरासन्ध के मित्र हैं और वे जरासन्ध की इस युद्ध में सहायता करने के लिये अपनी सेनाओं के साथ आ रहे हैं । आप हमें आज्ञा दें कि हम उन विद्याधर पतियों को वैताढ्य गिरि पर ही युद्ध करके उलझायें रखें ।”

समुद्रविजय ने कृष्ण की सलाह से वसुदेव, शाम्ब और प्रद्युम्न को विद्याधरों के साथ रहकर वैताढ्य गिरि के जरासन्ध-समर्थक विद्याधर राजाओं के साथ युद्ध करने का आदेश दिया । उस समय भगवान् अरिष्टनेमि ने अपनी

१ (क) कश्चय पयाणर्णह च पत्ता सरस्तीए तीरासण्णं सिगावल्लियाहियाणं गामं ति ।  
तत्थ य समथल समरजोग्ग भूमिभागम्मि आवासियो समुद्रविजज्जो ति ।  
[चउवन म. पु. च., पृ. १८६]

(ख) पंच चत्वारिंशत् तु योजनानि स्वकात् पुरात् ।

गत्वा तस्थी सेनपल्ल्यां, ग्रामे संग्राम कोविदः ॥

[त्रिषष्टि शलाका पु. च., पर्व ८, स. ७, श्लो. १६६]

२ अर्वात् जरासन्ध सैन्याच्चतुर्भिर्योजनैः स्थिते ।

[त्रिषष्टि म. पु. च., प. ८, सं. ७, श्लो. १६७]

भुजा पर जन्माभिषेक के समय देवताओं द्वारा बाँधी गई अस्त्रों के प्रभाव का निराकरण करने वाली औषधि वसुदेव को प्रदान की।<sup>१</sup>

### अमात्य हंस की जरासन्ध की सलाह

गुप्तचरों द्वारा यादवों की सेना के आगमन का समाचार सुन कर जरासन्ध के हंस नामक अमात्य ने जरासन्ध को समझाने का प्रयास करते हुए कहा—“त्रिखण्डाधिपते ! अपने हित तथा अहित की मन्त्रणा के पश्चात् ही प्रारम्भ किया हुआ कार्य श्रेयस्कर होता है। बिना मन्त्रणा किये कार्य करने के फलस्वरूप कंस काल का ग्रास बन गया। याद कीजिये, आपकी उपस्थिति में ही रोहिणी के स्वयंवर के समय अकेले वसुदेव ने सब राजाओं को पराजित कर दिया था। वसुदेव से भी बलिष्ठ समुद्रविजय ने अनेक बार आपकी सेनाओं की रक्षा की है। अब तो उनकी शक्ति में पहले से भी अधिक अभिवृद्धि हो चुकी है।”

“वसुदेव के पुत्र कृष्ण और बलराम दोनों ही अतिरथी हैं। इन दोनों का प्रबल प्रताप और ऐश्वर्य देखिये कि स्वयं वैश्रवणा ने इनके लिये अलका सी अनुपम द्वारिकापुरी का निर्माण किया है। महाकाल के समान प्रबल पराक्रमी भीम और अर्जुन, बलराम और कृष्ण के समान बल वाले शाम्ब एवं प्रद्युम्न आदि अगणित अजेय योद्धा यादव-सेना में हैं। यादव-सेना के अन्यान्य वीरों की नाम पूर्वक गणना की आवश्यकता नहीं, अकेले अरिष्टनेमि को ही ले लीजिये। वे एकाकी केवल अपने ही भुजबल से समस्त पृथ्वी को जीतने में समर्थ हैं।”

“इधर आपकी सेना में सबसे उच्चकांठि के योद्धा शिशुपाल और रुक्मी हैं, जिनका बल आप रुक्मिणी-हरण के समय देख चुके हैं कि किस तरह हलधर के हाथों वे पराजित हुए।”

“दुर्योधन और शकुनि कायरों की तरह केवल छल-बल ही जानते हैं, अतः उनकी वीरों में कहीं गणना ही नहीं की जा सकती। कर्ण अथाह समुद्र में मट्टी भर शककर के समान है क्योंकि यादव सेना में एक करोड़ महारथी हैं।”

“हमारी सेना में केवल आप ही एक अतिरथी हैं जबकि यादव-सेना में श्री अरिष्टनेमि, कृष्ण और बलराम ये तीन अतिरथी हैं। अच्युतेन्द्र आदि सभी सुरेन्द्र जिनके चरणों में भक्तिपूर्वक सिर झुकाते हैं, भला उन अरिष्टनेमि के साथ युद्ध करने का दुस्साहस कौन कर सकता है ?”<sup>२</sup>

१ तदा च वसुदेवाय प्रददेऽरिष्टनेमिना ।

जन्मस्तात्रे सुरैर्दोषिणः, बद्धौषधस्त्रवारणी ॥—[त्र. श. पु. च., पर्व ८, स. ७—श्लो. २०६]

२ नेमिः कृष्णो बलश्चातिरथाः परबले त्रयः । त्वमेक एव स्वबले बलयोर्महदन्तरम् ॥

अच्युताद्याः सुरेन्द्रा यं, नमस्कुर्वन्ति भक्तितः । तेन श्री नेमिना सार्धं, युद्धाय प्रोत्सहेव कम् ॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र प. ८ स. ७ श्लो. २२०—२१]



“जिस दिन आपका प्रिय पुत्र कालकुमार कुलदेवी द्वारा छलपूर्वक मार दिया गया, उसी दिन से आपका भाग्य आपसे विपरीत हो गया। नीति का अनुसरण करते हुए यादव शक्तिशाली होते हुए भी मथुरा से भागकर द्वारिका में जा बसे। अब भी कृष्ण स्वेच्छा से आपके साथ युद्ध करने नहीं आया है अपितु पूंछ पर पाष्ण-प्रहार कर जिस तरह भीषण काले विषधर को बिल से आकृष्ट किया जाता है, उसी प्रकार वह आपके द्वारा आकृष्ट किया जाकर आपके सम्मुख आया है।”

“इतना सब कुछ हो जाने पर भी अभी समय है। आप यदि इसके साथ युद्ध नहीं करेंगे तो यह अपने आप ही द्वारिका की ओर लौट जायगा।”

हंस के मुख से इस कटु-सत्य को सुनकर जरासन्ध आग-बबूला हो गया और उसे तिरस्कृत करते हुए बोला—“दुष्ट ! तेरे मुख से शत्रु की प्रशंसा मुन कर ऐसा आभास होता है कि इन मायावी यादवों ने तुझे भेद-नीति से अपनी ओर मिला लिया है। मूर्ख ! तू शत्रु की सराहना करके मुझे डराने का व्यर्थ प्रयास मत कर। आज तक कहीं कभी शृगालों की ‘हुकी-हुकी’ से सिंह डरा है? ये क्विकचन ग्वाले तेरे देखते ही देखते मेरी क्रोधाग्नि में जल कर भस्म हो जायेंगे।”

### दोनों सेनाओं की व्यूह-रचना

तदनन्तर दोनों सेनाओं ने व्यूह रचना आरम्भ की। जरासन्ध के सेना-नियों ने चक्रव्यूह की रचना की। उस चक्रव्यूह में एक हजार आरे रखे गये। प्रत्येक आरे पर एक-एक नृपति, एक सौ हाथी, २ हजार रथी, पाँच हजार अश्वारोही सैनिक और सोलह हजार प्रबल पराक्रमी, भीषण-संहारक शस्त्रा-स्त्रों से सुसज्जित पदाति-सैनिक, तैनात किये गये। चक्रनाभिके चारों ओर नियत किये गये ११२५० राजाओं के बीच त्रिखण्डाधिपति जरासन्ध ने उस चक्रव्यूह की नाभिके में इस भीषण युद्ध का संचालन करने के लिए मोर्चा सँभाला।

मगधेश्वर की पीछे की ओर गान्धार और सिन्धु जनपद की सेनाएं, दक्षिण-पार्श्व में दुर्योधन आदि १०० भाइयों की कौरव-सेनाएं, आगे की ओर मध्य-प्रदेश के सभी राजा और वाम-पार्श्व में अग्रणीत भूपतियों की सेनाएं मोर्चा सँभाले युद्ध के लिए तैयार खड़ी थीं।

चक्रव्यूह के इन एक हजार आरों की प्रत्येक संधि पर पाँच सौ शकट-व्यूहों की रचना की गई। प्रत्येक शकट-व्यूह के मध्य में एक-एक नृपति उन शकट-व्यूहों के समुचित संचालन के लिये नियत किये गये थे। उस चक्रव्यूह के चारों तरफ विविध प्रकार के अभेद्य व्यूहों की रचना की गई।

इस प्रकार महाकाल के आन्त्रजाल की तरह विशाल, दुर्गम, दुर्भेद्य, अजेय और सुदृढ़ चक्रव्यूह की रचना सम्पन्न हो जाने पर जरासन्ध ने अनेक भीषण युद्धों को जीतने वाले विकट योद्धा कौशल-नरेश हिरण्यनाभ को चक्रव्यूह के सेनापति पद पर अभिषिक्त किया ।

यादवों ने भी जरासन्ध के दुर्भेद्य चक्रव्यूह से टक्कर लेने में सक्षम, गरुड़ की तरह भीषण प्रहार करने वाले गरुड़-व्यूह की रचना की ।

गरुड़ के शौण्ड-तुण्ड (चोंच) के आकार के गरुड़-व्यूह के अग्रभाग पर पचास लाख उड्डत यादव-योद्धाओं के साथ कृष्ण और बलराम सन्नद्ध थे । कृष्ण-बलराम के पृष्ठभाग पर जराकुमार, अनाघृष्टि आदि सभी वसुदेव-पुत्र अपने एक लाख रथी-योद्धाओं के साथ तैनात थे । इनके पीछे उग्रसेन अपने पुत्रों सहित एक करोड़ रथारोही सैनिकों के साथ डटे थे । उग्रसेन की सहायता के लिए अपने योद्धाओं सहित घर, सारण आदि यदुवीर, उग्रसेन के दक्षिण-पार्श्व में प्रबल प्रतापी स्वयं महाराज समुद्रविजय अपने भाइयों, पुत्रों और अगणित सैनिकों के साथ शत्रु सेना के लिए काल के समान प्रतीत हो रहें थे ।

अतिरथी अरिष्टनेमि तथा महारथी महानेमि, सत्यनेमि, दृढ़नेमि, सुनेमि, विजयसेन, मेघ, महीजय, तेजसेन, जयसेन, जय और महाद्युति ये समुद्रविजय के पुत्र उनके दोनों पार्श्व में एवं अनेकों नृपति पञ्चीस लाख रथी-योद्धाओं के साथ परिपार्श्व में उनके सहायतार्थ सन्नद्ध थे ।

समुद्रविजय के वामपक्ष की ओर बलराम के पुत्र तथा धृतराष्ट्र के सी पुत्रों का संहार करने के लिये कृत-संकल्प पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपनी सेना के साथ भीषण संहारक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित खड़े थे । पाण्डवों के पीछे की ओर २५ लाख रथारूढ़ सैनिकों के साथ सात्यकि आदि अनेक महारथी तथा इनके पृष्ठ-भाग में ६० लाख रथी सैनिकों के साथ सिंहल, बर्बर, कम्बोज, केरल और द्रविड़ राज्यों के महीपाल अपनी सेनाओं के साथ नियुक्त किये गये ।

पंख फैला कर विषधरों पर विद्युत् वेग से झपटते हुए गरुड़ की मुद्रा के आकार वाले इस गरुड़-व्यूह के दोनों पक्षों के रक्षार्थ भानु, भामर, भीरुक, असित, संजय, शत्रुजय, महासेन, वृहद्ध्वज, कृतवर्मा आदि अनेक महारथी शक्तिशाली अश्वारोहियों, रथारोहियों, गजारोहियों एवं पदाति योद्धाओं के साथ नियुक्त किये गये थे ।

इस प्रकार स्वयं श्रीकृष्ण ने शत्रु पर भीषण प्रहार करने में गरुड़ के समान अत्यन्त शक्तिशाली अभेद्य गरुड़-व्यूह की रचना की ।

—

महाराज समुद्रविजय ने कृष्ण के बड़े भाई अनाघृष्टि को जब यादव-सेना का सेनापति नियुक्त किया, उस समय शंख आदि रणवाद्यों की ध्वनि एवं यादव-सेना के जय-घोषों से गगनमण्डल गूँज उठा। दोनों ओर के योद्धा भूखे मृगराज की तरह अपने-अपने शत्रुदल पर टूट पड़े।

भ्रातृ-स्नेह के कारण अरिष्टनेमि भी युद्ध के लिए रणांगण में जाने को तत्पर हुए। यह देखकर इन्द्र ने उनके लिए दिव्य शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित जैत्ररथ और अपने सारथि मातलि को भेजा। मातलि द्वारा प्रार्थना करने पर अरिष्टनेमि सूर्य के समान तेजस्वी रथ पर आरूढ़ हुए।<sup>१</sup>

दोनों व्यूहों के अग्रभाग पर स्थित दोनों पक्षों की रक्षक सेनाओं के योद्धा प्राणपण से अपने शत्रु का संहार करने में जुट गये। बड़ी देर तक भीषण संग्राम होता रहा पर उनमें से कोई भी अपने प्रतिपक्षी के व्यूह का भेदन नहीं कर सके।

अन्त में जरासन्ध के सैनिकों ने गरुड़-व्यूह के रक्षार्थ आगे की ओर लड़ती हुई यादव-सेना की सुदृढ़ अग्रिम रक्षार्पण को भंग करने में सफलता प्राप्त कर ली। उस समय कृष्ण ने गरुड़-ध्वज को फहराते हुए अपने सैनिकों को स्थिर किया। तत्काल महानेमि, अर्जुन और अनाघृष्टि ने अपने-अपने शस्त्रों के घोर निनाद के साथ क्रुद्ध हो जरासन्ध की अग्रिम सेना पर भीषण आक्रमण किया और प्रलय-पवन के वेग की तरह बढ़कर न केवल जरासन्ध के चक्रव्यूह की रक्षक सेनाओं का ही संहार किया अपितु चक्रव्यूह को भी तीन ओर से तोड़कर उसमें तीन बड़ी-बड़ी दरारें डाल दीं। ये तीनों महान् योद्धा प्रलयकाल की घनघोर घटाओं के समान शरवर्षा करते हुए शत्रु-सेना के अग्रणीत उद्भट योद्धाओं को धराशायी करते हुए जरासन्ध के चक्रव्यूह में काफी गहराई तक घुस गये। इनके पीछे यादव-सेना की अन्य पंक्तियाँ भी चक्रव्यूह के अन्दर प्रवेश कर शत्रु-सैन्य का दलन करने लगीं।<sup>२</sup>

१ भ्रातृस्नेहाद्युत्सुं च शक्रो विज्ञाय नेमिनम् ।

प्रैषीद्वषं मातलिनो, जैत्रं शस्त्रांचितं निजम् ॥२६१॥

सूर्योदयमिवातन्वन्, स रथो रत्नभासुरः ।

उपानीतो मातलिनालंचक्रेऽरिष्टनेमिना ॥२६२॥

२ उद्वेलित विशुब्ध समुद्र की तरह बढ़ती हुई जरासन्ध की विशाल सेना को अरिष्टनेमि द्वारा पराजित करने का आचार्य शीलांक ने चउवन महापुरिस चरियं में इस प्रकार वर्णन किया है :—

अह्णारव तथ्य थक्कइ कडिणगुणप्पहर किराइयपउट्ठो ।

तेल्लोक्कमदिरक्खंभविग्भमोऽरिट्ठवरणोमी ॥११४॥

तत्रो आयाण्णायइइयि चंडकोयंडमुक्कसरपसरेण लीहायइइयिं व. तुलिय तेल्लोक्कधीरमुप्पण्णाययावेणं थंभियं व, अचित्तसत्तिसामत्थयामंतेण भोहिंयं व चरियं पराणीयं । एत्थावसरम्मि य एकपाससंगलन्तकुमारणुगधरामकेसवं, अण्णाम्भो भीम अण्णुण-राउल-सहदेवाहिट्ठियजुहिट्ठिलं. अण्णाम्भो भोयण्णरिंदोववेयससहोदर-समुद्धविजयं पयट्ठियं पहाणसमरं ति ।

[च० म० पु० च०, पृ० १८८]

महानेमि, अर्जुन और अनाघृष्टि निरन्तर जरासन्ध की सेना को अर्कतूल (आक की रूई) की तरह धुनते हुए आगे बढ़ने लगे। इन तीनों महारथियों ने शत्रु-सेना में प्रलय मचा दी। अर्जुन के गाण्डीव धनुष की टंकारों से जरासन्ध की सेना के हृदय धड़क उठे, उसके द्वारा की गई शरवर्षा से दिशाएं ढँक गईं और अंधकार सा छागया। तीव्र वेग से शत्रु-सेना में बढ़ते हुए अर्जुन से युद्ध करने के लिए दुर्योधन अपनी सेना के साथ उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ। अनाघृष्टि रौघिर और महानेमि से रुक्मी युद्ध करने लगे।

इन छहों वीरों का बड़ा भीषण युद्ध हुआ। दुर्योधन, रुक्मी और रौघिर की रक्षार्थ जरासन्ध के अनेक योद्धा मिलकर अर्जुन अनाघृष्टि और महानेमि पर शस्त्रास्त्रों से प्रहार करने लगे। महानेमि ने रुक्मी के रथ को चूर-चूर कर दिया और उसके सब शस्त्रास्त्रों को काटकर उसे शस्त्र-विहीन कर दिया। शत्रुंजय आदि सात राजाओं ने देखा कि रुक्मी महानेमि के द्वारा काल के गाल में जाने ही वाला है, तो वे सब मिलकर महानेमि पर टूट पड़े। शत्रुंजय द्वारा महानेमि पर चलाई गई भीषण ज्वाला-मालाकुला-अमोघ शक्ति को अरिष्टनेमि की अनुज्ञा प्राप्त कर मातलि ने महानेमि के बाण में अस्त्र आरोपित कर विनष्ट कर दिया।

इस तरह युद्ध भीषणतर होता गया। इस युद्ध में अर्जुन ने जयद्रथ और कर्ण को मार डाला। भीम ने दुर्योधन, दुःशासन आदि अनेक घृतराष्ट्र पुत्रों को मौत के घाट उतार दिया। महाबली भीम ने जरासन्ध की सेना के हाथियों को हाथियों से, रथों को रथों से और घोड़ों को घोड़ों से भिड़ाकर शत्रु-सेना का भयंकर संहार कर डाला।

युधिष्ठिर ने शल्य को, सहदेव ने शकुनि को रणक्षेत्र में हरा कर यमधाम पहुँचा दिया। महाराज समुद्रविजय के जयसेन और महीजय नामक दो पुत्र जरासन्ध के सेनापति हिरण्यनाभ से लड़ते हुए युद्ध में काम आये। सात्यकि ने भूरिश्रवा को मौत के घाट उतार दिया। महानेमि ने प्राग्योतिषपति भगदत्त को और उसके मदोन्मत्त हस्ति-श्रेष्ठ को मार डाला।

यादव-सेना के सेनापति अनाघृष्टि ने जरासन्ध की सेना के सेनापति हिरण्यनाभ के साथ युद्ध करते हुए उसके धनुष को टुकड़े करके रथ को भी नष्ट कर डाला और उसे पदाति, केवल असिपाणि देख कर वे भी अपने रथ से तलवार लिये कूद पड़े। दोनों सेनाओं के सेनापतियों का अद्भुत असियुद्ध बड़ी देर तक होता रहा। अन्त में अनाघृष्टि ने अपनी तलवार से हिरण्यनाभ के सिर को धड़ से अलग कर दिया।

अपने सेनापति हिरण्यनाभ के मारे जाते ही जरासन्ध की सेना में हाहाकार और भगदड़ मच गई एवं यादव-सेना के जयघोषों से नभमण्डल प्रतिध्वनित हो उठा ।

उस समय अंशुमाली अस्ताचल की ओट में अस्त हो चुके थे, अतः दोनों सेनाएं अपने-अपने शिविरों की ओर लौट गईं ।

जरासंध ने अपने सेनानायकों और मन्त्रियों से मंत्रणा कर सेनापति के स्थान पर शिशुपाल को अभिषिक्त किया ।

दूसरे दिन भी यादव-सेना ने गरुड़-व्यूह और जरासन्ध की सेना ने चक्रव्यूह की रचना की और दोनों सेनाएं रणक्षेत्र में आमने-सामने आ डटीं । रणवाद्यों और शंख-ध्वनि के साथ ही दोनों सेनाएं क्रुद्ध हो भीषण हुंकार करती हुई रणक्षेत्र में जूझने लगीं ।

क्रुद्ध जरासन्ध धनुष की प्रत्यंचा से टंकार करता हुआ बलराम एवं कृष्ण की ओर बढ़ा । जरासन्ध-पुत्र युवराज यवन भी बड़े वेग से अक्रूरादि वसुदेव के पुत्रों पर शरवर्षा करता हुआ आगे बढ़ा । देखते ही देखते संग्राम बड़ा वीभत्स रूप धारण कर गया ।

सारण कुमार ने तलवार के एक ही प्रहार से यवन कुमार का सिर काट गिराया । अपने पुत्र की मृत्यु से क्रुद्ध हो जरासन्ध यादव-सेना का भीषण रूप से संहार करने लगा । उसने बलराम के आनन्द आदि दश पुत्रों को बलि के बकरों की तरह निर्दयतापूर्वक काट डाला ।

जरासन्ध द्वारा दश यदुकुमारों और अनेक योद्धाओं का संहार होते देखकर यादवों की सेना के पैर उखड़ गये । खिल-खिलाकर अट्टहास करते हुए शिशुपाल ने कृष्ण से कहा --“अरे कृष्ण ! यह गोकुल नहीं है, रणक्षेत्र है ।”

शिशुपाल से कृष्ण ने कहा—“शिशुपाल ! अभी तू भी उनके पीछे-पीछे ही जाने वाला है ।”

कृष्ण का यह वाक्य शिशुपाल के हृदय में तीर की तरह चुभ गया और उसने कृष्ण पर अनेक दिव्यास्त्रों की वर्षा के साथ-साथ गालियों की भी वर्षा प्रारम्भ कर दी ।

कृष्ण ने शिशुपाल के धनुष, कवच और रथ की धञ्जियां उड़ा दीं । जब शिशुपाल तलवार का प्रहार करने के लिए कृष्ण की ओर लपका तो कृष्ण ने उसके मुकुट, तलवार और सिर को काट कर पृथ्वी पर गिरा दिया ।

अपने सेनापति शिशुपाल का अपने ही समक्ष वध होते देख कर जरासंध अत्यन्त क्रुद्ध हो विक्रान्त-काल की तरह अपने पुत्रों और राजाओं के साथ कृष्ण

की ओर झपटा तथा यादवों से कहने लगा—“यादवो ! क्यों वृथा ही मेरे हाथ से मरना चाहते हो ? अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, यदि प्राणों का प्राण चाहते हो तो कृष्ण और बलराम—इन दोनों ग्वालों को पकड़ कर मेरे सम्मुख उपस्थित कर दो ।”

जरासन्ध की इस बात को सुनते ही यादव योद्धाओं से भ्रम और घनुषों से बाण बरसाते हुए जरासन्ध पर टूट पड़े । पर भकेले जरासन्ध ने ही तीव्र बाणों के प्रहार से उन भ्रमणित योद्धाओं को बंध डाला । यादव-सेना इधर-उधर भागने लगी ।

जरासन्ध के २८ पुत्रों ने एक साथ बलराम पर आक्रमण किया । एकाकी बलराम ने उन सब जरासन्ध-पुत्रों के साथ घोर संग्राम किया और जरासन्ध के देखते ही देखते उन भद्राइसों ही जरासन्ध-पुत्रों को अपने हल द्वारा अपनी ओर खींच कर मूसल के प्रहारों से पीस डाला ।

अपने पुत्रों का युगपद्विनाश देखकर जरासन्ध ने क्रोधाभिभूत हो बलराम पर गदा का भीषण प्रहार किया । गदा-प्रहार से घायल हो रुधिर का वमन करते हुए बलराम मूर्च्छित हो गये । बलराम पर दूसरी बार गदा-प्रहार करने के लिए जरासन्ध को आगे बढ़ते देख कर अर्जुन विद्युत् वेग से जरासन्ध के सम्मुख आ खड़ा हुआ और उससे युद्ध करने लगा ।

बलराम की यह दशा देखकर कृष्ण ने क्रुद्ध हो जरासन्ध के सम्मुख ही उसके अवशिष्ट १६ पुत्रों को मार डाला ।

यह देख जरासन्ध क्रोध से तिलमिला उठा । “यह बलराम तो मर ही जायेगा, इसे छोड़ कर अब इस कृष्ण को मारना चाहिये” यह कहकर वह कृष्ण की ओर झपटा ।

“ओहो ! अब तो कृष्ण भी मारा गया” सब ओर यह ध्वनि सुनाई देने लगी ।

यह देख कर मातलि ने हाथ जोड़ कर अरिष्टनेमि से निवेदन किया—  
“त्रिलोकनाथ ! यह जरासन्ध आपके सामने एक तुच्छ कीट के समान है । आपकी उपेक्षा के कारण यह पृथ्वी को यादवविहीन कर रहा है । प्रभो ! यह आप जन्म से ही सावध (पापपूर्णा) कार्यों से पराङ्मुख हैं, तथापि मनु हाथा जो आपके कुल का विनाश किया जा रहा है, इस समय आपको उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । नाथ ! अपनी थोड़ी सी लीला दिखाइये ।”

**अरिष्टनेमि का सौर्य-प्रवर्तन और कृष्ण द्वारा जरासन्ध-बध**

मातलि की प्रार्थना सुन अरिष्टनेमि ने बिना किसी प्रकार की उत्तेजना के सहज भाव में ही पौरंदर शंख का घोष किया । उस शंख के नाद से दसों

दिशाएं, सारा नभोमण्डल और शत्रु काँप उठे, यादव आश्वस्त हो पुनः युद्ध में जुझने लगे ।

अरिष्टनेमि की आज्ञा से मातलि ने रथ को भीषण बर्तुल-वात की तरह धुमाया । उसी समय अभिनव वारिदघटा की तरह अरिष्टनेमि ने जरासन्ध की सेना पर शरवर्षा आरम्भ की और शत्रु-सैन्य के रथों, ध्वजाओं, धनुषों और मुकुटों को उन्होंने शरवर्षा से चूर्ण-त्रिचूर्ण कर डाला !

इस तरह प्रभु ने बहुत ही स्वल्प समय में एक लाख शत्रु-योद्धाओं को नष्ट कर डाला । प्रलयकाल के प्रखर सूर्य सदृश प्रचण्ड तेजस्वी प्रभु की ओर शत्रु ग्रास उठा कर भी नहीं देख सके ।

प्रतिवासुदेव को केवल वासुदेव ही मारता है,—इस अटल नियम को असुष्ण बनाये रखने के लिए अरिष्टनेमि ने जरासन्ध को नहीं मारा किन्तु अपने रथ को मनोवेग से शत्रु-राजाओं के चारों ओर घुमाते हुए जरासन्ध की सेना को अवरुद्ध किये रखा ।<sup>१</sup>

श्री अरिष्टनेमि के इस अत्यन्त अद्भुत, अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण क्रोध, तेज तथा शौर्य से यादवों की सेना में नवीन उत्साह एवं साहस भर गया और वह शत्रु-सेना पर पुनः भीषण प्रहार करने लगी ।

गदा के घातक प्रहार का प्रभाव कम होते ही बलराम हल-मूसल संभाले शत्रु-सेना का संहार करने लगे । समस्त रण-क्षेत्र टूटे हुए रथों, मारे गये हाथियों, घोड़ों एवं काटे हुए मानव-मुण्डों और हण्डों से पटा हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था ।

अपनी सेना के भीषण संहार से जरासन्ध तिलमिला उठा । उसने अपने रथ की श्रीकृष्ण की ओर बढ़ाया और अत्यन्त क्रुद्ध हो कहने लगा—“ओ ग्वाले ! तू अभी तक गीदड़ की तरह केवल छल-बल पर ही जीवित है । कंस और कालकुमार को तूने कपट से ही मारा है । ले, अब मैं तेरे प्राणों के साथ ही तेरी माया का अन्त कर जीवयशा की प्रतिज्ञा को पूर्ण करता हूँ ।”

१ आकृष्टालण्डलधनुर्नवाभोद इव प्रभुः । बबर्ष सरचारामिः परितस्त्रासयन्नरीम् ॥४२८

अभांक्षीत् क्षमामुजा लक्षं स्वाम्येकोऽपि किरीटिनाम् ।

उद्भ्रान्तस्य महाम्भोधेः सानुमंतोऽपि के पुरः ॥४३१ ॥

परसैम्यानि रुद्ध्वास्थाच्छीनेमिभ्रमयन् रथम् ॥४३३ ॥

श्रीकृष्ण ने हँसते हुए कहा—“जरासन्ध ! मैं तुम्हारी तरह आत्मश्लाघा करना तो नहीं जानता, पर इतना बताये देता हूँ कि तुम्हारी पुत्री जीवयशा की प्रतिज्ञा तो उसके अग्नि-प्रवेश से ही पूर्ण होगी ।”

श्रीकृष्ण के उत्तर से जरासन्ध की क्रोधाग्नि और भभक उठी । उसने अपने धनुष की प्रत्यंघा को आकर्णान्त खींचते हुए कृष्ण पर बाणों की वर्षा प्रारम्भ कर दी । कृष्ण उसके सब बाणों को बीच में ही काटते रहे । दोनों उस्कट योद्धा एक दूसरे पर भीषण शस्त्रों और दिव्यास्त्रों से प्रहार करते हुए युद्ध करने लगे । उन दोनों के तीव्रगामी भारी-भरकम रथों की घोर धरधराहट से नभो-मण्डल फटने सा लगा और धरती काँपने लगी ।

कृष्ण पर अपने सब प्रकार के घातक और अमोघ शस्त्रास्त्रों का प्रयोग कर चुकने के पश्चात् जब जरासन्ध ने देखा कि उन दिव्यास्त्रों से कृष्ण का बाल भी बाँका नहीं हुआ है तो उसने क्रुद्ध हो अपने अन्तिम अमोघ-शस्त्र चक्र को कृष्ण की ओर प्रेषित किया । ज्वाला-मालाओं को उगलता हुआ कल्पान्तकालीन सूर्य के समान दुर्निरीक्ष्य वह चक्ररत्न प्रलयकालीन मेघ की अमित घटाओं के समान गर्जना करता हुआ श्रीकृष्ण की ओर बढ़ा ।

उस समय समस्त यादव-सेना त्रस्त हो स्तब्ध सी रह गई । अर्जुन, बलराम, कृष्ण और अन्य यादव योद्धाओं ने चक्र को चकनाचूर कर डालने के लिए अमोघ दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया, पर सब निष्फल । चक्र कृष्ण की ओर बढ़ता ही गया । देखते ही देखते चक्र ने अपने मध्य भाग के धुरि-स्थल से कृष्ण के वज्र-कपाटोपम वक्षःस्थल पर हल्का सा प्रहार किया, मानो चिर-काल से बिहड़ड़ा मित्र अपने प्रिय मित्र से, वक्ष से वक्ष लगा मिल रहा हो । तदनन्तर वह चक्र कृष्ण की तीन बार प्रदक्षिणा कर उनके दक्षिण पार्श्व में, उनके दक्षिण-स्कंध से कुछ ऊपर इस प्रकार स्थिर हो गया,<sup>१</sup> मानो भेद-नीति-कुशल कृष्ण ने उसे भेद-नीति से अपना बना लिया हो ।

कृष्ण ने तत्काल अपने दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली पर चक्ररत्न को धारण किया और अनादिकाल से लोक में प्रचलित इस कहावत को चरितार्थ कर दिया कि पुण्यात्माओं के प्रभाव से दूसरों के शस्त्र भी उनके अपने हो जाते हैं ।

१ एत्य तुम्बेन तच्चक्रं कृष्णं वक्षस्यताडयत् ॥४३०॥

[त्रिषष्टि श. पु. च., प. ८, म. ७]

२ तं च पयाहिणीकाऊणं पलगं केसवकरयलम्भि ।

[चउवन महापुरिस चरियं, पृ० १८६]



आकाश की अदृश्य शक्तियों ने इस घोषणा के साथ कि “नवें वासुदेव प्रकट हो गये हैं”, कृष्ण पर गन्धोदक और पुष्पों की वर्षा की।

करुणाद्रं कृष्ण ने जरासन्ध से कहा—“भगधराज ! क्या यह भी मेरी कोई माया है ? अब भी समय है कि तुम मेरे आज्ञानुवर्ती होकर अपने घर लौट जाओ और आनन्द के साथ अपनी सम्पदा का उपभोग करो। दुःख के मूल कारण मान को छोड़ दो।”

पर अभिमानी जरासन्ध ने बड़े गर्व के साथ कहा—“जरा मेरे चक्र की मेरी ओर चला कर तो देख !”

बस, फिर क्या था, कृष्ण ने चक्ररत्न को जरासन्ध की ओर घुमाया। उसने तत्काल जरासन्ध का सिर काट कर पृथ्वी पर लुढ़का दिया।

यादव विजयोल्लास में जयजयकार से दशों दिशाओं को गुंजाने लगे।

भगवान् अरिष्टनेमि ने भी अपने रथ की वतुंलाकारगति से अवरुद्ध सब राजाओं को मुक्त कर दिया। उन सब राजाओं ने प्रभु-चरणों में नमस्कार करते हुए कहा—“करुणासिन्धो ! जरासन्ध और हम लोगों ने अपनी मूढ़तावश स्वयं का सर्वनाश किया है। जिस दिन आप यदुकुल में अवतरित हुए, उसी दिन से हमें समझ लेना चाहिए था कि यादवों को कोई नहीं जीत सकता। अस्तु, अब हम लोग आपकी शरण में हैं।”

अरिष्टनेमि उन सब राजाओं के साथ कृष्ण के पास पहुँचे। उन्हें देखते ही श्रीकृष्ण रथ से कूद पड़े और अरिष्टनेमि का प्रगाढ़ आलिंगन करने लगे। अरिष्टनेमि के कहने पर श्रीकृष्ण ने उन सब राजाओं के राज्य उन्हें दे दिये। समुद्रविजय के कहने से जरासन्ध के पुत्र सहदेव को मगध का चतुर्थीरा राज्य दिया।

तदनन्तर पाण्डवों को हस्तिनापुर का, हिरण्यनाभ के पुत्र रुक्मनाभ को कोशल का और समुद्रविजय के पुत्र महानेमि को शौर्यपुर का तथा उग्रसेन के पुत्र धर को मथुरा का राज्य दिया।

सूर्यास्त के समय श्री अरिष्टनेमि की आज्ञा से मातलि ने सौधर्म स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया और यादव-सेना अपने शिविर की ओर लौट पड़ी।

उसी समय तीन विद्याधरियों ने नभोमार्ग से आकर समुद्रविजय को सूचना दी कि जरासन्ध के सहायतार्थ इस युद्ध में सम्मिलित होने हेतु आने वाले त्रैताड्यगिरि के त्रिविध विद्याओं के बल से अजेय विद्याधर राजाओं को वसुदेव,

प्रद्युम्न, शाम्ब और वसुदेव के मित्र विद्याधर राजाओं ने वहीं पर युद्ध में उलझाये रखा था। जरासन्ध की पराजय और मृत्यु के समाचार सुन कर जरासन्ध के समर्थक सभी विद्याधर राजा वसुदेव के चरण-शरणा में आ गये। प्रद्युम्न एवं शाम्ब के साथ उन्होंने अपनी कन्याओं का विवाह कर दिया। अब वे सब यहाँ आ रहे हैं।

यादवों के शिविर में महाराज समुद्रविजय आदि सभी यादव-प्रमुख विद्याधरियों के मुख से वसुदेव आदि के कुशल-मंगल और शीघ्र ही आगमन के समाचार सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। थोड़ी ही देर में वसुदेव, प्रद्युम्न, शाम्ब और मुकुटधारी अनेक विद्याधरपति वहाँ आ पहुँचे और सबने समुद्रविजय आदि पूज्यों के चरणों में सिर झुकाया।

यादव-सेना ने अपनी महान् विजय के उपलक्ष्य में बड़े ही समारोह के साथ आनन्दोत्सव मनाया। अपने इस आनन्दोत्सव की याद को चिरस्थायी बनाने के लिए यादवों ने अपने शिविर के स्थान पर सिनपल्ली ग्राम के पास सरस्वती नदी के तट पर आनन्दपुर नामक एक नगर बसाया।<sup>१</sup>

तदनन्तर तीन खण्ड की साधना करके श्रीकृष्ण समस्त यादवों और यादव-सेनाओं के साथ द्वारिकापुरी पहुँचे और सभी यादव वहाँ विविध भोगोपभोगों का आनन्दानुभव करते हुए बड़े सुख से रहने लगे।

महाराज समुद्रविजय, महारानी शिवादेवी और सभी यादव-मुख्यों ने कुमार अरिष्टनेमि से बड़े दुलार के साथ विवाह करने का अनेक बार अनुरोध किया, पर कुमार अरिष्टनेमि तो जन्म से ही संसार से विरक्त थे। उन्होंने हर बार विवाह के प्रस्ताव को गम्भीरतापूर्वक यह कहकर टाल दिया—“नारी वास्तव में भवभ्रमण के घोर दुःखसागर में गिराने वाली है। मैं संसार के भव-चक्र में परिभ्रमण करते-करते बिल्कुल थक चुका हूँ, अब इस बिकट भवाटवी में भटकने का कोई काम करूँ, ऐसी किञ्चित् भी इच्छा नहीं है। अतः मैं इस विवाह के चक्र से सदा कोसों दूर ही रहूँगा।” समुद्रविजयजी को नेमकुमार को मनाने में सफलता नहीं मिली।

### अरिष्टनेमि का अलौकिक बल

एक दिन कुमार अरिष्टनेमि यादव कुमारों के साथ घूमते हुए वासुदेव कृष्ण की आयुधशाला में पहुँच गये। उन्होंने वहाँ श्रीष्मकालीन मध्याह्न के सूर्य के समान अतीव प्रकाशमान सुदर्शन चक्र, शेषनाग की तरह भयंकर शाङ्ग, धनुष, कौमोदकी गदा, नन्दक तलवार और वृहदाकार पांचजन्य शंख को देखा।

१ .....तत्रानन्दपुरं चक्रे सिनपल्लीपदे पुरम् ॥२६॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष करिष, पर्व, च, सर्ग, ८]

कुमार अरिष्टनेमि को कौतुक से शंख की ओर हाथ बढ़ाते देख चारुकृष्ण नामक आयुधशाला-रक्षक ने कुमार को प्रणाम कर कहा—“यद्यपि आप श्रीकृष्ण के भ्राता हैं और निस्संदेह प्रबल पराक्रमी भी हैं, फिर भी इस शंख को पूरना तो दूर रहा, आप इसको उठाने में भी समर्थ नहीं होंगे। इसको तो केवल श्रीकृष्ण ही उठा और बजा सकते हैं, अतः आप इसे उठाने का वृथा प्रयास न कीजिये।”

रक्षक पुरुष की बात सुनकर कुमार अरिष्टनेमि ने मुस्कराते हुए अनायास ही शंख को उठा अघर-पल्लवों के पास ले जाकर पूर (बजा) दिया।

प्रथम तो कुमार अरिष्टनेमि तीर्थंकर होने के कारण अनन्त शक्ति-सम्पन्न थे, फिर पूर्ण ब्रह्मचारी थे, अतः उनके द्वारा पूरे गये पांचजन्य की ध्वनि से लवण समुद्र में भीषण उत्ताल तरंगें उठीं और उछल-उछल कर बड़े वेग के साथ द्वारिका के प्राकार से टकराने लगीं। द्वारिका के चारों ओर के नगाधिराजों के शिखर और द्वारिका के समग्र भव्य-भवन धरा उठे। औरों का तो ठिकाना ही क्या, स्वयं श्रीकृष्ण और बलराम भी क्षुब्ध हो उठे। खम्भों में बंधे हाथी खम्भों को उखाड़, लौह शृंखलाओं को तोड़ चिंघाड़ते हुए अघर-उघर वेग से भागने लगे, द्वारिका के नागरिक उस शंख के प्रतिघोर निर्घोष से मूर्च्छित हो गये और शंखनिनाद के अत्यन्त सन्निकट होने के कारण शस्त्रागार के रक्षक तो मृतप्राय ही हो गये।

श्रीकृष्ण साश्चर्य सोचने लगे—“इस प्रकार इतने अपरिमित वेग से शंख बजाने वाला कौन हो सकता है? क्या कोई चक्रवर्ती प्रकट हो गया है अथवा इन्द्र पृथ्वी पर आया है? मेरे शंख के निर्घोष से तो सामान्य भूपति ही भौंचक्के होते हैं, पर शंख के इस अद्भुत निर्घोष से तो मैं स्वयं और बलराम भी क्षुब्ध हो गये।”

थोड़ी ही देर में आयुधशाला के रक्षक ने वहाँ आकर कृष्ण से निवेदन किया—“देव! कुतूहलवश कुमार अरिष्टनेमि ने आयुधशाला में पांचजन्य शंख बजाया है। यह सुनकर कृष्ण बहुत विस्मित हुए, पर उन्हें उस बात पर विश्वास नहीं हुआ। उसी समय कुमार अरिष्टनेमि वहाँ आ पहुँचे। कृष्ण ने प्रतिशय आश्चर्य, स्नेह एवं आदरयुक्त मनःस्थिति में अरिष्टनेमि को अपने अर्द्धसिंहासन पर पास बैठाया और बड़े दुलार से पूछा—“प्रिय भ्रात! क्या तुमने पांचजन्य शंख बजाया था, जिसके कारण कि सारा वातावरण अभी तक विक्षुब्ध हो रहा है?”

कुमार अरिष्टनेमि ने सहज स्वर में उत्तर दिया—“हाँ भैया।”

कृष्ण ने स्नेहातिरेक से कुमार अरिष्टनेमि को अंक में भरते हुए कहा—  
“मुझे प्रसन्नता हो रही है कि मेरे छोटे भाई ने वाञ्छजन्य शंख को बजाया है।  
आज तक मेरी यह धारणा थी कि इसे मेरे अतिरिक्त कोई नहीं बजा सकता।  
कुमार ! अपन दोनों भाई व्यायामशाला में चलकर बल-परीक्षा करलें कि  
किसमें कितना अधिक बल है।”

कुमार अरिष्टनेमि ने सहज सरल स्वर में कहा—“जैसी आपकी इच्छा।”

यादव कुमारों से विरे हुए दोनों नर-शार्दूल व्यायामशाला में पहुँचे।

सहज करुणाद्रं कुमार अरिष्टनेमि ने मन ही मन सोचा—“कहीं मेरी  
भुजाओं, वक्ष और जंघाओं के संघर्ष से मल्लयुद्ध में मेरे बल से अनभिज्ञ बड़े  
भाई कृष्ण को पीड़ा न हो जाय।” यह सोचकर उन्होंने कहा—“भैया ! भू-  
लुण्ठनादि क्रिया वाले इस ग्राम्य मल्लयुद्ध की अपेक्षा बाहु को भुकाने से भी बल  
का परीक्षण किया जा सकता है।”

श्रीकृष्ण ने कुमार अरिष्टनेमि से सहमति प्रकट करते हुए अपनी प्रचण्ड  
विशाल दाहिनी भुजा फैला दी और कहा—“कुमार ! देखें, इसे भुकाना।”

कुमार अरिष्टनेमि ने बिना प्रयास के सहज ही में कमल की कोमल डण्डी  
की तरह कृष्ण की भुजा को भुका दिया।

श्रीकृष्ण ने कहा—“अच्छा कुमार ! अब तुम अपनी भुजा फैलाओ।”

कुमार अरिष्टनेमि ने भी सहज-मुद्रा में अपनी भुजा फैलाई।

श्रीकृष्ण ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर कुमार अरिष्टनेमि की भुजा को  
भुकाने का प्रयास किया पर वह किंचित् मात्र भी नहीं भुकी। अन्त में कृष्ण ने  
अपने दोनों वज्र-कठोर हाथों से कुमार अरिष्टनेमि की भुजा को कस कर पकड़ा  
और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से अपने पैरों को भूमि से ऊपर उठा शरीर का सारा  
भार भुजा पर पटकते हुए बड़े जोर कः भटका लगाया, वे कुमार अरिष्टनेमि की  
भुजा पकड़े अधर भूलने लगे पर कुमार की भुजा को नहीं भुका सके।

श्रीकृष्ण को कुमार का अपरिमित बल देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ।  
उन्होंने कुमार की भुजा छोड़कर उन्हें हृदय से लगा लिया और बोले—“प्रिय  
अनुज ! मुझे तुम्हारे अलौकिक बल को देखकर इतनी प्रसन्नता हुई है कि जिस  
प्रकार मेरे भुजबल के सहारे बलराम सभी योद्धाओं को तुच्छ समझते हैं, उसी  
तरह मैं तुम्हारी शक्ति के भरोसे समस्त संसार के योद्धाओं को तृणावत्  
समझता हूँ।”

कुमार अरिष्टनेमि के चले जाने के अनन्तर कृष्ण ने बलराम से कहा—  
“भैया ! देखा आपने अपने छोटे भाई का बल ! मैं तो वृक्ष की डाल पर गोपबाल  
की तरह कुमार की भुजा पर लटक गया । इतना अपरिमित बल तो चक्रवर्ती  
और इन्द्र में भी नहीं होता । इतनी अमित शक्ति के होते हुए भी यह हमारा  
अनुज समग्र भरत के छःहों खण्डों को क्यों नहीं जीत लेता ?”

बलराम ने कहा—“चक्रवर्ती और इन्द्र से अधिक शक्तिशाली होते हुए भी  
कुमार स्वभाव से बिल्कुल शान्त हैं । उन्हें किंचित् मात्र भी राज्यलिप्सा  
नहीं है ।”

फिर भी कृष्ण के मन का सन्देह नहीं मिटा । उस समय आकाशवाणी  
हुई कि ये बाईसवें तीर्थंकर हैं, बिना विवाह किये ब्रह्मचर्याविस्था में ही प्रव्रजित  
होंगे ।

तदनन्तर कृष्ण ने अपने अन्तःपुर में जाकर कुमार अरिष्टनेमि को बुलाया  
और बड़े प्रेम से अपने साथ खाना खिलाया । कृष्ण ने अपने अन्तःपुर के रक्षकों  
को आदेश दिया कि कुमार अरिष्टनेमि को बिना रोक-टोक के समस्त अन्तःपुर  
में आने-जाने दिया जाय, क्योंकि ये पूर्णरूपेण निर्विकार हैं ।

कुमार अरिष्टनेमि सहज शान्त, भोगों से विमुक्त और निर्विकार भाव से  
सुखपूर्वक सर्वत्र विचरण करते । रुक्मिणी आदि सभी रानियाँ उनका बड़ा  
सम्मान रखतीं । कृष्ण उनके साथ ही खाते-पीते और क्रीड़ा करते हुए बड़े  
आनन्द से रहने लगे । कुमार नेमि पर कृष्ण का स्नेह दिन प्रति दिन बढ़ता  
ही गया ।

एक दिन उन्होंने सोचा—“नेमि कुमार का विवाह कर इन्हें दाम्पत्य  
जीवन में सुखी देख सकूँ तभी मेरा राज्य, ऐश्वर्य एवं भ्रातृ-प्रेम सही माने में  
सार्यक हो सकता है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि कुमार अरिष्ट-  
नेमि को भोग-मार्ग की ओर आकर्षित कर उनके मन में भोग-लिप्सा पैदा की  
जाय ।”

यह सोचकर श्रीकृष्ण ने अपनी सब रानियों से कहा—“मैं कुमार अरिष्ट-  
नेमि को सब प्रकार से सुखी देखना चाहता हूँ । मेरी यह आन्तरिक अभिलाषा  
है कि किसी सुन्दर कन्या के साथ उनका विवाह कर दिया जाय और वे विवा-  
हित जीवन का आनन्दोपभोग करें । पर कुमार सांसारिक भोगों के प्रति पूर्ण  
उदासीन हैं । अतः यह आवश्यक है कि विरक्त और भोगों से पराङ्मुख अरिष्ट-  
नेमि को हर सम्भव प्रयास कर विवाह करने के लिये राजी किया जाय ।”

रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियों ने श्रीकृष्ण की आज्ञा को सहर्ष शिरोधार्य करते हुए कहा—“महाराज ! बड़े-बड़े योगियों को भी योगमार्ग से विचलित कर देने वाली रमणियों के लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं है। हम हमारे प्रिय देवर को विवाह करने के लिए अवश्य सहमत कर लेंगी।”

### रुक्मिणी आदि का नेमिकुमार के साथ वसन्तोत्सव

श्रीकृष्ण के संकेतानुसार रुक्मिणी, सत्यभामा आदि ने वसंत-क्रीड़ा के निमित्त रेवताचल पर एक कार्यक्रम आयोजित किया। निर्विकार नेमिनाथ को भी अपने बड़े भाई कृष्ण द्वारा आग्रह करने पर वसन्तोत्सव में सम्मिलित होना पड़ा।

वसन्तोत्सव के प्रारम्भ में रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियों ने विविध रंगों और सुगन्धियों से मिश्रित पानी पिचकारियों और डोलियों में भर-भर कर कृष्ण और नेमिनाथ पर बरसाना प्रारम्भ किया। कृष्ण ने भी उन्हें उन्हीं के द्वारा लाये गये पानी से सराबोर कर दिया।

कृष्ण द्वारा किये गये जलधारा प्रपात से विचलित होकर भी वे बार-बार कृष्ण को चारों ओर से घेर कर पद्मपराग मिश्रित जल की अनवरत धाराओं से भिगोती हुई खिलखिलाकर हँसतीं। किन्तु कृष्ण और रानियों की विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं से नेमिकुमार आकृष्ट नहीं हुए। वे निर्विकार भाव से सारी लीला को देखते रहे, केवल अपनी भाभियों के विनम्र निवेदन का मान रखने कभी-कभी उनके द्वारा उँडले गये पानी के उत्तर में उन पर कुछ पानी उँडेल देते।

बड़ी देर तक विविध हासोल्लास से फाग खेला जाता रहा। वारिधाराओं की तीव्र बौछारों से सब के नेत्र लाल हो चुके थे। अब सभी रानियाँ मिल कर नेमिनाथ के साथ फाग खेलने लगीं। निर्विकार रूप से नेमिकुमार भी अपने पर अनेक बार पानी उँडेलने पर उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में एक दो बार उन पर पानी उछाल देते।

अपने प्रिय छोटे भाई नेमिकुमार को फाग खेलते देख कर कृष्ण अलग-हो, सरोवर में जल-क्रीड़ा करने लगे। फिर क्या था, अब तो सभी सुन्दरियों ने आपस में सलाह कर नेमिनाथ को अपना मुख्य लक्ष्य बना लिया। वे उन्हें मोह राग और भोग-मार्ग में आकर्षित कर वैवाहिक बन्धन में बाँधने का दृढ़ संकल्प लिए नारी-लीला का प्रदर्शन करने लगीं।

सभी रानियाँ दिव्य वस्त्राभूषणादि से षोडश अलंकार किये रूप-लावण्य में सुरवधुओं को भी तिरस्कृत करती हुई चारुहासों, तीक्ष्ण-तिरछे चितवनों

के कटाक्षों और हँसने-हँसाने, रुठने-मनाने आदि विविध मनोरम हावभावों से एवं नर-नारी के संगजन्य आनन्द को ही जीवन का सार प्रकट करने वाले अनुपम अभिनयों से कुमार के मन में मनसिज को जगाने एवं नारी के रमणीय कलेवर की ओर उत्कट आकर्षण व स्पृहा पैदा करने में ऐसी जुट गईं मानों स्वयं पुष्पायुध ही सदलबल नेमिनाथ पर विजय पाने चढ़ आया हो।

पर इन सब हावभावों और कमनीय कटाक्षों का नेमिनाथ के मन पर कोई असर नहीं हुआ। प्रलयकाल के प्रचण्ड पवन के झोंकों में जैसे सुमेरु अक्षस-अडोल खड़ा रहता है उसी तरह उनका मन भी इस रंग भरे वातावरण में निर्विकार-निर्मल बना रहा।

अपनी असफलता से उत्तेजित हो उन रमणी-रत्नों ने अपने किन्नर-कण्ठों से वज्र-कठोर हृदय को भी गुदगुदा देने वाले मधुर प्रणय-गीत गाने आरम्भ किये। पर जिन्होंने इस सार तत्त्व को जान लिया है कि—“सर्वं बिलबियं गीयं, सर्वं नट्टं विडम्बियं”—उन प्रभु नेमिनाथ पर इस सब का क्या असर होने वाला था।

जब कृष्ण जल-क्रीड़ा कर सरोवर से बाहर निकले तो कृष्ण की सभी रानियाँ सरोवर तट के आजानु पानी में जल-क्रीड़ा करने लगीं और नेमिकुमार ने भी राजहंस की तरह सरोवर में प्रवेश किया। पर घुटनों तक के तटवर्ती पानी में स्नान करने लगे। हकिमरी ने रतन-जटित चौकी बिछा उस पर नेमिकुमार को बिठाया और अपनी चुनरी से वह उनके शरीर को मलने लगीं। शेष सभी रानियाँ उनके चारों ओर एकत्रित हो गईं।

### रानियों द्वारा नेमिनाथ को भोगमार्ग की ओर मोड़ने का यत्न

सत्यभामा बड़े ही मीठे शब्दों में कहने लगीं—“प्रिय देवर ! आप सदा हमारी सब बातें शान्ति से सुन लिया करते हो इसलिए मैं आप से यह पूछना चाहती हूँ कि आपके बड़े ब्रैया तो सोलह हजार रानियों के पति हैं, उनके छोटे भाई होकर आप कम से कम एक कन्या के साथ भी विवाह नहीं करते, यह कैसी अद्भुत घटपटी बात है ? सौन्दर्य और लावण्य की दृष्टि से तीनों लोको में कोई भी आपकी तुलना नहीं कर सकता। युवावस्था में भी पदार्पण कभी के कर चुके हो फिर समझ में नहीं आता कि आपकी यह क्या स्थिति है ? आपके माता-पिता, भाई और हम सब आपकी भाभियाँ, सब के सब आपसे प्रार्थना करते हैं, एक बार तो सब का कहना मान कर विवाह कर ही लो !”

“आप स्वयं विचार कर देखो—बिना जीवन-संगिनी के कुँभारे कितने दिन तक रह सकोगे ? आखिर बोलो तो सही, क्या तुम काम-कला से अशक्त

हो, नीरस हो अथवा पीरुष-विहीन हो? याद रखो कुमार! बिना स्त्री के तुम्हारा जीवन निर्जन वन में खिले सुन्दर-मनोहर सुरभिसंयुक्त पुष्प के समान निरर्थक ही रहेगा।”

“जिस प्रकार प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने पहले विवाह किया, फिर धर्म-तीर्थ की स्थापना की, उसी प्रकार आप भी पहले गृहस्थोचित सब कार्य सम्पन्न कर फिर समय पर यथारुचि ब्रह्मव्रत को साधना कर लेना। गृहस्थ-जीवन में ब्रह्मचर्य अशुचि-स्थान में मन्त्रोच्चारण के समान है।” फिर आप ही के वंश में मुनिसुव्रत तीर्थंकर हुए। उन्होंने भी पहले विवाहित होकर फिर मुनिव्रत ग्रहण किया था। आपके पीछे होने वाले तीर्थंकर भी ऐसा ही करेंगे। फिर आप ही क्या ऐसे नये मुमुक्षु हैं जो पूर्व-पुरुषों के पथ को छोड़कर जन्म से ही स्त्री, भोग एवं विषयादि से पराङ्मुख हो रहे हैं?”

सत्यभामा ने तमक कर कहा—“ये मिठास से रास्ते आने वाले नहीं हैं। माता-पिता-भाई सब समझाते-समझाते हार गये, अब कड़ाई से काम लेना होगा। हम सबको मिल कर अब इन्हें पास के एक स्थान में बन्द कर देना चाहिए और जब तक ये हमारी बात मान नहीं लें तब तक छोड़ना ही नहीं चाहिए।”

रुक्मिणी ने कहा—“बहिन! हमें अपने प्रिय सुकुमार देवर के साथ ऐसा कठोर व्यवहार नहीं करना चाहिए, हमें बड़े मीठे वचनों से नम्रतापूर्वक इन्हें विवाह के लिए राजी करना चाहिए।”

रुक्मिणी यह कह कर श्री नेमिकुमार के चरणों में झुक गईं। श्रीकृष्ण की शेष सब रानियों ने भी नेमि के चरणों में अपने सिर झुका दिये और विवाह की स्वीकृति हेतु अनुनय-विनय करने लगीं।

यह देख कर कृष्ण आ गये और नेमिनाथ से बड़े ही मीठे वचनों से कहने लगे—“भाई! अब तुम विवाह कर लो।”

इतने में अन्य यादवगण भी वहाँ आ पहुँचे और नेमिनाथ से कहने लगे—“कुमार! अपने बड़े भाई का कहना मान लो और माता-पिता एवं अपने स्वजन-परिजन को प्रमूदित करो।”

इन सब के हठाग्रह को देख, नेमिकुमार ने मन ही मन विचार किया—“ग्रोह! इन लोगों का कैसा मोह है कि ये लोग केवल स्वयं ही संसार-सागर में

१ समये प्रतिपद्येथा, ब्रह्मापि हि यथा रुचि ।

गार्हस्थ्ये नोचितं ब्रह्म, मन्त्रोद्गार इवाशुचो ॥ १०५

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्रं, पर्व ८, सर्ग ६]



नहीं डूब रहे हैं अपितु दूसरों को भी स्नेह-शिला से बाँध कर भवार्णव में डाल रहे हैं। इनके आग्रह को देखते हुए यही उपयुक्त है कि इस समय मुझे केवल वचन मात्र से इनका कहना मान लेना चाहिए और समय आने पर अपना कार्य कर लेना चाहिए। ऐसा करने से गृह, कुटुम्ब आदि का परित्याग करने का कारण भी मेरे सम्मुख उपस्थित होगा।” यह सोच कर नेमि ने कहा—“हाँ ठीक है, ऐसा ही करेंगे।”<sup>१</sup>

नेमिकुमार की बात सुन कर कृष्ण और सभी यादव बड़े प्रसन्न हुए। श्रीकृष्ण सपरिवार द्वारिका में आकर नेमिनाथ के योग्य कन्या ढूँढने का प्रयत्न करने लगे। सत्यभामा ने कृष्ण से कहा—“मेरी अनुपम रूप-गुण-सम्पन्ना छोटी बहिन राजीमती पूर्णरूपेण नेमिकुमार के अनुरूप एवं योग्य है।”

यह सुन कर कृष्ण अति प्रसन्न हुए और उन्होंने तत्काल महाराज उग्रसेन के पास पहुँच कर अपने भाई नेमिकुमार के लिए उनकी पुत्री राजीमती की उनसे याचना की। उग्रसेन ने अपना अहोभाग्य समझते हुए प्रमुदित हो कृष्ण के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। नेमिनाथ यहाँ आवें तो मैं अपनी पुत्री देने को तैयार हूँ।

उग्रसेन द्वारा स्वीकृति मिलते ही कृष्ण महाराज समुद्रविजय के पास आये और उनकी सेवा में नेमिनाथ के लिए राजीमती की याचना और उग्रसेन द्वारा सहर्ष स्वीकृति आदि के सम्बन्ध में निवेदन किया।

समुद्रविजय ने हर्ष-गद्गद् स्वर में कहा—“कृष्ण ! तुम्हारी पितृ-भक्ति एवं भ्रातृ-प्रेम बहुत ही उच्चकोटि के हैं। इतने दिनों से जो हमारी मनोभिलाषा केवल मन में ही मरी पड़ी थी, उसे तुमने नेमिकुमार को विवाह करने हेतु राजी कर सजीव कर दिया है। पुत्र ! बड़ी कठिनाई से नेमिकुमार ने विवाह करने की स्वीकृति दी है, अतः कालक्षेप उचित नहीं है।”

समुद्रविजय आदि ने नैमित्तिक को बुलाया और श्रावण शुक्ला ६ को विवाह का मुहूर्त निश्चित कर लिया।<sup>२</sup> श्रीकृष्ण ने भी द्वारिका नगरी के प्रत्येक पथ, वीथि, उपवीथि, झट्टालियों, गोपुर और घर-घर को रत्नमंचों, तोरणों

१ एवं चैव कीरतं मज्जं पि परिच्चायकारणं भविस्सइ । त्ति कलिऊण परिहास पयारणा-  
पुक्कयं पि भणिएऊण पडिक्कणं एवं चैव कीरइ । [चउवन्न महापुरिसचरियं, पृष्ठ १६२]

२ चउवन्न महापुरिस चरियं में उमी समय भगवान् अरिष्टनेमि द्वारा वार्षिक दान देना प्रारम्भ कर देने का उल्लेख है। यथा—“भयवं पुण तेणोव ववएसेण संबच्छरियं महा-  
दाणं दाउमादत्तो..... [चउवन्न महापुरिस. चरियं पृष्ठ १६२]

आदि से खूब सजाया। बड़ी धूमधाम के साथ नेमिकुमार के विवाह की तैयारियाँ की गईं।

विवाह से एक दिन पहले दशों दशाहों, बलभद्र, कृष्ण आदि ने अन्तःपुर की समस्त सुहागिनियों द्वारा गाये जा रहे मंगल-गीतों की मधुर ध्वनि के बीच नेमिनाथ को एक ऊँचे सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया। अनेक सुगन्धित महार्घ्य, विलेपनादि के पश्चात् स्वयं बलराम और कृष्ण ने उन्हें सब प्रकार की श्रापधियों से स्नान कराया और उनके हाथ पर कर-सूत्र (कंकण-डोरा) बाँधा।

तदनन्तर श्रीकृष्ण उग्रसेन के राजप्रासाद में गये। वहाँ पर भी उन्होंने दुलहिन राजीमती के कर में उसी प्रकार मंगल-मृदु गीतों की स्वर-लहरियों के बीच उबटन-विलेपन-स्नानादि के पश्चात् कर-सूत्र बाँधवाया और अपने भवन को लौटे।

दूसरे दिन भगवान् नेमिनाथ की बरात सजायी गई। महार्घ्य, सुन्दर श्वेत वस्त्र एवं बहुमूल्य मोतियों के आभूषण पहने, श्वेत छत्र तथा श्वेत चामरों से सुशोभित, कस्तूरी और गौशीर्ष चन्दन का विलेपन किये दूल्हा अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के सर्वश्रेष्ठ मस्त गन्धहस्ती पर आरूढ़ हुआ।<sup>१</sup>

नेमिकुमार के हाथी के आगे अनेक देवीयम यादव कुमार घोड़ों पर सवार हो चल रहे थे। घोड़ों की हिनहिनाहट से सारा वायुमण्डल गूँज रहा था। नेमिकुमार के दोनों पार्श्वों में मदोन्मत्त हाथियों पर बैठे हजारों राजा चल रहे थे और नेमिकुमार के हाथी के पीछे-पीछे दशों भाई दशाहं, बलराम और कृष्ण हाथियों पर आरूढ़ थे तथा उनके पीछे बहुमूल्य सुन्दर पालकियों में बैठी हुई राजरानियाँ, अन्तःपुर की व अन्य सुन्दर रमणियाँ मंगल-गीतों से वायुमण्डल में स्वरलहरियाँ पैदा करती हुई चल रही थीं। उच्च स्वर से किये जाने वाले मंगल पाठ से और विविध वाद्यों की कर्णप्रिय ध्वनि से सारा वातावरण बड़ा मृदु, मनोरम एवं मादक बन गया। इस तरह बड़े ठाठ-बाट के साथ नेमिकुमार की बरात महाराज उग्रसेन के प्रासाद की ओर बढ़ी। वर-यात्रा का दृश्य बड़ा ही सम्मोहक, मनोहारी और दर्शनीय था। सुन्दर, समृद्ध एवं सुसज्जित बरातियों के बीच दूल्हा नेमिकुमार संसार के सिरमीर, त्रैलोक्य चूडामणि की तरह सुशोभित हो रहे थे।

१ अश्वोत्सहीहि श्वथियो कयकोउय मंगलो । [उत्तराध्ययन, अ० २२, गा. ६]

२ (क) मस्त च गन्ध हस्ति वासुदेवस्त जेट्ठगं आरूढो सोहए अहियं, सिरे चूडामणि जहा । [उत्तराध्ययन, अ० २२ गा० १०]

(ख) त्रिषष्टि जलाका पु० अरित्र में श्वेत घोड़ों के रथ पर आरूढ़ होने का उल्लेख है।  
यथा:—आरुहोहारिष्टनेमिः स्यन्दनं श्वेतवाजिनम् ॥ [पर्व०, स० ६, श्लो० १४६]

राजमार्ग के दोनों ओर वातायन, अट्टालिकाएँ, गृहद्वार आदि द्वारिका की रमणियों के समूहों से खचाखच भरे थे। त्रिभुवन-मोहक दूल्हे नेमिकुमार को देखकर आबाल वृद्ध-नरनारी-वृन्द अपनी दृष्टि को सफल और जीवन को धन्य मानते हुए दूल्हे की भूरि-भूरि सराहना करने लगे।

इस तरह पौरजनों के नयनों और मनों को आनन्द-विभोर करते हुए नेमिनाथ की बरात उग्रसेन के भवन के पास आ पहुँची। बरात के आगमन के तुमुलनाद को सुनते ही राजीमती मेघ-गर्जन रव से मस्त हुई मयूरी की तरह परम प्रमुदित हो खड़ी हुई। सखियों ने वर को देखते ही दौड़कर राजीमती को घेर लिया और उसके भाग्य की सराहना करती हुई कहने लगीं—राजदुलारी ! तुम परम भाग्यवती हो जो नेमिनाथ जैसा त्रैलोक्य-तिलक वर तुम्हारा पाणि-ग्रहण करेगा। नयनाभिराम वर आखिर तो यहाँ हमारे सामने आयेंगे ही पर हम अपनी वर-दर्शन की प्रबल उत्कण्ठा को रोक नहीं सकतीं, अतः सलोनी सखि ! लज्जा का परित्याग कर शीघ्रता से चलो। हम सब प्रति कमनीय वर को गवाक्षों से देखें।”

मनोभिलषिता बात सुनकर सघन घन-घटा में चमचमाती हुई चंचल चपला सी राजीमती एक झरोखे की ओर बढ़ी और वहाँ से उसने रोम-रोम में झनझनाहट सी पैदा कर देने वाले साक्षात् कामदेव के समान ठाठ-बाट से आते हुए नेमिकुमार को देखा। राजीमती निर्निमेष नयनों से अपने प्रियतम की रूप-सुधा का पान करती हुई विचारने लगी—“अहोभाग्य ! मन से भी अचिन्त्य ऐसा त्रैलोक्य-मुकुटमणि नर-रत्न यदि मुझे मेरे प्राणनाथ के रूप में प्राप्त हो जाय तो मेरा जन्म सफल हो जाय। यद्यपि ये स्वतः मुझे अपनी जीवन-संगिनी बनाने की इच्छा लिये यहाँ आ रहे हैं फिर भी मेरे मन को धैर्य नहीं होता कि मैं अपने किन सुकृतों के फलस्वरूप इन्हें अपने प्राणनाथ के रूप में प्राप्त कर सकूँगी।”

इस प्रकार मन ही मन ऊहापोह में डूबी हुई राजकुमारी राजीमती की सहसा दाहिनी आँख धीरे भुजा फड़कने लगी। अनिष्ट की आशंका से उसका हृदय धड़कने लगा और विकसित कमल के फूलों के समान सुन्दर नेत्रों से अभ्रु-धाराएँ बहाते हुए उसने अवरुद्ध कण्ठ से अपनी सखियों को अनिष्ट-सूचक अंगस्फुरण की बात कही।

सखियों ने उसे ढाढस बँघाते हुए कहा—“राजदुलारी ! इस मंगलमय बेला में तुम अमंगल की आशंका क्यों कर रही हो ? हमारी कुलदेवियाँ प्रसन्न हो तुम जैसी पुण्यशालिनी का सब तरह से कल्याण ही करेंगी। कुमारी ! धैर्य रखो। अब तो कुछ ही क्षणों की देर है, बस अब तो तुम्हारे पाणि-ग्रहण के लिए वर आ चुका है।”

इधर राजीमती अनिष्ट की आशंका से सिसक-सिसक कर रोती हुई आंसू बहा रही थी और उसे उसकी सहेलियां धैर्य बँधा रही थी। उधर आते हुए नेमिकुमार ने पशुओं के करुण क्रन्दन को सुनकर जानते हुए भी अपने सारथि (गज-वाहक) से पूछा—“सारथे ! यह किसका करुण-क्रन्दन करार्णगोचर हो रहा है ?”

सारथि ने कहा—“स्वामिन् ! क्या आपको पता नहीं कि आपके विवाहोत्सव के उपलक्ष में विविध भोज्य-सामग्री बनाने हेतु अनेक बकरे, मेंढे तथा वन्य पशु-पक्षी लाये गये हैं। प्राणिमात्र को अपने प्राण परम प्रिय हैं, अतः ये क्रन्दन कर रहे हैं।”

नेमिनाथ ने महावत को पशुओं के बाड़ों की ओर हाथी को बढाने की आज्ञा दी। वहाँ पहुँच कर नेमिकुमार ने देखा कि अगणित पशुओं की गर्दन और पैर रस्सियों से बंधे हुए हैं एवं अगणित पक्षी पिंजरो तथा जाल-पाशों में जकड़े म्लानमुख काँपते हुए दयनीय स्थिति में बन्द हैं।

आनन्ददायक नेमिकुमार को देखते ही पशु-पक्षियों ने अपनी बोली में अपनी करुण पुकार सुनानी प्रारम्भ की—“नाथ ! हम दीन, दुःखी, असहायों की रक्षा करो।”

दयामूर्ति नेमिकुमार का करुण, कोमल हृदय द्रवीभूत हो गया और उन्होंने अपने सारथि को आज्ञा दी कि वह उन सब पशु-पक्षियों को तत्क्षण मुक्त कर दे। देखते ही देखते सब पशु-पक्षी मुक्त कर दिये गये। स्नेहपूर्ण दृष्टि में नेमिनाथ के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए पशु यथेप्सित स्थानों की ओर दौड़ पड़े और पक्षि-समूह पंख फैला कर अपने विविध कण्ठरवों से खुशी-खुशी नेमिनाथ की यशोगाथाएँ गाते हुए, अनन्त आकाश में उड़ते हुए तिरोहित हो गये।

पशु-पक्षियों को विमुक्त करने के पश्चात् नेमिनाथ ने अपने कानों के कुण्डल-युगल, करधनी एवं समस्त आभूषण उतार कर सारथि को दे दिये<sup>१</sup> और अपना हाथी अपने प्रासाद की ओर मोड़ दिया। उनको लौटते देख यादवों पर मानो अनभ्र वज्रपात सा हो गया। माता शिवा महारानी, महाराज समुद्र-विजय, श्रीकृष्ण-बलदेव आदि यादव-मुख्य अपने-अपने वाहनों से उतर पड़े और नेमिनाथ के सम्मुख राह रोककर खड़े हो गये।

१ सो कुण्डलाण जुयलं, सुत्तगं च महायसो।

आभरणणि य सञ्चरणि, सारहिंस पसामए ॥२०॥

[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२, गाथा २०]

आँखों से अनवरत अश्रुधारा बहाते हुए समुद्रविजय और माता शिवा ने बड़े दुलार से अननुयपूर्वक कहा—“बत्स ! तुम प्रचानक ही इस मंगल-महोत्सव से मुख मोड़ कर कहाँ जा रहे हो ?”

विरक्त नेमिकुमार ने कहा—“अम्ब-तात ! जिस प्रकार ये पशु-पक्षी बन्धनों से बंधे हुए थे, उसी प्रकार आप और हम सब भी कर्मों के प्रगाढ़ बन्धन से बंधे हुए हैं । जिस प्रकार मैंने इन पशु-पक्षियों को बन्धनमुक्त कर दिया, उसी प्रकार मैं अब अपने आपको कर्म-बन्धन से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त करने हेतु कर्म-बन्धन काटने वाली शिव-मुख प्रदायिनी दीक्षा ग्रहण करूँगा ।”

नेमिकुमार के मुख से दीक्षा-ग्रहण की बात सुनते ही माता शिवादेवी और महाराज समुद्रविजय भूच्छित हो गये एवं समस्त यादव-परिवार की आँखें रोते-रोते लाल हो गईं । श्रीकृष्ण ने सबको ढाढस बँधाते हुए नेमिकुमार से कहा—“भ्रात ! तुम तो हम सबके परम माननीय रहे हो, हर समय तुमने भी हमारा बड़ा मान रखा है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुम्हारा सौन्दर्य त्रैलोक्य में अनुपम है और तुम अभिनव यौवन के धनी हो, राजकुमारी राजीमती भी पूर्णरूपेण तुम्हारे ही अनुरूप है, ऐसी दशा में तुम्हारे इस असात्मिक वैराग्य का क्या कारण है ? अब रही पशु-पक्षियों की हिंसा की बात, तो उनको तुमने मुक्त कर दिया है । तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो गई, अब माता-पिता और हम सब प्रियजनों के अभिलषित मनोरथ को पूर्ण करो ।”

“साधारण मानव भी अपने माता-पिता को प्रसन्न रखने का प्रयास करता है, फिर आप तो महान् पुरुष हैं । आपको अपने इन शोक-सागर में डूबे हुए माता-पिता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । जिस प्रकार आपने इन दीन पशु-पक्षियों को प्राणदान देकर प्रमुदित कर दिया उसी प्रकार इन प्रियबन्धु-बान्धवों को भी अपने विवाह के सुन्दर दृश्य का दर्शन कराकर प्रसन्न कर दीजिये ।”

अरिष्टनेमि ने कहा—“चक्रपाणे ! माता-पिता और आप सब सज्जनों के दुःख का कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता । देव-मनुष्य-नरक और तिर्यंच गति में पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्कर में फँसा हुआ प्राणी अनन्त, असह्य दुःख पाता है । यही मेरे वैराग्य का मुख्य कारण है । अनन्त जन्मों में अनन्त माता-पिता, पुत्र और बन्धु-बान्धवादि हो गये, पर कोई किसी के दुःख को नहीं बँटा सका । अपने-अपने कृत-कर्मों के दारुण विपाक सभी को स्वयमेव भोगने पड़ते हैं । यदि पुत्रों को देखने से माता-पिता को आनन्दानुभव होता है तो महानेमि कादि मेरे भाई हैं, अतः मेरे न रहने पर भी माता-पिता के इस आनन्द में किसी तरह की कमी नहीं आयेगी । हरे ! मैं तो संसार के इस बिना ओर-छोर के पथ

पर चलते २ अत्यन्त बृद्ध और निर्बल पथिक की तरह थककर चूर-चूर हो चुका हूँ, अतः मैं असह्य दुःख का अनुभव कर रहा हूँ। मैं अपने लिए, आप लोगों के लिए और संसार के समस्त प्राणियों के लिए परम शान्ति का प्रशस्त मार्ग ढूँढने को लालायित हूँ। मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अब इस अनन्त दुःख के मूलभूत कर्मों का समूलोच्छेद करके ही दम लूंगा। बिना संयम ग्रहण किये कर्मों को ध्वस्त कर देना संभव नहीं, अतः मुझे अब निश्चित रूप से प्रव्रजित होना है। आप लोग वृथा ही बाधा न डालें।”

नेमिकुमार की बात सुनकर समुद्रविजय ने कहा—“वत्स ! गर्भ में अवतीर्ण होने के समय से आज तक तुम ऐश्वर्यसम्पन्न रहे हो, तुम्हारा भोग भोगने योग्य यह सुकुमार शरीर ग्रीष्मकालीन घोर आतप, शिशिरकाल की ठिठुरा देने वाली ठंड और क्षुधा-पिपासा आदि असह्य दुःखों को सहने में किस तरह समर्थ होगा ?”

नेमिकुमार ने कहा—“तात ! जो लोग नर्कों के उत्तरोत्तर घोरतिघोर दुःखों को जानते हैं, उनके सम्मुख आपके द्वारा गिनाये गये ये दुःख तो नगण्य और नहीं के बराबर हैं। तात ! इन तपश्चरण सम्बन्धी दुःखों को सहने से कर्मसमूह जलकर भस्मावशेष हो जाते हैं एवं अक्षय-अनन्त सुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है, पर विषयजन्य सुखों से नर्कों के अनन्त दारुण दुःखों की प्राप्ति होती है। अतः आप स्वयं ही विचार कर फरमाइये कि मनुष्य को इन दोनों में से कौनसा मार्ग चुनना चाहिए ?”

नेमिकुमार के इस आध्यात्मिक चिन्तन से अतप्रोत शाश्वत-सत्य उत्तर को सुनकर सब यदुश्रेष्ठ निरुत्तर हो गये। सबको यह दृढ़ विश्वास हो गया कि अब नेमिकुमार निश्चित रूप से प्रव्रजित होंगे। सबकी आँखें भ्रजन्न भ्रयुधाराएं प्रवाहित कर रही थीं। नेमिनाथ ने आत्मीयों की स्नेहमयी लोहशृंखलाओं के प्रगाढ़ बन्धनों को एक ही ऋत्के में तोड़ डाला और सारथी को हाथी हाँकने की आज्ञा दे तत्काल अपने निवास स्थान पर चले आये।

उपयुक्त अवसर देख लोकान्तिक देव नेमिनाथ के समक्ष प्रकट हुए और उन्होंने प्राञ्जलिपूर्वक प्रभु से प्रार्थना की—“प्रभो ! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये।” लोकान्तिक देवों को आश्वस्त कर प्रभु ने उन्हें ससम्मान विदा किया और इन्द्र की आज्ञा से जृम्भक देवों द्वारा द्रव्यों से भरे हुए भण्डार में से बर्ष भर दान देते रहे।

उधर अपने प्राणेश्वर नेमिकुमार के लौट जाने और उनके द्वारा प्रव्रजित होने के निश्चय का संवाद सुनते ही राजीमती वृक्ष से काटी गई सत्ता की तरह निश्चेष्ट हो धरणी पर षडाम से गिर पड़ी। लोकाकुल सखियों ने सुगन्धित

शीतल जल के उपचार और व्यजनादि से उसको होश में लाने का प्रयास किया तो होश में आते ही राजीमती बड़ा हृदयद्रावी करुण-विलाप करते हुए बोली—  
“कहाँ त्रिभुवनतिलक नेमिकुमार और कहां मैं हतभागिनी ! मुझे तो स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि नेमिकुमार जैसा नरशिरोमणि मुझे वर रूप में प्राप्त होगा । पर ओ निर्मोही ! तुमने विवाह की स्वीकृति देकर मेरे मन में आशा-लता अंकुरित क्यों की और असमय में ही उसे उखाड़ कर क्यों फेंक दिया ?”

“महापुरुष अपने वचन को जीवन भर निभाते हैं । यदि मैं आपको अपने अनुरूप नहीं जँची तो पहले मेरे साथ विवाह की स्वीकृति ही क्यों दी ? जिस दिन आपने वचन से मुझे स्वीकार किया, उसी दिन मेरा आपके साथ पाणि-ग्रहण हो चुका, उसके बाद यह विवाह-मण्डप-रचना और विवाह का समस्त आयोजन तो व्यर्थ ही किया गया । नाथ ! मुझे सबसे बड़ा दुःख तो इस बात का है कि आप जैसे समर्थ महापुरुष भी वचन-भंग करेंगे तो सारी लौकिक मर्यादाएं विनष्ट हो जायेंगी । प्रारोश ! इसमें आपका कोई दोष नहीं, मुझे तो यह सब मेरे ही किसी घोर पाप का प्रतिफल प्रतीत होता है । अवश्य ही मैंने पूर्व-जन्म में किसी चिरप्रणयी मिथुन का विद्योह कर उसे विरह की वीमत्स ज्वाला में जलाया है । उसी जघन्य पाप के फलस्वरूप मैं हतभागिनी अपने प्राणाधार प्रियतम के करस्पर्श का भी सुखानुभव नहीं कर सकी ।”

इस प्रकार पत्थर को भी पिघला देने वाले करुण-ऋदन से विह्वल राजीमती ने हृदय के हार एवं कर-कंकणों को तोड़कर टुकड़े २ कर डाला और अपने वक्षःस्थल पर अपने ही हाथों से प्रहार करने लगी ।

सखियों ने राजीमती की यह दशा देखकर उसे समझाने का प्रयास करते हुए कहा—“नहीं, नहीं, राजदुलारी ! ऐसा न करो, उस निर्दयी नेमिकुमार से तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? उस मायावी से अब तुम्हें मतलब ही क्या है ? वह तो लोक-व्यवहार से विमुक्त, गृहस्थ-जीवन से सदा डरने वाला और स्नेह से अनभिज्ञ केवल मानव-वसति में आ बसे वनवासी प्राणी की तरह है । सक्ति ! यदि वह चातुर्य-गुणविहीन, निष्ठुर, स्वेच्छाचारी और तुम्हारा शत्रु चला गया है तो जाने दो । यह तो खुशी की बात है कि विवाह होने से पहले ही उसके लक्षण प्रकट हो गये । यदि विवाह कर लेने के पश्चात् इस तरह ममत्वहीन हो जाता तो तुम्हारी दम्मा अन्धकूप में ढकेल देने जैसी हो जाती । सुभ्रू ! अब तुम उस निष्ठुर को भूल जाओ । तुम अभी तक कुमारी हो, क्योंकि उस नेमि कुमार को तो तुम केवल संकल्प मात्र से वाग्दान में ही दी गई हो । प्रद्युम्न, काम्ब आदि एक से एक बढ़कर सुन्दर, सशक्त, सर्वगुणसम्पन्न अनेक यादवकुमार हैं, उनमें से अपनी इच्छानुसार किसी एक को अपना वर चुन लो ।”

इतना सुनते ही राजीमती क्रुद्धा बाधिनी की तरह अपनी सखियों पर गरज पड़ी—“हमारे निष्कलंक कुल पर कालख धब्बा लगाने जैसी तुम यह कैसी बात करती हो ? मेरे प्राणनाथ नेमि तीनों लोक में सर्वोत्कृष्ट नररत्न हैं, भला बताओ तो सही, कोई है ऐसा जो उनकी तुलना कर सके ? क्षण भर के लिए मानलो अगर कोई है भी, तो मुझे उससे क्या प्रयोजन, कन्या एक बार ही दी जाती है ।”

“वृष्णि कुमारों में से उनका ही मैंने अपने मन और वचन से वरण किया है, और अपने गुरुजनों द्वारा भी उन्हें दी जा चुकी हूँ, अतः मैं तो अपने प्रियतम नेमिकुमार की पत्नी हो चुकी । तीनों लोकवासियों में सर्वश्रेष्ठ मेरे उस वर ने आज मेरे साथ विवाह नहीं किया है तो मैं भी आज से सब प्रकार के भोगों को तिलाञ्जलि देती हूँ । उन्होंने यद्यपि विवाह-विधि से मेरे कर का स्पर्श नहीं किया है पर मुझे व्रतदान देने में तो उनकी वाणी अवश्यमेव मेरे अन्तस्तल का स्पर्श करेगी ।”

इस तरह काम-भोग के त्याग एवं व्रत-ग्रहण की दृढ़ प्रतिज्ञा से सहेलियों को चुप कर राजीमती अर्हनिश भगवान् नेमिनाथ के ही ध्यान में निमग्न रहने लगी ।

इधर भगवान् नेमिनाथ प्रतिदिन दान देते हुए अनेक रंकों को राव बना रहे थे । उन्हें अपने विशिष्ट ज्ञान और लोगों के मुख से राजीमती द्वारा की गई भोग-परित्याग की प्रतिज्ञा का पता चल गया था, फिर भी वे पूर्णरूपेण ममत्व से निलिप्त रहे ।

### निष्क्रमणोत्सव एवं दीक्षा

वार्षिक दान सम्पन्न होने के पश्चात् मानवों, मानवेन्द्रों, देवों और देवेन्द्रों द्वारा भगवान् का निष्क्रमणोत्सव बड़े आनन्द और अलौकिक ठाठ-बाट के साथ सम्पन्न किया गया । उत्तरकुरु नाम की रत्नमयी शिविका पर भगवान् नेमिनाथ आरूढ़ हुए । निष्क्रमणोत्सव में देवों का सहयोग इस प्रकार बताया है—उस पालकी को देवताओं और राजा-महाराजाओं ने उठाया । सनत्कुमारेन्द्र प्रभु पर दिव्य छत्र किये हुए थे । शक्र और ईशानेन्द्र प्रभु के सम्मुख चँवर-व्यजन कर रहे थे । माहेन्द्र हाथ में नग्न खड्ग धारण किये और ब्रह्मान्द्र प्रभु के सम्मुख दर्पण लिये चल रहे थे । लान्तकेन्द्र पूर्ण-कलश लिये, शुक्रेन्द्र हाथ में स्वस्तिक धारण

१ सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते, त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ।

२ नेमिर्जगत्त्रयोत्कृष्टः कोऽन्यस्तत्सदृशो वरः ।

सदृशो वास्तु किं तेन, कन्यादानं सकृत् खलु ॥२३१॥

[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, प० ८, सर्ग ६]



किये हुए और सहस्रार धनुष की प्रत्यञ्चा पर बाण चढ़ाये हुए प्रभु के आगे चल रहे थे। प्राणतेन्द्र श्रीवत्स, अच्युतेन्द्र, नन्द्यावर्त और चमरादि शेष इन्द्र विविध शस्त्र लिये साथ थे। भगवान् नेमि को दशों दशाहं, मातृवर्ग और कृष्ण-बलराम आदि चारों ओर से घेरे हुए चल रहे थे।

इस प्रकार भगवान् नेमि के निष्क्रमणोत्सव का वह विशाल जन-समूह राजपथ से होता हुआ जब राजीमती के प्रासाद के पास पहुँचा तो एक वर्ष पुराना राजीमती का शोक भगवान् नेमिनाथ को देख कर तत्काल नवीन हो गया और वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

देवों और मानवों के जन-सागर से घिरे हुए नेमिनाथ उज्जयंत पर्वत के परम रमणीय सहस्रात्र उद्यान में पहुँचे और वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतर कर उन्होंने अपने सब आभरण उतार दिये। इन्द्र ने प्रभु द्वारा उतारे गये वे सब आभूषण श्रीकृष्ण को अर्पित किये। ३०० वर्ष गृहस्थ-पर्याय में रह कर श्रावण शुक्ला ६ के दिन पूर्वाह्न में चन्द्र के साथ चित्रा नक्षत्र के योग में तेले की तपस्या से प्रभु नेमिनाथ ने सुगन्धियों से सुवासित कोमल आकुंचित केशों का स्वयमेव पंचमुष्टि लुञ्चन किया।<sup>१</sup> शक्र ने प्रभु के केशों को अपने उत्तरीय में लेकर तत्काल क्षीर समुद्र में प्रवाहित किया। जब लुञ्चन कर प्रभु ने सिद्ध-साक्षी से संपूर्ण सावद्य-त्याग रूप प्रतिज्ञा-पाठ का उच्चारण किया, तब इन्द्र-आज्ञा से देवों एवं मानवों का सारा समुदाय पूर्ण शान्त-निस्तब्ध हो गया।

प्रभु ने १००० पुरुषों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। उस समय क्षण भर के लिये नारकीय जीवों को भी सुख प्राप्त हुआ। दीक्षा ग्रहण करते ही प्रभु को मनःपर्यव नामक चौथा ज्ञान भी हो गया।

अरिष्टनेमि के दीक्षित होने पर वासुदेव श्रीकृष्ण ने आन्तरिक उद्गार अभिव्यक्त करते हुए कहा—“हे दमीश्वर ! आप शीघ्र ही अपने ईप्सित मनोरथ को प्राप्त करें। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र्य, तप, शान्ति और मुक्ति के मार्ग पर निरंतर आगे बढ़ते रहें।”<sup>२</sup>

प्रभु द्वारा मुनि-धर्म स्वीकार करने के पश्चात् समस्त देव और देवेन्द्र, दशों दशाहं, बलराम-कृष्ण आदि प्रभु अरिष्टनेमि को वन्दन कर अपने-अपने स्थान को लौट गये।

१ ग्रह से सुगन्धगन्धिए, तुरियं मउयकुंचिए ।

सयमेव लुंचई केमे, पंचमुदीहि समाहिषो ॥२४

[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२]

२ वासुदेवो य एं भणइ, लुत्तकेसं जिइन्दियं ।

इच्छियमणोरहं तुरियं, पावसुतं दमीसरा ॥२५॥

[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२]

### पारणा

दूसरे दिन प्रातःकाल प्रभु नेमिनाथ ने सहस्राभ्रवन-उद्यान से निकल कर 'गोष्ठ' में 'वरदत्त' नामक ब्राह्मण के यहां अष्टम-तप का परमाश्र से पारणा किया। "अहो दानं, अहो दानम्" की दिव्य ध्वनि के साथ देवताओं ने दुन्दुभि बजाई, सुगन्धित जल, पुष्प, दिव्य-वस्त्र और सोनैयों की वर्षा, इस तरह पाँच दिव्य वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की।

तदनन्तर प्रभु नेमिनाथ ने अपने घातिक कर्मों का क्षय करने के दृढ़ संकल्प के साथ कठोर तप और संयम की साधना प्रारम्भ की और वहाँ से अन्य स्थान के लिए विहार कर दिया।

### रथनेमि का राजीमती के प्रति मोह

अरिष्टनेमि के तोरण से लौट जाने पर भगवान् नेमिनाथ का छोटा भाई रथनेमि राजीमती को देखकर उस पर मोहित हो गया और वह नित्य नई, सुन्दर वस्तुओं की भेंट लेकर राजीमती के पास जाने लगा। रथनेमि के मनोगत कलुषित भावों को नहीं जानते हुए राजीमती ने यही समझ कर निषेध नहीं किया—कि "भ्रातृ-स्नेह के कारण मेरे लिए देवर आदर से भेंट लाता है, तो मुझे भी इनका मान रखने के लिए इन वस्तुओं को ग्रहण कर लेना चाहिए।"

उन सौगातों की स्वीकृति का अर्थ रथनेमि ने यह समझा कि उस पर अनुराग होने के कारण ही राजीमती उसके हर उपहार को स्वीकार करती है। इस प्रकार उसकी दुराशा बलवती होने लगी और वह क्षुद्रबुद्धि प्रतिदिन राजीमती के घर जाने लगा। भावज होने के कारण वह रथनेमि के साथ बड़ा शिष्ट व्यवहार करती।

एक दिन एकान्त पा रथनेमि ने राजीमती से कहा—“मुग्धे ! मैं तुम्हारे साथ विवाह करना चाहता हूँ। इस अनुपम अमूल्य यौवन को व्यर्थ ही बरबाद मत करो। मेरे भैया भोगसुख से नितान्त अनभिज्ञ थे, इसी कारण उन्होंने आप जैसी परम सुकुमार सुन्दरी का परित्याग कर दिया। खैर, जाने दो उस बात को। उनके द्वारा परित्याग करने से तुम्हारा क्या बिगड़ा, वे ही घाटे में रहे कि भोगजन्य सुखों से पूर्णरूपेण वंचित हो गये। उनमें और मुझमें नभ-पाताल जितना अन्तर है। एक ओर तो वे इतने अरसिक कि तुम्हारे द्वारा प्रार्थना करने पर भी उन्होंने तुम्हारे साथ विवाह नहीं किया, दूसरी ओर मेरी गुण-आहकता पर गम्भीरता से विचार करो कि मैं स्वयं तुम्हें अपनी प्राणेश्वरी, चिरप्रेयसी बनाने के लिए तुम्हारे सम्मुख प्रार्थना कर रहा हूँ।”<sup>१</sup>

१ प्रार्थ्यमानोऽपि नाभूत्ते, स वरो वरवर्षिणि ।

अहं प्रार्थ्यमानस्त्वामस्मि पश्चात्तरं महत् ॥२६४॥ [त्रि० श० पु० च०, पर्व ८, सर्ग ६]

रथनेमि की बात सुनकर राजीमती के हृदय पर बड़ा आघात लगा। क्षण भर के लिए वह अवाक् सी रह गई। उस सरल स्वभाव वाली विशुद्धहृदया राजीमती की समझ में अब आया कि वे सारे उपहार इस हीन भावना से ही भेंट किये गये थे। धर्मनिष्ठा राजीमती ने रथनेमि को अनेक प्रकार से समझाया कि यशस्वी हरिवंशीय कुमार के मन में इस प्रकार के हीन विचारों का स्थान लज्जास्पद है, पर उस भ्रष्ट-बुद्धि रथनेमि पर राजीमती के समझाने का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उसने अपनी दुरभिलाषा को इसलिए नहीं छोड़ा कि निरन्तर के प्रेमपूर्ण व्यवहार से एक न एक दिन वह राजीमती को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हो सकेगा। इस प्रकार की आशा लिए उस दिन रथनेमि राजीमती से यह कह कर चला गया कि वह कल फिर आयेगा।

रथनेमि के चले जाने पर राजीमती सोचने लगी कि यह संसार का कुटिल काम-व्यापार कितना घृणित है। कामान्ध और पथभ्रष्ट रथनेमि को सही राह पर लाने के लिए कोई न कोई प्रभावोत्पादक उपाय किया जाना चाहिए। वह बड़ी देर तक विचारमग्न रही और अन्त में उसने एक अद्भुत उपाय ढूँढ ही निकाला।

राजीमती ने दूसरे दिन रथनेमि के अपने यहां आने से पहले ही भरपेट दूध पिया और उसके आने के पश्चात् वमनकारक मदनफल को नासा-रन्ध्रों से छूकर सूँघा और रथनेमि से कहा कि शीघ्र ही एक स्वर्ण-थाल ले आओ। रथनेमि ने तत्काल राजीमती के सामने सुन्दर स्वर्ण पात्र रख दिया। राजीमती ने पहले पिये हुए दूध का उस स्वर्ण-पात्र में वमन कर दिया और रथनेमि से गम्भीर दृढ़ स्वर में कहा—“देवर ! इस दूध को पी जाओ।”

रथनेमि ने हकलाते हुए कहा—“क्या मुझे कुत्ता समझ रखा है, जो इस वमन किये हुए दूध को पीने के लिए कह रही हो ?”

राजीमती ने जिज्ञासा के स्वर में कहा—“रथनेमि ! क्या तुम भी जानते हो कि यह वमन किया हुआ दूध पीने योग्य नहीं है ?”

रथनेमि ने उत्तर दिया—“वाह खूब ! केवल मैं ही क्या, मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी वमन की हुई हर वस्तु को अग्राह्य, अपेय एवं अभक्ष्य जानता और मानता है।”

राजीमती ने कठोर स्वर में कहा—“अरे रथनेमि ! यदि तुम यह जानते हो कि वमन की हुई वस्तु अपेय और अभोग्य है—खाने-पीने और उपभोग करने योग्य नहीं है, तो फिर मेरा उपभोग करना क्यों चाहते हो ? मैं भी तो वमन की हुई हूँ। उन महान् अलौकिक पुरुष के भाई होकर भी तुम्हें अपनी इस

घृणित इच्छा के लिए लज्जा नहीं आती ? सावधान ! भविष्य में कभी ऐसी गृहित-घृणित और नारकीय आयु का बन्ध करने वाली बात मुंहसे न निकालना ।”

राजीमती की इस युक्तिपूर्ण फटकार से रथनेमि बड़ा लज्जित हुआ । उसके मुंह से एक भी शब्द नहीं निकल सका । उसके सारे क्लुषित मनोरथ मिट्टी में मिल गये और वह उन्मत्ता हो अपना-सा मुंह लिए अपने घर लौट गया । उसने फिर कभी राजीमती के प्रासाद की ओर मुंह करने का भी साहस नहीं किया ।

कुछ समय पश्चात् रथनेमि विरक्त हुए और दीक्षित होकर भगवान् नेमिनाथ की सेवा में रेवताचल की ओर निकल पड़े ।

### केवलज्ञान

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् चौवन (५४) दिन तक विविध प्रकार के तप करते हुए प्रभु उज्जयंतगिरि-रेवतगिरि पधारे और वहीं अष्टम-तप से ध्यानस्थ हो गये । एक रात्रि की प्रतिमा से शुक्ल-ध्यान की अग्नि में मो नीय जानावरण, दर्शनावरण आदि घाति-कर्माँ का क्षय कर आश्विन कृष्णा समा-वस्या की पूर्वाह्न काल में, चित्रा नक्षत्र के योग में उन्होंने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की ।

### समवसरण और प्रथम देशना

भगवान् अरिष्टनेमि को केवलज्ञान की प्राप्ति होते ही देवेन्द्रों के सन चलायमान हुए । देवेन्द्र तत्क्षण अपने देव-देवी-समाज के साथ रेवतक पर्वत पर सहस्राब्ज वन में आये और भगवान् के चरणों में भक्तिसहित वन्दन कर उन्होंने अनुपम समवसरण की रचना की । उस समय सारा रेवताचल देव-देवियों की कमनीय कान्ति से जगमगा उठा । वहाँ के रक्षक यह सब अदृष्टपूर्व दृश्य देखकर बड़े विस्मित हुए और तत्क्षण कृष्ण के पास जाकर उन्हें अरिष्टनेमि के सम-वसरण एवं देव-देवियों के आगमन का सारा हाल कह सुनाया ।

श्रीकृष्ण ने परम प्रसन्न हो उन रक्षक पुरुषों को साढ़े बारह करोड़ रौप्य मुद्राओं (रुपयों) का पारितोषिक प्रदान कर भगवान् नेमिनाथ के प्रति अपनी अपूर्व श्रद्धा और निष्ठा का परिचय दिया ।

१. तस्यं आतापि भूत्वा त्वं, कथमेवं चिकीर्षसि ।

मातः परमिदंवादीनैरकायुनिर्वन्धनम् ॥२७२॥ [त्रि० श० पु० च०, पर्व ८, स० ६]

तदनन्तर श्रीकृष्ण अपने श्रेष्ठ हाथी पर आरूढ़ हो दशों दशाहों, शिवा, रोहिणी और देवकी आदि माताओं तथा बलभद्र आदि भाइयों, एक करोड़ यादव कुमारों एवं समस्त अन्तःपुर और सोलह हजार राजाओं के साथ अर्द्धचक्री की समस्त समृद्धि से सुशोभित हो भगवान् नेमिनाथ के समवसरण की ओर चल पड़े। समवसरण को देखते ही श्रीकृष्ण आदि अपने-२ वाहनों से उतर पड़े और राजचिह्नों को वहीं रखकर सबने समवसरण के उत्तर द्वार से भीतर प्रवेश किया। अष्ट महाप्रातिहायों में सुशोभित प्रभु एक अलौकिक स्फटिक सिंहासन पर पूर्वाभिमुख विराजमान थे। प्रभु का मुखारविन्द तीर्थंकर के विशिष्ट अतिथियों के कारण चारों ही दिशाओं में यथावत् समान रूप से दिख रहा था।

प्रभु की प्रदक्षिणा और भक्तिसहित विधिवत् वन्दना के पश्चात् श्रीकृष्ण और अन्य सब यथास्थान बैठ गये।

इन्द्र और श्रीकृष्ण ने बड़े भक्तिभाव से प्रभु की स्तुति की।

तदनन्तर प्रभु नेमिनाथ ने सबकी समझ में आने वाली भाषा में भव्यों के अज्ञान-तिमिर का विनाश कर ज्ञान का परम प्रकाश प्रकट करने वाली देशना दी।

### तीर्थ-स्थापना

प्रभु की ज्ञान-विरागपूर्ण देशना सुन कर सर्वप्रथम 'वरदत्त' नामक नृपति ने संसार से विरक्त हो तत्क्षण प्रभु-चरणों में दीक्षित होने की प्रार्थना की। भगवान् नेमिनाथ ने भी योग्य समझ कर वरदत्त को दीक्षा दी।

उसी समय श्रीकृष्ण ने नमस्कार कर प्रभु से पूछा—“प्रभो! यों तो प्रत्येक प्राणी का आपके प्रति अनुराग है, पर राजीमती का आपके प्रति सबसे अधिक अनुराग क्यों है?”

उत्तर में प्रभु ने राजीमती के साथ अपने पूर्व के आठ भवों के सम्बन्धों का विवरण सुनाया। पूर्वभव के इस वृत्तान्त को सुन कर तीन राजाओं को जो समवसरण में आये हुए थे और पूर्वभवों में प्रभु के साथ रहे थे, तत्क्षण जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और उन्होंने उसी समय प्रभु के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। और भी अनेक मुमुक्षुओं ने प्रभु-चरणों में दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार प्रभु के उपदेश को सुन कर विरक्त हुए दो हजार क्षत्रियों ने वरदत्त के पश्चात् उसी समय प्रभु की सेवा में दीक्षा ग्रहण की। उन २००१ सद्यःदीक्षित साधुओं में से वरदत्त आदि ग्यारह (११) मुनियों को प्रभु ने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिपदी का ज्ञान देकर गणधर-पदों पर नियुक्त किया। त्रिपदी के आधार पर उन मुनियों ने बारह अंगों की रचना की और गणधर कहलाये।

उसी समय यक्षिणी आदि अनेक राजपुत्रियों ने भी प्रभु-चरणों में दीक्षा ग्रहण की। प्रभु ने यक्षिणी आर्या को श्रमणी-संघ की प्रवर्तिनी नियुक्त किया।

दशों दशाहों, उग्रसेन, श्रीकृष्ण, बलभद्र व प्रद्युम्न आदि ने प्रभु से श्रावक-धर्म स्वीकार किया।<sup>१</sup>

महारानी शिवादेवी, रोहिणी, देवकी और रुक्मिणी आदि अनेक महि-  
शाओं ने प्रभु के पास श्राविका-धर्म स्वीकार किया।<sup>२</sup>

इस प्रकार प्रभु ने प्रारिणमात्र के कल्याण के लिए साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका-रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की और तीर्थ-स्थापना के कारण प्रभु अरिष्टनेमि भाव-तीर्थकर कहलाये।

### राजीमती की प्रव्रज्या

उधर राजीमती अपने तन-मन की सुधि भूले रात-दिन नेमिनाथ के चिंतन में ही डूबी रहने लगी। अपने प्रियतम के विरह में उसे एक-एक दिन एक-एक वर्ष के समान लम्बा लगता था।

बारह मास तक अपलक प्रतीक्षा के बाद जब राजीमती ने भगवान् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या की बात सुनी तो हर्ष और आनन्द से रहित होकर स्तब्ध हो गई।<sup>३</sup> वह सोचने लगी—“घिष्कार है मेरे जीवन को, जो मैं प्राण-नाथ नेमिनाथ के द्वारा ठुकराई गई हूँ। अब तो उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करना मेरे लिए श्रेयस्कर है। उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की है तो अब मेरे लिए भी प्रव्रज्या ही हितकारी है।”

किसी तरह माता-पिता की अनुमति लेकर उसने प्रव्रज्या का निश्चय किया एवं अपने सुन्दर-श्यामल बालों का स्वयमेव लुंचन कर धैर्य एवं दृढ़ निश्चय के साथ वह संयम-मार्ग पर बढ़ चली। लुंचित केश वाली जितेन्द्रिया सुकुमारी राजीमती से वासुदेव श्रीकृष्ण आशीर्वचन के रूप में बोले—“हे कन्ये ! जिस लक्ष्य से दीक्षित हो रही हो, उसकी सफलता के लिए घोर संसार-सागर

१ दशाहों उग्रसेनश्च, वासुदेवश्च लांगली ।

प्रद्युम्नाद्याः कुमाराश्च, श्रावकत्वं प्रपेदिरे ॥३७८॥

२ शिवा रोहिणीदेवक्यो, रुक्मिण्याद्याश्च योषितः ।

जगृहः श्राविका-धर्ममन्याश्च स्वामिसन्निधौ ॥३७९॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ९]

३ सोऊण रायवरकम्भा, पवज्जं सा जिणस्स उ ।

एणीहासा य सिारणन्दा, सोगेण उ समुत्थिया ॥ [उत्तराख्ययन ब० २२, श्लो० २८]

को शीघ्रातिशीघ्र पार करना ।<sup>१</sup> राजीमती ने दीक्षित होकर बहुत सी राज-कुमारियों एवं अन्य सखियों को भी दीक्षा प्रदान की । शीलवती होने के साथ-साथ नेमिनाथ के प्रति धर्मानुराग से अभ्यास करते हुए, राजीमती बहुश्रुता भी हो गई थी ।

भगवान् नेमिनाथ को चौवन दिन के छद्मस्थकाल के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वे रेवताचल पर विराजमान थे, अतः साध्वी राजीमती अनेक साध्वियों के साथ भगवान् को वन्दन करने के लिए रेवतगिरि की ओर चल पड़ी । अकस्मात् आकाश में उमड़-धुमड़ कर घटाएँ घिर आईं और वर्षा होने लगी, जिससे मार्गस्थ साध्वियाँ भीग गईं । वर्षा से बचने के लिए सब साध्वियाँ इधर-उधर गुफाओं में छुली गईं । राजीमती भी पास की एक गुफा में पहुँची, जिसे आज भी लोग राजीमती-गुफा कहते हैं । उसको यह ज्ञात नहीं था कि इस गुफा में पहले से ही रथनेमि बैठे हुए हैं । उसने अपने भीगे कपड़े उतार कर सुखाने के लिए फैलाये ।

### रथनेमि का आकर्षण

गन्नावस्था में राजीमती को देख कर रथनेमि का मन विचलित हो उठा । उधर राजीमती ने रथनेमि को सामने ही खड़े देखा तो वह सहसा भयभीत हो गई । उसको भयभीत और काँपती हुई देख कर रथनेमि बोले—“हे भद्रे ! मैं वही तेरा अनन्योपासक रथनेमि हूँ । हे सुरूपे ! मुझे अब भी स्वीकार करो । हे चारुलोचने ! तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा । संयोग से ऐसा सुअवसर हाथ आया है । आओ, जरा इन्द्रिय-सुखों का भोग कर लें । मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ है । अतः भुक्तभोगी होकर फिर जिनराज के मार्ग का अनुसरण करेंगे ।

रथनेमि को इस प्रकार भग्नचित्त और मोह से पथभ्रष्ट होते देख कर राजीमती ने निर्भय होकर अपने आपका संवरण किया और नियमों में सुस्थिर होकर कुल-जाति के गौरव को सुरक्षित रखते हुए वह बोली—“रथनेमि ! तुम तो साधारण पुरुष हो, यदि रूप से वैश्रमण देव और सुन्दरता में नलकूबर तथा साक्षात् इन्द्र भी आ जायें तो भी मैं उन्हें नहीं चाहुँगी, क्योंकि हम कुलवती हैं । नाग जाति में अग्रधन कुल के सर्प होते हैं, जो जलती हुई आग में गिरना स्वीकार करते हैं, किन्तु वमन किये हुए विष को कभी वापिस नहीं लेते । फिर तुम तो उत्तम कुल के मानव हो, क्या त्यागे हुए विषयों को फिर से ग्रहण करोगे ? तुम्हें इस विपरीत मार्ग पर चलते लज्जा नहीं आती ? रथनेमि तुम्हें धिक्कार है । इस प्रकार अंगीकृत व्रत से गिरने की अपेक्षा तो तुम्हारा मरण श्रेष्ठ है ।”<sup>२</sup>

१ संसार सायरं घोरं, तर कन्ने लहुं लहुं ।

[उ० सू०, अ० २२]

२ धिरंखु तेज्जसोकामी, जो तं जीविय कारणा ।

वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥७॥

[दशवैकालिक सूत्र, अ० २] उक्त० २२

राजीमती की इस प्रकार हितभरी ललकार और फटकार सुन कर अंकुश से उन्मत्त हाथी की तरह रथनेमि का मन धर्म में स्थिर हो गया। उन्होंने भगवान् अरिष्टनेमि के चरणों में पहुँच कर, आलोचन-प्रतिक्रमण पूर्वक आत्मशुद्धि की और कठोर तपश्चर्या की प्रचण्ड अग्नि में कर्मसमूह को काष्ठ के ढेर की तरह भस्मसात् कर वे शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गये। राजीमती ने भी भगवच्चरणों में पहुँच कर वंदन किया और तप-संयम का साधन करते हुए केवलज्ञान की प्राप्ति कर ली और अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।

### अरिष्टनेमि द्वारा अद्भुत रहस्य का उद्घाटन

धर्मतीर्थ की स्थापना के पश्चात् भगवान् अरिष्टनेमि भव्यजनों के अन्त-मन को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित कुमारों पर लगे हुए असंख्य लोगों को धर्म के सत्पथ पर आरूढ़ एवं कनक-कामिनी और प्रभुता के मद में अन्धे बने राजाओं, श्रेष्ठियों और गृहस्थों को परमार्थ-साधना के अमृतमय उपदेश में मद-विहीन करते हुए कुसट्ट, आनर्त, कलिंग आदि अनेक जनपदों में विचरण कर भद्रिलपुर नगर में पधारे।

भद्रिलपुर में भगवान् की भवभयहारिणी अमोघ देशना को सुनकर देवकी के ६ पुत्र अनीक सेन, अजित सेन, अनिहत रिपु, देवसेन, शत्रुसेन और सारण ने, जो सुलसा गाथापत्नी के द्वारा पुत्र रूप में बड़े लाड़-प्यार से पाले गये थे, विरक्त हो भगवान् के चरणों में श्रमणदीक्षा ग्रहण की। इनका प्रत्येक का बत्तीस २ इभ्य कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कराया गया था। वैभव का इनके पास कोई पार नहीं था पर भगवान् नेमिनाथ की देशना सुन कर ये विरक्त हो गये।

भद्रिलपुर से विहार कर भगवान् अरिष्टनेमि अनेक श्रमणों के साथ द्वारिकापुरी पधारे। भगवान् के समवसरण के समाचार सुनकर श्रीकृष्ण भी अपने समस्त यादव-परिवार और अन्तःपुर आदि के साथ भगवान् के समवसरण में आये। जिस प्रकार गंगा और यमुना नदियाँ बड़े वेग से बढ़ती हुई समुद्र में समा जाती हैं, उसी तरह नर-नारियों की दो धाराओं के रूप में द्वारिकापुरी की सारी प्रजा भगवान् के समवसरण-रूप सागर में कुछ ही क्षणों में समा गई। भगवान् की भवोदधितारिणी वाणी सुन कर अग्रणीत लोगों ने अपने कर्मों के गुरुतर भार को हल्का किया।

अनेक भव्य-भाग्यवान् नर-नारियों ने दीक्षित हो प्रभु के चरणों की शरण ली। अनेक व्यक्ति श्रावक-धर्म स्वीकार कर मुक्ति-पथ के पथिक बने



और भवभ्रमण से विभ्रान्त अगणित व्यक्तियों के अन्तर में मिथ्यात्व के निबिड़-तम तिमिर को ध्वस्त करने वाले सम्यक्त्व सूर्य का उदय हुआ ।

धर्म-परिषद् में आये हुए श्रोताओं के देशनानन्तर यथास्थान चले जाने के पश्चात् छट्ठे २ भक्त की निरन्तर तपस्या के कारण कृशकाय वे अनीकसेन आदि छहों मुनि अर्हन्त अरिष्टनेमि की अनुमति लेकर दो दिन के—छट्ठे तप के पारण हेतु दो-दो के संघाटक से, भिक्षार्थ द्वारिकापुरी की ओर अग्रसर हुए ।

इन मुनियों का प्रथम युगल विभिन्न कुलों में मधुकरी करता हुआ देवकी के प्रासाद में पहुँचा । राजहंसों के समान उन मुनियों को देखते ही देवकी ने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और प्रेमपूर्वक विशुद्ध एषणीय आहार की भिक्षा दी । भिक्षा ग्रहण कर मुनि वहाँ से लौट पड़े ।

मुनि-युगल की सौम्य आकृति, सदृश-वय, कान्ति और चाल-ढाल को परीक्षात्मक सूक्ष्म दृष्टि से देखकर देवकी ने रोहिणी से कहा—“दीदी ! देखो, देखो, इस वय में दुष्कर कठोर तपस्या से शुष्क एवं कृशकाय इन युवा-मुनियों को ! इनका रूप, सौन्दर्य, लावण्य और सहज प्रफुल्लित मुखड़ा कितना अद्भुत है ? दीदी ! वह देखो, इनके सुकुमार तन पर कृष्ण के समान ही श्रीवत्स का चिह्न दिखाई दे रहा है ।”

देवकी ने दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए शोकातिरेक से अवरुद्ध करण स्वर में कहा—“दीदी ! दैव दुविपाक से यदि बिना कारण शत्रु कंस ने मेरे छह पुत्रों को नहीं मारा होता तो वे भी आज इन मुनियों के समान वय और वपु वाले होते । धन्य है वह माता, जिसके ये लाल हैं ।”

देवकी के नयनों से अनवरत अश्रुधाराएँ बह रही थीं ।

देवकी का अन्तिम वाक्य पूरा ही नहीं हो पाया था कि उसने मुनि-युगल के दूसरे संघाटक को आते देखा । यह मुनि-युगल भी दिखने में पूर्णरूपेण प्रथम मुनि-युगल के समान था । इस संघाटक ने भी कृतप्रणामा देवकी से भिक्षा की याचना की । वही पहले के मुनियों का सा कण्ठ-स्वर देवकी के कर्णरन्ध्रों में गूँज उठा । वही नपे-तुले शब्द और वही कण्ठ-स्वर ।

देवकी ने मन ही मन यह सोचते हुए कि पहले जो भिक्षा में इन्हें दिया गया, वह इनके लिए पर्याप्त नहीं होगा, इसलिए पुनः जीटे हैं, उसने बड़े आदर और हर्षोल्लास से मुनियों को पुनः प्रतिलाभ दिया । दोनों साधु भिक्षा लेकर चले गये ।

उन दोनों साधुओं के जाने पर संयोगवश छोटे बड़े कुलों में मधुकरी के लिए घूमना हुआ तीसरा मुनि-संघाटक भी देवकी के यहाँ जा पहुँचा। यह युगल-जोड़ी भी पूर्ण रूप से भिक्षार्थ-पहले आये हुए दोनों संघाटकों के मुनि-युगल से मिलती-जुलती थी। देवकी ने पूर्ण श्रद्धा, सम्मान और भक्ति के साथ तृतीय संघाटक को भी विशुद्ध भाव से भिक्षा दी। अन्तगढ़ दशा मूत्र के एतद्विषयक विशद वर्णन में बताया गया है कि उस संघाटक को देवकी ने पूर्ण सम्मान और बड़े प्रेम से भिक्षा दी। मुनियों को भिक्षा देने के कारण देवकी का अन्तर्मन असीम आनन्द का अनुभव करते हुए इतना पुलकित हो उठा था कि वह स्नेहा-तिरेक और परा भक्ति के उद्रेक से अपने आपको संभाल भी नहीं पा रही थी। फिर भी अन्तर में उठे हुए एक कुतूहल और सन्देह का निवारण करते हेतु हर्षाश्रुओं से मुनि-युगल की ओर देखते हुए उसने कहा “भगवन् ! मन्दभाग्य वाले लोगों के आंगन में आप जैसे महान् त्यागियों के चरण-कमल दुर्लभ हैं। मेरा अहोभाग्य है कि आपने अपने पावन चरण-कमलों से इस आंगन को पवित्र किया। पर मेरी शंका है कि द्वारिका में हजारों गुराणनुरागी, सन्तसेवी कुलों को छोड़कर आप मेरे यहाँ तीन बार कैसे पधारे ?”

देवकी देवी द्वारा इस प्रकार का प्रश्न पूछे जाने पर वे मुनि उससे इस प्रकार बोले—“हे देवानुप्रिये ! ऐसी बात तो नहीं है कि कृष्ण वासुदेव की यावत् प्रत्यक्ष स्वर्ग के समान, इस द्वारिका नगरी में श्रमण निर्ग्रन्थ उच्च-नीच-मध्यम कुलों में यावत् श्रमण करते हुए आहार-पानी प्राप्त नहीं करते और न मुनि लोग भी आहार-पानी के लिए उन एक बार स्पृष्ट कुलों में दूसरी-तीसरी बार जाते हैं।

वास्तव में बात इस प्रकार है—“हे देवानुप्रिये ! भद्रिलपुर नगर में हम नाग गाथापति के पुत्र और नाग की सुलसा भार्या के आत्मज छे सहोदर भाई हैं। पूर्णतः समान आकृति वाले यावत् नलकुबेर के समान। हम छहों भाइयों ने अरिहन्त अरिष्टनेमि के पास धर्म उपदेश सुनकर और उसे धारण करके संसार के भय से उद्विग्न एवं जन्म-मरण से भयभीत हो मुण्डित होकर यावत् श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर हमने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की थी, उसी दिन अरिहन्त अरिष्टनेमि को वंदन-नमन किया और वंदन नमस्कार कर इस प्रकार का यह अभिग्रह धारण करने की आज्ञा चाही—“हे भगवन् ! आपकी अनुज्ञा पाकर हम जीवन पर्यन्त बेले-बेले की तपस्या पूर्वक अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरना चाहते हैं।”

यावत् प्रभु ने कहा—“देवानुप्रियो ! जिससे तुम्हें सुख हो वैसे ही करो, प्रमाद न करो।”

उसके बाद अरिहन्त अरिष्टनेमि की अनुज्ञा प्राप्त होने पर हम जीवन भर के लिए निरन्तर बेले-बेले की तपस्या करते हुए विचरणा करने लगे।

इस प्रकार आज हम छहों भाई-बेले की तपस्या के पारण के दिन प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करने के पश्चात्—प्रभु अरिष्टनेमि की आज्ञा प्राप्त कर यावत् तीन संघाटकों में भिक्षार्थ उच्च-मध्यम एवं निम्न कुलों में भ्रमण करते हुए तुम्हारे घर आ पहुँचे हैं। अतः हे देवानुप्रिये ! ऐसी बात नहीं है कि पहले दो संघाटकों में जो मुनि तुम्हारे यहाँ आये थे वे हम ही हैं। वस्तुतः हम दूसरे हैं।”

उन मुनियों ने देवकी देवी को इस प्रकार कहा और यह कहकर वे जिस दिशा से आये थे उसी दिशा की ओर चले गये। इस प्रकार की बात कह कर मुनियों के लौट जाने के पश्चात् उस देवकी देवी को इस प्रकार का विचार यावत् चिन्तापूर्ण अध्ववसाय उत्पन्न हुआ :—

“पोलासपुर नगर में अतिमुक्त कुमार नामक भ्रमण ने मेरे समक्ष बचपन में इस प्रकार भविष्यवाणी की थी कि हे देवानुप्रिये देवकी ! तुम परस्पर पूर्णतः समान आठ पुत्रों को जन्म दोगी, जो नलकूबर के समान होंगे। भरतक्षेत्र में दूसरी कोई माता बैसे पुत्रों को जन्म नहीं देगी।”

पर यह भविष्यवाणी मिथ्या सिद्ध हुई। क्योंकि यह प्रत्यक्ष ही दिख रहा है कि भरतक्षेत्र में अन्य माताओं ने भी सुनिश्चित रूपेण ऐसे पुत्रों को जन्म दिया है। मुनि की बात मिथ्या नहीं होनी चाहिये, फिर यह प्रत्यक्ष में उससे विपरीत क्यों ? ऐसी स्थिति में मैं अरिहन्त अरिष्टनेमि भगवान् की सेवा में जाऊँ, उन्हें वंदन नमस्कार करूँ और वंदन नमस्कार करके इस प्रकार के कथन के विषय में प्रभु से पूछूँ, इस प्रकार सोचा। ऐसा सोचकर देवकी देवी ने आज्ञाकारी पुरुषों को बुलाया और बुलाकर ऐसा कहा—“लघु कर्ण वाले (शीघ्र-गामी) श्रेष्ठ आँखों से युक्त रथ को उपस्थित करो।” आज्ञाकारी पुरुषों ने रथ उपस्थित किया। देवकी महारानी उस रथ में बैठकर यावत् प्रभु के समवसरण में उपस्थित हुई और देवानन्दा द्वारा जिस प्रकार भगवान् महावीर की पर्यु-पासना किये जाने का वर्णन है, उसी प्रकार महारानी देवकी भगवान् अरिष्टनेमि की यावत् पर्यु-पासना करने लगी।

तदनन्तर अर्हत् अरिष्टनेमि देवकी को सम्बोधित कर इस प्रकार बोले—  
“हे देवकी ! क्या इन छः साधुओं को देखकर वस्तुतः तुम्हारे मन में इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ कि पोलासपुर नगर में अतिमुक्त कुमार ने तुम्हें आठ प्रतिम पुत्रों को जन्म देने का जो भविष्य कथन किया था, वह मिथ्या सिद्ध हुआ। उस विषय में पृच्छा करने के लिये तुम यावत् वन्दन को निकली और

निकलकर शीघ्रता से मेरे पास चली आई हो, हे देवकी ! क्या यह बात ठीक है ?”

देवकी ने कहा—“हाँ भगवन् ! ऐसा ही है ।” प्रभु की दिव्य ध्वनि प्रस्फुटित हुई—“हे देवानुप्रिये ! उस काल उस समय में भद्रिलपुर नगर में नाग नाम का गाथापति रहा करता था, जो आढ्य (महान् ऋद्धिशाली) था । उस नाग गाथापति की सुलसा नामक पत्नी थी । उस सुलसा गाथापत्नी को बाल्या-वस्था में ही किसी निमित्तज्ञ ने कहा—यह बालिका मृतवत्सा यानी मृत बालको को जन्म देने वाली होगी । तत्पश्चात् वह सुलसा बाल्यकाल से ही हरिरौंगमेषी देव की भक्त बन गई ।

उसने हरिरौंगमेषी देव की मूर्ति बनाई । मूर्ति बना कर प्रतिदिन प्रातः-काल स्नान करके यावत् दुःस्वप्न निवारणार्थं प्रायश्चित्त कर गीली साड़ी पहने हुए बहुमूल्य पुष्पों से उसकी अर्चना करती । पुष्पों द्वारा पूजा के पश्चात् घुटने टिकाकर पाँचों अंग नवा कर प्रणाम करती, तदनन्तर आहार करती, निहार करती एवं अपनी दैनन्दिनी के अन्य कार्य करती ।

तत्पश्चात् उस सुलसा गाथापत्नी की उस भक्ति-बहुमान पूर्वक की गई सुश्रूषा से देव प्रसन्न हो गया । प्रसन्न होने के पश्चात् हरिरौंगमेषी देव सुलसा गाथापत्नी पर अनुकम्पा करने हेतु सुलसा गाथापत्नी को तथा तुम्हें—दोनों को समकाल में ही ऋतुमती (रजस्वला) करता और तब तुम दोनों समकाल में ही गर्भ धारण करतीं, समकाल में ही गर्भ का वहन करतीं और समकाल में ही बालक को जन्म देती ।

प्रसवकाल में वह सुलसा गाथापत्नी मरे हुए बालक को जन्म देती ।

तब वह हरिरौंगमेषी देव सुलसा पर अनुकम्पा करने के लिये उसके मृत बालक को दोनों हाथों में लेता और लेकर तुम्हारे पास लाता । इधर उस समय तुम भी नव मास का काल पूर्ण होने पर सुकुमार बालक को जन्म देतीं ।

हे देवानुप्रिये ! जो तुम्हारे पुत्र होते उनको भी हरिरौंगमेषी देव तुम्हारे पास से अपने दोनों हाथों में ग्रहण करता और उन्हें ग्रहण कर सुलसा गाथापत्नी के पास लाकर रख देता (पहुँचा देता) ।

अतः वास्तव में हे देवकी ! ये तुम्हारे पुत्र हैं, सुलसा गाथापत्नी के नहीं हैं । इसके अनन्तर उस देवकी देवी ने अरिहंत अरिष्टनेमि के मुखारविन्द से इस प्रकार की यह रहस्यपूर्ण बात सुनकर तथा हृदयंगम कर हृष्ट-तुष्ट यावत् प्रफुल्ल हृदया होकर अरिहन्त अरिष्टनेमि भगवान् को वंदन-नमस्कार किया

और वंदन-नमस्कार करके जहाँ वे छहों मुनि विराजमान थे, वहाँ आई। आकर वह उन छहों मुनिर्थाँ को वंदन-नमस्कार करने लगी।

उन अनगारों को देखकर पुत्र-प्रेम के कारण उसके स्तनों से दूध भरने लगा। हर्ष के कारण उसकी आँखों में आँसू भर आये एवं अत्यन्त हर्ष के कारण शरीर फूलने से उसकी कंचुकी की कसें टूट गई और भुजाओं के आभूषण तथा हाथ की चूड़ियाँ तंग हो गई। जिस प्रकार वर्षा की धारा के पड़ने से कंदम्ब पुष्प एक साथ विकसित हो जाते हैं उसी प्रकार उसके शरीर के सभी रोम पुलकित हो गये। वह उन छहों मुनियों को निर्निमेष दृष्टि से चिरकाल तक निरखती ही रही।

तत्पश्चात् उसने छहों मुनियों को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके जहाँ भगवान् अरिष्टनेमि विराजमान हैं, वहाँ आई और आकर अर्हत् अरिष्टनेमि को तीन बार दक्षिण तरफ से प्रदक्षिणा करके नमस्कार किया; तदनन्तर उसी धार्मिक श्रेष्ठ रथ पर आरूढ़ हो द्वारिका नगरी की ओर लौट गई।

‘चउवन्न महापुरिस चरिय’ में इन छहों मुनियों के सम्बन्ध में अन्तगड़ सूत्र के उपरिलिखित विवरण से कतिपय अंशों में भिन्न, किन्तु बड़ा ही रोचक वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है :—

देवकी ने मुनि-युगल से कहा—“महाराज कृष्ण की देवपुरी सी द्वारिका नगरी में क्या श्रमण निर्ग्रन्थों को अटन करते भिक्षा-लाभ नहीं होता, जिससे उन्हीं कुलों में दूसरी तीसरी बार वे प्रवेश करते हैं?”

देवकी की बात सुनकर मुनि समझ गये कि उनसे पूर्व उनके चारों भाइयों के दो संघाड़े भी यहाँ आ चुके हैं। उनमें से एक ने कहा—“देवकी! ऐसी बात नहीं है कि द्वारिका नगरी के विभिन्न कुलों में धूमकर भी भिक्षा नहीं मिलने से हम तीसरी बार तुम्हारे यहाँ भिक्षा को आये हैं। पर सही बात यह है कि हम एक ही माँ के उदर से उत्पन्न हुए छः भाई हैं। शरीर और रूप की समानता से हम सब एक से प्रतीत होते हैं। कंस के द्वारा हम मार दिये जाते किन्तु हरिणी-गमेषी देव ने भद्रिलपुर की मृतवत्सा मुलसा गाथापत्नी की भक्ति से प्रसन्न हो, हमें जन्म लेते ही मुलसा के प्रीत्यर्थ तत्काल उसके पुत्रों से बदल दिया। मुलसा ने ही हमें पाल-पोषकर बड़ा किया और हम सब का पाणिग्रहण करवाया। बड़े होकर हमने भगवान् नेमिनाथ के मुखारविन्द से अपने कुल-परिवर्तन का

१ जन्मजात छः पुत्रों के परिवर्तन की बात देवकी को भगवान् अरिष्टनेमि से ज्ञात हुई, इस प्रकार का अन्तगड़ में उल्लेख है।

पूरा वृत्तान्त सुना और एक ही जन्म में दो कुलों में उत्पन्न होने की घटना से हम छहों भाइयों को संसार से पूर्ण विरक्ति हो गई। कर्मों का कैसा विचित्र खेल है? यह संसार असार है और विषयों का अन्तिम परिणाम घोर दुःख है—यह सोचकर हम छहों भाइयों ने भगवान् नेमिनाथ के चरणों में दीक्षा ग्रहण करली।”

मुनि की बात समाप्त होते ही महारानी देवकी मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी।

दासियों द्वारा शीतलोपचार से थोड़ी देर में देवकी फिर सचेत हुई और उस का मातृहृदय सागर की तरह हिलोरें लेने लगा। मुनियों को देखकर उसके स्तनों से दूध की और आँखों से अश्रुओं की धाराएं एक साथ बहने लगीं।

देवकी रोते-रोते अत्यन्त करुण स्वर में कहने लगी—“अहो! ऐसे पुत्र रत्नों को पाकर भी मैं परम अभागिन ही रही जो दुर्देव ने मुझसे इनको छीन लिया। मेरी पुत्र-प्राप्ति तो बिल्कुल उस अभागे के समान है जो स्वप्न में अमूल्य रत्न प्राप्त कर धन-कुवेर बन जाता है किन्तु जगने पर कंगाल का कंगाल। कितनी दयनीय है मेरी स्थिति कि पहले तो मैं सजल उपजाऊ भूमि के फल-फूलों से लदे सघन सुन्दर तरुवर की तरह खूब फली-फूली, किन्तु असमय में ही ऊसर भूमि की लता के समान ये मेरे अनुपम अमृतफल—मेरे पुत्र मुझसे विलग हो दूर गिर पड़े। परम भाग्यवती है वह नारी, जिसने बाललीला के कारण बूलि-धूसरित इन सलोने शिशुओं के मुखकमल को अग्रणीत बार बड़े प्यार से चूमा है।”

देवकी के इस अन्तस्तलस्पशी करुण विलाप को सुनकर मुनियों को छोड़ वहाँ उपस्थित अन्य सब लोगों की आँखें अश्रु-प्रवाहित करने लगीं।<sup>१</sup>

बिजली की तरह यह समाचार सारी द्वारिका में फैल गया। नागरिकों के मुख से यह बात सुनकर वे चारों मुनि भी वहाँ लौट आये और छहों मुनि देवकी को समझाने लगे—“न कोई किसी की माता है और न कोई किसी का पिता अथवा पुत्र। इस संसार में सब प्राणी अपने-अपने कर्म-बन्धन से बँधे रहट में मृत्तिका-पात्र (घटी-घड़ली) की तरह जन्म-मरण के चक्कर में निरन्तर परिभ्रमण करते हुए भटक रहे हैं। प्राणी एक जन्म में किसी का पिता होकर दूसरे जन्म में उसका पुत्र हो जाता है और तदनन्तर फिर किसी जन्म में पिता बन जाना है। इसी तरह एक जन्म की माता दूसरे जन्म में पुत्री, एक जन्म का

१ अन्तगड़ सूत्र में देवकी द्वारा पूछे जाने पर यह बात अरिहन्त नेमिनाथ ने कही है और वहीं पर देवकी का मुनियों के दर्शन से वात्सल्य उमड़ पड़ा और उसके स्तनों से दूध झूटने लगा एवं हर्षातिरेक से रोम-रोम पुलकित हो गया।

स्वामी दूसरे जन्म में दास बन जाता है। एक जन्म की माँ दूसरे जन्म में सिंहनी बनकर अपने पूर्व के प्रिय पुत्र को मार कर उसके मांस से अपनी भूख मिटाने लग जाती है। एक जन्म में एक पिता अपने पुत्र को बड़े दुलार से पाल-पोसकर बड़ा करता है, वही पुत्र भवान्तर में उस पिता का भयंकर शत्रु बनकर अपनी तीक्ष्ण तलवार से उसका सिर काट देता है। जिस माँ ने अपनी कुक्षि से जन्म दिये हुए पुत्र को अपने स्तनों का दूध पिलाकर प्यार से पाला, कर्मवश भटकती हुई वही माँ अपने उस पुत्र से अनंग-क्रीड़ा करती हुई अपनी काम-पिपासा शान्त करती है। उसी तरह पिता अपने दुष्कर्मों से अभिभूत अपनी पुत्री से मदन-क्रीड़ा करता हुआ अपनी कामाग्नि को शान्त करता है—ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यह है इस संसार की घृणित और विचित्र नट-क्रीड़ा, जिसमें प्राणी अपने ही किये कर्मों के कारण नट की तरह विविध रूप धारण कर भव-भ्रमण करता रहता है और पग-पग पर दारुण दुःखों को भोगता हुआ भी मोह एवं अज्ञानवश लाखों जीवों का घोर संहार करता हुआ मदोन्मत्त स्वेच्छाचारी हाथी की तरह दुःखानुबन्धी विषय-भोगों में निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है। निविड़ कर्म-बन्धनों से जकड़े हुए प्राणी को माता-पिता-पुत्र-कलत्र सहज ही प्राप्त हो जाते हैं और वह भकड़ी की तरह अपने ही बनाये हुए भयंकर कुटुम्ब-जाल में फँसकर जीवन भर तड़पता एवं दुःखों से बिलबिलाता रहता है तथा अन्त में मर जाता है।”

“इस तरह पुनः पुनः जन्म ग्रहण करता और मरता है। संसार की इस दारुण व भयावह स्थिति को देखकर हम लोगों को विरक्ति हो गई। हमने भगवान् नेमिनाथ के पास संयम ग्रहण कर लिया और संसार के इस दुःखदायक आवा-गमन के मूल कारण कर्म-बन्धनों को काटने में सतत प्रयत्नशील रहने लगे हैं।”

इस परमाश्चर्योत्पादक वृत्तान्त को सुनकर वसुदेव, बलराम और कृष्ण आदि भी वहाँ आ पहुँचे। वसुदेव अपने सात पुत्रों के बीच ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो अपने सात नक्षत्रों के साथ स्वयं चन्द्रमा ही वहाँ आ उपस्थित हो गया हो। सबकी आँखों से आँसुओं की मानो गंगा-यमुना पूर्ण प्रवाह से बह रही थी, सबके हृदयों में स्नेह-सागर हिलोरें ले रहा था, सब विस्फारित नेत्रों से टकटकी लगाये साश्चर्य उन छहों मुनियों की ओर देख रहे थे, पर छहों मुनि शान्त रागरहित निर्विकार सहज मुद्रा में खड़े थे।

कृष्ण ने भावातिरेक के कारण अवरुद्ध कण्ठ से कहा—“हमारे इस अचिन्त्य, अद्भुत मिलन से किसको आश्चर्य नहीं होगा? हा दुर्देव! कंस के मारे जाने के पश्चात् भी हम उसके द्वारा पैदा किये गये विछोह के दावानल में अब तक जल रहे हैं। कैसी है यह विधि की विडम्बना कि एक ओर मैं त्रिखण्ड

की राज्यश्री का उपभोग कर रहा हूँ और दूसरी ओर मेरे सहोदर छः भाई भिक्षात्र पर जीवन-निर्वाह कर रहे हैं।”<sup>१</sup>

“मेरे प्राणाधिक अग्रजो ! आज हम सबका नया जन्म हुआ है । आओ ! हम सातों सहोदर मिलकर इस अपार वैभव और राज्य-लक्ष्मी का उपभोग करें ।”

वसुदेव आदि सभी उपस्थित यादवों ने श्रीकृष्ण की बात का बड़े हर्ष के साथ अनुमोदन करते हुए उन मुनियों से राज्य-वैभव का उपभोग करने की प्रार्थना की ।

मुनियों ने कहा— “व्याध के जाल में एक बार फँसकर उस जाल से निकला हुआ हरिण जिस प्रकार फिर कभी जाल के पास नहीं फटकता, उसी तरह विषय-भोगों के दारुण जाल से निकलकर अब हम उसमें नहीं फँसना चाहते । जन्म लेकर, एक बार फिर मिले हुए मर कर बिछुड़ जाते हैं, तत्त्ववेत्ताओं के लिये यही तो वैराग्य का मुख्य कारण होता है, पर हमने तो एक ही जन्म में दो जन्मों का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है, फिर हमें क्यों नहीं विरक्ति होती ? सब प्रकार के स्नेह-बन्धनों को काटना ही तो साधुओं का चरम लक्ष्य है । फिर हम लोग स्नेहपाश को दुःख-मूल समझते हुए इन काटे हुए स्नेह-बन्धनों को पुनः जोड़ने का विचार ही क्यों करेंगे ? हम तो इस स्नेह-बन्धन से मुक्त हो चुके हैं ।”

“कर्मवश भवार्णव में डूबे हुए प्राणी को पग-पग पर वियोग का दारुण दुःख भोगना पड़ता है । अज्ञानवश मोहजाल में फँसा हुआ प्राणी यह नहीं सोचता कि इन्द्रियों के विषय भयंकर काले सर्प की तरह सर्वनाश करने वाले हैं । लक्ष्मी ओस-बिन्दु के समान क्षण विध्वंसिनी है, अगाध समुद्र में गिरे हुए रत्न की तरह यह मनुष्य-जन्म पुनः दुर्लभ है । अतः मनुष्य जन्म पाकर सब दुःखों के मूलभूत कर्मबन्ध को काटने का प्रत्येक समझदार व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिये ।”<sup>२</sup>

इस प्रकार अपने माता-पिता आदि को प्रतिबोध देकर वे छहों साधु भगवान् नेमिनाथ की सेवा में लौट गये ।

शोकसंतप्त देवकी भगवान् के समवसरण में पहुँची और त्रिकालदर्शी प्रभु नेमिनाथ ने कर्मविपाक की दारुणता बताते हुए अपने अमृतमय उपदेश से

१ केरिसा वा मइ रिद्धिसमंदये भिक्ष्वा भोइणो तुम्हे ? किंवा ममेइण रज्जेण ?

[चउप्पन्न महापुरिस चरियं पृ० १६७]

२ चउवन महापुरिस चरियं ।



उसकी शोक-ज्वाला को शान्त किया ।<sup>१</sup>

अंतगड़ सूत्र में मिलता-जुलता हुआ वर्णन त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है :—

सर्वज्ञ प्रभु के वचन सुनकर देवकी ने हर्षविभोर हो तत्काल उन छहों मुनियों को वन्दन करते हुए कहा—“भुंके प्रसन्नता है कि आखिर मुझे अपने पुत्रों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । यह भी मेरे लिये हर्ष का विषय है कि मेरी कुक्षि से उत्पन्न हुए एक पुत्र ने उत्कृष्ट कोटि का विशाल साम्राज्य प्राप्त किया है और शेष छहों पुत्रों ने मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साम्राज्य प्राप्त कराने वाली मुनि-दीक्षा ग्रहण की है । पर मेरा हृदय इस संताप की भीषण ज्वाला से संतप्त हो रहा है कि तुम सातों सुन्दर पुत्रों के शैशवावस्था के लालन-पालन का अति मनोरम आनन्द मैंने स्वल्पमात्र भी अनुभव नहीं किया ।”

देवकी को शान्त करते हुए करुणासागर प्रभु अरिष्टनेमि ने कहा—“देवकी ! तुम व्यर्थ का शोक छोड़ दो । अपने पूर्व-भव में तुमने अपनी सपत्नी के सात रत्नों को चुरा लिया था और उसके द्वारा बार-बार माँगने पर भी उसे नहीं लौटाया । अन्त में उसके बहुत कुछ रोने-धोने पर उसका एक रत्न लौटाया और शेष छः रत्न तुमने अपने पास ही रखे । तुम्हारे उसी पाप का यह फल है कि तुम्हारे छः पुत्र अन्यत्र पाले गये और श्रीकृष्ण ही एक तुम्हारे पास हैं ।

### क्षमामूर्ति महामुनि गज सुकुमाल

भगवान् के समवसरण से लौटकर देवकी अपने प्रासाद में आ गई । पर भगवान् के मुख से छः मुनियों के रहस्य को जान कर उसका अन्तर्मन पुत्र-स्नेह में विकल हो उठा और उसके हृदय में मातृ-स्नेह हिलोरें लेने लगा ।

वह यह सोच कर चिन्तामग्न हो गई कि ७ पुत्रों की जननी होकर भी मैं कितनी हतभागिनी हूँ कि एक भी स्तनधय पुत्र को गोद में लेकर स्तनपान नहीं करा पाई, मीठी-मीठी लोरियाँ गाकर अपने एक भी शिशु पर मातृ-स्नेह नहीं उँडेल सकी और एक भी पुत्र की शैशवावस्था की तुतलाती हुई मीठी बोली का शब्दों से पान नर आनन्दविभोर न हो सकी । इस प्रकार विचार करती हुई वह अथाह शोकसागर में गोते लगाने लगी । उसने चिन्ता ही चिन्ता में खाना-पीना छोड़ दिया ।

१ तन्नो तमायण्णिऊण देवतीए वियलियो सोयप्पसरो ।

[चञ्चवन महापुरिस चरियं, पृ० १६८]

२ सपत्न्या सप्त रत्नानि, त्वमाहार्षीः पुरा भवे ।

रुदत्याश्चापितं तस्या, रत्नमेकं पुनस्त्वया ॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०, श्लोक ११५]

माता को उदास देख कर कृष्ण के मन में चिन्ता हुई। उन्होंने माता की मनोव्यथा समझी और उसे आश्वस्त किया।

देवकी के मनोरथ की पूर्ति हेतु कृष्ण ने तीन दिन का निराहार तप कर देव का स्मरण किया। एकाग्र मन द्वारा किया गया चिन्तन इन्द्र-महेन्द्र का भी हृदय हर लेता है, फलस्वरूप हरिसौगमेषी का आसन डोलायमान हुआ। वह आया।

देव के पूछने पर कृष्ण ने कहा—“मैं अपना लघु भाई चाहता हूँ।”

देव ने कहा—“देवलोक से निकल कर एक जीव तुम्हारे सहोदर भाई के रूप में उत्पन्न होगा, पर बाल भाव से मुक्त होकर तरुण अवस्था में प्रवेश करते ही वह अर्हन्त अरिष्टनेमि के पदारविन्द की शरण ले मुण्डित हो दीक्षित होगा।”

कृष्ण बड़े प्रसन्न हुए, उन्होंने सोचा—“माता की मनोभिलाषा पूर्ण होगी, मेरे लघु भाई होगा।”

प्रसन्न मुद्रा में कृष्ण ने आकर देवकी से सारी घटना कह सुनाई। कालान्तर में देवकी ने गर्भधारण किया और सिंह का शुभ-स्वप्न देखकर जाग्रत हुई। स्वप्नफल को जानकर महाराज वसुदेव और देवकी आदि सब प्रसन्न हुए। समय पर देवकी ने प्रशस्त-लक्षण सम्पन्न पुत्ररत्न को जन्म दिया। गजतालू के समान कोमल होने के कारण बालक का नाम गज सुकुमाल रखा गया। द्वितीया के चन्द्र की तरह क्रमशः सुखपूर्वक बढ़ते हुए गज सुकुमाल तरुण एवं भोग-समर्थ हुए।

द्वारिका नगरी में सोमिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था, जो वेद-वेदांग का पारगामी था। उसकी भार्या सोमश्री से उत्पन्न सोमा नामकी एक कन्या थी। किसी दिन सभी अलंकारों से विभूषित हो सोमा कन्या राजमार्ग के एक पार्श्व में अवस्थित अपने भवन के क्रीडांगण में स्वर्णकन्दुक से खेल रही थी।

उस समय अरहा अरिष्टनेमि द्वारिका के सहस्राभ्र उद्यान में पधारें हुए थे। अतः कृष्ण वासुदेव गज सुकुमाल के साथ गजारूढ हो प्रभु-वन्दन को निकले। मार्ग में उन्होंने उत्कृष्ट रूपलावण्य युक्त सर्वांग सुन्दरी सोमा कन्या को देखा। सोमा के रूप से विस्मित होकर कृष्ण ने राजपुरुषों को आदेश दिया—“जाओ सोमिल ब्राह्मण से माँग कर इस सोमा कन्या को उसकी अनुमति से अन्तःपुर में पहुँचा दो। यह गज सुकुमाल की भार्या बनाई जायगी।”

तदनन्तर श्रीकृष्ण नगरी के मध्य मध्यवर्ती राजमार्ग से सहस्राभ्र उद्यान में पहुँचे और प्रभु को वन्दन कर भगवान् की देशना सुनने लगे।

धर्म कथा की समाप्ति पर कृष्ण अपने राज प्रासाद की ओर लौट गये किन्तु गज सुकुमाल शान्त मन से चिन्तन करते रहे । गज सुकुमाल ने खड़े होकर भगवान् से कहा—“जगन्नाथ ! मैं आपकी वारणी पर श्रद्धा एवं प्रतीति करता हूँ. मेरी इच्छा है कि माता-पिता से पूछ कर आपके पास श्रमण-धर्म स्वीकार करूँ ।” अर्हन्त अरिष्टनेमि ने कहा—“हे देवानुप्रिय ! जिसमें तुम्हें सुखानुभूति हो, वही करो । प्रमाद न करो ।” प्रभु को वन्दन कर गज सुकुमाल द्वारका की ओर प्रस्थित हुए ।

राजभवन में आकर गज सुकुमाल ने माता देवकी के समक्ष प्रव्रजित होने की अपनी अभिलाषा प्रकट की । देवकी अश्रुतपूर्व अपने लिए इस वज्रकठोर वचन को सुन कर मूर्च्छित हो गई ।

ज्ञात होते ही श्रीकृष्ण आये और गज सुकुमाल को दुलार से गोद में लेकर बोले—“तुम मेरे प्राणप्रिय लघु सहोदर हो, मैं अपना सर्वस्व तुम पर न्योछावर करता हूँ । अतः अर्हन्त अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या ग्रहण मत करो, मैं द्वारवती नगरी के महाराज पद पर तुम्हें अभिषिक्त करता हूँ ।

गज सुकुमाल ने कहा—“अम्म-तात ! ये मनुष्य के काम-भोग मलवत् छोड़ने योग्य हैं । आगे पीछे मनुष्य को इन्हें छोड़ना ही होगा । इसलिए मैं चाहता हूँ कि आपकी अनुमति पाकर मैं अर्हन्त अरिष्टनेमि के चरणों में प्रव्रज्या लेकर स्व-पर का कल्याण करूँ ।”

विविध युक्ति-प्रयुक्तियों से समझाने पर भी जब गज सुकुमाल संसार के बन्धन में रहने को तैयार नहीं हुए, तब इच्छा न होते हुए भी माता-पिता और कृष्ण ने कहा—“वत्स ! हम चाहते हैं कि अधिक नहीं तो कम से कम एक दिन के लिये ही सही, तू राज्य-लक्ष्मी का उपभोग अवश्य कर ।”

श्री कृष्ण ने गज सुकुमाल का राज्याभिषेक किया, किन्तु गज सुकुमाल अपने निश्चय पर अडिग रहे ।

बड़े समारोह से गज सुकुमाल का निष्क्रमण हुआ । अर्हन्त अरिष्टनेमि के चरणों में दीक्षित होकर गज सुकुमाल अणगार बन गये ।

दीक्षित होकर उसी दिन दोपहर के समय वे अर्हन्त अरिष्टनेमि के पास आये और तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन कर बोले—“भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं महाकाल श्मशान में एक रात्रि की प्रतिमा ग्रहण कर रहना चाहता हूँ ।”

भगवान् की अनुमति पाकर गज सुकुमाल ने प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया और सहस्राब्द वन उद्यान से भगवान् के पास से निकलकर महाकाल

श्मशान में आये, स्थंडिल की प्रतिलेखना की और फिर थोड़ा शरीर को झुका कर दोनों पैर संकुचित कर एक रात्रि की महाप्रतिमा में ध्यानस्थ हो गये ।

उधर सोमिल ब्राह्मण, जो यज्ञ की समिधा—लकड़ी आदि के लिए नगर के बाहर गया हुआ था, समिधा, दधे, कुश और पत्ते लेकर लौटते समय महाकाल श्मशान के पास से निकला । सन्ध्या के समय वहां गज सुकुमाल मुनि को ध्यानस्थ देखते ही पूर्वजन्म के वैर की स्मृति से वह क्रुद्ध हुआ और उत्तेजित हो बोला—“अरे इस गज सुकुमाल ने मेरी पुत्री सोमा को बिना दोष के काल-प्राप्त दशा में छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण की है, अतः मुझे गज सुकुमाल से बदला लेना चाहिए ।”

ऐसा सोच कर उसने चहुं ओर देखा और गीली मिट्टी लेकर गज सुकुमाल मुनि के सिर पर मिट्टी की पाज बांधकर जलती हुई चिता में से केसू के फूल के समान लाल-लाल ज्वाला से जगमगाते अंगारों में स्तक पर रख दिये ।

पाप मानव को निर्भय नहीं रहने देता । सोमिल भी भयभीत होकर पीछे हटा और छुपता हुआ दबे पाँवों अपने घर चला गया ।

गज सुकुमाल मुनि के शरीर में उन अंगारों से भयंकर वेदना उत्पन्न हुई जो असह्य थी, पर मुनि ने मन से भी सोमिल ब्राह्मण से द्वेष नहीं किया । शान्त मन से सहन करते रहे । ज्यों-ज्यों श्मशान की सनसनाती वायु से मुनि के स्तक पर अग्नि की ज्वाला तेज होती गई और सिर की नाड़ियों, नसें तड़-तड़कर टूटने लगीं, त्यों-त्यों मुनि के मन की निर्मल ज्ञान-धारा तेज होने लगी । शास्त्रीय शब्दज्ञान अति अल्प होने पर भी मुनि का आत्मज्ञान और चरित्रबल उच्चतम था । दीक्षा के प्रथम दिन बिना पूर्वाम्यास के ही भिक्षु प्रतिमा की इस कठोर साधना पर अग्रसर होना ही उनके उन्नत-मनोबल का परिचायक था । शुक्ल-ध्यान के चरित्र के सर्वोच्च शिखर पर चढ़कर उन्होंने वीतराग वाणी को पूर्णरूप से हृदयंगम कर लिया । वे तन्मय हो गये, स्व-पर के भेद को समझ लेने से उनका अन्तर्मन गूँज रहा था—“शरीर के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है, क्योंकि मैं अजर, अमर, अविनाशी हूँ । मुझे न अग्नि जला सकती, न शस्त्र काट सकते और न भौतिक सुख-दुःखों के ये झोंके ही हिला सकते हैं । मैं सदा अच्छेद्य, अभेद्य और अदाह्य हूँ । यह सोमिल जो अपना पुराना ऋण ले रहा है, वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ता, वह तो उल्टे मेरे ऋणमुक्त होने में सहायता कर रहा है । अतः ऋण चुकाने में दुःख, चिन्ता, क्षोभ और आनाकानी का कारण ही क्या है ?”

कितना साहसपूर्ण विचार था ! गज सुकुमाल चाहते तो सिर को थोड़ा-सा झुकाकर उस पर रखे अंगारों को एक हल्के झटके से ही नीचे गिरा सकते थे

पर वे महामुनि अर्हन्तु अरिष्टनेमि के उपदेश से जड़-चेतन के पृथक्त्व को समझकर सच्चे स्थितप्रज्ञ एवं अन्तर्द्रष्टा राजर्षि बन चुके थे। नमी राजर्षि ने मिथिला को जलते देखकर कहा था—

“मिथिलाए डज्जमाणीए न मे डज्जइ किचएण”

परन्तु गज सुकुमाल ने तो अपने शरीर के उत्तमांग को जलते हुए देखकर भी निर्वात प्रदेश-स्थित दीपशिखा की तरह अचल-अकम्प ध्यान से झडोल रहकर बिना बोले ही यह बता दिया—

“डज्जमाणो सरीरम्मि, न मे डज्जइ किचएण”

धन्य है उस वीर साधक के अदम्य धैर्य और निश्चल मनोवृत्ति को ! राग-द्वेष रहित होकर उसने उत्कृष्ट अध्यवसायों की प्रबल आग में समस्त कर्मसमूह को अन्तर्मुहूर्त में ही भस्मावशेष कर केवलज्ञान और केवलदर्शन के साथ शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरंजन, निरंकार, सच्चिदानन्द शिवस्वरूप की अवाप्ति एवं मुक्ति की प्राप्ति करली। कोटि-कोटि जन्मों की तपस्याओं से भी दुष्प्राप्य मोक्ष को उन्होंने एक दिन से भी कम की सच्ची साधना से प्राप्त कर यह सिद्ध कर दिया कि मानव की भावपूर्ण उत्कट साधना और लगन के सामने सिद्धि कोई दूर एवं दुष्प्राप्य नहीं है।

गज सुकुमाल के लिए कृष्ण की जिज्ञासा

दूसरे दिन प्रातःकाल कृष्ण महाराज गज पर आरूढ़ हो भगवान् नेमिनाथ को वन्दन करने निकले। वन्दन के पश्चात् जब उन्होंने गज सुकुमाल मुनि को नहीं देखा तो पूछा—“भगवन् ! मेरा छोटा भाई गज सुकुमाल मुनि कहां है ?”

भगवान् ने कहा—“कृष्ण ! मुनि गज सुकुमाल ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है।”

कृष्ण बोले—“भगवन्, यह कैसे ?”

इस पर अरिहन्त अरिष्टनेमि ने सारी घटना कह सुनाई। कृष्ण ने रोष में आकर कहा—“प्रभो ! वह कौन है, जिसने गज सुकुमाल को अकाल में ही जीवन-रहित कर दिया ?”

भगवान् ने कृष्ण को उपशान्त करते हुए कहा—“कृष्ण ! तुम रोष मत करो, उस पुरुष ने गज सुकुमाल को सिद्धि प्राप्त करने में सहायता प्रदान की है। द्वारवती से आते समय जैसे तुमने ईंट उठा कर वृद्ध ब्राह्मण की सहायता

की वैसे ही उस पुरुष ने गज सुकुमाल के लाखों भवों के कर्मों को क्षय करने में सहायता प्रदान की है।”

जब श्रीकृष्ण ने उस पुरुष के सम्बन्ध में जानने का विशेष आग्रह किया तब श्री नेमिनाथ ने कहा—“द्वारिका लौटते समय जो तुम्हें अपने सम्मुख देख कर भूमि पर गिर पड़े, वही गज सुकुमाल का प्राणहारी है।”

कृष्ण त्वरा में भगवान् को वन्दन कर द्वारिका की ओर चल पड़े।

जब सोमिल को यह मालूम हुआ कि कृष्ण भगवान् नेमिनाथ के दर्शन एवं वन्दन के लिए गये हैं, तो वह मारे भय के थर-थर कांपने लगा। उसने सोचा—“सर्वज्ञ भगवान् नेमिनाथ से कृष्ण को मेरे अपराध के सम्बन्ध में पता चल जायेगा और कृष्ण अपने प्राणप्रिय छोटे भाई की हत्या के अपराध में मुझे दारुण प्राणदण्ड देंगे।”

यह सोच कर सोमिल अपने प्राण बचाने के लिए अपने घर से भाग निकला। संयोगवश वह उसी मार्ग से आ निकला, जिस मार्ग से श्रीकृष्ण लौट रहे थे। गजारूढ़ श्रीकृष्ण को अपने सम्मुख देखते ही सोमिल आतंकित हो भूमि पर गिर पड़ा और मारे भय के वह तत्काल वहीं पर मर गया।

अरिहंत अरिष्टनेमि ने गज सुकुमाल जैसे राजकुमार को क्षमावीर बनाकर उनका उद्धार किया। गज सुकुमाल की संयमसाधना से यादव-कुल में व्यापक प्रभाव फैल गया और उसके फलस्वरूप अनेक कर्मवीर राजकुमारों ने धर्मवीर बनकर आत्म-साधना के मार्ग में आदर्श प्रस्तुत किया।

### नेमिनाथ के मुनिसंघ में सर्वोत्कृष्ट मुनि

भगवान् नेमिनाथ के साधु-संघ में यों तो सभी साधु घोर तपस्वी और दुष्कर करणी करने वाले थे, तथापि उन सब मुनियों में ढंढण मुनि का स्थान स्वयं भगवान् नेमिनाथ द्वारा सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

वासुदेव श्री कृष्ण की ‘ढंढणा’ रानी के आत्मज ‘ढंढण कुमार’ भगवान् नेमिनाथ का धर्मोपदेश सुन कर विरक्त हो गये। उन्होंने पूर्ण यौवन में अपनी अनेक सच्चःपरिणीता सुन्दर पत्नियों और ऐश्वर्य का परित्याग कर भगवान् नेमिनाथ के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण की। इनकी दीक्षा के समय श्री कृष्ण ने वड़ा ही भव्य निष्क्रमणोत्सव किया।

मनि ढंढण दीक्षित होकर सदा प्रभ नेमिनाथ की सेवा में रहे। सहज

विनीत और मृदु स्वभाव के कारण वे थोड़े ही दिनों में सबके प्रिय और सम्मान-पात्र बन गये। कठिन संयम और तप की साधना करते हुए उन्होंने शास्त्रों का भी अध्ययन किया। कुछ काल व्यतीत होने पर ढंडण मुनि के पूर्व-संचित अन्तराय-कर्म का उदय हुआ। उस समय वे कहीं भी भिक्षा के लिए जाते तो उन्हें किसी प्रकार की भिक्षा नहीं मिलती। उनका अन्तराय-कर्म इतनी उग्रता के साथ उदित हुआ कि उनके साथ भिक्षार्थ जाने वाले साधुओं को भी कहीं से भिक्षा प्राप्त नहीं होती और ढंडण मुनि एवं उनके साथ गये हुए साधुओं को खाली हाथ लौटना पड़ता। यह क्रम कई दिन तक चलता रहा।

एक दिन साधुओं ने भगवान् नेमिनाथ को वन्दन करने के पश्चात् पूछा—“भगवन् ! यह ढंडण ऋषि आप जैसे त्रिलोकीनाथ के शिष्य हैं, महाप्रतापी अर्द्धचक्री कृष्ण के पुत्र हैं पर इन्हें इस नगर के बड़े-बड़े श्रेष्ठियों, धर्मनिष्ठ श्रावकों एवं परम उदार गृहस्थों के यहां से किंचित् मात्र भी भिक्षा प्राप्त नहीं होती। इसका क्या कारण है ?”

मुनियों के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु नेमिनाथ ने कहा—“ढंडण अपने पूर्व भव में मगध प्रान्त के ‘धान्यपुर’ ग्राम में ‘पारासर’ नाम का ब्राह्मण था। वहां राजा की ओर से वह कृषि का आयुक्त नियुक्त किया गया। स्वभावतः कठोर होने से वह ग्रामीणों के द्वारा राज्य की भूमि में खेती करवाता और उनको भोजन के समय भोजन आ जाने पर भी खाने की छुट्टी न देकर काम में लगाये रखता। भूखे, प्यासे और थके हुए बैलों एवं हालियों से पृथक्-२ एक-एक हलाई (हल द्वारा भूमि को चीरने की रेखा) निकलवाता। अपने उस दुष्कृत के फलस्वरूप इसने घोर अन्तराय-कर्म का बन्ध किया। वही पारासर मर कर अनेक भवों में भ्रमण करता हुआ ढंडण के रूप में जन्मा है। पूर्वकृत अन्तराय-कर्म के उदय से ही इसको सम्पन्न कुलों में चाहने पर भी भिक्षा नहीं मिलती।”

भगवान् के मुखारविन्द से यह सब सुनकर ढंडण मुनि को अपने पूर्वकृत दुष्कृत के लिए बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने प्रभु को नमस्कार कर यह अभिग्रह किया, “मैं अपने दुष्कर्म को स्वयं भोग कर काटूंगा और कभी दूसरे के द्वारा प्राप्त हुआ भोजन ग्रहण नहीं करूंगा।”

अन्तराय के कारण ढंडण को कहीं से भिक्षा मिलती नहीं और दूसरों द्वारा लाया गया आहार उन्हें अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार लेना था नहीं, इसके परिणामस्वरूप ढंडण मुनि को कई दिनों की निरन्तर निराहार तपस्या हो गई। फिर भी वे समभाव से तप और संयम की साधना अविचल भाव से करते रहे।

एक दिन श्रीकृष्ण ने समवसरण में ही पूछा—“भगवन् ! आपके इन सभी महान् मुनियों में कठोर साधना करने वाले कौनसे मुनि हैं ?”

भगवान् ने फरमाया—“हरे ! सभी मुनि कठोर साधना करने वाले हैं पर इन सबमें ढंढरा दुष्कर करणी करने वाला है । उसने काफी लम्बा काल अलाभ-परिषह को समभाव से सहते हुए अनशन-पूर्वक बिताया है । उसके मन में किंचिन्मात्र भी ग्लानि नहीं, अतः यह सर्वोत्कृष्ट तपस्वी मुनि है ।”

कृष्ण यह सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और देशना के पश्चात् भगवान् नेमिनाथ को वन्दन कर मन ही मन ढंढरा मुनि की प्रशंसा करते हुए अपने राज-प्रासाद की ओर लौटे । उन्होंने द्वारिका में प्रवेश करते ही ढंढरा मुनि को गोचरी जाते हुए देखा । कृष्ण तत्काल हाथी से उतर पड़े और बड़ी भक्ति से उन्होंने ढंढरा ऋषि को नमस्कार किया ।

एक श्रेष्ठी अपने द्वार पर खड़ा-खड़ा यह सब देख रहा था । उसने सोचा कि धन्य है यह मुनि जिनको कृष्ण ने हाथी से उतर कर श्रद्धावन्त हो बड़ी भक्ति के साथ वन्दन किया है ।

संयोग से ढंढरा भी भिक्षाटन करते हुए उस श्रेष्ठी के मकान में भिक्षार्थ चले गये । सेठ ने बड़े आदर के साथ ढंढरा मुनि के पात्र में लड्डू बहराये । ढंढरा मुनि भिक्षा लेकर प्रभु की सेवा में पहुँचे और वन्दन कर उन्होंने प्रभु से पूछा—“प्रभो ! क्या मेरा अन्तराय कर्म क्षीण हो गया है, जिससे कि मुझे आज भिक्षा मिली है ?”

प्रभु ने फरमाया—“ढंढरा मुने ! तुम्हारा अन्तराय कर्म अभी क्षीण नहीं हुआ है । हरि के प्रभाव से यह भिक्षा तुम्हें मिली है । हरि ने तुम्हें प्रणाम किया इससे प्रभावित हो श्रेष्ठी ने तुम्हें यह भिक्षा दी है ।”

चिरकाल से उपोषित ढंढरा ने अपने मन में भिक्षा के प्रति राग का लेश भी पैदा नहीं होने दिया । “यह भिक्षा अपनी लब्धि नहीं अपितु पर-प्राप्ति है, अतः मुझे इसे एकान्त निर्जीव भूमि में परिष्ठापित कर देना चाहिये” यह सोचकर ढंढरा ऋषि स्थंडिल भूमि में उस भिक्षा को परठने चल पड़े । उन्होंने एकान्त में पहुँच कर भूमि को रजोहरण से परिमार्जित किया और वहाँ भिक्षान्न परठने लगे । उस समय उनके अन्तस्तल में शुभ भावों का उद्रेक हुआ । वे स्थिर मन से सोचने लगे—“ओह ! उपाजित कर्मों को क्षय करना कितना दुस्साध्य है । प्राणी मोह में फँसकर दुष्कृत करते समय यह नहीं सोचता कि इन दुष्कृतों का परिणाम मुझे एक न एक दिन भोगना ही पड़ेगा ।”

इस प्रकार विचार करते २ उनका चिन्तन शुभ-ध्यान की उच्चकोटि पर पहुँच गया । शुबल-ध्यान की इस प्रक्रिया में उनके चारों घातिक-कर्म नष्ट हो गये और उन्हें केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई । तत्क्षण गगनमण्डल देव दुन्दुभियों की ध्वनि से गूँज उठा ।



समस्त लोकालोक को हस्तामलक के समान देखने वाले मुनि ढंढण स्थंडिल भूमि से प्रभु की सेवा में लौटे और भगवान् नेमिनाथ को वन्दन कर वे प्रभु की केवली-परिषद् में बैठ गये ।

ढंढण मुनि ने केवल अन्तराय ही नहीं, चारों घाती कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान प्राप्त किया और फिर सकल कर्म क्षय कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये ।

### भगवान् अरिष्टनेमि के समय का महान् आश्चर्य

श्री कृष्ण का यादवों की ही तरह पाण्डवों के प्रति भी पूर्ण वात्सल्य था । वे सबके सुख-दुःख में सहायक होकर सब की प्रतिपालना करते । श्री कृष्ण की छत्रछाया में पाण्डव इन्द्रप्रस्थ में बड़े आनन्द से राज्यश्री का उपभोग कर रहे थे ।

एक समय नेमिनारद इन्द्रप्रस्थ नगर में आये और महारानी द्रौपदी के भव्य प्रासाद में जा पहुँचे । पाण्डवों ने नारद का सत्कार किया, पर द्रौपदी ने नारद को अविरति समझ कर विशेष आदर-सत्कार नहीं दिया । नारद क्रुद्ध हो मन ही मन द्रौपदी का कुछ अनिष्ट करने की सोचते हुए वहाँ से चले गये ।

वे यह भली प्रकार जानते थे कि पाण्डवों पर श्रीकृष्ण की असीम कृपा के कारण भरतखण्ड में कृष्ण के भय से कोई द्रौपदी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता, अतः द्रौपदी के लिये अनिष्टप्रद कुछ प्रपञ्च खड़ा करने की उधेड़-बुन में वे घातकी खण्ड द्वीप के भरतक्षेत्र की अमरकंका नगरी में स्त्रीलम्पट पद्मनाभ राजा के राज-प्रासाद में पहुँचे ।

राजा पद्म ने राजसिंहासन से उठकर नारद का बड़ा सत्कार किया और उन्हें अपने अन्तःपुर में ले गया । उसने वहाँ अपनी सात सौ (७००) परम सुन्दरी रानियों की ओर इंगित करते हुए नारद से गर्व सहित पूछा—“महर्षे ! आपने विभिन्न द्वीप-द्वीपान्तरों के राज-प्रासादों और बड़े-बड़े अवनिपतियों के अन्तःपुरों को देखा है, पर क्या कहीं इस प्रकार की चारुहासिनी, सर्वांगसुन्दरी स्त्रियों में रत्नतुल्य रमणियाँ देखी हैं ?”

अपने अभीष्टत कार्य के सम्पादन का उचित अवसर समझ कर नारद बोले—“राजन् ! तुम कूपमण्डूक की तरह बात कर रहे हो । जब्बूद्वीपस्थ भरतखण्ड के हस्तिनापुराधिप पाण्डवों की महारानी द्रौपदी के सामने तुम्हारी ये सब रानियाँ दासियाँ सी लगती हैं ।” यह कहकर नारद वहाँ से चल दिये ।

द्रौपदी को प्राप्त करने हेतु पद्मनाभ ने तपस्यापूर्वक अपने मित्र देव की आराधना की और देव के प्रकट होने पर उससे द्रौपदी को लाने की

प्रार्थना की। देव ने पद्मनाभ से कहा—“द्रौपदी पतिव्रता है। वह पाँडवों के अतिरिक्त किसी भी पुरुष को नहीं चाहती। फिर भी तुम्हारी प्रीति हेतु मैं उसे ले आता हूँ।”

यह कहकर देव हस्तिनापुर पहुँचा और भवस्वापिनी विद्या से द्रौपदी को प्रगाढ़ निद्राधीन कर पद्मनाभ के पास ले आया।

निद्रा खुलते ही सारी स्थिति देख कर द्रौपदी बड़ी चिन्तित हुई। उसे चिन्तित देख पद्मनाभ ने कहा—“सुन्दरी! किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। मैं धातकीखण्ड द्वीप की अमरकंका नगरी का नरेश्वर पद्मनाभ हूँ। तुम्हें अपनी पट्टमहिषी बनाने हेतु मैंने तुम्हें यहाँ मंगवाया है।”

द्रौपदी ने क्षणभर में ही अपनी जटिल स्थिति को समझ लिया और बड़ा दूरदर्शितापूर्वक उत्तर दिया—“राजन्! भरतखण्ड में कृष्ण वासुदेव मेरे रक्षक हैं, वे यदि छः मास के भीतर मेरी खोज करते हुए यहाँ नहीं आयेंगे तो मैं तुम्हारे निर्देशानुसार विचार करूँगी।”<sup>१</sup>

यहाँ किसी दूसरे द्वीप के किसी आदमी का पहुँचना अशक्य है, यह समझ कर कुटिल पद्मनाभ ने द्रौपदी की बात मान ली और द्रौपदी को कन्याओं के अन्तःपुर में रख दिया। वहाँ द्रौपदी आर्यबिल तप करते हुए रहने लगी।<sup>२</sup>

प्रातःकाल होते ही पाण्डवों ने द्रौपदी को न पाकर उसे ढूँढ़ने के सब प्रयास किये, पर द्रौपदी का कहीं पता न चला। लाचार हो उन्होंने कुन्ती के माध्यम से श्रीकृष्ण को निवेदन किया।

कृष्ण भी यह सुन कर क्षणभर विचार में पड़ गये। उसी समय नारद स्वयं द्वारा उत्पन्न किये गये अनर्थ का कौतुक देखने वहाँ आ पहुँचे। कृष्ण द्वारा द्रौपदी का पता पूछने पर नारद ने कहा कि उन्होंने धातकीखण्ड द्वीप की अमरकंका नगरी के राजा पद्मनाभ के रनिवास में द्रौपदी जैसा रूप देखा है।

नारद की बात सुन कर कृष्ण ने पाण्डवों एवं सेना के साथ मागध तीर्थ की ओर प्रयाण किया और वहाँ अष्टम तप से लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का चिंतन किया। सुस्थित यह कहते हुए उपस्थित हुआ—“कहिये! मैं आपकी क्या सेवा करूँ?”

कृष्ण ने कहा—“पद्मनाभ ने सती द्रौपदी का हरण कर लिया है, इसलिए ऐसा उपाय करो जिससे वह लाई जा सके।”

१ ज्ञाता धर्म कथा, १।१६

२ वही।

सुस्थित देव ने कहा—“पद्मनाभ के एक मित्र देव ने द्रौपदी का हरण कर उसे सौंपा है, उसी प्रकार मैं द्रौपदी को वहाँ से आपके पास ले आऊँ अथवा आप आज्ञा दें तो पद्मनाभ को सदलबल समुद्र में डुबो दूँ और द्रौपदी आपको सौंप दूँ।”

श्री कृष्ण ने कहा—“इतना कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। हमारे छहों के रथ लवण सागर को निर्बाध गति से पार कर सकें, ऐसा प्रबन्ध कर दो। हम खुद ही जाकर द्रौपदी को लायें, यह हमारे लिए शोभनीय कार्य होगा।”

सुस्थित देव ने श्रीकृष्ण के इच्छानुसार प्रबन्ध कर दिया और छहों रथ स्थल की तरह विस्तीर्ण लवणोदधि को पार कर अमरकंका पहुँच गये।

कृष्ण ने अपने सारथि दारुक को पद्मनाभ के पास भेज कर द्रौपदी को लौटाने को कहलवाया<sup>१</sup> पर पद्मनाभ यह सोचकर कि ये छह आदमी मेरी अपार सेना के सामने क्या कर पायेंगे, युद्ध के लिए सन्नद्ध हो आ डटा।

पाण्डवों के इच्छानुसार कृष्ण ने पहले पाण्डवों को पद्मनाभ से युद्ध करने की अनुमति दी, पर वे पद्मनाभ के अपार सैन्यबल से पराजित हो कृष्ण के पास लौट आये।

तदनन्तर श्री कृष्ण ने पाँचजन्य शंख का महाभयंकर घोष किया और साङ्ग-धनुष की टंकार लगाई तो पद्मनाभ की दो तिहाई सेना नष्टप्राय हो तितर-बितर हो गई और भय से थर-थर कांपता हुआ पद्मनाभ एक तिहाई अपनी बची-खुची भयत्रस्त सेना के साथ अपने नगर की ओर भाग खड़ा हुआ।

पद्मनाभ ने नगर के अन्दर पहुँच कर अपने नगरद्वार के लोह-कपाट बन्द कर दिये और रनिवास में जा छुपा।

इधर श्री कृष्ण ने नृसिंह रूप धारण कर एक हत्थल (हस्ततल) के प्रहार से ही नगर के लोह-कपाटों को चूर्ण कर दिया और वे सिंह-गर्जना करते हुए पद्मनाभ के राज-प्रासाद की ओर बढ़ चले। उनकी सिंह-गर्जना से सारी अमरकंका हिल उठी और शत्रुओं के दिल दहल गये।

साक्षात् महाकाल के समान अपनी ओर झपटते श्री कृष्ण को देख कर पद्मनाभ द्रौपदी के चरणों में जा गिरा और प्राण भिक्षा माँगते हुए गिड़गिड़ा कर कहने लगा—“देवि! क्षमा करो, मैं तुम्हारी शरण में हूँ, इस कराल कालोपम केशव से मेरी रक्षा करो।”

द्रौपदी ने कहा—“यदि प्राणों की कुशल चाहते हो तो स्त्री के कपड़े पहन कर मेरे पीछे-पीछे चले आओ।”

भयकंपित पद्मनाभ ने तत्काल अबला नारी का वेष बनाया और द्रौपदी को आगे कर उसके पीछे-पीछे जा उसने श्री कृष्ण के चरणों में नमस्कार किया। शरणागतवत्सल कृष्ण ने भी उसे अभयदान दिया और द्रौपदी को पाण्डवों के पास ले आये।<sup>१</sup>

तदनन्तर द्रौपदी सहित वे सब छह रथों पर आरोहण हो, जिस पथ से आये थे उसी पथ से लौट पड़े।

उस समय धातकीखण्ड की चम्पानगरी के पूर्णभद्र उद्यान में वहाँ के तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समवसरण में बैठे हुए धातकीखण्ड के वासुदेव कपिल ने कृष्ण द्वारा किये गये शंखनाद को सुन कर जिनेन्द्र प्रभु से प्रश्न किया—“प्रभो! मेरे शंखनाद के समान यह किसका शंखनाद कर्णगोचर हो रहा है?”

द्रौपदी-हरण का सारा वृत्तान्त सुनाते हुए सर्वज्ञ प्रभु मुनिसुव्रत ने कहा—“कपिल! जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र के त्रिलण्डाधिपति वासुदेव कृष्ण द्वारा किया हुआ यह शंख-निनाद है।”

कपिल ने कहा—“भगवन्! मुझे उस अतिथि का स्वागत करना चाहिए।”

भगवान् मुनिसुव्रत ने कहा—“कपिल जिस तरह दो तीर्थंकर और दो चक्रवर्ती एक जगह नहीं मिल पाते, उसी प्रकार दो वासुदेव भी नहीं मिल सकते। हाँ तुम कृष्ण की श्वेत-पीत ध्वजा के अग्रभाग को देख सकोगे।”<sup>२</sup>

भगवान् से यह सुन कर कपिल वासुदेव श्रीकृष्ण वासुदेव से मिलने की इच्छा लिये कृष्ण के रथ के पहियों का अनुसरण करता हुआ त्वरित गति से

१ सायूचे मां पुरस्कृत्य, स्त्रीवेशं विरचय्य च।

प्रयाहि शरणं कृष्णं, तथा जीवसि नान्यथा ॥६१॥

इत्युक्तः स तथा चक्रे, नमश्चक्रे च शार्ङ्गणम्।

शरण्यो वासुदेवोऽपि, मा मपीरित्युवाच तम् ॥६२॥

[त्रिषष्टि शलाका पु० चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

२ तए ण मुणि सुब्बए अरहा कविलं वासुदेवं एवं वयासी, णो खलु देवाणुप्पिया एवं भूयं वा ३ जणं अरिहंता वा अरहंतं पासंति, चककवटी वा चककवटि पासंति.....  
.....वासुदेवा वा वासुदेवं पासन्ति। तह वि य णं तुमं कण्हस्स वासुदेवस्स तवणसमुद्दं मज्झमज्जेणं वीईवयमाणस्स सेया पीयाइं धयग्गाइं पासिहिसि।

[ज्ञाता धर्म कथा, सूत्र १, अध्याय १६]

समुद्रतट की ओर बढ़ा और उसने समुद्र में जाते हुए कृष्ण के रथ की श्वेत और पीत वर्ण की ध्वजाओं के अग्रभाग देखे । उसने अपने शंख में इस आशय की ध्वनि को प्ररित कर शंखनाद किया—“यह मैं कपिल वासुदेव आपसे मिलने की उत्कंठा लिये आया हूँ । कृपा कर लौटिये ।”

श्रीकृष्ण ने भी शंख-निनाद से ही उत्तर दिया—“हम बहुत दूर निकल आये हैं । अब आप आने को कुछ न कहिये ।”<sup>१</sup>

शंख-ध्वनि से कृष्ण का उत्तर पा कपिल अमरकंका नगरी पहुँचा । उसने पद्मनाभ की भर्त्सना कर उसे निर्वासित कर दिया एवं उसके पुत्र को अमरकंका के राजसिंहासन पर आसीन किया ।

इधर लवण समुद्र पार कर कृष्ण ने पाण्डवों से कहा—“मैं सुस्थित देव को धन्यवाद देकर आता हूँ, तब तक आप लोग गंगा के उस पार पहुँच जाइये ।”

पाण्डवों ने नाव में बैठ कर गंगा के प्रबल प्रवाह को पार किया और परस्पर यह कहते हुए कि आज श्रीकृष्ण के बल को देखेंगे कि वे गंगा के इस प्रतितीव्र प्रवाह को कैसे पार करते हैं, नाव को वहीं रख लिया ।<sup>२</sup>

सुस्थित देव से विदा हो कृष्ण गंगा तट पर आये और वहाँ नाव न देख कर एक हाथ से घोड़ों सहित रथ को पकड़े दूसरे हाथ से जल में तैरते हुए गंगा को पार करने लगे । पर गंगा के प्रवाह के बीचोंबीच पहुँचते २ बे थक गये और सोचने लगे कि बिना नाव के पाण्डवों ने गंगा नदी पार कर ली, वे बड़े शक्त हैं । कृष्ण के मन में यह विचार उत्पन्न होते ही गंगा के प्रवाह की गति धीमी पड़ गई और उन्होंने सहज ही गंगा को पार कर लिया ।

गंगा के तट पर पहुँचते ही कृष्ण ने पाण्डवों से प्रश्न किया—“आप लोगों ने गंगा को कैसे पार कर लिया ?”

पाण्डवों ने उत्तर दिया—“नाव से ।”

कृष्ण ने पूछा—“फिर, आप लोगों ने मेरे लिए नाव क्यों नहीं भेजी ?”

१ कपिलो विष्णुरेषोऽहमुत्कस्त्वां द्रष्टुमागतः ।

तद्बलस्वेत्यशराद्यं, शंखं दध्मी स शार्ङ्गं भृत् ॥७२॥

आगमाम वयं दूरं त्वया वाच्यं न किञ्चन ।

इति व्यक्ताक्षरध्वानं, शंखं कृष्णोऽप्यपूरयत् ॥७३॥

[त्रिषष्टि शलाका पु. चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

२ द्रक्ष्यामोऽद्य बलं विष्णोर्नौरवैव विधायंताम् ।

[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, पर्व ८, सर्ग १०, श्लो. ७६]

पाण्डवों ने हँसते हुए कहा—“आपके बल की परीक्षा करने के लिए ।”

कृष्ण उस उत्तर से अतिक्रुद्ध हो बोले—“मेरे बल की परीक्षा क्या अभी भी अवशिष्ट रह गई थी ? अथाह-अपार लवण समुद्र को पार करने और अमर-कंका की विजय प्राप्त करने के पश्चात् भी आप लोगों को मेरा बल ज्ञात नहीं हुआ ?”

यह कहते हुए कृष्ण ने लौह-दण्ड से पाण्डवों के रथों को चकनाचूर कर डाला और उन्हें अपने राज्य से बाहर चले जाने का आदेश दिया ।

तदनन्तर श्रीकृष्ण अपनी सेना के साथ द्वारिका की ओर चल पड़े और पाँचों पाण्डव द्रौपदी सहित हस्तिनापुर आये । उन्होंने माता कुन्ती से सारा वृत्तान्त कह सुनाया ।

सारा वृत्तान्त सुन कर कुन्ती द्वारिका पहुँची और श्रीकृष्ण से कहने लगी—“कृष्ण ! तुम्हारे द्वारा निर्वासित मेरे पुत्र कहाँ रहेंगे ? क्योंकि इस भरताड़ में तो तिल रखने जितनी भूमि भी ऐसी नहीं है, जो तुम्हारी न हो ।”

कृष्ण ने कहा—“दक्षिण सागर के तट के पास पाण्डु-मथुरा<sup>१</sup> नामक नया नगर बसा कर आपके पुत्र वहाँ रहें ।

कुन्ती के लौटने पर पाण्डवों ने दक्षिण समुद्र के तट के पास पाण्डु-मथुरा बसाई और वहाँ रहने लगे ।<sup>२</sup>

उधर श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर अपनी बहिन सुभद्रा के पौत्र एवं अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को अभिषिक्त किया ।<sup>३</sup>

१ (क) तं गच्छतु एवं पञ्च पंडवा दाहिणिल्लवेयानि तत्थ पंडु महुरं निवेशंतु.....  
[जाता धर्म कथा, १।१६]

(ख) कृष्णोऽप्युचे दक्षिणाब्धे रोषस्यभिनवां पुरीम् ।  
निवेशय पाण्डुमथुरां, वसन्तु तव सूनवः ॥६१॥  
[त्रिवष्टि ज. पु. चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

२ .....पंडु महुरं नगरं निवेशति ।  
[जाता० १।१६]

३ कृष्णोऽपि हस्तिनापुरेऽभिषिषेच परीक्षितम् ।.....  
[त्रिवष्टि ज. पु. च., पर्व ८, सर्ग १०, श्लो. ६३]

जिस स्थान पर कृष्ण ने क्रुद्ध हो पाण्डवों के रथों को तोड़ा था, वहाँ कासान्तर में 'रथमर्दन' नामक नगर बसाया गया ।<sup>१</sup>

### द्वारिका का भविष्य

भगवान् भरिष्टनेमि भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में अपने अमोघ अमृतमय उपदेशों से भव्य प्राणियों का उद्धार करते हुए द्वारिका पधारे । भगवान् के पधारने का समाचार सुन कर कृष्ण-बलराम अपने समस्त राज परिवार के साथ समवसरण में गये और भगवान् को वन्दन कर यथास्थान बैठ गये । द्वारिका और उसके आसपास की बस्तियों का जनसमूह भी समवसरण में उमड़ पड़ा ।

देशना के पश्चात् कृष्ण ने सविधिवन्दन कर प्राञ्जलिपूर्वक भगवान् से पूछा<sup>२</sup>—“भगवन् ! सुरपुर के समान इस द्वारिका का इस विशाल और समृद्ध यदुवंश का तथा मेरा अन्त कालवश स्वतः ही हीमां अथवा किसी निमित्त से, किसी दूसरे व्यक्ति के हाथ से होगा ।”

भगवान् ने कृष्ण के प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया—“कृष्ण ! घोर तपस्वी पराशर के पुत्र ब्रह्मचारी परित्राजक द्वैपायन को शाम्भु आदि यादव-कुमार सुरापान से मदोन्मत्त हो निर्दयतापूर्वक मारेंगे । इससे क्रुद्ध हो द्वैपायन यादवों के साथ ही साथ द्वारिका को जलाने का निदान कर देव होगा और वह यादवों सहित द्वारिका नगरी को जला कर राख कर डालेगा । तुम्हारा प्राणान्त तुम्हारे बड़े भाई जराकुमार के बाण से कौशाम्बी वन में होगा ।”<sup>३</sup>

त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ प्रभु के उत्तर को सुनकर सभी श्रोता स्तब्ध रह गये । सबकी घृणादृष्टि जराकुमार पर पड़ी । जराकुमार आत्मग्लानि से बड़ा लिप्त हुआ । उसने तत्काल उठ कर प्रभु को प्रणाम किया और अपने आपको इस घोर कलंकपूर्ण पातक से बचाने के लिए केवल घनुष-बाण ले द्वारिका से प्रस्थान कर वनवासी बन गया ।

१ .....लोहदण्ड परामुसह पञ्चहृं पंडवारां रहे सूचरेड, निम्बिसए आणवेड.....तथ एं रहमद्दो नामं कोह्दे निविट्ठे ।

[ज्ञाता धर्म कथा, सु. १, अ. १६]

२ कउवन महापुरिस चरियं में बलदेव द्वारा प्रश्न किये जाने का उल्लेख है । यथा—“जडाव-सरेण य पुञ्चिअं बलदेवेणं जहाभगवं केणिराउकालाओ इमीए शयरीए अणसाएणं भवि-स्तइ ? कुओ वा सयासाओ वासुदेवस्स य ?”

[कउवन महापुरिस चरियं, पृ. १६८]

३ त्रिषष्टि बलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११, श्लो. ३ से ६

लोगों के मुख से प्रभु अरिष्टनेमि द्वारा कही गई बात सुन कर द्वैपायन परिव्राजक भी द्वारिका एवं द्वारिकावासियों के रक्षार्थ नगर से दूर वन में रहने लगा ।

बलराम के सारथि व भाई सिद्धार्थ ने भावी द्वारिकादाह की बात सुन कर संसार से विरक्त हो प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की । बलराम ने भी उसे यह कहते हुए दीक्षा-ग्रहण करने की अनुमति दी कि देव होने पर वह समय पर प्रतिबोध देने अवश्य आवे । मुनि-धर्म स्वीकार कर सिद्धार्थ ने छः मास की घोर तपस्या की और आयु पूर्ण कर देव हो गया ।

### द्वारिका के रक्षार्थ मद्य-निषेध

श्री कृष्ण ने भी द्वारिका, यादवों एवं प्रजाजनों के रक्षार्थ द्वारिका में कड़ी मद्य-निषेधाज्ञा घोषित करवाई कि जो भी कोई सुरापान करेगा उसे कड़े से कड़ा दण्ड दिया जायगा । “न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी” इस कहावत को चरितार्थ करते हुए कृष्ण ने सुरा को सब अनर्थों का मूल समझ कर द्वारिका के समस्त मद्यपात्रों को द्वारिका से कुछ दूर कदम्ब वन में पर्वत की कादम्बरी गुफा के शिलाखण्डों पर फिकवा दिया । प्रत्येक नागरिक के मन में द्वारिका के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था, अतः उसे विनाश से बचाने के लिए समस्त प्रजाजम द्वारिका से सुरा का नाम तक मिटा देने का दृढ़ संकल्प लिए अग्रणीत मद्यपात्रों को ले जाकर कादम्बरी गुफा की चट्टानों पर पटकने में जुट गये ।

श्रीकृष्ण ने प्रमुख नागरिकों को और विशेषतः समस्त क्षत्रिय-कुमारों को इस निषेधाज्ञा का पूर्णरूप से पालन करने के लिए सावधान किया कि वे जीवन भर कभी मद्यपान न करें, क्योंकि मद्य बुद्धि को विलुप्त करने वाला और सब अनर्थों का मूल है ।

इस आज्ञा के साथ ही साथ श्रीकृष्ण ने यह भी घोषणा करवा दी कि अलका सी इस सुन्दर द्वारिकापुरी का सुरा, अग्नि एवं द्वैपायन के निमित्त विनाश हो उससे पूर्व जो भी भगवान् नेमिनाथ के चरणों में दीक्षित होना चाहें, उन्हें वे सब प्रकार से हार्दिक सहयोग देने के लिए सहर्ष तत्पर हैं ।

श्रीकृष्ण की इस उदार घोषणा से उत्साहित हो अनेक राजाओं, रानियों राजकुमारों एवं नागरिकों ने संसार को निस्सार और दुःख का आकर समझ कर भगवान् अरिष्टनेमि के पास मुनि-धर्म स्वीकार किया ।

कुछ ही समय पश्चात् शाम्बकुमार का एक सेवक किसी कार्यवश कादम्बरी गुफा की ओर जा पहुँचा । वैशाख की कड़ी धूप के कारण प्यास



लगने पर इधर-उधर पानी की तलाश करता हुआ वह एक शिलाकुण्ड के पास गया और अपनी प्यास बुझाने हेतु उसमें से पानी पीने लगा। प्रथम चुल्लू के आस्वादन से ही उसे पता चल गया कि कुण्ड में पानी नहीं अपितु परम स्वादिष्ट मदिरा है।

द्वारिकावासियों ने जो सुरापात्र वहां शिलाओं पर पटके थे वह सुरा बह कर उस शिलाकुण्ड में एकत्रित हो गई थी। सुगन्धित विविध पुरुषों के कुण्ड में झड़कर गिरने से वह मदिरा बड़ी ही सुगन्धित और सुस्वादु हो गई थी।

शाम्ब के सेवक ने जी भर वह स्वादु सुरा पी और अपने पास की केतली भी उससे भर ली। द्वारिका लौटकर उस सेवक ने मदिरा की केतली शाम्ब को भेंट की। शाम्ब सायंकाल में उस सुस्वादु सुरा का रसास्वादन कर उस सुरा की सराहना करते हुए बार-बार अपने सेवक से पूछने लगे कि इतनी स्वादिष्ट सुरा वह कहां से लाया है ?

सेवक से सुराकुण्ड का पता पाकर शाम्ब दूसरे दिन कई युवा यदु-कुमारों के साथ कादम्बरी गुफा के पास उस कुण्ड पर गया। उन यादव-कुमारों ने उस कादम्बरी मदिरा को बड़े ही चाव के साथ खूब छक कर पिया और नशे में झूमने लगे।

अचानक उनकी दृष्टि उस पर्वत पर ध्यानस्थ द्वैपायन ऋषि पर पड़ी। नशे में चूर शाम्ब उसे देखते ही उस पर यह कहते हुए टूट पड़ा—“यह स्वान हमारी प्यारी द्वारिका और प्राणप्रिय यादव कुल का नाश करेगा। अरे ! इसे इसी समय मार दिया जाय, फिर यह मरा हुआ किसे मारेगा ?”

बस, फिर क्या था, वे सभी मदान्ध यादव-कुमार द्वैपायन पर लातों, घूंसों और पत्थरों की वर्षा करने लगे और उसे अधमरा कर भूमि पर पटक द्वारिका में आ अपने-अपने घरों में जा घुसे।

श्रीकृष्ण को अपने गुप्तचरों से इस घटना का पता चला तो वे यदु-कुमारों के इस क्रूर कृत्य पर बड़े क्रुद्ध हुए। बलराम को साथ ले कृष्ण तत्काल द्वैपायन के पास पहुँचे और कुमारों की दुष्टता के लिए क्षमा माँगते हुए बार-बार उसे शान्त करने का पूर्ण रूप से प्रयास करने लगे।

द्वैपायन का क्रोध किसी तरह शान्त नहीं हुआ। उसने कहा—“कुमार जिस समय मुझे निर्दयतापूर्वक मार रहे थे, उस समय मैं निदान कर चुका हूँ कि

१ शाम्बो बभाषे स्वानित्थमयं मे नगरि कुलम् ।

इन्ता तदन्यतामेष, हनिष्यति हतः कथम् ॥२८॥

[त्रिषष्टि शलाका पुष्य चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११]

तुम दोनों भाइयों को छोड़ कर सब यादवों और नागरिकों को द्वारिका के साथ ही जलाकर खाक कर दूँगा। तुम दोनों के सिवा द्वारिका का कोई कुत्ता तक भी नहीं बच पायेगा।”<sup>१</sup>

### श्रीकृष्ण द्वारा रक्षा के उपाय

हताश हो बलराम और कृष्ण द्वारिका लौट आये और द्वैपायन द्वारा द्वारिकावासियों सहित द्वारिकादाह का निदान करने की बात द्वारिका के घर-घर में फैल गई। श्रीकृष्ण ने दूसरे दिन द्वारिका में घोषणा करवा दी.—“आज से सब द्वारिकावासी अपना अधिकाधिक समय व्रत, उपवास, स्वाध्याय, ध्यान आदि धार्मिक कृत्यों को करते हुए बितायें।

श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार सब द्वारिकावासी धार्मिक कार्यों में जुट गये।

उन्हीं दिनों भगवान् अरिष्टनेमि रैवतक पर्वत पर पधारें। श्रीकृष्ण और बलराम के पीछे-पीछे द्वारिका के प्रमुख नागरिक भगवान् के अमृतमय उपदेश को सुनने के लिए रैवतक पर्वत की ओर उमड़ पड़े। मोहान्धकार को मिटाने वाले भगवान् के प्रवचनों को सुनकर शाम्ब, प्रद्युम्न, सारण, उन्मुक निसद्व आदि अनेक यादव-कुमारों और रविमणी जाम्बवती आदि अनेक स्त्रीरत्नों ने विरक्त हो प्रभु के चरणों में श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

श्रीकृष्ण द्वारा किये गये एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् अरिष्टनेमि ने फरमाया—“आज से बारहवें वर्ष में द्वैपायन द्वारिका को भस्मसात् कर देगा।”

### श्रीकृष्ण की चिन्ता और प्रभु द्वारा आरवासन

भगवान् अरिष्टनेमि के मुखारविन्द से अपने प्रश्न का उत्तर सुनते ही श्रीकृष्ण की आँखों के सामने द्वारिकादाह का भावी वीभत्स-दारुण-दुखान्त दृश्य साकार हो मँडराने लगा। वे सोचने लगे—“धनपति कुबेर की देखरेख में विश्वकर्मा द्वारा स्वर्ण-रजत एवं मणि-माणिक्य, हीरों, पत्थों आदि अमूल्य रत्नों से निर्मित इस धरा का साकार स्वर्ग-सा यह नगर आज से बारहवें वर्ष में सुर्गों और सुररमणियों से स्वर्घा करने वाले समस्त नागरिकों सहित जलाकर भस्मसात् कर दिया जायगा।”

१ तस्यो दीवायरोण भगियं-कण्ट ! मया पद्मममासेण पडण्णा पडिवण्णा जहा-बुमे मोत्तूण परं दुवे वि ण अण्णस्स सुण्णमेत्तम्म वि जन्तुगो मोक्खा,.....

उनकी अन्तर्व्यथा असह्य हो उठी, उनके हृदयपटल पर संसार की नश्वरता का, जीवन, राज्यलक्ष्मी एवं ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता का अमिट चित्र अंकित हो गया। वे सोचने लगे—“धन्य हैं महाराज समुद्रविजय, धन्य हैं जालि मयालि, प्रद्युम्न, शाम्ब, रुक्मिणी, जाम्बवती आदि, जिन्होंने भोगों एवं भवनादि की भंगुरता के तथ्य को समझ कर त्याग-मार्ग अपना लिया। उन्हें अब द्वारिका-दाह का ज्वाला-प्रलय नहीं देखना पड़ेगा। ओफ् ! मैं अभी तक त्रिखण्ड के विशाल साम्राज्य और ऐश्वर्य में मूर्च्छित हूँ।”

अन्तर्यामी भगवान् अरिष्टनेमि से श्रीकृष्ण की अन्तर्वेदना छुपी न रही। उन्होंने कहा—“त्रिखण्डाधिप वासुदेव ! निदान की लोहारगला के कारण त्रिकाल में भी यह संभव नहीं कि कोई भी वासुदेव प्रव्रज्या ग्रहण करे। निदान का यही अटल नियम है, अतः तुम प्रव्रज्या ग्रहण न कर सकने की व्यर्थ चिन्ता न करो। आगामी उत्सर्पिणीकाल में इसी भरत क्षेत्र में तुम भी मेरी तरह ब्रारह्वें तीर्थकर बनोगे। और बलराम भी तुम्हारे उस तीर्थकाल में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।”

भगवान् के इन परम आह्लादकारी वचनों को सुन कर श्रीकृष्ण आनन्द विभोर हो पुलकित हो उठे। बड़ी ही श्रद्धा से उन्होंने प्रभु को वन्दन किया और द्वारिका लौट आये। उन्होंने पुनः द्वारिका में घोषणा करवाई—“द्वारिका का दाह अवश्यभावी है, अतः जो भी व्यक्ति प्रभु-चरणों में प्रव्रजित हो मुनि-धर्म स्वीकार करना चाहता है, वह अपने आश्रितों के निर्वाह, सेवा-शुश्रूषा आदि की सब प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग कर बड़ी खुशी के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर सकता है। मुनि-धर्म स्वीकार करने की इच्छा रखने वालों को मेरी ओर से पूर्णरूपेण अनुमति है। उनके आश्रितों के भरण-पोषण आदि का सारा भार मैं अपने कंधों पर लेता हूँ।” उन्होंने द्वारिकावासियों को निरन्तर धर्म की धाराधना करते रहने की सलाह दी।

श्रीकृष्ण की इस घोषणा से पद्मावती आदि अनेक राज्य परिवार की महिलाओं, कई राजकुमारों और अन्य अनेकों स्त्री-पुरुषों ने प्रबुद्ध एवं विरक्त हो

१ (क) एएसिणं चउञ्जीसाए तित्थकराणं पुम्भविषया चउञ्जीसं नामधेज्जा भविस्सति तं  
 चहा सेणिए सुपास.....कण्ह..... [समवायांग सूत्र, सूत्र २१४]

(ख) भ्युत्वा भाष्यत्र नरते संगहादर पुरेस्सितुः। जितकथोः सुतोऽहंस्त्वं द्वादशो नामतोऽजकः।।  
 [त्रिषष्टि श. पु. अरिष्ट, पर्व ८, सर्ग ११, श्लो. १२]

(ग) अरहा अरिष्टरोमी कण्हं वासुदेवं एवं बयासी मा णं तुमं देवाण्पिया ओह्म-आष  
 क्रियाहि.....तुमं.....वारससे अममे नामं अरहा भविस्ससि.....

[अंतगड दशा]

प्रभु चरणों में दीक्षा ग्रहण की। श्रीकृष्ण ने शासन और धर्म की अत्युत्कृष्ट भावना से सेवा की और इस तरह उन्होंने तीर्थंकर गोत्र का उपाजन किया।

इस प्रकार अनेक भव्य प्राणियों को मुक्तिपथ का पथिक बना प्रभु अरिष्टनेमि वहां से अन्य स्थान के लिए विहार कर गये।

उधर द्विपायन निदानपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर अग्निकुमार देव हुआ और अपने वैर का स्मरण कर वह क्रुद्ध हो द्वारिका को भस्मसात् कर डालने की इच्छा से द्वारिका पहुँचा। पर उस समय सारी द्वारिका तपोभूमि बनी हुई थी। समस्त द्वारिकावासी आत्म-चिन्तन, धर्मारोधन और प्रसिद्ध आयम्बल (प्राचाम्ल) तप की साधना में निरत थे, अनेक नागरिक चतुर्थ भक्त, षष्ठम भक्त और अष्टम भक्त किये हुए थे, अतः धर्म के प्रभाव से अभिभूत हो वह द्वारिकावासियों का कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सका और हताश हो लौट गया। द्वारिका को जलाने के लिए वह सदा छिद्रान्वेषण और उपयुक्त अवसर की टोह में रहने लगा।

### द्विपायन द्वारा द्वारिकाबाह

इस प्रकार द्विपायन निरन्तर ग्यारह वर्ष तक द्वारिका को दग्ध करने का अवसर देखता रहा, पर द्वारिकावासियों की निरन्तर धर्मारोधना के कारण ऐसा अवसर नहीं मिला।

इधर द्वारिकावासियों के मन में यह धारणा बलवती होती गई कि उनके निरन्तर धर्मारोधन और कठोर तपस्या के प्रभाव से उन्होंने द्विपायन के प्रभाव को नष्ट कर उसे जीत लिया है, अतः अब काय-क्लेश की आवश्यकता नहीं है।

इस विचार के आते ही कुछ लोग स्वेच्छापूर्वक सुरा, मांसादिक का सेवन करने लगे। "गतानुगतिको लोकः" इस उक्ति के अनुसार अनेक द्वारिकावासी धर्मारोधन एवं तप-साधना के पथ का परित्याग कर अनर्थंकर-पथ में प्रवृत्त होने लगे।

द्विपायन के जीव अग्निकुमार ने तत्काल यह रन्ध्र देख द्वारिका पर प्रलय दाना प्रारम्भ कर दिया। अग्नि की भीषण वर्षा से द्वारिका में सर्वत्र प्रचण्ड ज्वालान् भभक उठीं। अग्निपात एवं उल्कापात से धरती धूजने लगी। द्वारिका के प्राकार, द्वार और भव्य-भवन भूलुण्ठित होने लगे। कृष्ण और बलराम के चक्र व हल आदि सभी रत्न विनष्ट हो गये। समस्त द्वारिका देखते ही देखते ज्वाला का सागर बन गई। रमणियों, किशोरों, बच्चों और वृद्धों के करुण-ऋदन से आकाश फटने लगा। बड़े अनुराग और प्रेम से पोषित किये गये

सुगौर, सुन्दर और पुष्ट अगणित मानव-शरीर कपूर की पुतलियों को तरह जलने लगे । भागने का प्रयास करने पर भी कोई द्वारिकावासी भाग नहीं सका । अग्निकुमार द्वारा जो जहाँ था, वहीं स्तम्भित कर दिया गया ।

श्रीकृष्ण और बलराम ने वसुदेव, देवकी और रोहिणी को एक रथ में बिठाकर रथ चलाना चाहा, पर हजार प्रयत्न करने पर भी घोड़ों ने एक डग तक आगे नहीं बढ़ाया । हताश हो कृष्ण और बलदेव ने रथ को स्वयं खींचना प्रारम्भ किया, पर एक विशाल द्वार से कृष्ण और बलराम के निकलते ही वह द्वार भयंकर शब्द करता हुआ रथ पर गिर पड़ा ।

द्वैपायन देव ने कहा—“कृष्ण-बलराम ! मैंने पहले ही कह दिया था कि आप दोनों भाइयों को छोड़कर और कोई बचा नहीं रह सकेगा ।”

वसुदेव, देवकी और रोहिणी ने कहा—“पुत्रो ! हमें बचाने का तुम पूरा प्रयास कर चुके हो, कर्मगति बलीयसी है, हम अब प्रभु-शरण लेते हैं । तुम दोनों भाई कुशलपूर्वक जाओ ।”

कृष्ण और बलराम बड़ी देर तक वहाँ खड़े रहे । सब ओर से स्त्रियों की चीत्कारें, बच्चों एवं वृद्धों के करुण-ऋन्दन और जलते हुए नागरिकों की पुकारें उनके कानों के द्वार से हृदय में गूँज रही थी—“कृष्ण ! हमारी रक्षा करो, हलधर ! हमें बचाओ ।” पर दोनों भाई हाथ मलते ही खड़े रह गये, कुछ भी न कर सके । संभवतः इन नरशार्दूलों ने अपने जीवन में पहली ही बार विवशता का यह दुःखद अनुभव किया था ।

सारी द्वारिका जल गई और भू-स्वर्ग-द्वारिका के स्थान पर धधकती आग का दरिया हिलोरें ले रहा था ।

अन्ततोगत्वा असह्य अन्तर्व्यथा से संतप्त हो कृष्ण और बलदेव वहाँ से चल दिये ।

शोकानुर कृष्ण ने बलराम से पूछा—“भैया ! अब हमें किस ओर जाना है ? प्रायः सभी नृपवर्ग अपने मन में हमारे प्रति शत्रुतापूर्ण भावना रखते हैं ।”

बलराम ने कहा—दक्षिण दिशा में पाण्डव-मथुरा की ओर ।

श्रीकृष्ण ने कहा—“बलदाउ भैया ! मैंने पाण्डवों को निर्वासित कर उनका अपकार किया है ।”

बलराम बोले—“उन पर तुम्हारे उपकार असीम हैं ? इसके अतिरिक्त पाण्डव बड़े सज्जन और हमारे सम्बन्धी हैं । इस विपन्नावस्था में हमें वे बड़े

स्नेह, सौहार्द और सम्मान के साथ रखेंगे ।’

कृष्ण ने भी “अच्छा” कहते हुए अपने बड़े भाई के प्रस्ताव में सहमति प्रकट की और दोनों भाइयों ने दक्षिणापथ की ओर प्रयाण किया ।

शत्रु राजाओं से संघर्षों और भागों की अनेक कठिनाइयों का दृढ़तापूर्वक सामना करते हुए कई दिनों बाद दोनों भाई अत्यन्त दुर्गम कौशाम्बी वन में जा पहुँचे । वहाँ पिपासाकुल हो कृष्ण ने अपने ज्येष्ठ भाई बलदेव से कहा—“भ्रायं! मैं प्यास से इतना व्याकुल हूँ कि इस समय एक डग भी आगे बढ़ना मेरे लिए असंभव है । कहीं से ठंडा जल लाकर पिलाओ तो अच्छा है ।”

बलदेव तत्क्षण कृष्ण को एक वृक्ष की छाया में बैठकर पानी लाने के लिए चल पड़े ।

### बलदेव की विरक्ति और कठोर संयम-साधना

पिपासाकुल कृष्ण पीताम्बर ओढ़े बायें घुटने पर दाहिना पैर रखे छाया में लेटे हुए थे । उसी समय शिकार की टोह में जराकुमार उधर से निकला और पीताम्बर ओढ़े लेटे हुए कृष्ण पर हरिण के भ्रम में बाण चला दिया ।<sup>१</sup> बाण कृष्ण के दाहिने पादतल में लगा । कृष्ण ने ललकारते हुए कहा—“सोते हुए मुझ पर इस तरह तीर का प्रहार करने वाला कौन है ? मेरे सामने आये ।”

कृष्ण के कण्ठ-स्वर को पहचान कर जराकुमार तत्क्षण कृष्ण के पास आया और उसने रोते हुए कहा—“मैं तुम्हारा हतभाग्य बड़ा भाई जराकुमार हूँ । तुम्हारे प्राणों की रक्षा हेतु बनवासी होकर भी दुर्देव से मैं तुम्हारे प्राणों का ग्राहक बन गया ।”

कृष्ण ने संक्षेप में द्वारिकादाह, यादव-कुल-विनाश आदि का वृत्तान्त सुनाते हुए जराकुमार को अपनी कौस्तुभमणि दी और कहा—“हमारे यादव-कुल में केवल तुम्हीं बचे हो, अतः पाण्डवों को यह मणि दिखाकर तुम उनके पास ही रहना । शोक त्याग कर शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ, बलराम आने ही वाले हैं । उन्होंने यदि तुम्हें देख लिया तो तत्क्षण मार डालेंगे ।”

१ श्रीमद्भागवत में जरा नामक व्याध द्वारा श्रीकृष्ण के पादतल में बाण का प्रहार करने का उल्लेख है :-

मुसलावशेषायः खण्डकृतेपुलुं वधको जरा ।

भृगास्याकारं तच्चरणं, विव्याध मृगशकया ॥३३॥

[श्रीमद्भागवत, स्कंध ११, प्र० ३०]

कृष्ण के समझाने पर जराकुमार ने पाण्डव-मथुरा की ओर प्रस्थान कर दिया ।

ध्यास के साथ बाण की तीव्र वेदना से व्यथित श्रीकृष्ण बलदेव के आने से पूर्व ही एक हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर जीवनलीला समाप्त कर गये ।

थोड़ी ही देर में शीतल जल लेकर ज्योंही बलदेव पहुँचे और दूर से ही कृष्ण को लेटे देखा तो उन्हें निद्राधीन समझ कर उनके जगने की प्रतीक्षा करते रहे । बड़ी इन्तजार के बाद भी जब कृष्ण को जगते नहीं देखा तो बलदेव ने पास आकर कृष्ण को सम्बोधित करते हुए कहा—“भाई ! जगो बहुत देर हो गई ।”

पर कृष्ण की ओर से कोई उत्तर न पा उन्होंने पीताम्बर हटाया । कृष्ण के पादतल में घाव देखते ही वे क्रुद्ध सिंह की तरह दहाड़ने लगे—“अरे कौन है वह दुष्ट, जिसने सोते हुए मेरे प्राणप्रिय भाई पर प्रहार किया है ? वह नराधम मेरे सम्मुख आये, मैं अभी उसे यमधाम पहुँचाये देता हूँ ।”

बलदेव बड़ी देर तक जंगल में इधर-उधर घातक को खोजने लगे । पर कृष्ण पर प्रहार करने वाले का कहीं पता न चलने पर वे पुनः कृष्ण के पास लौटे और शोकाकुल हो करुण विलाप करते हुए बार-बार कृष्ण को जगाने लगे और भीषण वन की काली अन्धेरी रात में कृष्ण के पास बैठे-बैठे करुण विलाप करते रहे ।

अन्त में सूर्योदय होने पर बलराम ने कृष्ण को सम्बोधित करते हुए कहा—“भाई ! उठो, महापुरुष होकर भी आज तुम साधारण पुरुष की तरह इतने अधिक कैसे सोये हो ? उठो, सूर्योदय हो गया, अब यहाँ सोने से क्या होगा ? चलो आगे चलें ।”

यह कह कर बलराम ने अपने भाई के प्रति प्रबल अनुराग और मोह के कारण निर्जीव कृष्ण के तन को भी सजीव समझकर अपने कन्धे पर उठाया और ऊबड़-खाबड़ दुर्गम भूमि पर यत्र-तत्र स्थलित होते हुए भी आगे की ओर चल पड़े । इस तरह वे बिना विश्राम किये कृष्ण के पार्थिव शरीर को कन्धे पर उठाये, करुण-क्रन्दन करते हुए बीहड़ वनों में निरन्तर इधर-उधर घूमते रहे ।

बलराम को इस स्थिति में देखकर उनके सारथि सिद्धार्थ का जीव जो भगवान् नेमिनाथ के चरणों में दीक्षित हो संयमसाधना कर आयु पूर्ण होने पर देव हो गया था, बड़ा चिन्तित हुआ । उसने सोचा—“अहो ! कर्म की परिणति कैंसी दुर्निवार है । त्रिखण्डाधिपति कृष्ण और बलराम की यह अवस्था ? मेरा कर्त्तव्य है कि मैं बलदेव को जाकर समझाऊँ ।”

इस प्रकार सोचकर देव ने विभिन्न प्रकार के दृष्टान्तों से बलराम को समझाने का प्रयत्न किया ।

उसने बड़ई का बेष बना कर, जिस पथ पर बलदेव जा रहे थे, उसी पथ में आगे बढ़ विकट पर्वतीय ऊँचे मार्ग को पार कर समतल भूमि में चकनाचूर हुए रथ को ठीक करने का उपक्रम प्रारम्भ किया । जब बलदेव उसके पास पहुँचे तो उन्होंने बड़ई से कहा—“क्यों व्यर्थ प्रयास कर रहे हो ? दुर्लभ्य पर्वतीय विकट मार्ग को पार करके जो रथ समतल भूमि में टूट गया, वह अब भला क्या काम देगा ?”

बड़ई बने देव ने अबसर देख तत्काल उत्तर दिया—“महाराज ! जो कृष्ण तीस सौ साठ (३६०) भीषण युद्धों में नहीं मरे और अन्त में बिना किसी युद्ध के ही मारे गये, वे जीवित हो जायेंगे तो मेरा यह विकट दुर्लभ्य गिरि-पथों को पार कर समतल भूमि में टूटा हुआ रथ क्यों नहीं ठीक होगा ?”

“कौन कहता है कि मेरा प्राणप्रिय भाई कृष्ण मर गया है ? यह तो प्रगाढ़ निद्रा में सोया हुआ है । तुम महामूढ़ हो ।” बलदेव गरजकर बोले और पथ पर आगे की ओर बढ़ गये ।

देव उसी पथ पर आगे पहुँच गया और माली का रूप बनाकर मार्ग में ही निर्जल भूमि की एक शिला पर कमल उगाने का उपक्रम करने लगा ।

वहाँ पहुँचने पर बलदेव ने उसे देख कर कहा—“क्या पागल हो गये हो जो निर्जल स्थल में और वह भी पाषाण-शिला पर कमल लगा रहे हो । भला शिला पर भी कभी कमल उगा है ?”

माली बने देव ने कहा—“महाराज ! मृत कृष्ण जीवित हो जायेंगे तो यह कमल भी इस शिला पर खिल जायगा ।”

बलदेव क्रोधपूर्वक अपना उपर्युक्त उत्तर दोहराते हुए आगे बढ़ गये ।

देव ने भी अपना प्रयास नहीं छोड़ा और वह राह पर आगे पहुँच कर जले हुए वृक्ष के अवशेष ठूँठ को पानी से सींचने लगा ।

बलदेव ने जब उस जले हुए सूखे ठूँठ को पानी से सींचते हुए देखा तो कहने लगे—“अरे तुम विक्षिप्त तो नहीं हो गये हो, यह जला हुआ ठूँठ भी कहीं जल सींचने से हरा हो सकता है ?”

उस छद्म-वेषधारी देव ने कहा—“महाराज ! जब मरे हुए कृष्ण जीवित हो सकते हैं तो यह जला हुआ वृक्ष क्यों नहीं हरा होगा ?”



बलराम भृकुटि-विभंग से उसे देखते हुए आगे बढ़ गये ।

देव भी आगे पहुँच गया और एक मृत बैल के मुँह के पास घास और पानी रख कर उसे खिलाने-पिलाने की चेष्टा करने लगा ।

जब बलदेव उस स्थान पर पहुँचे तो यह सब देख कर बोले—“भले मनुष्य ! तुम में कुछ बुद्धि भी है या नहीं ? मरा जानवर भी कहीं खाता पीता है ?”

किसान बने हुए उस देव ने कहा—“पृथ्वीनाथ ! मृत कृष्ण भोजन पानी ग्रहण करेंगे तो यह बैल भी अवश्य घास चरेगा और पानी पीयेगा ।”

इस पर बलराम कुछ नहीं बोले और मार्ग पर आगे बढ़ गए ।

इस प्रकार उस देव ने विविध उपायों से बलदेव को समझाने का प्रयास किया, तब अन्त में बलदेव के मन में यह विचार आया—“क्या सचमुच कंस-केशिनिषूदन केशव अब नहीं रहे ? क्या जरासन्ध जैसे प्रबल पराक्रमी शत्रु का प्राणहरण करने वाले मेरे भैया कृष्ण परलोकगमन कर चुके हैं, जिस कारण कि ये सब लोग एक ही प्रकार की बात कह रहे हैं ?”

उसी समय उपयुक्त अवसर समझ कर देव अपने वास्तविक स्वरूप में बलदेव के समक्ष प्रकट हुआ और कहने लगा—“बलदेव ! मैं वही आपका सारथि सिद्धार्थ हूँ । भगवान् की कृपा से संयम-साधना कर मैं देव बना हूँ । आपने मुझे मेरी दीक्षा के समय कहा था कि सिद्धार्थ ! यदि देव बन जाओ तो मुझे प्रतिबोध देने हेतु अवश्य आना । आपके उस वचन को याद करके आया हूँ । महाराज ! यह ध्रुव सत्य और संसार का अपरिवर्तनीय अटल नियम है कि जो जन्म ग्रहण करता है, वह एक न एक दिन अवश्य मरता है । सच बात यह है कि श्रीकृष्ण अब नहीं रहे । आप जैसे महान् और समर्थ सरपुत्र भी इस अपरिहार्य मृत्यु से विचलित हो मोह और शोक के शिकार हो जायेंगे तो साधारण व्याक्तियों की क्या स्थिति होगी ? स्मरण है आपको, प्रभु नेमिनाथ ने द्वारिकादाह के लिये पहले ही फरमा दिया था । वह भीषण लोमहर्षक काण्ड श्रीकृष्ण और आपके देखते-देखते हो गया ।”

“जो बीत चुका, उसका शोक व्यर्थ है । अब आप अणुगार-धर्म को ग्रहण कर आत्मोद्धार कीजिए, जिससे फिर कभी प्रिय-वियोग का दारुण दुःख सहना ही नहीं पड़े ।

सिद्धार्थ की बातों से बलदेव का व्यामोह दूर हुआ । उन्होंने ससम्मान श्रीकृष्ण के पार्थिव शरीर का अन्त्येष्टि संस्कार किया ।

उसी समय भगवान् अरिष्टनेमि ने बलराम की दीक्षा ग्रहण करने की अन्तर्भावना जान कर अपने एक जंघाचरणा मुनि को बलराम के पास भेजा । बलराम ने आकाश-मार्ग से आये हुए मुनि को प्रणाम किया और तत्काल उनके पास दीक्षा ग्रहण कर श्रमण धर्म स्वीकार किया<sup>१</sup> और कठोर तपस्या की ज्वाला में अपने कर्मसमूह को इंधन की तरह जलाने लगे ।

कालान्तर में उन हलायुध मुनि ने परम संवेग और वैराग्य भाव से षष्ठम अष्टम, मासक्षमणादि तप करते हुए गुरु-आज्ञा से एकल विहार स्वीकार किया । वे ग्राम नगरादि में विचरण करते हुए जिस स्थान पर सूर्य अस्त हो जाता वहीं रात भर के लिए निवास कर लेते ।

किसी समय मासोपवास की तपस्या के पारण हेतु बलराम मुनि ने एक नगर में भिक्षार्थ प्रवेश किया । उनका तप से शुष्क शरीर भी अप्रतिहत सौन्दर्ययुक्त था । धूलि-धूसरित होने पर भी उनका तन बड़ा मनोहर, कान्तिपूर्ण और लु चितकेश-सिर भी बड़ा मनोहर प्रतीत हो रहा था । बलराम के अद्भुत रूप-सौन्दर्य से आकृष्ट नगर का सुन्दरी-मण्डल भिक्षार्थ जाते हुए महर्षि बलदेव को देख कुलमर्यादा को भूल कर उनके प्रति हाव-भाव बताने लगा । कूप-तट पर एक पुर-सुन्दरी ने तो मुनि की ओर एकटक देखते हुए कुएं से जल निकालने के लिए कलश के बदले अपने शिशु के गले में ही रज्जु डाल दी । वह अपने शिशु को कुएं में डाल ही रही थी कि पास ही खड़ी एक अन्य स्त्री ने उसे—“अरे क्या अनर्थ कर रही है” यह कहकर सावधान किया ।<sup>२</sup>

लोक-मुख से यह बात सुनकर महामुनि बलराम ने सोचा—“अहो कैंसो मोह की झलना है, जिसके वशीभूत हो हमारे जैसे मुण्डित सिर वालों के पीछे भी ये ललनाएँ ऐसा कार्य करती हैं । पर इनका क्या दोष, मेरे ही पूर्वकृत कर्मों की परिणति से पुद्गलों का ऐसा परिणामन है । ऐसी दशा में अब भिक्षा हेतु नगर या ग्राम में मुझे प्रवेश नहीं करना चाहिए । आज से मैं वन में ही निवास करूंगा ।”

ऐसा विचार कर मुनि बलराम बिना भिक्षा ग्रहण किए ही वन की ओर लौट गये और तुंगियागिरी के गहन वन में जाकर घोर तपस्या करने लगे ।

१ (क) ताव य एहंगराओ समुद्देस समागओ भयवओ सयासाओ एक्को विज्जाहर समणो । दट्ठुण य तं.....पडिबण्णा रामेण तस्सन्तिए दिक्खा ।

[चउवन महापुरिस चरियं, पृष्ठ २०४]

(ख) दीक्षां जिष्टुं रामं च, ज्ञात्वा श्री नेम्यपि द्रुतम् ।

विद्याधरमृषि प्रीषीदेकमेकः कृपालुपु ॥३६॥त्रि. श. पु. च., ८।१२

२ .....हा ! ह्यासि त्ति ह्यासे ! भण्णमाणेण संबोहिया [चउवन म. पु. च., पृ. २०८]

शत्रु राजाओं ने हलधर का एकाकी वनवास जान कर उन्हें मारने की तैयारी की, परन्तु सिद्धार्थ देव की रक्षा-व्यवस्था से वे वहाँ नहीं पहुँच सके ।

मुनि बलराम वन में शान्त भाव से तप आराधन करने लगे ।

उनके तपः प्रभाव से वन्य प्राणी सिंह और मृग परस्पर का वैर भूल उनके निकट बैठे रहते । एक दिन वे सूर्य की ओर मुँह किये कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ खड़े थे । उस समय कोई वन-छेदक वृक्ष काटने हेतु उधर आया और उसने मुनि को देखकर भक्ति सहित प्रणाम किया । तपस्वी मुनि को धन्य-धन्य कहते हुए पास के वृक्षों में से एक वृक्ष को काटने में जुट गया ।

भोजन के समय अर्धकटे वृक्ष के नीचे छाया में वह भोजन करने बैठा । उसी समय अचानक देख मुनि शास्त्रोक्त विधि से चले । शुभ अध्यवसाय से एक हरिण भी यह सोच कर कि अच्छा धर्म-लाभ होगा, महामुनि का पारण होगा, मुनि के आगे-आगे चला ।

वृक्ष काटने वाले ने ज्योंही मुनि को देखा तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ और बड़ी श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेम के साथ मुनि को अपने भोजन में से भिक्षा देने लगा । 'काकतालीय' न्याय से उसी समय बड़े तीव्र वेग से वायु का भौंका आया और वह अर्धकटा विशाल वृक्ष मुनि बलराम, उस श्रद्धावान्त सुथार और हरिण पर गिर पड़ा शुभ अध्यवसाय में मुनि बलराम, सुथार और हरिण तीनों एक साथ काल कर ब्रह्मलोक-पंचम कल्प में देव रूप से उत्पन्न हुए ।

मुनि की तपस्या के साथ हरिण और सुथार की भावना भी बड़ी उच्च-कोटि की रही । मृग ने बिना कुछ दिये शुभ-भावना के प्रभाव से पंचम स्वर्ग की प्राप्ति कर ली ।

### महामुनि थावच्चापुत्र

द्वारिका के समृद्धिशाली श्रेष्ठिकुलों में थावच्चापुत्र का प्रमुख स्थान था । इनकी अत्पायु में ही इनके पिता के दिवंगत हो जाने के कारण कुल का सारा कार्यभार थावच्चा गाथा-पत्नी चलाती रही । उसने अपने कुल की प्रतिष्ठा और धाक उसी प्रकार जमाये रखी जैसी कि श्रेष्ठी ने जमाई थी । थावच्चा गाथा-पत्नी की लोक में प्रसिद्धि होने के कारण उसके पुत्र की भी (थावच्चापुत्र की भी) थावच्चापुत्र के नाम से ही प्रसिद्धि हो गई ।

१ (क) .....सुभभावणोवगयमाणसा य समुप्पण्णा बम्भलोकप्पम्मि.....

[ चउवन महा. पु. चरियं. पृ. २०६ ]

(ख) ते त्रयस्तरुणा तेन, पतितेन हता मृताः ।

पयोत्तरश्चिमानान्तर्ब्रह्मलोकेऽभवन् सुराः ॥७०॥

[ त्रिषष्टि शलाका पु. च., पर्व ८, मर्ग ११ ]

गाथा-पत्नी ने बड़े लाड़-प्यार से अपने पुत्र थावच्चापुत्र का लालन-पालन किया और आठ वर्ष की आयु में उन्हें एक योग्य आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए रखा। कुशाग्रबुद्धि थावच्चापुत्र ने विनयपूर्वक अपने कलाचार्य के पास विद्याध्ययन किया और सर्वकलानिष्णात हो गये।

गाथा-पत्नी ने अपने इकलौते पुत्र का, युवावस्था में पदार्पण करते ही बड़ी धूमधाम से, बत्तीस इभ्यकुल की सर्वगुणसम्पन्न सुन्दर कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कराया। थावच्चापुत्र पहले ही विपुल सम्पत्ति के स्वामी थे फिर कन्यादान के साथ प्राप्त सम्पदा के कारण उनकी समृद्धि और अधिक प्रवृद्ध हो गई। वे बड़े आनन्द के साथ गार्हस्थ्य जीवन के भोगों का उपभोग करने लगे।

एक बार भगवान् अरिष्टनेमि अठारह हजार श्रमण और चालीस हजार श्रमणियों के धर्मपरिवार सहित विविध ग्राम-नगरों को अपने पावन चरणों से पवित्र करते हुए रैवतक पर्वत के नन्दन-वन उद्यान में पधारे।

प्रभु के शुभागमन के सुसंवाद को पाकर श्रीकृष्ण वासुदेव ने अपनी सुधर्म-सभा की कौमुदी घंटी बजवाई और द्वारिकावासियों को प्रभुदर्शन के लिए शीघ्र ही समुद्यत होने की सूचना दी। तत्काल दशों दशाहं, समस्त यादव परिवार और द्वारिका के नागरिक स्थानानन्तर सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो भगवान् के समवसरण में जाने के लिए कृष्ण के पास आये।

श्रीकृष्ण भी अपने विजय नामक गन्धहस्ती पर आरूढ़ हो दशों दशाहं, परिजनों, पुरजनों, चतुरंगिणी सेना और वासुदेव की सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ द्वारिका के राजमार्गों पर अग्रसर होते हुए भगवान् के समवसरण में पहुँचे। थावच्चाकुमार भी इस विशाल जनसमुदाय के साथ समवसरण में पहुँचा।

अत्यन्त प्रियदर्शी, नयनाभिराम एवं मनोहारी भगवान् के दर्शन करते ही सबके नयन-कमल और हृदय-कुमुद विकसित हो गये। सबने बड़ी श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भगवान् को वन्दन किया और यथोचित स्थान ग्रहण किया।

भगवान् की अर्घदलहारिणी देशना सुनने के पश्चात् श्रोतागण अपने-अपने आध्यात्मिक उत्थान के विविध संकल्पों को लिए अपने-अपने घर की ओर लौट गये।

थावच्चापुत्र भी भगवान् को वन्दन कर अपनी माता के पास पहुँचा और माता को प्रणाम कर कहने लगा—‘अम्बे ! मुझे भगवान् अरिष्टनेमि के अमोघ प्रवचन सुन कर बड़ी प्रसन्नता हुई है। मेरी इच्छा संसार के विषय-भोगों से विरत हो गई है। मैं जन्म-मरण के बन्धनों से सदा-सर्वदा के लिए छुटकारा पाने हेतु प्रभु के चरण-शरण में प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ।’

अपने पुत्र की बात सुन कर गाथा-पत्नी थावच्चा अवाक् रह गई, मानो उस पर अनभ्र वज्र गिरा हो। उसने अपने पुत्र को त्याग-मार्ग से आने वाले घोर कष्टों से अवगत कराते हुए गृहस्थ-जीवन में रह कर ही यथाशक्ति धर्म-साधना करते रहने का आग्रह किया पर थावच्चा कुमार के अटल निश्चय को देख कर अन्त में उसने अपनी आन्तरिक इच्छा नहीं होते हुए भी उसे प्रव्रज्या लेने की अनमति प्रदान की।

गाथा-पत्नी ने बड़ी धूमधाम के साथ अपने पुत्र का अभिनिष्क्रमणोत्सव करने का निश्चय किया। वह अपने कुछ आत्मीयों के साथ श्रीकृष्ण के प्रासाद में पहुँची और बहुमूल्य भेंट अर्पित कर उसने कृष्ण से निवेदन किया—“राज-राजेश्वर ! मेरा इकलौता पुत्र थावच्चा कुमार प्रभु अरिष्टनेमि के पास धर्मशास्त्र-दीक्षा स्वीकार करना चाहता है। मेरी महती आकांक्षा है कि मैं बड़े ठाट के साथ उसका निष्क्रमण करूँ। अतः आप कृपा कर छत्र चंवर और मुकुट प्रदान कीजिये।”

श्रीकृष्ण ने कहा—“देवानुप्रिये ! तुम्हें इसकी किञ्चित्मात्र भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। मैं स्वयं तुम्हारे पुत्र का निष्क्रमणोत्सव करूँगा।”

कृष्ण की बात से गाथा-पत्नी आश्चस्त हो अपने घर लौट आई। श्रीकृष्ण भी अपने विजय नामक गन्धहस्ती पर आरूढ़ हो चतुरंगिणी सेना के साथ थावच्चा गाथा-पत्नी के भवन पर गये और थावच्चा पुत्र से बड़े मीठे वचनों में बोले—“देवानुप्रिय ! तुम मेरे बाहुबल की छत्रछाया में बड़े आनन्द के साथ सांसारिक भोगों का उपभोग करो। मेरी छत्रछाया में रहते हुए तुम्हारी इच्छा के विपरीत सिवा वायु के तुम्हारे शरीर का कोई स्पर्श तक भी नहीं कर सकेगा। तुम सांसारिक सुखों को ठुकरा कर व्यर्थ ही क्यों प्रव्रजित होना चाहते हो ?”

थावच्चापुत्र ने कहा—“देवानुप्रिय ! यदि आप मृत्यु और ब्रह्मपे से मेरी रक्षा करने का दायित्व अपने ऊपर लेते हो तो मैं दीक्षित होने का विचार त्याग कर बेखटके सांसारिक सुखों को भोगने के लिए तत्पर हो सकता हूँ। वास्तव में मैं इस जन्म-मरण से इतना उत्पीड़ित हो चुका हूँ कि गला फाड़ कर रोने की इच्छा होती है। त्रिखण्डाधिपते ! क्या आप यह उत्तरदायित्व लेते हैं कि जरा और मरण मेरा स्पर्श नहीं कर सकेंगे ?”

श्रीकृष्ण बड़ी देर तक थावच्चापुत्र के मुख की ओर देखते ही रहे और अन्त में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—“जन्म, जरा और मरण तो दुर्निवार्य हैं। अनन्तबली तीर्थंकर और महान् शक्तिशाली देव भी इनका

निवारण करने में असमर्थ हैं। इनका निवारण तो केवल कर्म-मल का क्षय करने से ही संभव है।”

थावच्चापुत्र ने कहा—“हरे! मैं इस जन्म, जरा और मृत्यु के दुःख को मूलतः विनष्ट करना चाहता हूँ, वह बिना प्रव्रज्या-ग्रहण के संभव नहीं, अतः मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ।”

परम विरक्त थावच्चापुत्र के इस ध्रुव-सत्य उत्तर से श्रीकृष्ण बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने तत्काल द्वारिका में घोषणा करवा दी कि थावच्चापुत्र अर्हत् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित होना चाहते हैं। उनके साथ जो कोई राजा, युवराज, देवी, रानी, राजकुमार, ईश्वर, तलवार, कौटुम्बिक, माण्डविक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति या सार्थवाह दीक्षित होना चाहते हों तो कृष्ण वासुदेव उन्हें सहर्ष आज्ञा प्रदान करते हैं। उनके आश्रित-जनों के योग-क्षेम का सम्पूर्ण दायित्व कृष्ण लेते हैं।”

श्रीकृष्ण की इस घोषणा को सुन कर थावच्चापुत्र के प्रति असीम अनुराग रखने वाले उग्र-भोगवंशीय व इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति आदि एक हजार पुरुष दीक्षित होने हेतु तत्काल वहाँ आ उपस्थित हुए।

स्वयं श्रीकृष्ण ने जलपूर्णा चांदी-सोने के घड़ों से थावच्चापुत्र के साथ-साथ उन एक हजार दीक्षार्थियों का अभिषेक किया और उन सब को बहुमूल्य सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर एक विशाल पालकी में बिठा उनका दीक्षा-महोत्सव किया।

निष्क्रमणोत्सव की शोभायात्रा में सबसे आगे विविध वाद्यों पर मन की मुग्ध करने वाली मधुर धुन बजाते हुए वादकों की कतारें, उनके पीछे वाद्य-ध्वनि के साथ-साथ पदक्षेप करती हुई वासुदेव की सेना, नाचते हुए तरल तुरंगों की सेना, फिर मेघगर्जना सा ‘घर-घर’ रव करती रथसेना, चिघाड़ते हुए दीर्घ-दन्त, मदोन्मत्त हाथियों की गजसेना और तदनन्तर एक हजार एक दीक्षार्थियों की देवविमान सी सुन्दर विशाल पालकी, उनके पीछे श्रीकृष्ण, दशार्ह, यादव कुमार और उनके पीछे लहराते हुए सागर की तरह अपार जन-समूह।

समुद्र की लहरों की तरह द्वारिका के विस्तीर्ण स्वच्छ राजपथ पर अग्रसर होता हुआ निष्क्रमणोत्सव का यह जलूस समवसरण की ओर बढ़ा। समवसरण के छत्रादि दृष्टिगोचर होते ही दीक्षार्थी पालकी से उतरे।

श्रीकृष्ण थावच्चापुत्र को आगे लिये प्रभु के पास पहुँचे और तीन प्रदक्षिणापूर्वक उन्हें वन्दन किया। थावच्चापुत्र ने भगवान् को वन्दन किया और

एक हजार पुरुषों के साथ सब आभूषणों को उतार स्वयमेव पंचमुष्टि सुंचन कर प्रभु नेमिनाथ के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण की ।

दीक्षित होकर थावच्चापुत्र ने भगवान् अरिष्टनेमि के स्थविरो के पास चौदह पूर्वों एवं एकादश अंगों का अध्ययन किया और चतुर्थ भक्तादि तपस्या से अपने कर्म-मल को साफ करने लगे ।

अर्हत् अरिष्टनेमि ने थावच्चाकुमार की आत्मनिष्ठा, तपोनिष्ठा, तीक्ष्ण बुद्धि और हर तरह योग्यता देखकर उनके साथ दीक्षित हुए एक हजार मुनियों को उनके शिष्य रूप में प्रदान किया और उन्हें भारत के विभिन्न जनपदों में विहार कर जन-कल्याण करने की आज्ञा दी । अणगार थावच्चापुत्र ने प्रभु-आज्ञा को शिरोधार्य कर भारत के सुदूर प्रान्तों में अप्रतिहत विहार एवं धर्म का प्रचार करते हुए अनेक भव्यों का उद्धार किया ।

अनेक जनपदों में विहार करते हुए थावच्चापुत्र अपने एक हजार शिष्यों के साथ एक समय शैलकपुर पधारे । वहाँ आपके तात्त्विक एवं विरक्तिपूर्ण उपदेश को सुनकर 'शैलक' जनपद के नरपति 'शैलक राजा' ने अपने पंथक आदि पाँच सौ मन्त्रियों के साथ श्रावक-धर्म स्वीकार किया ।

इस प्रकार धर्मपथ से भूले-भटके अनेक लोगों को सत्पथ पर अग्रसर करते हुए थावच्चापुत्र सौगन्धिका नगरी पधारे ।

सौगन्धिका नगरी में अणगार थावच्चापुत्र के पधारने से कुछ दिनों पहले वेद-वेदांग और सांख्यदर्शन के पारगामी गैरुक वस्त्रधारी शुक नामक प्रकाण्ड विद्वान् परिव्राजकाचार्य आये थे । शुक के उपदेश से सौगन्धिका नगरी का सुदर्शन नामक प्रतिष्ठित श्रेष्ठी बड़ा प्रभावित हुआ और शुक द्वारा प्रतिपादित शौचधर्म को स्वीकार कर वह शुक का उपासक बन गया था ।

अणगार थावच्चापुत्र के सौगन्धिका नगरी में पधारने की सूचना मिलते ही सुदर्शन सेठ और सौगन्धिका नगरी के निवासी उनका धर्मोपदेश सुनने गये । उपदेश-श्रवण के पश्चात् सुदर्शन ने थावच्चापुत्र से धर्म एवं आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी अनेक प्रश्न किये । थावच्चापुत्र के युक्तिपूर्ण और सारगर्भित उत्तर से सुदर्शन के सब संशय दूर हो गये और उसने थावच्चापुत्र से श्रावक-धर्म अंगीकार किया ।

किसी अन्य स्थान पर विचरण करते हुए शुक परिव्राजक को जब सुदर्शन के श्रमणोपासक बनने की सूचना मिली तो वे सौगन्धिका नगरी आये और सुदर्शन के घर पहुँचे ।

किन्तु सुदर्शन से पूर्व की तरह अपेक्षित वन्दन, सत्कार, सम्मान न पाकर शुक ने उससे उस उदासीनता और उपेक्षा का कारण पूछा ।

सुदर्शन ने खड़े हो हाथ जोड़कर उत्तर दिया—“विद्वन् ! मैंने अणगार थावच्चापुत्र से जीवाजीवादि तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप समझ कर विनय-मूलक धर्म स्वीकार कर लिया है ।”

परिव्राजकाचार्य शुक ने सुदर्शन से पूछा—“तेरे वे धर्माचार्य कहाँ हैं ?”

सुदर्शन ने उत्तर दिया—“वे नगर के बाहर नीलाशोक उद्यान में विराजमान हैं ।”

शुक ने कहा—“मैं अभी तुम्हारे धर्म-गुरु के पास जाता हूँ और उनसे सैद्धान्तिक, तात्त्विक, धर्म सम्बन्धी और व्याकरण विषयक जटिल प्रश्न पूछता हूँ । अगर उन्होंने मेरे सब प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर दिया तो मैं उनको नमस्कार करूँगा अन्यथा उन्हें अक्राट्य युक्तियों और नय-प्रमाण से निहत्तर कर दूँगा ।”

यह कह कर परिव्राजराज शुक अपने एक हजार परिव्राजकों और सुदर्शन सेठ के साथ नीलाशोक उद्यान में अनगार थावच्चापुत्र के पास पहुंचे । उसने उनके समक्ष अनेक जटिल प्रश्न रखे ।

अणगार थावच्चापुत्र ने उसके प्रत्येक प्रश्न का प्रमाण, नय एवं युक्ति-पूर्ण ढंग से हृदयग्राही स्पष्ट उत्तर दिया । शुक को उन उत्तरों से पूर्ण संतोष के साथ वास्तविक बोध हुआ । उसने थावच्चापुत्र से प्रार्थना की कि वे उसे धर्मोपदेश दें ।

अणगार थावच्चापुत्र से हृदयस्पर्शी धर्मोपदेश सुन कर शुक ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझा और तत्काल अपने एक हजार परिव्राजकों के साथ पंचमुष्टि-लुंचन कर उनके पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार की तथा अणगार थावच्चापुत्र के पास चौदह पूर्व एवं एकादश अंगों का अध्ययन कर स्वल्प समय में ही आत्मविद्या का वह पारगामी बन गया । थावच्चापुत्र ने शुक को सब तरह से योग्य समझ कर आज्ञा दी कि वह अपने एक हजार शिष्यों के साथ भारतवर्ष के सन्निकट व सुदूर प्रदेशों में विचरण कर भव्य प्रारिणियों को धर्म-मार्ग पर आरूढ़ करे ।

अपने गुरु थावच्चापुत्र की आज्ञा शिरोधार्य कर महामुनि शुक ने अपने एक हजार अणगारों के साथ अनेक प्रदेशों में धर्म का प्रचार किया । थावच्चापुत्र के श्रमणोपासक शैलकपुर के महाराजा शैलक ने भी शुक के उपदेश से प्रभावित हो पथक आदि अपने पांच सौ मन्त्रियों के साथ श्रमण-दीक्षा स्वीकार की ।



थावच्चापुत्र ने अनेक वर्षों की कठोर संयम-साधना, धर्म-प्रसार और अनेक प्राणियों का कल्याण कर अन्त में पुण्डरीक पर्वत पर आकर एक मास की संलेखना की और केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण-पद प्राप्त किया ।

थावच्चापुत्र के शिष्य शुक और प्रशिष्य शैलक राजर्षि ने भी कालान्तर में पुण्डरीक पर्वत पर एक मास की संलेखना कर निर्वाण प्राप्त किया ।

शैलक राजर्षि कठोर तपस्या और अन्तप्रान्त अननुकूल आहार के कारण भयंकर व्याधियों से पीड़ित हो गये थे । यद्यपि वे रोगोपचार के समय प्रमादी और शिथिलाचारी हो गये थे । पर कुछ ही समय पश्चात् अपने शिष्य पंधक के प्रयास से सम्भल गये और अपने शिथिलाचार का प्रायश्चित्त कर तप-संयम की कठोर साधना द्वारा स्वपर-कल्याण-साधन में लग गये । जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, वे अन्त में आठों कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त हुए ।

इस प्रकार थावच्चामुनि आदि इन पच्चीस सौ (२५००) श्रमणों ने अरिहंत अरिष्टनेमि के शासन की शोभा बढ़ाते हुए अपनी आत्मा का कल्याण किया ।

### अरिष्टनेमि का द्वारिका-विहार और भव्यों का उद्धार

भगवान् नेमिनाथ अप्रतिबद्ध विहारी थे । वीतरागी व केवली होकर भी वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रहे । उन्होंने दूर-दूर तक विहार किया । सौराष्ट्र की भूमि उनके विहार, विचार और प्रचार से आज भी पूर्ण प्रभावित है । यद्यपि उनके वर्षावास का निश्चित पता नहीं चलता, फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका विहार-क्षेत्र अधिकांशतः द्वारिका रहा है । वासुदेव कृष्ण की भक्ति और पुरवासी जनों की श्रद्धा से द्वारिका उस समय का धार्मिक केन्द्र सा प्रतीत होता है । भगवान् नेमिनाथ का बार-बार द्वारिका पधारना भी इसका प्रमाण है ।

एक समय की बात है कि जब भगवान् द्वारिका के नन्दन वन में विराजे हुए थे, उस समय अन्धकवृष्णि के समुद्र, सागर, गंभीर, स्तिमित, अचल, कम्पित, अक्षोभ, प्रसेन और विष्णु आदि दश पुत्रों ने राज्य वैभव छोड़कर प्रभु के चरणों में प्रव्रज्या ग्रहण की । दूसरी बार हिमवंत, अचल, धरण, पूरण आदि वृष्णि-पुत्रों के भी इसी भाँति प्रव्रजित होने का उल्लेख मिलता है । तीसरी बार प्रभु के पधारने पर वसुदेव और धारिणी के पुत्र सारण कुमार ने दीक्षा ग्रहण की । सारणकुमार की पचास पत्नियाँ थीं, पर प्रभु की वाणी से विरक्त होकर उन्होंने सब भोगों को ठुकरा दिया । बलदेव पुत्र सुमुख, दुमुख, कूपक और वसुदेव पुत्र दारुक एवं अनाधृष्टि की प्रव्रज्या भी द्वारिका में ही हुई प्रतीत होती

है। फिर वसुदेव और धारिणी के पुत्र जालि, मयालि, उपयालि, पुरुषसेन, वारिषेण तथा कृष्ण के नन्दन प्रद्युम्न एवं जाम्बवती के पुत्र साम्बकुमार, वैदर्भी-कुमार अनिरुद्ध तथा समुद्रविजय के सत्यनेमि, दृढनेमि ने तथा कृष्ण की अन्य रानियों ने भी द्वारिका में ही दीक्षा ग्रहण की थी। रानियों के अतिरिक्त मूलश्री और मूलदत्ता नाम की दो पुत्रवधुओं की दीक्षा भी द्वारिका में ही हुई थी। इन सबसे ज्ञात होता है कि कृष्ण वसुदेव के परिवार के सभी लोग भगवान् अरिष्टनेमि के प्रति अटूट श्रद्धा रखते थे।

### पाण्डवों का बंराग्य और मुक्ति

श्रीकृष्ण के अन्तिम आदेश का पालन करते हुए जब जराकुमार पाण्डवों के पास पाण्डव-मथुरा<sup>१</sup> में पहुँचा तो उसने श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त कौस्तुभ मणि पाण्डवों को दिखाई और रोते-रोते द्वारिकादाह, यदुवंश के सर्वनाश और अपने द्वारा हरिण की आशंका से चलाये गये बाण के प्रहार से श्रीकृष्ण के निधन आदि की सारी दुःखद घटनाओं का विवरण उन्हें कह सुनाया।

जराकुमार के मुख से हृदयविदारक शोक-समाचार सुन कर पाँचों पाण्डव और द्रौपदी आदि शोकाकुल हो विलख-विलख कर रोने लगे। अपने परम सहायक और अनन्य उपकारक श्रीकृष्ण के निधन से तो उन्हें वज्रप्रहार से भी अधिक आघात पहुँचा। उन्हें सारा विश्व शून्य सा लगने लगा। उन्हें संसार के जंजाल भरे क्रिया-कलापों से सर्वथा विरक्ति हो गई।

घट-घट के मन की बात जानने वाले अन्तर्यामी प्रभु अरिष्टनेमि ने पाण्डवों की संघम-साधना की आन्तरिक इच्छा को जान कर तत्काल अपने चरमशरीरी चार ज्ञान के धारक स्थविर मुनि धर्मघोष को ५०० मुनियों के साथ पाण्डवमथुरा भेजा।<sup>२</sup> पाण्डवमथुरा में ज्योंही स्थविर धर्मघोष के आने का समाचार पाण्डवों ने सुना तो वे सपरिवार मुनि को वन्दन करने गये और उनके उपदेश से आत्मशुद्धि को ही सारभूत समझ कर युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयों ने अपने पुत्र पाण्डुसेन<sup>३</sup> को पाण्डव-मथुरा का राज्य दे धर्मघोष के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

१ .....केरुण्ड कालंतरेण संपत्तो दाहिया महरं।

[च. म. पु. च., पृ. २०५]

२ तान् प्रविब्रजिषूञ्जात्वा, श्रीनेमिः प्राहियान्मुनिम्।

धर्मघोषं चतुर्जानं, मुनिपञ्चशतीयुतम् ॥६२॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग १२]

१ (क) ज्ञाता धर्म कथा में पाण्डुसेन को ही राज्य देने का उल्लेख है।

(ख) जारेयं त्यस्य ते राज्यं.....।

[त्रिषष्टि श. पु. च., ८।१२, श्लोक ६३]

(ग) .....सयलसामन्ताणं समत्थिऊणं शिवेसियो नियय रज्जे जराकुमारो।

[च. म. पु. च., पृष्ठ २०५]

महारानी द्रौपदी भी आर्या सुम्रता के पास दीक्षित हो गई ।

दीक्षित होने के पश्चात् पाँचों पाण्डवों और सती द्रौपदी ने क्रमशः चौदह पूर्व और एकादश अंगों का अध्ययन करने के साथ-साथ बड़ी घोर तपस्याएँ कीं । कठोर संयम और तप की तीव्र अग्नि में अपने कर्मसमूह को भस्मसात् करते हुए जिस समय युधिष्ठिर, भीम आदि पाँचों पाण्डव-मुनि ग्रामानुग्राम विचरण कर रहे थे, उस समय उन्होंने सुना कि अरिहंत अरिष्टनेमि सौराष्ट्र प्रदेश में अनेक भव्य जीवों का उद्धार करते हुए विचर रहे हैं, तो पाँचों मुनियों के मन में भगवान् के दर्शन एवं वन्दन की तीव्र उत्कण्ठा हुई । उन्होंने अपने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर सौराष्ट्र की ओर विहार किया । पाँचों मुनि मास, अर्द्धमास की तपस्या करते हुए सौराष्ट्र की ओर बढ़ते हुए एक दिन उज्जयन्तगिरि से १२ योजन दूर हस्तकल्प<sup>१</sup> नगर के बाहर सहस्राश्रवन में ठहरे ।

युधिष्ठिर मुनि को उसी स्थान पर छोड़ कर भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव मास-तप के पारण हेतु नगर में भिक्षार्थ गये । भिक्षार्थ घूमते समय उन्होंने सुना कि भगवान् नेमिनाथ उज्जयन्तगिरि पर एक मास की तपस्यापूर्वक ५३६ साधुओं के साथ चार अघाती कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं । चारों मुनि यह सुन कर बड़े खिन्न हुए और तत्काल ही सहस्राश्रवन में लौट आये ।

युधिष्ठिर के परामर्शानुसार पूर्वगृहीत आहार का परिष्ठापन कर पाँचों मुनि शत्रुजय पर्वत पहुँचे और वहाँ उन्होंने संलेखना की ।

अनेक वर्षों की संयम-साधना कर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ने २ मास की संलेखना से आराधना कर कैवल्य की उपलब्धि के पश्चात् अजरामर निर्वाण-पद प्राप्त किया ।

आर्या द्रौपदी भी अनेक वर्षों तक कठोर संयम-तप की साधना और एक मास की संलेखना में काल कर पंचम कल्प में महर्द्धिक देव रूप से उत्पन्न हुई ।<sup>२</sup>

### धर्म-परिवार

भगवान् अरिष्टनेमि के संघ में निम्न धर्म-परिवार था :—

गणधर एवं गण - ग्यारह (११) वरदत्त आदि गणधर एवं

१ अस्मात् द्वादशयोजनानि स गिरिर्नेमि प्रगे वीक्ष्य तत् ... ।

[त्रिषष्टि श. पु. च., ८।१२, श्लो० १२६]

२ ज्ञाता धर्मं कथांग १।१६ ।

		११ ही गण <sup>१</sup>
केवली	-	एक हजार पाँच सौ (१,५००)
मनःपर्यवज्ञानी	-	एक हजार (१,०००)
अवधिज्ञानी	-	एक हजार पाँच सौ (१,५००)
चौदह पूर्वधारी	-	चार सौ (४००)
वादी	-	आठ सौ (८००)
साधु	-	अठारह हजार (१८,०००)
साध्वी	-	चालीस हजार (४०,०००)
श्रावक	-	एक लाख उनहत्तर हजार (१,६६,०००)
श्राविका	-	तीन लाख छत्तीस हजार (३,३६०,००)
अनुत्तरगति वाले	-	एक हजार छः सौ (१,६००)

एक हजार पाँच सौ (१५००) श्रमण और तीन हजार (३०००) श्रमणियाँ, इस प्रकार प्रभु के कुल चार हजार पाँच सौ अन्तेवासी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए ।

### परिनिर्वाण

कुछ कम सात सौ वर्ष की केवलीचर्या के पश्चात् प्रभु ने जब आयुकाल निकट समझा तो उज्जयंतगिरि पर पाँच सौ छत्तीस साधुओं के साथ एक मास का अनशन ग्रहण कर आषाढ शुक्ला अष्टमी को चित्रा नक्षत्र के योग में मध्यरात्रि के समय आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार अघाति कर्मों का क्षय कर निषद्या आसन से वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए । अरिहन्त अरिष्टनेमि तीन सौ वर्ष कुमार अवस्था में रहे, चौवन दिनों तक छद्मस्थ रूप से साधनारत रहे और कुछ कम सात सौ वर्ष केवली रूप में विचरे । इस तरह प्रभु की कुल आयु एक हजार वर्ष की थी ।

### ऐतिहासिक परिपार्श्व

आधुनिक इतिहासज्ञ भगवान् महावीर और भगवान् पार्श्वनाथ को ही अब तक ऐतिहासिक पुरुष मान रहे थे, परन्तु कुछ वर्षों के तटस्थ एवं निष्पक्ष अनुसंधान से यह प्रमाणित हो गया है कि अरिहन्त अरिष्टनेमि भी ऐतिहासिक

१ (क) अरिष्टनेमेरेकादश नेमिनाथस्याष्टादशेति केचिन्मन्यन्ते ।

[प्रवचन सारोद्धार, पूर्व भाग, द्वार १५, पृष्ठ ८६ (२)]

(ख) अरहणो णं अरिष्टनेमिस्स अट्टारस गणा, अट्टारस गणाहरा हुत्था ॥१७५॥

[कल्प० ७ स०]

२ भाव० नियुक्ति, गाथा ३३०, पृ. २१४ प्रथम ।

पुरुष थे। प्रसिद्ध कोशकार डॉ० नरेन्द्रनाथ बसु, पुरातत्वज्ञ डॉ० फूहर् प्रोफेसर वारनेट, कर्नल टॉड, मिस्टर करवा, डॉ० हरिसन, डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार डॉ० राधाकृष्णन् आदि अनेक विज्ञों ने धारणा व्यक्त की है कि अरिष्टनेमि एक ऐतिहासिक पुरुष रहे हैं।

ऋग्वेद में अरिष्टनेमि शब्द बार-बार प्रयुक्त हुआ है।<sup>१</sup> महाभारत में ताक्ष्य शब्द अरिष्टनेमि के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुआ है।<sup>२</sup> उन ताक्ष्य अरिष्टनेमि ने राजा सगर को जो मोक्ष सम्बन्धी उपदेश दिया है<sup>३</sup> उसकी तुलना जैन धर्म के मोक्ष सम्बन्धी मन्तव्यों से की जा सकती है। ताक्ष्य अरिष्टनेमि ने सगर से कहा—“सगर! संसार में मोक्ष का सुख ही वास्तविक सुख है किन्तु धन, धान्य, पुत्र, कलत्र एवं पशु आदि में आसक्त मूढ़ मनुष्य को इसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जिसकी बुद्धि विषयों में अनुरक्त एवं मन अशान्त है, ऐसे जनों की चिकित्सा अत्यन्त कठिन है। स्नेह-बन्धन में बँधा हुआ मूढ़ मोक्ष पाने के योग्य नहीं है।”

ऐतिहासिक दृष्टि से स्पष्ट है कि सगर के समय में वैदिक लोग मोक्ष में विश्वास नहीं करते थे, एतदर्थ यह उपदेश किसी वैदिक ऋषि का नहीं हो सकता। ऋग्वेद में भी ताक्ष्य अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है। इसके लिए विशेष पुष्ट प्रमाण की आवश्यकता है। “लंकावतार” के तृतीय परिवर्तन में बुद्ध के अनेक नामों में अरिष्टनेमि का नाम भी आया है। वहाँ लिखा है कि एक ही वस्तु के अनेक नाम होने की तरह बुद्ध के भी असंख्य नाम हैं। लोग इन्हें तथागत, स्वयंभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, ईश्वर, विष्णु, प्रधान, कपिल, भूतान्त, भास्कर, अरिष्टनेमि आदि नामों से पुकारते हैं। यह उल्लेख इससे पूर्व अरिष्टनेमि का होना प्रमाणित करता है। ‘ऋषि-भासित सुत्त’ में अरिष्टनेमि और कृष्ण-निरूपित पेंतालीस अध्ययन हैं, उनमें बीस अध्ययनों के प्रत्येक बुद्ध अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में हुए थे। उनके द्वारा निरूपित अध्ययन अरिष्टनेमि के अस्तित्व के स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं। ऋग्वेद के अतिरिक्त वैदिक साहित्य के अन्यान्य ग्रन्थों में भी अरिष्टनेमि का उल्लेख हुआ है। इतना ही नहीं, तीर्थकर अरिष्टनेमि का प्रभाव भारत के बाहर विदेशों में पहुँचा प्रतीत होता है। कर्नल टॉड के शब्द हैं—“मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं। उनमें पहले आदिनाथ और दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केन्डोनेविया निवासियों के प्रथम “ओडिन” और चीनियों के प्रथम “फो” देवता थे।” धर्मानन्द कौशाम्बी ने घोर आंगिरस को नेमिनाथ माना है।

१ ऋग्वेद : १।१४।८६।६।१।२४।१८०।१०।३।४।५३।१७।१०।१२।१७८।१। मथुरा १९६०

२ महाभारत का शान्ति पर्व २८८।४।२८८।५।६।

३ सगर चक्रवर्ती से भिन्न, यह कोई अन्य राजा सगर होना चाहिए।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० राय चौधरी ने अपने “वैष्णव धर्म के प्राचीन इतिहास” में अरिष्टनेमि को कृष्ण का चचेरा भाई लिखा है, किन्तु उन्होंने इससे अधिक जैन ग्रन्थों में वर्णित अरिष्टनेमि के जीवन वृत्तान्त का कोई उल्लेख नहीं किया। इसका कारण यह हो सकता है कि अपने ग्रन्थ में डॉ० राय चौधरी ने कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्ति होने के सम्बन्ध में उपलब्ध प्रमाणों का संकलन किया है। अतः उनकी दृष्टि उसी ओर सीमित रही है।<sup>१</sup>

प्रभास पुराण में भी अरिष्टनेमि और कृष्ण से सम्बन्धित इस प्रकार का उल्लेख है।<sup>२</sup> यजुर्वेद में स्पष्ट उल्लेख है—“अध्यात्मवेद को प्रकट करने वाले संसार के सब जीवों को सब प्रकार से यथार्थ उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से जीवों की आत्मा बलवान् होती है, उन सर्वज्ञ अरिष्टनेमि के लिए आहुति समर्पित है।”<sup>३</sup>

इनके अतिरिक्त अथर्ववेद के मांडूक्य प्रश्न और मुंडक में भी अरिष्टनेमि का नाम आया है।

महाभारत में विष्णु के सहस्र नामों का उल्लेख है। उनमें “शूरः शौरिर्जनेश्वरः” पद व्यवहृत हुआ है।

इन श्लोकों का अन्तिम चरण ध्यान देने योग्य है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जयपुर में टोडरमल नामक एक जैन विद्वान् हुए हैं। उन्होंने “मोक्ष मार्ग प्रकाश” नामक अपने ग्रन्थ में ‘जनेश्वर’ के स्थान पर ‘जिनेश्वर’ लिखा है। दूसरी बात यह है कि इसमें श्रीकृष्ण को ‘शौरिः’ लिखा है। आगरा जिले में वटेश्वर के पास शौरिपुर नामक स्थान है। जैन ग्रन्थों के अनुसार आरम्भ में यहीं पर यादवों की राजधानी थी। यहीं से यादवगण भाग कर द्वारिकापुरी पहुँचे थे। यहीं पर भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म हुआ था, अतः उन्हें ‘शौरि’ भी कहा है, और वे जिनेश्वर तो थे ही।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि भगवान् अरिष्टनेमि निस्संदेह एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। अब तो आजकल के विद्वान् भी उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने लगे हैं।

१ जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, पृ. १७० से।

२ अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः ॥५०॥

कालनेमिनिहा वीरः शूरः शौरिर्जनेश्वरः ॥८२॥

३ वाजस्यनु प्रसव बभूवे मा च विश्वा भुवनानि सर्वतः, स नेमिराजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्द्धमानो अस्मै स्वाहा ॥ [वाजसनेयि माघ्यंदिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता अ० ६ मंत्र २५। यजुर्वेद सातवलेकर संस्करण (वि० सं० १६८४)]

## वैदिक साहित्य में अरिष्टनेमि और उनका वंश-वर्णन

संसार के प्रायः सभी प्राचीन और अर्वाचीन इतिहासज्ञों का अभिमत है कि श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक महापुरुष हो गये हैं। ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण के ताऊ के सुपुत्र भगवान् अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार करने में कोई दो राय नहीं हो सकती और न इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के विवाद की ही गुंजायश रहती है।

फिर भी आज तक यह प्रश्न इतिहासज्ञों के समक्ष अनबूझी पहेली की तरह उपस्थित रहा है कि वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में, जहां कि यादववंश का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, अरिष्टनेमि का कहीं उल्लेख है अथवा नहीं।

इस प्रहेलिका को हल करने के लिये इतिहास के विद्वानों ने समय-समय पर कई प्रयास किये पर उनकी शोध के केन्द्रबिन्दु संभवतः श्रीमद्भागवत और महाभारत ही रहे, अतः इस पहेली के समाधान में उन्हें पर्याप्त सफलता नहीं मिल सकी। फलतः अन्यत्र सूक्ष्म अन्वेषण एवं गहन गवेषणा के अभाव में इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की वास्तविक स्थिति के ज्ञान से संसार को वांचित ही रहना पड़ा।

इस तथ्य के सम्बन्ध में यह धूमिल एवं अस्पष्ट स्थिति हमें बहुत दिनों से लगती रही है। हमने वैदिक परम्परा के अनेक ग्रन्थों में इस पहेली के हल को ढूँढ़ने का अनवरत प्रयास किया और अन्ततोगत्वा वेदव्यास प्रणीत 'हरिवंश' को गहराई से देखा तो यह उलझी हुई गुथी स्वतः सुलभ गई और भारतीय इतिहास का एक धूमिल तथ्य स्पष्टतः प्रकट हो गया।

हरिवंश में महाभारतकार वेदव्यास ने श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि का चचेरे भाई होना स्वीकार किया है। इस विषय से सम्बन्धित 'हरिवंश' के मूल श्लोक इस प्रकार हैं :—

बभ्रुवस्तु यदोः पुत्राः, पंच देवसुतोपमाः।

सहस्रदः पयोदश्च, क्रोष्टा नीलाञ्जिकस्तथा ॥१॥

[हरिवंश पर्व १, अध्याय ३३]

अर्थात् महाराज यदु के सहस्रद, पयोद, क्रोष्टा, नील और अञ्जिक नाम के देवकुमारों के तुल्य पाँच पुत्र हुए।

गान्धारी चैव माद्री च, क्रोष्टोभार्ये बभूवतुः ।

गान्धारी जनयामास, अनमित्रं महाबलम् ॥१॥

माद्री युधाजितं पुत्रं, ततोऽन्यं देवमीदुपम् ॥

तेषां वंशस्त्रिधाभूतो, वृष्णीनां कुलवर्द्धनः ॥२॥

[हरिवंश, पर्व १, अध्याय ३४]

अर्थात् क्रोष्टा की माद्री नाम की दूसरी रानी से युधाजित् और देवमीदुप नामक दो पुत्र हुए ।

माद्र्याः पुत्रस्य जज्ञाते, सुतो वृष्ण्यन्धकावुभौ ।

जज्ञाते तनयौ वृष्णोः, स्वफल्कश्चित्रकस्तथा ॥३॥

[वही]

क्रोष्टा के बड़े पुत्र युधाजित् के वृष्ण और अन्धक नामक दो पुत्र हुए । वृष्ण के दो पुत्र हुए, एक का नाम स्वफल्क और दूसरे का नाम चित्रक था ।

.....

अक्रूरः सुषुवे तस्माच्छ्वफल्काद् भूरिदक्षिणः ॥११॥

अर्थात् स्वफल्क के अक्रूर नामक महादानी पुत्र हुए ।

चित्रकस्याभवन् पुत्राः, पृथुर्विपृथुरेव च ।

अश्वग्रीवोऽश्वबाहुश्च, सुपाश्वंकगवेषणौ ॥१५॥

अरिष्टनेमिरश्वश्च, सुधर्माधर्मभृत्तथा ।

सुबाहुर्बहुबाहुश्च, श्रविष्ठाश्रवणो स्त्रियौ ॥१६॥

[हरिवंश, पर्व १, अध्याय ३४]

चित्रक के पृथु,<sup>१</sup> विपृथु, अश्वग्रीव, अश्वबाहु, सुपाश्वंक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुधर्मा, धर्मभृत्, सुबाहु और बहुबाहु नामक वारह पुत्र तथा श्रविष्ठा व श्रवणा नाम की दो पुत्रियाँ हुईं ।

१ श्रीमद्भागवत में वृष्ण के दो पुत्रों का नाम स्वफल्क और चित्ररथ (चित्रक) दिया है । चित्ररथ (चित्रक) के पुत्रों का नाम देने हुए 'पृथुर्विपृथु घन्याद्याः' दूसरे पाठ में 'पृथुर्विदूरधाद्याश्च' इतना ही उल्लेख कर केवल तीन और दो पुत्रों के नाम देने के पश्चात् आदि-आदि लिख दिया है ।

[श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अ० २४, श्लोक १८]



श्री अरिष्टनेमि के वंशवर्णन के साथ-साथ श्रीकृष्ण के वंश का वर्णन भी 'हरिवंश' में वेदव्यास ने इस प्रकार किया है :

अश्रमक्यां जनयामास, शूरं वै देवमीढुषः ।  
महिष्यां जज्ञिरे शूराद्, भोज्यायां पुरुषा दश ॥१७॥  
वसुदेवो महाबाहुः पूर्वमानकदुन्दुभिः ।  
.....॥१८॥

देवभागस्ततो जज्ञे, तथा देवश्रवा पुनः ।  
अनाधृष्टि कनवको, वत्सवानथ गृजिमः ॥२१॥  
श्याम-शमीको गण्डूषः, पंच चास्य वरांगनाः ।  
पृथुकीर्ति पृथा चैव, श्रुतदेवा श्रुतश्रवाः ॥२२॥  
राजाधिदेवी च तथा, पंचैते वीरमातरः ।  
.....॥२३॥

[हरिवंश, पर्व १, अ० ३४]

वसुदेवाच्च देवक्यां, जज्ञे शौरि महायशाः ।  
.....॥७॥

[हरिवंश, पर्व १, अ० ३५]

अर्थात् यदु के क्रोष्ठा, क्रोष्ठा के दूसरे पुत्र देवमीढुष के पुत्र शूर तथा शूर के वसुदेव आदि दश पुत्र तथा पृथुकीर्ति आदि पाँच पुत्रियां हुईं । वसुदेव की देवकी नाम की रानी से श्रीकृष्ण का जन्म हुआ ।

इस प्रकार वैदिक परम्परा के मान्य ग्रन्थ 'हरिवंश' में दिये गये यादववंश के वर्णन से भी यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण और श्री अरिष्टनेमि चचेरे भाई थे और दोनों के परदादा युधाजित् और देवमीढुष सहोदर थे ।

दोनों परम्पराओं में अन्तर इतना ही है कि जैन परम्परा के साहित्य में अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय को वसुदेव का बड़ा सहोदर माना गया है; जब कि 'हरिवंश पुराण' में चित्रक और वसुदेव को चचेरे भाई माना है । संभव है कि चित्रक (श्रीमद्भागवत के अनुसार चित्ररथ) समुद्रविजय का ही अपर नाम रहा हो ।

पर दोनों परम्पराओं में श्री अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण को चचेरे भाई मानने में कोई दो राय नहीं है ।

दोनों परम्पराओं के नामों की असमानता लम्बे अतीत में हुए ईति, भीति, दुष्काल, अनेक घोर युद्ध, गृह-कलह, विदेशी आक्रमण आदि अनेक कारणों से हो सकती है ।

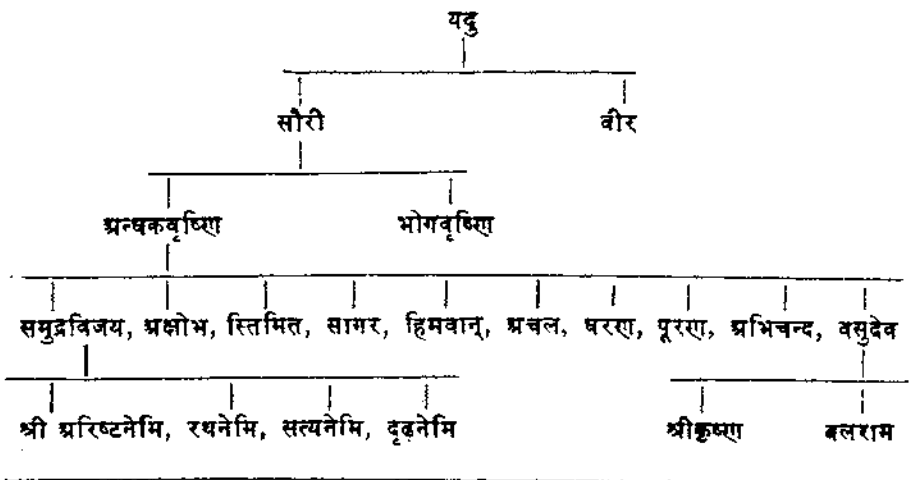
किन्तु जैन साहित्य ने तीर्थंकरों के सम्बन्ध में जो विवरण आगमों और इतिहास-ग्रन्थों में संजोये रखा है, उसे प्रामाणिक मानने में कोई सन्देह की गुंजायश नहीं रहती ।

इतना ही नहीं 'हरिवंश' में श्रीकृष्ण की प्रमुख महारानी सत्यभामा की मङ्गली बहिन व्रतिनी-दृढव्रता का भी उल्लेख है<sup>१</sup>, जिसके विवाह होने का वहाँ कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है । दृढव्रता, इस गुण-निष्पन्न नाम से, सम्भव है कि वह राजीमती के लिये ही संकेत हो, कारण कि राजीमती से बढ़ कर व्रतिनी अथवा दृढव्रता उस समय के कन्यारत्नों में और कौन हो सकती है, जिसने केवल वाग्दत्ता होते हुए भी तोरण से अपने वर के लौट जाने पर आजीवन अविवाहिता रहने का प्रण कर दृढता के साथ महाव्रतों का पालन किया ।

इतिहासप्रेमियों के विचारार्थ व पाठकों की सुविधा के लिये श्रीकृष्ण व श्री अरिष्टनेमि से सम्बन्धित यदुकुल के तुलनात्मक वंशवृक्ष यहाँ दिये जा रहे हैं ।

भगवान् अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण के जैन व वैदिक परम्परा के अनुसार वंशवृक्ष :—

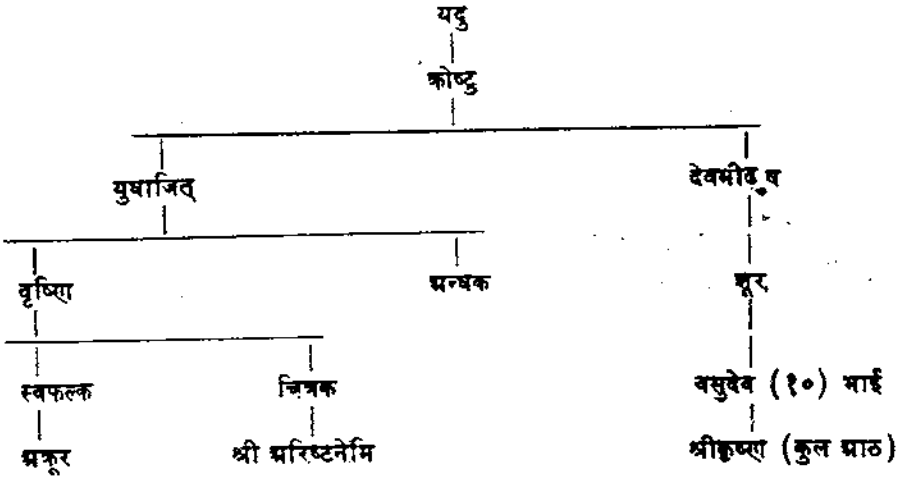
### जैन परम्परा



१ सत्यभामोत्तमा स्त्रीणां, व्रतिनी च दृढव्रता ।

[हरिवंश पर्व, अ० ३८, श्लोक ४७]

वैदिक परम्परा



वैदिक परम्परा की ही दूसरी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष :-

हयंश्व

१. यदु
२. माधव
३. सत्वत
४. भीम
५. अन्धक
६. रैवत
७. विश्वगर्भ

८. वसु  
 |  
 ९. वसुदेव  
 |  
 १०. श्रीकृष्ण<sup>१</sup>

१ आसीद् राजा मनोर्वशे, श्रीमानिष्वाकुसंभवः ।  
 हर्यश्व इति विख्यातो, महेन्द्रसम विक्रमः ॥१२॥  
 तस्यैव च सुवृत्तस्य, पुत्रकामस्य धीमतः ।  
 मधुमत्यां सुतो जज्ञे, यदुर्नाम महायशाः ॥४४॥  
 [हरिवंश, पर्व २, अध्याय ३७]  
 स तासु नागकन्यासु, कालेन सहता नृपः ।  
 जनयामास विक्रान्तान्यंच पुत्रान् कुलोद्भवान् ॥ १ ॥  
 मुचुकुन्दं महाबाहुं, पदमवर्णं तथैव च ।  
 माधव सारसं चैव, हरितं चैव पाथिवम् ॥ २ ॥  
 एवमिष्वाकुवंशात्तु यदुवंशो विनिःसृतः ।  
 चतुर्धा यदुपुत्रैस्तु, चतुर्भिर्भिद्यते पुनः ॥३५॥  
 स यदुर्माघवे राज्यं, विसृज्य यदुपुंयवे ।  
 त्रिविष्टपं गतो राजा, देहं त्यक्त्वा महीतले ॥३६॥  
 बभूव माधवसुतः सत्वतो नाम वीर्यवान् ।  
 ..... ॥३७॥  
 सत्वतस्य सुतो राजा, भीमो नाम महानभूत् ।  
 ..... ॥३८॥  
 ..... ।  
 ग्रन्धको नाम भीमस्य, सुतो राज्यमकारयत् ॥४३॥  
 ग्रन्धकस्य सुतो जज्ञे, रैवतो नाम पाथिवः ।  
 ऋक्षोऽपि रैवताञ्जज्ञे, रम्ये पर्वतमूर्धनि ॥४४॥  
 रैवतस्यात्मजो राजा, विश्वगर्भो महायशाः ।  
 बभूव पृथिवीपालः पृथिव्यां प्रथितः प्रभुः ॥४६॥  
 तस्य तिसृषु भार्यासु, दिव्यरूपासु केनवः ।  
 चत्वारो जज्ञिरे पुत्रा, लोकपालोपमाः शुभाः ॥४७॥  
 वसुवंशुः सुषेणश्च, सभाक्षश्चैव वीर्यवान् ।  
 यदु प्रवीराः प्रख्याता, लोकपाला इवापरे ॥४८॥

वैदिक परम्परा की ही तीसरी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष<sup>१</sup>

१. यदु
२. क्रोष्ठा
३. वृजिनिवान्
४. उषंगु
५. चित्ररथ
६. शूर ....(छोटा पुत्र)
७. वसुदेव
८. श्रीकृष्ण ....(वासुदेव)

वैदिक परम्परा की ही चौथी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष<sup>२</sup>

१. यदु

वसोस्तु कुन्ति विषये, वसुदेवः सुतो विभुः ।

..... ॥१०॥

एष ते स्वस्य वंशस्य, प्रभवः संप्रकीर्तितः ।

श्रुतो मया पुरा कृष्ण, कृष्णद्वैपायनान्तिकात् ॥१२॥

[हरिवंश, पर्व २, अध्याय ३८]

१ बुधात् पुरुवश्चापि, तस्मादायुर्भविष्यति ।

नहुषो भविता तस्माद्, ययातिस्तस्य चात्मजः ॥२७॥

यदुस्तस्मान्महासत्वाः, क्रोष्ठा तस्माद् भविष्यति ।

क्रोष्टुश्चैव महाम् पुत्रो, वृजिनिवान् भविष्यति ॥२८॥

वृजिनिवतश्च भविता उषंगुरपराजितः ।

उषंगोर्भविता पुत्रः, शूरश्चित्ररथस्तथा ॥२९॥

तस्य न्ववरजः पुत्रः शूरो नाम भविष्यति ।

..... ॥३०॥

स शूरः क्षत्रियश्रेष्ठो, महावीर्यो महायशाः ।

स्ववंश विस्तरकरं, जनयिष्यति मानवः ॥३१॥

वसुदेव इति ख्यातं, पुत्रमानकदुन्दुभिम् ।

तस्य पुत्रश्चतुर्बाहुर्वासुदेवो भविष्यति ॥३२॥

[महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय १४७]

२ ययात्तेर्देवयान्यां तु, यदुज्येष्ठोऽभवत् सुतः ।

यदोरभूदन्ववाये, देवमीढ इति स्मृतः ॥ ६ ॥

यादवस्तस्य तु सुतः, शूरस्त्रैलोक्यसम्मतः ।

शूरस्य शौरिर्नृबरो, वसुदेवो महायशाः ॥ ७ ॥

[महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय १४४]

२. ....(इनके वंश में देवमीठ नाम से विख्यात एक यादव हो गये हैं)'
३. देवमीठ
४. शूर
५. वसुदेव
६. श्रीकृष्ण

### ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती

भगवान् अरिष्टनेमि के निर्वाण के पश्चात् और भगवान् पार्श्वनाथ के जन्म से पूर्व के मध्यकाल में अर्थात् भगवान् अरिष्टनेमि के धर्म-शासन में इस अश्वसर्पिणी काल का भारतवर्ष का अन्तिम चक्रवर्ती सम्राट् ब्रह्मदत्त हुआ। ब्रह्मदत्त का जीवन एक और अभावस्था की दुखद, बीभत्स अन्वेरी रात्रि की तरह भीषण दुःखों से भरपूर; और दूसरी ओर शरद पूर्णिमा की सुखद सुहावनी चटक-चाँदनी से शोभायमान रात्रि की तरह सांसारिक सुखों से अतप्रोत था। इसके साथ ही साथ ब्रह्मदत्त के चक्रवर्ती-जीवन के बाद के एवं पहले के भव दारुण से दारुणतम दुःखों के केन्द्र रहे।

ब्रह्मदत्त के ये भव भीषण भवाटवी के और भवभ्रमण की भयावहता के वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :-

काम्पिल्य नगर के पांचालपति ब्रह्म की महारानी चुलनी ने गर्भधारण के पश्चात् चक्रवर्ती के शुभजन्मसूचक चौदह महास्वप्न देखे। समय पर महारानी चुलनी ने तपाये हुए सोने के समान कान्ति वाले परम तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया।

ब्रह्म नृपति को इस सुन्दर-तेजस्वी पुत्र का मुख देखते ही ब्रह्म में रमण (आत्मरमण) के समान परम आनन्द की अनुभूति हुई इसलिये बालक का नाम ब्रह्मदत्त रखा गया। माता-पिता और स्वजनों को अपनी बाललीलाओं से आनन्दित करता हुआ बालक ब्रह्मदत्त शुक्लपक्ष की द्वितीया के चन्द्र की तरह बढ़ने लगा।

काशी-नरेश कटक, हस्तिनापुर के राजा कशोरुदत्त, कोशलेश्वर दीर्घ और चम्पापति पुष्पचूलक ये चार नरेश्वर काम्पिल्याधिपति ब्रह्म के अन्तरंग मित्र थे। इन पाँचों मित्रों में इतना घनिष्ठ प्रेम था कि वे पाँचों राज्यों की राजधानियों में क्रमशः एक-एक वर्ष साथ ही रहा करते थे। निश्चित क्रम के अनुसार वे पाँचों मित्र वर्षभर साथ-साथ रहने के लिये काम्पिल्यपुर में एकत्रित हुए। आमोद-प्रमोद के साथ पाँचों मित्रों को काम्पिल्यपुर में रहते हुए काफी समय बीत गया।

१ इससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः यहाँ एक, दो या इससे अधिक भी कुछ राजाओं का नामोल्लेख नहीं किया गया है।

[सम्पादक]

एक दिन अचानक ही महाराजा ब्रह्म का देहावसान हो गया। शोक-सन्तप्त परिजन, पुरजन और काशीपति आदि चारों मित्र राजाओं ने ब्रह्म का अन्त्येष्टि-संस्कार किया। उस समय ब्रह्मदत्त की आयु केवल बारह वर्ष की थी, अतः काशीपति आदि चारों नृपतियों ने मन्त्रणा कर यह निश्चय किया कि जब तक ब्रह्मदत्त युवा नहीं हो जाय तब तक एक-एक वर्ष के लिए उन चारों मित्रों में से एक नरेश काम्पिल्यपुर में ब्रह्मदत्त का और काम्पिल्य के राज्य का अभि-भावक अथवा प्रहरी की तरह संरक्षक बन कर रहे।

इस सर्वसम्मत निर्णय के अनुसार प्रथम वर्ष के लिए कोशलनरेश दीर्घ को ब्रह्मदत्त और उसके राज्य का संरक्षक नियुक्त किया गया और शेष तीनों राजा अपनी-२ राजधानी को लौट गये।

कथा विभाग में कहा गया है कि कोशलपति दीर्घ बड़ा विश्वासघाती निकला। शनैः-शनैः उसने न केवल काम्पिल्य के कोष और राज्य पर ही अपना अधिकार किया, अपितु अपने दिवंगत मित्र की पत्नी चुलना को भी कामवासना के जाल में फँसा कर अपना मुँह काला कर लिया और कोशल एवं काम्पिल्य के यशस्वी राजवंशों के उज्ज्वल भाल पर कलंक का काला टीका लगा दिया।

कुलशील को तिलांजलि दे कर दीर्घ और चुलना यथेप्सित कामकेलि करते हुए एक दूसरे पर पूर्ण आसक्त हो व्यभिचार के धृष्टित गर्त में उत्तरोत्तर गहरे डूबते गये।

चतुर प्रधानाभात्य धनु उन दोनों के पापपूर्ण आचरण से बड़ा चिन्तित हुआ। उसे यह आशंका हुई कि ये दोनों कामवासना के कीट किसी भी समय बालक ब्रह्मदत्त के प्राणों के ग्राहक बन सकते हैं। अतः उसने अपने पुत्र वरधनु के माध्यम से कुमार ब्रह्मदत्त को पूर्ण सतर्क रहने की सलाह दी और अपने पुत्र को अर्हनिश कुमार के साथ रहने की आज्ञा दी।

मन्त्री-पुत्र वरधनु से अपनी माता के व्यभिचारिणी होने की बात सुनकर ब्रह्मदत्त बन्नाहत सा तिलमिला उठा। सिंह-शावक की तरह अत्यन्त क्रुद्ध हो वह गुराने लगा। एक कोकिल और काक को साथ-साथ बाँध कर दीर्घ और चुलना के केलिसदन के द्वार पर जाकर बड़ी क्रोधपूर्ण मुद्रा में ब्रह्मदत्त बार-बार तीव्र स्वर में कहने लगा—“औ नोच कीए ! तेरी यह धृष्टता कि इस कोकिल के साथ केलि कर रहा है ? तुम दोनों का प्राणान्त कर मैं तुम्हारी इस दुष्टता का तुम्हें दण्ड दूँगा।”

कुमार की इस आक्रोशपूर्ण व्याजोक्ति को सुनकर दीर्घ उसके अन्तर्द्वन्द्व को भाँप गया। उसने चुलना से कहा—“देखा प्रिये ! यह कुमार मुझे कौआ और तुम्हें कोकिल बताकर हम दोनों को मारने की धमकी दे रहा है ?”

कामासक्ता चुलना ने यह कह कर बात टाल दी—“यह अभी निरा बालक है, इसकी बालचेष्टाओं से तुम्हें नहीं डरना चाहिये।”

बालक ब्रह्मदत्त के अन्तर में दीर्घ और अपनी माता के पापाचार के प्रति विद्रोह का ज्वालामुखी फट चुका था। वह बालक बालकेलियों को भूल रात-दिन उन दोनों को उनके दुराचार के लिये येन-केन-प्रकारेण सबक सिखाने की उधेड़-बुन में लग गया।

दूसरे दिन ब्रह्मदत्त एक राजहंसिनी और बगुले को साथ-साथ बांध कर दीर्घ और चुलना को दिखाते हुए आक्रोश भरे तीव्र स्वर में बार-बार कहने लगा—“यह महा अधम बगुला इस राजहंसिनी के साथ सहवास कर रहा है। इस निकृष्ट पापाचार को कोई भी कैसे सहन कर सकता है? मैं इन्हें अवश्य ही मौत के घाट उतारूंगा।”

कुमार ब्रह्मदत्त के इस इंगित और आक्रोशपूर्ण उद्गारों को सुनकर दीर्घ को पूर्ण विश्वास हो गया कि ब्रह्मदत्त की ये चेष्टाएँ केवल बालचेष्टाएँ नहीं हैं, वरन् उसके अन्तर में प्रतिशोध की भीषण ज्वालाएँ भभक उठी हैं। उसने चुलना से कहा—“देवि ! देख रही हो तुम्हारे इस पुत्र की करतूतें? यह तुम्हें हंसिनी और मुझे बगुला समझ कर हम दोनों को मारने का दृढ़ संकल्प कर चुका है। यह थोड़ा बड़ा हुआ नहीं कि हम दोनों का बड़ा प्रबल शत्रु और घातक हो जायगा। यह निश्चित समझो कि तुम्हारी मृत्यु के लिए साक्षात् काल ही तुम्हारे पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है, अतः तुम्हारा और मेरा इसी में हित है कि राजसिंहासनारूढ़ होने से पहले ही इस जहरीले काले नाग को कुचल दिया जाय। हम दोनों का वियोग नहीं होगा तो तुम और भी पुत्रों को जन्म दे सकोगी। अतः इस प्राणहारी पुत्र-मोह का परित्याग कर इसका प्राणान्त कर दो।”

अन्त में कामान्धा चुलना पिशाचिनी की तरह अपने पुत्र के प्राणों की प्यासी हो गई। लोकापवाद से बचने के लिये उन दोनों ने कुमार ब्रह्मदत्त का विवाह कर सुहागरात्रि के समय वर-वधू को लाक्षागृह में मुलाकर भस्मसात् कर डालने का षड्यन्त्र रचा।

ब्रह्मदत्त के लिए उसके मातुल पुष्पचूल नृपति की पुत्री पुष्पवती को वाग्दान में प्राप्त किया गया और विवाह की बड़ी तेजी के साथ तैयारियाँ होने लगीं।

प्रधानामात्य धनु पूर्ण सतर्क था और रात दिन दीर्घ और चुलना की हर गतिविधि पर पूरा-पूरा ध्यान रखता था। उसने इस गुप्त षड्यन्त्र का पता लगा लिया और वर-वधू के प्राणों की रक्षा का उपाय सोचने लगा।



उसने दीर्घ नृपति से बड़ी नम्रतापूर्वक निवेदन किया—“महाराज ! मेरा पुत्र प्रधानामात्य के पदभार को सम्भालने के पूर्ण योग्य हो चुका है और मैं जराग्रस्त हो जाने के कारण राज्य-संचालन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्यों में भी अब अपेक्षित तत्परता से दौड़धूप करने में असमर्थ हूँ । मैं अब दान-धर्मादि पुण्य कार्यों में अपना शेष जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ । अतः प्रार्थना है कि मुझे प्रधानामात्य के कार्यभार से कृपा कर मुक्त कीजिये ।”

कुटिल दीर्घ ने सोचा कि यदि इस प्रत्युत्पन्नमती, अनुभवी, राजनीति-निष्णात को राज-कार्यों से अवकाश दे दिया गया तो यह कोई न कोई अचिन्त्य उत्पात खड़ा कर मेरी सभी दुरभिसन्धियों को चौपट कर देगा ।

उसने प्रकट में बड़े मधुर स्वर में कहा—“मन्त्रिवर ! आप जैसे विलक्षण बुद्धि वाले योग्य मंत्री के बिना तो हमारा राज्य एक दिन भी नहीं चल सकता, क्योंकि आप ही तो इस राज्य की धुरी हैं । कृपया आप मन्त्रिपद पर बने रहकर दान आदि धार्मिक कृत्य करते रहिये ।”

चतुर प्रधान मंत्री धनु ने दीर्घ के प्रति पूर्ण स्वामिभक्ति का प्रदर्शन करते हुए अंजलिबद्ध हो उसकी आज्ञा को शिरोधार्य किया और गंगा नदी के तट पर विशाल यज्ञमण्डप का निर्माण करवाया । राज्य के सम्पूर्ण कार्यों को देखते हुए उसने गंगातट पर अन्नदान का महान् यज्ञ प्रारम्भ किया । वह यज्ञमण्डप में प्रतिदिन हजारों लोगों को अन्न-पानादि से तृप्त करने लगा ।

इस अन्नयाग के व्याज से उसने अपने विश्वस्त पुरुषों द्वारा बड़ी तेजी से यज्ञमण्डप से लाक्षागृह तक एक सुरंग का निर्माण करवा लिया और अपने गुप्त-चर के द्वारा पुष्पचूल को दीर्घ और चुलना के भीषण षड्यंत्र से अवगत करा बड़ी चतुराई से चाल चलने की सलाह दी ।

विवाह की तिथि से पूर्व ही कन्यादान की विपुल बहुमूल्य सामग्री के साथ बड़े समारोहपूर्वक कन्या काम्पित्य नगर के राज-प्रासाद में पहुँच गई ।

अपूर्व महोत्सव और बड़ी धूमधाम के साथ ब्रह्मदत्त का विवाह सम्पन्न हुआ । सुहागरात्रि के लिये देवमन्दिर की तरह सजाये गये लाक्षागृह में वर-द्वय को पहुँचा दिया गया ।

स्वच्छन्द विषयानन्द लूटने के लोभ में कामान्ध बनी माँ ने अपने पुत्र को और अपनी समझ में अपने सहोदर की पुत्री को मौत के मुँह में ढकेल कर—

ऋणकर्ता पिता शत्रुः, माता च व्यभिचारिणी ।

भार्या रूपवती शत्रुः, पुत्रः शत्रुरपण्डितः ॥

इस सनातन नीति-श्लोक के द्वितीय चरण को चरितार्थ कर दिया ।

मन्त्री-पुत्र वरधनु भी शरीर की छाया की तरह राजकुमार के साथ ही उस लाक्षागृह में प्रविष्ट हो गया ।

धनु की दूरदर्शिता और नीति-निपुणता के कारण किसी को किंचित्मात्र भी शंका करने का अवसर नहीं मिला कि वधू वास्तव में राजा पुष्पचूल की पुत्री पुष्पवती नहीं, अपितु उसी के समान स्वरूप वाली सर्वतो अनुरूपिणी दासी पुत्री है ।

अन्त में अर्द्धरात्रि के समय दीर्घ और चुलना की दुरभिसन्धि को कार्य-रूप में परिणत किया गया । लाक्षागृह लपलपानी हुई लाल-लाल ज्वाला-मालाओं का गगनचुम्बी शिखर सा बन गया ।

ब्रह्मदत्त वरधनु द्वारा सारी स्थिति से अवगत हो उसके साथ सुरंग-द्वार में प्रवेश कर गंगातट के यज्ञमण्डप में जा पहुँचा । तीव्र गति वाले सजे-सजाये दो घोड़ों पर ब्रह्मदत्त एवं वरधनु को बैठा अज्ञात सुदूर प्रदेश के लिए उन्हें विदा कर प्रधानामात्य धनु स्वयं भी किसी निरापद स्थान को ओर पलायन कर गया ।

जो अतीत में बड़े लाड़-प्यार से राजसी ठाट-बाट में पला और जो भविष्य में सम्पूर्ण भारतवर्ष के समस्त छहों खण्डों की प्रजा का पालक प्रतापी चक्रवर्ती सम्राट बनने वाला है, वही ब्रह्मदत्त अपने प्राणों को बचाने के लिए घने, भयावने, अगम्य अरण्यों में, अर्द्धरात्रि में, अनाथ की तरह अज्ञात स्थान की ओर अन्धाधुन्ध भागा जा रहा था ।

पवन-वेग से निरन्तर सरपट भागते हुए घोड़ों ने काम्पिल्यपुर को पचास योजन पीछे छोड़ दिया, पर अनवरत तीव्र गति से इतनी लम्बी दौड़ के कारण दोनों घोड़ों के फेफड़े फट गये और वे धराशायी हो चिरनिद्रा में सो गये ।

ब्रह्मदत्त और वरधनु ने अब तक पराये पैरों पर भाग कर पचास योजन पार किया था । अब वे अपने प्राणों को बचाने के लिए अपने पैरों के बल बेतहाशा भागने लगे । भागते-भागते उनके श्वास फूल गये, फिर भी, क्योंकि अपने प्राण सबको अति प्रिय हैं, अतः वे भागते ही रहे । अन्ततोगत्वा वे बड़ी कठिनाई से कोष्ठक नामक ग्राम के पास पहुँचे ।

वरधनु गाँव में पहुँचा और एक हज्जाम को साथ लिए लौटा । ब्रह्मदत्त ने नाई से अपना सिर मुण्डित करवा काला परिधान पहन महान् पुण्य और प्रताप के द्योतक श्रीवत्स चिह्न को ढंक लिया । वरधनु ने उसके गले में अपना यज्ञोपवीत डाल दिया ।

इस तरह वेश बदलकर वे ग्राम में घुसे । एक ब्राह्मण उन्हें अपने घर ले गया और बड़े सम्मान एवं प्रेम के साथ उसने उन्हें भोजन करवाया ।

भोजनोपरान्त गृहस्वामिनी ब्राह्मणी ब्रह्मदत्त के मस्तक पर अक्षतों की वर्षा करती हुई अपनी परम सुन्दरी पुत्री को साथ लिये ब्रह्मदत्त के सम्मुख हाथ जोड़े खड़ी हो गई । दोनों मित्र एक-दूसरे का मुँह देखते ही रह गये ।

वरधनु ने कृत्रिम आश्चर्यच्योतक स्वर में कहा—“देवि ! इस अनाड़ी भिक्षुक को अप्सरा सी अपनी यह कन्या देकर क्यों गजब ढा रही हो ! तुम्हारा यह कृत्य तो गौ को भेड़िये के गले में बांधने के समान मूर्खतापूर्ण है ।”

गृहस्वामी ब्राह्मण ने उत्तर दिया—“सौम्य ! भस्मी रमा लेने से भी कहीं भाग्य छुपाया जा सकता है ? मेरी इस सर्वोत्तम गुरु-सम्पन्ना पुत्री बन्धुमती का पति इन पुण्यशाली कुमार के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता क्योंकि इस कन्या के चक्रवर्ती की पत्नी होने का योग है । निमित्तज्ञों ने मुझे इस कन्या के वर की जो पहचान बताई है, उस महाभाग को मैंने आज सौभाग्य से प्राप्त कर लिया है । उन्होंने जो पहचान बताई वह भी मैं आपको बताये देता हूँ । निष्णात-निमित्तज्ञों ने मुझे कहा था कि जो व्यक्ति अपने ‘श्रीवत्स चिह्न’ को वस्त्र से छुपाये हुए तुम्हारे घर आकर भोजन करे, उसी के साथ इस कन्या का विवाह कर देना । यह देखिये यन्त्र से ढका होने पर भी यह श्रीवत्स का चिह्न चमक रहा है ।”

दोनों मित्र आश्चर्यचकित हो गये । ब्रह्मदत्त का बन्धुमती के साथ विवाह हो गया । प्रलयानिल के दारुण दुःखद अन्धड़ में उड़ने के पश्चात् मानो ब्रह्मदत्त ने मादक मन्द मलयानिल के मधुर भोंके का अनुभव किया, दम घोंट देने वाले दुखों की कालरात्रि के पश्चात् मानो पूर्णिमा की सुखद श्वेत चाँदनी उसकी आँखों के समक्ष थिरक उठी । एक रात्रि के सुख के पश्चात् पुनः दुःख का दरिया ।

दिनमणि के उदय होते-होते दीर्घराज के दुःख ने उसे फिर आ धर दबाया । दोनों कोष्ठक ग्राम से भागे पर देखा कि दीर्घ के सैनिक दानवों की तरह सब रास्तों को रोके खड़े हैं । यह देख दोनों मित्र वन्य मृगों की तरह प्राण बचाने के लिए घने वनों की झड़ियों में छुपते हुए भाग रहे थे । उस समय ‘छिद्रेष्वनर्थाः बहुली भवन्ति’ इस उक्ति के अनुसार ब्रह्मदत्त को जोर की प्यास लगी और मारे प्यास के उसके प्राण-पंखेरू उड़ने लगे ।

ब्रह्मदत्त ने एक वृक्ष की ओट में बैठते हुए कहा—“वरधनु ! मारे प्यास के अब एक डग भी नहीं चला जाता । कहीं न कहीं से शीघ्र ही पानी लाओ ।”

वरधनु "अभी लाया", कह कर पानी लाने दीड़ा। वह पानी लेकर लौट ही रहा था कि दीर्घराज के घुड़सवारों ने उसे आ घेरा और "कहाँ है ब्रह्मदत्त ? बता कहीं है ब्रह्मदत्त ?" कहते हुए वरधनु को निर्दयतापूर्वक पीटने लगे।

ब्रह्मदत्त ने देखा, पिटा जाता हुआ वरधनु उसे भाग जाने का संकेत कर रहा है। घोर दारुण दुखों से पीड़ित प्यासे ब्रह्मदत्त ने देखा उसके प्राणों के प्यासे दुष्ट दीर्घ के सैनिक यमदूत की तरह उसके सिर पर खड़े हैं। वह घने वृक्षों और झाड़ियों की ओट में घुस कर भागने लगा। कांटों से बिंध कर उसका सारा शरीर लहूलुहान हो गया, प्यास से पीड़ित, प्राणों के भय से पीड़ित, प्रिय साथी के करालकाल के गाल में पड़ जाने के शोक से पीड़ित, अथक थकान से केवल पाँव ही नहीं रोम-रोम पीड़ित, कोई पारावर ही नहीं था पीड़ाओं का, फिर भी प्राणों के जाने के भय से भयभीत भागा ही चला जा रहा था ब्रह्मदत्त— क्योंकि प्राण सबको सर्वाधिक प्रिय होते हैं।

जब निरन्तर तीन दिन तक भागते-भागते दुःख और पीड़ा चरम सीमा तक पहुँच चुके तो परिवर्तन अवश्यभावी था।

अत्यन्त दुःखी अवस्था में पहुँचे ब्रह्मदत्त ने वन में एक तापस को देखा। वह उसे अपने आश्रम में कुलपति के पास ले गया।

कुलपति ने ब्रह्मदत्त के शूलिधूसरित तन की तेजस्विता और वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का लाल्छन देख साश्चर्य उससे उस दशा में वन में आने का कारण पूछा।

ब्रह्मदत्त से सारा वृत्तान्त सुनते ही आश्रम के कुलपति ने उसे अपने हृदय से लगाते हुए कहा— "कुमार ! तुम्हारे पिता महाराज ब्रह्म मेरे बड़े भाई के तुल्य थे। इस आश्रम को तुम अपना घर ही समझो और बड़े आनन्द से यहाँ रहो।"

ब्रह्मदत्त वहाँ रहता हुआ कुलपति के पास विद्याध्ययन करने लगा। कुलपति ने कुशाग्रबुद्धि ब्रह्मदत्त को सब प्रकार की शस्त्रास्त्र विद्याओं का अध्ययन कराया और उसे धनुर्वेद, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र व वेद-वेदांग का पारंगत विद्वान् बना दिया।

अब वह प्रलम्ब बाहु, उन्नत तेजस्वी भाल, विशाल वक्ष, वृषस्कन्ध, पुष्ट-मांसल पेशियों से शरीर को सात धनुष ऊँचाई वाला पूर्ण युवा हो चुका था। उसके रोम-रोम से तेज और ओज टपकने लगे।

एक दिन ब्रह्मदत्त कुछ तपस्वियों के साथ कन्द, मूल, फल-फूलादि लेने जंगल में निकल पड़ा। वन में प्रकृति-सौन्दर्य का निरीक्षण करते हुए उसने हाथी

के तुरन्त के पद-चिह्न देखे । यौवन का मद उस पर छा गया । हाथी को छकाने के लिए उसके भुजदण्ड फड़क उठे । तापसों द्वारा मना किये जाने पर भी हाथी के पद-चिह्नों का अनुसरण करता हुआ वह उन तपस्वियों से बहुत दूर निकल गया ।

अन्ततोगत्वा उसने, अपनी सूँड से एक वृक्ष को उखाड़ते हुए मदनोन्मत्त जंगली हाथी को देखा और उससे जा भिड़ा । हाथी क्रोध से चिंघाड़ता हुआ ब्रह्मदत्त पर भपटा । ब्रह्मदत्त ने अपने ऊपर लपकते हुए हाथी के सामने अपना उत्तरीय फेंका और ज्योंही हाथी अपनी सूँड ऊँची किये हुए उस वस्त्र की ओर दौड़ा त्योंही ब्रह्मदत्त अवसर देख उछला और हाथी के दाँतों पर पैर रख पीठ पर सवार हो गया ।

इस प्रकार हाथी से वह बड़ी देर तक श्रीड़ाएँ करता रहा । उसी समय काली मेघ-घटाएँ घुमड़ पड़ीं और मूसलाघार वृष्टि होने लगी । वर्षा से भीगता हुआ हाथी चिंघाड़ कर भागा । प्रत्युत्पन्नमति ब्रह्मदत्त एक विशाल वृक्ष की शाखा को पकड़ कर वृक्ष पर चढ़ गया । वर्षा कुछ मन्द पड़ी पर घनी मेघ-घटाओं के कारण दिशाएँ धुँधली हो चुकी थीं ।

ब्रह्मदत्त वृक्ष से उतर कर आश्रम की ओर बढ़ा, पर दिग्भ्रान्त हो जाने के कारण दूसरे ही वन में निकल गया । इधर-उधर भटकता हुआ वह एक नदी के पास आया । उस नदी को भुजाओं से तैर कर उसने पार किया और नदी-तट के पास ही उसने एक उजड़ा हुआ ग्राम देखा । ग्राम में आगे बढ़ते हुए उसने बाँसों की एक घनी झाड़ी के पास एक तलवार और ढाल पड़ी देखी । उसकी मांसल भुजाएँ अभी और श्रम करना चाहती थीं । उसने तलवार म्यान से बाहर कर बाँसों की झाड़ी को काटना प्रारम्भ किया कि बाँसों की झाड़ी को काटते-काटते उसने देखा कि उसकी तलवार के वार से कटा एक मनुष्य का मस्तक एवं धड़ उसके सम्मुख तड़फड़ा रहे हैं । उसने ध्यान से देखा तो पता चला कि कोई व्यक्ति बाँस पर उल्टा लटके किसी विद्या की साधना कर रहा था । उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई कि उसने व्यर्थ ही साधना करते हुए एक युवक को मार दिया है ।

पश्चात्ताप करता हुआ ज्योंही वह आगे बढ़ा तो उसने एक रमणीय उद्यान में एक भव्य भवन देखा । कुतूहलवश वह उस भवन की सीढ़ियों पर चढ़ने लगा । ऊपर चढ़ते हुए उसने देखा कि ऊपर के एक सजे हुए कक्ष में कोई अपूर्व सुन्दरी कन्या पलंग पर चिंतित मुद्रा में बैठी है । आश्चर्य करते हुए वह उस बाला के पास पहुँचा और पूछने लगा—“सुन्दरी ! तुम कौन हो और इस निर्जन भवन में एकाकिनी शोकमग्न मुद्रा में क्यों बैठी हो ?”

अचानक एक तेजस्वी युवक को सम्मुख देखते ही वह अबला भयविह्वल हो गई और भयाक्रान्त जिज्ञासा के स्वर में बोली—“आप कौन हैं? आपके यहाँ आने का प्रयोजन क्या है?”

ब्रह्मदत्त ने उसे निर्भय करते हुए कहा—“सुभ्रु ! मैं पांचाल-नरेश ब्रह्म का पुत्र ब्रह्मदत्त हूँ.....।”

ब्रह्मदत्त अपना वाक्य पूरा भी नहीं कर पाया था कि वह कन्या उसके पैरों में गिर कर कहने लगी—“कुमार ! मैं आपके मामा पुष्पचूल की पुष्पवती नामक पुत्री हूँ, जिसे वाग्दान में आपको दिया गया था। मैं आपसे विवाह की बड़ी ही उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रही थी कि नाट्योन्मत्त नामक विद्याधर अपने विद्याबल से मेरा हरण कर मुझे यहाँ ले आया। वह दुष्ट मुझे अपने वश में करने के लिए पास ही की बाँसों की झाड़ी में किसी विद्या की साधना कर रहा है। मेरे चिर अभिलषित प्रिय ! अब मैं आपकी शरण में हूँ। आप ही मेरी मङ्गलधर में डूबती हुई जीवन-तरणी के कर्णधार हो।”

कुमार ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—“वह विद्याधर अभी-अभी मेरे हाथों अज्ञान में ही मारा गया है। अब मेरी उपस्थिति में तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं है।”

तदनन्तर ब्रह्मदत्त और पुष्पवती गान्धर्व विधि से विवाह के सूत्र में बँध गये और इस प्रकार चिर-दुःख के पश्चात् फिर सुख के भूले में भूलने लगे।

मधु-बिन्दु के समान मधुर सुख की वह एक रात्रि मधुरालाप और प्रणयकेलि में कुछ क्षणों के समान ही बीत गई। फिर प्रिय-वियोग की वेला आ पहुँची।

गगन में धनरव के समान घोष को सुन कर पुष्पवती ने कहा—“प्रियतम ! विद्याधर नाट्योन्मत्त की खण्डा और विशाखा नाम की दो बहिनें आ रही हैं। इन अबलाओं से तो कोई भय नहीं, पर अपने प्रिय सहोदर की मृत्यु का समाचार पाये अपने विविध-विद्याओं से सशक्त विद्याधर बन्धुओं को ले आईं तो अनर्थ हो जायगा। अतः आप थोड़ी देर के लिए छिप जाइये। मैं बातों ही बातों में इन दोनों के अन्तर में आपके प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का प्रयास करती हूँ। यदि उनकी क्रोधाग्नि को शान्त होते न देखा तो मैं श्वेत पताका को हिलाकार आपको यहाँ से भाग जाने का संकेत करूँगी और यदि वे मेरे द्वारा वर्णित आपके अलौकिक गुण सौन्दर्यादि पर आसक्त हो गईं तो मैं लाल पताका को फहराऊँगी, उस समय आप निश्चक हो हमारे पास चले आना।”

यह कह कर पुष्पवती उन विद्याधर कन्याओं की अगवानी के लिए चली गई। कुमार एकटक उस ओर देखता रहा। उसने देखा कि संकट की सूचक श्वेत-पताका हिल रही है। ब्रह्मदत्त वहाँ से वन की ओर चल पड़ा।

एक विस्तीर्ण सघन वन को पार करने पर उसने स्वच्छ जल से भरे एक बड़े जलाशय को देखा। मार्ग की थकान मिटाने हेतु वह उसमें कूद पड़ा और जी भर जल-क्रीड़ा करने के उपरान्त तैरता हुआ दूसरे तट पर जा पहुँचा।

वहाँ उसने पास ही के एक लता-कुञ्ज में फूल चुनती हुई एक अत्यन्त सुकुमार सर्वांग-सुन्दरी कन्या को देखा। ब्रह्मदत्त निनिभेष दृष्टि से उसे देखता ही रह गया क्योंकि उसने इतनी रूपराशि धरातल पर कभी नहीं देखी थी। वह अनूपम सुन्दरी भी तिरछी चितवन से उस पर अमृत वर्षा सी करती हुई मन्द-मन्द मुस्कुरा रही थी। ब्रह्मदत्त ने देखा कि वह वनदेवी सी बाला उसी की ओर इंगित करते हुए अपनी सखी से कुछ कह रहीं है। उसने यह भी देखा कि उस पर विस्फारित नेत्रों से एकबारगी ही अमृत की दोहरी धारा बहा कर खुशी से मस्त मयूर सी नाचती हुई वह लता-कुञ्ज में अदृश्य हो गई। उसे पुनः देखने के लिए ब्रह्मदत्त की आँखें बड़ी बेचैनी से उसी लता-कुञ्ज पर न मालूम कितनी देर तक अटकी रहीं, इसका उसे स्वयं को ज्ञान नहीं।

एकदम उसके पास ही में हुई नूपुर की भंकार से उसकी तन्मयता जब टूटी तो ताम्बूल, वस्त्र और आभूषण लिए उस सुन्दरी की दासी को अपने संमुख खड़े पाया।

दासी ने कहा—“अभी थोड़ी ही देर पहले आपने जिन्हें देखा था उन राजकुमारीजी ने अपनी इष्ट सिद्धि हेतु ये चीजें आपके पास भेजी हैं और मुझे यह भी आदेश दिया है कि मैं आपको उनके पिताजी के मंत्री के घर पहुँचा दूँ।”

ब्रह्मदत्त वनों के वनचरों जैसे जीवन से ऊब चुका था, अतः प्रसन्न होते हुए वह दासी के पीछे-पीछे चल पड़ा।

राजकीय अतिथि के रूप में उसका खूब अतिथि-सत्कार हुआ और वहाँ के राजा ने अपनी पुत्री श्रीकान्ता का उसके साथ बड़ी धूमधाम के साथ विवाह कर दिया। ब्रह्मदत्त एक बार फिर दुःखी से सुखी बन गया। वह वहाँ कुछ दिन बड़े आमोद-प्रमोद के साथ आनन्दमय जीवन बिताता रहा।

श्रीकान्ता का पिता वसन्तपुर का राजा था, पर गृह-कलह के कारण वह वहाँ से भाग कर चौर-पल्ली का राजा बन गया। वह लट-पाट से अपने कुटुम्ब

वरधनु ने कहा—“कुमार ! मैं आपके लिए पानी ला रहा था, उस समय मुझे दीर्घ के सैनिकों ने निर्दयता से पीटना प्रारम्भ कर दिया और आपके बारे में पूछने लगे । मैंने रोते हुए कहा कि कुमार को तो सिंह खा गया है । इस पर उन्होंने जब उस स्थान को बताने को कहा तो मैंने उन्हें इधर से उधर भटकाते हुए आपको भाग जाने का संकेत किया । आपके भाग जाने पर मैं आश्वस्त हुआ और मैंने मौन ही साध ली । उन दुष्टों ने मुझे बड़ी निर्दयता से मारा और मैं अधमरा हो गया । मैं असह्य यातना से तिलमिला उठा और मौका पा मैंने उन लोगों की नजर बचा मूर्च्छित होने की गोली अपने मुँह में रख ली । उस गोली के प्रभाव से मैं निश्चेष्ट हो गया और वे मुझे मरा हुआ समझ हताश हो लौट गये । उनके जाते ही मैंने अपने मुख में से उस गोली को निकाल लिया और आपको इधर-उधर ढूँढ़ने लगा, पर आपका कहीं पता नहीं चला । पिताजी के एक मित्र से पिताजी के भाग निकलने और माता को दीर्घ द्वारा दुःख दिये जाने का वृत्तान्त सुन कर मैंने माता को काम्पिल्यपुर से किसी न किसी तरह ले आने का दृढ़ संकल्प किया । बड़े नाटकीय ढंग से मैं माता को वहाँ से ले आया और उसे पिताजी के एक अन्तरंग मित्र के पास छोड़ कर आपको इधर-उधर ढूँढ़ने लगा । अन्त में मैंने आज महान् सुकृत के फल की तरह आपको पा ही लिया ।”

ब्रह्मदत्त ने भी दीर्घकालीन दुःख के पश्चात् थोड़ी सुख की झलक, फिर घोर दुःख भरे अपने सुख-दुःख के घटनाचक्र का वृत्तान्त वरधनु को सुनाया ।

ब्रह्मदत्त अपनी बात पूरी भी नहीं कह पाया था कि उन्हें दीर्घराज के सैनिकों के बड़े दल के आने की सूचना मिली । वे दोनों अन्धरे गिरि-गह्वरों की ओर दौड़ पड़े । अनेक विकट वनों और पहाड़ों में भटकते २ वे दोनों कौशाम्बी नगरी पहुँचे ।

कौशाम्बी के उद्यान में उन्होंने देखा कि उस नगर के सागरदत्त और बुद्धिल नामक दो बड़े श्रेष्ठी एक-एक लाख रुपये दाँव पर लगा अपने कुक्कुटों को लड़ा रहे हैं । दोनों श्रेष्ठियों के कुक्कुटों की बड़ी देर तक मनोरंजक भड़पें होती रहीं पर अन्त में अच्छी जाति का होते हुए भी सागरदत्त का मुर्गा बुद्धिल के मुर्गे से हार कर मैदान छोड़ भागा ।

सागरदत्त एक लाख का दाँव हार चुका था । ब्रह्मदत्त को सागरदत्त के अच्छी नस्ल के कुक्कुट की हार से आश्चर्य हुआ । उसने बुद्धिल के कुक्कुट को पकड़ कर अच्छी तरह देखा और उसके पंजों में लगी सूई की तरह तीक्ष्ण लोहे की पतली कीलों को निकाल फेंका ।

दोनों कुक्कुट पुनः मैदान में उतारे गये, पर इस बार सागरदत्त के कुक्कुट ने बुद्धिल के कुक्कुट को कुछ ही क्षणों में पछाड़ डाला ।



हारे हुए दाँव को जीत कर सागरदत्त बड़ा प्रसन्न हुआ और कुमार के प्रति आभार प्रकट करते हुए उन दोनों मित्रों को अपने घर ले गया। सागरदत्त ने अपने सहोदर की तरह उन्हें अपने यहाँ रखा।

बुद्धिल को बहिन रत्नवती उद्यान में हुए कुक्कुट-युद्ध के समय ब्रह्मदत्त को देखते ही उस पर अनुरक्त हो गई। रत्नवती बड़ी ही चतुर थी। उसने अपने प्रियतम को प्राप्त करने का पूरा प्रयास किया। पहले उसने ब्रह्मदत्त के नाम से अंकित एक कीमती हार अपने सेवक के साथ ब्रह्मदत्त के पास भेजकर उसके मन में तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न करदी और तत्पश्चात् अपनी विश्वस्त वृद्धा परिचारिका के साथ अपनी प्रीति का संदेश भेजा।

ब्रह्मदत्त भी रत्नवती के अनुपम रूप एवं गुणों की प्रशंसा सुन उनके पास जाने को व्याकुल हो उठा, पर दीर्घ के अनुरोध पर कौशाम्बी का राजा ब्रह्मदत्त और वरधनु की सारे नगर में खोज करवा रहा था। इस कारण उसे अपने साथी वरधनु के साथ सागरदत्त के तलगृह में छिपे रहना पड़ा।

अर्द्धरात्रि के समय ब्रह्मदत्त और वरधनु सागरदत्त के रथ में बैठ कर कौशाम्बी से निकले। नगर के बाहर बड़ी दूर तक उन्हें पहुँचा कर सागरदत्त अपने घर लौट गया। ब्रह्मदत्त और वरधनु आगे की ओर बढ़े। वे थोड़ी ही दूर चले होंगे कि उन्होंने एक पूर्णायौवना सुन्दर कन्या को शस्त्रास्त्रों से सजे रथ में बैठे देखा।

उस सुन्दरी ने सहज आत्मीयता के स्नेह से सने स्वर में पूछा—“आप दोनों को इतनी देर कहाँ हो गई? मैं तो आपकी बड़ी देर से यहाँ प्रतीक्षा कर रही हूँ।”

कुमार ने आश्चर्य से पूछा—“कुमारिके! हमने तुम्हें पहले कभी नहीं देखा, हम कौन हैं, यह तुम कैसे जानती हो?”

रथारूढ़ा कुमारी ने अपना फरिचय देते हुए कहा—“कुमार? मैं बुद्धिल की बहिन रत्नवती हूँ। मैंने बुद्धिल और सागरदत्त के कुक्कुट-युद्ध में जिस दिन आपके प्रथम दर्शन किये तभी से मैं आपसे मिलने को लालायित थी—अब चिर-अभिलाषा को पूर्ण करने हेतु यहाँ उपस्थित हूँ! इस चिर-विरहिणी अपनी दासी को अपनी सेवा में ग्रहण कर अनुगृहीत कीजिये।”

रत्नवती की बात सुनते ही दोनों मित्र उसके रथ पर बैठ गये। वरधनु ने अश्वों की रास सम्हाल ली।

ब्रह्मदत्त ने रत्नावती से पूछा—“अब किस ओर चलना होगा?”

रत्नावती ने कहा—“मगधपुर में मेरे पितृव्य धनावह श्रेष्ठी के घर ।”

वरधनु ने रथ को मगधपुरी की ओर बढ़ाया । तरल तुरंगों की वायुवेग सी गति से दौड़ता हुआ रथ कौशाम्बी की सीमा पार कर भीषण वन में पहुँचा । मार्ग में डाकूदल से संघर्ष, वरधनु से वियोग आदि संकटों के बाद ब्रह्मदत्त राजगृह में पहुँचा । राजगृह के बाहर तापसाश्रम में रत्नवती को छोड़कर वह नगर में पहुँचा । राजगृह में विद्याधर नाट्योन्मत्त की खण्डा एवं विशाखा नाम की दो विद्याधर कन्याओं के साथ गान्धर्व विवाह सम्पन्न हुआ और दूसरे दिन वह श्रेष्ठी धनावह के घर पहुँचा । धनावह ब्रह्मदत्त को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने रत्नवती के साथ उसका विवाह कर दिया । धनावह ने कन्यादान के साथ-साथ प्रतुल धन-सम्पत्ति भी ब्रह्मदत्त को दी ।

ब्रह्मदत्त रत्नवती के साथ बड़े आनन्द से राजगृह में रहने लगा, पर अपने प्रिय मित्र वरधनु का वियोग उसके हृदय को शल्य की तरह पीड़ित करता रहा । उसने वरधनु को ढूँढ़ने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी, पर हर संभव प्रयास करने पर भी उसका कहीं पता नहीं चला तो ब्रह्मदत्त ने वरधनु को मृत समझ कर उसके मृतक-कर्म कर ब्राह्मणों को भोजन के लिये आमन्त्रित किया ।

सहसा वरधनु भी ब्राह्मणों के बीच आ पहुँचा और बोला—“मुझे जो भोजन खिलाया जायेंगा, वह साक्षात् वरधनु को ही प्राप्त होगा ।

अपने अनन्य सखा को सम्मुख खड़ा देख ब्रह्मदत्त ने उसे अपने बाहुपाश में जकड़कर हृदय से लगा लिया और हर्षातिरेक से बोला—“लो ! अपने पीछे किये जाने वाले भोजन को खाने के लिये स्वयं वह वरधनु का प्रेत चला आया है ।”

सब खिलखिला कर हँस पड़े । शोकपूर्ण वातावरण क्षणभर में ही सुख और आनन्द के वातावरण में परिणत हो गया ।

ब्रह्मदत्त द्वारा यह पूछने पर कि वह एकाएक रथ पर से कहां गायब होगया ? वरधनु ने कहा—“दस्युओं के युद्धजन्म श्रमातिरेक से आप प्रगाढ़ निद्रा में सो गये । उस समय कुछ लुटेरों ने रथ पर पुनः आक्रमण किया । मैंने बाणों की बौछार कर उन्हें भगा दिया, पर वृक्ष की ओट में छुपे एक चोर ने मुझ पर निशाना साध कर तीर मारा और मैं तत्क्षण पृथ्वी पर गिर पड़ा तथा भाड़ियों में छुप गया । चोरों के चले जाने पर भाड़ियों में से रेंगता हुआ धीरे-धीरे उस गाँव में आ पहुँचा जहाँ आप ठहरे हुए थे । ग्राम के ठाकुर से आपके कुशल समाचार विदित हो गये और अपने प्रेत-भोजन को ग्रहण करने में स्वयं आपकी सेवा में उपस्थित हो गया ।”

दोनों मित्र राजगृह में आनन्दपूर्वक रहने लगे, पर अब उन पर काम्पित्य के राजसिंहासन से दीर्घ को हटाने की धुन सवार हो चुकी थी ।

दोनों मित्र एक दिन वसन्त-महोत्सव देखने निकले । सुन्दर वसन्ती परिधान और अमूल्य आभूषण पहने खुशी में भूमती हुई राजगृह की तरुणियां और विविध सुन्दर वस्त्राभूषणों एवं चम्पा-चमेली की सुगन्धित फूलमालाओं से सजे खुशी से अठखेलियां करते हुए राजगृह के तरुण रमणीय उद्यान में मादक मधु-महोत्सव का आनन्द लूट रहे थे ।

उसी समय राजगृह की राजकीय हस्तिशाला से एक मदोन्मत्त हाथी लौह शृंखलाओं और हस्ती-स्तम्भ को तोड़कर मद में भूमता हुआ मधु-महोत्सव के उद्यान में आ पहुँचा । उपस्थित लोगों में भगदड़ मच गई, त्राहि-त्राहि की पुकारों और कुसुम-कली सी कमनीय सुकुमार तरुणियों की भय-त्रस्त चीत्कारों से नन्दन वन सा रम्य उद्यान यमराज का क्रीड़ास्थल बन गया ।

वह मस्त गजराज एक मधुबाला सी सुन्दर सुगौर बाला की ओर झपटा और उसने उसे अपनी सूँड में पकड़ लिया । सब के कलेजे धक् होगये ।

ब्रह्मदत्त विद्युत् वेग से उछल कर हाथी के सम्मुख सीना तान कर खड़ा हो गया और उसके अन्तस्तल पर तीर की तरह चुभने वाले कर्कश स्वर में उसे ललकारने लगा ।

हाथी उस कन्या को छोड़ अपनी लम्बी सूँड और पूँछ से आकाश को विलोडित करता हुआ ब्रह्मदत्त की ओर झपटा । हस्ति-युद्ध का मर्मज्ञ कुमार हाथी को इधर-उधर नचाता-कुदाता उसे भुलावे में डालता रहा और फिर बड़ी तेजी से कूदकर हाथी के दांतों पर पैर रखते हुए उसकी पीठ पर जा बैठा ।

हाथी थोड़ी देर तक चिंघाड़ता हुआ इधर से उधर अन्धाधुन्ध भागता रहा, पर अन्त में कुमार ने हाथी को वश में करने वाले गूढ़ सांकेतिक अद्भुत शब्दों के उच्चारण से उसे वश में कर लिया ।

वसंतोत्सव में सम्मिलित हुए सभी नर-नारी, जो अब तक श्वास रोके चित्रलिखित से खड़े महामृत्यु का खेल देख रहे थे, हाथी को वश में हुआ जानकर जयघोष करने लगे । तरुणों और तरुणियों ने अपने गलों में से फूलमालाएँ उतार-उतार कर कुमार पर पुष्पवर्षा प्रारम्भ कर दी । उस समय कुमार वसन्ती फूल और फूलमालाओं से लदा इतना मनोहर प्रतीत हो रहा था मानो मधु-महोत्सव की मादकता पर मुग्ध हो मस्ती से भूमता हुआ स्वयं मधुराज ही उस मदोन्मत्त हाथी पर आ बैठा हो ।

कुमार स्वेच्छानुसार हाथी को हाँकता हुआ हस्तिशाला की ओर अग्रसर हुआ। हजारों हर्षविभोर युवक जयघोष करते हुए उसके पीछे-पीछे चल रहे थे।

कुमार ने उस हाथी को हस्तिशाला में ले जाकर स्तम्भ से बाँध दिया। गगनभेदी जयघोषों को सुनकर मगधेश्वर भी हस्तिशाला में आ पहुँचे। सुकुमार देव के समान सुन्दर कुमार के अलौकिक साहस को देखकर मगधेश्वर अत्यन्त विस्मित हुआ और उसने अपने मन्त्रियों और राज्य सभा के सदस्यों की ओर देखते हुए साश्चर्य जिज्ञासा के स्वर में पूछा—“सूर्य के समान तेजस्वी और शक्र के समान शक्तिशाली यह मनमोहक युवक कौन है?”

नगरश्रेष्ठी घनावह से ब्रह्मदत्त का परिचय पाकर मगधपति बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने अपनी पुत्री पुण्यमानी का ब्रह्मदत्त के साथ बड़े हर्षोल्लास, धूमधाम और ठाट-बाट से विवाह कर दिया।

राजगृही नगरी कई दिनों तक महोत्सवपुरी बनी रही। राजकीय दामाद के सम्मान में मन्त्रियों, श्रेष्ठियों और गण्य-मान्य नागरिकों की ओर से भव्य-भोजों का आयोजन किया गया।

जिस कुमारी को वसन्तोत्सव के समय ब्रह्मदत्त ने हाथी से बचाया था, वह राजगृह के वैश्रवण नामक धनाढ्य श्रेष्ठी की श्रीमती नाम की पुत्री थी। श्रीमती ने उसी दिन प्रण कर लिया था कि जिसने उसे हाथी से बचाया है, उसी से विवाह करेगी अन्यथा जीवनभर अविवाहित रहेगी।

ब्रह्मदत्त को जब श्रीमती पर माँ से भी अधिक स्नेह रखने वाली एक वृद्धा से श्रीमती के प्रण का पता चला तो उसने विवाह की स्वीकृति दे दी। वैश्रवण श्रेष्ठी ने बड़े समारोहपूर्वक अपनी कन्या श्रीमती का ब्रह्मदत्त के साथ पाणिग्रहण करा दिया।

मगधेश के मन्त्री सुबुद्धि ने भी अपनी पुत्री नन्दा का वरधनु के साथ विवाह कर दिया।

थोड़े ही दिनों में ब्रह्मदत्त की यशोगाथाएं भारत के घर-घर में गाई जाने लगीं। कुछ दिन राजगृह में ठहर कर ब्रह्मदत्त और वरधनु युद्ध के लिये तैयारी करने हेतु वाराणसी पहुँचे।

वाराणसी-नरेश ने जब अपने प्रिय मित्र ब्रह्म के पुत्र ब्रह्मदत्त के आगमन का समाचार सुना तो वह प्रेम से पुलकित हो उसका स्वागत करने के लिये स्वयं ब्रह्मदत्त के सम्मुख आया और बड़े सम्मान के साथ उसे अपने राज-प्रासाद में ले गया।

वाराणसी-पति कटक ने अपनी कन्या कटकवती का ब्रह्मदत्त के साथ विवाह कर दिया और दहेज में अपनी शक्तिशालिनी चतुरंगिणी सेना दी ।

ब्रह्मदत्त के वाराणसी आगमन का समाचार सुनकर हस्तिनापुर के नृपति कणोरुदत्त, चम्पानरेश पुष्पचूलक, प्रधानामात्य धनु और भगदत्त आदि अनेक राजा अपनी-अपनी सेनाओं के साथ वाराणसी नगरी में आगये । सभी सेनाओं को सुसंगठित कर वरधनु को सेनापति के पद पर नियुक्त किया और ब्रह्मदत्त ने दीर्घ पर आक्रमण करने के लिये सेना के साथ काम्पित्यपुर की ओर प्रयाण किया ।

दीर्घ ने सैनिक अभियान का समाचार सुनकर वाराणसी-नरेश कटक के पास दूत भेजा और कहलाया कि वे दीर्घ के साथ अपनी बाल्यावस्था से चली आई अटूट मैत्री न तोड़ें ।

भूपति कटक ने उस दूत के साथ दीर्घ को कहलवाया—“हम पाँचों मित्रों में सहोदरों के समान प्रेम था । स्वर्गीय काम्पित्येश्वर ब्रह्म का पुत्र और राज्य तुम्हें धरोहर के रूप में रक्षार्थ सौंपे गये थे । सौंपी हुई वस्तु को डाकिनी भी नहीं खाती, पर दीर्घ तुमने जैसा घृणित और क्षुद्र पापाचरण किया है, वैसा तो अधम से अधम चांडाल भी नहीं कर सकता । अतः तेरा काल बनकर ब्रह्मदत्त आ रहा है, युद्ध या पलायन में से एक कार्य चुन लो ।”

दीर्घ भी बड़ी शक्तिशाली सेना ले ब्रह्मदत्त के साथ युद्ध करने के लिये रणक्षेत्र में आ डटा । दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध हुआ । दीर्घ की उस समय के रणनीति-कुशल शक्तिशाली योद्धाओं में गणना की जाती थी । उसने ब्रह्मदत्त और उसके सहायकों की सेनाओं को अपने भीषण प्रहारों से प्रारम्भ में छिन्न-भिन्न कर दिया । अपनी सेनाओं को भय-विह्वल देख ब्रह्मदत्त क्रुद्ध हो कृतान्त की तरह दीर्घ की सेना पर भीषण शस्त्रास्त्रों से प्रहार करने लगा । ब्रह्मदत्त के असह्य पराक्रम के सम्मुख दीर्घ की सेना भाग खड़ी हुई । ब्रह्मदत्त ने दण्डनीति के साथ-साथ भेदनीति से भी काम लिया और दीर्घ के अनेक योद्धाओं को अपनी ओर मिला लिया ।

अन्त में दीर्घ और ब्रह्मदत्त का द्वन्द्व-युद्ध हुआ । दोनों एक-दूसरे पर घातक से घातक शस्त्रास्त्रों के प्रहार करते हुए बड़ी देर तक द्वन्द्व-युद्ध करते रहे, पर जय-पराजय का कोई निर्णय नहीं हो सका । दोनों ने एक-दूसरे के अमोघास्त्रों को अपने पास पहुँचने से पहले ही काट डाला । दोनों योद्धा एक-दूसरे के लिये अजेय थे ।

एक पतित पुरुषाधम में भी इतना पौरुष और पराक्रम होता है, यह दीर्घ के अद्भुत युद्ध-कौशल को देखकर दोनों ओर की सेनाओं के योद्धाओं को प्रथम

बार अनुभव हुआ। दोनों ओर के सैनिक चित्रलिखित से खड़े दोनों विकट योद्धाओं का द्वन्द्व-युद्ध देख रहे थे।

दर्शकों को सहसा यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आषाढ़ की घनघोर मेघ-घटाओं के समान गम्भीर ध्वनि करता हुआ, प्रलयकालीन अनल की तरह जाज्वल्यमान ज्वालाओं को उगलता हुआ, भीषण उल्कापात-का-सा दृश्य प्रस्तुत करता हुआ, अपनी अदृष्टपूर्व तेज चमक से सबकी आँखों को चकाचौंध करता हुआ एक चक्ररत्न अचानक प्रकट हुआ और ब्रह्मदत्त की तीन प्रदक्षिणा कर उसके दक्षिण पार्श्व में मुण्ड हस्त मात्र की दूरी पर आकाश में अधर स्थित हो गया।

ब्रह्मदत्त ने अपने दाहिने हाथ की तर्जनी पर चक्र को धारण कर घुमाया और उसे दीर्घ की ओर प्रेषित किया। क्षण भर में ही घृणित पापाचरणाँ और भीषण षड्यन्त्रों का उत्पत्तिकेन्द्र दीर्घ का मस्तक उसके कालिमा-कलुषित धड़ से चक्र द्वारा अलग किया जाकर पृथ्वी पर लुढ़क गया।

पापाचार की पराजय और सत्य की विजय से प्रसन्न हो सेनाओं ने जय-घोषों से दिशाओं को कंपित कर दिया।

बड़े समारोहपूर्वक ब्रह्मदत्त ने काम्पित्यपुर में प्रवेश किया।

चुलनी अपने पतित पापाचार के लिए पश्चात्ताप करती हुई ब्रह्मदत्त के नगर-प्रवेश से पूर्व ही प्रव्रजित हो अन्यत्र विहार कर गई।

प्रजाजनों और मित्र-राजाओं ने बड़े ही आनन्दोल्लास और समारोह के साथ ब्रह्मदत्त का राज्याभिषेक महोत्सव सम्पन्न किया।

इस तरह ब्रह्मदत्त निरन्तर सोलह वर्षों तक कभी विभिन्न भयानक जंगलों में भूख-प्यास आदि के दुःख भोगता हुआ और कभी भव्य-प्रासादों में सुन्दर रमणी-रत्नों के साथ आनन्दोपभोग करता हुआ अपने प्राणों की रक्षा के लिए पृथ्वी-मण्डल पर घूमता रह कर अन्त में भीषण संघर्षों के पश्चात् अपने पैतृक राज्य का अधिकारी हुआ।

काम्पित्यपुर के राज्य सिंहासन पर बैठते ही उसने बन्धुमती, पुष्पवती, श्रीकान्ता, खण्डा, विशाखा, रत्नवली, पुण्यमानी, श्रीमती और कटकवती इन नवों ही अपनी पत्नियों को उनके पितृगृहों से बुला लिया।

ब्रह्मदत्त छप्पन्न वर्षों तक माण्डलिक राजा के पद पर रहकर राज्य-सुखों का उपभोग करता रहा और तदनन्तर बहुत बड़ी सेना लेकर भारत के छह

खण्डों की विजय के लिए निकल पड़ा। सम्पूर्ण भारत खण्ड की विजय के अभियान में उसने सोलह वर्ष तक अनेक लड़ाइयां लड़ीं और भीषण संघर्षों के बाद वह सम्पूर्ण भारत पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा कर काम्पिल्यपुर लौटा।

वह चौदह रस्तों, नवनिधियों और चक्रवर्ती की सब समृद्धियों का स्वामी बन गया।

नवनिधियों से चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त को सब प्रकार की यथेप्सित भोग सामग्री इच्छा करते ही उपलब्ध हो जाती थी। देवेन्द्र में समान सांसारिक भोगों का उपभोग करते हुए बड़े आनन्द के साथ उसका समय व्यतीत हो रहा था।

एक दिन ब्रह्मदत्त अपनी रानियों, परिजनों एवं मंत्रियों से घिरा हुआ अपने रंगभवन में बैठा मधुर संगीत और मनोहारी नाटकों से मनोरंजन कर रहा था। उस समय एक दासी ने ब्रह्मदत्त की सेवा में एक बहुत ही मनोहर पुष्प-स्तवक प्रस्तुत किया, जिस पर सुगन्धित फूलों से हंस, मृग, मयूर, सारस, कोकिल आदि की बड़ी सुन्दर और सजीव आकृतियां गुंफित की हुई थीं। उच्चकोटि की कलाकृति के प्रतीक परम मनोहारी उस पुष्प-कन्दुक को विस्मय और कौतुक से देखते-देखते ब्रह्मदत्त के हृदय में धुंधली सी स्मृति जागृत हुई कि इस तरह अलौकिक कलापूर्ण पुष्प-स्तवक पर अंकित नाटक उसने कहीं देखे हैं। ऊहापोह, एकाग्र चिन्तन, ज्ञानावरण कर्म के उपशम और स्मृति पर अधिक जोर देने से उसके स्मृति-पटल पर सौधर्मकल्प में पद्मगुल्म विमान के देव का अपना पूर्व-भव स्पष्टतः अंकित हो गया। उसे उसी समय जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और अपने पूर्व के पांच भव यथावत् दिखने लगे। ब्रह्मदत्त तत्क्षण मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ा।

यह देख साम्राजियों, अमात्यों और आत्मीयों पर मानों वज्रपात सा हो गया। विविध शीतलोपचारों से बड़ी देर में ब्रह्मदत्त की मूर्च्छा टूटी, पर अपने पूर्व भवों को याद कर वह बार-बार मूर्च्छित हो जाता। आत्मीयों द्वारा मूर्च्छा का कारण बार-बार पूछने पर भी उसने अपने पूर्व भवों की स्मृति का रहस्य प्रकट नहीं किया और यही कहता रहा कि यों ही पित्तप्रकोप से मूर्च्छा आ जाती है।

ब्रह्मदत्त एकान्त में निरन्तर यही सोचता रहा कि वह अपने पूर्व भवों के सहोदर से कहाँ, कब और कैसे मिल सकता है। अन्त में एक उपाय उसके मस्तिष्क में आया। उसने अपने विशाल साम्राज्य के प्रत्येक गाँव और नगर में घोषणा करवा दी कि जो इस गाथाद्वय के चतुर्थ पद की पूर्ति कर देगा उसे वह अपना आधा राज्य दे देगा। वे गाथाएं इस प्रकार थीं :—

दासा दसण्णए आसी, मिया कालिजरे एगमे ।  
 हंस मयंग तीराए, सोवागा कासिभूमिए ॥  
 देवा य देवलोयम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया ।

.....

आधे राज्य की प्राप्ति की आशा में प्रत्येक व्यक्ति ने इस समस्या-पूर्ति का पूरा प्रयास किया और यह डेढ़ गाथा जन-जन की जिह्वा पर मुखरित हो गई ।

एक दिन चित्त नामक एक महान् तपस्वी श्रमण ग्राम नगरादि में विचर-रण करते हुए काम्पिल्यनगर के मनोरम उद्यान में आये और एकान्त में कायोत्सर्ग कर ध्यानावस्थित हो गये । अपने कार्य में व्यस्त उस उद्यान का माली उपर्युक्त तीन पक्तियां बार-बार गुनगुनाने लगा । माली के कंठ से इस डेढ़ गाथा को सुन कर चित्त मुनि के मन में भी संकल्प-विकल्प व ऊहापोह उत्पन्न हुआ और उन्हें भी जातिस्मरण ज्ञान हो गया । वे भी अपने पूर्व-जन्म के पांच भवों को अच्छी तरह से देखने लगे । उन्होंने समस्या-पूर्ति करते हुए मालाकार को निम्न-लिखित आधी गाथा कण्ठस्थ करवा दी :—

इमा एगो छट्टिया जाई, अण्णमण्णेहि जा विणा ।

माली ने इसे कंठस्थ कर खुशी-खुशी ब्रह्मदत्त के समक्ष जाकर समस्या-पूर्ति कर दोनों गाथाएं पूरी सुना दीं । सुनते ही राजा पुनः मूर्च्छित हो गया । यह देख ब्रह्मदत्त के अंगरक्षक यह समझकर कि इस माली के इन कठोर वचनों के कारण राजाधिराज मूर्च्छित हुए हैं, उस माली को पीटने लगे । राज्य पाने की आशा से आया हुआ माली ताड़ना पाकर स्तब्ध रह गया और बार-बार कहने लगा—“मैं निरपराध हूँ, मैंने यह कविता नहीं बनाई है । मुझे तो उद्यान में ठहरे हुए एक मुनि ने सिखाई है ।”

थोड़ी ही देर में शीतलोपचारों से ब्रह्मदत्त पुनः स्वस्थ हुआ । उसने राज-पुरुषों को शान्त करते हुए माली से पूछा—“भाई ! क्या यह चौथा पद तुमने बनाया है ?”

माली ने कहा—“नहीं पृथ्वीनाथ ! यह रचना मेरी नहीं । उद्यान में आये हुए एक तपस्वी मुनि ने यह समस्या-पूर्ति की है ।”

ब्रह्मदत्त ने प्रसन्न हो मुकुट के अतिरिक्त अपने सब आभूषण उद्यानपाल को पारितोषिक के रूप में दे दिये और अपने अन्तःपुर एवं पूर्ण ऐश्वर्य के साथ वह मनोरम उद्यान पहुँचा । चित्त मुनि को देखते ही ब्रह्मदत्त ने उनके चरणों पर मुकुट-मणियों से प्रकाशमान अपना मस्तक भुका दिया । उसके साथ ही



साम्राजियों, सामन्तों आदि के लाखों मस्तक भी भुक गये। पूर्व के अपने पाँचों भवों का भ्रातृस्नेह ब्रह्मदत्त के हृदय में हिलोरें लेने लगा। उसकी आँखों से अविरल अश्रुधाराएं बहने लगीं। पूर्व स्नेह को याद कर वह फूट-फूटकर रोने लगा।

मुनि के अतिरिक्त सभी के विस्फारित नेत्र सजल हो गये। राजमहिषी पुष्पवती ने साश्चर्य ब्रह्मदत्त से पूछा—“प्राणनाथ ! चक्रवर्ती सम्राट् होकर आज आप सामान्य जन की तरह करुण विलाप क्यों कर रहे हैं ?”

ब्रह्मदत्त ने कहा—“महादेवि ! यह महामुनि मेरे भाई हैं।”

पुष्पवती ने साश्चर्य प्रश्न किया—“यह किस तरह महाराज ?”

ब्रह्मदत्त ने गद्गद स्वर में कहा—“यह तो मुनिवर के मुखारविन्द से ही सुनो।”

साम्राजियों के विनय भरे अनुरोध पर मुनि चित्त ने कहना प्रारम्भ किया—“इस संसार-चक्र में प्रत्येक प्राणी कुम्भकार के चक्र पर चढ़े हुए मृतपिण्ड की तरह जन्म, जरा और मरण के अनवरत क्रम से अनेक प्रकार के रूप धारण करता हुआ अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। प्रत्येक प्राणी अन्य प्राणी से माता, पिता, पुत्र, सहोदर, पति, पत्नी आदि स्नेहपूर्ण सम्बन्धों से बँधकर अनन्त बार बिछुड़ चुका है।”

“संक्षेप में यही कहना पर्याप्त होगा कि यह संसार वास्तव में संयोग-वियोग, सुख-दुःख और हर्ष-विषाद का संगमस्थल है। स्वयं अपने ही बनाये हुए कर्मजाल में मकड़ी की तरह फँसा हुआ प्रत्येक प्राणी छटपटा रहा है। कर्मवश नट की तरह विविध रूप बनाकर भव-भ्रमण में भटकते हुए प्राणी के अन्य प्राणियों के साथ इन विनाशशील पिता, पुत्र, भाई आदि सम्बन्धों का कोई पारवार ही नहीं है।”

“हम दोनों भी पिछले पाँच भवों में सहोदर रहे हैं। पहले भव में श्रीदह ग्राम के शाण्डिल्यायन ब्राह्मण की जसमती नामक दासी के गर्भ से हम दोनों दास के रूप में उत्पन्न हुए। वह ब्राह्मण हम दोनों भाइयों से दिन भर कसकर श्रम करवाता। एक दिन उस ब्राह्मण ने कहा कि यदि कृषि की उपज अच्छी हुई तो वह हम दोनों का विवाह कर देगा। इस प्रलोभन से हम दोनों भाई और भी अधिक कठोर परिश्रम से बिना भूख-प्यास आदि की चिन्ता किये रात-दिन जी तोड़ कर काम करने लगे।”

“एक दिन शीतकाल में हम दोनों भाई खेत में कार्य कर रहे थे कि अचानक आकाश काली मेघ-घटाओं से छा गया और मूसलाधार पानी बरसने

लगा । ठंड से ठिठुरते हुए हम दोनों भाई खेत में ही एक विशाल वटवृक्ष के तने के पास बैठ गये । वर्षा थमने का नाम नहीं ले रही थी और चारों ओर जल ही जल दृष्टिगोचर हो रहा था । क्रमशः सूर्यास्त हुआ और चारों ओर घोर अन्धकार ने अपना एकछत्र साम्राज्य फैला दिया । दिन भर के कठिन श्रम से हमारा रोम-रोम दर्द कर रहा था, भूख बुरी तरह सता रही थी, उस पर शीतकालीन वर्षा की तीर-सी चुभने वाली शीत लहरों से ठिठुरे हुए हम दोनों भाइयों के दाँत बोलने लगे ।”

“वटवृक्ष क कोटर में सो जाने की इच्छा से हमने अन्धेरे में इधर-उधर टटोलना प्रारम्भ किया तो भयंकर विषधर ने हम दोनों को डस लिया । हम दोनों भाई एक-दूसरे से सटे हुए कोट-पतंग की तरह कराल काल के आस बन गये ।”

“तदनन्तर हम दोनों कालिंजर पर्वत पर एक हरिणी के गर्भ से हरिण-युगल के रूप में उत्पन्न हुए । क्रमशः हम युवा हुए और दोनों भाई अपनी माँ के साथ वन में चौकड़ियाँ भरते हुए इधर से उधर विचरण करने लगे । एक दिन हम दोनों प्यास से व्याकुल हो वेत्रवती नदी के तट पर अपनी प्यास बुझाने गये । पानी में मुँह भी नहीं दे पाये थे कि हम दोनों को निशाना बनाकर एक शिकारी ने एक ही तीर से बीध दिया । कुछ क्षण छटपटाकर हम दोनों पञ्चत्व को प्राप्त हुए ।”

“उसके पश्चात् हम दोनों मयंग नदी के तट पर स्थित सरोवर में एक हंसिनी के उदर से हंस-युगल के रूप में उत्पन्न हुए और सरोवर में क्रीड़ा करते हुए हम युवा हुए । वहाँ पर भी एक पारधी ने हम दोनों को एक साथ जाल में फँसा लिया और गर्दन तोड़-मरोड़ कर हमें मार डाला ।”

“हंसों की योनि के पश्चात् हम दोनों काशी जनपद के वाराणसी नगर के बड़े समृद्धिशाली भूतदिन्न नामक चाण्डाल की पत्नी अह्लिका (अराहिया) के गर्भ से युगल सहोदर के रूप में उत्पन्न हुए । मेरा नाम चित्र और इन (ब्रह्मदत्त) का नाम संभूत रखा गया । बड़े लाड़-प्यार से हम दोनों भाइयों का लालन-पालन किया गया । जिस समय हम ८ वर्ष के हुए, उस समय काशीपति अमितवाहन ने अपने नमूची<sup>१</sup> नामक पुरोहित को किसी अपराध के कारण मौत के घाट उतारने के लिए गुप्त रूप से हमारे पिता को सौंपा ।”

१ चउवन्न महापुरिस चरियं में पुरोहित का नाम 'सच्च' दिया हुआ है ।

हमारे पिता ने पुरोहित नमूची से कहा—“यदि तुम मेरे इन दोनों पुत्रों को सम्पूर्ण कलाओं में निष्णात करना स्वीकार कर लो तो मैं तुम्हें गृहतल में प्रच्छन्न रूप से सुरक्षित रखूंगा। अन्यथा तुम्हारे प्राण किसी भी दशा में नहीं बच सकते।”

“अपने प्राणों के रक्षार्थ पुरोहित ने हमारे पिता की शर्त स्वीकार कर ली और वह हमें पढ़ाने लगा।”

“हमारी माता पुरोहित के स्नान, पान भोजनादि की स्वयं व्यवस्था करती थी। कुछ ही समय में पुरोहित और हमारी माता एक दूसरे पर आसक्त हो विषय-वासना के शिकार हो गये। हम दोनों भाइयों ने विद्या-अध्ययन के लोभ में यह सब जानते हुए भी अपने पिता को उन दोनों के अनुचित सम्बन्ध के विषय में सूचना नहीं दी। निरन्तर अध्ययन कर हम दोनों भाई सब कलाओं में निष्णात हो गये।”

“अन्त में एक दिन हमारे पिता को पुरोहित और हमारी माता के पापा-चरण का पता चल गया और उन्होंने पुरोहितजी को मार डालने का निश्चय कर लिया, पर हम दोनों ने अपने उस उपाध्याय को चुपके से वहाँ से भगा दिया। वह पुरोहित भाग कर हस्तिनापुर चला गया और वहाँ सनत्कुमार चक्रवर्ती का मंत्री बन गया।”

“हम दोनों भाई वाराणसी के बाजारों, चौगहों और गलीकूँचों में लय-ताल पर मधुर संगीत गाते हुए स्वेच्छापूर्वक घूमने लगे। हमारी मुमधुर स्वर-लहरियों से पुर-जन विशेषतः रमणियां आकृष्ट हो मन्त्रमुग्ध सी दौड़ी चली आतीं। यह देख वाराणसी के प्रमुख नागरिकों ने काशीनरेश से कह कर हम दोनों भाइयों का नगर-प्रवेश निषिद्ध करवा दिया। हम दोनों भाइयों ने मन मसोस कर नगर में जाना बन्द कर दिया।”

“एक दिन वाराणसी नगर में कौमुदी-महोत्सव था। सारा नगर हँसी-खुशी के मादक वातावरण में भ्रम उठा। हम दोनों भाई भी महोत्सव का आनन्द लूटने के लोभ का संवरण नहीं कर सके और लोगों की दृष्टि से छिपते हुए शहर में घुस पड़े तथा हम दोनों ने नगर में घुस कर महोत्सव के मनोरम दृश्य देखे।”

“एक जगह संगीत-मण्डली का संगीत हो रहा था। हठात् हम दोनों भाइयों के कण्ठों से अज्ञात में ही स्वरलहरियां निकल पड़ीं। जिस-जिस के कर्णरन्ध्रों में हमारी मधुर संगीत-ध्वनि पहुँची वही मन्त्रमुग्ध सा हमारी ओर आकृष्ट हो दौड़ पड़ा। हम दोनों भाई तन्मय हो गा रहे थे। हमारे चारों ओर

हजारों नर-नारी एकत्रित हो गये और हमारा मनमोहक संगीत सुनने लगे।

“सहसा भीड़ में से किसी ने पुकार कर कहा—अरे ! ये तो वही चाण्डाल के छोकरे हैं, जिनका राजाज्ञा से नगर-प्रवेश निषिद्ध है।”

“बस, फिर क्या था, हम दोनों भाइयों पर थप्पड़ों, लातों, मुक्कों और भागने पर लाठियों व पत्थरों की वर्षा होने लगी। हम दोनों अपने प्राणों की रक्षा के लिए प्राण-प्रण से भाग रहे थे और नागरिकों की भीड़ हमारे पीछे भागती हुई हम पर पत्थरों की इस तरह वर्षा कर रही थी मानो हम मानव-वेषधारी पागल कुत्ते हों।”

“हम दोनों नागरिकों द्वारा कुटते-पिटते शहर के बाहर आ गये। तब कहीं क्रुद्ध जनसमूह ने हमारा पीछा छोड़ा। फिर भी हम जंगल की ओर बेतहाशा भागे जा रहे थे। अन्त में हम एक निर्जन स्थान में रुके और यह सोचकर कि ऐसे तिरस्कृत पशुतुल्य जीवन से तो मर जाना अच्छा है, हम दोनों भाइयों ने पर्वत से गिर कर आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया।”

“आत्महत्या का दृढ़ निश्चय कर हम दोनों भाई एक विशाल पर्वत के उच्चतम शिखर की ओर चढ़ने लगे। पर्वत शिखर पर चढ़ कर हमने देखा कि एक मुनि शान्त मुद्रा में ध्यानस्थ खड़े हैं। मुनि के दर्शन करते ही हम दोनों ने शान्ति का अनुभव किया। हम मुनि के पास गये और उनके चरणों पर गिर पड़े।”

“तपस्वी ने थोड़ी ही देर में ध्यान समाप्त होने पर आँखें खोलीं और हमें पूछा—“तुम कौन हो और इस गिरिशिखर पर किस प्रयोजन से आये हो ?”

“हमने अपना सारा वृत्तान्त यथावत् सुनाते हुए कहा कि इस जीवन से ऊबे हुए हम पर्वतशिखर से कूद कर आत्महत्या करने के लिये यहाँ आये हैं।”

“इस पर करुणाद्रिं मुनि ने कहा—“इस प्रकार आत्महत्या करने से तो तुम्हारे ये पार्थिव शरीर ही नष्ट होंगे। दुःखमय जीवन के मूल कारण जो तुम्हारे जन्मान्तरों के अर्जित कर्म हैं, वे तो ज्यों के त्यों विद्यमान रहेंगे। शरीर का त्याग ही करना चाहते हो तो सुरलोक और मुक्ति का सुख देने वाले तपश्चरण से अपने शरीर का पूरा लाभ उठा कर फिर शरीर-त्याग करो। तपस्या की आग में तुम्हारे पूर्व-संचित अशुभ कर्म तो जल कर भस्म होंगे ही, पर इसके साथ-साथ शुभ-कर्मों को भी तुम उपार्जित कर सकोगे।”

“मुनि का हितपूर्ण उपदेश हमें बड़ा ही युक्तिसंगत तथा रुचिकर लगा और हम दोनों भाइयों ने तत्क्षण उनके पास मुनि धर्म स्वीकार कर लिया।

दयालु मुनि ने मोक्षमार्ग के मूल सिद्धान्तों का हमें अध्ययन कराया । हमने पष्टम-अष्टम भक्त, मासक्षमण आदि तपस्याएं कर अपने शरीर को सुखा डाला ।”

“विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए हम दोनों एक दिन हस्तिनापुर पहुँचे और नगर के बाहर एक उद्यान में कठोर तपश्चरणा करने लगे ।”

“एकदा मास-क्षमण के पारण के दिन संभूत मुनि भिक्षार्थं हस्तिनापुर नगर में गये । राजपथ पर नमूची ने संभूत मुनि को पहिचान लिया और यह सोच कर कि यह कहीं मेरे पापाचरण का भण्डाफोड़ न कर दे, मुनि को नगर से बाहर ढकेलने के लिए राजपुरुषों को आदेश दिया । नमूची का आदेश पाकर राजपुरुष घोर तपश्चरणा से क्षीणकाय संभूत ऋषि पर तत्काल टूट पड़े और उन्हें निर्दयतापूर्वक पीटने लगे ।<sup>१</sup> मुनि शान्तभाव से उद्यान की ओर लौट पड़े । इस पर भी जब नमूची के सेवकों ने पीटना बन्द नहीं किया तो मुनि क्रुद्ध हो गये । उनके मुख से भीषण आग की लपटें उगलती हुई तेजोलेश्या प्रकट हुई । बिजली की चमक के समान चकाचौंध कर देने वाली अग्निज्वालाओं से सम्पूर्ण गगनमण्डल लाल हो गया ।<sup>२</sup> सारे नगर में ‘त्राहि-त्राहि’ मच गई । भुण्ड के भुण्ड भयभीत नगरनिवासी आकर मुनि के चरणों में मस्तक झुका कर उन्हें शान्त होने की प्रार्थना करने लगे । पर मुनि का कोप शान्त नहीं हुआ । तेजो-लेश्या की ज्वालाएं भीषण रूप धारण करने लगीं ।”

“सारे नभमण्डल को अग्निज्वालाओं से प्रदीप्त देख कर मैं भी घटना-स्थल पर पहुँचा और मैंने शीघ्र ही अपने भाई को शान्त किया ।”

पश्चात्ताप के स्वर में संभूत ने कहा—“ओफ् ! मैंने बहुत बुरा किया<sup>३</sup> और वे मेरे पीछे-पीछे चल दिये । क्षण भर में ही अग्निज्वालाएं तिरोहित हो गईं ।”

१ चण्डपन्न महापुरिस चरियं में स्वयं पुरोहित द्वारा मुनि को पीटने का उल्लेख है । यथा—  
.....पुरोहितेण । ‘अमंगलं’ ति कलिञ्जरा दहं कसप्पहारेण ताडिभो ।

[पृष्ठ २१६]

२ तेजोलेश्योल्लासाथ, ज्वालापटलमालिनी ।

तडिन्मण्डलसंकीर्णमिव द्यामभितन्वती ॥७२॥

[त्रिषष्टि शलाका पु. च., पर्व ६, सर्ग १]

३ ‘अहो दुक्कयं कयं’ ति भएतो उट्टिभो तप्पएसाम्भो ।

[चण्डपन्न म. पुरिस च., पृ० २१६]

“हम दोनों भाई उद्यान में लौटे और हमने विचार किया—इस नश्वर शरीर के पोषण हेतु हमें भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। हम निरीह-निर्मोही साधुओं को आहार एवं इस शरीर से क्या प्रयोजन है ? ऐसा विचार कर हम दोनों भाइयों ने संलेखना कर चारों प्रकार के आहार का जीवन भर के लिए परित्याग कर दिया।”

“उधर चक्रवर्ती सनत्कुमार ने अपराधी का पता लगाने के लिए अपने अधिकारियों को आदेश देते हुए कहा—“मेरे राज्य में मुनि की कष्ट देने का किसने दुस्साहस किया ? इसी समय उसे मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया जाय।”

“तत्क्षण नमूची अपराधी के रूप से प्रस्तुत किया गया।”

“सनत्कुमार ने कुछ हो कर्कश स्वर में कहा—“जो साधुओं की सत्कार-सम्मानादि से पूजा नहीं करता वह भी मेरे राज्य में दण्डनीय है, इस दुष्ट ने तो महात्मा को ताड़ना देकर बड़ा कष्ट पहुँचाया है। इसे चोर की तरह रस्सों से बांध कर सारे नगर में घुमाया जाय और मेरी उपस्थिति में मुनियों के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। मैं इसे कठोर से कठोर दण्ड दूंगा ताकि भविष्य में कोई भी इस प्रकार का अधर्मपूर्ण साहस न कर सके।”

“नमूची को रस्सों से बांध कर सारे नगर में घुमाया गया। सनत्कुमार अपने अनुपम ऐश्वर्य के साथ हमारे पास आया और रस्सों से बँधे हुए नमूची दो हमें दिखाते हुए बोला—“पूज्यवर ! आपका यह अपराधी प्रस्तुत है। आज्ञा दीजिये, इसे क्या दण्ड दिया जाय ?”

“हमने चक्रवर्ती को उसे मुक्त कर देने को कहा। तदनुसार सनत्कुमार ने भी उसे तत्काल मुक्त कर अपने नगर से बाहर निकलवा दिया।”

“उसी समय सनत्कुमार की चौंसठ हजार राजमहीषियों के साथ पट्टमहिषी सुनन्दा हमें वन्दन करने के लिए आई।<sup>१</sup> मुनि संभूत के चरणों में नमस्कार करते समय स्त्री-रत्न सुनन्दा के भौरों के समान काले-धुंधराले, सुगन्धित लम्बे बालों की सुन्दर लटी का संभूत के चरणों से स्पर्श हो गया।<sup>२</sup> विधिवत् वन्दन के पश्चात् चक्रवर्ती अपने समस्त परिवार सहित लौट गया।”

१ चण्डपन्न महापुरिस चरियं में किसी दूसरे मुनि को, जो उस उद्यान में ठहरे हुए थे, चक्रवर्ती की रानियों का वन्दन हेतु अपने का उल्लेख है। [पृष्ठ २१६]

२ तस्याश्चालकसंस्पर्शं, संभूतमुनिरन्वभूत् ।

रोमाञ्चितश्च सद्योऽभूच्छलान्वेषी हि मन्मथः ॥१६॥

[त्रिषष्टि श. पु. च., पर्व ६, सर्ग १]

“हम दोनों साधु समाधिपूर्वक साथ-साथ ही अपनी आयु पूर्ण कर सौधर्म कल्प के नलिनी गुल्म (पद्मगुल्म) नामक विमान में देव हुए। वहाँ हम दोनों दिव्य सुखों का उपभोग करते रहे। देव आयु पूर्ण होने पर मैं पुरिमताल नगर के महान् समृद्धिशाली गरुणपुञ्ज नामक श्रेष्ठी की पत्नी नन्दा के गर्भ से उत्पन्न हुआ और युवा होने पर भी विषय-सुखों में नहीं उलभा तथा एक मुनि के पास धर्मोपदेश सुनकर प्रव्रजित हो गया। संयम का पालन करते हुए अनेक क्षेत्रों में विचरण करता हुआ मैं इस उद्यान में आया और उद्यान-पालक के मुख से ये गाथाएँ सुनकर मुझे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। इस छट्ठे जन्म में हम दोनों भाइयों का वियोग किस कारण से हुआ, इसका मुझे पता नहीं।”<sup>१</sup>

यह सुनकर सब श्रोता स्तब्ध रह गये और साश्चर्य विस्फारित नेत्रों से कभी मुनिवर की ओर एवं कभी ब्रह्मदत्त की ओर देखने लगे।

ब्रह्मदत्त ने कहा—“महामुने! इस जन्म में हम दोनों भाइयों के बिछुड़ जाने का कारण मुझे मालूम है। चक्रवर्ती सतत्कुमार के अद्भुत ऐश्वर्य और उसके सुनन्दा आदि स्त्रीरत्नों के अनुपम रूप-लावण्य को देखकर मैंने तत्क्षणा निदान कर लिया था कि यदि मेरी इस तपस्या का कुछ फल है तो मुझे भी चक्रवर्ती के सम्पूर्णा ऐश्वर्य की प्राप्ति हो। मैंने अपने इस अर्घ्यवसाय की अन्तिम समय तक आलोचना निन्दा नहीं की,<sup>२</sup> अतः सौधर्म देवलोक की आयुष्य पूर्ण होने पर उस निदान के कारण मैं छह खण्ड का अधिपति बन गया और देव-ताम्रों के समान यह महान् ऋद्धि मुझे प्राप्त हो गई। मेरे इस विशाल राज्य एवं ऐश्वर्य को आप अपना ही समझिये। अभी आपकी इस युवावस्था में विषय-सुखों और सांसारिक भोगों के उपभोग करने का समय है। आप मेरे पाँच जन्मों के सहोदर हैं, अतः यह समस्त साम्राज्य आपके चरणों में समर्पित है। आइये! आप स्वेच्छापूर्वक सांसारिक सुखों का यथारुचि उपभोग कीजिये और जब

१ (क) ता ए याणामि छट्टीए जातीए विभोओ कहमम्ह जाओ ति ।

[चउप्पन्न महापुरिस चरियं, पृष्ठ २१७]

(ख) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में संभूत द्वारा किये गये निदान का चित्त को उसी समय पता चल जाने और चित्त द्वारा संभूत को निदान न करने के सम्बन्ध में समझाने का उल्लेख है, किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र के अध्याय १३ की गाथा २८ और २९ से स्पष्ट है कि चित्त को संभूत के निदान का ज्ञान नहीं था।

२ हत्थिरापुरम्मि चित्ता, दट्ठणं नरवइ महिद्धियं

कामभोयेसु गिद्धेणं, नियाणमसुहं कडं ॥२८॥

तस्स मे अपडिकन्तस्स, इमं एवारिसं फलं ।

जाणमाणो वि जं धम्मं, कामभोयेसु मुच्छिओ ॥२९॥

[उत्तराध्ययन सूत्र, अध्यायन १३]

मुखोपभोग से सब इन्द्रियाँ तृप्त हो जायं तब वृद्धावस्था में संयम लेकर आत्म-कल्याण की साधना कर लेना। तपस्या से भी आखिर सब प्रकार की समृद्धि, ऐश्वर्य और भोगोपभोग की प्राप्ति होती है, जो आपके समक्ष सहज उपस्थित है, फिर आपको तपस्या करने की क्या आवश्यकता है? महान् पुण्यों के प्रकट होने से मुझे आपके दर्शन हुए हैं। कृपा कर इच्छानुसार इस ऐश्वर्य का आनन्द लीजिये, यह सब कुछ आपका ही है।”

मुनि चित्त ने कहा—“चक्रवर्तिन् ! इस निस्सार संसार में केवल धर्म ही सारभूत है। शरीर, यौवन, लक्ष्मी, ऐश्वर्य, समृद्धि और बन्धु-बान्धव, ये सब जल-बुदबुद के समान क्षण-विध्वंसी हैं। तुमने षट्खण्ड की साधना कर बहिरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करली, अब मुनिधर्म अंगीकार कर काम-क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं को भी जीत लो, जिससे कि तुम्हें मुक्ति का अनन्त शाश्वत सुख प्राप्त हो सके।”

“प्रगाढ़ रनेह के कारण तुम मुझे अपने ऐश्वर्य का उपभोग करने के लिये आग्रहपूर्वक आमन्त्रित कर रहे हो, पर मैंने तो प्राप्त संपत्ति का भी सहर्ष परित्याग कर संयम ग्रहण किया है, क्योंकि मैं समस्त विषय-सुखों को विषवत् घातक और त्याज्य समझता हूँ।”

“तुम स्वयं यथावत् यह अनुभव कर रहे हो कि हम दोनों ने दास, मृग, हंस और मातंग के भवों में कितने दारुण दुःख देखे एवं तपश्चरणा के प्रभाव से सौधर्म कल्प के दिव्य सुखों का उपभोग किया। पुण्य के क्षीण हो जाने से हम देवलोक से गिरकर इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए हैं। यदि तुमने इस अलभ्य मानव-जन्म का मुक्तिपथ की साधना में उपयोग नहीं किया तो और भी अधोगतियों में असह्य दुःख उठाते हुए तुम्हें भव-भ्रमण करना पड़ेगा।”

“इस आर्य धरा पर तुमने श्रेष्ठ कुल में मानव-जन्म पाया है। इस अमूल्य मानव-जन्म को विषय-सुखों में व्यर्थ ही बिताना अमृत को कण्ठ में न उतार कर पेर घोने के उपयोग में लेने के समान है। राजन् ! तुम यह सब जान-बूझकर भी बालक की तरह अनन्त दुःखदायी इन्द्रिय-सुख में क्यों लुब्ध हो रहे हो?”

ब्रह्मदत्त ने कहा—भगवन् ! जो आपने कहा है, वह शतप्रतिशत सत्य है। मैं भी जानता हूँ कि विषयासक्ति सब दुःखों की जननी और सब अनर्थों की मूल है, किन्तु जिस प्रकार गहरे दलदल में फँसा हुआ हाथी चाहने पर भी उससे बाहर नहीं निकल सकता, उसी प्रकार मैं भी निदान से प्राप्त इन कामभोगों के कीचड़ में बुरी तरह फँसा हुआ हूँ, अतः मैं संयम ग्रहण करने में असमर्थ हूँ।”

चित्त ने कहा—“राजन् ! यह दुर्लभ मनुष्य-जीवन तीव्र गति से बीतता चला जा रहा है, दिन और रात्रियाँ दौड़ती हुई जा रही हैं। ये काम-भोग भी



जिनमें तुम फसे हुए हो सदा बने रहने वाले नहीं है। जिस प्रकार फलविहीन वृक्ष को पक्षी छोड़कर चले जाते हैं, उसी प्रकार ये काम-भोग एक दिन तुम्हें अवश्य छोड़ देंगे।”

अपनी बात समाप्त करते हुए मुनि ने कहा—“राजन् ! निदान के कारण तुम भोगों का पूर्णतः परित्याग करने में असमर्थ हो, पर तुम प्राणिमात्र के साथ मैत्री रखते हुए परोपकार के कार्यों में तो संलग्न रहो, जिससे कि तुम्हें दिव्य सुख प्राप्त हो सके।”

यह कहकर मुनि चित्त वहां से अन्यत्र विहार कर गये। उन्होंने अनेक वर्षों तक संयम का पालन करते हुए कठोर तपस्या की आग में समस्त कर्मों को भस्मसात् कर अन्त में शुद्ध-बुद्ध हो निर्वाण प्राप्त किया।

मुनि के चले जाने के पश्चात् ब्रह्मदत्त अपनी चक्रवर्ती की ऋद्धियों और राज्यश्री का उपभोग करने लगा। भारत के छह-ही खण्डों के समस्त भूपति उसकी सेवा में सेवक की तरह तत्पर रहते थे। वह दुराचार का कट्टर विरोधी था।

एक दिन ब्रह्मदत्त युवनेश्वर (यूनान के नरेश) से उपहार में प्राप्त एक अत्यन्त सुन्दर घोड़े पर आरूढ़ हो उसके वेग की परीक्षा के लिये काम्पिल्यपुर के बाहर घूमने को निकला। चाबुक की मार पड़ते ही घोड़ा बड़े वेग से दौड़ा। ब्रह्मदत्त द्वारा रोकने का प्रयास करने पर भी नहीं रुका और अनेक नदी, नालों एवं वनों को पार करता हुआ दूर के एक घने जंगल में जा रुका।

उस वन में सरोवर के तट पर उसने एक सुन्दर नागकन्या को किसी जार पुरुष के साथ संभोग करते देखा और इस दुराचार को देख कर वह क्रोध से तिलमिला उठा। उसने स्वैर और स्वैरिणी को अपने चाबुक से धुनते हुए उनकी चमड़ी उधेड़ दी।

थोड़ी ही देर में ब्रह्मदत्त के अंगरक्षक अश्व के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए वहाँ आ पहुँचे और वे भी उनके साथ काम्पिल्यपुर लौट आये।

उधर उस स्वैरिणी नागकन्या ने चाबुक की चोटों से लहलुहान अपना तन अपने पति नागराज को बताते हुए कर्ण पुकार की—“नाथ ! आज तो आपकी प्राणप्रिया को कामुक ब्रह्मदत्त ने मार ही डाला होता। मैं अपनी सखियों के साथ वन-विहार एवं जल-क्रीड़ा के पश्चात् लौट रही थी कि मुझे उस स्त्री-लम्पट ने देखा और वह मेरे रूप-लावण्य पर मुग्ध हो मेरे पतिव्रत धर्म को नष्ट करने के लिए उद्यत हो गया। मेरे द्वारा प्रतीकार करने पर मुझे निर्दयतापूर्वक चाबुक से पीटने लगा। मैंने बार-बार आपका नाम बताते हुए

उससे कहा कि मैं महान् प्रतापी नागराज की पतिव्रता प्रेयसी हूँ, पर वह अपने चक्रवर्तित्व के घमण्ड में आपसे भी नहीं डरा और मुझ पतिपरायणा भबला को तब तक पीटता ही रहा जब तक मैं अधमरी हो भूँछित नहीं हो गई।”

यह सुन कर नागराज प्रकुपित हो ब्रह्मदत्त का प्राणान्त कर डालने के लिए प्रच्छन्न रूप से उसके शयनागार में प्रविष्ट हुआ। उस समय रात्रि हो चुकी थी और ब्रह्मदत्त पलंग पर लेटा हुआ था।

उस समय राजमहिषी ने ब्रह्मदत्त से प्रश्न किया—“स्वामिन् ! आज आप अश्वारूढ़ हो अनेक अरण्याँ में घूम आये हैं, क्या वहाँ आपने कोई आश्चर्यजनक वस्तु भी देखी ?”

उत्तर में ब्रह्मदत्त ने नागकन्या के दुश्चरित्र और अपने द्वारा उसकी पिटाई किये जाने की सारी घटना सुना दी। यह त्रिया-चरित्र सुनकर छिपे हुए नागराज की आँखें खुल गईं।

उसी समय ब्रह्मदत्त शारीरिक कंका-निवारणार्थ शयन-कक्ष से बाहर निकला तो उसने कान्तिमान नागराज को साञ्जलि मस्तक झुकाये अपने सामने खड़े देखा।

अभिवादन के पश्चात् नागराज ने कहा—“नरेश्वर ! जिस पुंश्चली नागकन्या को आपने दण्ड दिया, उसका मैं पति हूँ। उसके द्वारा आप पर लगाये गये असत्य आरोप से क्रुद्ध हो मैं आपके प्राण लेने आया था पर आपके मुँह से वास्तविक तथ्य सुनकर आप पर मेरा प्रकोप परम प्रीति में परिवर्तित हो गया है। दुराचार का दमन करने वाली आपकी दण्ड-नीति से मैं अत्यधिक प्रभावित और प्रसन्न हूँ, कहिये मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?”

ब्रह्मदत्त ने कहा—“नागराज ! मैं यह चाहता हूँ कि मेरे राज्य में पर-स्त्रीगमन, चोरी और अकाल-मृत्यु का नाम तक न रहे।”

“ऐसा ही होगा”, यह कहते हुए नागराज बोला—“भारतेश ! आपको परोपकारपरायणता प्रशंसनीय है। अब आप कोई निज हित की बात कहिये।”

ब्रह्मदत्त ने कहा—“नागराज ! मेरी अभिसाधा है कि मैं प्राणिमात्र की भाषा को समझ सकूँ।”

नागराज बोला—“राजन् ! मैं वास्तव में आप पर बहुत ही अधिक प्रसन्न हूँ, इसलिये यह अदेय विद्या भी आपको देता हूँ, पर इस विद्या के अटल और कठोर नियम को आप सदा ध्यान में रखें कि किसी प्राणी की बोली को

समझ कर यदि आपने किसी और के सम्मुख उसे प्रकट कर दिया तो आपके मिर के सात टुकड़े हो जायेंगे ।”

ब्रह्मदत्त ने सावधानी रखने का आश्वासन देते हुए नागराज के प्रति आभार प्रकट किया और नागराज भी ब्रह्मदत्त का अभिवादन करते हुए तिरोहित हो गया ।

एक दिन ब्रह्मदत्त अपनी अतीव प्रिया महारानी के साथ प्रसाधन-गृह में बैठा हुआ था । उस समय नर-घरोली और नारी-घरोली अपनी बोली में बात करने लगे । गर्भिणी घरोली अपने पति से कह रही थी कि वह उसके दोहद की पूर्ति के लिए ब्रह्मदत्त का अंगराग ला दे । नर-घरोली उससे कह रहा था—  
“क्या तुम मुझसे ऊब चुकी हो, जो जानबूझ कर मुझे मोत के मुँह में डकेल रही हो ?”

ब्रह्मदत्त घरोली दम्पति की बात समझ कर सहसा भ्रट्टहास कर हँस पड़ा । रानी ने अकस्मात् हँसने का कारण पूछा ।

ब्रह्मदत्त जानता था कि यदि उसने उस रहस्य को प्रकट कर दिया, तो तत्काल मर जायगा, अतः वह बड़ी देर तक अनेक प्रकार की बातें बना कर उसे टालता रहा । रानी को निश्चय हो गया कि उस हँसी के पीछे अवश्य ही कोई बड़ा रहस्य छिपा हुआ है और उसके स्वामी उससे वह छिपा रहे हैं । रानी ने नारीहठ का आश्रय लेते हुए दृढ़ स्वर में कहा—“महाराज ! आप अपनी प्राण-प्रिया से भी कुछ छिपा रहे हैं, यह मुझे इस जीवन में पहली ही बार अनुभव हुआ है । यदि आप मुझे हँसी का सही कारण नहीं बतायेंगे तो मैं इसी समय अपने प्राण दे दूँगी ।”

ब्रह्मदत्त ने कहा—“महारानी ! मैं तुमसे कुछ भी छिपाना नहीं चाहता पर केवल यही एक ऐसा रहस्य है कि यदि इसे मैंने प्रकट कर दिया तो तत्काल मेरे प्राण निकल जायेंगे ।”

रानी ने ब्रह्मदत्त की बात पर अविश्वास करते हुए निश्चयात्मक स्वर में कहा—“यदि ऐसा हुआ तो आपके साथ ही साथ मैं भी अपने प्राण दे दूँगी, पर इस हँसी का कारण तो मालूम करके ही रहूँगी ।”

रानी में अत्यधिक आसक्ति होने के कारण ब्रह्मदत्त ने रानी के साथ मरघट में जा चिता चुनवाई और रहस्य को प्रकट करने के लिए उद्यत हो गया ।

नारी में आसक्ति के कारण अकाल-मृत्यु के लिए तैयार हुए ब्रह्मदत्त को समझाने के लिए उसकी कुलदेवी ने देवमाया से एक गर्भवती बकरी और बकरे का रूप बनाया ।

बकरी ने अपनी बोली में बकरे से कहा—‘स्वामिन् ! राजा के घोड़े को चराने के लिए जो हरी-हरी जौ की पूलियाँ पड़ी हुई हैं, उनमें से एक पूली लाओ जिसे खाकर मैं अपना दोहला पूर्ण करूँ ।’

बकरे ने कहा—‘ऐसा करने पर तो मैं राज-पुरुषों द्वारा मार डाला जाऊँगा ।’

बकरी ने हठपूर्वक कहा—‘यदि तुम जौ की पूली नहीं लाओगे तो मैं मर जाऊँगी ।’

बकरे ने कहा—‘तू मर जायगी तो मैं दूसरी बकरी को अपनी पत्नी बना लूँगा ।’

बकरी ने कहा—‘इस राजा के प्रेम को भी तो देखो कि अपनी पत्नी के स्नेह में जान-बूझ कर मृत्यु का आलिगन कर रहा है ।’

बकरे ने उत्तर दिया—‘अनेक पत्नियों का स्वामी होकर भी ब्रह्मदत्त एक स्त्री के हठ के कारण पतंगे की मौत मरने की मूर्खता कर रहा है, पर मैं इसकी तरह मूर्ख नहीं हूँ ।’

बकरे की बात सुन कर ब्रह्मदत्त को अपनी मूर्खता पर खेद हुआ और अपने प्राण बचाने वाले बकरे के गले में अपना अमूल्य हार डाल कर राजप्रासाद की ओर लौट गया तथा आनन्द के साथ राज्यश्री का उपभोग करने लगा ।

चक्रवर्ती की राज्यश्री का उपभोग करते हुए जब ५८ वर्ष बीत चुके उस समय उसका पूर्व-परिचित एक ब्राह्मण उसके पास आया । ब्रह्मदत्त ने परिचय पाकर ब्राह्मण को बड़ा आदर-सम्मान दिया ।

भोजन के समय ब्राह्मण ने ब्रह्मदत्त से कहा—‘राजन् ! जो भोजन आपके लिए बना है, उसी भोजन को खाने की मेरी अभिलाषा है ।’

ब्रह्मदत्त ने कहा—‘ब्रह्मन् ! वह आपके लिए दुष्पाच्य और उन्मादकारी होगा ।’

ब्रह्मदत्त के सामने ब्रह्मदत्त को हार माननी पड़ी और उसने उस ब्राह्मण तथा उसके परिवार के सब सदस्यों को अपने लिए बनाया हुआ भोजन खिला दिया ।

रात्रि होते ही उस अत्यन्त गरिष्ठ और उत्तेजक भोजन ने अपना प्रभाव प्रकट करना प्रारम्भ किया । अदम्य कामाग्नि ब्राह्मण-परिवार के रोम-रोम से

प्रस्फुटित होने लगी। कामोन्माद में अन्धा ब्राह्मण परिवार माँ, बहिन, बेटों, पुत्रवधू, पिता, पुत्र, भाई आदि अगभ्य सम्बन्ध को भूल गया। उस ब्राह्मण ने और उसके पुत्र ने अपने परिवार की सब स्त्रियों के साथ पशु की तरह काम-क्रीड़ा करते हुए सारी रात्रि व्यतीत की।

प्रातःकाल होते ही जब उस भोजन का प्रभाव कुछ कम हुआ तो ब्राह्मण-परिवार का कामोन्माद थोड़ा शान्त हुआ और परिवार के सभी सदस्य अपने घृणित दुष्कृत्य से लज्जित हो एक दूसरे से कतराते हुए अपना मुँह छुपाने लगे।

“अरे! इस दुष्ट राजा ने अपने दूषित अन्न से मेरे सारे परिवार को घोर पापाचार में प्रवृत्त कर पतित कर दिया।” यह कहता हुआ ब्राह्मण अपने पाशविक कृत्य से लज्जित हो नगर के बाहर चला गया।

वन में निरुद्देश्य इधर-उधर भटकते हुए ब्राह्मण ने देखा कि एक चरवाहा पत्थर के छोटे-छोटे ढेलों को गिलोल से फेंक कर वटवृक्ष के कोमल और कच्चे पत्ते पृथ्वी पर गिरा कर अपनी बकरियों को चरा रहा है।

गड़रिये की अचूक और अद्भुत निशानेबाजी को देख कर ब्राह्मण ने सोचा कि इसके द्वारा ब्रह्मदत्त से अपने वैर का बदसा लिया जा सकता है। ब्राह्मण ने उस गड़रिये को धन दिया और कहा—“नगर में राजमार्ग पर श्वेत छत्र-चँवरधारी जो व्यक्ति हाथी की सवारी किये निकले उसकी आँखें एक साथ दो पत्थर की गोलियों के प्रहार से फोड़ देना।”

“अपने कृत्य के दुष्परिणाम का विचार किये बिना ही गड़रिये ने नगर में जाकर, राजपथ से गजारूढ़ हो निकलते हुए ब्रह्मदत्त की दोनों आँखें एक साथ गिलोल से दो गोलियाँ फेंक कर फोड़ डाली।”

“तत्क्षण राजपुरुषों द्वारा गड़रिया पकड़ लिया गया। उससे यह ज्ञात होने पर कि इस सारे दुष्कृत्य का सूत्रधार वही ब्राह्मण है, जिसे गत दिवस भोजन कराया गया था, ब्रह्मदत्त बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने उस ब्राह्मण को परिवार सहित मरवा डाला। फिर भी अन्धे ब्रह्मदत्त का क्रोध शान्त नहीं हुआ। वह बार-बार सारी ब्राह्मण जाति को ही कोसने लगा एवं नगर के सारे ब्राह्मणों और अपने पुरोहितों तक को चुन-चुन कर उसने मौत के घाट उतार दिया।”

१ ‘केण उण उवाएण पच्चु (पच्च) वयारो एरवइसो कीरई?’ ति भायमासोण कम्मो बहूहि अ (उ) वयरियच्च विष्णासेहि गुलियाधणुविक्खेवरिणउणो वयंसो। कयसन्भा-वाइसयस्स य साहिभो गिययथोहिप्पाओ। तेणावि पडिवण्णं सरहसं।

[अउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २४३]

अपने अग्धे कर दिये जाने की बात से प्रतिपल उसकी क्रोधाग्नि उग्ररूप धारण करती गई। उसने अपने मंत्री को आदेश दिया कि अगणित ब्राह्मणों की आँखें निकलवा कर बड़े थाल में उसके सम्मुख रख दी जायें। मंत्री ने आँखों के समान श्लेष्मपुंज चिकने लेसवा-लसोड़ा (गूदे) के गुठली निकले फलों से बड़ा थाल भर कर अग्धे ब्रह्मदत्त के सम्मुख रखवा दिया।<sup>१</sup> गूदों को ब्राह्मणों की आँखें समझ कर ब्रह्मदत्त अतिशय आनन्दानुभव करते हुए कहता—“ब्राह्मणों की आँखों से थाल को बहुत अच्छी तरह भरा गया है।”

वह एक क्षण के लिए भी उस थाल को अपने पास से नहीं हटाता। रात दिन बार-बार उसका स्पर्श कर परम संतोष का अनुभव करता।

इस प्रकार ब्रह्मदत्त ने अपनी आयु के अन्तिम सोलह वर्ष निरन्तर अति तीव्र आर्त्त और रौद्र ध्यान में बिताये एवं सात सौ वर्ष की आयु पूर्ण होने पर<sup>२</sup> अपनी पट्टमहिषी कुरुमती के नाम का बार-बार उच्चारण करता हुआ मर कर सातवें नर्क में चला गया।

### प्राचीन इतिहास की एक भग्न कड़ी

बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का जैन आगमों और ग्रन्थों से कतिपय अंशों में मिलता-जुलता वर्णन वेदव्यास रचित महाभारत पुराण और हरिवंश पुराण में भी उपलब्ध होता है।

ब्रह्मदत्त के जीवन की कतिपय घटनाएँ जिनके सम्बन्ध में जैन और वैदिक परम्पराओं के साहित्य में समान मान्यता है, उन्हें तुलनात्मक विवेचन हेतु यहाँ दिया जा रहा है।

(१) ब्रह्मदत्त पांचाल जनपद के काम्पिल्यनगर में निवास करता था।

वैदिक परम्परा :—काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य, त्वन्तःपुरनिवासिनी।

(महाभारत, शा० प०, अ० १३६, श्लो० ५)

१ मन्त्रिणा वि मुणिकणा तस्स कम्मवसत्तराणो तिव्वमञ्जवसायविसेसं धेतूणां सेसुहइयतरुणां बहुवे फलट्ठिया पक्खिविकणा थालम्मि शिवेइया पुराओ।

२ (क) यातेषु जन्मदिवसोऽथ समा शतेषु, सप्तस्वसौ कुरुमतीत्यसकृद्भुवाणः।

हिंसानुबन्धिपरिणामफलानुरूपां, तां सप्तमीं नरकलोकमुत्रं जगाम॥

[त्रिषष्टि श. पु. चरित्र, पर्व ६, सर्ग १, श्लो, ६००]

(ख) 'चउवन्न महापुरिस चरियं' में ब्रह्मदत्त की ७१६ वर्ष की आयु बताई गई है।

यथा—“अइक्कंताइं कइवयदिणाणि सत्तवाससयाइं सोलसुतराइं।

[चउवन्न महापुरिस चरियं, पृष्ठ २४४]

ब्रह्मादत्तश्च पांचाल्यो, राजा बुद्धिमतां वरः ।

(वही, अ० २२४, श्लो० २६)

जैन परम्परा :-

‘अतिय इहेव जंबुद्वीवे भारहे वासे शिरंतरं.....पंचालाहिहाणो जरावन्नो । तत्थ य.....कपिल्लं गाम गायरं । तम्मि.....बम्भयत्तो गाम चक्कवट्टी ।’  
(चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २१०)

(२) ब्रह्मादत्त के जीव ने पूर्व भव में एक राजा की ऋद्धि देखकर यह निदान किया था—“यदि मैंने कोई सुकृत, नियम और तपश्चरणा किया है तो उस सबके फलस्वरूप मैं भी ऐसा राजा बनूँ ।”

बौद्धिक परम्परा :-

स्वतन्त्रश्च विहंगोऽसौ, स्पृहयामास तं नृपम् ।

दृष्ट्वा यान्तं श्रियोपेतं, भवेयमहमीदृशः ॥४३॥

यद्यस्ति सुकृतं किञ्चित्तपो वा नियमोऽपि वा ।

खिन्नोऽस्मि ह्यपवासेन, तपसा निष्फलेन च ॥४४॥

(हरिवंश, पर्व १, अ० २३)

जैन परम्परा :-

‘सलाहणीओ चक्कवट्टिविहबो ममपि एस संपज्जउ त्ति जइ इमस्स तवस्सं सामत्थमत्थि’ त्ति हियएण चित्तिऊण कयं गियाणां त्ति । परिणयं उक्खंडभरहा-हिवत्तणं ।

(चउवन्न महापुरिस चरियं पृ० २१७)

(३) ब्रह्मादत्त को जातिस्मरण-ज्ञान (पूर्वजन्म का ज्ञान) हुआ, इसका दोनों परम्पराओं में निमित्तभेद को छोड़ कर समान वर्णन है ।

बौद्धिक परम्परा :-

तच्छ्रुत्वा मोहमगमद्, ब्रह्मादत्तो नराधिपः ।

सचिवश्चास्य पांचाल्यः, कण्डरीकश्च भारत ॥२२॥

ततस्ते तत्सरः स्मृत्वा, योगं तनुपलभ्य च ।

ब्राह्मणं विपुलैरर्थैर्भोगैश्च समयोजयन् ॥२५॥

जैन परम्परा :-

‘समुप्पण्णो मणम्मि त्रियप्पो-अण्णया वि मए एवं विहसंगीओवलक्खिया गाइयविहि दिट्ठउब्बा, एयं च सिरिदामकूसुमगंडं त्ति । एवं च परिचितयंतेण

सोहम्मसुरकण्ठे पउमगुम्भे विमाणो सुरविलासिणीकलिज्जमाणणाइयविही  
दिट्ठा । सुमरिणो अत्तणो पुण्वभवो । तण्णो मुच्छावसमउलमाणलोयणो सुकुमार-  
त्तणणीसहवेविरसरीरो तक्खणं चैव धरायलम्मि णिवड्ढिणो त्ति ।'

(चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २११)

(४) ब्रह्मदत्त के पूर्वभवों का वर्णन दोनों परम्पराओं द्वारा एक दूसरे से काफी मिलता जुलता दिया गया है ।

**बैदिक परम्परा :-**

सप्त व्याघ्राः दशार्णेषु, मृगा कालिजरे गिरी ।

चक्रवाकाः शरद्वीपे, हंसा सरसि मानसे ॥२०॥

तेऽभिजाता कुरुक्षेत्रे, ब्राह्मणा वेदपारगाः ।

प्रस्थिताः दीर्घमध्वानं, यूयं किमवसीदथ ॥२१॥

(हरिवंश, पर्व १, अध्याय २५)

**जैन परम्परा :-**

दासा दसण्णो आसी, मिया कालिजरे नये ।

हंसा मयंगतीराए सोवागा कासिभूमिए ॥६॥

देवा य देवलोयम्मि, आसी अम्हे महिड्ढिया ।

इमा णो छट्ठिया जाई अन्नमन्नेण जा विणा ॥७॥

(उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १३)

(५) ब्रह्मदत्त का विवाह एक ब्राह्मण कन्या के साथ हुआ था, इस सम्बन्ध में भी दोनों परम्पराओं की समान मान्यता है ।

**बैदिक परम्परा :-**

ब्रह्मदत्तस्य भार्या तु, देवलस्यात्मजाभवत् ।

असितस्य हि दुर्धर्षा, सन्मतिर्नामि नामतः ॥२६॥

(हरिवंश, पर्व १, अ० २३)

**जैन परम्परा :-**

ताव य एक दियवरमंदिराण्णो पेसिएण णिगंतूण दासचेइएण भणिया  
अम्हे एह भुंजह त्ति ।.....भोयणावसाणम्मि.....  
तण्णो तम्मि चैव दिणो जहाविहववित्थरेण वत्तं पाणिग्गहणं ।

(चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २२१)



(६) ब्रह्मदत्त पशु-पक्षियों की भाषा समझता था, इस बात का उल्लेख दोनों परम्पराओं में है।

**वैदिक परम्परा :-**

ततः पिपीलिकारुतं, स शुश्राव नराधिपः ।  
कामिनीं कामिनस्तस्य, याचतः क्रोशतो भृशम् ॥३॥  
श्रुत्वा तु याच्यमानां तां, क्रुद्धां सूक्ष्मां पिपीलिकाम् ।  
ब्रह्मदत्तो महाहासमकस्मादेव चाहसत् ॥४॥  
तथा श्लोक ७ से १० ।

(हरिवंश, पर्व १, अ० २४)

**जैन परम्परा :-**

गृहगोलं गृहगोला, तत्रोवाचानय प्रिय ।  
राज्ञोऽङ्गरागमेतं मे, पूर्यते येन दोहदः ॥५५२॥  
प्रत्यूचे गृहगोलोऽपि, कार्यं किं मम नात्मना ।  
भाषां ज्ञात्वा तयोरेवं, जहास वसुधाधिपः ॥५५३॥

(त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग १)

इसके अतिरिक्त वैदिक परम्परा में पूजनिका नाम की एक चिड़िया के द्वारा ब्रह्मदत्त के पुत्र की आँखें फोड़ डालने का उल्लेख है, तो जैन परम्परा के ग्रन्थों में ब्रह्मदत्त के परिचित एक ब्राह्मण के कहने से अचूक निशाना मारने वाले किसी गड़रिये द्वारा स्वयं ब्रह्मदत्त की आँखें फोड़ने का उल्लेख है।

इन कतिपय समान मान्यताओं के होते हुए भी ब्रह्मदत्त के राज्यकाल के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में बड़ा अन्तर है।

‘हरिवंश’ में महाभारतकाल से बहुत पहले ब्रह्मदत्त के होने का उल्लेख है; पर इसके विपरीत जैन परम्परा के आगम व अन्य ग्रन्थों में पाण्डवों के निर्वाण के बहुत काल पश्चात् ब्रह्मदत्त के होने का उल्लेख है।

जैन परम्परा के आगमों और प्राचीन ग्रन्थों में प्रत्येक तीर्थंकर, चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव के पूरे जीवनचरित्र के साथ-साथ इन सब का

१ प्रतीपस्य तु राजर्षेस्तुत्यकालो नराधिपः ।

पितामहस्य मे राजन्, बभूवेति मया श्रुतम् ॥११॥

ब्रह्मदत्तो महाभागो, योगी राजपिसत्तमः ।

रुतन्नः सर्वभूतानां, सर्वभूतहिते रतः ॥१२॥

काल उपलब्ध होता है। इसके साथ ही एक उल्लेखनीय बात यह है कि इन तिरेसठ प्रलाध्य पुरुषों का जो समय एक आगम में दिया गया है, वही समय अन्य आगमों एवं सभी प्राचीन ग्रन्थों में दिया हुआ है। अतः ऐसी दशा में जैन परम्परा के साहित्य में दिये गये इनके जीवनकाल के सम्बन्ध में शंका के लिये अवकाश नहीं रह जाता।

भारतवर्ष की इन दो अत्यन्त प्राचीन परम्पराओं के मान्य ग्रन्थों में जो अधिकांशतः समानता रखने वाला ब्रह्मदत्त का वर्णन उपलब्ध है, उसके सम्बन्ध में इतिहासज्ञों द्वारा खोज की जाय तो निश्चित रूप से यह भारतीय प्राचीन इतिहास की शृंखला को जोड़ने में सहायक सिद्ध हो सकता है।



## भगवान् श्री पार्श्वनाथ

भगवान् अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के पश्चात् तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ हुए। आपका समय ईसा से पूर्व नवीं-दशवीं शताब्दी है। आप भगवान् महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व हुए। ऐतिहासिक शोध के आधार पर आज के ऐतिहासिक विषय के विद्वान् भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानने लगे हैं।

मेजर जनरल फर्लिंग ने ऐतिहासिक शोध के पश्चात् लिखा है—“उस काल में सम्पूर्ण उत्तर भारत में एक ऐसा अतिव्यवस्थित, दार्शनिक, सदाचार एवं तप-प्रधान धर्म, अर्थात् जैनधर्म, अवस्थित था, जिसके आधार से ही ब्राह्मण एवं बौद्धादि धर्म संन्यास बाद में विकसित हुए। आर्यों के गंगा-तट एवं सरस्वती तट पर पहुँचने से पूर्व ही लगभग बाईस प्रमुख सन्त अथवा तीर्थंकर जैनों को धर्मोपदेश दे चुके थे, जिनके बाद पार्श्व हुए और उन्हें अपने उन समस्त पूर्व तीर्थंकरों का अथवा पवित्र ऋषियों का ज्ञान था, जो बड़े-बड़े समयान्तरों को लिए हुए पहले हो चुके थे। उन्हें उन अनेक धर्मशास्त्रों का भी ज्ञान था जो प्राचीन होने के कारण पूर्व या पुराण कहलाते थे और जो सुदीर्घकाल से मान्य मुनियों, वानप्रस्थों या वनवासी साधुओं की परम्परा में मौखिक द्वार से प्रवाहित होते आ रहे थे।”

डॉ० हर्मन जैकोबी जैसे लब्धप्रतिष्ठ पश्चिमी विद्वान् भी भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। उन्होंने जैनागमों के साथ ही बौद्ध पिटकों के प्रकाश में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति थे।<sup>१</sup>

डॉ० हर्मन जैकोबी के प्रस्तुत कथन का समर्थन अन्य अनेक इतिहासविज्ञों ने भी किया है। डॉ० ‘वासम’ के अभिमतानुसार भगवान् महावीर बौद्ध पिटकों में बुद्ध के प्रतिस्पर्धी के रूप में उद्धृत किये गये हैं, एतदर्थ उनकी ऐतिहासिकता में सन्देह नहीं रह जाता।<sup>२</sup>

१ भारतीय इतिहास : एक दृष्टि : डॉ० ज्योतिप्रसाद, पृष्ठ १४६

२ The Sacred Books of the East Vol. XLV, Introduction, page 21 “That Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable.....”

३ The Wonder that was India (A. L. Basham B.A., Ph. D., F. R. A. S.) Reprinted 1956, P. 287-288 :-

“As he (Vardhaman Mahavira) is referred to in the Buddhist Scriptures as one of the Buddha's chief opponents, his historicity is beyond doubt...Parsva was remembered as twenty-third of the twenty-four great teachers or Tirthakaras (Ford makers) of the Jaina faith.”

डॉ० चार्ल्स शापेटियर ने लिखा है—“हमें इन दो बातों का भी स्मरण रखना चाहिये कि जैन धर्म निश्चितरूपेण महावीर से प्राचीन है। उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्रायः निश्चितरूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में विद्यमान रह चुके हैं; एवं परिणामस्वरूप मूल सिद्धान्तों की मुख्य बातें महावीर से बहुत पहले सूत्र-रूप धारण कर चुकी होगी।”

### भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व धार्मिक स्थिति

भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों की विशिष्टता समझने के लिये उस समय की देश की धार्मिक स्थिति कैसी थी, यह समझना आवश्यक है। उपलब्ध वैदिक साहित्य के परिशीलन से ज्ञात होता है कि ई० ६वीं सदी से पूर्व ऋग्वेद के अन्तिम मंडल की रचना हो चुकी थी। मंडल के नासदीय<sup>१</sup> सूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त<sup>२</sup> तथा पुरुवसूक्त<sup>३</sup> प्रभृति से प्रमाणित होता है कि उस समय देश में तत्त्व-जिज्ञासाएँ उद्भूत होने लगीं और उन पर गम्भीर चिन्तन चलने लगे थे। उपनिषद्-काल में ये जिज्ञासाएँ इतनी प्रबल हो चुकी थीं कि उनके चिन्तन-मनन के लिए विद्वानों की सभाएँ की जाने लगीं। उनमें राजा, ऋषि, ब्राह्मण और क्षत्रिय समान रूप से भाग लेते थे। उनमें जगत् के मूलभूत तत्त्वों के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन कर सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये, जिनको ‘पराविद्या’ कहा गया। उनमें गार्ग्यायण, जनक भृगु, वारुणि, उद्दालक और याज्ञवल्क्य आदि पराविद्या के प्रमुख आचार्य्य थे। इनके विचारों में विविधता थी। आत्मविषयक चिन्तन में गति बढ़ने पर सहज-स्वाभाविक था कि यज्ञ-यागादि क्रियाकाण्ड में रुचि कम हो, कारण कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए यज्ञ आदि क्रियाओं का किसी प्रकार का उपयोग नहीं है। गहन चिन्तन-मनन के पश्चात् विचारकों को यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड को ‘अपराविद्या’ और मोक्षदायक आत्मज्ञान को ‘पराविद्या’ की संज्ञा देकर ‘अपराविद्या’ से ‘पराविद्या’ को श्रेष्ठ बतलाया।

कठोपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया कि :—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया वा बहुना श्रुतेन ।

यमेवैव वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥

[१/२/२.३]

१ The Uttaradhyayana Sutra, Introduction, Page 21 :—

“We ought also to remember both the Jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor Parshva having almost certainly existed as a real person, and that consequently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Mahavira.”

२ ऋग्वेद १०।१२६

३ वही १०।१२१

४ वही १०।६०

इस प्रकार की विचारधाराएँ आगे बढ़ीं तो वेदों के अपौरुषेयत्व और अनादित्व पर आक्षेप आने लगा। ये विचारक एकान्त, शान्त वन-प्रदेशों में ब्रह्म, जगत् और आत्मा आदि अतीन्द्रिय विषयों पर चिन्तन किया करते। ये अधिकांशतः मौन रहते, अतः मुनि कहलाये। वेदों में भी ऐसे वातरचना तत्व-चिन्तकों को ही मुनि<sup>१</sup> कहा गया है।

\* इन वनवासियों का जीवन-सिद्धान्त तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य था। छान्दोग्योपनिषद्<sup>२</sup> में श्री कृष्ण को घोर अंगिरस ऋषि ने यज्ञ की यही सरल विधि बतलाई थी और उनकी दक्षिणा भी यही थी। गीता<sup>३</sup> के अनुसार इन भावनाओं की उत्पत्ति ईश्वर (स्वयं आत्मदेव) से बताई गई है।

उस समय एक और इस प्रकार का ज्ञान-यज्ञ चल रहा था, तो दूसरी ओर यज्ञ के नाम पर पशुओं की बलि चढ़ा कर देवों को प्रसन्न करने का आयोजन भी खुल कर होता था। जब लोक-मानस कल्याणमार्ग का निर्णय करने में दिक्मूढ़ होकर किसी विशिष्ट नेतृत्व की अपेक्षा में था ऐसे ही समय में भगवान् पार्श्वनाथ का भारत की पुण्यभूमि वाराणसी में उत्तरण हुआ। उनका कल्याणकोमल मन प्राणिमात्र को सुख-शान्ति का प्रशस्त मार्ग दिखाना चाहता था। उन्होंने अनुकूल समय में यज्ञ-याग की हिंसा का प्रबल विरोध किया और आत्मध्यान, इन्द्रियदमन पर जनता का ध्यान आकर्षित किया। प्राधुनिक इतिहास-लेखकों की कल्पना है कि हिंसामय यज्ञ का विरोध करने से यज्ञप्रेमी उनके कट्टर विरोधी हो गये। उनके विरोध के फलस्वरूप भगवान् पार्श्वनाथ को अपना जन्मस्थान छोड़कर अनार्य देश को अपना उपदेश-क्षेत्र बनाना पड़ा।<sup>४</sup> वास्तव में ऐसी बात नहीं है। यज्ञ का विरोध भगवान् महावीर के समय में भगवान् पार्श्वनाथ के समय से भी उग्र रूप से किया गया था, फिर भी वे अपने जन्मस्थान और उसके आसपास धर्म का प्रचार करते रहे। ऐसी स्थिति में पार्श्वनाथ का अनार्य प्रदेश में भ्रमण भी विरोध के भय से नहीं, किन्तु सहज धर्म-प्रचार की भावना से ही होना संगत प्रतीत होता है।

### पूर्वभव की साधना

अन्य सभी तीर्थंकरों के समान भगवान् पार्श्वनाथ ने भी पूर्वभव की

१ भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १४-१६

२ छान्दोग्योपनिषद्, ३।१७।४-६

३ अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यज्ञोप्यज्ञः ।

भवन्ति भावाः भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥

[गीता १०।३]

४ हिस्टोरिकल बिगिनिंग आफ जैनिज्म, पृ० ७८ ।

साधना के फलस्वरूप ही तीर्थंकर-पद की योग्यता प्राप्त की थी। कोई भी आत्मा एकाएक पूर्ण विकास नहीं कर लेता। जन्मजन्मान्तर की करनी और साधना से ही विशुद्धि प्राप्त कर वह मोक्ष योग्य स्थिति प्राप्त करता है। भगवान् पार्श्व का साधनारम्भकाल दश भव पूर्व से बतलाया गया है, जिसका विस्तृत परिचय 'चउवन महापुरिस चरियम्', 'त्रिषष्टि शलाका पुरिष चरित्र' आदि में द्रष्टव्य है। यहाँ उनका नामोल्लेख कर आठवें भव से, जहाँ तीर्थंकर-गोत्र का बन्ध किया, संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

प्रभु पार्श्वनाथ के १० भव इस प्रकार हैं :—प्रथम मरुभूति और कमठ का भव, दूसरा हाथी का भव, तीसरा सहस्रार देव का, चौथा किरण देव विद्याधर का, पाँचवाँ अच्युत देव का, छठा वज्रनाभ का, सातवाँ शैवेयक देव का, आठवाँ स्वर्णबाहु का, नवाँ प्राणत देव का और दशवाँ पार्श्वनाथ का।

इन्होंने स्वर्णबाहु के (अपने आठवें) भव में तीर्थंकर-गोत्र उपाजित करने के बीस बोलों की साधना की और तीर्थंकर-गोत्र का उपाजन किया, जिसका संक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है :—

वज्रनाभ का जीव देवलोक से न्युत हो पूर्व-विदेह में महाराज कुलिश-बाहु की धर्मपत्नी सुदर्शना की कुक्षि से चक्रवर्ती के सब लक्षणों से युक्त सुवर्ण-बाहु के रूप में उत्पन्न हुआ। सुवर्णबाहु के युवा होने पर महाराज कुलिशबाहु ने योग्य कन्याओं से उनका विवाह कर दिया और उन्हें राजपद पर अभिषिक्त कर वे स्वयं दीक्षित हो गये।

राजा होने के पश्चात् सुवर्णबाहु एक दिन अश्व पर आरूढ़ हो प्रकृति-दर्शन के लिए वन की ओर निकले। घोड़ा बेकाबू हो गया और उन्हें एक गहन बीहड़ वन में ले गया। उनके सब साथी पीछे रह गये। एक सरोवर के पास घोड़े के खड़े होने पर राजा घोड़े से नीचे उतरे। उन्होंने सरोवर में जलपान किया और घोड़े को एक वृक्ष से बाँधकर वन-विहार के लिए निकल पड़े। धूमते हुए सुवर्णबाहु एक आश्रम के पास पहुँचे, जिसमें कि आश्रमवासी तापस रहते थे। राजा ने देखा कि उस आश्रम के कुसुम-उद्यान में कुछ युवा कन्याएँ क्रीड़ा कर रही हैं। उनमें से एक अति कमनीय सुन्दरी को देख कर सुवर्णबाहु का मन उस कन्या के प्रति आकृष्ट हो गया और वे उस कन्या के सौन्दर्य को अपलक देखने लगे। कन्या के ललाट पर किये गये चन्दनादि के लेप और सुवासित हार से उसके मुख पर भौंरे मँडराने लगे। कन्या द्वारा बार-बार हटाये जाने पर भी भौंरे अधिकधिक संख्या में उसके मुखमण्डल पर मँडराने लगे, इससे घबड़ा कर कन्या सहसा चिल्ला उठी। इस पर सुवर्णबाहु ने अपनी चादर के छोर से भौंरों को हटा कर कन्या को भयमुक्त कर दिया।

सुवर्णबाहु के इस अयाचित साहाय्य से क्रीडारत सभी कन्याएँ प्रभावित हुईं और राजकुमारी का परिचय देते हुए बोलीं—“यह राजा खेचरेन्द्र की राजकुमारी पद्मा हैं। अपने पिता के देहान्त के कारण राजमाता रत्नावली के साथ यह यहाँ गालव ऋषि के आश्रम में सुरक्षा हेतु आई हुई हैं। यहाँ कल एक दिव्यज्ञानी ने आकर रत्नावली से कहा—“तुम चिन्ता न करो, तुम्हारी कन्या को चक्रवर्ती सुवर्णबाहु जैसे योग्य पति की प्राप्ति होगी। आज वह बात सत्य सिद्ध हुई है।”

आश्रम के आचार्य गालव ऋषि ने जब सुवर्णबाहु के आने की बात सुनी तो महारानी रत्नावली को साथ लेकर वे भी वहाँ आये और अतिथि सत्कार के पश्चात् सुवर्णबाहु के साथ पद्मा का गांधर्व-विवाह कर दिया। उस समय राजा सुवर्णबाहु का सैन्यदल और पद्मा के भाई पद्मोत्तर भी वहाँ आ गये। पद्मोत्तर के आग्रह से सुवर्णबाहु कुछ समय तक वहाँ रहे और फिर अपने नगर को लौट आये।

राज्य का उपभोग करते हुए सुवर्णबाहु के यहाँ चक्ररत्न प्रकट हुआ। उसके प्रभाव से षट्खंड की साधना कर सुवर्णबाहु चक्रवर्ती सम्राट् बन गये।<sup>१</sup>

एक दिन पुराणपुर के उद्यान में तीर्थंकर जगन्नाथ का समवशरण हुआ। सुवर्णबाहु ने सहस्रों नर-नास्त्रियों को समवशरण की ओर जाते देख कर द्वारपाल से इसका कारण पूछा और जब उन्हें तीर्थंकर जगन्नाथ के पधारने की बात मालूम हुई तो हर्षित होकर वे भी सपरिवार उन्हें वन्दन करने गये। तीर्थंकर जगन्नाथ के दर्शन और समवशरण में आये हुए देवों का बार बार स्मरण कर सुवर्णबाहु बहुत प्रभावित हुए और उन्हें वीतराग-जीवन की महिमा पर चिन्तन करते हुए जातिस्मरण हो आया।<sup>२</sup> फलतः पुत्र को राज्य सौंप कर उन्होंने तीर्थंकर जगन्नाथ के पास दीक्षा ग्रहण की एवं उग्र तपस्या करते हुए गीतार्थ हो गये। मुनि सुवर्णबाहु ने तीर्थंकर गोत्र उपार्जित करने के अर्हद्भक्ति आदि बीस साधनों में से अनेक की सम्यक् रूप से आराधना कर तीर्थंकर गोत्र का बंध किया।<sup>३</sup> तपस्या के साथ-साथ उनकी प्रतिज्ञा बड़ी बड़ी-चढ़ी थी। एक बार वे विहार करते हुए क्षीरगिरि के पास क्षीरवर्ण नामक वन में आये और सूर्य के सामने दृष्टि रख कर कायोत्सर्गपूर्वक आतापना लेने खड़े हो गये। उस समय कमठ का जीव, जो सप्तम नर्क से निकल कर उस वन में सिंह रूप से उत्पन्न हुआ था, अपने सामने सुवर्णबाहु मुनि को खड़े देख कर क्रुद्ध हो गर्जना करता हुआ उन पर भर्षट् पड़ा।

१ त्रिषष्टि शलाका पु० च० ६।२१

२ उद. म. व. च., पृ. २५५

३ उदवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २५६

मुनि सुवर्णाबाहु ने कायोत्सर्ग पूर्ण किया और अपनी आयु निकट समझ कर संलेखनापूर्वक अनशन कर वे ध्यानावस्थित हो गये ।

सिंह ने पूर्वभव के वैर के कारण मुनि पर आक्रमण किया और उनके शरीर को धीरे-धीरे लगा, पर मुनि सर्वथा शान्त और अचल रहे । समभाव के साथ आयु पूर्ण कर वे महाप्रभ नाम के विमान में बीस सागर की स्थिति वाले देव हुए ।

सिंह भी मर कर चौथी नर्कभूमि में दश सागर की स्थिति वाले नारक-जीव के रूप में उत्पन्न हुआ । नारकीय आयु पूर्ण करने के पश्चात् कमठ का जीव दीर्घकाल तक तिर्यग् योनि में अनेक प्रकार के कष्ट भोगता रहा ।

### विविध ग्रन्थों में पूर्वभव

पद्मचरित्र के अनुसार पार्श्वनाथ की पूर्वजन्म की नगरी का नाम साकेता और पूर्वभव का नाम आनन्द था और उनके पिता का नाम वीतशोक डामर था । रविसेन ने पार्श्वनाथ को वैजयन्त स्वर्ग से अवतरित माना है, जबकि तिलोयपण्णत्ती और कल्पसूत्र में पार्श्वनाथ के प्राणत कल्प से आने का उल्लेख था ।

जिनसेन का आदि पुराण और गुणभद्र का उत्तर पुराण पद्मचरित्र के पश्चात् की रचनाएँ हैं ।

उत्तरपुराण और पासनाह चरित में पार्श्वनाथ के पूर्वभव का वर्णन प्रायः समान है ।

आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र और लक्ष्मी वल्लभ की उत्तराध्ययन सूत्र की टीका के तेईसवें अध्यायन में भी पूर्वभवों का वर्णन प्राप्त होता है ।

पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा पार्श्वनाथ की जीवनगाथा स्वतन्त्र प्रबन्ध के रूप में भी ग्रथित की गई है । श्वेताम्बर परम्परा में पहले पहल श्री देवभद्र सूरि ने 'सिरि पासनाह चरित' के नाम से एक स्वतन्त्र प्रबन्ध लिखा है । उसमें निर्दिष्ट पूर्वभवों का वर्णन प्रायः वही है जो गुणभद्र के उत्तर पुराण में उल्लिखित है । केवल परम्परा की दृष्टि से कुछ स्थलों में भिन्नता पाई जाती है, जो श्वेताम्बर परम्परा के उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी स्वीकृत है । देवभद्र सूरि के अनुसार मरुभूति अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् खिन्नमन रहने लगे एवं हरिश्चन्द्र नामक मुनि के द्वारा दिये गये उपदेश का अनुसरण करके अपने घर-बार, यहाँ तक कि अपनी पत्नी के प्रति भी वे सर्वथा उदासीन रहने लगे । इसके



परिणामस्वरूप उनकी पत्नी वसुन्धरी का कमठ नामक किसी व्यक्ति के प्रति आकर्षण हो गया। कमठ और अपनी पत्नी के पापाचरण की कहानी मरुभूति को कमठ की पत्नी वरुणा से ज्ञात हुई। मरुभूति ने इसकी सच्चाई को जानने के लिये नगर के बाहर जाने का ढोंग किया। रात्रि में याचक के वेष में लौटकर उसी स्थान पर ठहरने की अनुमति पा ली। वहाँ उसने कमठ और वसुन्धरी को मिलते देखा।<sup>१</sup>

### जन्म और मातापिता

चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र में स्वर्णबाहु का जीव प्राणत देवलोक से बीस सागर की स्थिति भोग कर च्युत हुआ और भारतवर्ष की प्रसिद्ध नगरी वाराणसी के महाराज अश्वसेन की महारानी वामा की कुक्षि में मध्यरात्रि के समय गर्भरूप से उत्पन्न हुआ। माता वामादेवी चौदह शुभ-स्वप्नों को मुख में प्रवेश करते देखकर परम प्रसन्न हुई और पुत्र-रत्न की सुरक्षा के लिए सावधानीपूर्वक गर्भ का धारण-पालन करती रही। गर्भकाल के पूर्ण होने पर पौष कृष्णा<sup>२</sup> दशमी के दिन मध्यरात्रि के समय विशाखा नक्षत्र से चन्द्र का योग होने पर आरोग्ययुक्त माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। तिलोपपन्नती में भगवान् नेमिनाथ के जन्मकाल से ८४ हजार छह सौ ५० वर्ष बीतने पर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म लिखा है।<sup>३</sup> प्रभु के जन्म से घर-घर में आमोद-प्रमोद का मंगलमय वातावरण प्रसरित हुआ और क्षणभर के लिए समग्र लोक में उद्योत हो गया।

समवायांग और आवश्यक निर्युक्ति में पार्श्व के पिता का नाम आससेण (अश्वसेन) तथा माता का नाम वामा लिखा है। उत्तरकालीन अनेक ग्रन्थकारों ने भी यही नाम स्वीकृत किये हैं।

आचार्य गुणभद्र और पुष्पदन्त ने (उत्तरपुराण और महापुराण में) पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम ब्राह्मी लिखा है। वादिराज ने पार्श्वनाथ चरित्र में माता का नाम ब्रह्मदत्ता लिखा है। तिलोपपन्नती में पार्श्व की माता का नाम वर्मिला भी दिया है। अश्वसेन का पर्यायवाची ह्यसेन नाम भी मिलता है। मौलिक रूप से देखा जाय तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। गुण, प्रभाव और बोलचाल की दृष्टि से व्यक्ति के नाम में भिन्नता होना आश्चर्य की बात नहीं है।

१ पासनाह चरिउं, पद्यकीर्ति विरचित, प्रस्तावना, पृष्ठ ३१

२ उत्तरपुराण में दशमी के स्थान पर एकादशी को विशाखा नक्षत्र में जन्म माना गया है।

३ पण्णासाधियद्धस्तयधुलसीदिसहस्स-वस्सपरिवसे।

एोमि जिणुत्पत्तीदो, उप्पत्ती पासणाहस्स। ति. प., ४।५७६।पृ. २१४

### वंश एवं कुल

भगवान् पार्श्वनाथ के कुल और वंश के सम्बन्ध में समवायांग आदि मूल आगमों में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। केवल आवश्यक निर्युक्ति में कुछ संकेत मिलता है, वहाँ बाईस तीर्थंकरों को काश्यपगोत्रीय और मुनिसुव्रत एवं अरिष्टनेमि को गौतमगोत्रीय बतलाया है। पर देवभद्र सूरि के "पार्श्वनाथ चरित्र" और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में अश्वसेन भूप को 'इक्ष्वाकुवंशी' माना गया है। काश्यप और इक्ष्वाकु एकार्थक होने से कहीं इक्ष्वाकु के स्थान पर काश्यप कहते हैं। पुष्पदन्त ने पार्श्व को उग्रवंशीय कहा है।<sup>१</sup> तिलोयपन्नत्ती में भी आपका वंश उग्रवंश बतलाया है और आजकल के इतिहासज्ञ विद्वान् पार्श्व को उरग या नागवंशी भी कहते हैं।

### नामकरण

पुत्रजन्म की खुशी में महाराज अश्वसेन ने दश दिनों तक मंगल-महोत्सव मनाया और बारहवें दिन नामकरण करने के लिए अपने सभी स्वजन एवं मित्र-वर्ग को आमन्त्रित कर बोले—“बालक के गर्भस्थ रहते समय इसकी माता ने अँधेरी रात में भी पास (पार्श्व) में चलते हुए सर्प को देख कर मुझे सूचित किया और अपनी प्राणहानि से मुझे बचाया, अतः इस बालक का नाम पार्श्वनाथ रखना चाहिए।” इस निश्चय के अनुसार बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा गया।<sup>३</sup>

१ तस्यामिक्ष्वाकुवंशयोऽभूदश्वसेनो महीपतिः । [त्रि०श०पु०च०, प. ६, स. ३, श्लो० १४]

२ महापुराण—६४।२।२३

३ (क) सामन्तो सखे जाणका पासका य सख भावाणं, विसेसो माता अन्वारे सप्यं पासति, रायाणं भणति-हृत्थं विनएह सप्यो जाति, किह एस दीसति ? दीवएणं पलोइओ दिट्ठो ।

[आवश्यक चूर्ण, उत्तर भाग, पृष्ठ ११]

(ख) गर्भस्थितेऽस्मिञ्जननी, कृष्णनिश्वपि पार्श्वतः ।

सपन्तं सपमद्रासीत्, सखः पत्युः शशंस च ॥

स्मृत्वा तदेष गर्भस्थ, प्रभाव इति निर्णयन् ।

पार्श्वं इत्यभिधां सूनोरश्वसेननूपोऽक्रोत् ॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग ३, श्लो. ४५]

(ग) पासोबसप्येण सुबिणयंमि सप्यं वसोइत्वा.....

[सिरि पासनाह चरितं, गाथा ११, प्र. ३ पृष्ठ १४०]

उत्तरपुराण के अनुसार इन्द्र ने बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा ।'

### बाललीला

नीलोत्पल सी कान्ति वाले श्री पार्श्व बाल्यकाल से ही परम मनोहर और तेजस्वी प्रतीत होते थे । अतुल बल-वीर्य के धारक प्रभु १००८ शुभ लक्षणों से विभूषित थे । सर्प-लांछन वाले पार्श्व कुमार बालभाव में अनेक राजकुमारों और देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए उडुगरा में चन्द्र की तरह चमक रहे थे ।

पार्श्वकुमार की बाल्यकाल से ही प्रतिभा और उसके बुद्धिकौशल को देख कर महारानी वामा और महाराज अश्वसेन परम संतुष्ट थे ।

गर्भकाल से ही प्रभु मति, श्रुति और अवधिज्ञान के धारक तो थे ही फिर बाल्यकाल पूर्ण कर जब यौवन में प्रवेश करने लगे तो आपकी तेजस्विता और अधिक चमकने लगी । आपके पराक्रम और साहस की द्योतक एक घटना इस प्रकार है :—

### पार्श्व की वीरता और विवाह

महाराज अश्वसेन एक दिन राजसभा में बैठे हुए थे कि सहसा कुशस्थल नगर से एक दूत आया और बोला — “कुशस्थल के भूपति नरवर्मा, जो बड़े धर्म-प्रेमी साधु-महात्माओं के परम उपासक थे, उन्होंने संसार को तृणवत् त्याग कर जैन-श्रमण-दीक्षा स्वीकार की और उनके पुत्र प्रसेनजित इस समय राज्य का संचालन कर रहे हैं । उनकी पुत्री प्रभावती ने जब से आपके पुत्र पार्श्वकुमार के अनुपम रूप एवं गुणों की महिमा सुनी, तभी से वह इन पर मुग्ध है । उसने यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि मैं पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य किसी का भी वरण नहीं करूंगी ।

माता-पिता भी कुमारी की इस पसंद से प्रसन्न थे, किन्तु कलिग देश के यवन नामक राजा ने जब यह सुना, तो उसने कुशस्थल पर चढ़ाई की आज्ञा देते हुए भरी सभा में यह घोषणा की—“मेरे रहते हुए प्रभावती को व्याहने वाला पार्श्व कौन है ?”

ऐसा कह कर उसने एक विशाल सेना के साथ कुशस्थल नगर पर घेरा डाल दिया । उसका कहना है कि या तो प्रभावती दो या युद्ध करो । कुशस्थल

१ जन्माभिषेककल्याणपूजानिर्वृत्यनन्तरम् ।

पार्श्वान्निधानं कृत्वास्य, पितृभ्यां तं समर्पयन् ॥

[ उत्तरपुराण, पर्व ७३, श्लोक ६२ ]

के महाराज प्रसेनजित बड़े असमंजस में हैं। उन्होंने मुझे सारी स्थिति से आपको अवगत करने के लिए आपकी सेवा में भेजा है। अब आगे क्या करना है, इसमें देव ही प्रमाणा हैं।”

दूत की बात सुन कर महाराज अश्वसेन क्रोधावेश में बोले—“अरे! उस पामर यवनराज की यह हिम्मत जो मेरे होते हुए तुम पर आक्रमण करे। मैं कुशस्थल के रक्षण की अभी व्यवस्था करता हूँ।”

यह कहकर महाराज अश्वसेन ने युद्ध की भेरी बजवा दी। क्रीडांगण में खेलते हुए पार्श्वकुमार ने जब रणभेरी की आवाज सुनी तो वे पिता के पास आये और प्रणाम कर पूछने लगे—“तात! यह कैसी तैयारी है? आप कहाँ जा रहे हैं? मेरे रहते आपके जाने की क्या आवश्यकता है? छोटे-मोटे शत्रुओं को तो मैं ही शिक्षा दे सकता हूँ। कदाचित् आप सोचते होंगे कि यह बालक है, इसको खेल से क्यों वंचित रखा जाय, परन्तु महाराज क्षत्रियपुत्र के लिए युद्ध भी एक खेल ही है। मुझे इसमें कोई विशेष श्रम प्रतीत नहीं होता।”

पुत्र के इन साहस भरे वचनों को सुन कर महाराज अश्वसेन ने उन्हें सहर्ष कुशस्थल जाने की अनुमति प्रदान कर दी। पार्श्वकुमार ने गजारूढ़ हो चतुरंगिणी सेना के साथ शुभमुहूर्त में वहाँ से प्रयाण किया। प्रभु के प्रयाण करने पर शक्र का सारथि सहयोग हेतु आया और विनयपूर्वक नमस्कार कर बोला—“भगवन्! क्रीडा की इच्छा से आपको युद्ध के लिए तत्पर देख कर इन्द्र ने मेरे साथ सांश्रामिक रथ भेजा है। आपकी अपरिमित शक्ति को जानते हुए भी इन्द्र ने अपनी भक्ति प्रकट की है।”

कुमार पार्श्वनाथ ने भी कृपा पर घरातल से ऊपर चलने वाले उस रथ पर आरोहण किया और कुछ ही दिनों में कुशस्थल पहुँच कर युद्ध की घोषणा करवा दी। उन्होंने पहले यवनराज के पास अपना दूत भेज कर कहलाया कि राजा प्रसेनजित ने महाराज अश्वसेन की शरण ग्रहण की है। इसलिए कुशस्थल को घेराबन्दी से मुक्त कर दो, अन्यथा महाराज अश्वसेन के कोप-भाजन बनने में तुम्हारा भला नहीं है।

दूत की बात सुनकर यवनराज ने आवेश में आकर कहा—“जाओ, अपने स्वामी पार्श्व को कह दो कि यदि वह अपनी कुशल चाहता है तो बीच में न पड़े। ऐसा न हो कि हमारे क्रोध की आग में पड़ने से उस बालक को असमय में ही प्राण गँवाना पड़े।”

दूत के मुख से यवनराज की बात सुनकर कुरुणासागर पार्श्वकुमार ने यवनराज को समझाने के लिये दूत को दूसरी बार और भेजा।

दूत ने दुबारा जाकर यवनराज से फिर कहा—“स्वामी ने तुम पर कृपा करके पुनः मुझे भेजा है, न कि किसी प्रकार की कमजोरी के कारण । तुम्हारा इसी में भला है कि उनकी आज्ञा को स्वीकार कर लो ।”

दूत की बात सुनकर यवनराज के सैनिक उठे और जोर-जोर से कहने लगे—“अरे ! अपने स्वामी के साथ क्या तुम्हारी कोई शत्रुता है, जिससे तुम उन्हें युद्ध में ढकेल रहे हो ?”

सैनिकों को रोक कर वृद्ध मन्त्री बोला—“सैनिको ! स्वामी के प्रति द्रोह यह दूत नहीं अपितु तुम लोग कर रहे हो । पार्श्व की महिमा तुम लोग नहीं जानते, वह देवों, दानवों और मानवों के पूजनीय एवं महान् पराक्रमी हैं । इन्द्र भी उनकी शक्ति के सामने सिर झुकाते हैं, अतः सबका हित इसी में है कि पार्श्वनाथ की शरण स्वीकार कर लो ।”

मन्त्री की इस स्व-परहितकारिणी शिक्षा से यवनराज भी प्रभावित हुआ और पार्श्वनाथ का वास्तविक परिचय प्राप्त कर उनकी सेवा में पहुँचा । विशाल सेना से युक्त प्रभु के अद्भुत पराक्रम को देखकर उसने सविनय अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमा-वाचना की । पार्श्वनाथ ने भी उसको अभय कर विदा कर दिया ।

उसी समय कुशस्थल का राजा प्रसेनजित प्रभावती को लेकर पार्श्वकुमार के पास पहुँचा और बोला—“महाराज ! जिस प्रकार आपने हमारे नगर को पावन कर दुष्टों के आक्रमण से बचाया है, उसी प्रकार हमारी प्राणाधिका पुत्री प्रभावती का परिग्रहण कर हमें अनुगृहीत कीजिये ।”

इस पर पार्श्वनाथ बोले—“राजन् ! मैं पिता की आज्ञा से आपके नगर की रक्षा करने के लिये आया हूँ न कि आपकी कन्या के साथ विवाह करने, अतः इस विषय में वृथा आग्रह न करिये ।” यह कहकर पार्श्वनाथ अपनी सेना सहित वाराणसी की ओर चल पड़े ।

प्रसेनजित भी अपनी पुत्री प्रभावती सहित पार्श्वकुमार के साथ-साथ वाराणसी आये और महाराज अश्वसेन को सारी स्थिति से अवगत कराते हुए उन्होंने निवेदन किया—“आपकी छत्र-छाया में हम सबका सब तरह से कुशल-मंगल है, केवल एक ही चिन्ता है और वह भी आपकी दया से ही दूर होगी ।

१ ताताज्ञया त्रातुनेव, त्वामायाताः प्रसेनजित् ।

भवतः कन्यकामेतामुद्दोदुं न पुनर्वयम् ॥

[त्रिपष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग ३, श्लो. १८५]

मेरी एक प्रभावती नाम की कन्या है, मेरी आग्रहपूर्णा प्रार्थना है कि उसे पार्श्वकुमार के लिये स्वीकार किया जाय ।”

महाराज अश्वसेन ने कहा—“राजन् ! कुमार सर्वदा संसार से विरक्त रहता है, न मालूम कब क्या करले, फिर भी तुम्हारे आग्रह से इस समय बलात् भी कुमार का विवाह करा दूंगा ।”

तदनन्तर महाराज अश्वसेन प्रसेनजित के साथ पार्श्वकुमार के पास आये और बोले—“कुमार ! प्रसेनजित की सर्वगुणसम्पन्ना पुत्री प्रभावती से विवाह कर लो ।”

पिता के वचन सुनकर पार्श्वकुमार बोले—“तात ! मैं मूल से ही अपरिग्रही हो संसारसागर को पार करूंगा, अतः संसार चलाने हेतु इस कन्या से विवाह कैसे करूँ ?”

महाराज अश्वसेन ने आग्रह भरे स्वर में कहा—“तुम्हारी ऐसी भावना है तो समझ लो कि तुमने संसारसागर पार कर ही लिया । वत्स ! एक बार हमारा मनोरथ पूर्ण करदो, फिर विवाहित होकर समय पर तुम आत्म-साधन कर लेना ।”

अंत में पिता के आग्रह को टालने में असमर्थ पार्श्वकुमार ने भोग्य कर्मों का क्षय करने हेतु पितृ-वचन स्वीकार किया और प्रभावती के साथ विवाह कर लिया ।<sup>२</sup>

### भगवान् पार्श्व के विवाह के विषय में आचार्यों का मतभेद

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र और चउपन्न महापुरिस चरियं में पार्श्व के विवाह का जिस प्रकार वर्णन मिलता है, उस प्रकार का वर्णन तिलोयपन्नत्ती, पञ्चचरित्र, उत्तरपुराण, महापुराण और वादोराजकृत पार्श्व चरित में नहीं मिलता । देवभद्र कृत पाननाह चरियं और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में यवन के आत्मसमर्पण के पश्चात् विवाह का वर्णन है, किन्तु पञ्चकीर्ति ने विवाह का प्रसंग उठाकर भी विवाह होने का प्रसंग नहीं दिया है । वहां पर यवनराज के साथ पार्श्व के युद्ध का विस्तृत वर्णन है ।

१ संसारोऽपि त्वयोत्तीर्ण, एव यस्येदं मनः ।

कृतोद्वाहोऽपि तज्जात, समये स्वार्थमाचरे ॥२०६॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, स० ३]

२ इत्थं पितृवचः पार्श्वोऽप्युल्लंघयितुमनीश्वरः ।

भोग्यं कर्म क्षपयितुमुदुवाह प्रभावतीम् ॥२१०॥

[वही]

मूल आगम समवयांग और कल्पसूत्र में विवाह का वर्णन नहीं है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के कुछ प्रमुख ग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता है कि वासुपूज्य, मल्ली, नेमि, पार्श्व और महावीर तीर्थंकर कुमार अवस्था में दीक्षित हुए और उन्नीस (१६) तीर्थंकरों ने राज्य किया। इसी आधार पर दिगम्बर परम्परा उन्हें अविवाहित मानती है। श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों का मन्तव्य है कि कुमारकाल का अभिप्राय यहां युवराज अवस्था से है। जैसा कि शब्दरत्न-कोष और वैजयन्ती में भी कुमार का अर्थ युवराज किया है।<sup>१</sup>

पार्श्व को विवाहित मानने वालों की दृष्टि में वे पिता के आग्रह से विवाह करने पर भी भोग-जीवन से अलिप्त रहे और तरुण एवं समर्थ होकर भी उन्होंने राज्यपद स्वीकार नहीं किया। इसी कारण उन्हें कुमार कहा गया है। किन्तु दूसरे आचार्यों की दृष्टि में वे अविवाहित रहने के कारण कुमार कहे गये हैं। यही मतभेद का मूल कारण है।

### नाग का उद्धार

लोकानुरोध से पार्श्वनाथ ने प्रभावती के साथ वन, उद्यान आदि की क्रीड़ा में कितने ही दिन बिताये।<sup>२</sup>

एक दिन प्रभु पार्श्वनाथ राजभवन के भरोखे में बैठे हुए कुतूहल से वाराणसी पुरी की छटा निहार रहे थे। उस समय उन्होंने सहस्रों नर-नारियों को पत्र, पुष्पादि के रूप में अर्चा की सामग्री लिये बड़ी उमंग से नगर के बाहर जाते देखा।

जब उन्होंने इस विषय में अनुचर से जिज्ञासा की तो ज्ञात हुआ कि नगर के उपवन में कमठ नाम के एक बहुत बड़े तापस आये हुए हैं। वे बड़े तपस्वी हैं और सदा पंचाग्नि-तप करते हैं। यह मानव-समुदाय उन्हीं की सेवा-पूजा के लिये जा रहा है।

अनुचर की बात सुनकर कुमार भी कुतूहलवश तापस को देखने चल पड़े। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि तापस धूनी लगाये पंचाग्नि-तप तप रहा है। उसके चारों ओर अग्नि जल रही है और मस्तक पर सूर्य तप रहा है। भुण्ड के

१ कुमारो युवराजोऽश्वनाहके बालके शुके ।

—शब्दरत्न समन्वय कोष, पृ० २६८

कुमारस्स्याद्रहे बाले वरणेऽश्वानुचारके ॥२८॥

युवराजे च....

—वैजयन्ती कोष, पृ० २५६

२ जनोपरोधादुद्यानक्रीडा शैलादिवु प्रभुः ।

रत्नमाणस्तया सार्धं, वासरानत्यवाहयत् ॥२११॥

[त्रिषष्टि श० पु०, च०, पर्व ६, स० ३]

भुण्ड भक्त लोग जाते हैं और विभूति का प्रसाद लेकर अपने आपको धन्य और कृतकृत्य मानते हैं। तपस्वी के सिर की फँली हुई लम्बी जटाओं के बीच लाल-लाल आँखें डरावनी-सी प्रतीत हो रही थीं।

पार्श्वकुमार ने अपने अविधिज्ञान से जाना कि धूनी में जो लक्कड़ पड़ा है, उसमें एक बड़ा नाग (उत्तरपुराण के अनुसार नाग-नागिन का जोड़ा) जल रहा है।<sup>१</sup> उसके जलने की घोर आशंका से कुमार का हृदय दयावश द्रवित हो गया। वे मन ही मन सोचने लगे—“अहो! कैसा अज्ञान है, तप में भी दया नहीं।”

पार्श्वकुमार ने कमठ से कहा—“धर्म का मूल दया है, वह आग के जलाने में किस तरह संभव हो सकती है? क्योंकि अग्नि प्रज्वलित करने से सब प्रकार के जीवों का विनाश होता है।<sup>२</sup> अहो! यह कैसा धर्म है, जिसमें कि धर्म की मूल दया ही नहीं? बिना जल के नदी की तरह दया-शून्य धर्म निस्सार है।”

पार्श्वकुमार की बात सुनकर तापस आग-बबूला हो उठा—“कुमार! तुम धर्म के विषय में क्या जानते हो? तुम्हारा काम हाथी-घोड़ों से मनोविनोद करना है। धर्म का मर्म तो हम मुनि लोग ही जानते हैं। इतनी बढ़कर बात करते हो तो क्या इस धूनी में कोई जलता हुआ जीव बता सकते हो?”

यह सुनकर राजकुमार ने सेवकों को अग्निकुण्ड में से लक्कड़ निकालने की आज्ञा दी। लक्कड़ आग से बाहर निकालकर सावधानीपूर्वक चीरा गया तो उसमें से जलता हुआ एक साँप बाहर निकला। भगवान् ने सर्प को पीड़ा से तड़पते हुए देखकर सेवक से नवकार मन्त्र सुनवाया और पञ्चक्लाण दिलाकर उसे आर्त-रौरूप दुर्घर्ष के बचाया। शुभ भाव से आयु पूर्ण कर नाग भी नाग

१ (क) तरथ पुलइयो ईसीसि ड्ज्जमाणो एको महाणाणो ।

तओ भयवयाणियवपुरिसवयणेण दवाविओ से पंचराणोक्कारो पञ्चक्लाणं च ॥

[चउपन्न म० पु० चरियं, पृ० २६२]

(ख) नागी नागश्च तच्छेदाद्, द्विधा खण्डमुपागती ॥

[उत्तरपुराण, पर्व ७३, श्लोक १०३]

(ग) सुमहानुरगस्तस्माद् सहसा निर्जगाम च ॥२२४॥

[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, पर्व ६, सर्ग ३]

२ (क) धम्मस्स दयामूलं, सा पुण पञ्जालणे कहुं सिहियो ।

[सिरि पासनाह चरिउं, ३ । १६६]



जाति के भवन वासी देवों में धरणेन्द्र नाम का इन्द्र हुआ ।<sup>१</sup>

इस तरह प्रभु की कृपा से नाग का उद्धार हो गया । पार्श्वकुमार के ज्ञान और विवेक की सब लोग मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगे ।

इस तापस की प्रतिष्ठा कम होगई और लोग उसे धिक्कारने लगे । तापस मन ही मन पार्श्वकुमार पर बहुत जलने लगा पर कुछ कर न सका । अन्त में अज्ञान-तप से आयु पूर्ण कर वह असुर-कुमारों में मेघमाली नाम का देव हुआ ।

### वैराग्य और मुनि-दीक्षा

तीर्थंकर स्वयंबुद्ध (स्वतः बोधप्राप्त) होते हैं, इस बात को जानते हुए भी कुछ आचार्यों ने पार्श्वनाथ के चरित्र का चित्रण करते हुए उनके वैराग्य में बाह्य कारणों का उल्लेख किया है । जैसे 'चउपन महापुरुष चरियं' के कर्ता आचार्य शीलांक, 'सिरि पास नाह चरियं' के रचयिता, देव भद्र सूरि और 'पार्श्व-चरित्र' के लेखक भावदेव तथा हेम विजयगरिण ने भित्तिचित्रों को देखने से वैराग्य होना बतलाया है । इनके अनुसार उद्यान में घूमने गये हुए पार्श्व-कुमार को नेमिनाथ के भित्तिचित्र देखने से वैराग्य उत्पन्न हुआ । उत्तरपुराण के अनुसार नाग-उद्धार की घटना वैराग्य का कारण नहीं होती, क्योंकि उस समय पार्श्वकुमार सोलह वर्ष से कुछ अधिक वय के थे । जब पार्श्वकुमार तीस वर्ष की आयु प्राप्त कर चुके तब अयोध्या के भूपति जयसेन ने उनके पास दूत के माध्यम से एक भेंट भेजी । जब पार्श्वकुमार ने अयोध्या की विभूति के लिए पूछा तो दूत ने पहले आदिनाथ का परिचय दिया और फिर अयोध्या के अन्य समाचार बतलाये । ऋषभदेव के त्याग-तपोमय जीवन की बात सुनकर पार्श्व को जाति-स्मरण हो आया । यही वैराग्य का कारण बताया गया है, किन्तु पद्मकीर्ति के अनुसार नाग की घटना इकतीसवें वर्ष में हुई और यही पार्श्व के वैराग्य का मुख्य कारण बनी । महापुराण में पुष्पदन्त ने भी नाग की मृत्यु को पार्श्व के वैराग्यभाव का कारण माना है ।

१ तत्रेषहृह्यमानस्य, महाहेर्भगवान्नुभिः ।

अदापयन् नमस्कारान्, प्रत्याख्यानं च तत्क्षणम् ॥२२५॥

नागः समाहितः सोऽपि, तत्प्रतीयेष शुद्धधीः ।

वीक्ष्यमासो भगवता, कृपामधुरया दृशा ॥२२६॥

नमस्कारप्रभावेण, स्वामिनो दर्शनेन च ।

विपद्य धरसो नाम, नागराजो बभूव सः ॥२२७॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग ३]

२ शास्त्र में तीर्थंकर के जन्मतः ३ बतलाये हैं । फिर जातिस्मरण का क्या उपयोग ?

किन्तु आचार्य हेमचन्द्र और वादिराज ने पार्श्व की वैराग्योत्पत्ति में बाह्य कारण को निमित्त न मानकर स्वभावतः ज्ञान भाव से विरक्त होना माना है।

शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर भी वही पक्ष समीचीन और युक्ति-संगत प्रतीत होता है। शास्त्र में लोकान्तिक देवों द्वारा तीर्थंकरों से निवेदन करने का उल्लेख आता है, वह भी केवल मर्यादा-रूप ही माना गया है, कारण कि संसार में बोध पाने वालों की तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं—(१) स्वयंबुद्ध, (२) प्रत्येक बुद्ध और (३) बुद्धबोधित। इनमें तीर्थंकरों को स्वयंबुद्ध कहा है—वे किसी गुरु आदि से बोध पाकर विरक्त नहीं होते। किसी एक बाह्यनिमित्त को पाकर बोध पाने वाले प्रत्येक बुद्ध और ज्ञानवान् गुरु से बोध पाने वाले को बुद्ध-बोधित कहते हैं। तीन ज्ञान के धनी होने से तीर्थंकर स्वयंबुद्ध होते हैं, अतः इनका बाह्यकारण-सापेक्ष वैराग्य मानना ठीक नहीं।

पार्श्वनाथ सहज-विरक्त थे। तीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहकर भी वे काम-भोग में आसक्त नहीं हुए।

भगवान् पार्श्व ने भोग्य कर्मों के फलभोगों को क्षीण समझ कर जिस समय संयम ग्रहण करने का संकल्प किया, उस समय लोकान्तिक देवों ने उपस्थित होकर प्रार्थना की—“भगवन् ! धर्मतीर्थ को प्रकट करें।” तदनुसार भगवान् पार्श्वनाथ वर्षभर स्वर्ण-मुद्राओं का दान कर पौष कृष्णा एकादशी को दिन के पूर्व भाग में देवों, असुरों और मानवों के साथ वाराणसी नगरी के मध्यभाग से निकले और आश्रमपद उद्यान में पहुँच कर अशोक वृक्ष के नीचे विशाला शिविका से उतरे। वहाँ भगवान् ने अपने ही हाथों आभूषणादि उतार कर पंचमूषटि लोच किया और तीन दिन के निर्जल उपवास अर्थात् अष्टम-तप से विशाखा नक्षत्र में तीन सौ पुरुषों के साथ गृहवास से निकलकर सर्वसावद्य-त्याग रूप अणुगार-धर्म स्वीकार किया। प्रभु को उसी समय चौथा मनः पर्यवजान हो गया।

### प्रथम पारणा

दीक्षा-ग्रहण के दूसरे दिन आश्रमपद उद्यान से विहार कर प्रभु कोपकटक सन्निवेश में पधारे। वहाँ धन्य नामक गृहस्थ के यहां आपने परमान्न-खीर से

१ इतश्च पार्श्वो भगवान्, कर्मभोगफलं तिजम् ।

उपमुक्तं हरिजाय, प्रत्रय्यायां दधौ मनः ॥२३१॥

भावशा इव तत्कालमेत्य लोकान्तिकामराः ।

पार्श्वं विज्ञापयामासुर्नाथ तीर्थं प्रवर्तय ॥२३२॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व, ६ सर्ग ३]

अष्टमत्प का पारणा किया। देवों ने पंच-दिश्यों की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की। आचार्य गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' में गुल्मखेट नगर के राजा धन्य' के यहां अष्टम-त्प का पारणा होना लिखा है। पद्मकीर्ति ने अष्टम-त्प के स्थान पर आठ उपवास से दीक्षित होना लिखा है, जो विचारणीय है।

### अभिग्रह

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भगवान् ने यह अभिग्रह किया "तिरासी (८३) दिन का छद्मस्थ-काल का मेरा साधना-समय है, उसे पूरे समय में शरीर से ममत्व हटा कर मैं पूर्ण समाधिस्थ रहूंगा। इस अवधि में देव, मनुष्य और पशु-पक्षियों द्वारा जो भी उपसर्ग उपस्थित किये जायेंगे, उनको मैं अविचल भाव से सहन करता रहूंगा।"

### म० पाशर्वनाथ की साधना और उपसर्ग

वाराणसी से विहार करते हुए उपर्युक्त अभिग्रहानुसार भगवान् शिव-पुरी नगर पधारे और कौशाम्बवन में ध्यानस्थ हो खड़े हो गये।<sup>१</sup> वहां पूर्वभव को स्मरण कर धरणेन्द्र आया और धूप से रक्षा करने के लिये उसने भगवान् पर छत्र कर दिया।<sup>२</sup> कहते हैं उसी समय से उस स्थान का नाम 'अहिच्छत्र' प्रसिद्ध हो गया।

फिर विहार करते हुए प्रभु एक नगर के पास तापसाश्रम पहुँचे और सायंकाल हो जाने के कारण वहाँ एक वटवृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग कर खड़े हो गये।

सहसा कमठ के जीव ने, जो मेघमाली असुर बना था, अपने ज्ञान से प्रभु को ध्यानस्थ खड़े देखा तो पूर्वभव के वैर की स्मृति से वह भगवान् पर बड़ा क्रुद्ध हुआ। वह तत्काल सिंह, चीता, मत्त हाथी, आशुविष वाला बिच्छू और साँप आदि के रूप बनाकर भगवान् को अनेक प्रकार के कष्ट देने लगा। तदनन्तर उसने बीभत्स वैताल का रूप धारण कर प्रभु को अनेक प्रकार से

१ गुल्मखेटपुरं कायस्थित्यर्थं समुपेयिवान् ॥१३२॥

तत्र धनास्य भूपालः श्यामवर्णोऽष्ट मंगलैः

प्रतिशुद्धाज्ञनं शुद्धं, दत्वापत्तिक्रयोचितम् ॥१३३॥

[उत्तरपुराण, पर्व ७३]

२ सिन्नयरीए बहिया, कोसंबवले द्विषो य पड़िमाए

[पासनाह चरियं, ३, पृ० १८७]

३ .....पहुणो उवरि धरइ छत्त ।

[वी पृ० १८८]

डराने-धमकाने का प्रयास किया, परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ पर्वतराज की तरह अडोल एवं निर्भय भाव से सब कुछ सहते रहे ।

मेघमाली अपनी इन करतूतों की विफलता से और अधिक क्रुद्ध हुआ । उसने वैक्रिय-लब्धि की शक्ति से घनघोर मेघघटा की रचना की । भयंकर गर्जन और विद्युत् की कड़कड़ाहट के साथ मूसलधार वर्षा होने लगी । दनादन ओले गिरने लगे, वन्य-जीव भय के मारे त्रस्त हो इधर-उधर भागने लगे । देखते ही देखते सारा वन-प्रदेश जलमय हो गया । प्रभु पार्श्व के चारों ओर पानी भर गया और वह चढ़ते-चढ़ते घुटनों, कमर और गर्दन तक पहुँच गया । नासाय तक पानी आ जाने पर भी भगवान् काध्यानभंग नहीं हुआ ।<sup>१</sup> जबकि थोड़ी ही देर में भगवान् का सारा शरीर पानी में डूबने ही वाला था, तब धरणेन्द्र का आसन कम्पित हुआ ।<sup>२</sup> उसने अवधिज्ञान से देखा तो, पता चला—“मेरे परम उपकारी भगवान् पार्श्वनाथ इस समय घोर कष्टों से घिरे हुए हैं ।” यह देख कर वह बहुत ही क्षुब्ध हुआ और पद्मावती, वैरोट्या आदि देवियों के साथ तत्काल दौड़कर प्रभु की सेवा में पहुँचा । धरणेन्द्र ने प्रभु को नमस्कार किया और उनके चरणों के नीचे दीर्घनाल युक्त कमल की रचना की एवं प्रभु के शरीर को सप्तफलों के छत्र<sup>३</sup> से अच्छी तरह ढक दिया । भगवान् देव-कृत उस कमलासन पर समाधिलीन राजहंस की तरह शोभा पा रहे थे ।

वीतराग भाव में पहुँचे भगवान् पार्श्वनाथ कमठासुर की उपसर्ग लीला और धरणेन्द्र की भक्ति, दोनों पर समदृष्टि रहे । उनके हृदय में न तो कमठ के प्रति द्वेष था और न धरणेन्द्र के प्रति अनुराग । वे मेघमाली के उपसर्ग से किञ्चिन्मात्र भी क्षुब्ध नहीं हुए । इतने पर भी मेघमाली क्रोधवश वर्षा करता रहा तब धरणेन्द्र को अवश्य रोष आया और वह गरज कर बोला—“दुष्ट ! तू यह क्या कर रहा है ? उपकार के बदले अपकार का पाठ तूने कहाँ पढ़ा है ? जिन्होंने तुम्हें अज्ञानगर्त से निकाल कर समुज्ज्वल सुमार्ग का दर्शन कराया, उनके प्रति कृतघ्न होकर उनको ही उपसर्ग-पीड़ा से पीड़ित करने का प्रयास

१ अवगणियायासेसोवसग्गस्स य लग्गं नासियाविवरं जाव सलिलं ।

[चउवन्न म. पु. चरियं, पृ. २६७]

२ एत्थावसरम्मि य चलियमासणं धरणराइणो ।

[वही]

३ (क) सिरिपासणाह चरियं में सात फलों का छत्र करने का उल्लेख है । यथा—.....  
सप्तसंखफारफणाफल गमयं.....

(ख) चउवन्न महापुरिस चरियं में सहस्रफल का उल्लेख है । यथा :-विरहयं  
भयवन्नो उवर्णि फणसहस्सायवत्तं ।

[पृ० २६७]

कर रहा है। तुम्हें नहीं मालूम कि ऐसी महान् आत्मा की अवज्ञा व अज्ञातना अग्नि को पैर से दबाने के समान दुःखप्रद है। इनका तो कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, किन्तु तेरा सर्वनाश हो जायगा। भगवान् तो दयालु हैं, पर मैं इस तरह सहन नहीं करूँगा।”

धरणेन्द्र की बात सुनकर मेघमाली भयभीत हुआ और प्रभु की अविचल शान्ति एवं धरणेन्द्र की भक्ति से प्रभावित होकर उसने अपनी माया तत्काल समेट ली। प्रभु के चरणों में सविनय क्षमा-याचना कर वह अपने स्थान को चला गया। धरणेन्द्र भी भक्ति-विभोर ही पार्श्व की सेवा-भक्ति कर वहाँ से अपने स्थान को चला गया।

उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर भगवान् अपनी अखण्ड साधना में रत रहे। इस तरह अनेक स्थलों का विचरण करते हुए प्रभु वाराणसी के बाहर आश्रमपद नामक उद्यान में पधारे और उन्होंने छद्मस्थकाल की तिरासी रातें पूर्ण की।

### केवलज्ञान

छद्मस्थ दशा की तिरासी रात्रियाँ<sup>१</sup> पूर्ण होने के पश्चात् चौरासीवें दिन प्रभु वाराणसी के निकट आश्रमपद उद्यान में घातकी वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े हो गये। अष्टम तप के साथ शुक्लध्यान के द्वितीय चरण में मोह कर्म का क्षय कर आपने सम्पूर्णा घातिक कर्मों पर विजय प्राप्त की और केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि की।<sup>२</sup> जिस समय आपको केवलज्ञान हुआ उस समय चैत्र कृष्ण। चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र में चन्द्र का योग था।

पद्मकीर्ति ने कमठ द्वारा उपस्थित किये गये उपसर्ग के समय प्रभु के केवलज्ञान होना माना है, जबकि अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने कुछ दिनों बाद तिलोपपण्णती ने चार मास के बाद केवली होना माना है, पर सबने केवलज्ञान प्राप्ति का दिन चैत्र कृष्ण। चतुर्थी और विशाखा नक्षत्र ही मान्य किया है।

भगवान् पार्श्वनाथ को केवलज्ञान की उपलब्धि होने की सूचना पाकर महाराज अश्वसेन वन्दन करने आये और देव-देवेन्द्रों ने भी हर्षित मन से आकर केवलज्ञान की महिमा प्रकट की। उस समय सारे संसार में क्षण भर के लिये प्रद्योत हो गया। देवों द्वारा समवसरण की रचना की गई।

### वेशना और संघ-स्थापना

केवलज्ञान की उपलब्धि के बाद भगवान् ने जगजीवों के हितार्थ धर्म-

१ दिगम्बर परम्परा में प्रभु का छद्मस्थकाल चार मास और उपसर्गकर्ता का नाम शंबर माना गया है। हेमचन्द्र ने 'दीक्षादिनादतिगतेषु तु दिनेषु चतुरशीति' ८४ दिन लिखा है।

—सम्पादक

२ कल्पसूत्र में छद्म तप का उल्लेख है।

उपदेश दिया। आपने प्रथम देशना में फरमाया—“मानवो! अनादिकालीन इस संसार में जड़ और चेतन ये दो ही मुख्य पदार्थ हैं। इनमें जड़ तो चेतनाशून्य होने के कारण केवल ज्ञातव्य है। उसका गुण-स्वभाव चेतन द्वारा ही प्रकट होता है। चेतन ही एक ऐसा द्रव्य है, जो ज्ञाता, द्रष्टा, कर्ता, भोक्ता, एवं प्रमाता हो सकता है। यह प्रत्येक के स्वानुभव से प्रत्यक्ष है। कर्म के सम्बन्ध में आत्म-चन्द्र की ज्ञान किरणों आवृत हो रही हैं, उनकी ज्ञान-वैराग्य की साधना से प्रकट करना ही मानव का प्रमुख धर्म है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र्य ही आवरण-मुक्ति का सच्चा मार्ग है, जो श्रुत और चारित्र्य धर्म के भेद से दो प्रकार का है। कर्मजन्य आवरण और बन्धन काटने का एकमात्र मार्ग धर्म-साधन है। बिना धर्म के जीवन शून्य व सारहीन है, अतः धर्म की आराधना करो।

चारित्र्य धर्म आगार और अनगार के भेद से दो प्रकार का है। चार महान् व्रत रूप अनगार-धर्म मुक्ति का अनन्तर कारण है और देश-विरति रूप आगार-धर्म परम्परा से मुक्ति दिलाने वाला है। शक्ति के अनुसार इनका आराधन कर परम तत्त्व की प्राप्ति करना ही मानव-जीवन का चरम और परम लक्ष्य है।

इस प्रकार त्याग-वैराग्यपूर्ण प्रभु की वासी मुन कर महाराज अश्वसेन विरक्त हुए और पुत्र को राज्य देकर स्वयं प्रव्रजित हो गये। महारानी वामा देवी, प्रभावती आदि कई नारियों ने भी भगवान् की देशना से प्रबुद्ध हो आर्हती-दीक्षा स्वीकार की। प्रभु के अोजपूर्ण उपदेश से प्रभावित हो कर शुभदत्त आदि वेदपाठी विद्वान् भी प्रभु की सेवा में दीक्षित हुए और पार्श्व प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान पाकर वे चतुर्दश पर्वों के ज्ञाता एवं गणधर पद के अधिकारी बन गये। इस प्रकार पार्श्वनाथ ने चतुर्विध संघ की स्थापना की और भावतीर्थकर कहलाये।

### पार्श्व के गणधर

समवायांग और कल्पसूत्र में पार्श्वनाथ के आठ गणधर बतलाये हैं<sup>१</sup> जबकि आवश्यक निर्युक्ति एवं तिलोपपत्र्ती आदि ग्रन्थों में दश गणधरों का उल्लेख है।<sup>२</sup> इस संख्याभेद के सम्बन्ध में कल्पसूत्र के टीकाकार उपाध्याय

१ पासस्स णं अरहसो पुरिसादाणीयस्स अट्ठगणा, अट्ठ गणहरा इत्था तंजहा:

सुभेय, अज्जघोसेय, बसिट्ठे बंधयारि य ।

सोमे सिरिहरे चैव, वीरभद्दे जसे विय ॥

२ आर्यदत्त, आर्यघोषो वशिष्ठो ब्रह्मनामकः ।

सोमश्च श्रीधरो वारिषेणो भद्रयशो जयः ॥

विजयश्चेति नामानो, दर्शते पुरुषोत्तमाः । पास. च. ५।४३।२८

श्री विनय विजय ने लिखा है कि दो गणधर अल्पायु वाले थे<sup>१</sup> अतः सूत्र में आठ का ही निर्देश किया गया है ।

केवलज्ञान की प्राप्ति के-पश्चात् जब भगवान् का प्रथम समवसरण हुआ, सहस्रों नर-नारियों ने प्रभु की त्याग-वैराग्यपूर्ण वाणी को श्रवण कर श्रमण-दीक्षा ग्रहण की । उनमें आर्य शुभदत्त आदि विद्वानों ने प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर चौदह पूर्व की रचना की और गणनायक-गणधर कहलाये ।

श्री पासनाह चरितं के अनुसार गणधरों का परिचय निम्न प्रकार है :—

(१) शुभदत्त—ये भगवान् पार्श्वनाथ के प्रथम गणधर थे । इनकी जन्मस्थली क्षेमपुरी नगरी थी । पिता का नाम धन्य एवं माता का नाम लीलावती था । सम्भूति मुनि के पास इन्होंने श्रावकधर्म ग्रहण किया और माता-पिता के परलोकवासी होने पर संसार से विरक्त होकर बाहर निकल गये और आश्रम-पद उद्यान में आये, जहां कि भगवान् पार्श्वनाथ का प्रथम समवसरण हुआ । भगवान् की देशना सुनकर उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की और वे प्रथम गणधर बन गये ।

(२) आर्य घोष—पार्श्वनाथ के दूसरे गणधर का नाम आर्य घोष था । ये राजगृह नगर के निवासी अमात्यपुत्र थे । जिस समय भगवान् को केवलज्ञान हुआ, वे अपने स्नेही साथियों के साथ वहां आये और दीक्षा लेकर गणधर पद के अधिकारी हो गये ।

(३) वशिष्ठ—भगवान् पार्श्वनाथ के तीसरे गणधर वशिष्ठ हुए । ये कम्पलपुर के अधीश्वर महाराज महेन्द्र के पुत्र थे । बाल्यावस्था से ही इनकी रुचि प्रव्रज्या ग्रहण करने की ओर रही । संयोग पाकर भगवान् पार्श्वनाथ के प्रथम समवसरण में उपस्थित हुए और वहीं संयम ग्रहण करके तीसरे गणधर बन गये ।

(४) आर्य ब्रह्म—भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे गणधर आर्यब्रह्म हुए । ये सुरपुर नगर के महाराजा कनककेतु के पुत्र थे । इनकी माता ज्ञान्तिमती थीं । भगवान् पार्श्वनाथ को केवलज्ञान होने पर ये भी अपने साथियों सहित वंदन करने उनके पास पहुँचे और देशना श्रवण कर प्रव्रजित हो गये ।

(५) सोम—भगवान् पार्श्वनाथ के पाँचवें गणधर सोम थे । क्षिति-प्रतिष्ठित नगर के महाराजा महीधर के ये पुत्र थे । इनकी माता का नाम रेवती

१ डी अल्पायुष्कत्वादि कारणाश्रोक्तौ इति टिप्पणके व्याख्यातम् ।

[कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृष्ठ ३८१]

था। युवावस्था प्राप्त होने पर "चम्पकमाला" नाम की कन्या के साथ इनका पाणिग्रहण हुआ। इनके हरिशेखर नाम का पुत्र हुआ, जो चार वर्ष की उम्र में ही निधन को प्राप्त हो गया। पुत्र की मृत्यु एवं पत्नी चम्पकमाला की लम्बी रूग्णता तथा निधन-लीला से इनको संसार से विरक्ति हो गई और भगवान् पार्श्वनाथ के प्रवचन से प्रभावित होकर संयममार्ग में प्रव्रजित हो गये।

(६) आर्य श्रीधर—भगवान् पार्श्वनाथ के छठे गणधर आर्य श्रीधर हुए। इनके पिता का नाम नागबल एवं माता का महासुन्दरी था। युवावस्था प्राप्त होने पर महाराजा प्रसेनजित की पुत्री राजमती के साथ इनका पाणिग्रहण हुआ। सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए उनको किसी दिन एक श्रेष्ठपुत्र के द्वारा पूर्वजन्म की भगिनी के समाचार सुनाये गये। समाचार सुनकर इनको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और संसार से विरक्ति हो गई। एक दिन वे अपने माता-पिता से दीक्षा की अनुमति देने का आग्रह कर रहे थे कि सहसा अन्तःपुर में कोलाहल मच गया। उन्हें अपने छोटे भाई के असमय में ही आकस्मिक निधन का समाचार मिला। इससे इनकी वैराग्यभावना और प्रबल हो गई। भगवान् पार्श्वनाथ का संयोग पाकर ये भी दीक्षित हो गये।

(७) वारिसेन—ये भगवान् के सातवें गणधर थे। ये विदेह राज्य की राजधानी मिथिला के निवासी थे। इनके पिता का नाम नमिराजा तथा माता का यशोधरा था। पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण वारिसेन प्रारम्भ से ही संसार से विरक्त थे। उनके अन्तर्मन में प्रव्रज्या ग्रहण करने की प्रबल इच्छा जागृत हो रही थी। माता-पिता की आज्ञा ग्रहण कर वे अपने साथी राजपुत्रों के साथ भगवान् पार्श्वनाथ के समवसरण में पहुँचे। वहाँ उनकी वीतरागता भरी देशना श्रवण की और प्रव्रज्या ग्रहण कर गणधर बन गये।

(८) भद्रयश—भगवान् के आठवें गणधर भद्रयश हुए। इनके पिता का नाम समरसिंह और माता का पद्मा था। किसी तरह मत्तकुंज नामक उद्यान में गये। वहाँ उन्होंने एक व्यक्ति को नुकीली कीलों से वेष्टित देखा। करुणा से द्रवित होकर उन्होंने उसकी वे नुकीली कीलों शरीर से निकालीं और जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उनके भाई ने ही पूर्वजन्म के वैर के कारण उसकी यह दशा की है तो उनको संसार की इस स्वार्थपरता के कारण विरक्ति हो गई। वे अपने कई साथियों के साथ भगवान् पार्श्वनाथ की सेवा में दीक्षित होकर गणधर पद के अधिकारी बने।

(९), (१०) जय एवं विजय—इसी तरह जय एवं विजय क्रमशः भगवान् के नवें एवं दसवें गणधर के रूप में विख्यात हुए। ये दोनों श्रावस्ती नगरी के रहने वाले सहोदर थे। इनमें परस्पर अत्यन्त स्नेह था। एक बार



उन्होंने स्वप्न देखा कि उनका आयुष्य अत्यल्प है। इससे विरक्त होकर दोनों भाई प्रव्रज्या ग्रहण करने हेतु भगवान् पार्श्वनाथ की सेवा में पहुंचे और दीक्षित होकर गणधर पद के अधिकारी बने।

### पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म

भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म को चातुर्याम धर्म भी कहते हैं। तत्कालीन ऋजू एवं प्राज्ञजनों को लक्ष्य कर पार्श्वनाथ ने जिस चारित्र्य-धर्म की दीक्षा दी, वह चातुर्याम—चार व्रत के रूप में थी। यथा :—(१) सर्वथा प्राणतिपात विरमण-हिंसा का त्याग, (२) सर्वथा मृषावाद विरमण—असत्य का त्याग, (३) सर्वथा भद्रतादान विरमण—चौर्य-त्याग और (४) सर्वथा बहिद्धादान विरमण अर्थात् परिग्रह-त्याग। इस प्रकार पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म को आत्म-साधना का पुनीत मार्ग बतलाया।

यम का अर्थ दमन करना कहा गया है। चार प्रकार से आत्मा का दमन करना, अर्थात् उसे नियन्त्रित रखना ही चातुर्याम धर्म का मर्म है। इसमें हिंसा आदि चार पापों की विरति होती है। इन चारों में ब्रह्मचर्य का पृथक् स्थान नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा में ब्रह्मचर्य उपेक्षित था अथवा ब्रह्मचर्य की साधना कोई गौण मानी गई हो। ब्रह्मचर्य-पालन भी और व्रतों की तरह परम प्रधान और अनिवार्य था, किन्तु पार्श्वनाथ के संत विज्ञ थे, अतः वे स्त्री को भी परिग्रह के अन्तर्गत समझकर बहिद्धादान में ही स्त्री और परिग्रह दोनों का अन्तर्भाव कर लेते थे। क्योंकि बहिद्धादान का अर्थ बाह्य वस्तु का आदान होता है। अतः धन-धान्य आदि की तरह स्त्री भी बाह्य वस्तु होने से दोनों का बहिद्धादान में अन्तर्भाव माना गया है।

कुछ लेखक चातुर्याम धर्म का उद्गम वेदों एवं उपनिषदों से बतलाते हैं पर वास्तव में चातुर्याम धर्म का उद्गम वेदों या उपनिषदों से बहुत पहले श्रमण संस्कृति में हो चुका था। इतिहास के विद्वान् धर्मानन्द कौशाम्बी ने भी इस बात को मान्य किया है। उनके अनुसार चातुर्याम का मूल पहले के ऋषि-मुनियों का तपोधर्म माना गया है। वे ऋषि-मुनि संसार के दुःखों और मनुष्य-मनुष्य के बीच होने वाले असद्व्यवहार से ऊबकर श्रमण्य में चले जाते एवं चार प्रकार की तपश्चर्या करते थे। उनमें से एक तप अहिंसा या दया का होता था। पानी की एक बूंद को भी कष्ट न देने की साधना आखिर तपश्चर्या नहीं तो और क्या थी? उन पर असत्य बोलने का अभियोग लग ही नहीं सकता था, क्योंकि वे जनशून्य श्रमण्य में एकान्त, शान्त स्थान में निवास करते तथा फल-मूलों द्वारा जीवन निर्वाह करते थे। चोरी के लिये भी उन्हें न तो कोई आवश्यकता थी और न निकट सम्पर्क में चित्ताकर्षक परकीय सामग्री थी। अतः वे जगत् में रहकर भी

एक तरह से संसार से अलिप्त थे। वे या तो नग्न रहते थे या फिर इच्छा हुई तो वल्कल पहनते थे। इसलिये यह स्पष्ट है कि वे पूर्णरूपेण अपरिग्रह व्रत का पालन करते थे, परन्तु इन यामों का वे प्रचार नहीं करते थे, अतः ब्राह्मणों के साथ उनका विवाद कभी नहीं हुआ। परन्तु पार्श्व ने मधुकरी अंगीकार कर लोगों को इसकी शिक्षा दी, जिससे ब्राह्मणों के यज्ञ अप्रिय होने लगे।<sup>१</sup>

ब्राह्मण-संस्कृति में अहिंसादि व्रतों का मूल नहीं है, क्योंकि वैदिक परम्परा में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की प्रधानता है। संन्यास परम्परा का वहाँ कोई प्रमुख स्थान नहीं है। अतः विशुद्ध अद्वैत पर आधारित संन्यास-परम्परा, श्रवण-परम्परा की ही देन हो सकती है। आज वैदिक परम्परा के पुराणों, स्मृतियों तथा उपनिषदों में जो व्रतों एवं महाव्रतों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं, वे सभी भगवान् पार्श्वनाथ के उत्तरकालीन हैं। इसलिये पूर्वकालीन व्रत-व्यवस्था को उत्तरकाल से प्रभावित कहना उचित नहीं। डॉ० हरमन जेकोबी ने भ्रातिवश इनका स्रोत ब्राह्मण-संस्कृति को माना है, संभव है उन्होंने बोधायन के आधार पर ऐसी कल्पना की है।

### विहार और धर्म प्रचार

केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ कहीं-कहीं विचर और किस वर्ष किस नगर में चातुर्मास किया, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता फिर भी सामान्य रूप से उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर समझा जाता है कि महावीर की तरह भगवान् पार्श्वनाथ का भी सुदूर प्रदेशों में विहार एवं धर्म प्रचार हुआ हो। काशी-कोशल से नेपाल तक प्रभु का विहार-क्षेत्र रहा है। भक्त, राजा और उनकी कथाओं से यह मानना उचित प्रतीत होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने कुह, काशी, कोशल, अवनति, पौण्ड्र, मालव, अंग, बंग, कलिंग, पांचाल, मगध, विदर्भ, दक्षार्ण, सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, मेवाड़, लाट, द्राविड़, कच्छ, काश्मीर, शाक, पल्लव, वत्स और आभीर आदि विभिन्न क्षेत्रों में विहार किया।

दक्षिण कर्णाटक, कोंकण, पल्लव और द्रविड़ आदि उस समय अनाय क्षेत्र माने जाते थे। शाक भी अनाय देश था परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ व उनकी निकट परम्परा के श्रमण वहाँ पहुँचे थे। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका में है, वहाँ भी पार्श्व के अनुयायी थे।<sup>२</sup> महात्मा बुद्ध के काका स्वयं भगवान् पार्श्वनाथ के श्रावक थे, जो शाक्य देश में भगवान् का विहार होने से ही संभव हो सकता

१ "पार्श्वनाथ का चातुर्मास धर्म" धर्मनिन्द कौशाम्बी, पृ० १७-१८

२ सकलकीर्ति, पार्श्वनाथ चरित्र २३, १८-१९/१५/७६-८५

है। सिकन्दर महान् और चीनी यात्री फाहियान, ह्वेनत्सांग के समय में उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त एवं अफगानिस्तान में विशाल संख्या में जैन मुनियों के पाये जाने का उल्लेख मिलता है, वह तभी संभव हो सकता है, जबकि वह क्षेत्र भगवान् पार्श्वनाथ का विहारस्थल माना जाय।

सात सौ ई० में चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने तथा उसके भी पूर्व सिकन्दर ने मध्य एशिया के "कियारिशि" नगर में बहुसंख्यक निर्ग्रन्थ संतों को देखा था। अतः यह अनुमान से सिद्ध होता है कि मध्य एशिया के समरकन्द, बल्ल आदि नगरों में जैन धर्म उस समय प्रचलित था। आधुनिक खोज से यह प्रमाणित हो चुका है कि पार्श्वनाथ के धर्म का उपदेश सम्पूर्ण आर्यावर्त में व्याप्त था। पार्श्वनाथ एक बार ताम्रलिप्ति से चलकर कोपकटक पहुँचे थे और उनके वहाँ आहार ग्रहण करने ने वह धन्यकटक कहलाने लगा। आजकल वह "कोपारि" कहा जाता है। इन प्रदेशों में भगवान् पार्श्वनाथ की मान्यता आज भी बर्ना हुई है। बिहार के रांची और मानभूमि आदि जिलों में हजारों मनुष्य आज भी केवल पार्श्वनाथ की उपासना करते हैं और उन्हीं को अपना इष्टदेव मानते हैं। वे आज सराक (श्रावक) कहलाते हैं।

लगभग सत्तर (७०) वर्ष तक भगवान् पार्श्वनाथ ने देश-देशान्तर में विचरण किया और जैन धर्म का प्रचार किया।

### भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता

भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे, यह आज ऐतिहासिक तथ्यों से असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो चुका है। जैन साहित्य ही नहीं, बौद्ध साहित्य से भी भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता प्रमाणित है।

बौद्ध साहित्य के उल्लेखों के आधार पर बुद्ध से पहले निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रमाणित करते हुए डॉ० जेकोबी ने लिखा है—“यदि जैन और बौद्ध सम्प्रदाय एक से ही प्राचीन होते, जैसा कि बुद्ध और महावीर की समकालीनता तथा इन दोनों को इन दोनों सम्प्रदायों का संस्थापक मानने से अनुमान किया जाता है, तो हमें आशा करनी चाहिये कि दोनों ने ही अपने अपने साहित्य में अपने प्रतिद्वन्दी का अवश्य ही निर्देश किया होता, किन्तु बात ऐसी नहीं है। बौद्धों ने तो अपने साहित्य में, यहाँ तक कि त्रिपिटकों में भी, निर्ग्रन्थों का बहुतायत से उल्लेख किया है पर जैनों के ग्रामों में बौद्धों का कहीं उल्लेख नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध, निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय को एक प्रमुख सम्प्रदाय मानते थे, किन्तु निर्ग्रन्थों की धारणा इसके विपरीत थी और वे अपने प्रतिद्वन्दी

की उपेक्षा तक करते थे । इससे हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि बुद्ध के समय निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय कोई नवीन स्थापित सम्प्रदाय नहीं था । यही मत पिटकों का भी जान पड़ता है ।<sup>१</sup>

मज्झिम निकाय के महासिंहनाद सूत्र में बुद्ध ने अपनी कठोर तपस्या का वर्णन करते हुए तप के चार प्रकार बतलाये हैं, जो इस प्रकार हैं :—(१) तपस्विता, (२) रक्षता, (३) जुगुप्सा और (४) प्रुविविक्तता । इनका अर्थ है तपस्या करना, स्नान नहीं करना, जल की बूंद पर भी दया करना और एकान्त स्थान में रहना । ये चारों तप निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के होते थे । स्वयं भगवान् महावीर ने इनका पालन किया था और अन्य निर्ग्रन्थों के लिये इनका पालन आवश्यक था ।

बौद्ध साहित्य दीर्घ निकाय में अजातशत्रु द्वारा भगवान् महावीर और उनके शिष्यों को चातुर्याम-युक्त कहलाया है । यथा :—

“भंते ! मैं निगण्ठ नातपुत्र के पास भी गया और उनसे श्रामण्यफल के विषय में पूछा । उन्होंने चातुर्याम संवरद्वार बतलाया और कहा, निगण्ठ चार संवरों से युक्त होता है, यथा :—(१) वह जल का व्यवहार वर्जन करता है जिससे कि जल के जीव न मरें, (२) सभी पापों का वर्जन करता है, (३) पापों के वर्जन से धुत-पाप होता है और (४) सभी पापों के वर्जन से लाभ रहता है ।”

पर जैन साहित्य की दृष्टि से यह पूर्णतया सिद्ध है कि भगवान् महावीर की परम्परा पंचमहाव्रत रूप रही है, फिर भी उसे चातुर्याम रूप से कहना इस बात की ओर संकेत करता है, कि बौद्धभिक्षु पार्श्वनाथ की परम्परा से परिचित रहे हैं और उन्होंने महावीर के धर्म को भी उसी रूप में देखा है । हो सकता है बुद्ध और उनके अनुयायी विद्वानों को, श्रमण भगवान् महावीर की परम्परा में जो आन्तरिक परिवर्तन हुआ, उसका पता न चला हो । बुद्ध के पूर्व की यह चातुर्याम परम्परा भगवान् पार्श्वनाथ की ही देन थी । इससे यह प्रमाणित होता है कि बुद्ध पार्श्वनाथ के धर्म से परिचित थे ।<sup>२</sup>

बौद्ध वाङ्मय के प्रकांड पंडित धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा है<sup>३</sup> :— निर्ग्रन्थों के श्रावक ‘बप्प’ शाक्य के उल्लेख से स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थों का चातुर्याम धर्म शाक्य देश में प्रचलित था, परन्तु ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि उस देश में निर्ग्रन्थों का कोई आश्रम हो । इससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रन्थ

१ इण्डियन एन्टीक्वेरी, जिल्द ६, पृ० १६० ।

२ मज्झिम निकाय महासिंहनाद सुत्त, ६० ४८-५० ।

३ चातुर्याम (धर्मानन्द कौशाम्बी)

श्रमण बीच-बीच में शाक्य देश में जाकर अपने धर्म का उपदेश करते थे। शाक्यों में आलारकालाम के श्रावक अधिक थे, क्योंकि उनका आश्रम कपिलवस्तु नगर में ही था। आलार के समाधिमार्ग का अध्ययन गौतम बोधिसत्त्व ने बचपन में ही किया। फिर गृहत्याग करने पर वे प्रथमतः आलार के ही आश्रम में गये और उन्होंने योगमार्ग का आगे अध्ययन प्रारम्भ किया। आलार ने उन्हें समाधि की सात सीढ़ियां सिखाईं। फिर वे उद्रक रामपुत्र के पास गये और उससे समाधि की आठवीं सीढ़ी सीखी, परन्तु इतने ही से उन्हें संतोष नहीं हुआ, क्योंकि उस समाधि से मानव-मानव के बीच होने वाले विवाद का अन्त होना संभव नहीं था। तब बोधिसत्त्व "उद्रक रामपुत्र" का आश्रम छोड़कर राजगृह चले गये। वहाँ के श्रमण-सम्प्रदाय में उन्हें शायद निर्ग्रन्थों का चातुर्याम-संवर ही विशेष पसंद आया, क्योंकि आगे चलकर उन्होंने जिस आर्य अष्टांगिक मार्ग का प्रवर्तन किया, उसमें चातुर्याम का समावेश किया गया है।"

### भ० पार्श्वनाथ का धर्म-परिवार

पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ के संघ में निम्नलिखित धर्म-परिवार था :—

गरुधर एवं गरा	—शुभदत्त आदि आठ गरुधर और आठ ही गरा
केवली	—एक हजार [१,०००]
मनःपर्यवज्ञानी	—साढ़े सात सौ [७५०]
अवधिज्ञानी	—एक हजार चार सौ [१,४००]
चौदह पूर्वधारी	—साढ़े तीन सौ [३५०]
वादी	—छह सौ [६००]
अनुत्तरोपपातिक मुनि	—एक हजार दो सौ [१,२००]
साधु	—आर्यदिन्न आदि सोलह हजार [१६,०००]
साध्वी	—पुष्पचूला आदि अड़तीस हजार [३८,०००]
श्रावक	—सुनन्द आदि एक लाख चौसठ हजार [१,६४,०००]
श्राविका	—नन्दिनी आदि तीन लाख सत्ताईस हजार [३,२७,०००]"

१ कल्पसूत्र.....सूत्र १५७। (ख) ३ लाख ७७ हजार श्राविका [त्रि.श.पु.च. १।५।३१५]

भगवान् पार्श्वनाथ के शासन में एक हजार साधुओं और दो हजार साध्वियों ने सिद्धिलाभ किया। यह तो मात्र व्रतधारियों का ही परिवार है। इनके अतिरिक्त करोड़ों नर-नारी सम्यग्दृष्टि बनकर प्रभु के भक्त बने।

### परिनिर्वाण

कुछ कम सत्तर वर्ष तक केवलचर्या से विचर कर जब भगवान् पार्श्वनाथ ने अपना आयुकाल निकट समझा, तब वे वाराणसी से आमलकणा होकर सम्मैतशिखर पधारे और तेतीस साधुओं के साथ एक मास का अनशन कर उन्होंने शुक्लध्यान के तृतीय और चतुर्थ चरण का आरोहण किया। फिर प्रभु ने श्रावण शुक्ला अष्टमी को विशाखा नक्षत्र में चन्द्र का योग होने पर योग-मुद्रा में खड़े ध्यानस्थ आसन से वेदनीय आदि कर्मों का क्षय किया और वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

### श्रमण-परम्परा और पार्श्व

श्रमण-परम्परा भारतवर्ष की बहुत प्राचीन धार्मिक परम्परा है। मन और इन्द्रिय से तप करने वाले श्रमण कहलाते हैं। जैन आगमों एवं ग्रन्थों<sup>१</sup> में श्रमण पाँच प्रकार के बतलाये हैं, यथा—(१) निर्ग्रन्थ, (२) शाक्य, (३) तापस, (४) गेरुआ और (५) आजीवक। इनमें जैन श्रमणों को निर्ग्रन्थ श्रमण कहा गया है। सुगतशिष्य-बौद्धों को शाक्य और जटाधारी वनवासी पाखंडियों को तापस कहा गया है। गेरुए वस्त्र वाले त्रिदण्डी को गेरुक या परिव्राजक तथा गोशालकमती को आजीवक कहा गया है। ये पाँचों श्रमण रूप से लोक में प्रसिद्ध हुए हैं।

श्रमण परम्परा की नींव ऋषभदेव के समय में ही डाली गई थी, जिसका कि श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में भी उल्लेख है।<sup>२</sup> बृहदारण्यक उपनिषद् एवं वाल्मीकि रामायण में भी<sup>३</sup> श्रमण शब्द का प्रयोग हुआ है। त्रिपिटक साहित्य में भी “निर्ग्रन्थ” शब्द का स्थान-स्थान पर उल्लेख आया है। डॉ० हरमन जेकोवी ने त्रिपिटक साहित्य के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि बुद्ध के पूर्व निर्ग्रन्थ

१ निर्ग्रन्था, सक्क, तावस, गेरुय, आजीव पंचहा समणा।

तम्मिय निर्ग्रन्था ते, जे जिणसासणभवा मुणियाणे ॥३८॥

सक्काय सुगय सिस्सा, जे जडिला ते उ तावसा गीता।

जे घाउरत्तवत्था, तिदडिणो गेरुया तेज ॥३९॥

जे गोसालकमयमणुसरंति भन्नंति तेउ आजीवा।

समणत्तणोए सुवणो, पंच वि पत्ता पसिद्धिमिमे ॥४०॥ [प्रवचन मारोद्धार, द्वार ९४]

२ The Sacred book of the East Vol. XXII, Introduction page 24. Jacoby.

३ बालकाण्ड, सर्ग १४, श्लोक २२।

सम्प्रदाय विद्यमान था। “अंगुत्तर निकाय” में “बप्प” नाम के शाक्य को निर्ग्रन्थ श्रावक बतलाया है, जो कि महात्मा बुद्ध का चाचा था। इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध से पहले या उसके बाल्यकाल में शाक्य देश में निर्ग्रन्थ धर्म का प्रचार था। भगवान् महावीर बुद्ध के समकालीन थे। उनको निर्ग्रन्थ धर्म का प्रवर्तक मानना युक्तिसंगत नहीं लगता। अतः यह प्रमाणित होता है कि इनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ही श्रमण परम्परा के प्रवर्तक थे।

उपर्युक्त आधार से आधुनिक इतिहासकार पार्श्वनाथ को निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के प्रवर्तक मानते हैं। वास्तव में निर्ग्रन्थ धर्म का प्रवर्तन पार्श्वनाथ से भी पहले का है। पार्श्वनाथ को जैन धर्म का प्रवर्तक मानने का प्रतिवाद करते हुए डॉ० हर्मन जेकोबी ने लिखा है :—

“यह प्रमाणित करने के लिए कोई आधार नहीं है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे। जैन परम्परा ऋषभ को प्रथम तीर्थंकर (आदि-संस्थापक) मानने में सर्वसम्मति से एकमत है। इस पुष्ट परम्परा में कुछ ऐतिहासिकता भी हो सकती है, जो उन्हें (ऋषभ को) प्रथम तीर्थंकर मान्य करती है।”<sup>1</sup>

डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि जैन धर्म का अस्तित्व वर्द्धमान और पार्श्वनाथ से बहुत पहले भी था।<sup>2</sup>

### भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक प्रभाव

भगवान् पार्श्वनाथ की वाणी में कहरण, भङ्गुरता और शान्ति की त्रिवेणी एक साथ प्रवाहित होती थी। परिणामतः जन-जन के मन पर उनकी वाणी का मंगलकारी प्रभाव पड़ा, जिससे हजारों ही नहीं, लाखों लोग उनके अनन्य भक्त बन गये।

पार्श्वनाथ के कार्यकाल में तापस परम्परा का प्राबल्य था। लोग तप के नाम पर जो अज्ञान-कष्ट चला रहे थे, प्रभु के उपदेश से उसका प्रभाव कम पड़ गया। अधिक संख्या में लोगों ने आपके विवेकयुक्त तप से नवप्रेरणा प्राप्त की। आपके ज्ञान-वैराग्यपूर्ण उपदेश से तप का सही रूप निखर आया।

‘पिप्पलाद’ जो उस समय का एक मान्य वैदिक ऋषि था, उसके उपदेशों पर भी आपके उपदेश की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप से झलकती है।<sup>3</sup> उसका कहना

1 Indian Antiquary, Vol. IX, page 163 :

But there is nothing to prove that Parsva was a founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabh, the first Tirthankara, as the founder. There may be some Historical tradition, which makes him the first Tirthankara.

2 Indian Philosophy, Vol. I, Page 281. Radhakrishnan.

3 Cambridge History of India, part I, page 180.

था कि प्राण या चेतना जब शरीर से पृथक् हो जाती है, तब वह शरीर नष्ट हो जाता है। वह निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ के, 'पुद्गलमय शरीर से जीव के पृथक् होने पर विघटन' इस सिद्धान्त की अनुकृति है। 'पिप्पलाद' की नवीन दृष्टि से निकले हुए ईश्वरवाद से प्रमाणित होता है कि उनकी विचारधारा पर पार्श्व का स्पष्ट प्रभाव है।

प्रख्यात ब्राह्मण ऋषि 'भारद्वाज', जिनका अस्तित्व बौद्ध धर्म से पूर्व है, पार्श्वनाथ-काल में एक स्वतन्त्र मुण्डक संप्रदाय के नेता थे।<sup>१</sup> बौद्धों के अंगुत्तर निकाय में उनके मत की गणना मुण्डक श्रावक के नाम से की गई है।<sup>२</sup> जैन 'राजवार्त्तिक' ग्रन्थ में उन्हें क्रियावादी आस्तिक के रूप में बताया गया है।<sup>३</sup> मुण्डक मत के लोग वन में रहने वाले, पशु-यज्ञ करने वाले तापसों तथा गृहस्थ-विप्रों से अपने आपको पृथक् दिखाने के लिए सिर मुंडा कर भिक्षावृत्ति से अपना उदर-पोषण करते थे, किन्तु वेद से उनका विरोध नहीं था।<sup>४</sup> उनके इस मत पर पार्श्वनाथ के धर्मोपदेश का प्रभाव दिखाई देता है। यही कारण है कि एक विद्वान् ने उसकी परिगणना जैन सम्प्रदाय के अन्तर्गत की है, पर उनकी जैन सम्प्रदाय में परिगणना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती।

नचिकेता, जो कि उपनिषद्कालीन एक वैदिक ऋषि थे, उनके विचारों पर भी पार्श्वनाथ की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। वे भारद्वाज के समकालीन थे तथा ज्ञान-यज्ञ को मानते थे। उनकी मान्यता के मुख्य अंग थे :—इन्द्रिय-निग्रह, ध्यानवृद्धि, आत्मा के अनीश्वर स्वरूप का चिन्तन तथा शरीर और आत्मा का पृथक् बोध। इसी तरह प्रबुद्ध कात्यायन, जो कि महात्मा बुद्ध से पूर्व हुए थे तथा जाति से ब्राह्मण थे, उनकी विचारधारा पर भी पार्श्व के मन्तव्यों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे शीत जल में जीव मान कर उसके उपयोग को धर्मविरुद्ध मानते थे, जो पार्श्वनाथ की श्रमण-परम्परा से प्राप्त है। उनकी कुछ अन्य मान्यताएँ भी पार्श्वनाथ की मान्यताओं से मेल खाती हैं।

'अजितकेशकम्बल' भी पार्श्व-प्रभाव से अछूते दिखाई नहीं देते। यद्यपि उन्होंने पार्श्व के सिद्धान्त को विकृत रूप से प्रकट किया था, फिर भी वे वैदिक क्रियाकाण्ड के कट्टर विरोधी थे।

भारत की तो बात ही क्या, इससे बाहर के देशों पर भी पार्श्व के प्रभाव की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। ई. पू. ५८० में उत्पन्न यूनानी दार्शनिक

१ Bilongs of the Boudha, Part II, page 22.

२ वातरशनाह्वा.....

३ धर्मानुदर्शयितुकामो.....

४ बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।३।२२



पाण्ड्यगोरस, जो स्वयं महावीर और बुद्ध के समकालीन थे, जीवात्मा के पुनर्जन्म तथा कर्म-सिद्धान्त में विश्वास करते थे। इतना ही नहीं मांसप्रेमी जातियों को भी वे सभी प्रकार की हिंसा तथा मांसाहार से विरत रहने का उपदेश देते थे। यहाँ तक कि कतिपय वनस्पतियों को भी वे धार्मिक दृष्टि से अभक्ष्य मानते थे। वे पूर्वजन्म के वृत्तान्त को भी स्मृति से बताने का दावा करते थे और आत्मा की तुलना में देह को हेय और नश्वर समझते थे।

उपर्युक्त विचारों का बौद्ध और ब्राह्मण धर्म से कोई सादृश्य नहीं, जबकि जैन धर्म के साथ उनका अद्भुत सादृश्य है। ये मान्यताएँ उस काल में प्रचलित थीं, जबकि महावीर और बुद्ध अपने-अपने धर्मों का प्रचलन प्रारम्भ ही कर रहे थे। अतः पाण्ड्यगोरस आदि दार्शनिक पार्श्वनाथ के उपदेशों से किसी न किसी तरह प्रभावित रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

### बुद्ध पर पार्श्व-मत का प्रभाव

बुद्ध के जीवन-दर्शन से यह बात साफ भलकती है कि उन पर भगवान् पार्श्व के आचार-विचार का गहरा प्रभाव पड़ा था। शायद देश, जो कि नेपाल की उपत्यका में है और जहाँ कि बुद्ध का जन्म हुआ था, वहाँ पार्श्वानुयायी संतों का आना-जाना बना रहता था। और तो क्या, उनके राजघराने पर भी पार्श्व-की वाणी का स्पष्ट प्रभाव था। बुद्ध के चाचा भी पार्श्व-मतावलम्बी थे। इन सबसे सिद्ध होता है कि बचपन में बुद्ध के कोमल अन्तःकरण में संसार की असारता एवं त्याग-वैराग्य के जो अंकुर जमे, उनके बीज भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

गृह-त्याग के पश्चात् बुद्ध की चर्या पर जब दृष्टिपात करते हैं तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे ज्ञानार्जन के लिए विभिन्न स्थानों पर घूमते रहे, किन्तु उन्हें आत्मबोध या सच्ची शान्ति कहीं प्राप्त नहीं हुई। जब वे उदक-राम पुत्र का आश्रम छोड़ कर राजगृह आए तो वहाँ के निर्ग्रन्थ श्रमण सम्प्रदाय में उन्हें निर्ग्रन्थों का चातुर्याम संवर अत्यधिक पसन्द आया। क्योंकि आगे चल कर उन्होंने जिस आर्ये अष्टांगिक मार्ग का आविष्कार किया, उसमें चातुर्याम का समावेश किया गया है।<sup>१</sup>

आगे चल कर केवल चार यामों से ही काम चलने वाला नहीं, ऐसा जान कर उन्होंने उसमें समाधि एवं प्रज्ञा को भी जोड़ दिया। शीलस्कन्ध बुद्ध धर्म की नींव है। शील के बिना अध्यात्म-मार्ग में प्रगति पाना असम्भव है। पार्श्वनाथ

१ "पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म" पृ० २८।

के चातुर्याम का सन्निवेश शीलस्कन्ध में किया गया है और उस ही की रक्षा एवं अभिवृद्धि के लिए समाधि-प्रज्ञा की आवश्यकता है ।<sup>१</sup>

आकंखेय सुत्त (मज्झिम निकाय) पढ़ने से पता चलता है कि बुद्ध ने शील को कितना महत्त्व दिया है । अतः यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने पार्श्वनाथ के चारों यामों को पूर्णतया स्वीकार किया था । उन्होंने उन यामों में आलारकलाम की समाधि और अपनी खोजी हुई चार आर्य-सत्यरूपी प्रज्ञा को जोड़ दिया और उन यामों को तपश्चर्या एवं आत्मवाद से पृथक् कर दिया ।

बुद्ध ने तपश्चर्या का त्याग कर दिया, जो कि उन दिनों साधु वर्ग में अत्यधिक प्रचलित थी, अतः लोग उन्हें और उनके शिष्यों को विलासी (मौजी) कहते थे । इस सम्बन्ध में 'दीर्घनिकाय' के पासाटिक सुत्त में भगवान् बुद्ध चुन्द से कहते हैं—“अपन सब पर तपश्चर्या की कमी से आक्षेप रूप में आने वाले मौजों के बारे में तुम आक्षेप करने वाले लोगों से कहना—“हिंसा, स्तेय, असत्य और भोगोपभोग (काम सुखल्लिकानुयोग)—ये चार मौजें हीन-गंवार, पृथक्-जन-सेवित, अनार्य एवं अनर्थकारी हैं<sup>२</sup>—अर्थात् इनके विपरीत चातुर्याम पालन ही सच्ची तपस्या है और हम सब इस आर्य-सिद्धान्त को अच्छी तरह समझते और पालते हैं ।”

कहा जाता है कि बुद्ध के न सिर्फ विचारों पर ही जैन धर्म की छाप पड़ी थी बल्कि संन्यास धारण के बाद छः वर्षों तक जैन भ्रमण के रूप में उन्होंने जीवन व्यतीत किया था ।<sup>३</sup>

'दर्शनसार' के रचनाकार आचार्य देवसेन ने अपनी इस कृति में लिखा है कि श्री पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थ में सरयू नदी के तटवर्ती पलाश नामक नगर में पिहिताश्रव साधु का शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ जो बहुश्रुत या बड़ा भारी शास्त्रज्ञ था । परन्तु मछलियों का आहार करने से वह ग्रहण की हुई दीक्षा से भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर (लाल वस्त्र) धारण करके उसने एकान्त मत की प्रवृत्ति की—“फल, दही, दूध, शक्कर आदि के समान मांस में भी जीव नहीं है, अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करने में कोई पाप नहीं है । जिस प्रकार जल एक द्रव द्रव्य अर्थात् तरल या बहने वाला पदार्थ है, उसी प्रकार शराब है, वह त्याज्य नहीं है ।” इस प्रकार की घोषणा से उसने संसार में पाप-कर्म की परिपाटी चलाई । एक पाप करता है और दूसरा उसका फल भोगता

१ पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ० ३० ।

२ पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ० ३१ ।

३ जैन सूत्र (एस.बी.ई.), भाग १, पृ० ३६।४१ और रत्नकरण्डक भावकावतार १।१०

है, ऐसे सिद्धान्त की कल्पना कर लोगों को अपना अनुयायी बना कर वह मृत्यु को प्राप्त हुआ ।<sup>१</sup>

### पार्श्वभक्त राजन्यवर्ग

पार्श्वनाथ की वाणी का ऐसा प्रभाव था कि उससे बड़े-बड़े राजा महाराजा भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके । ब्राह्मण क्षत्रिय सब जैन धर्म के ही उपासक थे । पार्श्वनाथ के समय में कई ऐसे राज्य थे, जिनमें पार्श्वनाथ ही इष्टदेव माने जाते थे ।

डॉ० ज्योति प्रसाद के अनुसार उनके समय में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में अनेक प्रबल नाग-सत्ताएँ राजसत्तारों अथवा गणतन्त्रों के रूप में उदित हो चुकी थीं और उन लोगों के इष्टदेव पार्श्वनाथ ही रहे प्रतीत होते हैं । उनके अतिरिक्त मध्य एवं पूर्वी देशों के अधिकांश ब्राह्मण क्षत्रिय भी पार्श्व के उपासक थे । लिच्छवी आदि आठ कुलों में विभाजित वैशाली और विदेह के शक्तिशाली वज्जिगण में तो पार्श्व का धर्म ही लोकप्रिय धर्म था । कलिंग के शक्तिशाली राजा "करकंडु" जो कि एक ऐतिहासिक नरेश थे, तीर्थंकर पार्श्वनाथ के ही तीर्थ में उत्पन्न हुए थे और उस युग के उनके उपासक आदर्श नरेश थे । राजपाट का त्याग कर जैन मुनि के रूप में उन्होंने तपस्या की और सद्गति प्राप्त की, ऐसा उल्लेख है । इनके अतिरिक्त पांचाल नरेश दुर्मुख या द्विमुख, विदर्भ नरेश भीम और गान्धार नरेश नागजित् या नागाति भी तीर्थंकर पार्श्व के समसामयिक नरेश थे ।<sup>२</sup>

### भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य ज्योतिर्मण्डल में

निरयावलिका सूत्र के पुष्पिता नामक तृतीय वर्ग के प्रथम तथा द्वितीय

- १ सिरि पासणाहत्तिये, सरपूतीरे पलास एयरत्थो ।  
पिहियामवस्स भिस्सो महासुत्तो बुद्धकित्तिभुरी ॥६॥  
तिमिपूरणासरोहिं अहियय पवज्जाभो परिब्भट्ठो ।  
रत्तंबरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयं तं ॥७॥  
मंसस्स एत्थि जीवो जहा फले दहिय, बुद्ध, सक्करए ।  
तम्हा तं बंछित्ता तं भक्खंतो ए पाविट्ठो ॥८॥  
मज्जं ए वज्जणिज्जं दवदब्बं जह जलं तहा एदं ।  
इदिलोए घोसित्ता पवट्टियं सब्बसावज्जं ॥९॥  
अण्णो करेदि कम्मं अण्णो तं मुंजदीदि सिद्धं तं ।  
परिकप्पिऊणा सुण्णं बसिकिण्वा गारयमुववण्णो ॥१०॥ दर्शनसार ।
- २ भारतीय इतिहास में जैन धर्म का योगदान ।

अध्ययनों में क्रमशः ज्योतिषियों के इन्द्र, चन्द्र और सूर्य का तथा तृतीय अध्ययन में शुक्र महाग्रह का वर्णन है, जो इस प्रकार है :—

एक समय जब भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुराशिलक नामक उद्यान में पधारे हुए थे, उस समय ज्योतिष्यक का इन्द्र 'चन्द्र' भी प्रभुदर्शन के लिए समवसरण में उपस्थित हुआ। प्रभु को वन्दन करने के पश्चात् उसने प्रभु-भक्ति से आनन्दविभोर हो जिन-शासन की प्रभावना हेतु समवसरण में उपस्थित चतुर्विध-संघ एवं अपार जनसमूह के समक्ष अपनी वैक्रियशक्ति से अग्रणीत देव-देवी समूहों को प्रकट कर बड़े मनोहारी, अत्यन्त सुन्दर एवं अत्यद्भुत अनेक दृश्य प्रस्तुत किये। अलौकिक नटराज के रूप में चन्द्र द्वारा प्रदर्शित आश्चर्य-जनक दृश्यों को देख कर परिषद् चकित हो गई।

चन्द्र के अपने स्थान को लौट जाने के अनन्तर गौतम गणधर ने प्रभु से पूछा—“भगवन् ! ये चन्द्रदेव पूर्वजन्म में कौन थे ? इस प्रकार की श्रद्धा इन्हें किस कारण मिली है ?”

भगवान् महावीर ने फरमाया—“पूर्वकाल में श्रावस्ती नगरी का निवासी अंगति नाम का एक सुसमृद्ध, उदार, यशस्वी-राज्य-प्रजा एवं समाज द्वारा सम्मानित गाथापति था।”

“किसी समय भगवान् पार्श्वनाथ का श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में शुभा-गमन हुआ। विशाल जनसमूह के साथ अंगति गाथापति भी भगवान् पार्श्वनाथ के समवसरण में पहुँचा और प्रभु के उपदेशामृत से आप्यायित एवं संसार से विरक्त हो प्रभु की चरणशरण में श्रमण बन गया।”

“अंगति अणगार ने स्थविरों के पास एकादश अंगों का अध्ययन कर कठोर तपश्चरण किया। उसने अनेक चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश, मासाहं एवं मासक्षमण आदि उग्र तपस्याओं से अपनी आत्मा को भावित किया।”

“संयम के मूल गूणों का उसने पूर्ण रूपेण पालन किया पर कभी बयालीस दोषों में से किसी दोषसहित आहार-पानी का ग्रहण कर लेना, ईर्ष्या आदि समितियों की आराधना में कभी प्रमाद कर बैठना, अभिग्रह ग्रहण कर लेने पर उसका पूर्ण रूप से पालन न करना, शरीर चरण आदि का बार-बार प्रक्षालन करना इत्यादि संयम के उत्तर गुणों की विराधना के कारण अंगति अणगार विराधित-चरित्र वाला बन गया।”

“उसने संयम के उत्तर गुणों के अतिचारों की आलोचना नहीं की और अन्त में पन्द्रह दिन के संघारे से आयु पूर्ण होने पर वह अंगति अणगार

ज्योतिषियों का इन्द्र अर्थात् एक पत्योपम और एक लाख वर्ष की स्थिति वाला चन्द्रदेव बना। तप और संयम से प्रभाव से उन्हें यह ऋद्धि मिली है।”

गणधर गौतम ने पुनः प्रश्न किया—“भगवन् ! अपनी देव-आयु पूर्ण होने पर चन्द्र कहाँ जायेंगे ?”

भगवान् महावीर ने कहा—“गौतम ! यह चन्द्रदेव आयुष्यपूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होगा।”

इसी प्रकार उपर्युक्त सूत्र के द्वितीय अध्ययन में ज्योतिर्मण्डल के इन्द्र सूर्य और उनके पूर्वभव का वर्णन किया गया है कि राजगृह नगर के गुणशिलक चैत्य में भगवान् महावीर के पधारने पर सूर्य भी प्रभु के समवसरण में उपस्थित हुआ।

चन्द्र की तरह सूर्य ने भी प्रभु-वन्दन के पश्चात् परिपद् के समक्ष वैक्रिय-शक्ति के अद्भुत चमत्कार प्रदर्शित किये और अपने स्थान को लौट गया।

गौतम गणधर द्वारा सूर्य के पूर्वभव का वृत्तान्त पढ़ने पर भगवान् महावीर ने फरमाया कि श्रावस्ती नगरी का सुप्रतिष्ठ नामक गाथापति भी अंगति गाथापति के ही समान समृद्धिशाली, उदार, राज्य तथा प्रजा द्वारा सम्मानित एवं कीर्तिशाली था।

सुप्रतिष्ठ गाथापति भी भगवान् पार्श्वनाथ के श्रावस्ती-आगमन पर धर्म-देशना सुनने गया और संसार से विरक्त हो प्रभु-चरणों में दीक्षित हो गया। उसने भी अंगति की ही तरह उग्र तपस्याएँ की, संयम के मूल गुणों का पूर्ण-रूपेण पालन किया, संयम के उत्तरगुणों की निराधना की और अन्त में वह संयम के अतिचारों की आलोचना किये बिना ही संलेखनापूर्वक काल कर सूर्य-देव बना।

देवायुष्य पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म ग्रहण कर तप-संयम की साधना से सिद्धि प्राप्त करेगा।

### श्रमणोपासक सोमिल

निरयावलिका सूत्र के तृतीय वर्ग के तीसरे अध्ययन में शुक्र महाग्रह का निम्नलिखित कथानक दिया हुआ है—

“श्रमण भगवान् मद्रावीर एक बार राजगृह नगर के गुणशिलक उद्यान में पधारे। प्रभु के आगमन की सूचना पाकर नर-नारियों का विशाल समूह बड़े हर्षोल्लास के साथ भगवान् के समवसरण में पहुँचा।

उस समय शुक्र भी वहाँ आया और भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् उसने अपनी वैक्रियशक्ति से अग्रणीत देव उत्पन्न कर अनेक प्रकार के आश्चर्योत्पादक दृश्यों का धर्म परिषद् के समक्ष प्रदर्शन किया। तदनन्तर प्रभु को भक्तिभाव से वन्दन-नमन कर अपने स्थान को लौट गया।”

गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर में शुक्र का पूर्वभव बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा—“भगवान् पार्श्वनाथ के समय में वाराणसी नगरी में वेद-वेदांग का पारंगत विद्वान् सोमिल नामक ब्राह्मण रहता था।

एक समय भगवान् पार्श्वनाथ का वाराणसी नगरी के आम्रशाल वन में आगमन सुनकर सोमिल ब्राह्मण भी बिना छात्रों को साथ लिए उनको वन्दन करने गया। सोमिल ने पार्श्व प्रभु से अनेक प्रश्न पूछे तथा अपने सब प्रश्नों का सुन्दर एवं समुचित उत्तर पाकर वह परम सन्तुष्ट हुआ और भगवान् पार्श्वनाथ से बोध पाकर श्रावक बन गया।

कालान्तर में असाधुदर्शन और मिथ्यात्व के उदय से सोमिल के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि यदि वह अनेक प्रकार के उद्यान लगाये तो बड़ा श्रेयस्कर होगा। अपने विचारों को साकार बनाने के लिए सोमिल ने आम्रादि के अनेक आराम लगवाये।

कालान्तर में आध्यात्मिक चिन्तन करते हुए उसके मन में तापस बनने की उत्कट भावना जगी। तदनुसार उसने अपने मित्रों और जातिबन्धुओं को अशनपानादि से सम्मानित कर उनके समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप दिया। तदनन्तर अनेक प्रकार के तापसों को लोहे की कड़ाहियाँ, कलछू तथा ताम्बे के पात्रों का दान कर वह दिशाप्रोक्षक तापसों के पास प्रव्रजित हो गया।

तापस होकर सोमिल ब्राह्मण छट्ठ-छट्ठ की तपस्या और दिशा-चक्रवाल से सूर्य की आतापना लेते हुए विचरने लगा।

प्रथम पारण के दिन उसने पूर्व दिशा का पोषण किया और सोम लोकपाल की अनुमति से उसने पूर्व दिशा के कन्द-मूलादि ग्रहण किये।

फिर कुटिया पर आकर उसने क्रमशः वेदी का निर्माण, गंगा-स्नान और विधिवत् हवन किया। इस सब कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने के पश्चात् सोमिल ने पारणा किया।

इसी प्रकार सोमिल ने द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पारण क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में किये।

एक रात्रि में अनित्य जागरण करते हुए उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि तापसों से पूछ कर उत्तर दिशा में महाप्रस्थान करे, काष्ठमुद्रा में मुँह बाँध कर मौनस्थ रहे और चलते-चलते जिस किसी भी जगह स्खलित हो जाय अथवा गिर जाय उस जगह से उठे नहीं, अपितु वहीं पड़ा रहे।

प्रातःकाल तापसों से पूछ कर सोमिल ने अपने संकल्प के अनुसार उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर दिया। चलते-चलते अपराह्नकाल में वह एक अशोक वृक्ष के नीचे पहुँचा। वहाँ उसने बाँस की छ्दाब रक्खी और मज्जन एवं बलि-वैश्वदेव करके काष्ठमुद्रा से मुँह बाँधे वह मौनस्थ हो गया। अर्द्धरात्रि के समय एक देव ने आकर उससे कहा—“सोमिल तेरी प्रव्रज्या ठीक नहीं है।”

सोमिल ने देव की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। देव ने उपर्युक्त वाक्य दो तीन बार दोहराया। पर सोमिल ने उसकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और मौन रहा। अन्त में देव वहाँ से चला गया।

सोमिल निरन्तर उत्तर दिशा की ओर आगे बढ़ता रहा और दूसरे, तीसरे व चौथे दिन के अपराह्नकाल में क्रमशः सप्तपर्ण, अशोक और वटवृक्ष के नीचे उपर्युक्त विधि से कर्मकाण्ड सम्पन्न कर एवं काष्ठमुद्रा से मुख बाँध कर प्रथम रात्रि की तरह उसने तीनों रात्रियाँ व्यतीत कीं।

तीनों ही मध्यरात्रियों में उपर्युक्त देव सोमिल के समक्ष प्रकट हुआ और उसने वही उपर्युक्त वाक्य “सोमिल तेरी प्रव्रज्या ठीक नहीं है, दुष्प्रव्रज्या है” को दो तीन बार दोहराया।

सोमिल ने हर बार देव की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और मौनस्थ रहा।

उत्तर दिशा में अग्रसर होते हुए सोमिल पाँचवें दिन की अन्तिम वेला में एक गूलर वृक्ष के नीचे पहुँचा और वहाँ अपनी कावड़ रक्ख, वेदीनिर्माण, गंगा-मज्जन, शरक एवं अरुणि से अग्निप्रज्वालन और दैनिक यज्ञ से निवृत्त होकर काष्ठमुद्रा में मुँह बाँध कर मौनस्थ हो गया।

मध्यरात्रि में फिर वही देव सोमिल के समक्ष प्रकट होकर कहने लगा—  
“सोमिल तुम्हारी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है।”

सोमिल फिर भी मौन रहा।

सोमिल के मौन रहने पर देव ने दूसरी बार अपनी बात दोहराई। इस बार भी सोमिल ने अपना मौन भंग नहीं किया।

देव ने तीसरी बार फिर कहा—“सोमिल ! तेरी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है ।”

इस पर सोमिल ने अपना मौन तोड़ते हुए देव से पूछा—“देवानुप्रिय ! आप बतलाइये कि मेरी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या किस प्रकार है ?”

उत्तर में देव ने कहा—“सोमिल ! तुमने अर्हत् पार्श्व के समक्ष पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत, इस तरह बारह व्रत वाला श्रावकधर्म स्वीकार किया था । उनका तुमने त्याग कर दिया और दिशाप्रोक्षक तापस बन गये हो । यह तुम्हारी दुष्प्रव्रज्या है । मैंने बार-बार तुम्हें समझाया, फिर भी तुम नहीं समझे ।”

सोमिल ने पूछा—“देव ! मेरी सुप्रव्रज्या कैसे हो सकती है ?”

“सोमिल ! यदि तुम पूर्ववत् श्रावक के बारह व्रत धारण करो तो तुम्हारी प्रव्रज्या सुप्रव्रज्या हो सकती है ।” यह कहकर देव सोमिल को नमस्कार कर तिरोहित हो गया ।

तदनन्तर सोमिल देव के कथनानुसार स्वतः ही पूर्ववत् श्रावकधर्म स्वीकार कर बेला, तेला, चोला, अर्द्धमास, मास आदि की धोर तपश्चर्याओं के साथ श्रमणोपासक-पर्याय का पालन करता हुआ बहुत वर्षों तक विचरण करता रहा ।

अन्त में १५ दिन की संलेखना से आत्मा को भावित करता हुआ पूर्वकृत दुष्कृत की आलोचना किये बिना आयुष्य पूर्ण कर वह शुक्र महाग्रह रूप से देव हुआ । कठोर तप और श्रमणोपासकधर्म के पालन के कारण इसे यह ऋद्धि प्राप्त हुई है ।

गौतम ने पुनः प्रश्न किया—“भगवन् ! यह शुक्रदेव आयुष्य पूर्ण होने पर कहाँ जायगा ?”

भगवान् महावीर ने कहा—“गौतम ! देवायु पूर्ण होने पर यह शुक्र महाविदेह क्षेत्र में जन्म ग्रहण करेगा और वहाँ प्रव्रजित हो सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त करेगा ।”

यहाँ पर सोमिल का काष्ठमुद्रा से मुख बाँध कर मौन रहना विचारणीय एवं शोच का विषय है । जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में कहीं भी मुख बाँधने का विधान उपलब्ध नहीं होता । ऐसी स्थिति में निरयावलिका में सोमिल द्वारा काष्ठमुद्रा से मुँह बाँधना प्रमाणित करता है कि प्राचीन समय में जनेतर



धार्मिक परम्पराओं में काष्ठमुद्रा से मुख बाँधने की परम्परा थी और पार्श्वनाथ के समय में जैन परम्परा में भी मुखवस्त्रिका बाँधने की परम्परा थी। अन्यथा देव सोमिल को काष्ठमुद्रा का परित्याग करने का परामर्श अवश्य देता।

जहाँ तक हमारा अनुमान है, जैन साधु की मुखवस्त्रिका का तापस सम्प्रदाय पर भी अवश्य प्रभाव पड़ा होगा। काष्ठमुद्रा से मुँह बाँधने वाली परम्परा का परिचय देते हुए राजशेखर ने षड्दर्शन प्रकरण में कहा है—

वीटिति भारते ख्याता, दारवी मुखवस्त्रिका ।  
दयानिमित्तं भूतानां मुखनिश्वासरोधिका ॥  
घ्राणादनुप्रयातेन, श्वासेनैकेन जन्तवः ।  
हन्यन्ते शतशो ब्रह्मन्नगुमात्राक्षरवादिना ॥ श्लो.

ऐतिहासिक तथ्य की गवेषणा करने वाले विद्वानों को इस पर तटस्थ दृष्टि से गम्भीर विचार कर तथ्य प्रस्तुत करना चाहिए। इसके साथ ही जो मुख-वस्त्रिका को अर्वाचीन और शास्त्र के पक्षों की थूक से रक्षा के लिए ही मानते हैं, उन विद्वानों को तटस्थता से इस पर पुनर्विचार करना चाहिये।

### बहुपुत्रिका देवी के रूप में पार्श्वनाथ की आर्या

निरयात्रलिका सूत्र के तृतीय वर्ग के चतुर्थ अध्याय में बहुपुत्रिका देवी के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से विवरण दिया गया है—

एक समय राजगृह नगर के गुणशिलक उद्यान में भगवान् महावीर के पधारने पर विशाल जनसमुदाय प्रभु के दर्शन व वन्दन को गया। उस समय सौधर्मकल्प की ऋद्धिशालिनी बहुपुत्रिका देवी भी भगवान् को वन्दन करने हेतु समवसरण में उपस्थित हुईं। देशनाश्रमण एवं प्रभुवन्दन के पश्चात् उस देवी ने अपनी दाहिनी भुजा फँला कर १०८ देवकुमारों और बाँई भुजा से १०८ देवकुमारियों तथा अनेक छोटी-बड़ी उम्र के पोगण्ड एवं वयस्क अगणित बच्चे-बच्चियों को प्रकट कर बड़ी ही अद्भुत तथा मनोरंजक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया और अपने स्थान को लौट गईं।

गौतम गणधर ने भगवान् महावीर स्वामी से साश्चर्य पूछा—“भगवन् ! यह बहुपुत्रिका देवी पूर्वभव में कौन थी और इसने इस प्रकार की अद्भुत ऋद्धि किस प्रकार प्राप्त की है ?”

भगवान् ने कहा—“पूर्व समय की बात है कि वाराणसी नगरी में भद्र नामक एक अतिसमृद्ध सार्ववाह रहता था। उसकी पत्नी सुभद्रा बड़ी सुन्दर और सुकुमार थी। अपने पति के साथ दाम्पत्य जीवन के सभी प्रकार के भोगों

का उपभोग करते हुए अनेक वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सुभद्रा ने एक भी संतान को जन्म नहीं दिया क्योंकि वह बन्ध्या थी ।

संतति के अभाव में अपने आपको बड़ी अभागिन, अपने स्त्रीत्व और स्त्री-जीवन को निन्दनीय, अकिंचन और विडम्बनापूर्ण मानती हुई वह विचारने लगी कि वे माताएँ धन्य हैं, उन्हीं स्त्रियों का स्त्री-जीवन सफल और सारभूत है, जिनकी कुक्षि से उत्पन्न हुए कुसुम से कोमल बच्चे कर्णप्रिय 'माँ' के मधुर सम्बोधन से सम्बोधित करते हुए, संततिवात्सल्य के कारण दूध से भरे माताओं के स्तनों से दुग्धपान करते हुए, गोद, आँगन और घर भर को अपनी मनोमुग्ध-कारिणी बालकैलियों से सुशोभित और अपनी माताओं एवं परिजनों को हर्ष-विभोर कर देते हैं ।

इस तरह सुभद्रा गायापत्नी अपनी बन्ध्यत्व से अत्यन्त दुःखित हो रात-दिन चिन्ता में घुलने लगी ।

एक दिन भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्या आर्या सुव्रता की आर्याओं का एक संघाटक वाराणसी के विभिन्न कुलों में मधुकरी करता हुआ सुभद्रा के घर पहुँचा । सुभद्रा ने बड़े सम्मान के साथ उन साध्वियों का सत्कार करते हुए उन्हें अपनी सन्ततिविहीनता का दुःखड़ा सुना कर उनसे सन्तान उत्पन्न होने का उपाय पूछा ।

आर्या ने उत्तर में कहा—“देवानुप्रिये ! हम श्रमणियों के लिए इस प्रकार का उपाय बताना तो दूर रहा, ऐसी बात सुनना भी वर्जित है । हम तो तुम्हें सर्व-दुःखनाशक वीतरागधर्म का उपदेश सुना सकती हैं । सुभद्रा द्वारा धर्मश्रवण की हवि प्रकट किये जाने पर आर्या ने उसे सांसारिक भोगोपभोगों की विडम्बना बताते हुए वीतराग द्वारा प्ररूपित त्यागमार्ग का महत्त्व समझाया ।

आर्याओं के मुख से धर्मोपदेश सुन कर सुभद्रा ने संतोष एवं प्रसन्नता का अनुभव करते हुए श्राविकाधर्म स्वीकार्य किया और अन्ततोगत्वा कालान्तर में संसार से विरक्त हो अपने पति की आज्ञा प्राप्त कर वह आर्या सुव्रता के पास प्रव्रजित हो गई

साध्वी बनने के पश्चात् आर्या सुभद्रा कालान्तर में लोगों के बालकों को देख कर मोहोदय से उन्हें बड़े प्यार और दुलार के साथ खिलाने लगी । वह उन बालकों के लिए अंजन, विलेपन, खिलौने, प्रसाधन एवं खिलाने-पिलाने की सामग्री लाती, स्नान-मंजन, अंजन, बिंदी, प्रसाधन आदि से उन बच्चों को सजाती, मोदक आदि खिलाती और उन बाल-क्रीड़ाओं को बड़े प्यार से देख कर अपने आपको पुत्र-पौत्रवती समझती हुई अपनी संततिलिप्सा को शान्त करने का प्रयास करती ।

आर्या सुव्रता ने यह सब देख कर उसके इस आचरण को साधुधर्म के विरुद्ध बताते हुए उसे ऐसा न करने का आदेश दिया पर सुभद्रा अपने उस असाधु आचरण से बाज न आई। सुव्रता द्वारा और अधिक कहे जाने पर सुभद्रा अलग उपाश्रय में चली गई। वहाँ निरंकुश हो जाने के कारण वह पासत्था, पासत्थ-विहारिणी, उसन्ना, उसन्नविहारिणी, कुशीला, कुशील-विहारिणी, संसत्ता, संसत्त-विहारिणी एवं स्वच्छन्दा, स्वच्छन्दविहारिणी बन गई।

इस प्रकार शिथिलाचारपूर्वक श्रामण्यपर्याय का बहुत वर्षों तक पालन करने के पश्चात् अंत में आर्या सुभद्रा मासार्द्ध की संलेखना से बिना आलोचना किये ही आयुष्य पूर्ण कर सौधर्म कल्प में बहुपुत्रिका देवी रूप से उत्पन्न हुई।”

गौतम ने प्रश्न किया—“भगवन् ! इस देवी को बहुपुत्रिका किस कारण कहा जाता है ?”

भगवान् महावीर ने कहा—“यह देवी जब-जब सौधर्मन्द्र के पास जाती है तो अपनी वैक्रियशक्ति से अनेक देवकुमारों और देवकुमारियों को उत्पन्न कर उनको साथ लिए हुए जाती है, अतः इसे बहुपुत्रिका के नाम से सम्बोधित किया जाता है।”

गौतम ने पुनः प्रश्न किया—“भगवन् ! सौधर्म कल्प की आयुष्य पूर्ण होने के पश्चात् यह बहुपुत्रिका देवी कहाँ उत्पन्न होगी ?”

भगवान् महावीर ने फरमाया—“सौधर्म कल्प से ज्यवन कर यह देवी भारत के विभेल सन्निवेश में सोमा नाम की ब्राह्मण पुत्री के रूप में उत्पन्न होगी। उसका पिता अपने भानजे राष्ट्रकूट नामक युवक के साथ सोमा का विवाह करेगा। पूर्वभ्रम को अत्युत्कट पुत्रलिप्सा के कारण सोमा प्रतिवर्ष युगल बालक-बालिका को जन्म देगी और इस प्रकार विवाह के पश्चात् सोलह वर्षों में वह बत्तीस बालक-बालिकाओं की माता बन जायगी। अपने उन बत्तीस बालक-बालिकाओं के क्रंदन, चीख-पुकार, सार-सँभाल, मल-मूत्र-वमन को साफ करने आदि कार्यों से वह इतनी तंग आ जायगी कि बालक-बालिकाओं के मल-मूत्र से सने अपने तन-बदन एवं कपड़ों तक को साफ नहीं कर पायेगी।

जहाँ वह सुभद्रा सार्थवाहिनी के भव में संतान के लिए छटपटाती रहती थी वहाँ अपने आगामी सोमा के भव में संतति से ऊब कर बंध्या स्त्रियों को धन्य और अपने आपको हृतभागिनी मानेगी।

कालान्तर में सोमा सांसारिक जीवन को विडम्बनापूर्ण समझ कर सुव्रता नाम की किसी आर्या के पास प्रजित हो जायगी और घोर तपस्या कर एक

मास की संलेखनापूर्वक काल कर शक्रेन्द्र के सामानिक देव रूप में उत्पन्न होगी । देवभवपूर्णा होने पर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य होकर बहुपुत्रिका का जीव तप-संयम की साधना से निर्वाणपद प्राप्त करेगा ।”

### • भगवान् पार्श्वनाथ की साध्वियाँ विशिष्ट देवियों के रूप में

भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से प्रभावित हो समय-समय पर २१६ जराजीर्ण कुमारिकाओं ने पार्श्व प्रभु की चरणाशरण ग्रहण कर प्रत्रज्या ली, इस प्रकार के वर्णन निरयावलिका और ज्ञाताधर्म कथा सूत्रों में उपलब्ध होते हैं ।

उन आख्यानों से तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर, भगवान् पार्श्वनाथ की अत्यधिक लोकप्रियता और उनके नाम के साथ ‘पुरुषादानीय’ विशेषण प्रयुक्त किये जाने के कारणों पर काफी अच्छा प्रकाश पड़ता है, अतः उन उपाख्यानों को यहां संक्षेप में दिया जा रहा है ।

निरयावलिका सूत्र के पुष्पचूलिका नामक चौथे वर्ग में श्री, ह्री, धी, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी और गन्धदेवी नाम की दश देवियों के दश अध्ययन हैं ।

प्रथम अध्ययन में श्रीदेवी के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है कि एक समय भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशील नामक उद्यान में पधारे । उस समय सौधर्म कल्प के श्री श्रवतंसक विमान को महती ऋद्धिशालिनी श्रीदेवी भी भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए समवशरणा में आयी ।

श्रीदेवी ने अपने नाम-गोत्र का उच्चारण कर प्रभु को प्रांजलिपूर्वक आदक्षिणा-प्रदक्षिणा के साथ वन्दन कर समवशरणा में अपनी उच्चकोटि की वैक्रियलब्धि द्वारा अत्यन्त मनोहारी एवं परम अद्भुत नाट्यविधि का प्रदर्शन किया । तदनन्तर वह भगवान् महावीर को वन्दन कर अपने देवलोक को लौट गई ।

गौतम गणधर द्वारा किये गये प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने श्रीदेवी का पूर्वजन्म बताते हुए फरमाया—“गौतम ! राजा जितशत्रु के राज्य-काल में सुदर्शन नामक एक समृद्ध गाथापति राजगृह नगर में निवास करता था । उसकी पत्नी का नाम प्रिया और इकलीती पुत्री का नाम भूता था । कन्या भूता का विवाह नहीं हुआ और वह जराजीर्ण हो वृद्धावस्था को प्राप्त हो गई । बुढ़ापे के कारण उसके स्तन और नितम्ब शिथिल हो गये थे ।

एक समय पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व राजगृह नगर में पधारे । नगरनिवासी हर्षविभोर हो प्रभुदर्शन के लिए गये । वृद्धकुमारिका भूता भी अपने माता-पिता

की आज्ञा लेकर भगवान् के समवशरण में पहुँची और पार्वनाथ के उपदेश को सुन कर एवं हृदयंगम करके बड़ी प्रसन्न हुई ।

उसने वन्दन के पश्चात् प्रभु से हाथ जोड़ कर कहा—“प्रभो ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा रखती हूँ और उसके आराधन के लिए समुद्यत हूँ । अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर मैं आपके पास प्रव्रजित होना चाहती हूँ ।”

प्रभु पार्वनाथ ने कहा—“देवान्प्रिये ! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो वैसे ही करो ।”

घर लौट कर भूता कन्या ने अपने माता-पिता के समक्ष दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट कर उनसे आज्ञा प्राप्त कर ली ।

सुदर्शन गाथापति ने बड़े समारोह के साथ दीक्षा-महोत्सव आयोजित किया और एक हजार पुरुषों द्वारा उठाई जाने वाली सुन्दर पालकी में भूता को बिठा कर दिशाओं को प्रतिध्वनित करने वाली विविध वाद्यों की ध्वनि के बीच स्वजन-परिजन सहित शहर के मध्यभाग के विस्तीर्ण राजपथ से वह गुणशील चैत्य के पास पहुँचा ।

तीर्थंकर पार्वनाथ के अतिशयों को देखते ही भूता कन्या शिबिका से उतरी । गाथापति सुदर्शन और उसकी पत्नी प्रिया अपनी पुत्री भूता को आगे कर प्रभु के पास पहुँचे और प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन, नमस्कार के पश्चात् कहने लगे—“भगवन् ! यह भूता दारिका हमारी इकलौती पुत्री है, जो हमें अत्यन्त प्रिय है । यह संसार के जन्म-मरण के भय से उद्विग्न हो आपकी सेवा में प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहती है । अतः हम आपको यह शिष्यारूपी भिक्षा समर्पित करते हैं । प्रभो ! अनुग्रह कर आप इस भिक्षा को स्वीकार कीजिये ।”

भगवान् पार्वनाथ ने कहा—“देवान्प्रियो ! जैसी तुम्हारी इच्छा हो ।”

तदनन्तर वृद्धकुमारिका भूता ने हृष्टतुष्ट हृदय से ईशान कोण में जाकर आभूषण उतारे और वह पुष्पचूला आर्या के पास प्रव्रजित हो गई ।

उसके बाद कालान्तर में वह भूता आर्या शरीरबाकुशिका (अपने शरीर की अत्यधिक सार-समहाल करने वाली) हो गई और अपने हाथों, पैरों, शिर, मुँह आदि को बार-बार धोती रहती । जहाँ कहीं, सोने, बैठने और स्वाध्याय आदि के लिए उपयुक्त स्थान निश्चित करती तो उस स्थान को पहले पानी से छिड़कती और फिर उस स्थान पर सोती, बैठती अथवा स्वाध्याय करती थी ।

यह देख कर आर्या पुष्पचूला ने उसे बहुतेरा समझाया कि साध्वी के लिए शरीरबाकुशिका होना उचित नहीं है, अतः इस प्रकार के आचरण के लिए वह

आलोचना करे और भविष्य में ऐसा कभी न करे, पर भूता आर्या ने पुष्पचूला की बात नहीं मानी। वह अकेली ही अलग उपाश्रय में रहने लगी और स्वतन्त्र होकर पूर्ववत् शरीरबाकुशिका ही बनी रही।

तत्पश्चात् भूता आर्या ने अनेक चतुर्थ, षष्ठ और अष्टमभक्त आदि तप कर के अपनी आत्मा को भावित किया और संलेखनापूर्वक, अपने शिथिलाचार की आलोचना किये बिना ही, आयुष्य पूर्ण होने पर वह सौधर्म कल्प के श्री अवतंसक विमान में देवी हुई और इस प्रकार वह ऋद्धि उसे प्राप्त हुई।

देवलोक में एक पत्योपम को आयुष्य भोग कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगी और वहाँ वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगी।

श्रीदेवी की ही तरह ह्री आदि ९ देवियों ने भी भगवान् महावीर के दर्शन, वन्दन हेतु समवशरणा में उपस्थित हो अपनी अत्यन्त आश्चर्यजनक वैक्रियलब्धि द्वारा मनोहारी दृश्यों का प्रदर्शन किया और प्रभु को वन्दन कर क्रमशः अपने स्थान को लौट गईं।

उन ९ देवियों के पूर्वभव सम्बन्धी गौतम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्रमणा भगवान् महावीर ने फरमाया कि वे ९ ही देवियाँ अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं। वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाने तक उनका विवाह नहीं हुआ, अतः वे वृद्धा-वृद्धकुमारिका, जीर्णा-जीर्णाकुमारिका के विशेषणों से सम्बोधित की गई हैं। उन सभी वृद्धकुमारिकाओं ने भूता वृद्ध-कुमारिका की तरह भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से प्रभावित हो प्रवर्तिनी पुष्पचूला के पास दीक्षा ग्रहण कर अनेक प्रकार की तपस्याएँ कीं, पर शरीर-बाकुशिका बन जाने के कारण संयम की विराधिकाएँ हुईं। अपनी प्रवर्तिनी पुष्पचूला द्वारा समझाने पर भी वे नहीं मानीं और स्वतन्त्र एकलविहारिणी हो गईं। अन्त समय में संलेखना कर अपने शिथिलाचार की आलोचना किये बिना ही मर कर सौधर्म कल्प में ऋद्धिशालिनी देवियाँ हुईं। देवलोक की आयुष्य पूर्ण होने पर ये सब महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होंगी और अन्त में वहाँ निर्वाण प्राप्त करेंगी।

इसी प्रकार ज्ञाताधर्मकथा सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १० वर्गों में कुल मिला कर २०६ जराजीर्णा वृद्धकुमारिकाओं द्वारा प्रभु पार्श्वनाथ के पास प्रव्र-जित होने का निम्न क्रम से उल्लेख है—

पथम वर्ग में चमरेन्द्र की पाँच (५) अग्रिमहिषियाँ।

दूसरे वर्ग में बलीन्द्र की पाँच (५) अग्रमहिषियाँ।

तीसरे वर्ग में नव निकाय के नौ दक्षिणेन्द्रों में से प्रत्येक की छः-छः अग्र-महिषियों के हिसाब से कुल ५४ अग्रमहिषियाँ।

चौथे वर्ग में उत्तर के नव निकायों के उत्तरेन्द्रों की ५४ अग्रमहिषियाँ ।

पाँचवें वर्ग में व्यन्तर के ३२ दक्षिणेन्द्रों की ३२ देवियाँ ।

छठे वर्ग में व्यन्तर के ३२ उत्तरेन्द्रों की ३२ देवियाँ ।

सातवें वर्ग में चन्द्र की ४ अग्रमहिषियाँ ।

आठवें वर्ग में सूर्य की चार (४) अग्रमहिषियाँ ।

नवें वर्ग में शकेन्द्र की ८ अग्रमहिषियाँ और

दशवें वर्ग में ईशानेन्द्र की आठ (८) अग्रमहिषियाँ ।

प्रथम वर्ग में चमरेन्द्र की काली, राई, रयणी, विज्जू और मेघा इन ५ अग्रमहिषियों के कथानक दिये हुए हैं ।

प्रथम काली देवी ने भगवान् महावीर को राजगृह नगर में विराजमान देख कर भक्तिपूर्वक सविधि वन्दन किया और फिर अपने देव-देवीगण के साथ प्रभु की सेवा में आकर सूर्याभ देव की तरह अपनी वैक्रियशक्ति से नाट्यकला का प्रदर्शन किया और अपने स्थान को लौट गई ।

गौतम गणधर द्वारा उसके पूर्वभव की पृच्छा करने पर प्रभु ने फरमाया— “जम्बू द्वीप के भारतवर्ष की आमलकल्पा नाम की नगरी में काल नामक गाथा-पति की काल श्री भार्या की कुक्षि से काली बालिका का जन्म हुआ । वह वृद्ध वय की हो जाने तक भी कुमारी ही रही, इसलिए उसे वृद्धा-वृद्धकुमारी, जुन्ना-जुन्नकुमारी कहा गया है ।

आमलकल्पा नगरी में किसी समय भगवान् पार्श्वनाथ का शुभागमन हुआ ।

भगवान् का आगमन जान कर काली भी प्रभुवन्दन के लिए समवशरण में गई और वहाँ प्रभु के मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुन कर संसार से विरक्ति हो गई । उसने अपने घर लौट कर मातापिता के समक्ष प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की और मातापिता की आज्ञा प्राप्त होने पर वह भगवान् पार्श्वनाथ के पास प्रव्रजित हो गई । स्वयं पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ ने उसे पुष्पचूला आर्या को शिष्या रूप में सौंपा । आर्या काली एकादश अंगों की ज्ञाता होकर चतुर्थ, षष्ठ, अष्टभक्तादि तपस्या से आत्मा को भावित करती हुई विचरने लगी ।

अन्यदा आर्या काली शरीरबाकुशिका होकर बार-बार अपने अंग-उपांगों को धोती और बैठने, सोने आदि के स्थान को पानी से छींटा करती । पुष्पचूला

आर्या द्वारा मना किये जाने पर भी उसने शरीर बाकुशिकता का शिथिलाचार नहीं छोड़ा और अलग उपाश्रय में रह कर स्वतन्त्र रूप से विचरने लगी ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य से अलग रहने के कारण उसे पासत्था, पासत्थ विहारिणी, उसन्ना, उसन्न विहारिणी आदि कहा गया । वर्षों चारित्र्य का पालन कर एक पक्ष की संलेखना से अन्त में वह बिना आलोचना किये ही काल कर चमरचंचा राजधानी में काली देवी के रूप में चमरेन्द्र की अग्रमहिषी हुई । चमरचंचा से च्यव कर काली महाविदेह में उत्पन्न होगी और वहाँ अन्त में मुक्ति प्राप्त करेगी ।”

काली देवी की ही तरह रात्रि, रजनी, विद्युत और मेधा नाम की चमरेन्द्र की अग्रमहिषियों ने भी भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हो प्रभु को वन्दन करने के पश्चात् अपनी वैक्रियलब्धियों का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन किया ।

गौतम गणधर के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने उनके पूर्वभव का परिचय देते हुए फरमाया कि ये चारों देवियाँ अपने पूर्वभव में आमलकल्पा नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं और जराजीर्ण वृद्धाएं हो जाने तक भी उनका विवाह नहीं हुआ था । भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश से विरक्त हो उन्होंने काली की तरह प्रव्रज्या ग्रहण की, विविध तपस्याएं कीं, शरीर बाकुशिका बनीं, श्रमणी संघ से अलग हो स्वतन्त्र-विहारिणी बनी और अन्त में बिना अपने शिथिलाचार की आलोचना किये ही संलेखना कर वे चमरेन्द्र की अग्रमहिषियाँ बनीं ।

ये रात्रि आदि चारों देवियाँ भी देवीआयुष्य पूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र में एक भव कर मुक्त होंगी ।

ज्ञाताधर्म कथा सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दूसरे वर्ग में वर्णित शुंभा, निशुंभा, रंभा, निरंभा और मदना नाम की बलीन्द्र की पाँचों अग्रमहिषियों ने भी भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हो काली देवी की तरह अपनी अद्भुत वैक्रियशक्ति का प्रदर्शन किया ।

उन देवियों ने अपने स्थान पर लौट जाने के अनन्तर गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने उनके पूर्वभव बताते हुए फरमाया कि वे सब अपने पूर्वभवों में सावत्थी नगरी में अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं ।

तीसरे वर्ग में वर्णित नव निकायों के ६ ही दक्षिणेन्द्रों की छे-छे के हिसाब से कुल ५४ अग्रमहिषियाँ—इला, सतेरा, सोयामणि आदि—अपने



पूर्वभव में वाराणसी नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं ।

इसी प्रकार चौथे वर्ग में उल्लिखित उत्तर के नव निकायों के ६ भूतानन्द आदि उत्तरेन्द्रों की ५४ अग्रमहिषियां भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हुईं । भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् क्रमशः उन्होंने भी काली देवी की तरह अपनी अद्भुत वैक्रियशक्ति का परिषद् के समक्ष अत्यद्भुत चमत्कार प्रदर्शित किया ।

गणधर गौतम द्वारा उन ५४ देवियों के पूर्वभव के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर भगवान् महावीर ने फरमाया—“गौतम ये ५४ ही उत्तरेन्द्रों की अग्रमहिषियां अपने पूर्वजन्म में चम्पा नगरी के निवासी अपने समान नाम वाले माता-पिताओं की रूपा, सुरूपा, रूपांसा, रूपकावती, रूपकान्ता, रूपप्रभा, आदि नाम की पुत्रियां थीं । ये सभी वृद्धकुमारियां थीं । जराजीर्ण हो जाने पर भी इन सबका विवाह नहीं हुआ था । भगवान् पार्श्वनाथ के चम्पानगरी में पधारने पर इन सब वृद्धकुमारिकाओं ने उनके उपदेश से प्रभावित हो प्रवर्तिनी सुव्रता के पास संयम ग्रहण किया । इन सबसे कठोर तपस्या करके संयम के मूल गुणों का पूर्णरूपेण पालन किया । लेकिन शरीरबाकुशिका होकर संयम के उत्तर गुणों की यह सब विराधिकायें बन गईं । बहुत वर्षों तक संयम और तप की साधना से इन्होंने चरित्र का पालन किया और अन्त में संलेखनापूर्वक आयुष्य पूर्ण कर अपने चरित्र के उत्तर गुणों के दोषों की आलोचना नहीं करने के कारण उत्तरेन्द्र की अग्रमहिषियां हुईं ।

पंचम वर्ग में दक्षिण के व्यन्तरेन्द्रों की ३२ अग्रमहिषियों का वर्णन है । कमला, कमलप्रभा, उत्पला, सुदर्शना, रूपवती, बहुरूपा, सुरूपा, सुभगा, पूर्णा, बहुपुत्रिका, उत्तमा, भार्या, पद्मा, वसुमती, कनका, कनकप्रभा, बडेसा, केतमती, नहरसेणा, रईप्रिया, रोहिणी, नमिया, ह्री, पुष्पवती, भुजगा, भुजगावती, महाकच्छा, अपराजिता, सुघोषा, विमला, सुस्सरा, सरस्वती, इन सब देवियों ने भी काली की ही तरह भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हो अपनी वैक्रियशक्ति का प्रदर्शन किया ।

गौतम द्वारा इनके पूर्वभव के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर भगवान् महावीर ने कहा—ये बत्तीसों देवियां पूर्वभव में नागपुर निवासी अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं । ये भी जीवनभर अविवाहित रहीं । जब ये वृद्ध कन्यायें—जीर्ण कन्यायें हो चुकी थीं, उस समय नागपुर में भगवान् पार्श्वनाथ का आगमन सुन कर ये भी भगवान् के समवशरण में पहुँचीं और उनके उपदेश से विरक्त हो सुव्रता आर्या के पास प्रव्रजित हो गईं । इन्होंने अनेक वर्षों तक संयम का पालन किया और अनेक प्रकार की उग्र तपस्यायें

कीं । किन्तु शरीरबाकुशिका हो जाने के कारण इन्होंने संयम के उत्तर गुणों की विराधना की और अन्त समय में बिना संयम के अतिचारों की आलोचना किये संलेखनापूर्वक काल धर्म को प्राप्त हो ये दक्षिणेन्द्रों की अग्रमहिषियाँ बनीं ।

षष्ठ वर्ग में निरूपित व्यन्तर जाति के महाकाल आदि ३२ उत्तरेन्द्रों की देवियाँ अपने पूर्वभव में साकेतपुर के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं । इन्होंने भी भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से विरक्त हो आर्या सुव्रता के पास प्रव्रज्या ग्रहण की । अनेक वर्षों तक इन सबने संयम एवं तप की साधना की, किन्तु संयम के उत्तर गुणों की विराधिकाएँ होने के कारण बिना आलोचना किये ही संलेखनापूर्वक आयुष्य पूर्ण कर महाकाल आदि ३२ उत्तरेन्द्रों की अग्रमहिषियाँ बनीं ।

सप्तम वर्ग में उल्लिखित सूरप्रभा, आतपा, अचिमाली और प्रभंकरा नाम की सूर्य की ४ अग्रमहिषियाँ अपने पूर्वभव से अरक्खुरी नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं ।

अष्टम वर्ग में वर्णित चन्द्रप्रभा, ज्योत्स्नाभा, अचिमाली और प्रभंगा नाम की चन्द्र की चार अग्रमहिषियाँ अपने पूर्वभव में मथुरा के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं ।

नवम वर्ग में वर्णित पद्मा, शिवा, सती, अंजु, रोहिणी, नवमिया, अचला और अच्छरा नाम की सौधर्मेन्द्र की ८ अग्रमहिषियों के पूर्वभव बताते हुए प्रभु महावीर ने फरमाया कि पद्मा और शिवा श्रावस्ती नगरी के, सती और अंजु हस्तिनापुर के, रोहिणी और नवमिया कम्पिलपुर के तथा अचला और अच्छरा साकेतपुर के अपने समान नाम वाले गाथापतियों की पुत्रियाँ थीं ।

दशम वर्ग से वर्णित ईशानेन्द्र की कृष्णा तथा कृष्णराजि अग्रमहिषियाँ वाराणसी, रामा और रामरक्षिता राजगृह नगर, वसु एवं वसुदत्ता श्रावस्ती नगरी, तथा वसुमित्रा और वसुंधरा नाम की अग्रमहिषियाँ कोशाम्बी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं ।

दूसरे धर्म से दशम वर्ग तक में वर्णित ये सभी २०१ देवियाँ अपने अपने पूर्वभव में जीवन भर अविवाहित रहीं, जराजीर्ण वृद्धावस्था में इन सभी वृद्ध-कुमारियों ने भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से विरक्त हो श्रमणीधर्म स्वीकार किया । ग्यारह अंगों की ज्ञाता होकर इन सबने अनेक प्रकार की तपस्याएँ कीं, पर कालान्तर में ये सबकी सब शरीरबाकुशिका हो साध्विसंघ से पृथक् हो स्वतन्त्रविहारिणियाँ एवं शिथिलाचारिणियाँ बन गईं और अन्त में अपने अपने

शिथिलाचार की आलोचना किये बिना ही संलेखनापूर्वक कालकवलिताएं हो उपरिवर्णित इन्द्रों एवं सूर्य तथा चन्द्र की अग्रमहिषियां बनीं ।

### भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक और अमिट प्रभाव

वीतरागता और सर्वज्ञता आदि आत्मिक गुणों की सब तीर्थकरों में समानता होने पर भी संभव है, पार्श्वनाथ में कोई विशेषता रही हो, जिससे कि वे अधिकाधिक लोकप्रिय हो सके ।

जैन साहित्य के अन्तर्गत स्तुति, स्तोत्र और मंत्रपदों से भी ज्ञात होता है कि वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थकरों में से भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति के रूप में जितने मंत्र या स्तोत्र उपलब्ध होते हैं, उतने अन्य के नहीं हैं ।

भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति से ओतप्रोत अनेक महात्माओं एवं विद्वानों द्वारा रचित प्रभु पार्श्वनाथ की महिमा से पूर्ण कई महाकाव्य, काव्य, चरित्र, अग्रणीत स्तोत्र आदि और देश के विभिन्न भागों में प्रभु पार्श्व के प्राचीन भव्य कलाकृतियों के प्रतीक विशाल मन्दिरों का बाहुल्य, ये सब इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति धर्मनिष्ठ मानवसमाज पीढ़ियों से कृतज्ञ और श्रद्धावन्त रहा है ।

आगमों में अन्यान्य तीर्थकरों का 'अरहा' विशेषण से ही उल्लेख किया गया है । जैसे—'मल्ली अरहा', 'उसभेण अरहा', 'सीयलेण अरहा', 'संतिस्सरां अरहओ'<sup>१</sup> आदि । पर पार्श्वनाथ का परिचय देते समय आगमों में लिखा गया है—'पासेण अरहा पुरिसादाणीए' 'पासस्सरां अरहओ पुरिसादाणिअस्स'<sup>२</sup> ।<sup>२</sup> इससे प्रमाणित होता है कि आगमकाल में भी भगवान् पार्श्वनाथ की कोई खास विशिष्टता मानी जाती थी । अन्यथा उनके नाम से पहले विशेषण के रूप में 'अरहा अरिट्टनेमी' की तरह 'पासेण अरहा' केवल इतना ही लिखा जाता ।

'पुरुषादानीय' का अर्थ होता है पुरुषों में आदरपूर्वक नाम लेने योग्य । महावीर के विशिष्ट तप के कारण जैसे उनके नाम के साथ 'समणे भगवं महावीरे' लिखा जाता है, वैसे ही पार्श्वनाथ के नाम के साथ अंग-शास्त्रों में 'पुरिसादाणी' विशेषण दिया गया है । अतः इस विशेषण के जोड़ने का कोई न कोई विशिष्ट कारण अवश्य होना चाहिये ।

वह कारण यह हो सकता है कि पूर्वोक्त २२० देवों और देवियों के प्रभाव से जनता अत्यधिक प्रभावित हुई हो । देवियों एवं देवताओं की आश्चर्यजनक विपुल ऋद्धि और अत्यन्त अद्भुत शक्ति के प्रत्यक्षदर्शी विभिन्न नगरों के विशाल

१ समवायांग व कल्पसूत्र आदि ।

२ समवायांग सूत्र, समवाय ३८ व कल्पसूत्र आदि ।

जनसमूहों ने जब उन देवताओं और देवियों के पूर्वभ्रू के सम्बन्ध में त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ, तीर्थंकर भगवान् महावीर के मुखारविन्द से यह सुना कि ये सभी देव और देवियां भगवान् पार्श्वनाथ के अन्तेवासी और अन्तेवासिनियां थीं तो निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति उस समय के जनमानस में प्रगाढ़ भक्ति और अगाध श्रद्धा का घर कर लेना सहज स्वाभाविक ही था ।

इसके साथ ही साथ अपने नीरस नारी जीवन से ऊबे हुए उन दो सौ सोलह (२१६) वृद्धकुमारिकाओं ने भगवान् पार्श्वनाथ की कृपा से महती दैवीऋद्धि प्राप्त की । अतः सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि देवियां बन कर उन्होंने निश्चित रूप से जिनशासन की प्रभावना के अनेक कार्य किये होंगे और उस कारण भारत का मानवसमाज निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ का विशिष्ट उपासक बन गया होगा ।

भगवान् पार्श्वनाथ के कृपाप्रसाद से ही तापस की धूनी में जलता हुआ नाग और नागिन का जोड़ा धरगोन्द्र और पद्मावती बना तथा भगवान् पार्श्वनाथ के तीन पिण्ड्य क्रमशः सूर्यदेव, चन्द्रदेव और शुक्रदेव बने ।

श्रद्धालु भक्तों की यह निश्चित धारणा है कि इन देवियों, देवों और देवेन्द्रों ने समय-समय पर शासन की प्रभावना की है । इसका प्रमाण यह है कि धरगोन्द्र और पद्मावती के स्तोत्र आज भी प्रचलित हैं ।

भद्रबाहु के समय में संघ को संकटकाल में पार्श्वनाथ का स्तोत्र ही दिया गया था । सिद्धसेन जैसे पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने भी पार्श्वनाथ की स्तुति से ही शासनप्रभावना की ।

इन वृद्धकुमारिकाओं के आख्यानों से उस समय की सामाजिक स्थिति का दिग्दर्शन होता है कि सामाजिक रूढ़ियों अथवा अन्य किन्हीं कारणों से उस समय समृद्ध परिवारों को भी अपनी कन्याओं के लिये योग्य वरों का मिलना बड़ा दूभर था । भगवान् पार्श्वनाथ ने जीवन से निराश ऐसे परिवारों के समक्ष साधना का प्रणस्त मार्ग प्रस्तुत कर तत्कालीन समाज को बड़ी राहत प्रदान की ।

इन सब आख्यानों से मिथ्य होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने उस समय के मानवसमाज को सच्चे सुख की राह बताई एवं उलझी हुई जटिल समस्याओं को सुलझा कर मानव समाज की अत्यधिक भक्ति और प्रगाढ़ प्रीति प्राप्त की और अपने अमृतोपम प्रभावशाली उपदेशों से जनमन पर ऐसी अमिट छाप लगाई कि हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी प्रभु पार्श्वनाथ की परम्परागत छाप आज के जनमानस पर भी स्पष्टतः दिखाई दे रही है ।

इसके अतिरिक्त भगवान् पार्श्वनाथ के विशिष्ट प्रभाव का एक कारण उनका प्रबल पुण्यातिशय एवं अधिष्ठाता देव-देवियों का सांनिध्य भी हो सकता है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् अपने दीर्घकाल के विहार में अनार्य देशों में भ्रमण कर अनार्यजनों को भी अधिकाधिक संख्या में धर्मानुरागी बनाया हो, तो यह भी उनकी लोकप्रियता का विशेष कारण हो सकता है। जैसा कि भगवान् पार्श्वनाथ के विहारक्षेत्रों के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों द्वारा किये गये वर्णनों से स्पष्ट प्रतीत होता है।

पार्श्व ने कुमारकाल में प्रसेनजित् की सहायता की और राजा यवन को अपने प्रभाव से झुकाया। संभव है कि यवनराज भी आगे चल कर भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से अत्यधिक प्रभावित हुआ हो और उसके फलस्वरूप अनार्य कहे जाने वाले उस समय के लोग भी अधिकाधिक संख्या में धर्ममार्ग पर आरूढ़ हुए हों और इस कारण भगवान् पार्श्वनाथ आर्य और अनार्य जगत् में अधिक आदरणीय और लोकप्रिय हो गये हों।

### भगवान् पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा

यह एक सामान्य नियम है कि किन्हीं भी तीर्थंकर के निर्वाण के पश्चात् जब तक दूसरे तीर्थंकर द्वारा अपने धर्म-तीर्थ की स्थापना नहीं कर दी जाती तब तक पूर्ववर्ती तीर्थंकर का ही धर्म-शासन चलता रहता है और उनकी आचार्य परम्परा भी उस समय तक चलती रहती है।

इस दृष्टि से मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शासन में असंख्य आचार्य हुए हैं, पर उन आचार्यों के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं होने के कारण उनका परिचय नहीं दिया जा सका है।

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का वर्तमान जैन धर्म के इतिहास से बड़ा निकट का सम्बन्ध है और भगवान् महावीर के शासन से उनका अन्तरकाल भी २५० वर्ष का ही माना गया है तथा कल्पसूत्र के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ की जो दो प्रकार की अन्तकड़ भूमि वतलाई गई है, उसमें उनकी युगान्तकृत भूमि में चौथे पुरुषयुग (आचार्य) तक मोक्ष-गमन माना गया है। अतः भगवान् पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा का उल्लेख यहाँ किया जाना ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक है।

उपकेशगच्छ-चरितावली में भगवान् पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा का जो परिचय दिया गया है, वह संक्षेप में इस प्रकार है :—

## १. आर्य शुभदत्त

भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के पश्चात् उनके प्रथम पट्टधर गणधर शुभदत्त हुए। उन्होंने चौबीस वर्ष तक आचार्यपद पर रहते हुए चतुर्विध संघ का बड़ी कुशलता से नेतृत्व किया और धर्म का उपदेश करते रहे।

भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के चौबीस वर्ष पश्चात् आर्य हरिदत्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर आर्य शुभदत्त मोक्ष पधारे।

## २. आर्य हरिदत्त

भगवान् पार्श्वनाथ के द्वितीय पट्टधर आर्य हरिदत्त हुए। पार्श्वनिर्वाण संवत् २४ से ६४ तक आप आचार्यपद पर रहे।

श्रमण बनने से पूर्व हरिदत्त ५०० चोरों के नायक थे। गणधर शुभदत्त के शिष्य श्री वरदत्त मुनि को एक बार जंगल में ही अपने ५०० शिष्यों के साथ रुकना पड़ा। उस समय चोर-नायक हरिदत्त अपने ५०० साथी चोरों के साथ मुनियों के पास इस आशा से गया कि उनके पास जो भी धन-सम्पत्ति हो वह लूट ली जाय। पर वरदत्त मुनि के पास पहुँचने पर ५०० चोरों और चोरों के नायक को धन के स्थान पर उपदेश मिला। मुनि वरदत्त के उपदेश से हरिदत्त अपने ५०० साथियों सहित दीक्षित हो गये और इस तरह जो चोरों के नायक थे, वे ही हरिदत्त मुनिनायक और धर्मनायक बन गये।

गुरुसेवा में रह कर मुनि हरिदत्त ने बड़ी लगन के साथ ज्ञान-संपादन किया और अपनी कुशाग्रबुद्धि के कारण एकादशांगी के पारगामी विद्वान् हो गये। इनकी योग्यता से प्रभावित हो आचार्य शुभदत्त ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

आचार्य हरिदत्त अपने समय के बड़े प्रभावशाली आचार्य हुए हैं। आपने "वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति" इस मत के कट्टर समर्थक और प्रबल प्रचारक, उद्भूट विद्वान् लौहित्याचार्य की शास्त्रार्थ द्वारा राज्यसभा में पराजित कर 'अहिंसा परमो धर्मः' की उस समय के जनमानस पर धाँके-जमिंदी थी।

सत्य के पुजारी लौहित्याचार्य अपने एक हजार शिष्यों सहित आचार्य हरिदत्तसूरि के पास दीक्षित हो गये और उनकी आज्ञा लेकर दक्षिण में अहिंसा-धर्म का प्रचार करने के लिए निकल पड़े। आपने प्रतिज्ञा की कि जिस तरह अज्ञानवश उन्होंने हिंसा-धर्म का प्रचार किया था, उससे भी अतगुणित वेग से वे अहिंसाधर्म का प्रचार करेंगे। अपने संकल्प के अनुसार उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को निरन्तर धर्मप्रचार द्वारा कार्यरूप में परिणत कर बताया।

कहा जाता है कि लौहियाचार्य ने दक्षिण में लंका तक जैन धर्म का प्रचार किया। बौद्ध भिक्षु धेनुसेन ने ईसा की पाँचवीं शताब्दी में लंका के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला 'महावंश काव्य' नामक पाली भाषा का एक काव्य लिखा था। उस काव्य में ईस्वी सन् पूर्व ५४३ से ३०१ वर्ष तक की लंका की स्थिति का वर्णन करते हुए धेनुसेन ने लिखा है कि सिंहलद्वीप के राजा 'पनुगानय' ने लगभग ई० सन् पूर्व ४३७ में अपनी राजधानी अनुराधापुर में स्थापित की और वहाँ निर्ग्रन्थ मुनियों के लिए 'गिरी' नामक एक स्थान खुला छोड़ रखा।

इससे सिद्ध होता है कि सुदूर दक्षिण में उस समय जैन धर्म का प्रचार और प्रसार हो चुका था।

इस प्रकार आचार्य हरिदत्त के नेतृत्व में उस समय जैन धर्म का दूर-दूर तक प्रभाव फैल गया था।

आचार्य हरिदत्त ने ७० वर्ष तक धर्म का प्रचार कर समुद्रसूरि को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और अन्त में पार्श्वनिर्वाण संवत् ६४ में मुक्ति के अधिकारी हुए।

### ३. आर्य समुद्रसूरि

भगवान् पार्श्वनाथ के तीसरे पट्टधर आर्य समुद्रसूरि हुए। पार्श्व सं० ६४ से १६६ तक ये भी जिनशासन की सेवा करते रहे। इन्होंने विविध देशों में धूम-धूम कर धर्म का प्रचार किया। आप चतुर्दश पूर्वधारी और यज्ञवाद से होने वाली हिंसा के प्रबल विरोधी थे। आपके आज्ञानुवर्ती विदेशी नामक एक मुनि, जो बड़े प्रतिभाशाली और प्रकाण्ड विद्वान् थे, एक बार विहार करते हुए उज्जयिनी पधारे। कहा जाता है कि आपके त्याग-विरागपूर्ण उपदेश से प्रभावित हो उज्जयिनी के राजा जयसेन और रानी अनंग सुन्दरी ने अपने प्रिय पुत्र केशी के साथ जैन श्रमण-दीक्षा ग्रंथीकार की। उपदेशगच्छ-पट्टावली के अनुसार बालपि केशी जातिस्मरण के साथ-साथ चतुर्दश पूर्व तक श्रुतज्ञान के धारक थे।

इन्हीं केशी श्रमण ने आचार्य समुद्रसूरि के समय में यज्ञवाद के प्रचारक मुकुन्द नामक आचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित किया था।

अन्त में आचार्य समुद्रसूरि ने अपना अन्तिम समय निकट देख केशी को आचार्यपद पर नियुक्त किया और पार्श्व सं० १६६ में सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

### ४. आर्य केशी श्रमण

भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर आचार्य केशी श्रमण हुए, जो बड़े ही

प्रतिभाशाली, बालब्रह्मचारी, चौदह पूर्वधारी और मति, श्रुति एवं अवधिज्ञान के धारक थे ।

कहा जाता है कि आपने बड़ी योग्यता के साथ श्रमणसंघ के संगठन को सुदृढ़ बना कर विद्वान् श्रमणों के नेतृत्व में पाँच-पाँच सौ (५००-५००) साधुओं की ६ टुकड़ियों को पांचाल, सिन्धु-सौवीर, अंग-बंग, कलिग, तेलंग, महाराष्ट्र, काशी, कोशल, सूरसेन, अवन्ती, कोंकण आदि प्रान्तों में भेज कर और स्वयं ने एक हजार साधुओं के साथ मगध प्रदेश में रह कर सारे भारत में जैन धर्म का प्रचार और प्रसार किया । पार्श्व संवत् १६६ से २५० तक आपका आचार्य-काल बताया गया है ।

आपने ही अपने अमोघ उपदेश से श्वेताम्बिका के महाराज 'प्रदेशी' को धोर नास्तिक से परम आस्तिक बनाया । राजा प्रदेशी ने आपके पास श्रावक-धर्म स्वीकार किया और अपने राज्य की आय का चतुर्थ भाग दान में देता हुआ वह सांसारिक भोगों से विरक्त हो छट्ट-छट्ट-भक्त की तपस्यापूर्वक आत्मकल्याण में जुट गया ।

अपने पति को राज्य-व्यवस्था के कार्यों से उदासीन देख कर रानी सूरिकान्ता ने स्वार्थवश अपने पुत्र सूरिकान्त को राजा बनाने की इच्छा से महाराज प्रदेशी को उनके तेरहवें छट्ट-भक्त के पारणों के समय विषाक्त भोजन खिला दिया । प्रदेशी ने भी विष का प्रभाव होते ही सारी स्थिति समझ ली, किन्तु रानी के प्रति किसी भी प्रकार की दुर्भावना न रखते हुए समाधिपूर्वक प्राणोत्सर्ग किया और सौधर्मकल्प में ऋद्धिमान् सूर्याभि देव बना ।

आचार्य केशिकुमार पार्श्वनिर्माण संवत् १६६ से २५० तक, अर्थात् चौरासी (८४) वर्ष तक आचार्यपद पर रहे और अन्त में स्वयंप्रभ सूरि को अपना उत्तराधिकारी बना कर मुक्त हुए ।

इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के चार पट्टधर भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण बाद के २५० वर्षों के समय में मुक्त हुए ।

अनेक विद्वान् आचार्य केशिकुमार और कुमार केशिश्रमण को, जिन्होंने गौतम गणधर के साथ हुए संवाद से प्रभावित हो सावत्थी नगरी में पंच महाव्रत रूप श्रमणधर्म स्वीकार किया, एक ही मानते हैं, पर उनकी यह मान्यता समीचीन विवेचन के पश्चात् संगत एवं शास्त्रसम्मत प्रतीत नहीं होती ।

शास्त्र में केशी नाम के दो मुनियों का परिचय उपलब्ध होता है । एक तो प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले केशिश्रमण का और दूसरे गौतम के साथ संवाद के पश्चात् चातुर्ग्रामधर्म से पंचमहाव्रत रूप श्रमणधर्म स्वीकार करने वाले



केशिकुमार श्रमण का। इन दोनों में से भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर कौनसे केशिश्रमण थे, यह यहाँ एक विचारणीय प्रश्न है।

आचार्य राजेन्द्रसूरि ने अपने अभिधान राजेन्द्र-कोष में दो स्थानों पर केशिश्रमण का परिचय दिया है। उन्होंने इस कोष के भाग प्रथम, पृष्ठ २०१ पर 'अजणिय कणिया' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए केशिश्रमण के लिए निर्ग्रन्थी पुत्र, कुमारावस्था में प्रव्रजित एवं युगप्रवर्तक आचार्य होने का उल्लेख किया है और आगे चल कर इसी कोष के भाग ३, पृष्ठ ६६६ पर 'केशी' शब्द की व्युत्पत्ति में उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि करते हुए लिखा है :-

“केससंपृष्टशुक्रपुद्गलसम्पर्काज्जाते निर्ग्रन्थी पुत्रे, (स च यथा जातस्तथा 'अजणिकणिया' शब्दे प्रथम भागे १०१ पृष्ठे दर्शितः) स च कुमार एव प्रव्रजितः पार्श्वपत्न्यीयश्चतुर्जानी अनगारगुणसम्पन्नः सूर्याभदेव-जीवं पूर्वभवे प्रदेशी नामानं राजानं प्रबोधयदिति। रा० नि०। ध० २०। (तद्वर्णकविशिष्टं 'पएसि' शब्दे वक्ष्यते गेयमकेसिज्ज शब्दे गौतमेन सहास्य संवादो वक्ष्यते)”

इस प्रकार राजेन्द्रसूरि ने केशिश्रमण आचार्य को ही प्रदेशी प्रतिबोधक, चार ज्ञान का धारक और गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाला केशी बताकर एक ही केशिश्रमण के होने की मान्यता प्रकट की है।

उपकेशगच्छ चरित्र से केशिकुमार श्रमण को उज्जयिनी के महाराज जयसेन व रानी अनंग सुन्दरी का पुत्र, आचार्य समुद्रसूरि का शिष्य, पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा व चतुर्थ पट्टधर, प्रदेशी राजा का प्रतिबोधक तथा गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाला बताया गया है।

एक ओर उपकेशगच्छ पट्टावली में निर्ग्रन्थीपुत्र केशी का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया है, तो दूसरी ओर अभिधान राजेन्द्र-कोष में उज्जयिनी के राजा जयसेन के पुत्र केशी का कोई जिक्र नहीं किया गया है।

पर दोनों ग्रन्थों में केशिश्रमण को भगवान् पार्श्वनाथ का चतुर्थ पट्टधर आचार्य, प्रदेशी का प्रतिबोधक तथा गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाला मान कर एक ही केशिश्रमण के होने की मान्यता का प्रतिपादन किया है।

'जैन परम्परा नो इतिहास' नामक गुजराती पुस्तक के लेखक मुनि दर्शन-विजय आदि ने भी समान नाम वाले दोनों केशिश्रमणों को अलग न मान कर एक ही माना है।

इसके विपरीत 'पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास' नामक पुस्तक के दोनों केशिश्रमणों का भिन्न-भिन्न परिचय नहीं देते हुए भी आचार्य केशी और

केशिकुमार श्रमण को अलग-अलग मान कर दो केशिश्रमणों का होना स्वीकार किया गया है।<sup>१</sup>

इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति यह है कि प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले आचार्य केशी और गौतम गणधर के साथ संवाद के पश्चात् पंच महाव्रत-धर्म स्वीकार करने वाले केशिकुमार श्रमण एक न होकर अलग-अलग समय में केशिश्रमण हुए हैं।

आचार्य केशी, जो कि भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर और श्वेताम्बिका के महाराज प्रदेशी के प्रतिबोधक माने गये हैं, उनका काल उपकेश-गच्छ पट्टावली के अनुसार पार्श्व-निर्वाण संवत् १६६ से २५० तक का है। यह काल भगवान् महावीर की छद्मस्थावस्था तक का ही हो सकता है।

इसके विपरीत श्रावस्ती नगरी में दूसरे केशिकुमार श्रमण और गौतम गणधर का सम्मिलन भगवान् महावीर के केवलीचर्या के पन्द्रह वर्ष बीत जाने के पश्चात् होता है।

इस प्रकार प्रथम केशिश्रमण का काल भगवान् महावीर के छद्मस्थकाल तक का और दूसरे केशिकुमार श्रमण का महावीर की केवलीचर्या के पन्द्रहवें वर्ष के पश्चात् तक ठहरता है।

इसके अतिरिक्त रायपसेणी सूत्र में प्रदेशप्रतिबोधक केशिश्रमण को चार ज्ञान का धारक बताया गया है<sup>२</sup> तथा जिन केशिकुमार श्रमण का गौतम गणधर के साथ श्रावस्ती में संवाद हुआ, उन केशिकुमार श्रमण को उत्तराध्ययन सूत्र में तीन ज्ञान का धारक बताया गया है।<sup>३</sup>

ऐसी दशा में प्रदेशप्रतिबोधक चार ज्ञानधारक केशिश्रमण, जो महावीर के छद्मस्थकाल में हो सकते हैं, उनका महावीर के केवलीचर्या के पन्द्रह वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् तीन ज्ञानधारक के रूप में गौतम के साथ मिलना किसी भी तरह युक्तिसंगत और संभव प्रतीत नहीं होता।

१ भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास (पूर्वार्द्ध), पृ० ४८

२ इच्छेए णं पदेसी ! अहं तव चउच्चिह्वेणं नाणेणं इमेयाकूवं अ०अत्थियं जाव समुप्पनं आणामि ।  
[रायपसेणी]

३ तस्स लोणपईवस्स, आसी सीसे महायसे ।

केसीकुमार समणे, विज्जाचरणे पारगे ॥२॥

ओहिनाण सुए बुद्धे, सीससंघसमाउले ।

गामाणुमामं रीयन्ते, सावत्थि नगरिमागए ॥३॥

[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३]

रायप्रसेणी और उत्तराध्ययन सूत्र में दिये गये दोनों केशिश्रमणों के परिचय के समीचीन मनन के अभाव में और समान नाम वाले इन दोनों श्रमणों के समय का सम्यक् रूपेण विवेचनात्मक पर्यवेक्षण न करने के कारण ही कुछ विद्वानों द्वारा दोनों को ही केशिश्रमण मान लिया गया है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह निर्विवादरूप से सिद्ध हो जाता है कि प्रदेशप्रति-बोधक चार ज्ञानधारी केशिश्रमण आचार्य समुद्रसूरि के शिष्य एवं पार्श्वपरंपरा के भोक्षमार्गी चतुर्थ आचार्य थे, न कि गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाले तीन ज्ञानधारक केशिकुमार श्रमण। दोनों एक न होकर भिन्न-भिन्न हैं। एक का निर्वाण पार्श्वनाथ के शासन में हुआ जबकि दूसरे का महावीर के शासन में।



## भगवान् महावीर

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल में भरतक्षेत्र के चौबीसवें एवं अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हुए। घोरतिघोर परीषहों को भी अतुल धैर्य, अलौकिक साहस, सुमेरुतुल्य अविचल दृढ़ता, अथाह सागरोपम गम्भीरता एवं अनुपम समभाव के साथ सहन कर प्रभु महावीर ने अभूतपूर्व सहनशीलता, क्षमा एवं अद्भुत घोर तपश्चर्या का संसार के समक्ष एक नवीन कीर्तिमान प्रतिष्ठापित किया।

भगवान् महावीर न केवल एक महान् धर्मसंस्थापक ही थे अपितु वे महान् लोकनायक, धर्मनायक, क्रान्तिकारी सुधारक, सच्चे पथ-प्रदर्शक, विश्व-बन्धुत्व के प्रतीक, विश्व के कर्णधार और प्राणिमात्र के परमप्रिय हितचिन्तक भी थे।

‘सन्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरीजिउं’ इस दिव्यघोष के साथ उन्होंने न केवल मानव समाज को अपितु पशुओं तक को भी अहिंसा, दया और प्रेम का पाठ पढ़ाया। धर्म के नाम पर यज्ञों में खुलेआम दी जाने वाली क्रूर पशुबली के विरुद्ध जैनमत को आन्दोलित कर उन्होंने इस घोर पापपूर्ण कृत्य को सदा के लिये समाप्तप्राय कर असंख्य प्राणियों को अभयदान दिया।

यही नहीं, भगवान् महावीर ने रुढ़िवाद, पाखण्ड, मिथ्याभिमान और वर्णभेद के अन्धकारपूर्ण गहरे गर्त में गिरती हुई मानवता को ऊपर उठाने का अथक प्रयास भी किया। उन्होंने प्रगाढ़ अज्ञानान्धकार से आच्छन्न मानव-हृदयों में अपने दिव्य ज्ञानालोक से ज्ञान की किरणों प्रस्फुटित कर विनाशोन्मुख मानव-समाज को न केवल विनाश से बचाया अपितु उसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य की रत्नत्रयी का अक्षय पाथेय दे मुक्तिपथ पर अग्रसर किया।

भगवान् महावीर ने विश्व को सच्चे समतावाद, साम्यवाद, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रशस्त मार्ग दिखा कर अमरत्व की ओर अग्रसर किया, जिसके लिये मानव-समाज उनका सदा-सर्वदा ऋणी रहेगा।

भगवान् महावीर का समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी माना गया है, जो कि विश्व के सांस्कृतिक एवं धार्मिक इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। ई० पूर्व छठी शताब्दी में, जबकि भारत में भगवान् महावीर ने और उनके समकालीन महात्मा बुद्ध ने अहिंसा का उपदेश देकर धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, लगभग उसी समय चीन में लाओत्से और कांग्फ्यूत्सी

यूनान में पाइथोगोरस, अफलातून और सुकरात, ईरान में जरथुष्ट, फिलिस्तीन में जिरेमियाँ और इजकिल आदि महापुरुष अपने-अपने क्षेत्र में सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार बने।

रूढ़िवाद और अन्धविश्वासों का विरोध कर उन सभी महापुरुषों ने जनता को सही दिशा में बढ़ने का मार्ग-दर्शन किया और उन्हें शुद्ध चिन्तन की प्रबल प्रेरणा दी। समाज की तत्कालीन कुरीतियों में युगान्तरकारी परिवर्तन प्रस्तुत कर वे सही अर्थ में युगपुरुष बने। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने ऊपर आने वाली आपदाओं का डटकर मुकाबला किया और प्रतिशोधात्मक परीषहों के आगे वे रत्ती भर भी नहीं झुके।

भगवान् महावीर का उपर्युक्त युगपुरुषों में सबसे उच्च, प्रमुख और बहुत ही सम्माननीय स्थान है। विश्वकल्याण के लिये उन्होंने धर्ममयी मानवता का जो आदर्श प्रस्तुत किया, वह अनुपम और अद्वितीय है।

### महावीरकालीन देश-दशा

भगवान् पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पश्चात् भगवान् श्री महावीर<sup>१</sup> चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में भारत-वसुधा पर उत्पन्न हुए। उस समय देश और समाज की दशा काफी विकृत हो चुकी थी। खास कर धर्म के नाम पर सर्वत्र आडंबर का ही बोलबाला था। पार्श्वकालीन तप, संयम और धर्म के प्रति रूचि मंद पड़ गई थी। ब्राह्मण संस्कृति के बढ़ते हुए वर्चस्व में श्रमण संस्कृति दबी जा रही थी। यज्ञ-याग और बाह्य क्रिया-काण्ड को ही धर्म का प्रमुख रूप माना जाने लगा था। यज्ञ में घृत, मधु ही नहीं अपितु प्रकट रूप में पशु भी होमे जाते और उसमें अर्घ्य नहीं, धर्म माना जाता था। उनके की चोट कहा जाता था कि भगवान् ने यज्ञ के लिये ही पशुओं की रचना की है।<sup>२</sup> वेदविहित यज्ञ में की जाने वाली हिंसा, हिंसा नहीं प्रत्युत अहिंसा है।<sup>३</sup>

धार्मिक क्रियाओं और संस्कृति-संरक्षण का भार तथाकथित ब्राह्मणों के ही अधीन था। वे चाहे विद्वान् हों या अविद्वान्, सदाचारी हों या दुराचारी,

१ (क) "पास जिष्णो यो होइ वीरजिणो, अड्ढाड्ज्जस्येहि गयेहि चरिमो समुप्पन्नो।

आवश्यक नियुक्ति (मलय), पृ० २४१, गाथा १७

(ख) आवश्यक चूणि, गा० १७, पृ० २१७

२ यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः। मनुस्मृति ५।२।३६

३ यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः, स्वयमेव स्वयमुवा।

यज्ञस्य मृत्यै सर्वस्य, तस्माद् यज्ञे बधोऽवधः ॥

या वेदविहिता हिंसा, नियतास्मिन्पराचरे।

अहिंसामेव तां विद्याद्, वेदाद् धर्मो हि निर्बन्धो ॥

[मनुस्मृति, ५।२।३६।४४]

अग्नि के समान सदा पवित्र और पूजनीय माने जाते थे ।<sup>१</sup> मनुष्य और ईश्वर के बीच सम्बन्ध जोड़ने की सारी शक्ति उन्हीं के अधीन समझी जाती थी । वे जो कुछ कहते, वह अकाट्य समझा जाता और इस तरह हिंसा भी धर्म का एक प्रमुख अंग माना जाने लगा । वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद के बन्धन में मानव-समाज इतना जकड़ा हुआ और उलझा हुआ था कि निम्नवर्ग के व्यक्तियों को अपनी सुख-सुविधा और कल्याण-साधन में भी किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी ।

समाज में यद्यपि अमीर और गरीब का वर्ग-संघर्ष नहीं था, फिर भी गरीबों के प्रति अमीरों की वत्सलता का स्रोत सूखता जा रहा था । ऊंच-नीच का मिथ्याभिमान मानवता को व्यथित और क्षुब्ध कर रहा था । जाति-पूजा और वैष-पूजा ने गुण-पूजा को भुला रखा था ।

निम्नवर्ग के लोग उच्चजातीय लोगों के सामने अपने सहज मानवीय भाव भी भलीभाँति व्यक्त नहीं कर पाते थे । कई स्थानों पर तो ब्राह्मणों के साथ शूद्र चल भी नहीं सकते थे । शिक्षा-दीक्षा और वेदादि शास्त्र-श्रवण पर द्विजातिवर्ग का एकाधिपत्य था । शूद्र लोग वेद की ऋचाएं न सुन सकते थे, न पढ़ सकते थे और न बोल ही सकते थे । स्त्रीसमाज को भी वेद-पठन का अधिकार नहीं था ।<sup>२</sup> शूद्रों के लिए वेद सुनने पर कानों में शीशा भरने, बोलने पर जीभ काटने और ऋचाओं को कण्ठस्थ करने पर शरीर नष्ट कर देने का कठोर विधान था । इतना ही नहीं, उनके लिए प्रार्थना की जाती कि उन्हें बुद्धि न दें, यज्ञ का प्रसाद न दें और वतादि का उपदेश भी नहीं दें ।<sup>३</sup> स्त्री जाति को प्रायः दासी मान कर हीन दृष्टि से देखा जाता था और उन्हें किसी भी स्थिति में स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं था ।<sup>४</sup>

१ अविद्वांश्चैव विद्वांश्च, ब्राह्मणो देवतं महत् ।

प्रणीतश्चाप्रणीतश्च, यथाग्निर्देवतं महत् ॥

श्मशानेष्वपि तेजस्वी, पावको नैव दुष्यति ।

ह्यमानश्च यज्ञेषु, भूय एवाभिवर्द्धते ॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु, वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।

सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः, परमं देवतं हि तत् ॥

[मनुस्मृति, ६।३।१७।३।१८।३।१९]

२ न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयेताम् ।

३ (क) वेदमुपशृण्वतस्तस्य जतुभ्यां श्रोत्रः प्रतिपूरणमुच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीर-भेदः ।

[गौतम धर्म सूत्र, पृ० १६५]

(ख) न शूद्राय मतिं दद्यान्निच्छेदं नहविष्कृतम् ।

न चास्योपदिशेद्धर्मं, न चास्य, व्रतमादिशेत् ॥

[वशिष्ठ स्मृति १८।१२।१३]

४ न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।

[वशिष्ठ स्मृति]

राजनैतिक दृष्टि से भी यह समय उथल-पुथल का था। उसमें स्थिरता व एकरूपता नहीं थी। कई स्थानों पर प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य थे, जिनमें नियमित रूप से प्रतिनिधियों का चुनाव होता था। जो प्रतिनिधि राज्य-मंडल या सांथागार के सदस्य होते, वे जनता के व्यापक हितों का भी ध्यान रखते थे। तत्कालीन गणराज्यों में लिच्छवी गणराज्य सबसे प्रबल था। इसकी राजधानी वैशाली थी। महाराजा चेटक इस गणराज्य के प्रधान थे। महावीर स्वामी की माता त्रिशला इन्हीं महाराज चेटक की बहिन थीं। काशी और कौशल के प्रदेश भी इसी गणराज्य में शामिल थे। इनकी व्यवस्थापिका-सभा "वज्जियन राज-संघ" कहलाती थी।

लिच्छवी गणराज्य के अतिरिक्त शाक्य गणराज्य का भी विशेष महत्त्व था। इसकी राजधानी 'कपिलवस्तु' थी। इसके प्रधान महाराजा शुद्धोदन थे, जो गौतम बुद्ध के पिता थे। इन गणराज्यों के अलावा मल्ल गणराज्य, जिसकी राजधानी कुशीनारा और पावा थी, कोल्य गणराज्य, आम्लकम्पा के बुलिगण, पिप्पलिवन के मोरीयगण आदि कई छोटे-मोटे गणराज्य भी थे। इन गणराज्यों के अतिरिक्त मगध, उत्तरी कौशल, वत्स, अवन्ति, कलिंग, अंग, बंग आदि कतिपय स्वतन्त्र राज्य भी थे। इन गणराज्यों में परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। इस तरह उस समय विभिन्न गण एवं स्वतन्त्र राज्यों के होते हुए भी तथाकथित निम्नवर्ग की दशा अत्यन्त चिन्तनीय बनी हुई थी। ब्राह्मण-प्रेरित राजन्यवर्गों के उत्पीड़न से जनसाधारण में क्षोभ और विषाद का प्राबल्य था।

इन सब परिस्थितियों का प्रभाव उस समय विद्यमान पार्श्वनाथ के संघ पर भी पड़े बिना नहीं रहा। श्रमणसंघ की स्थिति प्रतिदिन क्षीण होने लगी। मति-बल में दुर्बलता आने लगी तथा अनुशासन की अतिशय मृदुता से आचार-व्यवस्था में शिथिलता दिखाई देने लगी। फिर भी कुछ विशिष्ट मनोबल वाले श्रमण इस विषम स्थिति में भी अपने मूलस्वरूप को टिकाये हुए थे। वे याज्ञिकी हिंसा का विरोध और अहिंसा का प्रचार भी करते थे, पर उनका बल पर्याप्त नहीं था। फिर साधना का लक्ष्य भी बदला हुआ था। धर्म-साधना का हेतु निर्वाण-मुक्ति के बदले मात्र अभ्युदय-स्वर्ग रह गया था। यह चतुर्थकाल की समाप्ति का समय था। फलतः जन-मन में धर्म-भाव की रुचि कम पड़ती जा रही थी। ऐसे विषम समय में जन-समुदाय को जागृत कर, उसमें सही भावना भरने और सत्यमार्ग बताने के लिए ज्योतिर्धर भगवान् महावीर का जन्म हुआ।

### पूर्वभव की साधना

जैन धर्म यह नहीं मानता कि कोई तीर्थंकर या महापुरुष ईश्वर का अंश

होकर अवतार लेता है। जैन शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनने की योग्यता रखती है और विशिष्ट क्रिया के माध्यम से उसका तीर्थंकर या भगवान् रूप से उत्तर-जन्म होता है। किन्तु ईश्वर कर्मभूक्त होने के कारण पुनः मानव रूप में अवतार-जन्म नहीं लेते। हाँ, स्वर्गीय देव मानवरूप में अवतार ले सकते हैं। मानव सत्कर्म से भगवान् हो सकता है। इस प्रकार नर का नारायण होना अर्थात् ऊपर चढना यह उत्तार है। अतः जैन धर्म अवतारवादी नहीं उत्तारवादी है। भगवान् महावीर के जीवने नयसार के भव में सत्कर्म का बीज डाल कर क्रमशः सिचन करते हुए तीर्थंकर-पद की प्राप्ति की, जो इस प्रकार है—

किसी समय प्रतिष्ठानपुर का ग्रामचिन्तक नयसार, राजा के आदेश से वन में लकड़ियों के लिये गया हुआ था। एकदा मध्याह्न में वह खाने बैठा ही था कि उसी समय वन में मार्गच्युत कोई तपस्वी मुनि उसे दृष्टिगोचर हुए। उसने भूख-प्यास से पीड़ित उन मुनि को भक्तिपूर्वक निर्दोष आहार-प्रदान किया और उन्हें गाँव का सही मार्ग बतलाया। मुनि ने भी नयसार को उपदेश देकर आत्म-कल्याण का मार्ग समझाया। फलस्वरूप उसने वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त कर भव-भ्रमण को परिमित कर लिया।

दूसरे भव में वह सौधर्म कल्प में देव हुआ और तीसरे भव में भरत-पुत्र मरीचि के रूप में उत्पन्न हुआ। चौथे भव में ब्रह्मलोक में देव, पाँचवें भव में कौशिक ब्राह्मण, छठे भव में पुष्यमित्र ब्राह्मण, सातवें भव में सौधर्म देव, आठवें भव में अग्निद्योत, नवें भव में द्वितीय कल्प का देव, दशवें भव में अग्निभूति ब्राह्मण, ग्यारहवें भव में सनत्कुमार देव, बारहवें भव में भारद्वाज, तेरहवें भव में महेन्द्रकल्प का देव, चौदहवें भव में स्थावर ब्राह्मण, पन्द्रहवें भव में ब्रह्मकल्प का देव और सोलहवें भव में युवराज विशाखभूति का पुत्र विश्वभूति हुआ। संसार की कपट-लीला देखकर उन्हें विरक्ति हो गई। मुनि बनकर उन्होंने घोर तपस्या की और अन्त में अपरिमित बलशाली बनने का निदान कर काल किया। सत्रहवाँ भव महाशुक्र देव का कर इन्होंने अठारहवें भव में त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप से जन्म ग्रहण किया।

→ एक दिन त्रिपृष्ठ वासुदेव के पिता प्रजापति के पास प्रतिवासुदेव अश्वघ्रीव का सन्देश आया कि शाली-क्षेत्र पर शेर के उपद्रव से कृषकों की रक्षा करने के लिये उनको वहाँ जाना है। महाराज प्रजापति कृषकों की रक्षा के लिये प्रस्थान कर ही रहे थे कि राजकुमार त्रिपृष्ठ ने आकर कहा—“पिताजी! हम लोगों के रहते आपको कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। उस अकिंचन शेर के लिये तो हम बच्चे ही पर्याप्त हैं।” इस तरह त्रिपृष्ठ कुमार राजा की आज्ञा लेकर उपद्रव के स्थान पर पहुँचे और खेत के रखवालों से बोले—“भाई! यहाँ कैसे और कब तक रहना है?”



रक्षकों ने कहा—“जब तक शालि-धान्य पक नहीं जाता तब तक सेना सहित घेरा डाल कर यहीं रहना है। और शेर से रक्षा करनी है।”

इतने समय तक यहाँ कौन रहेगा, ऐसा विचार कर त्रिपृष्ठ ने शेर के रहने का स्थान पूछा और सशस्त्र रथारूढ़ हो गुफा पर पहुँच कर गुफास्थित शेर को ललकारा। सिंह भी उठा और भयंकर दहाड़ करता हुआ अपनी माँद से बाहर निकला।

उत्तम पुरुष होने के कारण त्रिपृष्ठ ने शेर को देख कर सोचा—“यह तो पैदल और शस्त्ररहित निहत्था है, फिर मैं रथारूढ़ और शस्त्र से सुसज्जित ही इस पर आक्रमण करूँ, यह कैसे न्यायसंगत होगा? मुझे भी रथ से नीचे उतर कर बराबरी से मुकाबला करना चाहिये।”

ऐसा सोच कर वह रथ से नीचे उतरा और शस्त्र फेंक कर सिंह के सामने तन कर खड़ा हो गया। सिंह ने ज्यों ही उसे बिना शस्त्र के सामने खड़ा देखा तो सोचने लगा—“अहो! यह कितना घृष्ट है, रथ से उतर कर एकाकी मेरी गुफा पर आ गया है। इसे मारना चाहिये। ऐसा सोच सिंह ने आक्रमण किया। त्रिपृष्ठ ने साहसपूर्वक छलांग भर कर शेर के जवड़े दोनों हाथों से पकड़ लिये और जीर्ण वस्त्र की तरह शेर को अनायास ही चीर डाला। दर्शक, कुमार का साहस देख कर स्तब्ध रह गये और कुमार के जय-घोषों से गगन गूँज उठा।<sup>१</sup>

अश्वघ्रीव ने जब कुमार त्रिपृष्ठ के अद्भुत शौर्य की यह कहानी सुनी तो उसे कुमार के प्रबल शौर्य से बड़ी ईर्ष्या हुई। उसने कुमार को अपने पास बुलवाया और उसके न आने पर नगर पर चढ़ाई कर दी। दोनों में खूब जम-कर युद्ध हुआ। त्रिपृष्ठ की शक्ति के सम्मुख अश्वघ्रीव ने जब अपने शस्त्रों को निस्तेज देखा तो उसने चक्र-रत्न चलाया, किन्तु त्रिपृष्ठ ने चक्र-रत्न को पकड़ कर उस ही के द्वारा अश्वघ्रीव का शिर काट डाला और स्वयं प्रथम वासुदेव बना।

एक दिन त्रिपृष्ठ के राजमहल में कुछ संगीतज्ञ आये और अपने मधुर संगीत की स्वर-लहरी से उन्होंने भोताओं को मंत्र-मुग्ध कर दिया। राजा ने सोते समय शय्यापालकों से कहा—“मुझे जब नींद आ जाय तो याना बन्द करवा देना।” किन्तु शय्यापालक संगीत की माधुरी से इतने प्रभावित हुए कि

१ त्रि. श. पु. च. १ पं०, १० स०, श्लोक १४०

२ अजेन पाणिनोऽर्जोष्ठमपरेणाधरं पुनः । धृत्वा त्रिपृष्ठस्तं सिंहं जीर्णवस्त्रमिवाट्टयान् । पुष्पाभरणं वस्त्राणि..... । त्रि० श० पु० च० १०।१।१४१-१४०

राजा के सो जाने पर भी वे संगीत को बन्द नहीं करा सके । रात के अ्रवसान पर जब राजा की नींद भंग हुई तो उसने संगीत को चालू देखा ।

क्रोध में भर कर त्रिपुष्ठ शय्यापालक से बोले—“गाना बन्द नहीं करवाया ?” उसने कहा—“देव ! संगीत की मीठी तान में मस्त होकर मैंने गायक को नहीं रोका ।” त्रिपुष्ठ ने आज्ञाभंग के अपराध से रुष्ट हो शय्यापालक के कानों में शीशा गरम करवा कर डाल दिया ।

★ इस घोर क्रूर्य से उस समय त्रिपुष्ठ ने निकाचित कर्म का बन्ध किया और मर कर सप्तम नरक में नेरइया रूप से उत्पन्न हुआ । यह महावीर के जीव का उन्नीसवाँ भव था । बीसवें भव में सिंह और इक्कीसवें भव में चतुर्थ नरक का नेरइया हुआ । तदनन्तर अनेक भव कर पहली नरक में उत्पन्न हुआ, वहाँ की आयु पूर्ण कर बाईसवें प्रियमित्र (पोट्टिल) चक्रवर्ती के भव में दीर्घ-काल तक राज्यशासन करके पोट्टिलाचार्य के पास संयम स्वीकार किया और करोड़ वर्ष तक तप-संयम की साधना की । तेईसवें भव में महाशुक्र कल्प में देव हुआ और चौबीसवें भव में नन्दन राजा के भव में तीर्थकरगोत्र का बंध किया, जो इस प्रकार है :—

छत्रा नगरी के महाराज जितशत्रु के पुत्र नन्दन ने पोट्टिलाचार्य के उपदेश से राजसी वैभव और काम-भोग छोड़ कर दीक्षा ग्रहण की । चौबीस लाख वर्ष तक इन्होंने संसार में भोग-जीवन बिताया और फिर एक लाख वर्ष की संयम पर्याय में निरन्तर मास-मास की तपस्या करते रहे और कर्मशूर से धर्मशूर बनने की कहावत चरितार्थ की । इस लाख वर्ष के संयमजीवन में इन्होंने ग्यारह लाख साठ हजार मास-खमण किये । सब का पारण-काल तीन हजार तीन सौ तैंतीस वर्ष, तीन मास और उन्तीस दिनों का हुआ । तप-संयम और अर्हत् आदि बीसों ही बोलों की उत्कट आराधना करते हुए इन्होंने तीर्थकर-नामकर्म का बन्ध किया, एवं अन्त में दो मास का अनुशन कर समाधिभाव में आयु पूर्ण की । पन्चौसवें भव में प्राणत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए ।

समवायांग सूत्र के अनुसार प्राणत स्वर्ग से च्यवन कर नन्दन का जीव देवानन्द की कुक्षि में उत्पन्न हुआ, इसे भगवान् का छौबीसवाँ भव और देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशला देवी की कुक्षि में शक्राज्ञा से हरिणीगमपी देव द्वारा गर्भ-परिवर्तन किया गया, इसे भगवान् का सत्ताईसवाँ भव माना गया है । क्रमशः दो गर्भों में आगमन को पृथक्-पृथक् भव मान लिया गया है ।

इस सम्बन्ध में समवायांग सूत्र का मूल पाठ व श्री अभय देव सूरी द्वारा निर्मित वृत्ति का पाठ इस प्रकार है :—

“समरो भगवं महावीरे तित्थगरभवग्गहणाओ छट्ठे पोटिल्ल भवग्गहरो एगं वास कीडि सामण्य परियागं.....”

[ समवायांग, समवाय १३४, पत्र ६८ (१) ]

“समरोत्यादि यतो भगवान् प्रोट्टिलाभिधान राजपुत्रो बभूव, तत्र वर्षकोटि प्रव्रज्यां पालितवानित्येको भवः, ततो देवोऽभूदिति द्वितीयः, ततो नन्दनाभिधानो राजसूनुः छत्राग्रनगर्यां जजे इति तृतीयः, तत्र वर्षलक्षं सर्वथा मासक्षपणेन तपस्तप्त्वा दशमदेवलोके पुष्पोत्तरवरविजयपुण्डरीकाभिधाने विमाने देवोऽभवदिति चतुर्थस्ततो ब्राह्मणकुण्डग्रामे ऋषभदत्तब्राह्मणस्य भार्याया देवानन्दाभिधानाया कुक्षावृत्पन्न इति पञ्चमस्ततस्त्र्यशीतितमे दिवसे क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे सिद्धार्थ-महाराजस्य त्रिशलाभिधानभार्याया कुक्षाविन्द्रवचनकारिणा हरिनैगमेपिनाम्ना देवेन संहृतस्तीर्थकरतया च जातः इति षष्ठः, उक्तभवग्रहणं हि विनानान्य-द्रव-ग्रहणं षष्ठं श्रूयते भगवत इत्येतदेव षष्ठभवग्रहणतया व्याख्यातं, यस्माच्च भव-ग्रहणादिदं षष्ठं तदप्येतस्मात् षष्ठमेवेति मुण्ठूच्यते तीर्थकर भवग्रहणात् षष्ठे पोट्टिल्लभवग्रहणे इति ।”

[ समवायांग, अभयदेववृत्ति, पत्र ६८ ]

आचार्य हेमचन्द्र मूरि कृत त्रिणष्टि शलाका पुरुष चरित्र, आचार्य गुण-चन्द्रगणि कृत श्री महावीर चरियं, आवश्यक निर्युक्ति और आवश्यकमलयगिरि-वृत्ति में पोट्टिल (प्रियमित्र चक्रवर्ती) से पहले बाईसवां भव मानव के रूप में उत्पन्न होने का उल्लेख कर देवानन्दा के गर्भ में उत्पन्न होने और त्रिशला के गर्भ में संहारण इन दोनों को भगवान् महावीर का सत्ताईसवां भव माना है। पर मूल आगम समवायांग के उपर्युक्त उद्धरण के समक्ष इस प्रकार की अन्य किसी मान्यता को स्वीकार करने का कोई प्रश्न पैदा नहीं होता।

दिग्म्बर परम्परा में भगवान् महावीर के ३३ भवों का वर्णन है।<sup>१</sup>

इतिहास-प्रेमियों की सुविधा हेतु एवं पाठकों की जानकारी के लिये श्वेताम्बर और दिग्म्बर इन दोनों परम्पराओं की मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर के भव यहाँ दिये जा रहे हैं :—

१ गुणभद्राचार्य रचित उत्तरपुराण, पर्व ७८, पृ० ४८४

श्वेताम्बर मान्यता

## दिगम्बर मान्यता

१. नयसार ग्राम चिन्तक
२. सौधर्मदेव
३. मरीचि
४. ब्रह्म स्वर्ग का देव
५. कौशिक ब्राह्मण (अनेक भव)
६. पुष्यमित्र ब्राह्मण
७. सौधर्मदेव
८. अग्निद्योत
९. द्वितीय कल्प का देव
१०. अग्निभूति ब्राह्मण
११. सनत्कुमारदेव
१२. भारद्वाज
१३. महेश्वरकल्प का देव
१४. स्थावर ब्राह्मण
१५. ब्रह्मकल्प का देव
१६. विश्वभूति
१७. महाशुक्र का देव
१८. त्रिपृष्ठ नारायण
१९. सातवीं नरक
२०. सिंह
२१. चतुर्थ नरक (अनेक भव, अन्त में पहली नरक का नेरिया)
२२. पोट्टिल (प्रियमित्र) चक्रवर्ती
२३. महाशुक्रकल्प का देव
२४. नन्दन
२५. प्राणत देवलोक
२६. देवानन्दा के गर्भ में
२७. त्रिशला की कुक्षि से भगवान्

महावीर

१. पुरुरवा भील
२. सौधर्म देव
३. मरीचि
४. ब्रह्म स्वर्ग का देव
५. जटिल ब्राह्मण
६. सौधर्म स्वर्ग का देव
७. पुष्यमित्र ब्राह्मण
८. सौधर्म स्वर्ग का देव
९. अग्निमह ब्राह्मण
१०. सनत्कुमार स्वर्ग का देव
११. अग्निमित्र ब्राह्मण
१२. माहेन्द्र स्वर्ग का देव
१३. भारद्वाज ब्राह्मण
१४. माहेन्द्र स्वर्ग का देव  
त्रस स्थावर योनि के असंख्य भव
१५. स्थावर ब्राह्मण
१६. माहेन्द्र स्वर्ग का देव
१७. विश्वनन्दी
१८. महाशुक्र स्वर्ग का देव
१९. त्रिपृष्ठ नारायण
२०. सातवीं नरक का नारकी
२१. सिंह
२२. प्रथम नरक का नारकी
२३. सिंह
२४. प्रथम स्वर्ग का देव
२५. कनकोज्वल राजा
२६. लान्तक स्वर्ग का देव
२७. हरिषेण राजा
२८. महाशुक्र स्वर्ग का देव

२६. प्रियमित्र चक्रवर्ती
३०. सहस्रार स्वर्ग का देव
३१. नन्द राजा
३२. अच्युत स्वर्ग का देव
३३. भगवान् महावीर

दोनों परम्पराओं में भगवान् के पूर्वभवों के नाम एवं संख्या में भिन्नता होने पर भी इस मूल एवं प्रमुख तथ्य को एकमत से स्वीकार किया गया है कि अनन्त भवभ्रमण के पश्चात् सम्यग्दर्शन की उपलब्धि तथा कर्मनिर्जरा के प्रभुत्व से नयसार का जीव अम्युदय और आत्मोन्नति की ओर अग्रसर हुआ। दृष्टतपूर्ण कर्मबन्ध से उसे पुनः एक बहुत लम्बे काल तक भवाटवी में भटकना पड़ा और अन्त में नन्दन के भव में अस्युत्कट चिन्तन, मनन एवं भावना के साथ-साथ उच्चतम कोटि के त्याग, तप, संयम, वैराग्य, भक्ति और वैराग्य के आचरण से उसने महामहिमापूर्ण सर्वोच्चपद तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया।

भगवान् महावीर के पूर्वभवों की जो यह संख्या दी गई है, उसमें नयसार के भव से महावीर के भव तक के सम्पूर्ण भव नहीं आये हैं। दोनों परम्पराओं की मान्यता इस सम्बन्ध में समान है कि ये २७ भव केवल प्रमुख-प्रमुख भव हैं। इन सत्ताईस भवों के बीच में भगवान् के जीव ने अन्य अगणित भवों में भ्रमण किया।

### भ० महावीर के कल्याणक

भगवान् महावीर के पाँच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में दशम स्वर्ग से च्यवन कर उसी उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में वे देवानन्दा के गर्भ में आये। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही उनका देवानन्दा के गर्भ से महारानी विशलादेवी के गर्भ में साहरण किया गया। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही भ० महावीर का जन्म हुआ। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही प्रभु महावीर मृण्डित हो सागर से अगुगार बने और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही प्रभु महावीर ने कृत्स्न (समग्र), प्रतिपूर्ण, अव्याघात, निरावरण अनन्त और अनुत्तर केवलज्ञान एवं केवलदर्शन एक साथ प्राप्त किया। स्वाति नक्षत्र में भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया।

### च्यवन और गर्भ में आगमन

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल के सुषम-सुषम, सुषम, सुषम-दुषम नामक

१ आचारंग सूत्र, श्रु० २, तृतीया चूला, भावना नामक १५वाँ अध्याय का प्रारम्भिक सूत्र।

तीन आरकों के व्यतीत हो जाने पर और दुष्म-सुष्म नामक चौथे आरक का बहुत काल व्यतीत हो जाने पर जब कि उस चौथे आरक के केवल ७५ वर्ष और साढ़ आठ मास ही शेष रहे थे, उस समय ग्रीष्म ऋतु के चौथे मास, आठवें पक्ष में आपाढ़ शुक्ला छठ की रात्रि में चन्द्र का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ योग होने पर भ० महावीर (नन्दन राजा का जीव) महाविजय सिद्धार्थ-पुष्पोत्तर वर पुण्डरीक, दिक्स्वस्तिक वर्द्धमान नामक महा विमान में सागरोपम की देव-आयु पूर्ण कर देवायु, देवस्थिति और देवभव का क्षय होने पर उस दशवें स्वर्ग से च्यवन कर इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिणाह्न्य भरत के दक्षिण ब्राह्मण-कुण्ड पुर सन्निवेश में कुडाल गोत्रीय ब्राह्मण ऋषभदत्त की भार्या जालन्धर गोत्रीया ब्राह्मणी देवानन्दा की कुक्षि में, गुफा में प्रवेश करते हुए सिंह के समान गर्भ रूप में उत्पन्न हुए ।<sup>१</sup>

श्रमण भ० महावीर के जीव ने जिस समय दशवें स्वर्ग से च्यवन किया, उस समय वह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान—इन तीन ज्ञानों से युक्त था । मैं दशवें स्वर्ग से च्यवन करूँगा—यह वे जानते थे । स्वर्ग से च्यवन कर मैं गर्भ में आ गया हूँ, यह भी वे जानते थे, किन्तु मेरा इस समय च्यवन हो रहा है, इस च्यवन-काल को वे नहीं जानते थे, क्योंकि वह च्यवनकाल अत्यन्त सूक्ष्म कहा गया है ।<sup>२</sup> वह काल केवल केवलीगम्य ही होता है, छद्मस्थ उसे नहीं जान सकता ।

आपाढ़ शुक्ला षष्ठी की अर्द्धरात्रि में भगवान् महावीर गर्भ में आये और उसी रात्रि के अन्तिम प्रहर में सुखपूर्वक सोयी हुई देवानन्दा ने अर्द्धजागृत और अर्द्धसुप्त अवस्था में चौदह महान् मंगलकारी शुभ स्वप्न देखे । महारवणों को देखने के पश्चात् तत्काल देवानन्दा उठी । वह परम प्रमुदित हुई । उसने उसी समय अपने पति ऋषभदत्त के पास जा कर उन्हें अपने चौदह स्वप्नों का विवरण सुनाया ।

देवानन्दा द्वारा स्वप्न-दर्शन की बात सुनकर ऋषभदत्त बोले—“अयि देवानुप्रिये ! तुमने बहुत ही अच्छे स्वप्न देखे हैं । ये स्वप्न शिव और मंगलरूप हैं । विशेष बात यह है कि नौ मास और साढ़े सात रात्रि-दिवस बीतने पर तुम्हें पुण्यशाली पुत्र की प्राप्ति होगी । वह पुत्र शरीर से सुन्दर, सुकुमार, अच्छे लक्षण, व्यञ्जन, सद्गुणों से युक्त और सर्वप्रिय होगा । जब वह बाल्यकाल पूर्ण कर युवावस्था को प्राप्त होगा तो वेद-वेदाङ्गादि का पारंगत विद्वान्, बड़ा

१ समग्रे भगवं महावीरे इमाए ओमपिणीए.....देवाणंदाए माहणीए जालन्धर-स्तमुत्ताए मीढुभवभूणं अप्पाणं कुच्छिसि गम्भं वक्कंते ।

२ समग्रे भगवं महावीरे तिन्नाणोवगए यावि हुत्था, चइस्सामिति जाणइ, जुएमिति जाणइ, चयमाणे न जाणइ, सुहुमे णं से काले पन्नत्ते । आचारांग, श्रु० २, अ० १५ ।

शूरवीर और महान् पराक्रमी होगा। ऋषभदत्त के मुख से स्वप्नफल सुन कर देवानन्दा बड़ी प्रसन्न हुई तथा योग्य आहार-विहार और अनुकूल आचार से गर्भ का परिपालन करने लगी।

### इन्द्र का अवधिज्ञान से देखना

उसी समय देवपति शक्रेन्द्र ने सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को अवधिज्ञान से देखते हुए श्रमण भगवान् महावीर को देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में उत्पन्न हुए देखा। वे प्रसन्न होकर सिंहासन पर से उठकर पादपीठ से नीचे उतरे और मणिजटित पादुकाओं को उतार कर बिना सिले एक शाटक-वस्त्र से उत्तरासन (मूँह की यतना) किये और अंजलि जोड़े हुए तीर्थकर के सम्मुख सात आठ पैर आगे चले तथा बायें घुटने को ऊपर उठाकर एवं दाहिने घुटने को भूमि पर टिका कर उन्होंने तीन बार सिर झुकाया और फिर कुछ ऊँचे होकर, दोनों भुजाओं को संकोच कर, दशों अंगुलियाँ मिलाये अंजलि जोड़कर वंदन करते हुए वे बोले—  
“नमस्कार हो अर्हन्त भगवान् ! यावत् सिद्धिगति नाम स्थान प्राप्त को। फिर नमस्कार हो श्रमण भगवान् महावीर ! धर्मतीर्थ की आदि करने वाले चरम-तीर्थकर को।” इस प्रकार भावी तीर्थकर को नमस्कार करके इन्द्र पूर्वाभिमुख हो सिंहासन पर बैठ गये।<sup>१</sup>

### इन्द्र की चिन्ता और हरिरागमेषी को आदेश

इन्द्र ने जब अवधिज्ञान से देवानन्दा की कुक्षि में भगवान् महावीर के गर्भरूप से उत्पन्न होने की बात जानी तो उसके मन में यह बिचार उत्पन्न हुआ—  
“अर्हन्त, चक्रवर्ती, बलदेव और वामुदेव सदा उग्रकुल आदि विशुद्ध एवं प्रभावशाली वंशों में ही जन्म लेते आये हैं, कभी अंत, प्रान्त, तुच्छ या भिक्षुक कुल में उत्पन्न नहीं हुए और न भविष्य में होंगे। चिरन्तन काल से यही परम्परा रही है कि तीर्थकर आदि उग्रकुल, भोगकुल प्रभृति प्रभावशाली वीरोचित कुलों में ही उत्पन्न होते हैं। फिर भी प्राक्तन कर्म के उदय से श्रमण भगवान् महावीर देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में उत्पन्न हुए हैं, यह अनहोनी और आश्चर्यजनक बात है। मेरा कर्त्तव्य है कि तथाविध अन्त आदि कुलों से उनका उग्र आदि विशुद्ध कुल-वंश में साहरण करवाऊँ।” ऐसा सोचकर इन्द्र ने हरिरागमेषी देव को बुलाया और उसे श्रमण भगवान् महावीर को सिद्धार्थ राजा की पत्नी त्रिशला के गर्भ में साहरण करने का आदेश दिया।<sup>२</sup>

१ (क) भाव० भाष्य०, गा० ५८, ५९ पत्र २५६

(ख) कल्पसूत्र, सू० ६१।

### हरिसौंगमेषी द्वारा गर्भापहार

इन्द्र का आदेश पाकर हरिसौंगमेषी प्रसन्न हुआ और “तथास्तु देव !” कह कर उसने विशेष प्रकार की क्रिया से कृत्रिम रूप बनाया । उसने ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में आकर देवानन्दा को निद्रावश करके बिना किसी प्रकार की बाधा-पीड़ा के महावीर के शरीर को करतल में ग्रहण किया एवं त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में लाकर रख दिया तथा त्रिशला का गर्भ लेकर देवानन्दा की कूख में बदल दिया<sup>१</sup> और उसकी निद्रा का अपहरण कर चला गया ।

आचारांग सूत्र के भावना अध्ययन में कब और किस तरह गर्भपरिवर्तन किया, इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

जम्बूद्वीप के दक्षिणाद्ध<sup>२</sup> भरत में, दक्षिण ब्राह्मणकुण्डपुर सन्निवेश में कोडालसगोत्रीय उसभदत्त ब्राह्मण की जालंधर गोत्र वाली देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में सिंहअर्भक की तरह भगवान् महावीर गर्भरूप से उत्पन्न हुए । उस समय श्रमण भगवान् महावीर तीन ज्ञान के धारक थे । श्रमण भगवान् महावीर को हितानुकम्पी देव ने जीतकल्प समझ कर, वर्षाकाल के तीसरे मास, अर्थात् पाँचवें पक्ष में, आश्विन कृष्णा त्रयोदशी को जब चन्द्र का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ योग था, बयासी अहोरात्रियाँ बीतने पर नियासीवीं रात्रि में दक्षिण ब्राह्मणकुण्डपुर सन्निवेश से उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश में ज्ञात-क्षत्रिय, काश्यप गोत्रीय सिद्धार्थ की वशिष्ठ गोत्रीया क्षत्रियाणी त्रिशला की कुक्षि में अशुभ पुद्गलों को दूर कर शुभ पुद्गलों के साथ गर्भ रूप में रखा और जो त्रिशला क्षत्रियाणी का गर्भ था उसके, दक्षिण-ब्राह्मणकुण्डपुर सन्निवेश में ब्राह्मण ऋषभदत्त की पत्नी देवानन्दा की कूख में स्थापित किया ।<sup>३</sup>

### गर्भापहार-विधि

इस प्रकार ८२ रात्रियों तक देवानन्दा के गर्भ में रहने के पश्चात् ८३वीं रात्रि में जिस समय हरिसौंगमेषी देव द्वारा गर्भ रूप में रहे हुए भगवान् महावीर का महारानी त्रिशलादेवी की कुक्षि में साहरण किया गया—“हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस समय वे भगवान् तीन ज्ञान से युक्त थे । मेरा देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशलादेवी की कुक्षि में साहरण किया जायगा, इस समय मेरा साहरण किया जा रहा है और देवानन्दा की कुक्षि से मेरा साहरण त्रिशलादेवी की कुक्षि में कर दिया गया है—ये तीनों ही बातें भगवान् महावीर जानते थे ।”<sup>३</sup>

१ आचारांग सूत्र

२ आचारांग सूत्र

३ समणो भगवन् महावीरो तिस्राणोवमण यावि होत्था-साहरिज्जिसामित्ति जाणाइ, साहरि-ज्जमाणे वि जाणाइ, साहरिणमित्ति जाणाइ समणाउमो ।

आचारांग सूत्र, ध्रु० २, अ० १५



देवकृत साहरण का कार्य च्यवन काल के समान अत्यन्त सूक्ष्म नहीं होता, अतः तीन ज्ञान के धनी भ० महावीर साहरण की भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों ही क्रियाओं को जानते थे। कल्पसूत्र में जो उल्लेख है कि “इस समय मेरा साहरण किया जा रहा है, यह भ० महावीर नहीं जानते थे”, वह उल्लेख ठीक नहीं है। कल्पसूत्र के टीकाकार विनय विजयजी ने “साहरिज्जमारो वि जाणइ” इस प्रकार के प्राचीन प्रति के पाठ को प्रामाणिक माना है।

भगवती सूत्र में हरिणैगमेषी द्वारा जिस प्रकार गर्भ-परिवर्तन किया जाता है, उसकी चर्चा की गई है। इन्द्रभूति गौतम ने जिज्ञासा करते हुए भगवान् महावीर से पूछा—“प्रभो ! हरिणैगमेषी देव जो गर्भ का परिवर्तन करता है, वह गर्भ से गर्भ का परिवर्तन करता है या गर्भ से लेकर योनि द्वारा परिवर्तन करता है अथवा योनिद्वार से निकाल कर गर्भ में परिवर्तन करता है या योनि से योनि में परिवर्तन करता है ?”

उत्तर में कहा गया—“गौतम ! गर्भाशय से लेकर हरिणैगमेषी दूसरे गर्भ में नहीं रखता किन्तु योनि द्वारा निकाल कर बाधा-पीड़ा न हो, इस तरह गर्भ को हाथ में लिए दूसरे गर्भाशय में स्थापित करता है। गर्भपरिवर्तन में माता को पीड़ा इस कारण नहीं होती कि हरिणैगमेषी देव में इस प्रकार की लब्धि है कि वह गर्भ को सूक्ष्म रूप से नख या रोमकूप से भी भीतर प्रविष्ट कर सकता है।” जैसा कि कल्पसूत्र में कहा है :—

“हरिणैगमेषी ने देवानन्दा ब्राह्मणी के पास आकर पहले श्रमण भगवान् महावीर को प्रणाम किया और फिर देवानन्दा को परिवार सहित निद्राधीन कर अशुभ पुद्गलों का अपहरण किया और शुभ पुद्गलों का प्रक्षेप कर प्रभु की अनुज्ञा से श्रमण भगवान् महावीर को बाधा-पीड़ा रहित दिव्य प्रभाव से करतल में लेकर त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भ रूप से साहरण किया।”

[कल्पसूत्र, सू० २७]

### गर्भाहार असंभव नहीं, आश्चर्य है

वास्तव में ऐसी घटना अद्भुत होने के कारण आश्चर्यजनक हो सकती है, पर असंभव नहीं। आचार्य भद्रबाहु ने भी कहा है—“गर्भपरिवर्तन जैसी घटना लोक में आश्चर्यभूत है जो अनन्त अवसर्पिणी काल और अनन्त उत्सर्पिणी काल व्यतीत होने पर कभी-कभी होती है।”

दिगम्बर परम्परा ने गर्भापहरण के प्रकरण को विवादास्पद समझ कर मूल से ही छोड़ दिया है। पर श्वेताम्बर परम्परा के मूल सूत्रों और टीका चूर्ण आदि में इसका स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है। श्वेताम्बर आचार्यों का कहना

है कि तीर्थंकर का गर्भहरण आश्चर्यजनक घटना हो सकती है, पर असंभव नहीं। समवायांग सूत्र के ८३वें समवाय में गर्भपरिवर्तन का उल्लेख मिलता है। स्थानांग सूत्र के पाँचवें स्थान-में भी भगवान् महावीर के पंचकल्याणकों में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में गर्भपरिवर्तन का स्पष्ट उल्लेख है। स्थानांग सूत्र के १०वें स्थान में दश आश्चर्य गिनाये गये हैं। उनमें गर्भ-हरण का दूसरा स्थान है। वे आश्चर्य इस प्रकार हैं :-

उवसग्ग, गब्भहरणं इत्थीतित्थं अभाविआ-परिआ ।  
 कण्हस्स अवरकंका. उत्तरणं चंद-सूराणं ॥  
 हरिवंसकुलुप्पस्ती चमरुप्पातो य अट्ठसयसिद्धा ।  
 असंसजतेसु पूआ, दस वि अणतेरा कालेरा ॥

[स्थानांग भा. २ सूत्र ७७७, पत्र ५२३-२]

१. उपसर्ग :—श्रमण भगवान् महावीर के समवसरण में गोशालक ने सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि को तेजोलेश्या से भस्मीभूत कर दिया। भगवान् पर भी तेजोलेश्या का उपसर्ग किया। यह प्रथम आश्चर्य है।

२. गर्भहरण :—तीर्थंकर का गर्भहरण नहीं होता, पर श्रमण भगवान् महावीर का हुआ। यह दूसरा आश्चर्य है। जैनागमों की तरह वैदिक परम्परा में भी गर्भ-परिवर्तन की घटना का उल्लेख है। वसुदेव की संतानों को कंस जब नष्ट कर देता था तब विश्वात्मा विष्णु योगमाया को आदेश देते हैं कि देवकी का गर्भ रोहिणी के उदर में रखा जाय। विश्वात्मा के आदेश से योगमाया ने देवकी के गर्भ को रोहिणी के उदर में स्थापित किया।<sup>१</sup>

३. स्त्री-तीर्थंकर :—सामान्य रूप से तीर्थंकरपद पुरुष ही प्राप्त करते हैं, स्त्रियाँ नहीं। वर्तमान अवसर्पिणी काल में १९वें तीर्थंकर मल्ली भगवती स्त्री रूप से उत्पन्न हुए, अतः आश्चर्य है।

४. अभाविता परिषद् :—तीर्थंकर का प्रथम प्रवचन अधिक प्रभावशाली होता है, उसे श्रवण कर भोगमार्ग के रसिक प्राणी भी त्यागभाव स्वीकार करते

१ गच्छ देवि ब्रजं भद्रे, गोपगोभिरलंकृतम् ।  
 रोहिणी वसुदेवस्य, भार्यास्ते नन्दगोकुले ।  
 अन्याश्च कंससंविम्नाः, विवरेषु वसन्ति हि ॥७॥  
 देवक्या जठरे गर्भं, शेषाख्यं घाम मामकम् ।  
 तद् सन्निकृष्य रोहिण्या, उदरे सन्निवेशय ॥८॥

[श्रीमद्भागवत, स्कंध १०, अध्याय २]

हैं। किन्तु भगवान् महावीर की प्रथम देशना में किसी ने चारित्र्य स्वीकार नहीं किया, वह परिषद् अभावित रही, यह आश्चर्य है।

५. कृष्ण का अमरकंका गमन :—द्रौपदी की गवेषणा के लिए श्रीकृष्ण घातकीखण्ड की अमरकंका नगरी में गये और वहाँ के कपिल वासुदेव के साथ शंखनाद से उत्तर-प्रत्युत्तर हुआ। साधारणतया चक्रवर्ती एवं वासुदेव अपनी सीमा से बाहर नहीं जाते, पर कृष्ण गये, यह आश्चर्य की बात है।

६. चन्द्र-सूर्य का उतरना :—सूर्य चन्द्रादि देव भगवान् के दर्शन को आते हैं, पर मूल विमान से नहीं। किन्तु कौशाम्बी में भगवान् महावीर के दर्शन हेतु चन्द्र-सूर्य अपने मूल विमान से आये।<sup>१</sup> महावीर चरियं के अनुसार चन्द्र-सूर्य भगवान् के समवसरण में आये, जबकि सती मृगावती भी वहाँ बैठी थी। रात होने पर भी उसे प्रकाश के कारण ज्ञात नहीं हुआ और वह भगवान् की वाणी सुनने में वहीं बैठी रही। चन्द्र-सूर्य के जाने पर जब वह अपने स्थान पर गई तब चन्दनबाला ने उपालम्भ दिया। मृगावती को आत्मालोचन करते-करते केवलज्ञान हो गया।<sup>२</sup> यह भगवान् की केवली-चर्या के चौबीसवें वर्ष की घटना है।

७. हरिवंश कुलोत्पत्ति :—हरि और हरिणीरूप युगल को देखकर एक देव को पूर्वजन्म के वर की स्मृति हो आई। उसने सोचा “ये दोनों यहाँ भोग-भूमि में सुख भोग रहे हैं और आयु पूर्ण होने पर देवलोक में जायेंगे। अतः ऐसा यत्न करूँ कि जिससे इनका परलोक दुःखमय हो जाय।” उसने देव शक्ति से उनकी दो कोस की ऊँचाई को सौ धनुष कर दिया,<sup>३</sup> आयु भी घटाई और दोनों को भरतक्षेत्र की चम्पानगरी में लाकर छोड़ दिया। वहाँ के भूपति

१ आब० नियुक्ति में प्रभु की छद्मस्थावस्था में संगम देव द्वारा घोर परीषद् देने के बाद कौशाम्बी में चन्द्र-सूर्य का मूल विमान से आगमन लिखा है। कोसवि चंद सूरौ अररं...  
...। आब नि० दी०, गा० ५१८. पत्र १०५।

२ साहाविथाइं पच्चक्ख दिस्समाणाणि आरुहेउरणा।  
ओयरिया भत्तीए वंदणवडियाए ससिसूरा ॥६॥  
तेसि विमाणनिम्मल मऊह निवहप्पयासिए गयखे।  
जायं निसिपि लोगो अविद्याएतो मुणइ षम्मं ॥१०॥  
नवरं नाउं समयं चंदणबाला मवत्तिणी नमिउं।  
सामि समणीहि समं निययावासं गया सहसा ॥११॥  
सा पुए भिगावई जिणकहाए वक्खित्तमाणसा षणियां।  
एगाणिणी चियट्ठिया दिणाति काऊण ओसरणे ॥१२॥

[महावीर चरियं (गुणचन्द्र), प्रस्ताव ८, पत्र १७५]

३ कुणतिय से दिव्वप्पभावेण धनुमयं उच्चत्तं ॥ वसु० हि०, पृ० ३५७

का वियोग होने से 'हरि' को अधिकारियों द्वारा राजा बना दिया गया। कुसंगति के कारण दोनों ही दुर्व्यसनी हो गये और फलतः दोनों मरकर नरक में उत्पन्न हुए। इस युगल से हरिवंश की उत्पत्ति हुई।

युगलिक नरक में नहीं जाते पर ये दोनों हरि और हरिणी नरक में गये। यह आश्चर्य की बात है।

८. चमर का उत्पात :—पूरण तापस का जीव असुरेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ। इन्द्र बनने के पश्चात् उसने अपने ऊपर शक्रेन्द्र को सिंहासन पर दिव्य-भोगों का उपभोग करते हुए देखा और उसके मन में विचार हुआ कि इसकी शोभा को नष्ट करना चाहिए। भगवान् महावीर की शरण लेकर उसने सौधर्म देवलोक में उत्पात मचाया। इस पर शक्रेन्द्र ने क्रुद्ध हो उस पर वज्र फेंका। चमरेन्द्र भगभीत हो भगवान् के चरणों में गिरा। शक्रेन्द्र भी चमरेन्द्र को भगवान् महावीर की चरण-शरण में जानकर बड़े वेग से वज्र के पीछे आया और अपने फेंके हुए वज्र को पकड़ कर उसने चमर को क्षमा प्रदान कर दी।

चमरेन्द्र का इस प्रकार अरिहंत की शरण लेकर सौधर्म देवलोक में जाना आश्चर्य है।

९. उत्कृष्ट अवगाहना के १०८ सिद्ध :—भगवान् ऋषभदेव के समय में ५०० षन्धुष की अवगाहना वाले १०८ सिद्ध हुए। नियमानुसार उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो ही एक साथ सिद्ध होने चाहिये, पर ऋषभदेव और उनके पुत्र आदि १०८ एक समय में साथ सिद्ध हुए, यह आश्चर्य की बात है।

१०. असंयत पूजा :—संयत ही बंदनीय-पूजनीय होते हैं, पर नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ के शासन में अमरा-अमराणी के अभाव में असंयति की ही पूजा हुई, अतः यह आश्चर्य माना गया है।

### बैज्ञानिक दृष्टि से गर्भापहार

भारतीय साहित्य में वर्णित गर्भापहार जैसी कितनी ही बातों को लोग अब तक अविश्वसनीय मानते रहे हैं, पर विज्ञान के अन्वेषण ने उनमें से बहुत कुछ प्रत्यक्ष कर दिखाया है। गुजरात वर्नाक्यूसर सोसायटी द्वारा प्रकाशित "जीवन विज्ञान" (पृष्ठ ४३) में एक आश्चर्यजनक घटना प्रकाशित की गई है, जो इस प्रकार है :—

१ उक्कीसोगाहणाए य सिद्धंते जुगवं दुवे । उ० ३६, गा० ५४

२ रिसहो रिसहस्स सुया, भरहेण विवज्जिया नवनवई ।

अट्ठेव भरहस्स सुया, सिद्धिगया एण समयम्मि ॥

“एक अमेरिकन डॉक्टर को एक भाटिया-स्त्री के पेट का ऑपरेशन करना था। वह गर्भवती थी, अतः डॉक्टर ने एक गर्भिणी बकरी का पेट चीर कर उसके पेट का बच्चा बिजली की शक्ति से युक्त एक डिब्बे में रखा और उस औरत के पेट का बच्चा निकाल कर बकरी के गर्भ में डाल दिया। औरत का ऑपरेशन कर चुकने के बाद डॉक्टर ने पुनः औरत का बच्चा औरत के पेट में रख दिया और बकरी का बच्चा बकरी के पेट में रख दिया। कालान्तर में बकरी और स्त्री ने जिन बच्चों को जन्म दिया वे स्वस्थ और स्वाभाविक रहे।”

‘नवनीत की तरह अन्य पत्रों में भी इस प्रकार के अनेक वृत्तान्त प्रकाशित हुए हैं, जिनसे गर्भापहरण की बात संभव और साधारण सी प्रतीत होती है।

### त्रिशला के यहाँ

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, जिस समय हरिरौगमेयी देव ने इन्द्र की आज्ञा से महावीर का देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशला की कुक्षि में साहरण किया, उस समय वर्षाकाल के तीसरे मास अर्थात् पाँचवें पक्ष का आश्विन कृष्णा त्रयोदशी का दिन था। देवानन्दा के गर्भ में बयासी (८२) रात्रियाँ बिता चुकने के पश्चात् तियासीवीं रात्रि में चन्द्र के उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ योग के समय भगवान् महावीर का देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशलादेवी की कुक्षि में साहरण किया गया।

गर्भासाहरण के पश्चात् देवानन्दा यह स्वप्न देखकर कि उसके चौदह मंगलकारी शुभस्वप्न उसके मुखमार्ग से बाहर निकल गये हैं, तत्क्षण जाग उठी। वह शोकाकुल हो बारम्बार विलाप करने लगी कि किसी ने उसके गर्भ का अपहरण कर लिया है।<sup>१</sup>

उधर त्रिशला रानी को उसी रात उन चौदह महामंगलप्रद शुभस्वप्नों के दर्शन हुए। वह जागृत हो महाराज सिद्धार्थ के पास गई और उसने अपने स्वप्न सुनाकर बड़ी मृदु-मंजुल वाणी में उनसे स्वप्नफल की पृच्छा की।

महाराज सिद्धार्थ ने निमित्त-शास्त्रियों को ससम्मान बुलाकर उनसे उन चौदह स्वप्नों का फल पूछा।

निमित्तज्ञों ने शास्त्र के प्रमाणों से बताया—“इस प्रकार के मांगलिक शुभस्वप्नों में से तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती की माता चौदह महास्वप्न देखती है। वासुदेव की माता सात महास्वप्न, बलदेव की माता चार महास्वप्न तथा

१ (क) महावीर चरित्रम् (गुणचन्द्र सूरि), पत्र २१२ (२)।

(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक २७ और २८।

माण्डलिक की माता एक शुभस्वप्न देखकर जागृत होती है। महारानी त्रिशला देवी ने चौदह शुभस्वप्न देखे हैं, अतः इनको तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती जैसे किसी महान् भाग्यशाली पुत्ररत्न का लाभ होगा। निश्चित रूप से इनके ये स्वप्न परम प्रशस्त और महामंगलकारी हैं।”

स्वप्नपाठकों की बात सुनकर महाराज सिद्धार्थ परम प्रमुदित हुए और उन्होंने उनको जीवनयापन योग्य प्रीतिदान देकर सत्कार एवं सम्मान के साथ विदा किया। महारानी त्रिशला भी योग्य आहार-विहार और मर्यादित व्यवहारों से गर्भ का सावधानीपूर्वक प्रतिपालन करती हुई परमप्रसन्न मुद्रा में रहने लगीं।

महारानी त्रिशलादेवी ने जिस समय भगवान् महावीर को अपने गर्भ में धारण किया, उसी समय से तृजंभक देवों ने इन्द्र की आज्ञा से पुरातन निधियाँ लाकर महाराज सिद्धार्थ के राज्य-भण्डार को हिरण्य-सुवर्ण आदि से भरना प्रारंभ कर दिया और समस्त जातकुल की विपुल धन-धान्यादि श्रद्धियों से महती अभिवृद्धि होने लगी।

### महावीर का गर्भ में अभिग्रह

भगवान् महावीर जब त्रिशला के गर्भ में थे, तब उनके मन में विचार भाया कि उनके हिलने-डुलने से माता अतिशय कष्टानुभव करती है। यह विचार कर उन्होंने हिलना-डुलना बन्द कर दिया। किन्तु गर्भस्थ जीव के हलन-चलनादि क्रिया को बन्द देख कर माता बहुत धबराईं। उनके मन में शंका होने लगी कि उनके गर्भ का किसी ने हरण कर लिया है अथवा वह मर गया है या गल गया है। इसी चिन्ता में वह उदास और व्याकुल रहने लगीं। माता की उदासी से राज-भवन का समस्त आमोद-प्रमोद एवं मंगलमय वातावरण शोक और चिन्ता में परिणत हो गया। गर्भस्थ महावीर ने अवधिज्ञान द्वारा माँ को यह करुणावस्था और राजभवन की विषादमयी स्थिति देखी तो वे पुनः अपने अंगोपांग हिलाने-डुलाने लगे जिससे माँ का मन फिर प्रसन्नता से नाच उठा और राजभवन में हर्ष का वातावरण छा गया। माँ के इस प्रबल स्नेहभाव को देख कर महावीर ने गर्भकाल में ही यह अभिग्रह धारण किया—“जब तक

१ जह्विसं च भयवं.....तिसला देवीए उदरकमलमइगभो तह्विसामोऽपि सुरबइशयसोए तिरिषचंभना देवा विविहाइं महानिहाणाइं सिद्धस्थनरिदनुषणंमि मुजो-मुजो परिक्रिबति, तपि नायकुलं बसोएां धरं एां.....वाइमनिबद्धइ.....

[महावीर चरित्र (गुणचन्द्र), पृष्ठ ११४ (१)]

मेरे माता-पिता जीवित रहेंगे तब तक मैं मुंडित होकर दीक्षा-ग्रहण नहीं करूंगा ।<sup>१</sup>

### जन्म-महिमा

प्रशस्त दोहद और मंगलमय वातावरण में गर्भकाल पूर्ण कर नौ मास और साढ़े सात दिन बीतने पर चंद्र शुक्ला त्रयोदशी को मध्यरात्रि के समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में त्रिशला क्षत्रियारणी ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया । प्रभु के जन्मकाल में सभी ग्रह उच्च स्थान में आये हुए थे । समस्त दिशाएँ परम सौम्य, प्रकाशपूर्ण और अत्यन्त मनोहर प्रतीत हो रही थीं । धन-धान्य की मृद्धि एवं सुख-सामग्री की अभिवृद्धि के कारण जन-जीवन बड़ा प्रमोदपूर्ण था । गगनमण्डल से देवों ने पंचदिव्यों की वर्षा की ।

प्रभु के जन्म लेते ही समस्त लोक में अलौकिक उद्योत और शान्ति का वातावरण व्याप्त हो गया । प्रभु का मंगलमय जन्ममहोत्सव मनाने वाले देव-देवियों के आगमन से सम्पूर्ण गगनमण्डल एवं भूमण्डल एक अपूर्व उद्योत से प्रकाशमान् और मृदु-मंजुल रव से मुखरित हो उठा ।

जिस रात्रि में क्षत्रियारणी माता त्रिशलादेवी ने प्रभु महावीर को जन्म दिया, उस रात्रि में बहुत से देवों और देवियों ने अमृतवृष्टि, मनोज सुगन्धित गन्धों की वृष्टि, सुगन्धित चूर्णों की वृष्टि, सुन्दर सुगन्धित पंच वर्ण पुष्पों की वृष्टि, हिरण्य की वृष्टि, स्वर्ण की वृष्टि और रत्नों की वृष्टि—इस प्रकार सात प्रकार की विपुल वृष्टियाँ कीं ।<sup>२</sup>

भगवान् महावीर का जन्म होते ही ५६ दिवकुमारियों और ६४ देवेन्द्रों के आसन दोलायमान हुए । अवधिज्ञान के उपयोग द्वारा जब उन्हें ज्ञात हुआ कि जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर का जन्म हुआ है तो अपने पद के त्रिकालवर्ती जीताचार के परिपालनार्थ उन सब ने अपने-अपने आभियोगिक देवों को अतीव मनोहर-विशाल एवं विस्तीर्ण अनुपम विमानों की विकुर्वणा करने और सभी देवी-देवियों को अपनी सम्पूर्ण दिव्य देवद्वि के साथ प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाने हेतु प्रस्थान करने के लिए शीघ्र ही समुद्यत होने का आदेश दिया ।

सबसे पहले अधोलोक निवासिनी भोगंकरा आदि आठ दिवकुमारियाँ अपनी दिव्य ऋद्धि और विशाल देव-देवी परिवार के साथ एक विशाल विमान

१ (क) भाव० भाष्य० गा० ५८।५९, पत्र २५६

(ख) कल्पसूत्र, सूत्र ९१

२ त्रिषष्टि जलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक ६० से ६४

में बैठ क्षत्रिय कुण्डनगर में आई। उन्होंने महाराज सिद्धार्थ के राजप्रासाद की तीन बार प्रदक्षिणा करके अपने विमान को ईशान कोण में भूमि से चार अंगुल ऊपर ठहराया और उससे उतर कर वे सम्पूर्णा ऋद्धि के साथ प्रभु के जन्म गृह में आई। उन्होंने माता और प्रभु दोनों को प्रणाम करने के पश्चात् त्रिशला महारानी से सविनय मृदु-मंजुल स्वर में निवेदन किया—“हे त्रैलोक्यैकनाथ तीर्थेश्वर की त्रिलोकवन्दनीया मातेश्वरी ! आप धन्य हैं, जो आपने त्रिभुवन-भास्कर जगदेकबन्धु जगन्नाथ को पुत्र रूप में जन्म दिया है। जगदम्ब ! हम अधोलोक की आठ दिवकुमारिकाएँ अपने देव-देवी परिवार के साथ इन निखिलेश जिनेश्वर का जन्मोत्सव मनाने आई हैं, अतः आप किसी प्रकार के भय का विचार तक मन में न आने दें।” वे प्रभु के जन्म भवन में और उसके चारों ओर चार-चार कोस तक भूमि को साफ-सुथरी और स्वच्छ बनाने के पश्चात् माता त्रिशलादेवी के चारों ओर खड़ी हो सुमधुर स्वर में विविध वाद्ययन्त्रों की ताल एवं तान के साथ मंगलगीत गाती हैं।

तत्पश्चात् उर्ध्वलोक-वासिनी सेषंकरा आदि आठ दिवकुमारियाँ भी उसी प्रकार प्रभु के जन्मगृह में आ वन्दन-नमन-स्तुति-निवेदन आदि के उपरान्त जन्म-गृह और उसके चारों ओर चार-चार कोस तक जलवृष्टि, गन्धवृष्टि और पुष्प-वृष्टि कर समस्त भूमिभाग को सुखद-सुन्दर-सुरम्य बना माँ त्रिशला महारानी के चारों ओर खड़ी हो विशिष्टतर मंगल गीत गाती हैं।

ऊर्ध्वलोक निवासिनी दिवकुमारियों के पश्चात् पूर्वोक्त रुचक कूट पर रहने वाली नन्दुत्तरा आदि आठ दिवकुमारिकाएँ हाथों में दर्पण लिए, दक्षिणी रुचक कूट-गिरि निवासिनी समाहारा आदि आठ दिवकुमारियाँ भारियाँ हाथ में लिए, पश्चिमी रुचक-कूट-निवासिनी इनादेवी आदि आठ दिशाकुमारियाँ हाथों में सुन्दर तालवृन्तों से व्यजन करती हुई और उत्तरी रुचक कूट वासिनी अलम्बुषा आदि आठ दिवकुमारिकाएँ तीर्थंकर माता त्रिशला और नवजात प्रभु महावीर को श्वेत चामर ढुलाती हुई मधुर स्वर में मंगलगीत गाती हैं।

तदनन्तर चित्रा, चित्रकनका, सतेरा और सुदामिनी नाम्नी विदिशा के रुचक-कूट पर रहने वाली चार दिशाकुमारिकाएँ वन्दन-नमन-स्तुति निवेदन के पश्चात् जगमगाते प्रदीप हाथों में लिए माता त्रिशला के चारों ओर चारों विदिशाओं में खड़ी हो मंगल गीत गाती हैं।

ये सब कार्य दिव्य द्रुत गति से शीघ्र ही सम्पन्न हो जाते हैं। उसी समय रूपा, रूपांशा, सुरूपा और रूपकावती नाम की, मध्य रुचक पर्वत पर रहने वाली चार महत्तरिका दिशाकुमारियाँ वहाँ आ वन्दन आदि के पश्चात् नाभि के ऊपर चार अंगुल छोड़ कर नाल को काटती हैं। प्रासाद के प्रांगण में गड्ढा खोद कर उसमें नाल को गाड़ कर रत्नों और रत्नों के चूर्ण से उस खड्डे को



भरती हैं। तदनन्तर तीन दिशाओं में तीन कदलीघर, प्रत्येक कदलीगृह में एक-एक चतुश्शाल और प्रत्येक चतुश्शाल के मध्यभाग में एक-एक अति सुन्दर सिंहासन की विकुर्वणा करती हैं। ये सब कार्य निष्पन्न करने के पश्चात् वे माता त्रिशला के पास आ नवजात शिशु प्रभु को करतल में ग्रहण कर और माता त्रिशला को बहुओं में समेटे दक्षिणी कदलीगृह की चतुश्शाला में सिंहासन पर बिठा शतपाक, सहस्रपाक तैल से मर्दन और उबटन कर उसी प्रकार पूर्वीय कदलीगृह की चतुःशाला में ला सिंहासन पर बिठाती हैं। वहाँ माता और पुत्र दोनों को क्रमशः गन्धोदक, पुष्पोदक और शुद्धोदक से स्नान करा वस्त्रालंकारों से विभूषित कर उत्तरी कदलीगृह की चतुःशाला के मध्यस्थ सिंहासन पर प्रभु की माता और प्रभु को आसीन करती हैं। आभियोगिक देवों से गौशीर्ष चन्दन मंगवा अरणी से आग उत्पन्न कर हवन करती हैं। हवन के पश्चात् उन चारों दिक्कुमारिकाओं ने भूतिकर्म किया, रक्षा पोटलिका बाँधी और प्रभु के कर्णमूल में मणिरत्नयुक्त दो छोटे-छोटे गोले इस प्रकार लटकाये जिससे कि वे टन-टन शब्द करते रहें। तदनन्तर वे देवियाँ तीर्थकर प्रभु को उसी प्रकार करतल में लिये और माता को बाहुओं में समेटे जन्मगृह में लाई और उन्हें शय्या पर बिठा दिया। वे सब दिक्कुमारियाँ माता की शय्या के चारों ओर खड़ी हो प्रभु की और प्रभु की माता की पर्युपासना करती हुई मंगल गीत गाने लगीं।

उसी समय सौधर्मेन्द्र देवराज शक्र अपनी सम्पूर्ण दिव्य ऋद्धि और परिवार के साथ प्रभु के जन्मगृह की प्रदक्षिणा आदि के पश्चात् माता त्रिशला देवी के पास आ उन्हें वन्दन-नमन-स्तुति-निवेदन के पश्चात् अवस्वापिनी विद्या से निद्राधीन कर दिया। प्रभु के दूसरे स्वरूप की विकुर्वणा कर शक्र ने उसे माता के पास रखा। तदनन्तर वैक्रिय शक्ति से शक्र ने अपने पाँच स्वरूप बनाये। एक शक्र ने प्रभु को अपने करतल में लिया, एक शक्र ने प्रभु पर छत्र किया, दो शक्र प्रभु के पार्श्व में चामर ढुलाते हुए चलने लगे और पाँचवाँ शक्र का स्वरूप हाथ में वज्र धारण किये प्रभु के आगे-आगे चलने लगा। चारों जाति के देवों और देवियों के अति विशाल समूह से परिवृत शक्र जयघोष एवं विविध देव-वाद्यों के तुमुल निर्घोष से गगनमण्डल को गुंजाता हुआ दिव्य देवगति से चल कर मेरुपर्वत पर पण्डक वन में अभिषेक-शिला के पास पहुँचा। शेष ६३ इन्द्र भी अपनी सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ देव-देवियों के अति विशाल परिवार से परिवृत हो उसी समय अभिषेक-शिला के पास पहुँचे। शक्र ने प्रभु महावीर को अभिषेक-शिला पर पूर्वाभिमुख कर बिठाया और ६४ इन्द्र प्रभु की पर्युपासना करने लगे।

अच्युतेन्द्र की आज्ञा से स्वर्ण, रजत, मणि, स्वर्णरोप्य, स्वर्णमणि, स्वर्ण-रजतमणि, मृत्तिका और चन्दन इन प्रत्येक के एक-एक हजार और आठ-आठ कलश, इन सब के उतने ही लोटे, थाल, पात्री, सुप्रतिष्ठिका, चित्रक, रत्नकरण्ड,

पुष्पाभरणादि की चंगेरियां, सिंहासन, छत्र, चामर आदि-आदि अभिषेक योग्य महार्घ्य विपुल सामग्री आभियोगिक देवों ने तत्काल प्रस्तुत की। सभी कलशों को क्षीरोदक, पुष्करोदक, भरत-एरवत क्षेत्रों के मागधादि तीर्थों और गंगा आदि महानदियों के जल से पूर्ण कर उन पर क्षीरसागर के सहस्रदल कमलपुष्पों के पिधान लगा आभियोगिक देवों द्वारा वहाँ अभिषेक के लिए प्रस्तुत किया गया।

सर्वप्रथम अच्युतेन्द्र ने और तदनन्तर शेष सभी इन्द्रों ने उन कलशों और सभी प्रकार की अभिषेक योग्य महर्द्धिक, महार्घ्य सामग्री से प्रभु महावीर का महाजन्माभिषेक किया।<sup>१</sup> देवदुन्दुभियों के निर्घोषों, जयघोषों, सिंहानादों, आस्फोटनों और विविध विदुष वाद्ययन्त्रों के तुमुल निनाद से गगन, गिरीन्द्र वसुन्धरातल एक साथ ही गुंजरित हो उठे। देवों ने पंच दिव्यों की वृष्टि की, अद्भुत नाटक किये और अनेक देवगण आनन्दातिरेक से नाचते-नाचते भूम उठे।

इस प्रकार असीम हर्षोत्सासपूर्वक प्रभु महावीर का जन्माभिषेक करने के पश्चात् देवराज शक्र जिस प्रकार प्रभु को जन्म गृह से लाया था उसी प्रकार पूरे ठाठ के साथ जन्म-गृह में ले गया। शक्र ने प्रभु को माता के पास सुला कर प्रभु के विकुवित कृत्रिम स्वरूप को हटाया। प्रभु तदनन्तर देवराज शक्र ने प्रभु के सिरहाने क्षोमयुगल और कुण्डलयुगल रख त्रिशलादेवी की अवस्वापिनी निद्रा का हरण किया और तत्काल वह वहाँ से तिरोहित हो गया।

सौधर्मेन्द्र शक्र की आज्ञा से कुबेर ने जम्भक देवों को आदेश दे महाराजा सिद्धार्थ के कोशागारों को बत्तीस-बत्तीस कोटि हिरण्य-मुद्राओं, स्वर्णमुद्राओं, रत्नों तथा अन्यान्य भण्डारों को नन्द नामक वृत्तासनों, भद्रासनों एवं सभी प्रकार की प्रसाधन-सामग्रियों से भरवा दिया।

१ मेरु पर्वत पर इन्द्रों द्वारा अभिषेक किये जाने के सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपने त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में निम्नाशय का उल्लेख किया है :

इन्द्र ने प्रभु को सुमेरु पर्वत पर ले जा कर जन्म-महोत्सव किया, उस समय शक्र के मन में शंका उत्पन्न हुई कि नवजात प्रभु का कुमुम सा सुकोमल व तन्हा सा वपु अभिषेक कलशों के जलप्रपात को किस प्रकार सहन कर सकेगा ?

भ० महावीर ने इन्द्र की इस शंका का निवारण करने हेतु अपने वाम पाद के अंगुष्ठ से सुमेरु को दबाया। इसके परिणामस्वरूप गिरिराज के उत्तुंग शिखर भङ्गावात से झकझोरे गये वेत्रवन की तरह प्रकम्पित हो उठे।

शक्र को अवधिज्ञान से जब यह ज्ञात हुआ कि यह सब प्रभु के अनन्त बल की माया है, तो उसने नतमस्तक हो प्रभु से क्षमायाचना की।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक ६०-६४

महाराजा सिद्धार्थ के कोशागारों और भण्डारों को इस प्रकार भरपूर करवा कर देवराज शक्र ने कुण्डनपुर नगर के सभी बाह्याभ्यन्तर भागों, श्रृंग-टकों, त्रिकों, चतुष्कों आदि में अपने आभियोगिक देवों से निम्नाशय की घोषणा करवाई :—

“चार जाति के देव-देवियों में यदि कोई भी देवी अथवा देव तीर्थंकर की माता अथवा तीर्थंकर के प्रति किसी भी प्रकार का अशुभ विचार करेगा तो उसका मस्तक आम्र-मंजरी की भाँति शतधा तोड़ दिया जायगा ।”

इस प्रकार की घोषणा करवाने के पश्चात् शक्र और सभी देवेन्द्रों ने नन्दीश्वर द्वीप में जा कर तीर्थंकर भगवान् का अष्टाह्निक जन्म-महोत्सव मनाया । बड़े हर्षोल्लास के साथ अष्टाह्निक महोत्सव मनाने के पश्चात् सभी देव और देवेन्द्र आदि अपने-अपने स्थान को लौट गये ।<sup>१</sup>

देवियों, देवों और देवेन्द्रों द्वारा भ० महावीर का शुचि-कर्म और तीर्थंकराभिषेक किये जाने के सम्बन्ध में आचारांग सूत्र में जो सार रूप में उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है :—

“क्षत्रियाणी त्रिशलादेवी ने जिस रात्रि में भ० महावीर को जन्म दिया, उस रात्रि में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी एवं वैमानिक देवों और देवियों ने भ० महावीर का शुचिकर्म और तीर्थंकराभिषेक किया ।”<sup>२</sup>

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य विमल सूरि ने ‘पउम चरियम्’ में<sup>३</sup> और दिग्म्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने ‘आदि पुराण’ में<sup>४</sup> यह मान्यता अभिव्यक्त की है कि प्रत्येक तीर्थंकर के गर्भावतरण के छह मास पूर्व से ही देवगण तीर्थंकर के माता-पिता के राजप्रासाद पर रत्नों की वृष्टि करना प्रारम्भ कर देते हैं ।

आचार्य हेमचन्द्र और गुणचन्द्र आदि ने तीर्थंकर के गर्भावतरण के पश्चात् तृज्भक्त देवों द्वारा शक्राज्ञा से तीर्थंकरों के पिता के राज्य-कोषों को विपुल

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, पाँचवाँ बक्षस्कार ।

२ जण्णं रयणि तिसला खल्लियाणी समणं भगवं महावीरं पसूया तण्णं रयणि भवणवह-  
वाणभंतरजोइसियविमाणावासिणी देवा य देवियो य समणस्स भगवणो महावीरस्स  
सुइकम्माइं तित्थयराभितेयं च करिसु । आचारांग, श्रु० २, अ० १५

३ छम्मासेण जिणवरो, होही गम्भम्मि चवणकालाओ ।

पाडेइ रयणवुटी, षणओ मासाणि पण्यारस ॥ [पउम चरिउं, ३ श्लोक ६७]

४ षड्भिर्मासैरथैतस्मिन्, स्वर्गादवतरिष्यति ।

रत्नवृष्टि दिवो देवाः, पातयामामुरादरात् ॥ [आदि पुराण, १२, श्लोक ८४]

निधियों से परिपूर्ण करने और उनके जन्म के समय रत्नादि की वृष्टि करने का उल्लेख किया है।

पुत्रजन्म की खुशी में महाराज सिद्धार्थ ने राज्य के बन्दियों को कारागार से मुक्त किया और याचकों एवं सेवकों को मुक्तहस्त से प्रीतिदान दिया। दस दिन तक बड़े हर्षोल्लास के साथ भगवान् का जन्मोत्सव मनाया गया। समस्त नगर में बहुत दिनों तक आमोद-प्रमोद का वातावरण छाया रहा।

### जन्मस्थान

महावीर की जन्मस्थली के सम्बन्ध में इतिहासज्ञ विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् आगम साहित्य में उल्लिखित 'वेसालिय' शब्द को देख कर इनकी जन्मस्थली वैशाली मानते हैं। क्योंकि पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'विशालायां भवः' इस अर्थ में छ प्रत्यय होकर 'वेसालिय' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—वैशाली में उत्पन्न होने वाला।

कुछ विद्वानों के मतानुसार भगवान् का जन्मस्थान 'कुंडनपुर' है तो कुछ के अनुसार क्षत्रियकुंड। क्षत्रियकुंड के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद नहीं है। कुछ इसे मगध देश में मानते हैं तो कुछ इसे विदेह में। आचारांग और कल्पसूत्र में महावीर को विदेहवासी कहा गया है।<sup>१</sup> डॉ० हर्मानजेकोबी ने विदेह का अर्थ विदेहवासी किया है।<sup>२</sup> परन्तु 'विदेह जच्चे' का अर्थ 'देह में श्रेष्ठ' होना चाहिये, क्योंकि 'जच्चे' जात्यः का अर्थ उत्कृष्ट होता है। कल्पसूत्र के बंगला अनुवादक बसंतकुमार चट्टोपाध्याय ने इसी मत का समर्थन किया है।<sup>३</sup> दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों से भी इसी धारणा का समर्थन होता है। वहाँ कुंडपुर-क्षत्रिय-कुंड की अवस्थिति जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में विदेह के अन्तर्गत मानी है।<sup>४</sup>

१ नाए नायपुत्ते, नायकुलचन्दे, विदेहे-विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे [कल्पसूत्र, सू० ११०]

२ सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, सेकट २२, पृ० २५६

३ बसंतकुमार लिखते हैं—दक्ष, दक्षप्रतिज्ञ, आदशं रूपवान्, बालीन, भद्रक, विनीत, ज्ञात, ज्ञातीपुत्र, ज्ञाती कुलचन्द्र, विदेह, विदेह दत्तात्मज, वेदेहश्रेष्ठ, वेदेह सुकुमार अमण भगवान् महावीर त्रिश बत्सर विदेह देशे काटाइयां, माताः पितार देवद्व प्राप्ति हइसे गुरुजन श्री महत्तर गणोर अनुमति लइया स्वप्रतिज्ञा समाप्त करिया छिलेन। कल्प सू० अ० व० कलकत्ता वि० वि० १९५३ ई०

४ (क) विक्रमी पाँचवीं सदी के आचार्य पूज्यपाद दशभक्ति में लिखते हैं : 'सिद्धार्थनृपति तनयो, भारतवास्ये विदेह कुंडपुरे। पृ० ११६

(ख) विक्रमी आठवीं सदी के आचार्य जिनसेन हरिवंश पुराण, खण्ड १, सर्ग २ में लिखते हैं :

भरतेऽस्मिन् विदेहाख्ये, विषये भवनांगणे।

राज्ञः कुण्डपुरेशस्य, वसुधारापतत् पृथुः ॥ २५१।२५२। उत्तरार्द्ध

शास्त्र में 'वैशालिय' शब्द होने के कारण वैशाली से भगवान् का सम्बन्ध प्रायः सभी इतिहास-लेखकों ने माना है, किन्तु उस सम्बन्ध का अर्थ जन्मस्थान मानना ठीक नहीं। मुनि कल्याण विजयजी ने कुंडपुर को वैशाली का उपनगर लिखा है, जबकि विजयेन्द्रसूरि के अनुसार कुंडपुर वैशाली का उपनगर नहीं बल्कि एक स्वतन्त्र नगर माना गया है। मालूम होता है, दोनों ने दृष्टिभेद से ऐसा उल्लेख किया हो और इसी दृष्टि से ब्राह्मणकुंडग्राम नगर और क्षत्रियकुंडग्राम नगर लिखा गया हो। ये दोनों पृथक्-पृथक् बस्ती के रूप में होकर भी इतने नजदीक थे कि उनको कुंडपुर के सन्निवेश मानना भी अनुचित नहीं समझा गया।

दोनों की स्थिति के विषय में भगवती सूत्र के नवें उद्देशगत प्रकरण से अच्छा प्रकाश मिलता है। वहाँ ब्राह्मणकुंडग्राम से पश्चिम दिशा में क्षत्रियकुंडग्राम और दोनों के मध्य में बहुशाल चैत्य बतलाया गया है।<sup>१</sup> जैसाकि—

एक बार भगवान् महावीर ब्राह्मणकुंड के बहुशाल चैत्य में पधारे, तब क्षत्रियकुंड के लोग सूचना पाकर वंदन करने को जाने लगे। लोगों को जाते हुए देखकर राजकुमार जमालि भी वंदन को निकले और क्षत्रियकुंड के मध्य से होते हुए ब्राह्मणकुंड के बहुशाल चैत्य में, जहाँ भगवान् महावीर थे, वहाँ पहुँचे। उनके साथ पाँच सौ क्षत्रियकुमारों के दीक्षित होने का वर्णन बतलाता है कि वहाँ क्षत्रियों की बड़ी बस्ती थी। संभव है, बढ़ते हुए विस्तार के कारण ही इनको ग्राम-नगर कहा गया हो।

डॉ० हारनेल ने महावीर का जन्मस्थान कोटलाग सन्निवेश होना लिखा है, पर यह ठीक नहीं। उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है कि भगवान् महावीर का जन्मस्थान कुंडपुर के अन्तर्गत क्षत्रियकुंडग्राम है, मगध या अंग देश नहीं। इन सब उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर का जन्म मगध या अंग देश में न हो कर विदेह में हुआ था।

कुछ विद्वानों का कहना है कि महावीर के जन्मस्थान के सम्बन्ध में शास्त्र के जो उल्लेख हैं, उनमें कुंडपुर शब्द ही आया है, क्षत्रियकुंड नहीं। आवश्यक निर्युक्ति में कुंडपुर या कुंडग्राम का उल्लेख है<sup>२</sup> और आचारांग सूत्र में

१ (क) तस्साणं माहणकुंडगामस्स रायरस्स पच्चत्थिमेणं एत्थणं सत्तियकुंडगामे नामं नयरे होत्था । भ० १।३३ । सूत्र ३८३ । पत्र ४६१

(ख) जाव एगाभिमुहे सत्तियकुंडगामं नयरं मज्झमज्झेणं निगच्छइ, निगच्छिता जेरोव माहणकुंडगामे नयरे जेरोव बहुसालए चेइए ।

भ० श० १।३३ । सूत्र ३८३ । पत्र ४६१ ।

२ (क) अह चैत्तमुद पक्खस्स, तेरसी पुब्बरत्त कालम्मि

हत्थुत्तराहिं जाप्पो, कुंडगामे महावीरो ॥६१ भा.॥ धा. नि. पृ. २५६

(ख) आवश्यक नि० ३६४।१८०

क्षत्रियकुंडपुर भी आता है। वास्तव में बात यह है कि दोनों स्थानों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। कुण्डपुर के ही उत्तर भाग को क्षत्रियकुंड और दक्षिण भाग को ब्राह्मणकुंड कहा गया है। आचारांग सूत्र से भी यह प्रमाणित होता है कि वहाँ दक्षिण में ब्राह्मणकुंड सन्निवेश और उत्तर में क्षत्रियकुंडपुर सन्निवेश था।<sup>१</sup> क्षत्रियकुंड में “जातृ” क्षत्रिय रहते थे, इस कारण बौद्ध ग्रन्थों में “जातिक” अथवा “नातिक” नाम से भी इसका उल्लेख किया गया है। जातियों की बस्ती होने से इसको जातृग्राम भी कहा गया है। “जातृक” की अवस्थिति ‘वज्जी’ देश के अन्तर्गत वैशाली और कोटिग्राम के बीच बताई गई है। उनके अनुसार कुंडपुर क्षत्रियकुंड अथवा “जातृक” वज्जि विदेह देश के अन्तर्गत था। महापरिनिब्बान सुत्त के चीनी संस्करण में इस नातिक की स्थिति और भी स्पष्ट कर दी गई है। वहाँ इसे वैशाली से सात ली अर्थात् १३ मील दूर बताया गया है।<sup>२</sup>

वैशाली आजकल बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर (तिरहुत) डिविजन में ‘वनियां वसाढ़’ के नाम से प्रसिद्ध है और वसाढ़ के निकट जो वासुकुंड है, वहाँ पर प्राचीन कुंडपुर की स्थिति बताई जाती है।

उपर्युक्त प्रमाणों और ऐतिहासिक आधारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीर का जन्म वैशाली के कुंडपुर (क्षत्रियकुंड) सन्निवेश में हुआ था। यह ‘कुंडपुर’ वैशाली का उपनगर नहीं, किन्तु एक स्वतन्त्र नगर था।

### महावीर के मातापिता

जातृ-वंशीय महाराज सिद्धार्थ भगवान् महावीर के पिता और महारानी त्रिशला माता थीं। डॉ० हार्नेल और जैकोबी सिद्धार्थ को राजा न मान कर एक प्रतिष्ठित उमराव या सरदार मानते हैं, जो कि शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर उपयुक्त नहीं जँचता। शास्त्रों में भगवान् महावीर को महान् राजा के कुल का कहा गया है। यदि सिद्धार्थ साधारण क्षत्रिय सरदार मात्र होते तो राजा शब्द का प्रयोग उनके लिए नहीं किया जाता।

१ दाहिएण माहणकुंडपुर सन्निवेशामो उत्तर खत्तिय कुंडपुर सन्निवेशंसि नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स.....।आचा० भावना अ० १५

२ (क) Sino Indian Studies vol. I, part 4, page 195, July 1945.

(ख) Comparative studies “The parinivvan Sutta and its Chinese version, by Faub.

(ग) ली, दूरी नापने का एक पैमाना है। कनिष्क के अनुसार १ ली १५ मील के बराबर होती है। एन्सियेन्ट जोग्राफी प्राफ इण्डिया।

शास्त्रों में आये हुए सिद्धार्थ के साथ 'क्षत्रिय' शब्द के प्रयोग से सिद्धार्थ को क्षत्रिय सरदार मानना ठीक नहीं, क्योंकि कल्पसूत्र में "तएणं से सिद्धत्थे राया" आदि रूप से उसको राजा भी कहा गया है। इतना ही नहीं, उनके बारे में बताया गया है कि वे मुकुट, कुण्डल आदि से विभूषित "नरेन्द्र" थे। "महावीर चरित्र" में भी "सिद्धत्थो य नरिदो" ऐसा उल्लेख मिलता है। प्राचीन साहित्य अथवा लोक व्यवहार में नरेन्द्र शब्द का प्रयोग साधारण सरदार या उमराव के लिए न होकर राजा के लिए ही होता आया है। साथ ही सिद्धार्थ के साथ गणनायक आदि राजकीय अधिकारियों का होना भी शास्त्रों में उल्लिखित है। निश्चित रूप से इस प्रकार के अधिकारी किसी राजा के साथ ही हो सकते हैं।

दूसरी बात क्षत्रिय का अर्थ गुण-कर्म विभाग से तथाकथित वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाली युद्धप्रिय क्षत्रिय जाति नहीं, अपितु राजा भी होता है। जैसे कि अभिधान चिन्तामणि में लिखा है :—क्षत्रं तु क्षत्रियो राजा, राजन्यो बाहुसंभवः।<sup>१</sup>

महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश महाकाव्य में राजा दिलीप के लिए, जो क्षत्रिय कुलोद्भव थे, लिखा है :—

'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः,  
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।'

वस्तुतः विपत्ति से बचाने वाले के लिए रूढ "क्षत्रिय" शब्द राजा का भी पर्यायवाची हो सकता है, केवल साधारण क्षत्रिय का नहीं।

डॉ० हार्नेल और जैकोबी ने सिद्धार्थ को राजा मानने में जो आपत्ति की है, उसका एकमात्र कारण यही दिखाई देता है कि वैशाली के चेटक जैसे प्रमुख राजाओं की तरह उस समय उनका विशिष्ट स्थान नहीं था, फिर भी राजा तो वे थे ही। बड़े या छोटे जो भी हों, सिद्धार्थ उन सभी सुख-साधनों से सम्पन्न थे जो कि एक राजा के रूप में किसी को प्राप्त हो सकते हैं। इस तरह सिद्धार्थ की राजा मानना उचित ही है, इसमें किसी प्रकार की कोई बाधा दिखाई नहीं देती।

सिद्धार्थ की तरह त्रिशला के साथ भी क्षत्रियाणी शब्द देख कर इस प्रकार उठने वाली शंका का समाधान उपर्युक्त प्रमाण से हो जाता है। वैशाली जैसे शक्तिशाली राज्य की राजकुमारी और उस समय के महान् प्रतापी राजा चेटक की सहोदरा त्रिशला का किसी साधारण क्षत्रिय से विवाह कर

१ अभिधान चिन्तामणि, काण्ड ३, श्लो० ५२७

दिया गया हो, यह नितान्त असंभव सा प्रतीत होता है। क्षत्रियाणी की तरह श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों परम्परा के ग्रन्थों में देवी रूप में भी त्रिशला का उल्लेख किया गया है। अतः उसे रानी समझने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। महावीर चरियं<sup>१</sup>, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र<sup>२</sup> और दशभक्ति ग्रन्थ<sup>३</sup> इसके लिए द्रष्टव्य हैं।

सिद्धार्थ को इक्ष्वाकुवंशी और गोत्र से काश्यप कहा गया है। कल्पसूत्र और आचारांग में सिद्धार्थ के तीन नाम बताये गये हैं : (१) सिद्धार्थ, (२) श्रेयांस और (३) यशस्वी।<sup>४</sup> त्रिशला वासिष्ठ गोत्रीया थीं, उनके भी तीन नाम उल्लिखित हैं—(१) त्रिशला, (२) विदेहदिशा और (३) प्रियकारिणी। वैशाली के राजा चेटक की बहिन होने से ही इसे विदेहदिशा कहा गया है।

### नामकरण

नामकरण के सम्बन्ध में आचारांग में निम्नलिखित उल्लेख है—निवत्तदसाहंसि वुक्कंतंसि सुइभूयंसि विपुलं असणपाणखाइमसाइमं उक्खडावित्ति २ ता मित्तनाइसयणसंबंधिवग्गं उवनिमंतति, मित्त० उवनिमंतित्ता बहवे समणमाहणकिवणवणमगाहिं भिच्छुंडग पंडरगाईण विच्छडडंति विग्गोवित्ति विस्साणित्ति, दायारेसु दायां, पज्जभाइति, विच्छडडित्ता.....मित्तनाइसयणसंबंधिवग्गं भुंजावित्ति मित्त० भुंजावित्ता मित्त० वग्गेण इमेयारूवं नामधिज्जं कारवित्ति-जओ एं पमिइ इमे कुमारे तिसलाए ख० कुच्छिसि गब्भे आहए तओ एं पमिइ इमं कुलं विपुलेयां हिरण्णोयां सुवण्णोयां धणेणं धन्नेयां माणिवकेयां मुत्तिएयां संखसिलप्यवालेयां, अईव अईव परिवड्ढइ, ता होउ एं कुमारे वद्धमाओ।<sup>५</sup>

दश दिन तक जन्म-महोत्सव मनाये जाने के बाद राजा सिद्धार्थ ने मित्रों और बन्धुजनों को आमन्त्रित कर स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों से उन सबका सत्कार करते हुए कहा—“जब से यह शिशु हमारे कुल में आया है तबसे धन, धान्य, कोष, भण्डार, बल, वाहन आदि समस्त राजकीय साधनों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई-

१ (क) तस्स घरे तं साहर, तिसला देवीए कुच्छिसि । ११। [महावीर चरियं, पृ. २८१]

(ख) सिद्धत्थो य नरिक्को, तिसला देवी य रायलोओ य । ६८। [महावीर चरियं ३३]

२ दधार त्रिशला देवी, मुदित्तां गार्ममदभुतम् । ३३।

देव्या पाश्वरं च भगवत्प्रतिरूपं निधाय सः । १५।

उवाच त्रिशला देवी, सदने मस्त्वभागमः । १४१। [त्रिषष्टि शलाका, पृ. १०, सर्ग २]

३ देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान् संप्रदश्यं विभुः । ४। [दशभक्ति, पृ. ११६]

४ कल्पसूत्र, १०५। १०६ सूत्र। आचारांग भावनाध्ययन

५ (अ) कल्पसूत्र, सूत्र १०३। आचारांग सूत्र, श्रु० २, अ० १५



है, अतः मेरी सम्मति में इसका 'वर्द्धमान' नाम रखना उपयुक्त जंचता है ।" उपस्थित लोगों ने राजा की इच्छा का समर्थन किया । फलतः त्रिशलानन्दन का नाम वर्द्धमान रखा गया । आपके बाल्यावस्था के कतिपय वीरोचित अद्भुत कार्यों से प्रभावित होकर देवों ने गुण-सम्पन्न दूसरा नाम 'महावीर' रखा ।

त्याग-तप की साधना में विशिष्ट श्रम करने के कारण शास्त्र में आपको 'श्रमण' भी कहा गया है । विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न होने से 'भगवान्' और ज्ञातृकुल में उत्पन्न होने से 'ज्ञातपुत्र' आदि विविध नामों से भी आपका परिचय मिलता है । भद्रबाहु ने कल्पसूत्र में आपके तीन नाम बताये हैं, यथा :—माता-पिता के द्वारा 'वर्द्धमान', सहज प्राप्त सद्बुद्धि के कारण 'समण' अथवा शारीरिक व बौद्धिक शक्ति से तप आदि की साधना में कठिन श्रम करने से 'श्रमण' और परीषहों में निर्भय-अचल रहने से देवों द्वारा 'महावीर' नाम रखा गया ।<sup>२</sup>

शिशु जिनेश्वर भ० महावीर के लालन-पालन के लिए पाँच सुयोग्य धाय माताओं को नियुक्त किया गया, एक दूध पिलाने वाली, दूसरी प्रभु को स्नान-मज्जन कराने वाली, तीसरी उन्हें वस्त्राभूषणों से अलंकृत करने वाली, चौथी उन्हें शीड़ा कराने वाली और पाँचवीं प्रभु को एक गोद से दूसरी गोद में बाल-लीलाएँ करवाने वाली धाय । माता त्रिशला महारानी और इन पाँच धाय माताओं के प्रगाढ़ दुलार से ओतप्रोत लालन-पालन और सतर्क देख-रेख में प्रभु महावीर शुक्ल पक्षीया द्वितीया के चन्द्र के समान निर्विघ्न रूप से उत्तरोत्तर इस कारप्र अभिवर्द्धित होने लगे, मानो गगनचुम्बी गिरिराज की सुरम्य गहन गुहा में पनपा हुआ कल्पवृक्ष का पौधा बढ़ रहा हो । तीन ज्ञान के धनी शिशु महावीर इस प्रकार उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होते हुए स्वतः एक व्यवहार ज्ञान को सँजो लौकिक ज्ञान-विज्ञान में निष्णात हो क्रमशः बाल वय से किशोर वय में और किशोर वय से युवावस्था में प्रविष्ट हुए और अतीव सुखद-सुन्दर शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धादि से युक्त पाँच प्रकार के मानवीय उत्तम भोगोपभोगों का निस्संग भाव से उपभोग करते हुए विचरण करने लगे ।<sup>३</sup>

### संगोपन और बालक्रीड़ा

महावीर का लालन-पालन राजपुत्रोचित सुसम्मान के साथ हुआ । इनकी

१ कल्पसूत्र, सूत्र १०३

२ कल्पसूत्र, १०४

३ तत्रो एणं समणे भगवं महावीरे पंचधाइपरिनुडे.....विनाण-परिणय (मित्ते) विणियत बालभावे अप्पुस्सुयाइं उरालाईं माणुस्सगाइं पंचलक्खणाइं कामभोगाइं सद्धरिसरसरुवग्गन्धाइं परियारेमाणो एवं च एणं विहरेइ ।

[आचारांग सूत्र, श्रु० २, अ० १५]

सेवा-शुभ्रूषा के लिए पाँच परम दक्ष धाइयाँ नियुक्त की गईं, जो कि अपने-अपने काय को यथासमय विधिवत् निष्ठापूर्वक संपादित करतीं। उनमें से एक का काम दूध पिलाना, दूसरी का स्नान-मंडन कराना, तीसरी का वस्त्रादि पहनाना, चौथी का क्रीड़ा कराना और पाँचवीं का काम गोद में खिलाना था।

बालक महावीर की बालक्रीड़ाएँ केवल मनोरंजक ही नहीं अपितु शिक्षा-प्रद एवं बलवर्द्धक भी होती थीं। एक बार आप समययस्क साथियों के साथ राजभवन के उद्यान में 'संकुली' नामक खेल खेल रहे थे। उस समय इनकी अवस्था आठ वर्ष के लगभग थी, पर साहस और निर्भयता में आपकी तुलना करने वाला कोई नहीं था।

कुमार की निर्भयता देख कर एक बार देवपति शक्र ने देवों के समक्ष उनकी प्रशंसा करते हुए कहा—“भरत क्षेत्र में बालक महावीर बाल्यकाल में ही इतने साहसी और पराक्रमी हैं कि देव-दानव और मानव कोई भी उन्हें पराजित नहीं कर सकता।”

इन्द्र के इस कथन पर एक देव को विश्वास नहीं हुआ और वह परीक्षा के लिए महावीर के क्रीड़ा-प्रांगण में आया।

संकुली खेल की यह रीति है कि किसी वृक्ष-विशेष को लक्षित कर सभी क्रीडारत बालक उस ओर दौड़ते हैं। जो बालक सबसे पहले उस वृक्ष पर चढ़ कर उतर आता है, वह विजयी माना जाता है और पराजित बालक के कन्धे पर सवार होकर वह उस स्थान तक जाता है जहाँ से दौड़ प्रारम्भ होती है।

परीक्षक देव विकट विषधर सर्प का रूप बना कर वृक्ष के तने पर लिपट गया और फूत्कार करने लगा। महावीर उस समय पेड़ पर चढ़े हुए थे। उस भयंकर सर्प को देखते ही सभी बालक डर के भारे इधर-उधर भागने लगे, किन्तु महावीर तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने भागने वाले साथियों से कहा—“तुम सब भागते क्यों हो? यह छोटा सा प्राणी अपना क्या बिगाड़ने वाला है? इसके तो केवल मुँह ही है, हम सब के पास तो दो हाथ, दो पैर, एक मुख, मस्तिष्क और बुद्धि आदि बहुत से साधन हैं। आओ, इसे पकड़ कर अभी दूर फेंक आर्ये।”

यह सुन कर सभी बच्चे एक साथ बोल उठे—“महावीर, भूल से भी इसको छूना नहीं, इसके काटने से आदमी मर जाता है।” ऐसा कह कर सब बच्चे वहाँ से भाग गये। महावीर ने निःशंक भाव से बायें हाथ से सर्प को पकड़ा और रज्जु की तरह उठा कर उसे एक ओर डाल दिया।<sup>१</sup>

१ (क) वेदकवेहि समं सुकलिकडएण अभिरमति । [भा. सू., पृ. २४६ पूर्वभाग]

(ख) स्मिन्वा रज्जुमिवोरिक्षप्य, तं चिक्षेप क्षितौ विमुः । त्रि. पु. च., १०।२।१०७ श्लो.

महावीर द्वारा सर्प के हटाये जाने पर पुनः सभी बालक वहाँ चले आये और तिट्ठसक खेल खेलने लगे। यह खेल दो-दो बालकों में खेला जाता है। दो बालक एक साथ लक्षित वृक्ष की ओर दौड़ते हैं और दोनों में से जो वृक्ष को पहले छू लेता है, उसे विजयी माना जाता है। इस खेल का नियम है कि विजयी बालक पराजित पर सवार होकर मूल स्थान पर आता है।<sup>१</sup> परीक्षार्थी देव भी बालक का रूप बना कर खेल की टोली में सम्मिलित हो गया और खेलने लगा। महावीर ने उसे दौड़ में पराजित कर वृक्ष को छू लिया। तब नियमानुसार पराजित बालक को सवारी के रूप में उपस्थित होना पड़ा। महावीर उस पर आरूढ़ होकर नियत स्थान पर आने लगे तो देव ने उनको भयभीत करने और उनका अपहरण करने के लिए सात ताड़ के बराबर ऊँचा और भयावह शरीर बना कर डराना प्रारम्भ किया। इस अजीब दृश्य को देख कर सभी बालक घबरा गये परन्तु महावीर पूर्ववत् निर्भय चलते रहे। उन्होंने ज्ञान-बल से देखा कि यह कोई मायावी जीव हमसे वंचना करना चाहता है। ऐसा सोच कर उन्होंने उसकी पीठ पर साहसपूर्वक ऐसा मुष्टि-प्रहार किया कि देव उस आघात से चीख उठा और गेंद की तरह उसका फूला हुआ शरीर दब कर बामन हो गया।<sup>२</sup> उस देव का मिथ्याभिमान चूर-चूर हो गया। देव ने बालक महावीर से क्षमायाचना करते हुए कहा—“वद्धमान ! इन्द्र ने जिस प्रकार आपके पराक्रम की प्रशंसा की वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। वास्तव में आप वीर ही नहीं, महावीर हैं।” इस प्रकार महावीर की वीरता, धीरता और सहिष्णुता बाल्यावस्था से ही अनुपम थी।

### तीर्थंकर का अतुल बल

भगवान् महावीर जन्म से ही अतुल बली थे। उनके बल की उपमा देते हुए कहा गया है कि—बारह सुभटों का बल एक वृषभ में, वृषभ से दश गुना बल एक अश्व में, अश्व से बारह गुना बल एक महिष में, महिष से पन्द्रह गुना बल एक गज में, पाँच सौ गजों का बल एक केशरीसिंह में, दो हजार सिंहों का बल एक अष्टापद में, दस लाख अष्टापदों का बल एक बलदेव में, बलदेव से दुगुना बल एक वासुदेव में, वासुदेव से द्विगुणित बल एक चक्रवर्ती में, चक्रवर्ती से लाख गुना बल एक नामेन्द्र में, नामेन्द्र से करोड़ गुना बल एक इन्द्र में और इन्द्र से अनन्त गुना अधिक बल तीर्थंकर की एक कनिष्ठा अंगुली में होता है। सचमुच तीर्थंकर के बल की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। उनका बल

१ तस्स तेसु षक्खेसु जो पढमं विलग्गति, जो पढमं ओलुगति सो चेइ रुवाणि वाहेति ॥

भाव० जू० भा० १, पत्र २४६

२ (क) स भ्यरंसीद्वर्चनास, यावत्सावन्महीजसा।

आहृथ्य मुष्टिना पृष्ठे, स्वामिना वामनीकृतः। त्रि. पु. च., १०।२ श्लो. २१७

(ख) भाव. जू. १ भा., पृ. २४६

जन्म-जन्मान्तर की करणी से संचित होता है। उनका शारीरिक संहनन वज्र-ऋषभनाराचं और संस्थान समचतुरस्र होता है।

### महावीर और कलाचार्य

महावीर जब आठ वर्ष के हुए तब माता-पिता ने शुभ मुहूर्त देख कर उनको अध्ययन के लिये कलाचार्य के पास भेजा। माता-पिता को उनके जन्म-सिद्ध तीन ज्ञान और अलौकिक प्रतिभा का परिज्ञान नहीं था। उन्होंने परम्परा-नुसार पण्डित को प्रथम श्रीफल आदि भेंट किये और वर्द्धमान कुमार को सामने खड़ा किया। जब देवेन्द्र को पता चला कि महावीर को कलाचार्य के पास ले जाया जा रहा है तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि तीन ज्ञानधारी को अल्पज्ञानी पंडित क्या पढ़ायेगा।

उसी समय वे निमेषार्ध में विद्या-गुरु और जनसाधारण को प्रभु की योग्यता का ज्ञान कराने के लिये एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप में वहाँ प्रकट हुए और महावीर से व्याकरण सम्बन्धी अनेक जटिल प्रश्न पूछने लगे। महावीर द्वारा दिये गये युक्तिपूर्ण यथार्थ उत्तरों को सुन कर कलाचार्य सहित सभी उपस्थित जन चकित हो गये। पंडित ने भी अपनी कुछ शंकाएँ बालक महावीर के सामने रखीं और उनका सम्यक् समाधान पा कर वह अवाक् रह गया।

जब पंडित बालक वर्द्धमान की ओर आश्चर्य देखने लगा तो वृद्ध ब्राह्मण रूपधारी इन्द्र ने कहा—“पंडितजी ! यह साधारण बालक नहीं, विद्या का सागर और सकल शास्त्रों का पारंगत महापुरुष है।” जातिस्मरण और जन्म से तीन ज्ञान होने के कारण ये सब विद्याएं जानते हैं। वृद्ध ब्राह्मण ने महावीर के तत्काल प्रश्नोत्तरों का संग्रह कर ‘ऐन्द्र व्याकरण’ की रचना की।<sup>१</sup>

महाराज सिद्धार्थ और माता त्रिशला महावीर को इस असाधारण योग्यता को देख कर परम प्रसन्न हुए और बोले—“हमें पता नहीं था कि हमारा कुमार इस प्रकार का ‘गुरूणां गुरुः’ है।”

### यशोदा से विवाह

बाल्यकाल पूर्ण कर जब वर्द्धमान युवावस्था में आये तब राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला ने वर्द्धमान-महावीर के मित्रों के माध्यम से उनके सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखा। राजकुमार महावीर भोग-जीवन जीना नहीं चाहते थे क्योंकि वे सहज-विरक्त थे। अतः पहले तो उन्होंने इस प्रस्ताव का विरोध किया

१ अत्रया अघितमृदुवासजाते.....तप्पभित्ति च रां ऐंद्र व्याकरणं संवृत्तं,

[आवश्यक चूणि, भाग १, पृ० २४८]

और अपने मित्रों से कहा—“प्रिय मित्रों ! तुम विवाह के लिये जो आग्रह कर रहे हो, वह मोह-वृद्धि का कारण होने से भव-भ्रमण का हेतु है । फिर भोग में रोग का भय भी भूलाने की वस्तु नहीं है । माता-पिता को मेरे वियोग का दुःख न हो, इसलिये दीक्षा लेने हेतु उत्सुक होते हुए भी मैं अब तक दीक्षा नहीं ले रहा हूँ ।”

जिस समय वर्द्धमान और उनके मित्रों में परस्पर इस प्रकार की बात हो ही रही थी तभी माता त्रिशलादेवी वहां आ पहुंचीं । भगवान् ने खड़े होकर माता के प्रति आदर प्रदर्शित किया । माता त्रिशला ने कहा—“वर्द्धमान ! मैं जानती हूँ कि तुम भोगों से विरक्त हो, फिर भी हमारी प्रबल इच्छा है कि तुम एक बार योग्य राज-कन्या से पाणिग्रहण करो ।”

अन्ततोगत्वा माता-पिता के अनवरत प्रबल आग्रह के समक्ष महावीर को झुकना पड़ा और वसतपुर के महासामन्त समरवीर की सर्वगुण सम्पन्ना पुत्री यशोदा<sup>१</sup> के साथ शुभ-मुहूर्त में उनका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ । सच है, भोग-कर्म तीर्थंकर को भी नहीं छोड़ते ।

गर्भकाल में ही माता के स्नेहाधिक्य को देख कर महावीर ने अभिग्रह कर रखा था कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, वे दीक्षा ग्रहण नहीं करेंगे । माता-पिता को प्रसन्न रखने के इस अभिग्रह के कारण ही महावीर का विवाह-बन्धन में बँधना पड़ा ।

भगवान् महावीर के विवाह के सम्बन्ध में कुछ विद्वान् शंकाशील हैं । श्वेताम्बर परम्परा के आगम आचारांग, कल्पसूत्र और आवश्यक नियुक्ति आदि सभी ग्रन्थों में विवाह होने का उल्लेख है । पर दिग्म्बर परम्परा के ग्रन्थों में यह स्वीकृत नहीं है, पर माता-पिता का विवाह के लिये अत्याग्रह और विभिन्न राजाओं द्वारा अपनी कन्याओं के लिये प्रार्थना एवं जितशत्रु की पुत्री यशोदा के लिये सानुनय निवेदन उन ग्रन्थों में भी मिलता है । भगवान् महावीर विवाहित थे या नहीं, इस शंका का आधार शास्त्र में प्रयुक्त ‘कुमार’ शब्द है । उसका सही अर्थ समझ लेने पर समस्या का सरलता से समाधान हो सकता है । दोनों परम्पराओं में वासुपूज्य, मल्लो, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन पांच तीर्थंकरों को ‘कुमार प्रव्रजित’ कहा है । कुमार का अर्थ अकृत-राज्य और

१ उम्मुक्क वालभावो कमेण अह जीवणं अणुपत्तो ।

भागसभयं णाउ, अम्मापियरो उ वीरस्स । ७५

तिहि रिक्खम्मि पसत्थे, महन्त सामंत कुलप्पसूयाए ।

कारेन्ति पाणिग्गहणं, जसोयवर रायकण्णाए । ७६

अविवाहित दोनों मान लिया जाय जैसा कि एक एकविंशतिस्थान प्रकरण<sup>१</sup> की टीका में लिखा है, तो सहज ही समाधान हो सकता है ।

दिगम्बर परम्परा के तिलोपपन्नत्ती, हरिवंशपुराण और पद्मपुराण<sup>२</sup> में भी पांच तीर्थंकरों के कुमार रहने और शेष तीर्थंकरों के राज्य करने का उल्लेख मिलता है । लोक प्रकाश में स्पष्ट रूप में लिखा है कि मल्लिनाथ और नेमिनाथ के भोग-कर्म शेष नहीं थे, अतः उन्होंने बिना विवाह किये ही दीक्षा ग्रहण की ।<sup>३</sup>

‘कुमार’ शब्द का अर्थ, एकान्ततः कुंआरा-अविवाहित नहीं होता । कुमार का अर्थ युवराज, राजकुमार भी होता है<sup>४</sup> इसीलिये आवश्यक निर्युक्ति दीपिका में ‘न य इच्छिआभिसेया, कुमार वासंमि पव्वइया’ अर्थात् राज्याभिषेक नहीं करने से कुमारवास में प्रव्रज्या लेना माना है ।

### माता-पिता का स्वर्गवास

राजसी भोग के अनुकूल साधन पाकर भी जानवान् महावीर उनसे अलिप्त थे । वे संसार में रहकर भी कमलपत्र की तरह निर्लेप थे । उनके संसार-वास का प्रमुख कारण था—कृतकर्म का उदयभोग और बाह्य कारण था—माता-पिता का अतुल स्नेह । महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमणोपासक थे । बहुत वर्षों तक श्रावक-धर्म का परिपालन कर जब अन्तिम समय निकट समझा तो उन्होंने आत्मा की शुद्धि के लिए अहंत्, सिद्ध एवं आत्मा की साक्षी से कृत पाप के लिए पश्चात्ताप किया । दोषों से दूर हट कर यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार किया । डाभ के संधारे पर बैठ कर चतुर्विध आहार के

१ एकविंशतिस्थान प्रकरण में कहा है : ‘वसुपुज्ज, मल्ली, नेमी, पासो, वीरो कुमार पव्वइया । रज्ज काठं सेसा, मल्ली नेमी अपरिणीया ।’ ३४ । वासुपूज्य, मल्ली, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर कुमार अवस्था में प्रव्रजित हुए । शेष तीर्थंकरों ने राज्य किया । मल्लीनाथ और नेमिनाथ ये दो अविवाहित प्रव्रजित हुए ।

२ कुमारः निर्गता गेहात्, पृथिवीपतयोऽपरे ॥ पद्म० पु०, २०।६७

३ अभोगफलकर्माणी, मल्लिनेमिजिनेश्वरी ।

निरीयतुरनुद्वाही, कृतोद्वाहापरे जिनाः । १००४। लोक० प्रकाश, सर्ग ३२, पृष्ठ ५२४

४ (क) कुमारो युवराजेऽश्ववाहके बालके शुके । शब्दरत्न सम० कोष, पृ० २६८

(ख) युवराजः कुमारो भर्तृदारकः । अभि० चि०, काण्ड २, श्लोक २४६, पृ० १३६

(ग) कुमार-सन, बाँय, यूथ, ए बाँय बिलो फाइव, ए प्रिन्स । आण्टे संस्कृत, इंग्लिश डि०, पृ० ३६३ ।

(घ) युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः ॥ अमरकोष, कांड १, नाट्यवर्ग, श्लोक १२, पृ० ७५ ।

त्याग क साथ उन्होंने संधारा ग्रहण किया और तत्पश्चात् अपश्चिम मरणान्तिक संलेखना से भूषित शरीर वाले वे काल के समय में काल कर अच्युत कल्प (बारहवें स्वर्ग) में देव रूप से उत्पन्न हुए । वे स्वर्ग से च्युत हो महाविदेह में उत्पन्न होंगे और सिद्धि प्राप्त करेंगे ।

भ० महावीर के माता-पिता के स्वर्गारोहण के सम्बन्ध में आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १५ वें अध्यायन में जो उल्लेख है, वह इस प्रकार है :—

“समणस्स एं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणो-वासगा यावि होत्था । ते एं बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पालइत्ता छण्हं जीवणिकायाणं सारक्खणनिमित्तं आलोइत्ता निदिता गरिहिता पडिकम्मित्ता अहारिहं उत्तरगुणपायच्छित्ताइं पडिवज्जित्ता कुससंधारणं दुरुहिता भत्तं पच्चक्खायंति २ अपच्छिमाए मारणंतियाए संलेहणाए ज्भूयिसरीरा कालमासे कालं किच्चा तं सरीरं विप्पजहिता अच्चुए कप्पे देवताए उववणा,, तओ एं आउक्खएणं, भवक्खएणं, टिइक्खएणं चुए चइत्ता महाविदेहे वासे चरमेणं उस्सासेणं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्व-दुक्खाणमंतं करिस्संति ।

### त्याग की ओर

माता-पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर महावीर की गर्भकालीन प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई । उस समय वे २८ वर्ष के थे । प्रतिज्ञा पूर्ण होने से उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन आदि स्वजनों के सम्मुख प्रव्रज्या की भावना व्यक्त की । किन्तु नन्दिवर्धन इस बात को सुनकर बहुत दुःखी हुए और बोले—“भाई ! अभी माता-पिता के त्रियोगजन्य दुःख की तो हम भूल ही नहीं पाये कि इसी बीच तुम भी प्रव्रज्या की बात कहते हो । यह तो धाव पर नमक छिड़कने जैसा है । अतः कुछ काल के लिए ठहरो. फिर प्रव्रज्या लेना । तब तक हम गत-शोक हो जायं ।”<sup>१</sup>

भगवान् ने अवधिज्ञान से देखा कि उन सब का इतना प्रबल स्नेह है कि इस समय उनके प्रव्रजित होने पर वे सब भ्रान्तचित्त हो जायेंगे और कई तो प्राण भी छोड़ देंगे । ऐसा सोच कर उन्होंने कहा—“अच्छा, तो मुझे कब तक ठहरना होगा ?” इस पर स्वजनों ने कहा—“कम से कम अभी दो वर्ष तक तो

१ समणस्सएणं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा, समणोवासगा यावि होत्था । .....अच्चुएकप्पे देवताए उववणा । .....महाविदेहवासे चरिमेणं ।

[भावश्यकं चू., १ भा. पृ. २४६]

२ अच्छ्ह कच्चिकालं जाव अम्हे विसोगाणि जाताणि । आचा. २।१५ । (भावना)

ठहरना ही चाहिए।” महावीर ने उन सब की बात मान ली और बोले—“इस अवधि में मैं साहारादि अपनी इच्छानुसार करूंगा।” स्वजनों ने भी सहर्ष यह बात स्वीकार की।

दो वर्ष से कुछ अधिक काल तक महावीर विरक्तभाव से घर में रहे, पर उन्होंने सञ्चित जल और रात्रि-भोजन का उपयोग नहीं किया। ब्रह्मचर्य का भी पालन किया।<sup>१</sup> टीकाकार के उल्लेखानुसार महावीर ने इस अवधि में प्राणातिपात की तरह असत्य, कुशील और अदत्त आदि का भी परित्याग कर रखा था। वे पाद-प्रक्षालन आदि क्रियाएँ भी सञ्चित जल से ही करते थे। भूमि-शयन करते एवं क्रोधादि से रहित हो एकत्व भाव में लीन रहते।<sup>२</sup> इस प्रकार एक वर्ष तक वैराग्य की साधना कर प्रभु ने वर्षीदान प्रारम्भ किया। प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्णमुद्राओं का दान करते हुए उन्होंने वर्ष भर में तीन अरब अठ्यासी करोड़ एवं अस्सी लाख स्वर्णमुद्राओं का दान किया।

तीस वर्ष की आयु होने पर ज्ञात-पुत्र महावीर की भावना सफल हुई। उस समय लोकान्तिक देव अपनी नियत मर्यादा के अनुसार आये और महावीर को निम्न प्रकार से निवेदन करने लगे—“भगवन्! मुनि दीक्षा ग्रहण कर समस्त जीवों के हितार्थ धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कीजिये।”

भगवान् महावीर ने भी अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन और चाचा सुपार्श्व आदि की अनुमति प्राप्त कर दीक्षा की तैयारी की। नन्दिवर्धन ने भगवान् के निष्क्रमण की तैयारी के लिए अपने कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश दिया—“एक हजार आठ सुवर्ण, रूप्य आदि कतश तैयार करो।”

आचारांग सूत्र के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर के अभिनिष्क्रमण के अभिप्राय को जान कर चार प्रकार के देव और देवियों के समूह अपने-अपने विमानों से सम्पूर्ण ऋद्धि और कान्ति के साथ आये और उत्तर क्षत्रियकुण्ड सन्निवेश में उतरे। वहाँ उन्होंने वैक्रियशक्ति से सिंहासन की रचना की। सबने मिल कर महावीर को सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया। उन्होंने शतपाक एवं सहस्रपाक तेल से महावीर का अभ्यंगन किया और स्वच्छ जल से मज्जन

१ (क) अविसाहिए दुवेवासे सीतोदममभोच्चा सिक्खते, अफासुगं आहारं राइपात्तं च अणाहारंते अविसाहिए दुते वासे, सीतोदं अमोच्चा सिक्खंते [आव. चुं. पृ. २४६]

(ख) आचा., प्र. ६, अ. ११।

२ (क) आचा. प्र. टीका, पृ. २७५। समिति

(ख) बंधयारी असंजमवावाररहितो टिओ, ए य फासुगेण विण्हातो, हत्यपाटसोयसं तु फासुगेण आयमणं च।.....एय बंधवेहिंवि अतिरोहं कतवं। आव. चू. १, पृ. २४६



कराया । गन्धकाषाय वस्त्र से शरीर पोछा और गौशीर्ष चन्दन का लेपन किया । भार में हल्के और मूल्यवान् वस्त्र एवं आभूषण पहनाये । कल्पवृक्ष की तरह समलंकृत कर देवों ने तर्द्धमान (महावीर) को चन्द्रप्रभा नामक शिविका में आरूढ़ किया । मनुष्यों, इन्द्रों और देवों ने मिल कर शिविका को उठाया ।

राजा नंदिवर्धन गजारूढ़ हो चतुरंगिणी सेना के साथ भगवान् महावीर के पीछे-पीछे चल रहे थे । प्रभु की पालकी के आगे घोड़े, दोनों ओर हाथी और पीछे रथ चल रहे थे ।

इस प्रकार विशाल जन-समूह से घिरे प्रभु क्षत्रियकुण्ड ग्राम के मध्यभाग में होते हुए ज्ञात-खण्ड-उद्यान में आये और अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतरे । आभूषणों एवं वस्त्रों को हटा कर प्रभु ने अपने हाथ से पंच-मुष्टि लोच किया । वैश्रमण देव ने हंस के समान श्वेत वस्त्र में महावीर के वस्त्रालंकार ग्रहण किये । शक्रेन्द्र ने विनयपूर्वक वज्रमय थाल में प्रभु के लुचित केश ग्रहण किये तथा “अनुजानासि” कह कर तत्काल क्षीर सागर में उनका विसर्जन किया ।

### दीक्षा

उस समय हेमन्त ऋतु का प्रथम मास, मृगशिर कृष्णा दशमी तिथि का समय, सुव्रत दिवस, विजय नामक मुहूर्त और चतुर्थ प्रहर में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था । ऐसे शुभ समय में निर्जल बेल की तपस्या से प्रभु ने दीक्षा ग्रहण की । शक्रेन्द्र के आदेश से दीक्षा प्रसंग पर बजने वाले वाद्य भी बन्द हो गये और सर्वत्र शान्ति छा गई ।<sup>१</sup>

प्रभु ने देव-मनुष्यों की विशाल परिषद् के समक्ष सिद्धों को नमस्कार करते हुए यह प्रतिज्ञा की—“सर्व्वं मे अकरणीज्जं पावं कम्मं” । अब से मेरे लिए सब पाप-कर्म अकरणीय हैं, अर्थात् मैं आज से किसी भी प्रकार के पाप-कार्य में प्रवृत्ति नहीं करूंगा । यह कहते हुए प्रभु ने सामायिक चारित्र स्वीकार किया । उन्होंने प्रतिज्ञा की—“करेमि सामाड्यं सर्व्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि” । आज से सम्पूर्णा सावद्यकर्म का तीन करण और तीन योग से त्याग करता हूँ ।”

जिस समय प्रभु ने यह प्रतिज्ञा ग्रहण की, उस समय देव-मनुष्यों की सम्पूर्णा परिषद् चित्रलिखित सी रह गई । सभी देव और मनुष्य शान्त एवं निनिमेष-नेत्रों से उस नगनाभिराम एवं अन्तस्तलस्पर्शा दृश्य को देख रहे थे, जो राग पर त्याग की विजय के रूप में उन सबके सामने प्रत्यक्ष था ।

१ (क) ‘दि० मणुस्सघोसो, तुरियशिरणाओ य सबकवयरोशां ।’

लिंपामेव शिलुक्को, जाहे पडिवज्जइ चरित्तं ।१। आचा. भा. ।

(ख) आवश्यक चूणि, प्रथम भाग, पृ० २६२

महावीर के सामने सुख-साधनों की कोई कमी नहीं थी और न कमी थी चाहने वालों की, प्यार और सत्कार करने वालों की, फिर भी सब कुछ ठुकरा कर वे साधना के कंटकाकीर्ण पथ पर बढ़ चले। चारित्र्य ग्रहण करते ही भगवान् को मनःपर्यवज्ञान हो गया। इससे ढाई द्वीप और दो समुद्र तक के समनस्क प्राणियों के मनोगत भावों को महावीर जानने लगे।

### महावीर का अभिग्रह और विहार

सबको विदा कर प्रभु ने निम्न अभिग्रह धारण किया :—

“आज से साढ़े बारह वर्ष पर्यन्त, जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक मैं देह की ममता छोड़ कर रहूंगा, अर्थात् इस बीच में देव, मनुष्य या तिर्यच जीवों की ओर से जो भी उपसर्ग-कष्ट उत्पन्न होंगे, उनको समभावपूर्वक सम्यक् रूपेण सहन करूंगा।<sup>१</sup> अभिग्रह ग्रहण के पश्चात् उन्होंने ज्ञातखण्ड उद्यान से विहार किया। उस समय वहाँ उपस्थित सारा जनसमूह जाते हुए को तब तक देखता रहा, जब तक कि वे उनकी आंखों से ओझल नहीं हो गये। भगवान् संध्या के समय मुहूर्त भर दिन शेष रहते कुमारग्राम पहुंचे,<sup>२</sup> तथा वहाँ ध्यानावस्थित हो गये।

कई आचार्यों की मान्यता है कि साधना मार्ग में प्रविष्ट होकर जब भगवान् ने विहार किया तो मार्ग में एक वृद्ध ब्राह्मण मिला, जो वर्षादान के समय नहीं पहुंच सका था। कुछ न कुछ मिलेगा, इस आशा से वह भगवान् के पास पहुंचा। भगवान् ने उसकी करुणाजनक स्थिति देख कर कंधे पर रखे हुए देवदूष्य वस्त्र में से आधा फाड़ कर उसको दे दिया। कल्पसूत्र मूल या अन्य किसी शास्त्र में आधा वस्त्र फाड़कर देने का उल्लेख नहीं है। आचारांग और कल्पसूत्र में १३ मास के बाद देवदूष्य का गिरना लिखा है, पर ब्राह्मण को आधा देने का उल्लेख नहीं है। हां, चूरा टोका आदि में ब्राह्मण को आधा देवदूष्य वस्त्र देने का उल्लेख अवश्य मिलता है।

### प्रथम उपसर्ग और प्रथम पारणा

जिस समय भगवान् कुमारग्राम के बाहर स्थाणु की तरह अचल ध्यानस्थ खड़े थे, उस समय एक ग्वाला अपने बैलों सहित वहाँ आया। उसने महावीर के

१ बारस वासाइं वोसट्टुकाए चियत्त देहे जे केई उवसग्गा समुप्पज्जंति, तं जहा, दिग्वा वा, माणुस्सा वा, तेरिच्छिया वा, ते सब्बे उवसग्गे समुप्पणे समाणे सम्मं सहिस्सामि, खमिस्सामि, अहियासिस्सामि ॥ आचा०, श्रु० २, अ० २३, पत्र ३६१।

२ तत्रो एं समणस्स भगवओ.....दिवसे मुहूर्त्तसेसे कुमारग्रामं समणुपत्तं।

[ आचारांग भावना ]

पास बैलों को चरने के लिये छोड़ दिया और गाय दूहने के लिये स्वयं पास के गाँव में चला गया। पशु-स्वभाव के अनुसार बैल चरते-चरते वहाँ से बहुत दूर कहीं निकल गये। कुछ समय बाद जब ग्वाला लौट कर वहाँ आया, तो बैलों को वहाँ न देख कर उसने पास खड़े महावीर से पूछा—“कहो, हमारे बैल कहां गये?” ध्यानस्थ महावीर की ओर से कोई उत्तर नहीं मिलने पर वह स्वयं उन्हें ढूँढ़ने के लिये जंगल की ओर चला गया। संयोगवश सारी रात खोजने पर भी उसे बैल नहीं मिले।

कालान्तर में बैल यथेच्छ चर कर पुनः महावीर के पास आकर बैठ गये। बैल नहीं मिलने पर उद्विग्न ग्वाला प्रातःकाल वापिस महावीर के पास आया और अपने बैलों को वहाँ बैठे देख कर आग बबूला हो उठा। उसने सोचा कि निश्चय ही इसने रात भर बैलों को कहीं छिपा रखा था। इस तरह महावीर को चोर समझ कर वह उन्हें बैल बांधने की रस्सी से मारने दौड़ा।

इन्द्र, जो भगवान् की प्राथमिक चर्या को जानना चाहता था, उसने जब यह देखा कि ग्वाला भगवान् पर प्रहार करने के लिये झपट रहा है, तो वह भगवान् के रक्षार्थ निमेषार्ध में ही वहाँ आ पहुँचा। ग्वाले के उठे हुए हाथ दैवी प्रभाव से उठे के उठे ही रह गये। इन्द्र ने ग्वाले के सामने प्रकट होकर कहा—“ओ मूर्ख! तू क्या कर रहा है? क्या तू नहीं जानता कि ये महाराज सिद्धार्थ के पुत्र वर्द्धमान महावीर हैं? आत्मकल्याण के साथ जगत् का कल्याण करने हेतु दीक्षा धारण कर साधना में लीन हैं।”<sup>१</sup>

इस घटना के बाद इन्द्र भगवान् से अपनी सेवा लेने की प्रार्थना करने लगा। परन्तु प्रभु ने कहा—“अर्हन्त केवलज्ञान और सिद्धि प्राप्त करने में किसी की सहायता नहीं लेते जिनेन्द्र अपने बल से ही केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।” फिर भी इन्द्र ने अपने संतोषार्थ मारणान्तिक उपसर्ग टालने के लिये सिद्धार्थ नामक व्यन्तर देव को प्रभु की सेवा में नियुक्त किया और स्वयं भगवान् को वन्दन कर चला गया।<sup>२</sup>

दूसरे दिन भगवान् वहाँ से विहार कर कोल्लाग सन्निवेश में आये और वहाँ बहुल नाम के ब्राह्मण के घर घी और शक्कर से मिश्रित परमान्न (खीर)

१ त्रि० श० पु० च०, १०।३।१७ से २६ श्लो०

२ (क) भाव० चू० १, पृ० २७०। सक्को पडिगतो, सिद्धत्थठितो।

(ख) नापेक्षां चक्रिरेऽर्हन्तः पर साहायिकं क्वचित्। २६

केवलं केवलज्ञानं, प्राप्नुवन्ति स्ववीर्यतः।

स्ववीर्यैरेव गच्छन्ति, जिनेन्द्राः परमं पदम्। ३१।

त्रि० श० पु० च०, १०।३।२६ से ३३।

से उन्होंने छद्म तप का प्रथम पारणा किया ।<sup>१</sup> 'अहो दानमहो दानम्' के दिव्यघोष के साथ देवगण ने नभामण्डल से पंच-दिव्यों की वर्षा कर दान की प्रहिमा प्रकट की ।

### भगवान् महावीर की साधना

आचारांगसूत्र और कल्पसूत्र में महावीर की साधना का बहुत विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा गया है कि दीक्षित होकर महावीर ने अपने पास देवदूष्य वस्त्र के अतिरिक्त कुछ नहीं रखा । लगभग तेरह मास तक वह वस्त्र भगवान् के कंधे पर रहा । तत्पश्चात् उस वस्त्र के गिर जाने से वे पूर्णरूपेण अचेत हो गये ।

अपने साधनाकाल में वे कभी निर्जन भोंपड़ी, कभी कुटिया, कभी धर्मशाला या प्याऊ में निवास करते थे । शीतकाल में भयंकर से भयंकर ठंड पड़ने पर भी वे कभी बाहुओं को नहीं समेटते थे ! वे नितान्त सहज मुद्रा में दोनों हाथ फैलाये विचरते रहे । शिशिरकाल में जब जोर-जोर से सन्सनाता हुआ पवन चलता, कड़कड़ाती सर्दी जब शरीर को ठिठुरा कर असह्य पीड़ा पहुंचाती, उस समय दूसरे साधक शीत से बचने हेतु गर्म स्थान की गवेषणा करते, गर्म वस्त्र बदन पर लपेटते और तापस आग जला कर सर्दी से बचने का प्रयत्न करते, परन्तु श्रमण भगवान् महावीर ऐसे समय में भी खुले स्थान में नंगे खड़े रहते और सर्दी से बचाव की इच्छा तक भी नहीं करते ।<sup>२</sup>

खुले शरीर होने के कारण सर्दी-गर्मी के अतिरिक्त उनको दंश, मशक आदि के कष्ट एवं अनेक कौमल तथा कठोर-स्पर्श भी सहन करने पड़ते । निवास-प्रसंग में भी, जो प्रायः शून्य स्थानों में होता, प्रभु को विविध उपसर्गों का सामना करना पड़ता । कभी सर्पादि विषैले जन्तु और काक, गीध आदि तीक्ष्ण चञ्चु वाले पक्षियों के प्रहार भी सहन करने पड़ते ।

कभी-कभी साधनाकाल में दुष्ट लोग उन्हें चोर समझ कर उन पर शस्त्रों से प्रहार करते, एकान्त में पीटते और अत्यधिक तिरस्कार करते । कामातुर नारियाँ उन्हें भोग-भावना से विमुख देख विविध उपसर्ग देतीं, किन्तु उन सारी बाधाओं और उपसर्गों के बीच भी प्रभु तमभाव से अचल, शान्त और समाधिस्थ रहते, कभी किसी प्रकार से मन में उद्वेग नहीं लाते और रात-दिन समाधिभाव

१ (ग) आचारांग द्वितीय भावना ॥

(ख) बीस दिवसे छद्म पात्लराए कोत्तराए सन्निवेसे घयमहुसंजुत्तेणं परमन्नेणं बहुजेण माहणेण पडिलाभितो, पंच दिव्वा । आव० चू०, २७० पृ० ।

से ध्यान करते रहते । जहाँ भी कोई स्थान छोड़ने के लिये कहता, सहर्ष वहाँ से हट जाते थे । साधनाकाल में महावीर ने प्रायः कभी नींद नहीं ली, दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जब उन्हें निद्रा सताती तो वे खड़े हो जाते अथवा रात्रि में कुछ समय चक्रमण कर नींद को भगा देते थे । इस प्रकार प्रतिक्षण, प्रतिपल जागृत रह कर वे निरन्तर ध्यान, चिन्तन और कायोत्सर्ग में रमण करते ।

विहार के प्रसंग में प्रभु कभी अगल-बगल में या मुड़कर पीछे की ओर भी नहीं देखते । मार्ग में वे किसी से बोलते नहीं थे । क्षुधा-शान्ति के लिये वे कभी आधाकर्म या अन्य सदोष आहार ग्रहण नहीं करते थे । लाभालाभ में समभाव रखते हुए वे घर-घर भिक्षाचर्या करते । महल, भोंपड़ी या धनी-निर्धन का उनकी भिक्षाचर्या में कोई भेद-भाव नहीं होता था । साथ ही आहार के लिये वे कभी किसी के आगे दीन-भाव भी नहीं दिखाते थे । सुस्वादु पदार्थों की आकांक्षा न करते हुए अक्सर पर जो भी रूखा-सूखा ठंडा-बासी, उड़द, सूखा भात, थंथु-बोर की कुट्टी आदि आहार मिल जाता उसे वे निस्पृह भाव से ग्रहण कर लेते ।<sup>१</sup>

शरीर के प्रति महावीर की निर्मोह भावना बड़ी आश्चर्योत्पादक थी । वे न सिर्फ शीतातप की ही उपेक्षा करते थे बल्कि रोग उत्पन्न होने पर भी कभी औषधसेवन नहीं करते थे । श्राँख में रज-कण आदि के पड़ जाने पर भी वे उसे निकालने की इच्छा नहीं रखते थे । कारणवश शरीर खुजलाने तक का भी वे प्रयत्न नहीं करते थे । इस तरह देह के ममत्व से अत्यन्त ऊपर उठ कर वे संदेह होते हुए भी देह मुक्त से, विदेहवत् प्रतीत होते थे ।

दीक्षा के समय जो दिव्य सुगन्धित वस्त्र और विलेपन उनके शरीर पर थे, उनकी उत्कट सुवास-सुगन्ध से आकृष्ट होकर चार मास तक भ्रमर आदि सुरभिप्रेमी कीट उनके शरीर पर मँडराते रहे और अपने तीक्ष्ण दंश से पीड़ा पहुंचाते रहे, मांस को नोचते रहे, कीड़े शरीर का रक्त पीते रहे, पर महावीर ने कभी उफ तक नहीं किया और न उनका निवारण ही किया । वस्तुतः साधना की ऐसी अनुपम सहिष्णुता का उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है ।

### साधना का प्रथम वर्ष

'कोल्लाग' सन्निवेश से विहार कर भगवान् महावीर 'भोराक' सन्निवेश पधारे । वहाँ का 'दूइज्जंतक' नाम के पाषंडस्थों के आश्रम का कुलपति महाराज सिद्धार्थ का मित्र था । महावीर को आते देख कर वह स्वागतार्थ सामने आया

१ अक्सिइयं वा, सुक्कं वा सीयपिंडं पुराणं कुम्मासं । अदुवुक्कसं पुलागं वा,

और उनसे वहाँ ठहरने की प्रार्थना करने लगा। उसकी प्रार्थना को मान देकर महावीर ने रात्रिपर्यन्त वहाँ रहना स्वीकार किया।<sup>१</sup>

दूसरे दिन जब महावीर वहाँ से प्रस्थान करने लगे तो कुलपति ने भाव-पूर्ण आग्रह के साथ कहा—“यह आश्रम दूसरे का नहीं, आपका ही है, अतः वर्षाकाल में यहीं रहें तो बहुत अच्छा रहेगा।” कुलपति की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए भगवान् कुछ समय के लिये आसपास के ग्रामों में घूम कर पुनः वर्षावास के लिये वहाँ आ गये और वहाँ एक पर्याकुटी में रहने लगे।

महावीर के हृदय में प्राणिमात्र के लिये मैत्री-भावना थी। किसी का कष्ट देख कर उनका मन दया से द्रवित हो जाता था। यथासंभव किसी को किसी प्रकार का कष्ट न होने देना, यह उनका अटल संकल्प था। संयोगवश उस वर्ष पर्याप्त रूप से वर्षा नहीं होने के कारण कृषि तो दरकिनारा, घास, दूब, वल्लरी, पत्ते आदि तक भी अंकुरित नहीं हुए। परिणामतः भूखों मरती गायें आश्रम की भोंपड़ियों के तृण खाने लगीं। अन्यान्य कुटियों में रहने वाले परिव्राजक गायों को भगा कर अपनी-अपनी भोंपड़ी की रक्षा करते, पर महावीर सम्पूर्ण सावद्य कर्म के त्यागी और निःस्पृह होने के कारण सहज भाव से ध्यान में खड़े रहे। उनके मन में न कुलपति पर राग था और न गायों पर द्वेष। वे पूर्ण निर्मोही थे। किसी को पीड़ा पहुंचाना उनके साधु-हृदय को स्वीकार नहीं हुआ। अतः वे इन बातों की ओर ध्यान न देकर रात-दिन अपने ध्यान में ही निमग्न रहे।

जब दूसरे तापसों ने कुलपति से कुटी की रक्षा न करने के सम्बन्ध में महावीर की शिकायत की तो मधुर उपालंभ देते हुए कुलपति ने महावीर से कहा—“कुमार! ऐसी उदासीनता किस काम की? अपने घोंसले की रक्षा तो पक्षी भी करता है, फिर आप तो क्षत्रिय राजकुमार हैं। क्या आप अपनी भोंपड़ी भी नहीं संभाल सकते?” महावीर को कुलपति की बात नहीं जेंची। उन्होंने सोचा—“मेरे यहाँ रहने से आश्रमवासियों को कष्ट होता है, कुटी की रक्षा का प्रश्न तो एक बहाना मात्र है। सचेतन प्राणियों की रक्षा को भुला कर क्या मैं अचेतन कुटी के संरक्षण के लिए ही साधु बना हूँ? महल छोड़ कर पर्याकुटीर में बसने का क्या मेरा यही उद्देश्य है कि आपद्ग्रस्त जीवों को जीने में बाधा दूँ? और ऐसा न कर सकूँ तो अकर्मण्य तथा अनुपयोगी सिद्ध होऊँ। मुझे अब यहाँ नहीं रहना चाहिये।” ऐसा सोच कर उन्होंने वर्षाऋतु के पन्द्रह दिन बीत

१ (क) ताहे सामी विहरमाणो गतो मोराणं सन्निवेशं, तत्थ दूइज्जंतगालाम् पारसइत्थ्या....  
भाव. च. उपोद्घात नि., पृ० २७१

(ख) अन्यदा विहरन् स्वामी मोराके सन्निवेशने।

[त्रि. श. पु. च., १०।३।४६ से]

जाने पर वहाँ से विहार कर दिया । उस समय प्रभु ने पाँच प्रतिज्ञाएँ<sup>१</sup> ग्रहण कीं । यथा :—

- (१) अप्रीतिकारक स्थान में कभी नहीं रहूँगा ।
- (२) सद्भा ध्यान में ही रहूँगा ।
- (३) मौन रखूँगा, किसी से नहीं बोलूँगा ।
- (४) हाथ में ही भोजन करूँगा और
- (५) गृहस्थों का कभी विनय नहीं करूँगा ।

मूल शास्त्र में इन प्रतिज्ञाओं का कहीं उल्लेख नहीं मिलता । परम्परा से प्रत्येक तीर्थंकर छद्मस्थकाल तक प्रायः मौन माने गये हैं । आचारांग के अनुसार महावीर ने कभी परपात्र में भोजन नहीं किया ।<sup>२</sup> परन्तु मलयगिरि ने प्रतिज्ञा से पूर्व भगवान् का गृहस्थ के पात्र में आहार ग्रहण करना स्वीकार किया है ।<sup>३</sup> यह शास्त्रीय परम्परा से विचारणीय है ।

### अस्थिग्राम में यक्ष का उपद्रव

आश्रम से विहार कर महावीर अस्थिग्राम की ओर चल पड़े । वहाँ पहुँचते-पहुँचते उनको संध्या का समय हो गया । वहाँ प्रभु ने एकान्त स्थान की खोज करते हुए नगर के बाहर शूलपाणि यक्ष के यक्षायतन में ठहरने की अनुमति ली । उस समय ग्रामवासियों ने कहा—“महाराज ! यहाँ एक यक्ष रहता है, जो स्वभाव से क्रूर है । रात्रि में वह यहाँ किसी को नहीं रहने देता । अतः आप कहीं अन्य स्थान में जाकर ठहरें तो अच्छा रहेगा । पर भगवान् ने परीषह

१ (क) इमेण तेण पंच अभिग्गहा गहिया.....

[आ. मलय नि., पत्र २६८(१)]

(ख) इमेण तेण पंच अभिग्गहा गहिया.....

[आवश्यक सू., पृ० २७१]

(ग) नाप्रीतिमद् गृहे वासः, स्थेयं प्रतिमया सह ।

न गेहिविनयं कार्यो, मौनं पाणो च भोजनम् ॥

[कल्पसूत्र सुबोधो०, पृ० २८८]

२ नो सेवई य परवत्थं, परपाए वि से त भुंजित्था

[आचा., १।१।१, गा० १६]

३ (क) प्रथमं पारणकं गृहस्थपात्रे बभूव, ततः पाणिपात्रभोजना मया भवितव्यमित्यभि-  
ग्रहो गृहीतः ।

[आव. म. टी., पृ. २६८ (२)]

(ख) भगवया पढम पारणणे परपत्तमि सुत्तं ॥महावीर चरियं॥

सहने और यक्ष को प्रतिबोध देने के लिए वहीं ठहरना स्वीकार किया। भगवान् वहाँ एक कोने में ध्यानावस्थित हो गये।<sup>१</sup>

संध्या के समय पूजा के लिए पुजारी इन्द्रशर्मा यक्षायतन में आया। उसने पूजा के बाद सब यात्रियों को वहाँ से बाहर निकाला और महावीर से भी बाहर जाने को कहा, किन्तु वे मौन थे। इन्द्रशर्मा ने वहाँ होने वाले यक्ष के भयंकर उत्पात की सूचना दी, फिर भी महावीर वहीं स्थिर रहे। आखिर इन्द्रशर्मा वहाँ से चला गया।

रात्रि में अंधकार होने के पश्चात् यक्ष प्रकट हुआ। भगवान् को ध्यानस्थ देख कर वह बोला—“विदित होता है, लोगों के निषेध करने पर भी यह नहीं माना। संभवतः इसे मेरे पराक्रम का पता नहीं है।” इस विचार से उसने भयंकर अट्टहास किया, जिससे सारा वन-प्रदेश कांप उठा। किन्तु महावीर सुमेरु की तरह अडिग बने रहे। उसने हाथी का रूप बना कर महावीर को दाँतों से बुरी तरह गोदा और पैरों से रौंदा तथापि प्रभु किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं हुए। तत्पश्चात् पिशाच का रूप बना कर उसने तीक्ष्ण नखों व दाँतों से महावीर के शरीर को नोँचा, सर्प बन कर डसा, फिर भी महावीर ध्यान में स्थिर रहे। बाद में उसने महावीर के आँख, कान, नासिका, शिर, दाँत, नख और पीठ इन सात स्थानों में ऐसी भयंकर वेदना उत्पन्न की<sup>२</sup> कि साधारण प्राणी तो छटपटा कर तत्काल प्राण ही छोड़ देता, पर महावीर सभी प्रकार के कष्टों को शान्त भाव से सहते रहे। परिणामस्वरूप यक्ष हार कर प्रभु के चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराध के लिए क्षमा माँगते हुए<sup>३</sup> प्रणाम कर वहाँ से चला गया। रात्रि के अन्त में उसके उपसर्ग बन्द हुए।

प्रथम वर्षावास में अस्थिग्राम के बाहर श्लपाणि ने उपसर्ग दिये, ४ पहर कुछ कम मुहूर्त भर निद्रा, १० स्वप्न—आब० मल० और चूर्णि।

भगवती सूत्र में छद्मस्थकाल की अंतिम रात्रि में दश स्वप्नों को देखकर जागृत होना लिखा है, वहाँ का पाठ इस प्रकार है—‘समसो भ० म० छउमत्थ-

१ अथ ग्राम्यैरनुजाता, बोधाहं व्यन्तरं विदन् । तदायतनैककोणे, तस्थौ प्रतिमया प्रभुः ।

[त्रि. श. पु. च., १०।३।१७]

२ खोभेउं ताहे पभायसमए सत्तविबं वेयणं करेति ।

[आव. चू. १ भाग, पृ० २७४]

३ चक्रे सर्पे सुधाभूते, भूतराद् सप्तवेदनाः ।.....

एकापि वेदना मृत्युकारणं प्राकृते नरे ।

अधिसेहे तु ताः स्वामी, सप्ताऽपियुगपद्भवाः ।

[त्रि. श. पु. च., १०।३।३३ से]



कलियाए अंतिमराइयंसि इमे दस० छद्मस्थकालिकायां अंतिमरात्रौ, जिमका अर्थ छद्मस्थकाल की अंतिम रात्रि होता है ।

सं० भगवती सूत्र के अनुसार छद्मस्थकाल की अंतिम रात्रि में ये दशमहा-स्वप्न देखना प्रमाणात् होता है । जैसा कि सूत्र में कहा है—समग्रे भगवं महावीरे छ्दमस्थकालियाए अंतिम राइयंसि इमे दस सुमिणा पासित्ताणं पडिबुद्धे……। मूल आगम की भावना को देखते हुए आब० जूणि एवं कल्पसूत्र में कथित उपर्युक्त अस्थिग्राम में प्रभु का स्वप्न-दर्शन मेल नहीं खाता । संभव है, आचार्यों ने शूलपाणि के रात भर उवसर्ग के बाद निद्रा की बात लिखते 'छ्दमस्थ कालियाए' पाठ ध्यान में नहीं रखा है । ना ऐसी कोई उनके सामने परंपरा है । भग० १६।६ उ० सू० १६ ।

### निद्रा और स्वप्न-दर्शन

मुहूर्त भर रात्रि शेष रहते-रहते महावीर को क्षण भर के लिए निद्रा आई । प्रभु के साधनाकाल में यह प्रथम तथा अन्तिम निद्रावस्था थी । इस समय प्रभु ने निम्नलिखित दश स्वप्न देखे :—

- (१) एक ताड़-पिशाच को अपने हाथों पछाड़ते देखा ।
- (२) श्वेत पुंस्कोकिल (उनकी) सेवा में उपस्थित हुआ ।
- (३) विचित्र वर्ण वाला पुंस्कोकिल सामने देखा ।
- (४) देदीप्यमान दो रत्नमालाएँ देखीं ।
- (५) एक श्वेत गौवर्ग सम्मुख खड़ा देखा ।
- (६) विकसित पद्म-कमल का सरोवर देखा ।
- (७) अपनी भुजाओं से महासमुद्र को तैरते हुए देखा ।
- (८) विश्व को प्रकाशित करते हुए सहस्र-किरण-सूर्य को देखा ।
- (९) वैदूर्य-वर्ण सी अपनी आँतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित करते देखा ।
- (१०) अपने आपको मेरु पर आरोहण करते देखा ।

स्वप्न-दर्शन के पश्चात् तत्काल भगवान् की निद्रा खुल गई, क्योंकि निद्रा-ग्रहण के समय भगवान् खड़े ही थे । उन्होंने निद्रावरोध के लिए निरन्तर योग का मोर्चा लगा रखा था, फिर भी उदय के जोर से क्षण भर के लिए निद्रा आ ही गई । साधनाकालीन यह प्रथम प्रसंग था, जब क्षण भर भगवान् को नींद आई । यह भगवान् के जीवनकाल की अन्तिम निद्रा थी ।

१ (क) तत्थ सामी दसुणे चत्तारिं जामे अतीथ परितावितो,  
पभायकाले मुहत्तमेत्तं निहापमाय गतो ।

[प्राव. म. प० २७०।१]

### निमित्तज्ञ द्वारा स्वप्न-फल कथन

उस रात में उत्पल नाम का एक निमित्तज्ञ रहता था। वह पहले भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का श्रमण था, किन्तु संयोगवश श्रमण-जीवन से च्युत हो गया था। उसने जब भगवान् महावीर के यक्षायतन में ठहरने की बात सुनी तो अनिष्ट की आशंका से उसका हृदय हिल उठा।

प्रातःकाल वह भी पुजारी के साथ यक्षायतन में पहुँचा। वहाँ पर उसने भगवान् को ध्यानावस्था में अविचल खड़े देखा तो उसके आश्चर्य और आनन्द की सीमा न रही। उसने रात में देखे हुए स्वप्नों के फल के सम्बन्ध में प्रभु से निम्न विचार व्यक्त किये :—

- (१) पिशाच को मारने का फल :—आप मोह कर्म का अन्त करेंगे।
- (२) श्वेत कोकिल-दर्शन का फल :—आपकी शुक्लध्यान प्राप्त होगा।
- (३) विचित्र कोकिल-दर्शन से आप विविध ज्ञान रूप श्रुत की देशना करेंगे।
- (४) देदीप्यमान दो रत्नमालाएं देखने के स्वप्न का फल निमित्तज्ञ नहीं जान सका।
- (५) श्वेत गौवर्ग देखने से आप चतुर्विध संघ की स्थापना करेंगे।
- (६) पद्म-सरोवर विकसित देखने से चार प्रकार के देव आपकी सेवा करेंगे।
- (७) समुद्र को तैर कर पार करने से आप संसार-सागर को पार करेंगे।
- (८) उदीयमान सूर्य को विश्व में आलोक करते देखा। इससे आप केवलज्ञान प्राप्त करेंगे।
- (९) आतों से मानुषोत्तर पर्वत वेष्टित करने से आपकी कीर्ति सारे मनुष्य लोक में फैलेगी।
- (१०) मेरु-पर्वत पर चढ़ने से आप सिंहासनारूढ़ होकर लोक में धर्मोपदेश करेंगे।

चौथे स्वप्न का फल निमित्तज्ञ नहीं जान सका, इसका फल भगवान् ने स्वयं बताया—“दो रत्नमालाओं को देखने का फल यह है कि मैं दो प्रकार के धर्म, साधु धर्म और श्रावक धर्म का कथन करूँगा।” भगवान् के वचनों को सुनकर निमित्तज्ञ अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

अस्थिश्रम के इस वर्षाकाल में फिर भगवान् को किसी प्रकार का उपसर्ग

प्राप्त नहीं हुआ। उन्होंने शान्तिपूर्वक पन्द्रह-पन्द्रह दिन के उपवास आठ बार किये। इस प्रकार यह प्रथम वर्षावास शान्तिपूर्वक सम्पन्न हुआ।<sup>१</sup>

### साधना का दूसरा वर्ष

अस्थिशाम का वर्षाकाल समाप्त कर मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को भगवान् ने मोराक सन्निवेश की ओर विहार किया। मोराक पधार कर आप एक उद्यान में विराजे। वहाँ अच्छंदक नाम का एक अन्यतीर्थी पाखंडी रहता था, जो ज्योतिष से अपनी जीविका चलाता था।

सिद्धार्थ देव ने प्रभु की महिमा बढ़ाने के लिए मोराक ग्राम के अधिकारी से कहा—“यह देवार्थ तीन ज्ञान के धारक होने के कारण भूत, भविष्यत् और वर्तमान की सब बातें जानते हैं।”

सिद्धार्थ देव की यह बात सब जगह फैल गई और लोग बड़ी संख्या में उस उद्यान में आने लगे, जहाँ पर कि प्रभु ध्यान में तल्लीन थे। सिद्धार्थ आये हुए लोगों को उनके भूत-भविष्यत् काल की बातें बताता। उससे लोग बड़े प्रभावित हुए और इसके परिणामस्वरूप सिद्धार्थ देव सदा लोगों से घिरा रहता।

उन लोगों में से किसी ने सिद्धार्थ देव से कहा—“यहाँ अच्छंदक नामक एक अन्ध्या ज्योतिषी रहता है।” इस पर सिद्धार्थ देव ने उत्तर दिया—“वह कुछ भी नहीं जानता। वास्तव में देवार्थ ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान के सच्चे जानकार हैं।”

सिद्धार्थ व्यन्तरदेव ने अच्छंदक द्वारा किये गये अनेक गुप्त पापों को प्रकट कर दिया। लोगों द्वारा छानबीन करने पर सिद्धार्थ देव द्वारा कही गई सब बातें सच्ची सिद्ध हुईं। इस प्रकार अच्छंदक की ‘सारी’ पोपलीला की कलाई खुल गई और लोगों पर जमा हुआ उसका प्रभाव समाप्त हो गया। भगवान् महावीर के उज्ज्वल तप से प्रभावित जन-समुदाय दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक संख्या में प्रभु की सेवा में आने लगा।

अच्छंदक इससे बड़ा उद्विग्न हुआ। अन्य कोई उपाय न देख कर वह भगवान् महावीर के पास पहुँचा और करुण स्वर में प्रार्थना करने लगा—“भगवन्! आप तो सर्वशक्तिमान् और निःस्पृह हैं। आपके यहाँ विराजने से मेरी आजीविका समाप्तप्राय हो रही है। आप तो महान् परोपकारी हैं, फिर मेरा वृत्तिछेद, जो कि बधतुल्य ही माना गया है—वह आप कभी नहीं कर सकते। अतः आप मुझ पर दया कर अन्यत्र पधार जायें।”

भगवान् अर्च्छंदक के प्रन्तर के नर्म को जान कर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वहाँ से विहार कर उत्तर वाचाला की ओर पधार गये ।<sup>१</sup>

सुवर्णकूला और रूप्यकूला नदी के कारण 'वाचाला' के उत्तर और दक्षिण दो भाग हो गये थे । सुवर्णकूला के किनारे प्रभु के स्कन्ध का देवदूष्य वस्त्र काँटों में उलझ कर गिर पड़ा । प्रभु ने थोड़ा सा मुड़ कर देखा कि वह वस्त्र कहीं अस्थान में तो नहीं गिर पड़ा है । काँटों में उलझ कर गिरे वस्त्र को देख कर प्रभु ने समझ लिया कि शिष्यों को वस्त्र सुगमता से प्राप्त होंगे । तदनन्तर प्रभु ने उस देवदूष्य को वहीं वीसरा दिया और स्वयं अचेल हो गये । तत्पश्चात् प्रभु जीवन भर अचेल रहे ।

देवदूष्य वस्त्र प्राप्त करने की लालसा से प्रभु के पीछे-पीछे घूमते रहने वाले महाराज सिद्धार्थ के परिचित ब्राह्मण ने उस वस्त्र को उठा लिया<sup>२</sup> और वह अपने घर लौट आया ।

### चण्डकौशिक को प्रतिबोध

मोराक सन्निवेश से विहार कर प्रभु उत्तर वाचाला की ओर बढ़ते हुए कनखमल नामक आश्रम पर पहुँचे । उस आश्रम से उत्तर वाचाला पहुँचने के दो मार्ग थे । एक मार्ग आश्रम के बीच से होकर और दूसरा बाहर से जाता था । भगवान् सीधे मार्ग पर चल पड़े । मार्ग में उन्हें कुछ ग्वाले मिले और उन्होंने प्रभु से निवेदन किया—“भगवन् ! जिस मार्ग पर आप बढ़ रहे हैं, उसमें प्राणपहारी संकट का भय है । इस पथ पर आगे की ओर वन में चण्डकौशिक नामक दृष्टिविष धाला भयंकर सर्प रहता है, जो पथिकों को देखते ही अपने विष से भस्मसात् कर डालता है । उसकी विषैली फूत्कारों से आकाश के पक्षी भी भूमि पर गिर पड़ते हैं । वह इतना भयंकर है कि किसी को देखते ही जहर बरसाने लगता है । उस चण्डकौशिक के उग्र विष के कारण आसपास के वृक्ष भी सूख कर ठूठ बन चुके हैं । अतः अच्छा होगा कि आप कृपा कर इस मार्ग को छोड़ कर दूसरे बाहर वाले मार्ग से आगे की ओर पधारें ।”

भगवान् महावीर ने उन ग्वालों की बात पर न कोई ध्यान ही दिया और न कुछ उत्तर ही । त्रकारण करुणाकर प्रभु ने सोचा कि चण्डकौशिक सर्प आव्य प्राणी है, अतः वह प्रतिबोध देने से अवश्यमेव प्रतिबुद्ध होगा । चण्डकौशिक का उद्धार करने के लिए प्रभु उस घोर संकटपूर्ण पथ पर बढ़ चले ।

१ आवश्यक चूर्ण, पृष्ठ २७७

२ तस्य सुवर्णकूलाए बुलियो तं वस्थं कंठियाए जग्मं, ताहे तं धितं तं एतेण पितुनर्तस-  
धिज्जातितेण गहितं । [आवश्यक चूर्ण, पत्र २७७]

वह चण्डकौशिक सर्प अपने पूर्वभव में एक तपस्वी था । एक बार तप के पारण के दिन वह तपस्वी अपने एक शिष्य के साथ भिक्षार्थ निकला । भिक्षार्थ भ्रमण करते समय अज्ञात दशा में उन तपस्वी मुनि के पैर के नीचे एक मण्डुकी दब गई । यह देख कर शिष्य ने कहा—“गुरुदेव ! आपके पैर से दब कर मेंढकी मर गई ।”

उन तपस्वी मुनि ने मार्ग में दबी हुई एक दूसरी मेंढकी की ओर अपने शिष्य का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—“क्या इस मेंढकी को भी मैंने मारा है ?”

शिष्य ने सोचा कि सायंकाल के प्रतिक्रमण के समय गुरुदेव इस पाप की आलोचना कर लेंगे ।

सायंकाल के प्रतिक्रमण के समय भी तपस्वी मुनि अन्य आवश्यक आलोचनाएं कर के बैठ गये और उस मेंढकी के अपने पैर के नीचे दब जाने के पाप की आलोचना उन्होंने नहीं की । शिष्य ने यह सोच कर कि गुरुदेव उस पाप की आलोचना करना भूल गये हैं, अपने गुरु को स्मरण दिलाते हुए कहा—“गुरुदेव ! मण्डुकी आपके पैर के नीचे दब कर मर गई, उसकी आलोचना कीजिए ।” एक बार में नहीं सुना तो उसने दूसरी व तीसरी बार कहा—“महाराज ? मेंढकी की आलोचना कीजिए ।”

इस पर वे तपस्वी मुनि क्रुद्ध हो अपने शिष्य को मारने के लिए उठे । क्रोधावेश में ध्यान न रहने के कारण एक स्तम्भ से उनका शिर टकरा गया । इसके परिणामस्वरूप तत्काल उनके प्राण निकल गये और वे ज्योतिष्क जाति में देव रूप में उत्पन्न हुए । वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर उस तपस्वी का जीव कनकखल आश्रम के ५०० तापसों के कुलपति की पत्नी की कुक्षि से बालक के रूप में उत्पन्न हुआ । बालक का नाम कौशिक रखा गया । कौशिक बाल्यकाल से ही बहुत चण्ड प्रकृति का था । उस आश्रम में कौशिक नाम के अन्य भी तापस थे इसलिए उसका नाम चण्डकौशिक रखा गया ।

समय पाकर चण्डकौशिक उस आश्रम का कुलपति बन गया । उसकी अपने आश्रम के वन के प्रति प्रगाढ़ ममता थी । वह तापसों को उस वन से फल नहीं लेने देता था, अतः तापस उस आश्रम को छोड़ कर इधर-उधर चले गये ।

उस आश्रम के वन में जो भी गोपालक आते उनको वह चण्डकौशिक मार-पीट कर भगा देता । एक बार पास की नगरी 'सैयविया' के राजपुत्रों ने वहाँ आकर वनप्रदेश को आकर नष्ट कर दिया । गोपालकों ने चण्डकौशिक के बाहर से लौटने पर उसे सारी घटना सुना दी । चन्द्रकौशिक लकड़ियां डाल कर

परशु हाथ में लिए क्रुद्ध हो कुमारों के पीछे दौड़ा। तापस को आते देख कर राजकुमार भाग निकले।

तापस परशु हाथ में लिए उन कुमारों के पीछे दौड़ा और एक गड्ढे में गिर पड़ा। परशु की धार से तापस चण्डकौशिक का शिर कट गया और तत्काल मर कर वह उसी वन में दृष्टिविष सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ। वह अपने पहले के क्रोध और ममत्व के कारण वनखण्ड की रक्षा करने लगा। वह चण्डकौशिक सर्प उस वन में किसी को नहीं आने देता था। आश्रम के बहुत से तापस भी उस सर्प के विष के प्रभाव से जल गये और जो थोड़े बहुत बचे थे, वे भी उस आश्रम को छोड़ कर अन्यत्र चले गये।

वह चण्डकौशिक महानाग रात-दिन उस सारे वनखण्ड में इधर से उधर चक्कर लगाता रहता था और पक्षी तक को भी वन में देखता तो उसे तत्काल अपने भयंकर विष से जला डालता था।

उत्तर विशाला के पथ पर आगे बढ़ते हुए भगवान् महावीर चण्डकौशिक द्वारा उजाड़े गये उस वन में पहुँचे। उन्होंने बिना किसी भय और संशय के उस वन में स्थित यक्षगृह के मण्डप में ध्यान लगाया। उनके मन में विश्वप्रेम की विमल गंगा बह रही थी और विमल दृष्टि में अमृत का सागर हिलोरें ले रहा था।

प्रभु के मन में सर्प चण्डकौशिक का कोई भय नहीं था। उनके मन में तो चण्डकौशिक का उद्धार करने की भावना थी।

अपने रक्षणीय वन की सीमा में महावीर को ध्यानस्थ खड़े देख कर चण्डकौशिक सर्प ने अपनी क्रोधपूर्ण दृष्टि डाली और अतीव क्रुद्ध हो फूटकार करने लगा। किन्तु भगवान् महावीर पर उसकी विषमय दृष्टि का किञ्चिन्मात्र भी प्रभाव नहीं हुआ।

यह देख कर चण्डकौशिक की क्रोधाग्नि और भी अधिक प्रचण्ड हो गई। उसने आवेश में आकर भगवान् महावीर के पैर और शरीर पर जहरीला दंष्ट्रा-घात किया। इस पर भी भगवान् निर्भय एवं अडोल खड़े ही रहे। नाग ने देखा कि रक्त के स्थान पर प्रभु के शरीर से दूध सी श्वेत और मधुर धारा बह रही है।

साधारण लोग इस बात पर आश्चर्य करेंगे किन्तु वास्तव में आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है। देखा जाता है कि पुत्रवती माँ के मन में एक बालक के प्रति प्रगाढ़ प्रीति होने के कारण उसके स्तन दूध से भर जाते हैं, रक्त दूध का रूप धारण कर लेता है।

ऐसी दशा में त्रैलोक्यैकमित्र जिन प्रभु के रोम-रोम में प्राणिमात्र के प्रति पूर्ण वात्सल्य हो, उनके शरीर का रुधिर दूध सा श्वेत और मधुर हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसके उपरान्त तीर्थंकर प्रभु के शरीर का यह एक विशिष्ट अतिशय होता है कि उनका रक्त और मांस गौदुग्ध के समान श्वेत वर्ण का ही होता है ।

चण्डकौशिक चकित हो भगवान् महावीर की सौम्य, शान्त और मोहक मुखमुद्रा को अपलक दृष्टि से देखने लगा । उस समय उसने अनुभव किया कि भगवान् महावीर के रोम-रोम से अलौकिक विश्वप्रेम और शान्ति का अमृतरस बरस रहा है । चण्डकौशिक के विषमय दंष्ट्राघात से वे न तो उद्विग्न हुए और न उसके प्रति किसी प्रकार का रोष ही प्रकट किया । चण्डकौशिक का क्रोधानल मेघ की जलधारा से बुझे दावानल की तरह शान्त हो गया ।

चण्डकौशिक को शान्त देख कर महावीर ध्यान से निवृत्त हुए और बोले—  
“उवसम भो चण्डकोसिया ! हे चण्डकौशिक ! शान्त हो, जागृत हो, अज्ञान में कहीं भटक रहा है ? पूर्व-जन्म के दुष्कर्मों के कारण तुम्हें सर्प बनना पड़ा है । अब भी सँभलो तो भविष्य नहीं बिगड़ेगा, अन्यथा इससे भी निम्न भव में भ्रमण करना पड़ेगा ।”

भगवान् के इन सुधासिक्त वचनों को सुन कर ‘चण्डकौशिक’ जागृत हुआ, उसके अन्तर्मन में विवेक की ज्योति जल उठी । पूर्वजन्म की सारी घटनाएं चल-चित्र की भांति एक-एक कर उसके नेत्रों के सामने नाचने लगीं ।<sup>१</sup> वह अपने कृत-कर्म के लिए पश्चात्ताप करने लगा । भगवान् की प्रचण्ड तपस्या और निश्चल, विमल करुणा के आगे उसका पाषाणहृदय भी पिघल कर पानी बन गया । उसने शुद्ध मन से संकल्प किया—“अब मैं किसी को भी नहीं सताऊंगा और न आज से मरणपर्यन्त कभी अशन ही ग्रहण करूंगा ।”

कुछ लोग भगवान् पर चण्डकौशिक की लीला देखने के लिए इधर-उधर दूर खड़े थे, किन्तु भगवान् पर सर्प का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा देख कर वे धीरे-धीरे पास आये और प्रभु के अलौकिक प्रभाव को देख कर चकित हो गये । चण्डकौशिक सर्प को प्रतिबोध दे प्रभु अन्यत्र विहार कर गये । सर्प बिल में मुंह डाल कर पड़ गया । लोगों ने कंकर मार-मार कर उसको उत्तेजित करने का प्रयास किया पर नाग बिना हिले-डुले ज्यों का त्यों पड़ा रहा । उसका प्रचण्ड क्रोध क्षमर के रूप में बदल चुका था । नाग के इस बदले हुए जीवन को देख व सुन कर आबाल वृद्ध नर-नारी उसकी अर्चा-पूजा करने लगे । कोई उसे दूध शक्कर चढ़ाता तो कोई कुंकुम का टीका लगाता । इस तरह मिठास के कारण

१ न इही चिता-सरणं जोइस कोवाहि जाओइहं ।

[आव. नि., गा. ४६७]

थोड़े ही समय में बहुत सी चींटियां आ-आ कर नाग के शरीर से चिपट गईं और काटने लगीं, पर नाग उस असह्य पीड़ा को भी समभाव से सहन करता रहा। इस प्रकार शुभ भावों में आयु पूर्ण कर उसने अष्टम स्वर्ग की प्राप्ति की।<sup>१</sup> भगवान् के उद्बोधन से चण्डकौशिक ने अपने जीवन को सफल बनाया। उसका उद्धार हो गया।

### विहार और नौकारोहण

चण्डकौशिक का उद्धार कर भगवान् विहार करते हुए उत्तर वाचाला पधारे। वहाँ उनका नागसेन के यहाँ पन्द्रह दिन के उपवास का परमान्न से पारणा हुआ। फिर वहाँ से विहार कर प्रभु श्वेताम्बिका नगरी पधारे। वहाँ के राजा प्रदेशी ने भगवान् का खूब भावभीना सत्कार किया।

श्वेताम्बिका से विहार कर भगवान् सुरभिपुर की ओर चले। बीच में गंगा नदी बह रही थी। अतः गंगा पार करने के लिए प्रभु को नौका में बैठना पड़ा। नौका ने ज्यों ही प्रयाण किया त्यों ही दाहिनी ओर से उल्लू के शब्द सुनाई दिये। उनको सुन कर नौका पर सवार खेमिल निमित्तज्ञ ने कहा—“बड़ा संकट आने वाला है, पर इस महापुरुष के प्रबल पुण्य से हम सब बच जायेंगे।”<sup>२</sup> थोड़ी दूर आगे बढ़ते ही आँधी के प्रबल भोंकों में पड़ कर नौका भँवर में पड़ गई। कहा जाता है कि त्रिपुष्ट के भव में महावीर ने जिस सिंह को मारा था उसी के जीव ने वैर-भाव के कारण सुदंष्ट्र देव के रूप से गंगा में महावीर के नौकारोहण के पश्चात् तूफान खड़ा किया। यात्रीगण घबराये, पर महावीर निर्भय-अडोल थे। अन्त में प्रभु की कृपा से आँधी रुकी और नाव गंगा के किनारे लगी। कम्बल और शम्बल नाम के नागकुमारों ने इस उपसर्ग के निवारण में प्रभु की सेवा की।

### पुष्य निमित्तज्ञ का समाधान

नाव से उतर कर भगवान् गंगा के किनारे ‘स्थूणाक’ सन्निवेश पधारे और वहाँ ध्यान-मुद्रा में खड़े हो गये। गाँव के पुष्य नामक निमित्तज्ञ को भगवान् के चरण-चिह्न देख कर विचार हुआ—“इन चिह्नों वाला अवश्य ही कोई चक्रवर्ती या सम्राट् होना चाहिये। संभव है, संकट में होने से वह अकेला धूम रहा हो। मैं जाकर उसकी सेवा करूँ।” इन्हीं विचारों से वह चरण-चिह्नों को देखता हुआ बड़ी आशा से भगवान् के पास पहुँचा। किन्तु भिक्षुरूप में भगवान् को खड़े देख कर उसके आश्चर्य का पारावार नहीं रहा। वह समझ नहीं पाया

१ अष्टमासस्स कालगतो सहस्तारे उववन्नो ।

[भा. नू. १, पृ. २७६]

२ भा० नू० पूर्वभाग, पृ० २८०



कि चक्रवर्ती के समस्त लक्षण शरीर पर होते हुए भी यह भिक्षुक कैसे है। उसकी ज्योतिष-शास्त्र से श्रद्धा हिल गई और वह शास्त्र को गंगा में बहाने को तैयार हो गया। उस समय देवेन्द्र ने प्रकट होकर कहा—‘पंडित! शास्त्र को अश्रद्धा की दृष्टि से न देखो। यह कोई साधारण पुरुष नहीं, धर्म-चक्रवर्ती हैं, देव-देवेन्द्र और नरेन्द्रों के वन्दनीय हैं।’ पुण्य की शंका दूर हुई और वह वन्दन कर चला गया।<sup>१</sup>

### गोशालक का प्रभु-सेवा में आगमन

विहार-क्रम से घूमते हुए भगवान् ने दूसरा वर्षावास राजगृह के उपनगर नालन्दा में किया। वहाँ प्रभु एक तन्तुवाय-शाला में ठहरे हुए थे। मन्त्रलिपुत्र गोशालक भी उस समय वहाँ वर्षावास हेतु आया हुआ था। भगवान् के कठोर तप और त्याग को देख कर वह आकर्षित हुआ। भगवान् के प्रथम मासतप का पारणा विजय सेठ के यहाँ हुआ। उस समय पंच-दिव्य प्रकट हुए और आकाश में देव-दुन्दुभि बजी। भाव-विशुद्धि से विजय ने संसार परिमित किया और देव-आयु का बन्ध<sup>२</sup> किया। राजगृह में सर्वत्र विजय गाथापति की प्रशंसा हो रही थी। गोशालक ने तप की यह महिमा देखी तो वह भगवान् के पास आया। भगवान् ने वर्षाकाल भर के लिए मास-मास का दीर्घ तप स्वीकार कर रखा था। दूसरे मास का पारणा आनन्द गाथापति ने करवाया। उसके बाद तीसरा मास स्वमण किया और उसका पारणा सुनन्द गाथापति के यहाँ क्षीर से सम्पन्न हुआ।<sup>३</sup>

कार्तिकी पूर्णिमा के दिन भिक्षा के लिये जाते हुए गोशालक ने भगवान् से पूछा—‘हे तपस्वी! मुझे आज भिक्षा में क्या मिलेगा?’ सिद्धार्थ ने कहा—‘कोदों का बासी भात, खट्टी छाछ और खोटा रुपया।’<sup>४</sup>

भगवान् की भविष्यवाणी को मिथ्या सिद्ध करने हेतु गोशालक ने श्रेष्ठियों के उच्च कुलों में भिक्षार्थ प्रवेश किया, पर संयोग नहीं मिलने से उसे निराश होकर खाली हाथ लौटना पड़ा। अन्त में एक लुहार के यहाँ उसको खट्टी छाछ,

१ आ० चू० १, पृ० २८२।

२ विजयस्स गाहावइस्स तेणं दब्बसुद्धेणं दायगसुद्धेणं, तिविहेणं तिकरण सुद्धेणं दारोणं मए पडिलामिए समाणे, देवाउए निबद्धे, संसारे परित्तीकए गिहंसि य से, इमाइं पंचदिव्वाइं पाउम्मयाइं। [भगवती, १५ श०, सू० ५४१, पृ० १२१४]

३ तच्च मासक्खमण पारणमंसि तंतुवाय सालाम्भौ.....

[भगवती, शतक १५, उ० १, सूत्र ५४१]

४ सिद्धार्थः स्वामिसंक्रान्तो, बभाषे भद्र लप्स्यसे। धान्यान्तं कीद्वकूरमेकं कूटं च रूप्यकम्।

[त्रि० श० पु० च०, १०।३।३६३ श्लो०]

बासी भात और दक्षिणा में एक रुपया प्राप्त हुआ जो बाजार में नकली सिद्ध हुआ। गौशालक के मन पर इस घटना का यह प्रभाव पड़ा कि वह नियतिवाद का भक्त बन गया। उसने निश्चय किया कि जो कुछ होने वाला है, वह पहले से ही नियत होता है। भगवती सूत्र में उपर्युक्त भविष्यवाणी का उल्लेख नहीं मिलता।

इधर चातुर्मास समाप्त होने पर भगवान् ने राजगृही के नालन्दा से विहार किया और 'कोल्लाग' सन्निवेश में जाकर 'बहुल ब्राह्मण' के यहाँ अन्तिम मास-स्वमण का पारणा किया। गौशालक उस समय भिक्षा के लिये बाहर गया हुआ था। जब वह लौट कर तन्तुवायशाला में आया और भगवान् को नहीं देखा तो सोचा कि भगवान् नगर में कहीं गढ़े होंगे। वह उन्हें नगर में जाकर ढूँढ़ने लगा। पर भगवान् का कहीं पता नहीं चला तो निराश होकर लौट आया और वस्त्र, कुँडिका, चित्रफलक आदि अपनी सारी वस्तुएँ ब्राह्मणों को देकर तथा शिर मुँडवा कर भगवान् की खोज में निकल पड़ा।<sup>१</sup>

प्रभु को ढूँढ़ते हुए वह कोल्लाग सन्निवेश पहुँचा और लोगों के मुख से बहुल ब्राह्मण की दान-महिमा सुनकर विचारने लगा कि अत्रण्य ही यह मेरे घर्माचार्य की महिमा होनी चाहिये। दूसरे का ऐसा तपः प्रभाव नहीं हो सकता। 'कोल्लाग सन्निवेश' के बाहर प्रणीत-भूमि में उसने भगवान् के दर्शन किये। दर्शनानन्तर भाव-विभोर हो उसने प्रभु को वन्दन किया और बोला—'आज से आप मेरे घर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हूँ।' उसके ऐसा बारम्बार कहने से भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की।<sup>२</sup> रागरहित भी भगवान् ने भाविभाव को जानते हुए उसके वचन को स्वीकार किया।<sup>३</sup> इसके बाद छह वर्ष तक गौशालक प्रभु के साथ विचरता रहा।

### साधना का तीसरा वर्ष

कोल्लाग सन्निवेश से विहार कर प्रभु गौशालक के साथ स्वर्णखल पथारे। मार्ग में उनको खीर पकाते हुए कुछ ग्वाले मिले। गौशालक का मन खीर देखकर मचल उठा। उसने महावीर से कहा—“भगवन् ! कुछ देर ठहरें तो खीर खाकर चलेंगे।” सिद्धार्थ ने कहा—“खीर खाने को नहीं मिलेगी, क्योंकि हँडिया फूटने के कारण खीर पकने से पूर्व ही मिट्टी में मिल जायेगी।”

१ साङ्गियाभो य पाङ्गियाभो य कुङ्गियाभो य पाहणाभो य चित्तफलगं च माहणे आयामेति आयामेत्ता सत्तरोट्ठं नुंढं करोति। [भगवती श० १५।१ स० ५४१ पृ० १२१७]

(क) घा० पू० १, पृ० २८३।

२ गौशालकस्स मंजलिपुत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेमि। [भगवती शतक, १५।१ सूत्र ५४१]

३ नीरागोऽपि भव्यतार्यं, तद्भावं च विदन्नपि। तद्वचः प्रत्यपादीशो, महान्तः क्व न वत्सलाः।

[त्रि० श० पु० च०, १०।३।४१२]

## नियतिवाद

पर गोशालक ग्वालों को सन्नेत कर स्वयं खीर के लिए रुका रहा । भगवान् आगे प्रयाण कर गये । सुरक्षा का पूर्ण प्रयत्न करने पर भी चावलों के फूलने से हँडिया फूट गई और खीर धूल में मिल गई । गोशालक निराश होकर नन्हा सा मुँह लिए महावीर के पास पहुँचा । उसे इस बार दृढ़ विश्वास हो गया कि होतहार कभी टलता नहीं । इस तरह वह 'नियतिवाद' का पक्का समर्थक बन गया ।

कालान्तर में वहाँ से विहार कर भगवान् 'ब्राह्मणगाँव' पधारे । ब्राह्मण-गाँव दो भागों में विभक्त था—एक 'नन्दपाटक' और दूसरा 'उपनन्दपाटक' । नन्द और उपनन्द नाम के दो प्रसिद्ध पुरुषों के नाम पर गाँव के भाग इन नामों से पुकारे जाते थे । भगवान् महावीर 'नन्दपाटक' में नन्द के घर पर भिक्षा को पधारे । वहाँ उनको दही मिश्रित भात मिला । गोशालक 'उपनन्दपाटक' में उपनन्द के घर गया था वहाँ उपनन्द की दासी उसको बासी भात देने लगी किन्तु गोशालक ने दुर्भाव से उसे झम्बीकार कर दिया । गोशालक को इस अभद्र व्यवहार से क्रुद्ध हो उपनन्द दासी से बोला—“यदि यह भिक्षा नहीं ले तो इसके सिर पर फेंक देना ।” दासी ने स्वामी की आज्ञा से वैसा ही किया । इस घटना से गोशालक बहुत क्रुपित हुआ और उसके घर वालों को शाप देकर वहाँ से चला दिया ।

आवश्यक चूणिकार के मतानुसार गोशालक ने उपनन्द को उसका घर जल जाने का शाप दिया । भगवान् के तप की महिमा असत्य प्रमाणित न हो इस दृष्टि से निकटवर्ती व्यन्तरो के द्वारा घर जलाया गया और उसका शाप सच्चा ठहरा ।<sup>१</sup>

ब्राह्मणगाँव से विहार कर भगवान् चम्पा पधारे और वहीं पुर तृतीय वर्षाकाल पूर्ण किया । वर्षाकाल में दो-दो मास के उत्कट तप के साथ प्रभु ने विविध आसन व ध्यानयोग की साधना की । प्रथम द्विमासीय तप का पारणा चंपा में और द्वितीय द्विमासीय तप का पारणा चंपा के बाहर किया ।<sup>२</sup>

## साधना का चतुर्थ वर्ष

अंग देश की चम्पा नगरी से विहार कर भगवान् 'कालाय' सन्निवेश पधारे । वहाँ गोशालक के साथ एक सूने घर में ध्यानावस्थित हुए । गोशालक वहाँ द्वार के पास छिप कर बैठ गया और पास आयी हुई 'विष्णुमती' नाम की

१ आब० चू० पूर्व भाग, पृ० २८४ वाणमतरेहि मा भगवतो अलियं भवतुत्ति तं घरं दड्डु ।

२ जं चरिमं दो मासियपारणयं तं बाहिं पारेति ।

[आब. चू., ११२५]

दासी के साथ हँसी-मजाक करने लगा। दासी ने गाँव में जाकर मुखिया से शिकायत की और इसके परिणामस्वरूप मुखिया के पुत्र पुरुषसिंह द्वारा गोशालक पीटा गया।

कालाय सन्निवेश से प्रभु 'पत्तकालय' पधारे। वहाँ भी एक शून्य स्थान देख कर भगवान् ध्यानारूढ़ हो गये। गोशालक वहाँ पर भी अपनी विकृत भावना और चंचलता के कारण जनसमुदाय के क्रोध का शिकार बना।

### गोशालक का शाप-प्रदान

'पत्तकालय' से भगवान् 'कुमारक सन्निवेश' पधारे।<sup>१</sup> वहाँ चंपगरमणीय नामक उद्यान में ध्यानावस्थित हो गये। वहाँ के कूपनाथ नामक कुम्भकार की शाला में पार्श्वनाथ के संतानीय आचार्य मुनिचन्द्र अपने शिष्यों के संग ठहरे हुए थे। उन्होंने अपने एक शिष्य को गच्छ का मुखिया बना कर स्वयं जिनकल्प स्वीकार कर रखा था। गोशालक ने भगवान् की भिक्षा के लिए चलने को कहा किन्तु प्रभु की ओर से सिद्धार्थ ने उत्तर दिया कि आज इन्हें नहीं जाना है।

गोशालक अकेला भिक्षार्थ गाँव में गया और वहाँ उसने रंग-बिरंगे वस्त्र पहने पार्श्व-परम्परा के साधुओं को देखा। उसने उनसे पूछा—“तुम सब कौन हो?” उन्होंने कहा—“हम सब पार्श्व परम्परानुयायी श्रमण निर्ग्रन्थ हैं।” इस पर गोशालक ने कहा—“तुम सब कैसे निर्ग्रन्थ हो? इतने सारे रंग-बिरंगे वस्त्र और पात्र रख कर भी अपने को निर्ग्रन्थ कहते हो। सच्चे निर्ग्रन्थ तो मेरे धर्माचार्य हैं, जो वस्त्र व पात्र से रहित हैं और त्याग-तप के साक्षात् रूप हैं। पार्श्व संतानीय ने कहा—“जैसा तू, वैसे ही तेरे धर्माचार्य भी, स्वयंगृहीतलिंग होंगे।”<sup>२</sup> इस पर गोशालक क्रुद्ध होकर बोला—“अरे! मेरे धर्माचार्य की तुम निन्दा करते हो। यदि मेरे धर्माचार्य के दिव्य तप और तेज का प्रभाव है तो तुम्हारा उपाश्रय जल जाय।” यह सुन कर पार्श्वपत्नियों ने कहा—“तुम्हारे जैसों के कहने से हमारे उपाश्रय जलने वाले नहीं हैं।”

यह सुन कर गोशालक भगवान् के पास आया और बोला—“आज मैंने सारंभी और सपरिग्रही साधुओं को देखा। उनके द्वारा आपके अपवाद करने पर मैंने कहा—“धर्माचार्य के दिव्य तेज से तुम्हारा उपाश्रय जल जाय, किन्तु उनका उपाश्रय जला नहीं, इसका क्या कारण है?” सिद्धार्थ देव ने कहा—“गोशालक! वे पार्श्वनाथ के सन्तानीय साधु हैं। साधुओं के तपस्तेज उपाश्रय जलाने के लिए नहीं होता।”

१ ततो कुमारार्यं संनिवेशं गता।

[भा.व. चू., १। पृ० २८५]

२ भा.व. चू., पृ० २८५

उधर आचार्य मुनिचन्द्र उपाश्रय के बाहर खड़े हो ध्यानमग्न हो गये। अर्द्धरात्रि के समय कूपनय नामक कुम्भकार अपनी मित्रमण्डली में सुरापान कर अपने घर की ओर लौटा। उपाश्रय के बाहर ध्यानमग्न मुनि को देख कर मद्य के नशे में मदहोश उस कुम्भकार ने उन्हें चोर समझ कर अपने दोनों हाथों से मुनि का गला धर दबाया। असह्य वेदना होने पर भी मुनिचन्द्र ध्यान में अडोल खड़े रहे। समभाव से शुक्लध्यान में स्थित होने के कारण मुनिचन्द्र को तत्काल केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई और उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

देवों ने पुष्पादि की वर्षा कर केवलज्ञान की महिमा की। जब गोशालक ने देवों को आते-जाते देखा तो उसने समझा कि उन साधुओं का उपाश्रय जल रहा है।

गोशालक ने भगवान् ने कहा—“उन विरोधियों का उपाश्रय जल रहा है।” इस पर सिद्धार्थ देव ने कहा—“उपाश्रय नहीं जल रहा है। आचार्य को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई है, इसलिए देवगण महिमा कर रहे हैं।”

गन्धोदक और पुष्पों की वर्षा देख कर गोशालक को बड़ा हर्ष हुआ। वह उपाश्रय में जाकर मुनिचन्द्र के शिष्यों से कहने लगा—“अरे! तुम लोगों को कुछ भी पता नहीं है, खाकर अजगर की तरह सोये पड़े हो। तुम्हें अपने आचार्य के काल-कवलित हो जाने का भी ध्यान नहीं है। गोशालक की बात सुन कर साधु उठे और अपने आचार्य को कालप्राप्त समझ कर प्रगाढ़ पश्चात्ताप और अपने आपकी निन्दा करते रहे। गोशालक ने भी अवसर देख कर उन्हें जी भर भला-बुरा कहा।<sup>१</sup>

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार मुनिचन्द्र को उस समय अवधिज्ञान हुआ और उन्होंने स्वर्गगमन किया।<sup>२</sup>

कुमारक से विहार कर भगवान् 'चोराक सन्नवेश'<sup>३</sup> पधारे। वहाँ पर चोरों का अत्यधिक भय था। अतः वहाँ के पहरेदार अधिक सतर्क रहते थे। भगवान् उधर पधारे तो पहरेदारों ने उनसे परिचय पूछा, पर मौनस्थ होने के कारण प्रभु की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला। पहरेदार उनके इस आचरण से सशंक और बड़े क्रुद्ध हुए। फलतः प्रभु को गुप्तचर या चोर समझ कर उन्होंने उन्हें अनेक प्रकार की यातनाएँ दीं। जब इस बात की सूचना ग्रामवासी 'उत्पल' निमित्तज्ञ की बहिनों, 'सोमा और जयंती' को मिली तो वे घटना-स्थल पर

१ आवश्यक चूणि, भाग १, पृ० २८६

२ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, १०।३।४७० से ४७७

३ गोरखपुर जिले में स्थित चोराचौरी

[तीर्थंकर महावीर, पृ० १६७]

उपस्थित हुई और रक्षक पुरुषों को उन्होंने महावीर का सही परिचय दिया। परिचय प्राप्त कर आरक्षकों ने महावीर को मुक्त किया और अपनी भूल के लिए क्षमायाचना की।

चौराक से भगवान् महावीर 'पृष्ठ चंपा' पधारे और चतुर्थ वर्षकाल वहीं बिताया। वर्षकाल में चार मास का दीर्घ तप और अनेक प्रकार की प्रतिमाओं से ध्यान-मुद्रा में कायोत्सर्ग करते रहे। चार मास की तप-समाप्ति के बाद भगवान् ने चम्पा बाहिरिका में पारणा किया।

### साधना का पंचम वर्ष

पृष्ठ चम्पा का वर्षकाल पूर्ण कर भगवान् 'कयंगला' पधारे।<sup>१</sup> वहीं 'दरिद्र थेर' नामक पाषंडी के देवल में कायोत्सर्ग-स्थित हो कर रहे।

कयंगला से विहार कर भगवान् 'सावस्थी' पधारे और नगर के बाहर ध्यानावस्थित हो गये। कड़कड़ाती सर्दी पड़ रही थी, फिर भी भगवान् उसकी परवाह किये बिना रात भर ध्यान में लीन रहे। गोशालक सर्दी नहीं सह सका और रात भर जाड़े के मारे ठिठुरता-सिसकता रहा। उधर देवल में धार्मिक उत्सव होने से बहुत से स्त्री-पुरुष मिल कर नृत्य-गायन में तल्लीन हो रहे थे। गोशालक ने उपहास करते हुए कहा—“अजी! यह कैसा धर्म, जिसमें स्त्री और पुरुष साथ-साथ लज्जारहित हो गाते व नाचते हैं?”

लोगों ने उसे धर्म-विरोधी समझ कर वहाँ से बाहर धकेल दिया। वह सर्दी में ठिठुरते हुए बोला—“अरे भाई! सच बोलना आजकल विपत्ति मोल लेना है। लोगों ने दया कर फिर उसे भीतर बुलाया। पर वह तो आदत से लाचार था। अतः अनर्गल प्रलाप के कारण वह दो-तीन बार बाहर निकाला गया और युवकों के द्वारा पीटा भी गया।

तदनन्तर जब जन-समुदाय को यह ज्ञात हुआ कि यह देवार्थ महावीर का शिष्य है, तो सोचा कि इसे यहाँ रहने देने में कोई हानि नहीं है। वृद्धों ने जोर-जोर से बाजे बजवाने शुरू किये, जिससे उसकी बातें न मुनी जा सकें। इस प्रकार रात कुशलता से बीत गई।

प्रातःकाल महावीर वहाँ से विहार कर श्रावस्ती नगरी में पधारे। वहाँ पर 'पितृदत्त' गाथापति की पत्नी ने अपने बालक की रक्षा के लिए किसी निमित्तज्ञ के कथन से किसी एक गर्भ के मांस से खीर बनाई और तपस्वी को देने के विचार से गोशालक को दे डाली। उसने भी अनजाने ले ली। सिद्धार्थ ने पहले

ही इसकी सूचना कर दी थी। जब गोशालक ने इसे भुठलाने का प्रयत्न किया तो सिद्धार्थ ने कहा—वसन कर। वसन करने पर असलियत प्रकट हो गई। पर इस घटना का ऐसा प्रभाव पड़ा कि गोशालक पक्का नियतिवादी हो गया।

सावत्थी से विहार कर प्रभु 'हलेदुग' पधारे। गाँव के पास ही 'हलेदुग' नाम का एक विशाल वृक्ष था। भगवान् ने उस स्थान को ध्यान के लिए उपयुक्त समझा और वहीं रात्रि-विश्राम किया। दूसरे अनेक पथिक भी रात्रि में वहाँ विश्राम करने को ठहरे हुए थे। उन्होंने सर्दी से बचने के लिए रात में आग जलाई और अतः काल विना आग बुझाये ही वे लोग चले गये। इधर सूखे घास के संयोग से हवा का जोर पा कर अग्नि की लपटें जलती हुई महावीर के निकट आ पहुँची और उनके पैर आग की लपटों से झुलस गये फिर भी ध्यान से चलायमान नहीं हुए।<sup>१</sup>

मध्याह्न में ध्यान पूर्ण होने पर भगवान् महावीर ने आगे प्रयाण किया और 'नांगला' होते हुए 'आवर्त' पधारे। वहाँ बलदेव के मंदिर में ध्यानावस्थित हो गये। भगवान् के साथ रहते हुए भी गोशालक अपने चंचल स्वभाव के कारण लोगों के वचनों को डराता और चौंकाता था जिसके कारण वह अनेक बार पीटा गया।

आवर्त से विहार कर प्रभु अनेक क्षेत्रों को अपनी चरणरज से पवित्र करते हुए 'चौराक सन्नवेश' पधारे। वहाँ भी गुप्तचर समझ कर लोगों ने गोशालक को पीटा। गोशालक ने रुष्ट होकर कहा—'अकारण यहाँ के लोगों ने मुझे पीटा है, अतः मेरे धर्माचार्य के तपस्तेज का प्रभाव हो तो यह मंडप जल जाय' और संयोगवश मंडप जल गया।

उसके इस उपद्रवी स्वभाव से भगवान् विहार कर 'कलंबुका' पधारे। वहाँ निकटस्थ पर्वतीय प्रदेश के स्वामी 'मेघ' और 'कालहस्ती' नाम के दो भाइयों में से कालहस्ती की महावीर से मार्ग में भेंट हुई। 'कालहस्ती' ने उनसे पूछा—'तुम कौन हो?' महावीर ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इस पर कालहस्ती ने उन्हें पकड़ कर खूब पीटा, फिर भी महावीर नहीं बोले।

कालहस्ती ने इस पर महावीर को अपने बड़े भाई मेघ के पास भिजवाया। मेघ ने महावीर को एक बार पहले गृहस्थाश्रम में कुंडग्राम में देखा था, अतः देखते ही वह उन्हें पहचान गया। उसने उठ कर प्रभु का सत्कार किया और उन्हें मुक्त ही नहीं किया अपितु अपने भाई द्वारा किये गये अभद्र व्यवहार के लिये क्षमा-याचना भी की।<sup>२</sup>

१ भाव० चू० पृ० २६८।

२ भाव० चू०, पृ० २६०।

मेघ से मुक्त होने पर भगवान् ने सोचा—“मुझे अभी बहुत से कर्म क्षय करने हैं। यदि परिचित प्रदेश में ही घूमता रहा तो कर्मों का क्षय विलम्ब से होगा। यहाँ कष्ट से बचाने वाले परिचित एवं प्रेमी भी मिलते रहेंगे। अतः मुझे ऐसे अनार्य प्रदेश में विचरण करना चाहिये, जहाँ मेरा कोई परिचित न हो।” ऐसा सोच कर भगवान् लाढ़ देश की ओर पधारे। लाढ़ या राढ़ देश, जो उस समय पूर्ण अनार्य माना जाता था, उस ओर सामान्यतः मुनियों का विचरण नहीं होता था। कदाचित् कोई जाते तो वहाँ के लोग उनकी हीलना-निन्दा करते और कष्ट देते। उस प्रान्त के दो भाग थे—एक वच भूमि और दूसरा शुभ्र भूमि। इनको उत्तर राढ़ और दक्षिण राढ़ के नाम से कहा जाता था। उनके बीच अजय नदी<sup>१</sup> बहती थी। भगवान् ने उन स्थानों में विहार किया और वहाँ के कठोरतम उपसर्गों को समभाव से सहन किया।

### अनार्य क्षेत्र के उपसर्ग

लाढ़ देश में भगवान् को जो भयंकर उपसर्ग उपस्थित हुए, उनका रोमांचकारी वर्णन आचारारंग सूत्र में आर्य सुघर्मा ने निम्नरूप से किया है :—

“वहाँ उनको रहने के लिये अनूकूल आवास प्राप्त नहीं हुए। रूखा-सूखा बासी भोजन भी बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता। वहाँ के कुत्ते दूर से ही भगवान् को देखकर काटने को दौड़ते किन्तु उन कुत्तों को रोकने वाले लोग वहाँ बहुत कम संख्या में थे। अधिकांश तो ऐसे थे जो छुड़कार कर कुत्तों को काटने के लिये प्रेरित करते।<sup>२</sup> रूक्षभोजी लोग वहाँ लाठी लेकर विचरण करते। पर भगवान् तो निर्भय थे, वे ऐसे दुष्ट स्वभाव वाले प्राणियों पर भी दुर्भाव नहीं करते, क्योंकि उन्होंने शारीरिक ममता को शुद्ध मन से त्याग दिया था। कर्म-निर्जरा का हेतु समझ कर ग्रामकंटकों-दुर्वचनों को सहर्ष सहन करते हुए वे सदा प्रसन्न रहते। वे मन में भी किसी के प्रति हिंसा भाव नहीं लाते।

जैसे संग्राम में शत्रुओं के तीखे प्रहारों की तनिक भी परवाह किये बिना गजराज आगे बढ़ता जाता है, वैसे ही भगवान् महावीर भी लाढ़ देश के विभिन्न उपसर्गों को किञ्चिन्मात्र भी परवाह किये बिना विचरते रहे।<sup>३</sup> वहाँ उन्हें ठहरने के लिये कभी दूर-दूर तक गाँव भी उपलब्ध नहीं होते। भयंकर अरण्य में ही रात्रिवास करना पड़ता। कभी गाँव के निकट पहुँचते ही लोग उन्हें मारने लग जाते और दूसरे गाँव जाने को बाध्य कर देते। अनार्य लोग भगवान् पर दण्ड, मुष्टि, भाला, पत्थर तथा डेलों से प्रहार करते और इस कार्य से प्रसन्न होकर अट्टहास करने लगते।

१ आचा० सू०, पृ० २८७।

२ अह नूहा बैसिए मत्ते, कुकुरा तत्त्व हितिसु निर्बैसु। [आचा० १।३ पृ० ८३।८४—]

३ आचा०, १।३।८७।८८। ना० १३



वहाँ के लोगों की दुष्टता असहायता स्तर की थी। उन्होंने विविध प्रहारों से भगवान् के सुन्दर शरीर को क्षत-विक्षत कर दिया। उन्हें अनेक प्रकार के असहनीय भयंकर परीषद् दिये। उन पर धूल फेंकी तथा उन्हें ऊपर उछाल-उछाल कर गैद की तरह पटकवा। आसन पर से धकेल कर नीचे गिरा दिया। हर तरह से उनके ध्यान को भंग करने का प्रयास किया। फिर भी भगवान् शरीर से ममत्व रहित होकर, बिना किसी प्रकार की इच्छा व आकांक्षा के संयम-साधना में स्थिर रह कर शान्तिपूर्वक कष्ट सहन करते रहे।<sup>१</sup>

इस प्रकार उस अनार्य प्रदेश में समभावपूर्वक भयंकर उपसर्गों को सहन कर भगवान् ने विपुल कर्मों की निर्जरा की। वहाँ से जब वे आर्य देश की ओर चरण बढ़ा रहे थे कि पूर्णकलश नाम के सीमाप्रान्त के ग्राम में उन्हें दो तस्कर मिले। वे अनार्य प्रदेश में चोरी करने जा रहे थे। सामने से भगवान् को आते देख कर उन दोनों ने अपशकुन समझा और तीक्ष्ण शस्त्र लेकर भगवान् को मारने के लिये लपके। इस घटना का पता ज्योंही इन्द्र को चला, इन्द्र ने प्रकट होकर तस्करों को वहाँ से दूर हटा दिया।<sup>२</sup>

भगवान् आर्य देश में विचरते हुए मलय देश पधारे और उस वर्ष का वर्षावास मलय की राजधानी 'भद्रिला नगरी' में किया। प्रभु ने चातुर्मास में विविध आसनों के साथ ध्यान करते हुए चातुर्मासिक तप की आराधना की और चातुर्मास पूर्ण होने पर नगरी के बाहर तप का पारणा कर 'कदली समागम' और 'जंबू संड' की ओर प्रस्थान किया।

### साधना का छठा वर्ष

'कदली समागम' और 'जंबू संड' में गोशालक ने दधिकूर का पारणा किया। वहाँ भी उसका तिरस्कार हुआ। भगवान् 'जंबू संड' से 'तंबाय' सन्निवेश पधारे। उस समय पाशवापत्य स्थविर नन्दिषेण वहाँ पर विराज रहे थे। गोशालक ने भी उनसे विवाद किया।<sup>३</sup> फिर वहाँ से प्रभु ने 'कूविय' सन्निवेश की ओर विहार किया, जहाँ वे गुप्तचर समझ कर पकड़े गये और मोन रहने के कारण बंदी बना कर पीटे गये। वहाँ पर विजया और प्रगल्भा नाम की दो परिव्राजिकाएँ, जो पहले पाश्वनाथ की शिष्यायें थीं, इस घटना का पता पाकर लोगों के बीच आयीं और भगवान् का परिचय देते हुए बोलीं—“दुरात्मन् ! नहीं जानते हो कि यह चरम तीर्थंकर महावीर हैं। इन्द्र को पता चला तो वह

१ भाषा०, ६।३। पृ० ६२

२ सिद्धत्वेण ते अती तेसि चेर उपरि कुडो, तेसि सीसाणि छिन्नाणि। अन्ने अण्ति-सक्केण बोहिणा अमोइत्ता होवि वज्जेण हुत्ता। [भाव. पु. १, पृ० २६०]

३ भाष. पू., पृ० १६१

तुम्हें दण्डित करेगा ।” परिव्राजिकाओं की बातें सुन कर उन लोगों ने प्रभु की मुक्त किया और अपनी भूल के लिए क्षमायाचना की ।<sup>१</sup>

वहां से मुक्त होकर प्रभु वैशाली की ओर अग्रसर हुए । कुविय सन्निवेश से प्रभु ने जिस ओर चरण बढ़ाये, वहाँ दो मार्ग थे । गोशालक ने प्रभु से कहा— “आपके साथ मुझे अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं और आप मेरा बचाव भी नहीं करते । इसलिए यह अच्छा होगा कि मैं अकेला ही विहार करूं ।” इस पर सिद्धार्थ बोले<sup>३</sup> — “जैसी तेरी इच्छा ।” वहाँ से महावीर वैशाली के मार्ग पर बढ़े और गोशालक राजगृह की ओर चल पड़ा ।

वैशाली पधार कर भगवान् लोहार की ‘कम्मशाला’ में अनुमति लेकर ध्यानावस्थित हो गये । कर्मशाला के एक कर्मकार-लुहार ने अस्वस्थता के कारण छै मास से काम बन्द कर रखा था । भगवान् के आने के दूसरे दिन से ही वह स्वस्थता का अनुभव करने लगा, अतः औजार लेकर शुभ मुहूर्त में यंत्रालय पहुंचा । भगवान् को यंत्रालय में खड़े देख कर उसने अमंगल मानते हुए उन पर प्रहार करना चाहा, किन्तु ज्योंही वह हथोड़ा लेकर आगे बढ़ा त्योंही दैवी प्रभाव से सहसा उसके हाथ स्तंभित हो गये और प्रहार बेकार हो गया ।<sup>४</sup>

वैशाली से विहार कर भगवान् ‘ग्रामक सन्निवेश’ पधारे और ‘विभेलक’ यक्ष के स्थान में ध्यानस्थ हो गये । भगवान् के तपोमय जीवन से प्रभावित होकर यक्ष भी गुण-कीर्तन करने लगा ।<sup>५</sup>

### व्यंतरी का उपद्रव और विशिष्टावधि लाभ

‘ग्रामक सन्निवेश’ से विहार कर भगवान् ‘शालि शीर्ष’ के रमणीय उद्यान में पधारे । माघ मास की कड़कड़ाती सर्दी पड़ रही थी । मनुष्य घरों में गर्म वस्त्र पहने हुए भी काँप रहे थे । परन्तु भगवान् उस समय भी खुले शरीर ध्यान में खड़े थे । वन में रहने वाली ‘कटपूतना’ नाम की व्यन्तरी ने जब भगवान् को ध्यानस्थ देखा तो उसका पूर्वजन्म का वर जागृत हो उठा और उसके श्लोक का पार नहीं रहा । वह परिव्राजिका के रूप में बिखरी जटाओं से मेघ-धाराओं की तरह जल बरसाने लगी और भगवान् के कंधों पर खड़ी हो तेज हवा चलाने लगी । कड़कड़ाती सर्दी में वह बर्फ सा शीतल जल, तेज हवा के कारण तीक्ष्ण काँटों से भी अधिक कष्टदायी प्रतीत हो रहा था, फिर भी भग-

१ भाव. जू., पृ० २६२

२ सिद्धार्थाध्यावदसुम्यं, रोचते यत्कुरुष्व तत् ।

[त्रि. श. पु. व., १०।३।५६४]

३ सक्केण तस्स उवरि षणो पावियो तह वेव मतो ।

[भाव. जू., पृ० २६२]

४ भाव० जू०, पृ० २६२

वान् ध्यान में अडोल रहे और मन में भी विचलित नहीं हुए। समभावपूर्वक उस कठोर उपसर्ग को सहन करते हुए भगवान् को विशिष्टावधि ज्ञान प्राप्त हुआ। वे सम्पूर्ण लोक को देखने लगे।<sup>१</sup> भगवान् की सहिष्णुता व क्षमता देख कर 'कटपूतना' हार गई, थक गई और शान्त होकर कृत अपराध के लिये प्रभु से क्षमायाचना करती हुई, वन्दन कर चली गई।

'शालिशोर्ष' से विहार कर भगवान् 'भद्रिका'<sup>२</sup> नगरी पधारे। वहाँ चातुर्मासिक तप से आसन तथा ध्यान की साधना करते हुए उन्होंने छठा वर्षा-काल वित्तियाँ छै मास तक परिभ्रमण कर अनेक कष्टों को भोगता हुआ आखिर गोशालक भी पुनः वहाँ आ पहुँचा और भगवान् की सेवा में रहने लगा। वर्षाकाल समाप्त होने पर प्रभु ने नगर के बाहर पारण किया और मगध की ओर चल पड़े।<sup>३</sup>

### साधना का सप्तम वर्ष

मगध के विविध भागों में घूमते हुए प्रभु ने आठ मास बिना उपसर्ग के पूर्ण किये। फिर चातुर्मास के लिये 'अर्लाभिया' नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप के साथ ध्यान करते हुए सातवाँ चातुर्मास वहाँ पूर्ण किया। चातुर्मास पूर्ण होने पर नगर के बाहर चातुर्मासिक तप का पारण कर 'कंडाग' सन्निवेश और 'भद्रणा' नाम के सन्निवेश पधारे और क्रमशः वासुदेव तथा बलदेव के मंदिर में ठहरे। गोशालक ने देवमूर्ति का तिरस्कार किया जिससे वह लोगों द्वारा पीटा गया। 'भद्रणा' से निकल कर भगवान् 'बहुसाल' गाँव गये और गाँव के बाहर सालवन उद्यान में ध्यानस्थ हो गये। यहाँ शालार्य नामक व्यन्तरी ने भगवान् को अनेक उपसर्ग दिये, किन्तु प्रभु के विचलित नहीं होने से अन्त में थक कर वह क्षमायाचना करती हुई अपने स्थान को चली गई।

### साधना का अष्टम वर्ष

'भद्रणा' से विहार कर भगवान् 'लोहार्गला' पधारे। 'लोहार्गला' के पड़ोसी राज्यों में उस समय संघर्ष होने से वहाँ के सभी अधिकारी आने वाले यात्रियों से पूर्ण सतर्क रहते थे। परिचय के बिना किसी का राजधानी में प्रवेश संभव नहीं था। भगवान् से भी परिचय पूछा गया। उत्तर नहीं मिलने पर

१ वेयणं अहियासंतस्स भगवतो ओही विगसिओ सव्वं लोणं पात्तिउमारद्धो । आ० चू०, पृ० २६३ ।

२ "भद्रिया" भंग देश का एक नगर था, भागलपुर से आठ मील दूर दक्षिण में भद्रिया ग्राम है, वही पहले भद्रिया थी। तीर्थंकर महावीर, पृ० २०६ ।

३ बाहिं पारेत्ता ततो पच्छा मगहविसए विहरति निरुवसग्गं अट्ट मासे उडुवडिए ।

[आव० चू०, पृ० २६३]

उनको पकड़ कर अधिकारी राज-सभा में 'जितशत्रु' के पास ले गये। वहाँ 'अस्थिक' गाँव का नैमित्तिक उत्सव आया हुआ था। उसने जब भगवान् को देखा तो उठ कर त्रिविध वंदन किया और बोला—“यह कोई गुप्तचर नहीं है, यह तो सिद्धार्थ-पुत्र, धर्म-चक्रवर्ती महावीर हैं।” परिचय पाकर राजा जितशत्रु ने भगवान् की वंदना की और उन्हें सम्मानपूर्वक विदा किया।<sup>१</sup>

लोहार्गला से प्रभु ने 'पुरिमताल' की ओर प्रयाण किया। नगर के बाहर 'शकटमुख' उद्यान में वे ध्यानावस्थित रहे। 'पुरिमताल' से फिर 'उन्नान' और 'गौभूमि' को पावन करते हुए प्रभु राजगृह पधारे। वहाँ चातुर्मासिक तपस्या ग्रहण कर विविध आसनों और अभिग्रहों के साथ प्रभु ध्यानावस्थित रहे। इस प्रकार आठवाँ वर्षाकाल पूर्ण कर प्रभु ने नगर के बाहर पारणा ग्रहण किया।

### साधना का नवम वर्ष

भगवान् महावीर ने सोचा कि आर्य देश में जन-मन पर अंकित सुसंस्कारों के कारण कर्म की अत्यधिक निर्जरा नहीं होती, इसलिये इस सम्बन्ध में कुछ उपाय करना चाहिये। जैसे किसी कुटुम्बी के खेत में शालि उत्पन्न होने पर पथिकों से कहा जाता है कि कटाई करो, इच्छित भोजन मिलेगा, फिर चले जाना। इस बात से प्रभावित होकर, जैसे लोग उसका धान काट देते हैं वैसे ही उन्हें भी बहुत कर्मों को निर्जरा करनी है। इस कार्य में सफलता अनार्य देश में ही मिल सकती है। इस विचार से भगवान् फिर अनार्य भूमि की ओर पधारे और पहले की तरह इस बार भी लाढ़ और शुभ्र-भूमि के अनार्य खण्ड में जाकर उन्होंने विविध कष्टों को सहन किया, क्योंकि वहाँ के लोग अनुकम्पारहित व निर्दयी थे। योग्य स्थान नहीं मिलने से वहाँ वृक्षों के नीचे, खण्डहरों में तथा घूमते-घामते वर्षाकाल पूर्ण किया। छै मास तक अनार्यदेश में विचरण करने के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के कष्ट सहते हुए भी भगवान् को इस बात का हर्ष था कि उनके कर्म कट रहे हैं। इस तरह अनार्य देश का प्रथम चातुर्मास समाप्त कर प्रभु फिर आर्य देश में पधारे।<sup>२</sup>

### साधना का दशम वर्ष

अनार्य प्रदेश से विहार कर भगवान् 'सिद्धार्थपुर' से 'कूर्मग्राम' की ओर पधार रहे थे, तब गोशालक भी साथ ही था। उसने मार्ग में सात पुष्प वाले एक तिल के पौधे को देख कर प्रभु से जिज्ञासा की—“भगवंन्! यह पौधा फलयुक्त होगा क्या?” उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—“हाँ पौधा फलेगा और सातों फूलों के जीव इसकी एक ही फली में उत्पन्न होंगे।”

१ भाव० पू०, पृ० २६४।

२ भाव० पू०, पृ० २६६—“इव नियोगेण लेहट्टो घासी वसही वि न लभति।”

गोशालक ने भगवान् के वचन को मिथ्या प्रमाणित करने की दृष्टि से उस पौधे को उखाड़ कर एक किनारे फेंक दिया। संयोगवश उसी समय थोड़ी वर्षा हुई और तिल का उखड़ा हुआ पौधा पुनः जम कर खड़ा हो गया।<sup>१</sup> फिर भगवान् 'कूर्मग्राम'<sup>२</sup> आये। वहाँ गाँव के बाहर 'वैश्यायन' नाम का तापस प्राणायाम-प्रव्रज्या से सूर्यमंडल के सम्मुख दृष्टि रख कर दोनों हाथ ऊपर उठाये आतापना ले रहा था। धूप से संतप्त हो कर उसकी बड़ी बड़ी जटाओं से यूकाएँ नीचे गिर रही थीं और वह उन्हें उठा कर पुनः जटाओं में रख रहा था। गोशालक ने देखा तो कुतूहलवश वह भगवान् के पास से उठकर तपस्वी के पास आया और बोला—“अरे! तू कोई तपस्वी है या जूँओं का शय्यातर (घर)?” तपस्वी चुप रहा। जब गोशालक बार बार इस बात को दुहराता रहा तो तपस्वी को क्रोध आ गया। आतापना भूमि से सात आठ पग पीछे जाकर उसने जोश में तपोबल से प्राप्त अपनी तेजो-लब्धि गोशालक को भस्म करने के लिये छोड़ दी। अब क्या था! गोशालक मारे भय के भागा और प्रभु के चरणों में आकर छिप गया। दयालु प्रभु ने उस समय गोशालक की अनुकम्पा के लिये शीतल लेश्या से उस तेजो लेश्या को शान्त किया। गोशालक को सुरक्षित देख-कर तापस ने महावीर की शक्ति का रहस्य समझा और विनम्र शब्दों में बोला—“भगवन्! मैं इसे आपका शिष्य नहीं जानता था, क्षमा कीजिये।”<sup>३</sup>

कुछ समय पश्चात् भगवान् ने पुनः 'सिद्धार्थपुर' की ओर प्रयाण किया। तिल के खेत के पास आते ही गोशालक को पुरानी बात याद आ गई। उसने महावीर से कहा—“भगवन्! आपकी वह भविष्यवाणी कहाँ गई?” प्रभु बोले—“बात ठीक है। वह बाजू में लगा हुआ पौधा ही पहले वाला तिल का पौधा है, जिसको तुने उखाड़ फेंका था।” गोशालक को इस पर विश्वास नहीं हुआ। वह तिल के पौधे के पास गया और फली को तोड़ कर देखा तो महावीर के कथनानुसार सात ही तिल निकले। इस घटना से वह नियतिवाद का पक्का समर्थक बन गया। उस दिन से उसकी दृढ़ मान्यता हो गई कि सभी जीव मर-कर पुनः अपनी ही योनि में उत्पन्न होते हैं। वहाँ से गोशालक ने भगवान् का साथ छोड़ दिया और वह अपना मत चलाने की बात सोचने लगा।

सिद्धार्थपुर से भगवान् वैशाली पधारे। नगर के बाहर भगवान् को ध्यान-मुद्रा में देख कर अर्बाध वालकों ने उन्हें पिशाच समझा और अनेक प्रकार की यातनाएँ दीं। सहसा उस मार्ग से राजा सिद्धार्थ के स्नेही मित्र शंख भूपति

१ तेण असद्दहेण अबक्कमिता सलेट्ठुओ उप्पाडितो एगते य एडिओ.....बुट्ठं ।.....

[आव. बू., पृ. २६७]

२ भगवती में कूर्मग्राम के स्थान पर कुंडग्राम लिखा है।

३ अ. श. श. १५, उ. १, सू. ५५३ समिति।

निकले । उन्होंने उन उपद्रवी बालकों को हटाया और स्वयं प्रभु की वंदन कर आगे बढ़े ।<sup>१</sup>

वैशाली से भगवान् 'वाणियग्राम' की ओर चले । मार्ग में गंडकी नदी पार करने के लिए उन्हें नाव में बैठना पड़ा । पार पहुँचने पर नाविक ने किराया माँगा पर भगवान् मौनस्थ रहे । नाविक ने क्रुद्ध होकर किराया न देने के कारण भगवान् को तबे सी तपी हुई रेत पर खड़ा कर दिया । संयोगवश उस समय 'शंख' राजा का भगिनी-पुत्र 'चित्र' वहाँ आ पहुँचा । उसने समझा कर नाविक से प्रभु को मुक्त करवाया ।<sup>२</sup>

आगे चलते हुए भगवान् 'वाणियग्राम' पहुँचे । वहाँ 'आनन्द' नामक भ्रमणोपासक को श्रवधिज्ञान की उपलब्धि हुई थी । वह बेले-बेले की तपस्या के साथ आतापना करता था । उसने तीर्थंकर महावीर को देख कर वंदन किया और बोला—“आपका शरीर और मन वज्र सा दृढ़ है, इसलिए आप कठोर से कठोर कष्टों को भी मुस्कुराते हुए सहन कर लेते हैं । आपको शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न होने वाला है ।” यह उपासक 'आनन्द' पार्श्वनाथ की परम्परा का था, भगवान् महावीर का अन्तेवासी 'आनन्द' नहीं ।

'वाणियग्राम' से विहार कर भगवान् 'सावर्था' पधारे और विविध प्रकार की तपस्या एवं योग-साधना से आत्मा को भावित करते हुए वहाँ पर दशवाँ चातुर्मास पूर्ण किया ।<sup>३</sup>

### साधना का ग्यारहवाँ वर्ष

'सावर्था' से भगवान् ने 'सानुलाट्टय' सन्निवेश की ओर विहार किया । वहाँ सोलह दिन के निरन्तर उपवास किये और भद्र प्रतिमा, महाभद्र प्रतिमा एवं सर्वतोभद्र प्रतिमाओं द्वारा विविध प्रकार से ध्यान की साधना करते रहे । भद्र आदि प्रतिमाओं में प्रभु ने निम्न प्रकार से ध्यान की साधना की ।

भद्र प्रतिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में चार-चार प्रहर ध्यान करते रहे । दो दिन की तपस्या का बिना पारणा किये प्रभु ने महाभद्र प्रतिमा अंगीकार की । इसमें प्रति दिशा में एक-एक अहोरात्र पर्यंत ध्यान किया । फिर इसका बिना पारणा किये ही सर्वतोभद्र प्रतिमा की आराधना प्रारम्भ की । इसमें दश दिशाओं के क्रम से एक-एक अहोरात्र ध्यान करने से दस दिन हो

१ आब. चू., २६६

२ आब. चू., पृ० २६६

३ आब. चू. पृ० ३००

गये। इस प्रकार सोलह दिन के उपवासों में तीनों प्रतिमाओं की ध्यान-साधना भगवान् ने पूर्ण की।

प्रतिमाएं पूर्ण होने पर प्रभु 'आनन्द' गाथापति के यहाँ पहुँचे। उस समय आनन्द की 'बहुला' दासी रसोईघर के बर्तनों को खाली करने के लिए रात्रि का अवशेष दोषीण अन्न डालने को बाहर आयी थी। उसने स्वामी को देख कर पूछा—“क्या चाहिए महाराज !” महावीर ने हाथ फैलाया तो दासी ने बड़ी श्रद्धा से अवशेष बासी भोजन भगवान् को दे डाला। भगवान् ने निर्दोष जानकर उसी बासी भोजन से सहज भाव से पारणा किया। देवों ने पंच-दिव्य प्रकटाये और दान की महिमा से दासी को दासीत्व से मुक्त कर दिया।<sup>१</sup>

### संगम देव के उपसर्ग

वहाँ से प्रभु ने 'दृढ़ भूमि' की ओर प्रयाण किया। नगरी के बाहर 'पेड़ाल' नाम के उद्यान में 'पोलास' नाम का एक चैत्य था। वहाँ अष्टम तप कर भगवान् ने थोड़ा सा देह को झुकाया और एक पुद्गल पर दृष्टि केन्द्रित कर ध्यानस्थ हो गये। फिर सब इन्द्रियों का गोपन कर दोनों पैरों को संकोच कर हाथ लटकाये, एक रात की पड़िमा में स्थित हुए। उस समय देव-देवियों के विशाल समूह के बीच सभा में बैठे हुए देवराज शक्र ने भगवान् को अवधिज्ञान से ध्यानस्थ देख कर नमस्कार किया और बोले—“भगवान् महावीर का धैर्य और साहस इतना अनूठा है कि मानव तो क्या, शक्तिशाली देव और दानव भी उनको साधना से विचलित नहीं कर सकते।”

सब देवों ने इन्द्र की बात का अनुमोदन किया किन्तु संगम नामक एक देव के गले यह बात नहीं उतरी। उसने सोचा—“शक्र यों ही झूठी-मूठी प्रशंसा कर रहे हैं। मैं अभी जाकर उनको विचलित कर देता हूँ।” ऐसा सोच कर वह जहाँ भगवान् ध्यानस्थ खड़े थे, वहाँ आया। आते ही उसने एक-से एक बढ़ कर उपसर्गों का जाल बिछा दिया। शरीर के रोम-रोम में वेदना उत्पन्न कर दी। फिर भी जब भगवान् प्रतिकूल उपसर्गों से किञ्चिन्मात्र भी चलायमान नहीं हुए तो उसने अनुकूल उपसर्ग आरम्भ किये। प्रलोभन के मनमोहक दृश्य उपस्थित किये। गगनमंडल से तरुणी व सुन्दर अप्सराएं उतरीं और हाव-भाव आदि करती हुई प्रभु से काम-याचना करने लगीं। पर महावीर पर उनका कोई असर नहीं हुआ, वे सुमेरु की तरह ध्यान में अडोल खड़े रहे।

संगम ने एक रात में निम्नलिखित बीस अयंकर उपसर्ग उपस्थित किये—

(१) प्रलयकारी धूल की वर्षा की।

१ आवश्यक चूर्ण, पृ० ३०१।

- (२) वज्रमुखी चींटियाँ उत्पन्न कीं, जिन्होंने काट-काट कर महावीर के शरीर को खोखला कर दिया ।
- (३) डाँस और मच्छर छोड़े, जो प्रभु के शरीर का खून पीने लगे ।
- (४) दीमक उत्पन्न कीं- जो शरीर को काटने लगीं ।
- (५) बिच्छुओं द्वारा डंक लगवाये ।
- (६) नेवले उत्पन्न किये जो भगवान् के मांस-खण्ड को छिन्न-भिन्न करने लगे ।
- (७) भोमकाय सर्प उत्पन्न कर प्रभु को उन सर्पों से कटवाया ।
- (८) चूहे उत्पन्न किये, जो शरीर को काट-काट कर ऊपर पेशाब कर जाते ।
- (९-१०) हाथी और हथिनी प्रकट कर उनको सूँडों से भगवान् के शरीर को उखलवाया और उनके दाँतों से प्रभु पर प्रहार करवाये ।
- (११) पिशाच बन कर भगवान् को डराया धमकाया और बर्छी मारने लगा ।
- (१२) बाघ बन कर प्रभु को नखों से विदारण किया ।
- (१३) सिद्धार्थ और त्रिशला का रूप बना कर कहराविलाप करते दिखाया ।
- (१४) शिविर की रचना कर भगवान् के पैरों के बीच आग जला कर भोजन पकाने की चेष्टा की ।
- (१५) चाण्डाल का रूप बना कर भगवान् के शरीर पर पक्षियों के पिंजर लटकाये जो चोंचों और नखों से प्रहार करने लगे ।
- (१६) अर्धवी का रूप खड़ा कर कई बार भगवान् के शरीर को उठाया ।
- (१७) कलंकलिका वायु उत्पन्न कर उससे भगवान् को चक्र की तरह घुमाया ।
- (१८) कालचक्र चलाया जिससे भगवान् घुटनों तक जमीन में धँस गये ।
- (१९) देव रूप से विमान में बैठ कर आया और बोला—“कहो तुमको स्वर्ग चाहिए या अपवर्ग (मोक्ष) ? और
- (२०) एक अप्सरा को लाकर भगवान् के सम्मुख प्रस्तुत किया, किन्तु उसके रागपूर्ण हाव-भाव से भी भगवान् विचलित नहीं हुए ।

रात भर के इन भयंकर उपसर्गों से भी जब भगवान् विचलित नहीं हुए तो संगम कुछ और उपाय सोचने लगा । महावीर ने भी ध्यान पूर्ण कर



‘बालुका’ की ओर विहार किया।<sup>१</sup> भगवान् की मेरुतुल्य धीरता और सागरवत् गम्भीरता को देख कर संगम लज्जित हुआ। उसे स्वर्ग में जाते लज्जा आने लगी। इतने पर भी उसका जोश ठंडा नहीं हुआ। उसने पाँच सौ चोरों को मार्ग में खड़ा करके प्रभु को भयभीत करना चाहा। ‘बालुका’ से भगवान् ‘सुयोग’, ‘सुच्छेत्ता’, ‘मलभ’ और हस्तिशीर्ष आदि गाँवों में जहाँ भी पधारे वहाँ संगम अपने उपद्रवी स्वभाव का परिचय देता रहा।<sup>२</sup>

एक बार भगवान् ‘तोसलि गाँव’ के उद्यान में ध्यानस्थ विराजमान थे, तब संगम साधु-वेष बना कर गाँव के घरों में सेंध लगाने लगा। लोगों ने चोर समझ कर जब उसको पकड़ा और पीटा तो वह बोला—“भुझे क्यों पीटते हो? मैंने तो गुरु की आज्ञा का पालन किया है। यदि तुम्हें असली चोर को पकड़ना है तो उद्यान में जाओ, जहाँ मेरे गुरु कपट रूप में ध्यान किये खड़े हैं और उनको पकड़ो।” उसकी बात पर विश्वास कर तत्क्षण लोग उद्यान में पहुँचे और ध्यानस्थ महावीर को पकड़ कर रस्तियों से जकड़ कर गाँव की ओर ले जाने लगे। उस समय ‘महाभूतिल’ नाम के ऐन्द्रजालिक ने भगवान् को पहचान लिया, क्योंकि उसने पहले ‘कुंडग्राम’ में भगवान् महावीर को देखा था। उसने लोगों को समझा कर महावीर को छुड़ाया और कहा—“यह सिद्धार्थ राजा के पुत्र हैं, चोर नहीं।” ऐन्द्रजालिक की बात सुन कर लोगों ने प्रभु से क्षमायाचना की। भूठ बोल कर साधु को चोर कहने वाले संगम को लोग खोजने लगे तो उसका कहीं पता नहीं चला। इस पर लोगों ने समझा कि यह कोई देवकृत उपसर्ग है।<sup>३</sup>

इसके पश्चात् भगवान् ‘मोसलि ग्राम’ पधारे। संगम ने वहाँ पर भी उन पर चोरी का आरोप लगाया। भगवान् को पकड़-कर राज्य-सभा में ले जाया गया। वहाँ ‘सुमागध’ नामक प्रान्ताधिकारी, जो सिद्धार्थ राजा का मित्र था, उसने महावीर को पहचान कर छुड़ा दिया। यहाँ भी संगम लोगों की पकड़ में नहीं आया और भाग गया। फिर भगवान् लौट कर ‘तोसलि’ आये और गाँव के बाहर ध्यानावस्थित हो गये। संगम ने यहाँ भी चोरी करके भारी शस्त्रास्त्र महावीर के पास, उन्हें फँसाने की भावना से ला रखे और स्वयं कहीं जाकर सेंध लगाने लगा। पकड़े जाने पर उसने धर्माचार्य का नाम बता कर भगवान् को पकड़वा दिया। अधिकारियों ने उनके पास शस्त्र देखे तो नामी चोर समझ कर फाँसी की सजा सुना दी। ज्योंही प्रभु को फाँसी के तख्ते पर चढ़ा कर उनकी गर्दन में फंदा डाला और नीचे तख्ती हटाई कि गले का फंदा टूट गया। पुनः फंदा लगाया और वह भी टूट गया। इस प्रकार सात बार फाँसी पर चढ़ाने पर

१ आवश्यक चूँसि, पृ० ३११।

२ आवश्यक चूँसि, पृ० ३११।

३ आवश्यक चूँसि, पृ० ३१२

भी फाँसी का फंदा टूटता ही रहा तो दर्शक एवं अधिकारी चकित हो गये। अधिकारी पुरुषों ने प्रभु को महापुरुष समझ कर मुक्त कर दिया।<sup>१</sup>

यहाँ से भगवान् सिद्धार्थपुर पधारे। वहाँ भी संगम देव ने महावीर पर चोरी का आरोप लगा कर उन्हें पकड़वाया, किन्तु कौशिक नाम के एक अश्व-व्यापारी ने पहचान कर भगवान को मुक्त करवा दिया।<sup>२</sup>

भगवान् वहाँ से व्रजगाँव पधारे, वहाँ पर उस दिन कोई महोत्सव था। अतः सब घरों में खीर पकाई गई थी। भगवान् भिक्षा के लिए पधारे तो संगम ने सर्वत्र 'अनेषणा' कर दी। भगवान् इसे संगमकृत उपसर्ग समझ कर लौट आये और ग्राम के बाहर ध्यानावस्थित हो गये।

इस प्रकार लगातार छैः मास तक अग्रणीत कष्ट देने पर भी जब संगम ने देखा कि महावीर अपनी साधना से विचलित नहीं हुए बल्कि वे पूर्ववत् ही विशुद्ध भाव से जीवमात्र का हित सोच रहे हैं, तो परीक्षा करने का उसका धैर्य टूट गया, वह हताश हो गया। पराजित होकर वह भगवान् के पास आया और बोला—“भगवन् ! देवेन्द्र ने आपके विषय में जो प्रशंसा की है, वह सत्य है। प्रभो ! मेरे अपराध क्षमा करो। सचमुच आपकी प्रतिज्ञा सच्ची है और आप उसके पारगामी हैं। अब आप भिक्षा के लिए जायें, किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं होगा।”

संगम की बात सुन कर महावीर बोले—“संगम ! मैं इच्छा से ही तप या भिक्षा—ग्रहण करता हूँ। मुझे किसी के आशवासन की अपेक्षा नहीं है।” दूसरे दिन छह मास की तपस्या पूर्ण कर भगवान् उसी गाँव में भिक्षार्थ पधारे और 'वस्सपालक' बुढिया के यहाँ परमात्म से पारणा किया। दान की महिमा से वहाँ पर पंच-दिग्घ प्रकट हुए। यह भगवान् की दीर्घकालीन उपसर्ग सहित तपस्या थी।

संगम देव के सम्बन्ध में आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति और आवश्यक चूर्ण में निम्नलिखित उल्लेख किये हैं :—

“छम्मासे अणुबद्धं, देवो कासी य सो उ उवसर्गं।

दट्ठूण वयग्गामे वंदिय वीरं पडिनियत्तो ॥५१२॥

एवं सोऽभविकः संगमक नामा देवः षण्मासान् अनुबद्धं—सन्ततं उपसर्ग-मकार्षीत् इति दृष्ट्वा च व्रजग्रामे गोकुले गो परिणाममभग्न्नं उपशान्तो वीरं—महावीरं वन्दित्वा प्रतिनिवृत्तः।

१ आवश्यक चूर्ण, पृ. ३१३

२ आवश्यक चूर्., पृ० ३१३

इतो य—सोहम्मे कप्पे सव्वे देवा तद्धिवसं उविग्गमणा अञ्छंति, संगमतो य सोहम्मं गतो, तत्थ सवको तं दट्ठण परम्मुहो ठितो भणइ—देवे भो । सुणह, एस दुरप्पा, न एएण ममवि चित्तरक्खा कया, नवि अन्नेसि देवाणं, जतो तित्थगरो आसातितो, न एएण अम्मं कज्जं, असंभासो, निव्विसतो उ की रउ । ततो निच्छूढो सह देवीहि, सेसा देवा इंदेण वारिया ।

देवो चुतो पहिड्ढी, सो मंदरचूलियाए सिहरंमि ।

परिवारितो सुरबह्हि, तस्स य अयरोवमं सेसं ॥५१३॥

स संगमकनामा महद्विको देवः स्वर्गात् च्युतः—भ्रष्टः सन् परिवारितः सुरबधूभिर्गृहीताभिर्मन्दरचूलिकायाः शिखरे—उपरितनविभागे यानकेन विमानेनागत्य स्थितः. तस्य एकमतरोपमं आयुषः शेषम् ।”<sup>१</sup>

अर्थात्—छह मास तक निरन्तर भ० महावीर को घोरतर उपसर्ग देने के पश्चात् भी संगम देव ने देखा कि प्रभु किसी भी दशा में, किसी भी उपाय द्वारा ध्यान से विचलित नहीं किये जा सकते तो भ० महावीर से व्रजग्राम में क्षमा मांग कर और उन्हें वन्दन कर वह सौधर्म देवलोक में लौट गया । सौधर्म-कल्प में सभी देव उस दिन उद्विग्नावस्था में बैठे थे । संगम देव को देखते ही देवराज शक्र ने उसकी ओर से अपना मुख मोड़ लिया और देवों को सम्बोधित करते हुए कहा—हे देवो । सुनो, यह संगम देव बड़ा दुरात्मा-दुष्ट है । इसने तीर्थ-कर प्रभु की आसातना कर मेरे मन को भी गहरी चोट पहुँचाई है और अन्य सब देवों के चित्त को भी । अब यह अपने काम का नहीं है । वस्तुतः यह संगम संभाषण करने योग्य भी नहीं है । अतः देवलोक से इसे निष्कासित किया जाय । उसे तत्काल उसकी देवियों के साथ सौधर्मकल्प से जीवन भर के लिये निष्कासित कर दिया गया । उसके आभियोगिक शेष देवों को शक्र ने उसके साथ जाने से रोक कर सौधर्मकल्प में ही रखा । सौधर्मकल्प से भ्रष्ट हो वह संगम अपनी देवियों के साथ एक विमान में बैठ मन्दरगिरि के शिखर पर आया और वहाँ रहने लगा । उस समय उसकी एक सागर आयु शेष थी ।

निखिल विश्वैकबन्धु भ० महावीर को निरन्तर घोर उपसर्ग दे कर संगम देव ने प्रगाढ़ दुष्कर्मों का बन्ध किया । उन दुष्कर्मों का अति कटु फल भवान्तर में ही तो उसे मिलेगा ही परन्तु अपने वर्तमान के देवभव में भी वह शक्र द्वारा सौधर्म देवलोक से निष्कासित कर दिया गया । दिव्य सुखों से अतीतप्रोत सौधर्म स्वर्ग से मक्खी की तरह फँका जाकर मर्त्यलोक के मन्दरगिरि पर रहने के लिये बाध्य कर दिया गया ।

इन्द्र के सामानिक देव को भी, उसके द्वारा केवल परीक्षा के लिये किये

गये दुष्कार्यों का इस प्रकार का कटु फल भोगना पड़ रहा है तो जान बूझ कर किसी के ग्रहित की भावना से किये गये पापों का कितना तीव्रतम कटु फल भोगना पड़ेगा, उसका संगम के उदाहरण से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है ।

व्रज गाँव से 'भालंभिया', 'श्वेताम्बिका', 'सावत्थी', 'काशाङ्गी', 'वाराणसी', 'राजगृह' और मिथिला आदि को पावन करते हुए भगवान् वैशाली पधारे और नगर के बाहर समरोद्यान में बलदेव के मन्दिर में चातुर्मासिक तप भ्रगीकार कर ध्यानस्थ हुए । इस वर्ष का वर्षाकाल वहीं पूर्ण हुआ ।

### जीर्ण सेठ की भावना

वैशाली में जिनदत्त नामक एक भावुक एवं श्रद्धालु श्रावक रहता था । आर्थिक स्थिति क्षीण होने से उसका घर पुराना हो गया और लोग उसको जीर्ण सेठ कहने लगे । वह सामुद्रिक शास्त्र का भी ज्ञाता था । भगवान् की पद-रेखाओं के अनुसंधान में वह उस उद्यान में गया और प्रभु को ध्यानस्थ देख कर परम प्रसन्न हुआ ।

प्रतिवश वह प्रतिदिन भगवान् को नमस्कार करने आता और आहारादि के लिए भावना करता । इस तरह निरन्तर चार मास तक चातक की तरह चाह करने पर भी उसकी भव्य भावना पूर्ण नहीं हो सकी ।

चातुर्मास पूर्ण होने पर भगवान् भिक्षा के लिए निकले और अपने सकल्प के अनुसार गवेषणा करते हुए 'अभिनव' श्रेष्ठी के द्वार पर खड़े रहे । यह नया धनी था, इसका मूल नाम पूर्ण था । प्रभु को देख कर सेठ ने लापरवाही से दासी को आदेश दिया और चम्मच भर कुलत्थ बहराये । भगवान् ने उसी से चार मास की तपस्या का पारणा किया । पंच-दिव्य वृष्टि के साथ देव-दुन्दुभि बजी । उधर जीर्ण सेठ भगवान् के पधारने की प्रतिक्षा में उत्कट भावना के साथ प्रभु को पारणा कराने की प्रतीक्षा में खड़ा रहा, वह भावना की अत्यन्त उच्चतम स्थिति पर पहुँच चुका था । इसी समय देव दुन्दुभि का दिव्य घोष उसके कर्णरन्ध्रों में पड़ा और इस प्रकार उसकी प्रतीक्षा केवल प्रतीक्षा ही बनी रही । इस उत्कट-उज्ज्वल भावना से जीर्ण सेठ ने बारहवें स्वर्ग का बन्ध किया । कहा जाता है कि यदि दो घड़ी देव-दुन्दुभि वह नहीं सुन पाता तो भावना के बल पर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता ।

### साधना का बारहवाँ वर्ष : चमरेन्द्र द्वारा शरणाग्रहण

वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् वहाँ से 'सुसुमार' पधारे । यहाँ 'भूतानन्द' ने आकर प्रभु से कुशल पूछा और सूचित किया—“कुछ समय में आपको केवल-

ज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होगी । भूतानन्द की बात सुन कर प्रभु मौन ही रहे ।

‘सुं सुमारपुर’ में चमरेन्द्र के उत्पात की घटना और शरण-ग्रहण का भगवती सूत्र में विस्तृत वर्णन है, जो इस प्रकार है :—

भगवान् ने कहा—“जिस समय मैं छद्मस्थचर्या के ग्यारह वर्ष बिता चुका था उस समय की बात है कि छद्म-छद्म तप के निरन्तर पारणा करते हुए मैं सुं सुमारपुर के वनखण्ड में आया और अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी-शिला-पट्ट पर ध्यानावस्थित हो गया । उस समय चमरचंचा में ‘पूरण’ बाल तपस्वी का जीव इन्द्र रूप से उत्पन्न हुआ । उसने अवधिज्ञान से अपने ऊपर शक्रेन्द्र को सिंहासन पर दिव्य भोग भोगते देखा । यह देख कर उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ—“यह मृत्यु को चाहने वाला लज्जारहित कौन है जो मेरे ऊपर पैर किये इस तरह दिव्य भोग भोग रहा है ?” चमरेन्द्र को सामानिक देवों ने परिचय दिया कि यह देवराज शक्रेन्द्र हैं, सदा से ये अपने स्थान को भोग रहे हैं । चमरेन्द्र को इससे संतोष नहीं हुआ । वह शक्रेन्द्र की शोभा को नष्ट करने के विचार से निकला और मेरे पास आकर बोला—“भगवन् ! मैं आपकी शरण लेकर स्वयं ही देवेन्द्र शक्र को उसकी शोभा से भ्रष्ट करना चाहता हूँ ।” इसके बाद वह वैक्रिय रूप बना कर सौधर्म देवलोक में गया और हुंकार करते हुए बोला—कहाँ है ? देवराज शक्रेन्द्र कहाँ है ? चौरासी हजार सामानिक देव और करोड़ों अप्सरायें कहाँ हैं, उन सब को मैं अभी नष्ट करता हूँ ।”

चमरेन्द्र के रोषभरे अप्रिय शब्द सुन कर देवपति शक्रेन्द्र को क्रोध आया और वे भृकुटि चढ़ाकर बोले—“अरे हीन-पुण्य ! असुरेन्द्र ! असुरराज ! तू आज ही मर जायेगा ।” ऐसा कह कर शक्रेन्द्र ने सिंहासन पर बैठे-बैठे ही वज्र हाथ में ग्रहण किया और चमरेन्द्र पर दे मारा । हजारों उत्काओं को छोड़ता हुआ वह वज्र चमरेन्द्र की ओर बढ़ा । उसे देख कर असुरराज चमरेन्द्र भयभीत हो गया और सिर नीचा व पद ऊपर कर के भागते हुए तेज गति से मेरे पास आया एवं अवरुद्ध कण्ठ से बोला—“भगवन् ! आप ही शरणाधार हो” और यह कहते हुए वह मेरे पाँवों के बीच गिर पड़ा ।

उस समय शक्रेन्द्र को विचार हुआ कि चमर अपने बल से तो इतना साहस नहीं कर सकता, इसके पीछे कोई पीठ-बल होना चाहिए । विचार करते हुए उसने अवधिज्ञान से मुझे देखा और जान लिया कि भगवान् महावीर की

१ ममं च णं चउरंगुलमसंपत्तं वज्जं पडिसाहरइ ।

[भगवती शतक, ३।२।सू. १४५।३०२]

शरण लेकर यह यहाँ आया है। अतः ऐसा न हो कि मेरे छोड़े हुए वज्र से भगवान् को पीड़ा हो जाय। यह सोच कर इन्द्र तीव्र गति से दौड़ा और मुझ से चार अंगुल दूर स्थित वज्र को उसने पकड़ लिया।

भगवान् की चरण-शरण में होने से शक्रेन्द्र ने चमरेन्द्र को अभय प्रदान किया, और स्वयं प्रभु से क्षमायाचना कर चला गया।

सुसुमारपुर से भगवान् 'भोगपुर', 'नंदिग्राम' होते हुए 'भेद्वियाग्राम' पधारे। वहाँ ग्वालों ने उन्हें अनेक प्रकार के उपसर्ग दिये।

### कठोर अभिग्रह

भेद्विया ग्राम से भगवान् कोशाम्बी पधारे और पीप कल्याण प्रतिपदा के दिन उन्होंने एक विकट-अभिग्रह धारण किया, जो इस प्रकार है :—

“द्रव्य से उड़द के बाकले<sup>१</sup> सूप के कोने में हों<sup>२</sup>, क्षेत्र से देहली के बीच खड़ी हो<sup>३</sup>, काल से भिक्षा समय बीत चुका हो<sup>४</sup>, भाव से राजकुमारी दामी बनी हो<sup>५</sup>, हाथ में हथकड़ी<sup>६</sup> और पैरों में बेड़ी हो<sup>७</sup>, मुँडित हो<sup>८</sup>, आँखों में आँसू<sup>९</sup> और तेले की तपस्या किये हुए<sup>१०</sup> हो, इस प्रकार के व्यक्ति के हाथ से यदि भिक्षा मिले तो लेना, अन्यथा नहीं।”<sup>११</sup>

उपर्युक्त कठोरतम प्रतिज्ञा को ग्रहण कर महावीर प्रतिदिन भिक्षार्थ कोशाम्बी में पर्यटन करते। वैभव, प्रतिष्ठा और भवन की दृष्टि से उच्च, नीच एवं मध्यम सब प्रकार के कुलों में जाते और भक्तजन भी भिक्षा देने को लालायित रहते, पर कठोर अभिग्रहधारी महावीर बिना कुछ लिए ही उल्टे पैरों लौट आते। जन-समुदाय इस रहस्य को समझ नहीं पाता कि ये प्रतिदिन भिक्षा के लिए आकर यों ही लौट क्यों जाते हैं। इस तरह भिक्षा के लिए घूमते हुए प्रभु को चार महीने बीत गये, किन्तु अभिग्रह पूर्ण नहीं होने के कारण भिक्षा-ग्रहण का संयोग प्राप्त नहीं हुआ। नगर भर में यह चर्चा फैल गई कि भगवान् इस नगर की भिक्षा ग्रहण करना नहीं चाहते। सर्वत्र आश्चर्य प्रकट किया जाने लगा कि आखिर इस नगर में कौनसी ऐसी बुराई या कमी है, जिससे भगवान् बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं।

### उपासिका नन्दा की चिन्ता

एक दिन भगवान् कोशाम्बी के अमात्य 'सुगुप्त' के घर पधारे। अमात्य-पत्नी 'नन्दा' जो कि उपासिका थी, बड़ी श्रद्धा से भिक्षा देने उठी, किन्तु पूर्ववत् महावीर बिना कुछ ग्रहण किये ही लौट गये। नन्दा को इससे बड़ा दुःख हुआ।

१ भाव. जू., प्रथम भाग, पृ. ३१६-३१७

उस समय दासियों ने कहा—“देवार्यं तो प्रतिदिन ऐसे ही आकर लौट जाते हैं।” तब नन्दा ने निश्चय किया कि अवश्य ही भगवान् ने कोई अभिग्रह ले रखा होगा। नन्दा ने मन्त्री सुगुप्त के सम्मुख अपनी चिन्ता व्यक्त की और बोली—“भगवान् महावीर चार महीनों से इस नगर में बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं, फिर आपका प्रधान पद किस काम का और किस काम की आपकी बुद्धि, जो आप प्रभु के अभिग्रह का पता भी न लगा सकें?” सुगुप्त ने आश्वासन दिया कि वह इसके लिए प्रयत्न करेगा। इस प्रसंग पर राजा की प्रतिहारी ‘विजया’ भी उपस्थित थी, उसने राजभवन में जाकर महारानी मृगावती को सूचित किया। रानी मृगावती भी इस बात को सुन कर बहुत दुःखी हुई और राजा से बोली—“महाराज ! भगवान् महावीर बिना भिक्षा लिए इस नगर से लौट जाते हैं और अभी तक आप उनके अभिग्रह का पता नहीं लगा सके।” राजा शतानीक ने रानी को आश्वस्त किया और कहा कि शीघ्र ही इसका पता लगाने का यत्न किया जायगा। उसने ‘तथ्यवादी’ नाम के उपाध्याय से भगवान् के अभिग्रह की बात पूछी, मगर वह बता नहीं सका। फिर राजा ने मन्त्री सुगुप्त से पूछा तो उसने कहा—“राजन् ! अभिग्रह अनेक प्रकार के होते हैं, पर किसके मन में क्या है, यह कहना कठिन है।” उन्होंने साधुओं के आहार-पानी लेने-देने के नियमों की जानकारी प्रजाजनों को करा दी, किन्तु भगवान् ने फिर भी भिक्षा नहीं ली।

भगवान् को अभिग्रह धारण किये पाँच महीने पच्चीस दिन हो गये थे। संयोगवश एक दिन भिक्षा के लिए प्रभु ‘धन्ना’ श्रेष्ठी के घर गये, जहाँ राज-कुमारी चन्दना तीन दिन की भूखी-प्यासी, सूप में उड़द के बाकले लिए हुए अपने धर्मपिता के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। सेठानी मूला ने उसको, सिर मुँडित कर, हथकड़ी पहनाये तलघर में बन्द कर रखा था। भगवान् को आया देख कर वह प्रसन्न हो उठी। उसका हृदय-कमल खिल गया, किन्तु भगवान् अभिग्रह की पूर्णता में कुछ न्यूनता देख कर वहाँ से लौटने लगे, तो चन्दना के नयनों से नीर बह चला। भगवान् ने अपना अभिग्रह पूरा हुआ जान कर राज-कुमारी चन्दना के हाथ से भिक्षा ग्रहण कर ली। चन्दना की हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ टूट कर बहुमूल्य आभूषणों में बदल गईं। आकाश में देव-दुन्दुभि बजी, पंच-दिव्य प्रकट हुए। चन्दना का चिन्तानुर चित्त और अपमान-प्रपीड़ित-मलिन मुख सहसा चमक उठा। पाँच महिने पच्चीस दिन के बाद भगवान् का पारणा हुआ।

भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर यही चन्दना भगवान् की प्रथम शिष्या और साध्वी-संघ की प्रथम सदस्या बनी।

### जनपद में विहार

‘कोशाम्बी’ से विहार कर प्रभु सुमंगल, सुछेत्ता, पालक प्रभृति गाँवों में

होते हुए चम्पा नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप करके उन्होंने वही 'स्वातिदत्त' ब्राह्मण की यज्ञशाला में बारहवाँ चातुर्मास पूर्ण किया।<sup>१</sup>

### स्वातिदत्त के तात्त्विक प्रश्न

भगवान् की साधना से प्रभावित होकर 'पूर्णभद्र' और 'मणिभद्र' नाम के दो यक्ष रात को प्रभु की सेवा में आया करते थे। यह देख कर स्वातिदत्त ने सोचा कि ये कोई विशिष्ट जानी हैं, जो देव इनकी सेवा में आते हैं। ऐसा सोचकर वह महावीर के पास आया और बोला कि शरीर में आत्मा क्या है?<sup>२</sup> भगवान् ने कहा—“‘मैं’ शब्द का जो वाच्यार्थ है, वही आत्मा है।” स्वातिदत्त ने कहा—“‘मैं’ शब्द का वाच्यार्थ किसको कहते हैं? आत्मा का स्वरूप क्या है?” प्रभु बोले—“आत्मा इन अग-उपांगों से भिन्न अत्यन्त सूक्ष्म और रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से रहित है, उपयोग-चेतना ही उसका लक्षण है। अरूपी होने के कारण इन्द्रियाँ आत्मा को ग्रहण नहीं कर पातीं। अतः शब्द, रूप, प्रकाश और किरण से भी आत्मा सूक्ष्मतर है।” फिर स्वातिदत्त ने कहा—“क्या ज्ञान का ही नाम आत्मा है?” भगवान् बोले—“ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है और आत्मा ज्ञान का आधार है। गुणी होने से आत्मा को जानी कहते हैं।”

इसी तरह स्वातिदत्त ने प्रदेशन और प्रत्याख्यान<sup>३</sup> के स्वरूप तथा भेद के बारे में भी प्रभु से पूछा, जिसका समाधानकारक उत्तर पाकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ।

### ग्वाले द्वारा कानों में कील ठोकना

वहाँ से विहार कर प्रभु 'जंभियग्राम'<sup>४</sup> पधारे। वहाँ कुछ समय रहने के पश्चात् प्रभु मेढियाग्राम होते हुए 'छम्माणि'<sup>५</sup> ग्राम गये और गाँव के बाहर ध्यान में स्थिर हो गये। संध्या के समय एक ग्वाला वहाँ आया और प्रभु के पास अपने बैल छोड़ कर कार्य हेतु गाँव में चला गया। लौटने पर उसे बैल नहीं मिले तो उसने महावीर से पूछा, किन्तु महावीर मौन थे। उनके उत्तर नहीं देने से क्रुद्ध होकर उसने महावीर के दोनों कानों में कांस नामक घास की शलाकाएँ डालीं और पत्थर से ठोक कर कानों के बराबर कर दीं। भगवान् को इस

१ आब० चू०, पृ० ३२०।

२ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ६१०।

३ आब० चू०, पृ० ३२०-३२१

४ आब० चू०, पृ० ३२१।

५ छम्माणि मगध देश में था, बौद्ध ग्रन्थों में इसका नाम खाउमत प्रसिद्ध है।

[वीर विहार मीमांसा हिन्दी, पृ० २८]



शलाका-वेधन से अति वेदना हो रही थी, तदुपरान्त भी वे इस वेदना को पूर्व-संचित कर्म का फल समझ कर, शान्त और प्रसन्न मन से सहते रहे।

‘छम्माणि’ से विहार कर प्रभु ‘मध्यम पावा’<sup>१</sup> पधारे और भिक्षा के लिए ‘सिद्धार्थ’ नामक वणिक के घर गये। उस समय सिद्धार्थ अपने मित्र ‘खरक’ वैद्य से बातें कर रहा था। वन्दना के पश्चात् खरक ने भगवान् की मुखाकृति देखते ही समझ लिया कि इनके शरीर में कोई शल्य है और उसको निकालना उसका कर्त्तव्य है। उसने सिद्धार्थ से कहा और उन दोनों मित्रों ने भगवान् से ठहरने की प्रार्थना की किन्तु प्रभु रुके नहीं। वे वहाँ से चल कर गाँव के बाहर उद्यान में आये और ध्यानारूढ़ हो गये।

इधर सिद्धार्थ और खरक दवा आदि लेकर उद्यान में पहुँचे। उन्होंने भगवान् के शरीर की तेल से खूब मालिश की और फिर संबासी से कानों की शलाकाएँ खींच कर बाहर निकालीं। रुधिरयुक्त शलाका के निकलते ही भगवान् के मुख से एक ऐसी चीख निकली, जिससे कि सारा उद्यान गूँज उठा। फिर वैद्य खरक ने संरोहण श्लोषधि घाव पर लगा कर प्रभु की वन्दना की और दोनों मित्र घर की ओर चल पड़े।

### उपसर्ग और सहिष्णुता

कहा जाता है कि दीर्घकाल की तपस्या में भगवान् को जो अनेक प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग सहने पड़े, उन सबमें कानों से कील निकालने<sup>२</sup> का उपसर्ग सबसे अधिक कष्टप्रद रहा। इस भयंकर उपसर्ग के सामने ‘कटपूतना’ का शैत्यवर्धक उपसर्ग जघन्य और संगम के कालचक्र का उपसर्ग मध्यम कहा जा सकता है। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इन सभी उपसर्गों में भगवान् ने समभाव से रहकर महती कर्म-निर्जरा की। आश्चर्य की बात है कि भगवान् का पहला उपसर्ग कुर्मार ग्राम में एक ग्वाले से प्रारम्भ हुआ और अन्तिम उपसर्ग भी एक ग्वाले के द्वारा उपस्थित किया गया।...

### छद्मस्थकालीन तप

छद्मस्थकाल के साधक साढ़े बारह वर्ष जितने दीर्घकाल में भगवान् महावीर ने केवल तीन सौ उनचास दिन ही आहार ग्रहण किया, शेष सभी दिन निर्जल तपस्या में व्यतीत किये।

कल्पसूत्र के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर दीक्षित होकर १२ वर्ष से कुछ अधिक काल तक निर्माह भाव से साधना में तत्पर रहे। उन्होंने शरीर की

१ आ० मलय नि०, गा० ५२४ की टीका। पृ० १६८।

२ कल्पसूत्र, ११६।

और तनिक भी ध्यान नहीं दिया । जो भी उपसर्ग, चाहे वे देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा तिर्यक सम्बन्धी उत्पन्न हुए, उन अनुकूल एवं प्रतिकूल सभी उपसर्गों को महावीर ने निर्भय होकर समभावपूर्वक सहन किया । उनकी कठोर साधना और उग्र-तपस्या बेजोड़ थी ।

भगवान् महावीर ने अपनी तपःसाधना में कई बार पन्द्रह-पन्द्रह दिन और महीने-महीने तक जल भी ग्रहण नहीं किया । कभी वे दो-दो महीने और अधिक छै-छै महीने तक पानी नहीं पीते हुए रात दिन निःस्पृह होकर विचरते रहे । पारणों में भी वे नीरस आहार पाकर सन्तोष मानते । उनकी छद्मस्थकालीन तपस्या इस प्रकार है :—

- |                                  |  |
|----------------------------------|--|
| (१) एक छमासी तप ।                | ( ६ ) बहत्तर पाक्षिक तप ।                |
| (२) एक पाँच दिन कम छमासी तप ।    | ( १० ) एक भद्र प्रतिमा दो दिन की ।       |
| (३) नौ [ ६ ] चानुर्मासिक तप ।    | ( ११ ) एक महाभद्र प्रतिमा चार दिन की ।   |
| (४) दो त्रैमासिक तप ।            | ( १२ ) एक सर्वतोभद्र प्रतिमा दस दिन की । |
| (५) दो [ २ ] सार्धद्वैमासिक तप । | ( १३ ) दो सौ उनतीस छट्ट भक्त ।           |
| (६) छै [ ६ ] द्वैमासिक तप ।      | ( १४ ) बारह अष्टम भक्त ।                 |
| (७) दो [ २ ] सार्धमासिक तप ।     | ( १५ ) तीन सौ उनचास दिन पारणा ।          |
| ( ८ ) बारह [ १२ ] मासिक तप ।     | ( १६ ) एक दिन दीक्षा का । <sup>१</sup>   |

आचारांग सूत्र के अनुसार दशमभक्त आदि तपस्यायें भी प्रभु ने की थीं । इस प्रकार की कठोर साधना और उग्र तपस्या के कारण ही अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा महावीर की तपःसाधना उत्कृष्ट मानी गई है । नियुक्तिकार भद्रबाहु के अनुसार महावीर की तपस्या सबसे अधिक उग्र थी । कहा जाता है कि उनके संबन्धित कर्म भी अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा अधिक थे ।

### महावीर की उपमा

भगवान् महावीर की विशिष्टता शास्त्र में निम्न उपमाओं से बताई गई है । वे :—

- |                                    |   |
|------------------------------------|---|
| [ १ ] कांस्य-पात्र की तरह निर्लेप, | [ ५ ] वायु की तरह अप्रतिबद्ध,               |
| [ २ ] शंख की तरह निरंजन राग-रहित,  | [ ६ ] शरद् ऋतु के स्वच्छ जल के समान निर्मल, |
| [ ३ ] जीव की तरह अप्रतिहत गति,     | [ ७ ] कमलपत्र के समान भोग में निर्लेप,      |
| [ ४ ] गगन की तरह आलम्बन रहित,      |   |

१ कल्पसूत्र, ११७ ।

- [ ८ ] कच्छप के समान जितेन्द्रिय, [ १५ ] सुमेरु की तरह परीषहों के बीच अचल,  
 [ ९ ] गेंडे की तरह राग-द्वेष से रहित-एकाकी, [ १६ ] सागर की तरह गंभीर,  
 [ १० ] पक्षी की तरह अतियत त्रिहारी, [ १७ ] चन्द्रवत् सौम्य ।  
 [ ११ ] भारण्ड की तरह अप्रमत्त, [ १८ ] सूर्यवत् तेजस्वी,  
 [ १२ ] उच्च जातीय गजेन्द्र के समान शूर, [ १९ ] स्वर्ण की तरह कान्तिमान,  
 [ १३ ] वृषभ के समान पराक्रमी, [ २० ] पृथ्वी के समान सहिष्णु और  
 [ १४ ] सिंह के समान दुर्द्धर्ष, [ २१ ] अग्नि की तरह जाज्वल्यमान-तेजस्वी थे ।

### केवलज्ञान

अनुत्तर ज्ञान, अनुत्तर दर्शन और अनुत्तर चारित्र आदि गुणों से आत्मा को भावित करते हुए भगवान् महावीर को साढ़े बारह वर्ष पूर्ण हो गये । तेरहवें वर्ष के मध्य में ग्रीष्म ऋतु के दूसरे मास एवं चतुर्थ पक्ष में वैशाख शुक्ला दशमी के दिन जिस समय छाया पूर्व की ओर बढ़ रही थी, दिन के उस पिछले प्रहर में, जृम्भिकाग्राम नगर के बाहर, ऋजुबालुका नदी के किनारे, जीर्ण उद्यान के पास, श्यामाक नामक गाथापति के क्षेत्र में, शाल वृक्ष के नीचे, गोदोहिका आसन से प्रभु आत्मापता ले रहे थे । उस समय छट्ठ भक्त की निर्जल तपस्या से उन्होंने क्षपक श्रेणी का आरोहण कर, शुक्ल-ध्यान के द्वितीय चरण में मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घाती कर्मों का क्षय किया और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग में केवलज्ञान एवं केवल दर्शन की उपलब्धि की । अब भगवान् भाव अर्हन्त कहलाये और देव, मनुष्य, असुर, नारक, तिर्यंच, चराचर, सहित सम्पूर्ण लोक की त्रिकालवर्ती पर्याय को जानने तथा देखने वाले, सब जीवों के गुप्त अथवा प्रकट सभी तरह के मनोगत भावों को जानने वाले, सर्वज्ञ व सर्वदर्शी बन गये ।

### प्रथम देशना

भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न होते ही देवगण पंचदिव्यों की वृष्टि करते हुए ज्ञान की महिमा करने आये । देवताओं ने सुन्दर और विराट् समवशरण की रचना की । यह जानते हुए भी कि यहाँ सर्वविरति व्रत ग्रहण करने योग्य कोई नहीं है, भगवान् ने कल्प समझ कर कुछ काल उपदेश दिया । वहाँ मनुष्यों की उपस्थिति नहीं होने से किसी ने विरति रूप चारित्र-धर्म स्वीकार नहीं किया । तीर्थंकर का उपदेश कभी व्यर्थ नहीं जाता, किन्तु महावीर

की प्रथम देशना का परिणाम विरति-ग्रहण की दृष्टि से शून्य रहा, जो कि अभूतपूर्व होने के कारण आश्चर्य माना गया ।

श्वेताम्बर परम्परा के अग्रिम साहित्य में, और शीलाकाचार्य के 'चउवन्न महापुरिस चरिउं' को छोड़कर प्रायः सभी आगमेतर साहित्य में भी यह सर्व-सम्मत मान्यता दृष्टिगोचर होती है कि भगवान् महावीर की प्रथम देशना अभाविता परिषद् के समक्ष हुई । उसके परिणामस्वरूप जिस प्रकार भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती तेईस तीर्थंकरों की प्रथम देशना से प्रभावित होकर अनेक भव्यात्माओं ने सर्वविरति महाव्रत अंगीकार किये, उस प्रकार भगवान् महावीर की प्रथम देशना से एक भी व्यक्ति ने सर्वविरति महाव्रत धारण नहीं किये ।

इस सन्दर्भ में श्री हेमचन्द्र आदि प्रायः सभी आचार्यों का यह अभिमत ध्वनित होता है कि भगवान् की प्रथम देशना के अवसर पर समवशरण में एक भी भव्य मानव उपस्थित नहीं हो सका था ।

पर आचार्य गुणचन्द्र ने अपने 'महावीर चरियम्' में भगवान् महावीर के प्रथम समवशरण की परिषद् को अभाविता-परिषद् स्वीकार करते हुए भी यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि उस परिषद् में मनुष्य भी उपस्थित हुए थे ।<sup>१</sup>

शीलांक जैसे उच्च कोटि के विद्वान् और प्राचीन आचार्य ने अपने 'चउवन्न महापुरिस चरियम्' में 'अभाविता-परिषद्' का उल्लेख तक भी नहीं करते हुए 'ऋजुबालुका' नदी के तट पर हुई भगवान् महावीर की प्रथम देशना में ही इन्द्र-भूति आदि ग्यारह विद्वानों के अपने-अपने शिष्यों सहित उपस्थित होने, उनकी मनोगत शंकाओं का भगवान् द्वारा निवारण करने एवं प्रभुचरणों में दीक्षित हो गणधर-पद प्राप्त करने आदि का विवरण दिया है ।<sup>२</sup>

### मध्यमापावा में समवशरण

यहाँ से भगवान् 'मध्यमापावा' पधारे । वहाँ पर 'आर्य सोमिल' द्वारा एक विराट् यज्ञ का आयोजन किया जा रहा था जिसमें कि उच्च कोटि के अनेक विद्वान् निमन्त्रित थे । भगवान् ने वहाँ के विहार को बड़ा लाभ का कारण समझा । जब 'जंभिय गाँव' से आप पावापुरी पधारे तब देवों ने अशोक वृक्ष

१ ताहे तिलोयनाहो बुब्बन्ती देवनरनरिदेहि ।

सिहासणो निसीयइ, तित्थपणामं पकाऊण ॥४॥

जइविहु एरिसनारोण जिणवरो मुणइ जोग्गयारहियं ।

कप्पोत्ति तहवि साहइ, खणमेत्तं धम्मपरमत्थं ॥५॥

[महावीर चरियम् (आचार्य गुणचन्द्र), प्रस्ताव ७]

२ चउवन्नमहापुरिसचरियं, पृ० २६६ से ३०३ ।

आदि महाप्रोतिहार्यों<sup>१</sup> से प्रभु की महती महिमा की। देवों द्वारा एक भव्य और विराट् समवशरण की रचना की गई। वहाँ देव-दानव और मानवों आदि की विशाल सभा में भगवान् उच्च सिंहासन पर विराजमान हुए।<sup>२</sup> मेघ-सम गम्भीर ध्वनि में महावीर ने अर्धमागधी भाषा में देशना प्रारम्भ की। भव्य भक्तों के मनमयूर इस अलौकिक उपदेश को सुनकर भावविभोर हो उठे।

### इन्द्रभूति का आगमन

समवशरण में आकाश-मार्ग से देव-देवियों के समुदाय आने लगे। यज्ञ-स्थल के पण्डितों ने देवगण को बिना रुके सीधे ही आगे निकलते देखा तो उन्हें आश्चर्य हुआ। प्रमुख पण्डित इन्द्रभूति को जब मालूम हुआ कि नगर के बाहर सर्वज्ञ महावीर आये हैं और उन्हीं के समवशरण में ये देवगण जा रहे हैं, तो उनके मन में अपने पाण्डित्य का दर्प जागृत हुआ। वे भगवान् महावीर के अलौकिक ज्ञान की परख करने और उन्हें शास्वार्थ में पराजित करने की भावना से समवशरण में आये। उनके साथ पाँच सौ छात्र और अन्य विद्वान् भी थे।

समवशरण में आकर इन्द्रभूति ने ज्योंही महावीर के तेजस्वी मुख-मण्डल एवं छत्रादि अतिशयों को देखा तो अत्यन्त प्रभावित हुए और महावीर ने जब उन्हें “इन्द्रभूति गौतम” कहकर सम्बोधित किया तो वे चकित हो गये। इन्द्रभूति ने मन ही मन सोचा—“मेरी ज्ञान विषयक सर्वत्र प्रसिद्धि के कारण इन्होंने नाम से पुकार लिया है। पर जब तक ये मेरे अंतरंग संशयों का छेदन नहीं कर दें, मैं इन्हें सर्वज्ञ नहीं मानूँगा।”

### इन्द्रभूति का शंका-समाधान

गौतम के मनोगत भावों को समझकर महावीर ने कहा—“गौतम ! मालूम होता है, तुम चिरकाल से आत्मा के विषय में शंकाशील हो।” इन्द्रभूति अपने अन्तर्मन के निगूढ़ प्रश्न को सुनकर अत्यन्त विस्मित हुए। उन्होंने कहा—“हाँ मुझे यह शंका है। ‘श्रुतियों में’, विज्ञान-घन आत्मा भूत-समुदाय से ही उत्पन्न होती है और उसी में पुनः तिरोहित हो जाती है, अतः परलोक की संज्ञा नहीं, ऐसा कहा गया है। जैसे—‘विज्ञानवन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्ति।’ इसके अनुसार पृथ्वी आदि भूतों से पृथक् पुरुष-का अस्तित्व कैसे संभव हो सकता है ?”

१ अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः, दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च ।

भामण्डलं कुमुम्भिरातपत्रं, सत्प्रतिहार्याणि जिनेश्वरस्य ॥

२ आचक्ष्वक, गा० ५३६ ।

इन्द्रभूति का प्रश्न सुनकर प्रभु महावीर ने शान्तभाव से उत्तर देते हुए—  
कहा—। 'इन्द्रभूति ! तुम विज्ञानधन....' इस श्रुतिवाक्य का जिस रूप में अर्थ  
समझ रहे हो, वस्तुतः उसका वैसा अर्थ नहीं है। तुम्हारे मतानुसार विज्ञानधन  
का अर्थ भूत समुदायोत्पन्न चेतनापिण्ड है, पर उसका सही अर्थ विविध ज्ञान-  
पर्यायों से है। आत्मा में प्रतिपल नवीन ज्ञानपर्यायों का आविर्भाव और पूर्व-  
कालीन ज्ञानपर्यायों का तिरोभाव होता रहता है। जैसे कि कोई व्यक्ति एक घट  
को देख रहा है, उस पर विचार कर रहा है, उस समय उसकी आत्मा में घट  
विषयक ज्ञानोपयोग समुत्पन्न होता है। इस स्थिति को घट विषयक ज्ञानपर्याय  
कहेंगे। कुछ समय के बाद वही मनुष्य जब घट को छोड़कर पट आदि पदार्थों  
को देखने लगता है तब उसे पट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है और पहले का  
घट-सम्बन्धी ज्ञान-पर्याय सत्ताहीन हो जाता है। अतः कहा जा सकता है कि  
विविध पदार्थ विषयक ज्ञान के पर्याय ही विज्ञानधन हैं। यहाँ भूत शब्द का अर्थ  
पृथ्वी आदि पंच महाभूत से न होकर जड़-चेतन रूप समस्त ज्ञेय पदार्थ से है।  
'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इस वाक्य का अर्थ परलोक का अभाव नहीं, पर पूर्व पर्याय  
की सत्ता नहीं, यह समझना चाहिये। इस प्रकार जब पुरुष में उत्तरकालीन  
ज्ञानपर्याय उत्पन्न होता है, तब पूर्वकालीन ज्ञानपर्याय सत्ताहीन हो जाता है।  
क्योंकि किसी भी द्रव्य या गुण की उत्तर पर्याय के समय पूर्व पर्याय की सत्ता  
नहीं रह सकती। अतः 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' कहा गया है।"

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित इस तर्क-प्रधान विवेचना को सुनकर  
इन्द्रभूति के हृदय का संशय नष्ट हो गया और उन्होंने अपने पाँच सौ शिष्यों के  
साथ प्रभु का शिष्यत्व स्वीकार किया। ये ही इन्द्रभूति आगे चलकर भगवान्  
महावीर के शासन में गौतम के नाम से प्रसिद्ध हुए।

### दिगम्बर-परम्परा की मान्यता

इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि भगवान् महावीर  
को केवलज्ञान की उपलब्धि होने पर देवों ने पंच-दिव्यों की वृष्टि की और इन्द्र  
की आज्ञा से कुबेर ने वैशाख शुक्ला १० के दिन ही समवशरण की रचना कर  
दी। भगवान् महावीर ने पूर्वद्वार से समवशरण में प्रवेश किया और वे सिंहासन  
पर विराजमान हुए।

भगवान् का उपदेश सुनने के लिये उत्सुक देवेन्द्र अन्य देवों के साथ हाथ  
जोड़े अपने प्रकोष्ठ में प्रभु के समक्ष बैठ गये। पर प्रभु के मुखारविन्द से दिव्य  
ध्वनि प्रस्फुटित नहीं हुई। निरन्तर कई दिनों की प्रतीक्षा के बाद भी जब प्रभु  
ने उपदेश नहीं दिया तो इन्द्र ने चिन्तित हो सोचा कि आखिर भगवान् के उपदेश  
न देने का कारण क्या है।

अवधिज्ञान से इन्द्र को जब यह ज्ञात हुआ कि गरुड के अभाव में भगवान् का उपदेश नहीं हो रहा है, तो वे उपयुक्त पात्र की खोज में लगे और विचार करते करते उन्हें उस समय के प्रकाण्ड पण्डित इन्द्रभूति का ध्यान आया।

देवराज शक्र तत्काल शिष्य का छद्मवेश बना कर इन्द्रभूति के पास पहुँचे और सादर अभिवादन के पश्चात् बोले—“विद्वन् ! मेरे गुरु ने मुझे एक गाथा सिखाई थी। उस गाथा का अर्थ मेरी समझ में अच्छी तरह नहीं आ रहा है। मेरे गुरु इस समय मौन धारण किये हुए हैं, अतः आप कृपा कर मुझे उस गाथा का अर्थ समझा दीजिये।”

उत्तर में इन्द्रभूति ने कहा—“मैं तुम्हें गाथा का अर्थ इस शर्त पर समझा सकता हूँ कि उस गाथा का अर्थ समझ में आ जाने पर तुम मेरे शिष्य बन जाने की प्रतिज्ञा करो।”

छद्मवेशधारी इन्द्र ने इन्द्रभूति की शर्त सहर्ष स्वीकार करते हुए उनके सम्मुख यह गाथा प्रस्तुत की :—

पंचेव अस्तिकाया, छज्जीवणिकाया महव्वया पंच ।  
अट्ट य पवयणामादा, सहेउओ बंध-मोक्खो य ॥

[षट्खण्डागम, पु० ६, पृ० १२६]

इन्द्रभूति उक्त गाथा को पढ़ते ही असमंजस में पड़ गये। उनकी समझ में नहीं आया कि पंच अस्तिकाय, षड्जीवणिकाय और अष्ट प्रवचन मात्राएँ कौन-कौन सी हैं। गाथा में उल्लिखित ‘छज्जीवणिकाया’ इस शब्द से तो इन्द्रभूति एकदम चकरा गये, क्योंकि जीव के अस्तित्व के विषय में उनके मन में शंका घर किये हुए थी। उनके मन में विचारों का प्रवाह उमड़ पड़ा।

हठात् अपने विचार-प्रवाह को रोकते हुए इन्द्रभूति ने आगन्तुक से कहा—“तुम मुझे तुम्हारे गुरु के पास ले चलो। उनके सामने ही मैं इस गाथा का अर्थ समझाऊँगा।”

अपने अभीष्टत कार्य को सिद्ध होता देख इन्द्र बड़ा प्रसन्न हुआ और वह इन्द्रभूति को अपने साथ लिये भगवान् के समवशरण में पहुँचा।

गौतम के वहाँ पहुँचते ही भगवान् महावीर ने उन्हें नाम-गोत्र के साथ सम्बोधित करते हुए कहा—“अहो गौतम इन्द्रभूति ! तुम्हारे मन में जीव के अस्तित्व के विषय में शंका है कि वास्तव में जीव है या नहीं। तुम्हारे अन्तर में जो इस प्रकार का विचार कर रहा है, वही निश्चित रूप से जीव है। उस जीव का सर्वदा अभाव न तो कभी हुआ है और न कभी होगा ही।”

भगवान् के मुखारविन्द से कभी किसी के सम्मुख प्रकट नहीं की हुई अपने मन की शंका एवं उस शंका का समाधान सुन कर इन्द्रभूति श्रद्धा तथा भक्ति के उद्रेक से प्रभुचरणों पर अवनत हो प्रभु के पास प्रथम शिष्य के रूप से दीक्षित हो गये। इस प्रकार गौतम इन्द्रभूति का निमित्त पाकर केवलज्ञान होने के ६६ दिन पश्चात् श्रावण-कृष्ण प्रतिपदा के दिन भगवान् महावीर ने प्रथम उपदेश दिया। यथा :—

वासरस पढममासे, सावणणामम्मि बहुल पडिवाए ।  
अभिजीगाक्खत्तम्मि य, उप्पत्ती धम्मतिरथस्स ॥

[तिलोयपण्णत्ती, १६८]

### तीर्थ स्थापना

इन्द्रभूति के पश्चात् अग्निभूति आदि अन्य दस पण्डित भी क्रमशः आये और भगवान् महावीर से अपनी शंकाओं का समाधान पा कर शिष्य मण्डली सहित दीक्षित हो गये। भगवान् महावीर ने उनको “उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा, धुवेइ वा” इस प्रकार त्रिपदी का ज्ञान दिया। इसी त्रिपदी से इन्द्रभूति आदि विद्वानों ने द्वादशांग और दृष्टिवाद के अन्तर्गत चौदह पूर्व की रचना की<sup>१</sup> और वे गणधर कहलाये।

महावीर की वीतरागमयी वाणी श्रवण कर एक ही दिन में उनके इन्द्रभूति आदि चार हजार चार सौ शिष्य हुए। प्रथम पाँच के पाँच-पाँच सौ, छठे और सातवें के साढ़े तीन तीन सौ, और शेष अन्तिम चार पण्डितों के तीन-तीन सौ छात्र थे। इस तरह कुल मिलाकर चार हजार चार सौ हुए। भगवान् के धर्म संघ में राजकुमारी चन्दनबाला प्रथम साध्वी बनी। शक शतक आदि ने श्रावक धर्म और मुलसी आदि ने श्राविका धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार ‘मध्यमपावा’ का वह ‘महासेन वन’ और वंशाख शुक्ला एकादशी का दिन धन्य हो गया जब भगवान् महावीर ने श्रुतधर्म और चारित्र-धर्म की शिक्षा दे कर साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की और स्वयं भावतीर्थकर कहलाये।

### महावीर की भाषा

भगवान् महावीर ने अपना प्रवचन अर्धमागधी भाषा में किया था।<sup>२</sup> भगवान् की भाषा को आर्य-अनायं सभी सरलता से समझ लेते थे।<sup>३</sup> जर्मन

१ उप्पन्न विगम धुअपय तिर्थाम्म कहिए जणेण तो तेहि ।

सन्वेहि विय बुद्धीहि बारस अंगाइ रइयाइ ॥ १५६४, महावीर चरित्र, (नेमिचन्द्र रचित)

२ (क) समवा०, पृ० ५७ ।

(ख) औपपातिक सूत्र, सू० ३४, पृ० १४६ ।

३ (क) समवायांग, पृ० ५७ ।

(ख) औपपातिक सूत्र, पृ० १४६



विद्वान् रिचार्ड पिशल ने इसके अनेक प्राचीन रूपों का उल्लेख किया है।<sup>१</sup> निशीथ चूर्ण में मगध के अर्द्ध भाग में बोली जाने वाली अठारह देशी भाषाओं<sup>२</sup> में नियत भाषा को अर्द्धमागधी<sup>३</sup> कहा है। नवांगी टीकाकार अभयदेव के मतानुसार इस भाषा को अर्द्धमागधी कहने का कारण यह है कि इसमें कुछ लक्षण मागधी के और कुछ लक्षण प्राकृत के पाये जाते हैं।<sup>४</sup>

तीर्थ-स्थापना के पश्चात् पुनः भगवान् 'मध्यमापावा' से राजगृही को पधारे और इस वर्ष का वर्षावास वहीं पूर्ण किया।

### केवलीचर्या का प्रथम वर्ष

मध्यमापावा से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् साधु परिवार के साथ 'राजगृह' पधारे। राजगृह में उस समय पार्श्वनाथ की परम्परा के बहुत से श्रावक और श्राविकाएँ रहती थीं। भगवान् नगर के बाहर गुणशील चैत्य में विराजे। राजा श्रेणिक को भगवान् के पधारने की सूचना मिली तो वे राजसी शोभा में अपने अधिकारियों, अनुचरों और पुत्रों आदि के साथ भगवान् की वन्दना करने को निकले और विधिपूर्वक वन्दन कर सेवा करने लगे। उपस्थित सभा को लक्ष्य कर प्रभु ने धर्म-देशना सुनाई। श्रेणिक ने धर्म सुन कर सम्यक्त्व स्वीकार किया और अभयकुमार आदि ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया।<sup>५</sup>

१ हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनूदित 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ३३।

२ (क) बृहत्कल्प भाष्य १ प्र० की वृत्ति १२३१ में मगध, मालव, महाराष्ट्र, लाट, कर्णाटक, गौड़, विदर्भ आदि देशों की भाषाओं को देशी भाषा कहा है।

(ख) उद्योतन सूरि ने कुवलयमाला में, गोल्ल, मगध, कर्णाटक, अन्तरवेदी, कीर, ढबक, सिंधु, मरु, गुर्जर, लाट, मालवा, ताड्य (ताजिक), कोशल, मरहट्ट और आन्ध्र प्रदेशों की भाषाओं का देशी भाषा के रूप से सोदाहरण उल्लेख किया है।

[ढॉ० जगदीशचन्द्र जैन—प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४२७-४२८]

३ मगहद्ध विसय भासा, निबद्ध अर्द्धमागहां ग्रहवा अठारह देसी भासा एणियतं अर्द्धमागहं ११, ३६१८ निशीथ चूर्ण

४ (क) व्याख्या प्र० ५।४ सूत्र १६१ की टीका, पृ० २२१

(ख) श्लोपपातिक, सू० ५६ टी०, पृ० १४८

५ (क) एमाइ धम्मकहं सोउं सेणिय निवाइया भव्वा ।  
संमत्तं पडिपप्पा केई पुण देस विरयाई ॥ १२६४

[नेमिचन्द्र कृत महावीर चरियं]

(ख) श्रुत्वा तां देशना भतुं: सम्यक्त्वं श्रेणिकोऽश्रयत् ।

श्रावकधर्मं त्वभय-कुमाराद्याः प्रपेदिरे ।३७६

[त्रि० श०, प० १०, स० ६]

### नन्दिषेण की दीक्षा

राजकुमार भेषकुमार और नन्दिषेण ने धर्मदेशना सुन कर उस दिन भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की थी, जिसका वर्णन इस प्रकार है :—

महावीर प्रभु की वाणी सुनकर नन्दिषेण ने माता-पिता से दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति चाही। श्रेणिक ने भी धर्मकार्य समझकर उसकी अनुमति प्रदान की। अनुमति प्राप्त कर ज्योंही नन्दिषेण घर से चला कि आकाश से एक देवता ने कहा—“वत्स ! अभी तुम्हारे चारित्र्यावरण का प्राबल्य है, अतः कुछ काल घर में ही रहो, फिर कर्मों के हतका हो जाने पर दीक्षित हो जाना।” नन्दिषेण भावना के प्रवाह में बह रहा था, अतः वह बोला—“अजी ! मेरे भाव पक्के हैं तथा मैं संयम में लीन हूँ फिर मेरा चारित्र्यावरण क्या करेगा ?” इस प्रकार कह कर वह भगवान् के पास आया और प्रभु-चरणों में उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। स्थविरों के पास ज्ञान सीखा और विविध प्रकार की तपस्या के साथ आतापना आदि से वह आत्मा को भावित करता रहा। कुछ काल के पश्चात् जब देव ने मुनि को विकट तप करते हुए देखा तो उसने फिर कहा—“नन्दिषेण ! तुम मेरी बात नहीं मान रहे हो, सोच लो, बिना भोग-कर्म को चुकाये संसार से त्राण नहीं होगा, चाहे कितना ही प्रयत्न क्यों न करो।”

देव के बार-बार कहने पर भी नन्दिषेण ने उस पर ध्यान नहीं दिया। एक बार बले की तपस्या के पारण के दिन वे अकेले भिक्षार्थ निकले और कर्म-दोष से वेश्या के घर पहुँच गये। ज्यों ही उन्होंने धर्मलाभ की बात कही तो वेश्या ने कहा—“यहाँ तो अर्थ-लाभ की बात है” और फिर हँस पड़ी। उसका हँसना मुनि को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने एक तृण खींच कर रत्नों का ढेर कर दिया और “ले यह अर्थ लाभ” कहते हुए घर से बाहर निकल पड़े। रत्न-राशि देख आश्चर्याभिभूत हुई वेश्या, मुनि नन्दिषेण के पीछे-पीछे दौड़ी और बोली—“प्राणनाथ ! जाते कहाँ हो ? मेरे साथ रहो, अन्यथा मैं अभी प्राण-विसर्जन कर दूंगी।” उसके अतिशय अनुरोध एवं प्रेमपूर्ण आग्रह को कर्माधीन नन्दिषेण ने स्वीकार कर लिया, किन्तु उन्होंने एक शर्त रखी—“प्रतिदिन दस मनुष्यों को प्रतिबोध दूंगा तब भोजन करूंगा और जिस दिन ऐसा नहीं कर सकूंगा, उस दिन मैं पुनः गुरु-चरणों में दीक्षित हो जाऊंगा।”

देव-वाणी का स्मरण करते हुए और वेश्या के साथ रहते हुए भी मुनि प्रतिदिन दस व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण करने के लिये भेजने के पश्चात् भोजन करते। अन्ततोगत्वा एक दिन भोग्य-कर्म क्षीण हुए। नन्दिषेण ने नौ व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर तैयार किया, परन्तु दसवाँ सोनी प्रतिबोध पा कर भी दीक्षार्थ तैयार नहीं हुआ। भोजन का समय आ गया। अतः वेश्या बार-बार भोजन के लिये बुलावा भेज रही थी। पर अभिग्रह

पूर्ण नहीं होने के कारण नन्दिषेण नहीं उठे। कुछ देर बाद वेभ्या स्वयं आयी और भोजन के लिये आग्रहपूर्वक कहने लगी। पर नन्दिषेण ने कहा—“दसवाँ तैयार नहीं हुआ, तो अब मैं ही दसवाँ होता हूँ।” ऐसा कह कर वे वेभ्यालय से बाहर निकल पड़े और भगवच्चरणों में पुनः दीक्षा ले कर विशुद्ध रूप से संयम-साधना में तत्पर हो गये।<sup>१</sup>

इस प्रकार अनेक भव्य-जीवों का कल्याण करते हुए प्रभु ने तेरहवाँ वर्षाकाल राजगृह में ही पूर्ण किया।

### केवलीचर्या का द्वितीय वर्ष

राजगृही में वर्षाकाल पूर्ण कर ग्रामानुग्राम विचरते हुए प्रभु ने विदेह की ओर प्रस्थान किया। वे ‘ब्राह्मण कुण्ड’ पहुँचे और पास में ‘बहुशाल’ चैत्य में विराजमान हुए। भगवान् के आने का शुभ समाचार सुन कर पण्डित ऋषभदत्त देवानन्दा ब्राह्मणी के साथ वन्दनार्थ समवसरण की ओर प्रस्थित हुआ और पाँच नियमों के साथ भगवान् की सेवा में पहुँचा।

### ऋषभदत्त और देवानन्दा को प्रतिबोध

भगवान् को देखते ही देवानन्दा का मन पूर्वस्नेह से भर आया। वह आनन्दमग्न एवं पुलकित हो गई। उसके स्तनों से दूध की धारा निकल पड़ी। नेत्र हर्षाश्रु से डब-डबा आये। गीतम के पूछने पर भगवान् ने कहा—“यह मेरी माता हैं, पुत्र-स्नेह के कारण इसे रोमाञ्च हो उठा है।”<sup>२</sup> भगवान् की वारणी सुन कर ऋषभदत्त और देवानन्दा ने भी प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और दोनों ने ११ अंगों का अध्ययन किया एवं विचित्र प्रकार के तप, व्रतों से वर्षों तक संयम की साधना कर मुक्ति प्राप्त की।<sup>३</sup>

### राजकुमार जमालि की दीक्षा

ब्राह्मणकुण्ड के पश्चिम में क्षत्रियकुण्ड नगर था। वहाँ के राजकुमार जमालि ने भी भगवान् के चरणों में उपस्थित पाँच सौ क्षत्रिय-कुमारों के साथ दीक्षा ग्रहण की और ग्यारह अंगों का अध्ययन कर वे विविध प्रकार के

१ त्रिषष्टि श० पु० ब०, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक ४०८ से ४३६।

२ गोयमा ! देवाण्डा माहणी मम अम्भगा, अहं णं देवाण्डाए माहणीए उत्तए, तए णं सा देवाण्डा माहणी तेणं पुब्बपुत्तसिरोहाणुरागेणं आगयपण्हया जाव समूसवियरोमकूवा  
[भ., श. ६, अ. ३३, सू. ३८०]

३ जाव तमट्ठं मासहेत्ता जाव सब्बदुक्खप्पहीणी जाव सब्बदुक्खप्पहीणा।

[भ., श. ६, उ. ६, सू. ३८२]

तपःकर्मों से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे ।<sup>१</sup> राजकुमार जमालि की पत्नी प्रियदर्शना ने भी एक हजार स्त्रियों के साथ दीक्षा ग्रहण की ।<sup>२</sup> इस प्रकार जन-गण का विविध उपकार करते हुए भगवान् ने इस वर्ष का वर्षाकाल वैशाली में पूरा किया ।

### केवलीचर्या का तृतीय वर्ष

वैशाली से विहार कर भगवान् वत्सदेश की राजधानी 'कौशाम्बी' पधारे और 'चन्द्रावतरण' चैत्य में विराजमान हुए । कौशाम्बी में राजा सहस्रानीक का पौत्र और शतानीक तथा वैशाली के गण-राज चेटक की पुत्री मृगावती का पुत्र 'उदयन' राज्य करता था । यहाँ उदयन की बुआ एवं शतानीक की बहिन जयंती श्रमणोपासिका थीं । भगवान् के पधारने की बात सुन कर 'मृगावती' राजा उदयन और जयंती के साथ भगवान् को वन्दना करने गयी । जयंती श्राविका ने प्रभु की देशना सुनकर भगवान् से कई प्रश्नोत्तर किये, जो पाठकों के लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं ।

जयंती विवाहिता थी या अविवाहिता—साधार विचार ।

### जयंती के धार्मिक प्रश्न

जयन्ती ने पूछा—“भगवन् ! जीव हल्का कैसे होता और भारी कैसे होता है ? उत्तर में प्रभु ने कहा—जयंती ! अठारह पाप—(१) हिंसा, (२) मृषावाद-भूठ, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याह्वान, (१४) पैशुन्य, (१५) पर परवाद-निन्दा, (१६) रति-अरति, (१७) माया-मृषा कपटपूर्वक भूठ और (१८) मिथ्यादर्शन शल्य के सेवन से जीव भारी होता है तथा चतुर्गतिक संसार में भ्रमण करता है और इन प्राणान्तिपात आदि १८ पापों की विरति-निवृत्ति से ही जीव संसार को घटाता है, अर्थात् हल्का होकर संसार-सागर को पार करता है ।”

“भगवन् ! भव्यपन अर्थात् मोक्ष की योग्यता, जीव में स्वभावतः होती है या परिणाम से ?” जयंती ने दूसरा प्रश्न पूछा ।

भगवान् ने इसके उत्तर में कहा—“मोक्ष पाने की योग्यता स्वभाव से होती है, परिणाम से नहीं ।”

१ भ., श. ६, उ. ३३, सू. ३८४

२ भगवती—श. ६, ३।६

(क) त्रिष., १०।८ श्लो. ३६

(ख) महावीर च., २ प्र. प. २६२

“क्या सब भव-सिद्धिक मोक्ष जाने वाले हैं ?” यह तीसरा प्रश्न जयंती ने किया ।

भगवान् ने उत्तर में कहा—हाँ, भव-सिद्धिक सब मोक्ष जाने वाले हैं ।”

जयन्ती ने चौथा प्रश्न किया—“भगवन् ! यदि सब भव-सिद्धिक जीवों की मुक्ति होना माना जाय तो क्या संसार कभी भव्य जीवों से खाली, शून्य हो जायेगा ?”

इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—“जयंती ! नहीं, जैसे सब आकाश की श्रेणी जो अन्य श्रेणियों से घिरी हो, एक परमाणु जितना खंड प्रति समय निकालते हुए अनन्त काल में भी खाली नहीं होती, वैसे ही भव-सिद्धिक जीवों में से निरन्तर मुक्त होते रहें, तब भी संसार के भव्य कभी खत्म नहीं होंगे, वे अनन्त हैं ।”

टीकाकार ने एक अन्य उदाहरण भी यहाँ दिया है । यथा—मिट्टी में घड़े बनने की और अच्छे पाषाण में मूर्ति बनने की योग्यता है, फिर भी कभी ऐसा नहीं हो सकता कि सबके घड़े और मूर्तियां बन जायं और पीछे वैसे मिट्टी और पाषाण न रहें । बीज में पकने की योग्यता है फिर भी कभी ऐसा नहीं होता कि कोई भी बीज सीधे बिना न रहे । वैसे ही भव्यों के बारे में भी समझना चाहिए ।

जयन्ती ने जीवन से सम्बन्धित कुछ और प्रश्न किये जो इस प्रकार हैं :-

“भगवन् ! जीव सोता हुआ अच्छा या जगता हुआ अच्छा ?”

इस पर भगवान् ने कहा—“कुछ जीव सोये हुए अच्छे और कुछ जागते अच्छे । जो लोग अधर्म के प्रेमी, अधर्म के प्रचारक और अधर्माचरण में ही रंगे रहते हैं, उनका सोया रहना अच्छा । वे सोने की स्थिति में बहुत से प्राणभूत जीव और सत्वों के लिए शोक एवं परिताप के कारण नहीं बनते । उनके द्वारा स्व-पर की अधर्मवृत्ति नहीं बढ़ पाती, अतः उनका सोना ही अच्छा है । किन्तु जो जीव धार्मिक, धर्मानुसारी और धर्मयुक्त विचार, प्रचार एवं आचार में रत रहने वाले हैं, उनका जगना अच्छा है । ऐसे लोग जगते हुए किसी के दुःख और परिताप के कारण नहीं होते । उनका जगना स्व-पर को सत्कार्य में लगाने का कारण होता है ।”

इसी प्रकार सबल-निर्बल और दक्ष एवं आलसी के प्रश्नों पर भी अधिकारी भेद से अच्छा और बुरा बताया गया । इससे प्रमाणित हुआ कि शक्ति, सम्पत्ति और साधनों का अच्छापन एवं बुरापन सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर है ।

भगवान् के युक्तियुक्त उत्तरों से संतुष्ट होकर उपासिका जयन्ती ने भी संयम-ग्रहण कर आत्म-कल्याण कर लिया ।<sup>१</sup>

### भगवान् का विहार और उपकार

कोशाम्बी से विहार कर भगवान् श्रावस्ती आए । यहाँ 'सुमनोभद्र' और 'सुप्रतिष्ठ' ने दीक्षा ग्रहण की । वर्षों संयम का पालन कर अन्त समय में 'सुमनो-भद्र' ने 'राजगृह' के विपुलाचल पर अनशनपूर्वक मुक्ति प्राप्ति की । इसी प्रकार सुप्रतिष्ठित मुनि ने भी सत्ताईस वर्ष संयम का पालन कर विपुलगिरि पर सिद्धि प्राप्त की ।<sup>२</sup>

तदनन्तर विचरते हुए प्रभु 'वाणियगाँव' पधारे और 'आनन्द' गाथापति को प्रतिबोध देकर उन्हें श्रावक-धर्म में दीक्षित किया । फिर इस वर्ष का वर्षावास 'वाणियग्राम' में ही पूर्ण किया ।

### केवलीचर्या का चतुर्थ वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होने पर भगवान् ने वाणियग्राम से मगध की ओर विहार किया । ग्रामानुग्राम उपदेश करते हुए प्रभु राजगृह के 'गुण शील' चैत्य में पधारे । प्रभु ने वहाँ के जिज्ञासुजनों को शालि आदि धान्यों को यौनि एवं उनकी स्थिति-अवधि का परिचय दिया । वहाँ के प्रमुख श्रेष्ठी 'गोभद्र' के पुत्र शालिभद्र ने भगवान् का उपदेश सुनकर ३२ रमणियों और भव्य भोगों को छोड़कर दीक्षा ग्रहण की ।

### शालिभद्र का वंशज

कहा जाता है कि शालिभद्र के पिता 'गोभद्र', जो प्रभु के पास दीक्षित होकर देवलीकवासी हुए थे<sup>३</sup> वे स्नेहवश स्वर्ग से शालिभद्र और अपनी पुत्र-वधुओं को नित नये वस्त्राभूषण एवं भोजन पहुँचाया करते थे । शालिभद्र की माता भद्रा भी इतनी उदारमना थी कि व्यापारी से जिन रत्न-कम्बलों को राजा श्रेणिक भी नहीं खरीद सके, नगरी का गौरव रखने हेतु वे सारी रत्न-कम्बलों उन्होंने खरीद लीं और उनके टुकड़े कर, वधुओं को पैर पोंछने को दे दिये ।

भद्रा के वैभव और औदार्य से महाराज श्रेणिक भी दंग थे । शालिभद्र के घर का आमन्त्रण पाकर जब राजा वहाँ पहुँचा, तो उसके ऐश्वर्य को देखकर चकित हो गया । राज-दर्शन के लिये भद्रा ने जब शालिभद्र कुमार को बुलाया

१ अग., अ. १२, उ. २, सू. ४४३ ।

२ अंत० अणुत्तरो, एन. बी. वैद्य सम्पादित ।

३ त्रि० श० पु०, १६ प०, १० स०, ८४ श्लो०

(अ) उ० माला, पा० २० भरतेश्वर बाहुबलिवृत्ति ।

तो वह अपने अलबेलेपन में बोला—“माता ! मेरे आने की क्या जरूरत है, जो भी मूल्य हो, देकर भंडार में रख लो ।” इस पर भद्रा बोली—“पुत्र ! कोई किराणा नहीं, यह तो अपना नाथ है, आओ, शीघ्र दर्शन करके चले जाना ।” नाथ शब्द सुनते ही शालिभद्र चौंका और सोचने लगा—“अहो, मेरे ऊपर भी कोई नाथ है । अवश्य ही मेरी करणी में कसर है । अब ऐसी करणी करूँ कि सदा के लिये यह पराधीनता छूट जाय ।”

शालिभद्र माता के परामर्शानुसार धीरे-धीरे त्याग की साधना करने लगा और इसके लिये उसने प्रतिदिन एक-एक स्त्री छोड़ने की प्रतिज्ञा की । धन्ना सेठ को जब शालिभद्र की बहिन सुभद्रा से पता चला कि उसका भाई एक-एक स्त्री प्रतिदिन छोड़ते हुए दीक्षित होना चाहता है, तो उसने कहा, छोड़ना है तो एक-एक क्या छोड़ता है ? यह तो कायरपन है । सुभद्रा अपने भाई की न्यूनता-कमजोरी की बात सुनकर बोल उठी—“पतिदेव ! कहना जितना सरल है, उतना करना नहीं ।” बस, इतना सुनते ही चाबुक की मार खाये उच्च जातीय अश्व की तरह धन्ना स्नान-पीठ से उठ बैठे । नारियों का अनुनय विनय सब व्यर्थ रहा, उन्होंने तत्काल जाकर शालिभद्र को साथ लिया और साला-बहनोई दोनों भगवान् के चरणों में दीक्षित हो गये । विभिन्न प्रकार की तपःसाधना करते हुए अन्त में दोनों ने ‘वैभार गिरि’ पर अनशन करके काल प्राप्त किया और सर्वार्थ सिद्ध विमान में उत्पन्न हुए ।<sup>१</sup>

इस प्रकार सहस्रों नर-नारियों को चारित्र्य-धर्म की शिक्षा-दीक्षा देते हुए प्रभु ने इस वर्ष का वर्षावास राजगृह में पूर्ण किया ।

### केवलीचर्या का पंचम वर्ष

राजगृह का वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् ने चम्पा की ओर विहार किया और ‘पूर्णाभद्र यक्षायतन’ में विराजमान हुए । भगवान् के आगमन की बात सुन कर नगर का अधिपति महाराज ‘दत्त’ सपरिवार वन्दन को आया । भगवान् की अमोघ देशना सुनकर राजकुमार ‘महाचन्द्र’ प्रतिबुद्ध हुआ । उसने प्रथम श्रावकधर्म ग्रहण किया और कुछ काल पश्चात् भगवान् के पुनः पधारने पर राज-श्रद्धि और पाँच सौ रानियों को त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली ।<sup>२</sup>

### संकटकाल में भी कल्पपरक्षार्थ कल्पनोद्यतक का परित्याग

कुछ समय के पश्चात् भगवान् चम्पा से ‘वीतभया’ नगरी की ओर पधारे । वहाँ का राजा ‘उद्रायण’ जो व्रती श्रावक था, पौषधशाला में बैठकर

१ त्रि० श०, १० प० १० स०, श्लो० १४६ से १८१ ।

२ विपाक सू०, २ श्रु० ६ अध्याय ।

धर्म-जागरण किया करता था। उद्रायण के मनोगत भावों को जानकर भगवान् ने 'वीतभय' नगर की ओर प्रस्थान किया। गर्मी के कारण मार्ग में साधुओं को बड़े कष्ट भेलेने पड़े। कोसों दूर-दूर तक बस्ती का अभाव था। जब भगवान् भूखे-प्यासे शिष्यों के संग विहार कर रहे थे, तब उनको तिलों से लदी गाड़ियाँ नजर आयीं। साधु-समुदाय को देखकर गाड़ी वालों ने कहा—“इनको खाकर क्षुधा शान्त कर लीजिये।” पर भगवान् ने साधुओं को लेने की अनुमति नहीं दी। भगवान् को ज्ञात था कि तिल अचित्त हो चुके हैं। पास के हृद का पानी भी अचित्त था फिर भी भगवान् ने साधुओं को उससे प्यास मिटाने की अनुमति नहीं दी। कारण कि स्थिति क्षय से निर्जीव बने हुए धान्य और जल को सहज स्थिति में लिया जाने लगा तो कालान्तर में अग्राह्य-ग्रहण में भी प्रवृत्ति होने लगेगी और इस प्रकार मुनि धर्म की व्यवस्था में नियन्त्रण नहीं रहेगा। अतः छद्मस्थ के लिए कहा है कि निश्चय में निर्दोष होने पर भी लोकविरुद्ध वस्तु का ग्रहण नहीं करना चाहिये।<sup>१</sup> वीतभय नगरी में भगवान् के विराजने के समय वहाँ के राजा उद्रायण ने प्रभु की सेवा का लाभ लिया और कइयों ने त्यागमार्ग ग्रहण किया। फिर वहाँ से विहार कर भगवान् वाणियग्राम पधारे और यहीं पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

### केवलीचर्या का छठा वर्ष

वाणियग्राम में वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् वाराणसी की ओर पधारे और वहाँ के 'कोष्ठक चैत्य' में विराजमान हुए। भगवान् का आगमन सुनकर महाराज जितशत्रु वन्दन करने आये। भगवान् ने उपस्थित जन-समुदाय को धर्म-देशना फरमाई। उपदेश से प्रभावित होकर चूत्लिनी-पिता, उनकी भार्या श्यामा तथा सुरादेव और उसकी पत्नी धन्या ने भी श्रावक-धर्म ग्रहण किया, जो कि भगवान् के प्रमुख श्रावकों में गिने जाते हैं। इस तरह प्रभु के उपदेशों से उस समय के समाज का अत्यधिक उपकार हुआ।

वाराणसी से भगवान् 'आलंभिया' पधारे और 'शंखनाद' उद्यान में शिष्य-मंडली सहित विराजमान हुए। भगवान् के पधारने की बात सुनकर आलंभिया के राजा जितशत्रु भी वन्दन के लिए प्रभु की सेवा में आये।

### पुद्गल परिव्राजक का बोध

शंखवन उद्यान के पास ही 'पुद्गल' नाम के परिव्राजक का स्थान था। वह वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों का विशिष्ट ज्ञाता था। निरन्तर छट्ठ-छट्ठ की तपस्या से आतापना लेते हुए उसने विभंग ज्ञान प्राप्त किया, जिससे वह ब्रह्मलोक तक की देवस्थिति जानने लगा।

१ बृहत्कल्प भा० बृ० भा० २, गा० ६६७ से ६६६, पृ० ३१४-१५।



एक बार अज्ञानता के कारण उसके मन में विचार हुआ कि देवों की स्थिति अर्धन्य दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट दश सागर की है। इससे आगे न देव हैं और न उनकी स्थिति ही। उसने घूम-घूम कर सर्वत्र इस बात का प्रचार किया। फलतः भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए गौतम ने भी सहज में यह चर्चा सुनी। उन्होंने भगवान् के चरणों में आकर पूछा तो प्रभु ने कहा—“गौतम ! यह कहना ठीक नहीं। दोनों की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर तक है।” पुद्गल ने कर्ण-परम्परा से भगवान् का निर्णय सुना तो वह शक्ति हुआ और महावीर के पास पूछने को आ पहुँचा। वह महावीर की देशना सुन कर प्रसन्न हुआ। भक्तिपूर्वक प्रभु की सेवा में दीक्षित होकर उसने तप-संयम की आराधना करते हुए मुक्ति प्राप्त की।<sup>१</sup> इसी विहार में ‘चुलशतक’ ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

आलंभिया से विभिन्न स्थानों में विहार करते हुए भगवान् राजगृह पधारे और वहाँ ‘मंकाई’, ‘किकत’, अर्जुनमाली एवं काश्यप को मुनि-धर्म की दीक्षा प्रदान की। गाथापति ‘वरदत्त’ ने भी यहीं संयम ग्रहण किया और बारह वर्ष तक संयमधर्म की पालना कर, मुक्ति प्राप्त की।<sup>२</sup> इस वर्ष प्रभु का वर्षावास भी राजगृह में व्यतीत हुआ। ‘नंदन’ मणिकार ने इसी वर्ष श्रावक-धर्म ग्रहण किया।

### केवलीचर्या का सातवाँ वर्ष

वर्षाकाल के बीतने पर भी भगवान् अवसर जानकर राजगृह में विराजे रहे। एक बार श्रेणिक भगवान् के पास बैठा था कि उस समय कोढ़ी के रूप में एक देव भी वहाँ उपस्थित हुआ। भगवान् को छोँक आई तो उसने कहा—“जल्दी मरो।” और जब श्रेणिक को छोँक आई तो उसने कहा—“बिचकाल तक जीयो।” अभय छोँका तो वह बोला—“जीवो या मरो।” ‘कालशीकरिक’ के छोँकने पर उसने कहा—“न जीओ न मरो।” इस तरह कोढ़ी रूप देव ने भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के छोँकने पर भिन्न-भिन्न शब्द कहे। भगवान् के लिए ‘मरो’ कहने से महाराज श्रेणिक हष्ट हुए। उनकी सुखाकृति बदलते ही रोवक पुरुष उस कोढ़ी को मारने उठे किन्तु तब तक वह अदृश्य हो गया।

दूसरे दिन श्रेणिक ने उस कोढ़ी एवं उसके कहे हुए शब्दों के बारे में भगवान् से पूछा तो प्रभु ने फरमाया—“राजन् ! वह कोई कोढ़ी नहीं, देव था। मुझे मरने को कहा, इसका अर्थ जल्दी मोक्ष जा, ऐसा है। तुम जीते हो तब तक सुख है, फिर नर्क में दुःख भोगना होगा, इसलिए तुम्हें कहा—खूब जीओ। अभय का जीवन और मरण दोनों अच्छे हैं और कालशीकरिक के दोनों

१ भतवती शतक ११, उ० १२, सू० ४३६।

२ अंत कृतदशासूत्र, ६।६, ४, १। पृ. १०४-१०५। (जयपुर)

बुरे, उसके लिए न जीने में लाभ और न मरने में सुख, अतः कहा—न जीओ, न मरो ।”<sup>१</sup>

यह सुनकर श्रेणिक ने पूछा—“भगवन् ! मैं किस उपाय से नारकीय दुःख से बच सकता हूँ, यह फरमायें ।” इस पर प्रभु ने कहा—“यदि काल-शौकरिक से हत्या छुड़वा दे या ‘कपिला’ ब्राह्मणी दान दो तो तुम नरक गति से छूट सकते हो ।” श्रेणिक ने भरसक प्रयत्न किया, पर न तो कसाई ने हत्या छोड़ी और न ‘कपिला’ ने ही दान देना स्वीकार किया । इससे श्रेणिक बड़ा दुःखी हुआ, किन्तु प्रभु ने कहा—“चिन्ता मत कर, तू भविष्य में तीर्थंकर होगा ।”<sup>२</sup>

समय पाकर राजा श्रेणिक ने यह घोषणा करवाई—“जो कोई भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण करेगा, मैं उसे यथोचित सहयोग दूँगा, पीछे के परिवार की सँभाल करूँगा ।”<sup>३</sup> घोषणा से प्रभावित हो अनेक नागरिकों के साथ— [१] जालि, [२] मयालि, [३] उपालि, [४] पुरुषसेन, [५] वारिषेण, [६] दीर्घदंत, [७] लष्टदंत, [८] बेहल्ल, [९] बेहास, [१०] अभय, [११] दीर्घसेन, [१२] महासेन, [१३] लष्टदंत, [१४] गूढदंत, [१५] शुद्धदंत, [१६] हल्ल, [१७] द्रुम, [१८] द्रुमसेन, [१९] महाद्रुमसेन, [२०] सिंह, [२१] सिंहसेन, [२२] महासिंहसेन और [२३] पूर्णसेन इन तेईस<sup>४</sup> राजकुमारों ने तथा [१] नंदा, [२] नंदमती, [३] नंदोत्तरा, [४] नंदिसेणिया, [५] मरुया, [६] सुमरिया, [७] महामरुता, [८] मरुदेवा, [९] भद्रा, [१०] सुभद्रा, [११] सुजाता, [१२] सुमना और [१३] भूतदत्ता, इन तेरह रानियों ने दीक्षित होकर भगवान् के संघ में प्रवेश किया ।<sup>५</sup> आर्द्रक मुनि भी भगवान् को वन्दन करने यहीं आये । इस प्रकार इस वर्ष प्रभु ने अनेक उपकार किये । सहस्रों लोगों को सत्पथ पर लगाया और इस वर्ष का चातुर्मास भी राजगृह में व्यतीत किया ।

### केवलीचर्या का आठवाँ वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् कुछ दिन तक राजगृह में विराजकर भगवान् आलंभिया<sup>१</sup> नगरी में ऋषिभद्रपुत्र श्रावक के उत्कृष्ट व जघन्य देवायुष्य सम्बन्धी विचारों का समर्थन करते हुए कौशाम्बी पधारे और ‘मृगावती’ को संकटमुक्त किया । क्योंकि मृगावती के रूपलावण्य पर मुग्ध हो चण्डप्रद्योत उसे अपनी

१ आवास्यक चू०, उत्तर०, पृ० १६६ ।

२ महावीर चरियं, गुणचन्द्र, पत्र ३३४ ।

३ अणुत्तरोववाई ।

४ अंतगढ़ ।

५ २३-१३ सा० ।

रानी बनाने के लिए कौशाम्बी के चारों ओर घेरा डाले हुए था। उदयन की लघु वय होने के कारण उस समय चण्डप्रद्योत को भुलावे में डाल कर रानी मृगावती ही राज्य का संचालन कर रही थी। भगवान् के पधारने की बात सुन कर वह वन्दन करने गई तथा त्याग-विरागपूर्ण उपदेश सुन कर प्रव्रज्या लेने का उत्सुक हुई और बोली—“भगवन् ! चण्डप्रद्योत की आज्ञा ले कर मैं श्री चरणाँ में प्रव्रज्या लेना चाहती हूँ।” उसने वहीं पर चण्डप्रद्योत से जा कर अनुमति के लिए कहा। प्रद्योत भी सभा में लज्जावश मना नहीं कर सका<sup>१</sup> और उसने अनुमति प्रदान कर सत्कारपूर्वक मृगावती को भगवान् की सेवा में प्रव्रज्या प्रदान करवा दी। भगवत् कृपा से मृगावती पर आया हुआ शील-संकट सदा के लिए टल गया। इस वर्ष भगवान् का वर्षावास वैशाली में व्यतीत हुआ।

### केवलीचर्या का नवम वर्ष

वैशाली का वर्षावास पूर्ण कर भगवान् मिथिला होते हुए ‘काकंदी’ पधारे और सहस्रात्र उद्यान में विराजमान हुए। भगवान् के आगमन का समाचार सुन कर राजा जितशत्रु भी सेवा में वन्दन करने गया। ‘भद्रा’ सार्थवाहिनी का पुत्र धन्यकुमार भी प्रभु की सेवा में पहुँचा। प्रभु का उपदेश सुन कर काकंदी का धन्यकुमार बड़ा प्रभावित हुआ और माता की अनुमति ले कर विशाल वैभव एवं ३२ कुलीन सुन्दर भार्याओं को छोड़ कर भगवान् के चरणाँ में दीक्षित हो गया।

राजा जितशत्रु इतने धर्म प्रेमी थे कि उन्होंने यह घोषणा करवा दी—“जो लोग जन्म-मरण का बन्धन काटने हेतु भगवान् महावीर के पास दीक्षित होना चाहते हों, वे प्रसन्नता से दीक्षा ग्रहण करें, मैं उनके सम्बन्धियों के योग-क्षेम का भार अपने ऊपर लेता हूँ।” महाराज जितशत्रु ने बड़ी धूम-धाम से धन्यकुमार की दीक्षा करवाई। दीक्षित हो कर धन्यकुमार ने स्थविरों के पास ग्यारह अंगों का अध्ययन किया।

धन्यकुमार ने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन से प्रभु की अनुमति पा कर उसने प्रतिज्ञा की—“मुझे आजीवन छट्ठ-छट्ठ की तपस्या करते हुए विचरना, दो दिन के छट्ठ तप के पारणों में भी आयविल करना एवं उज्ज्वल भोजन ग्रहण करना है।” इस प्रकार की घोर तपश्चर्या करते हुए उनका शरीर सूख कर हड्डियों का ढाँचा मात्र शेष रह गया, फिर भी वे मन में किञ्चिन्मात्र भी खिन्न नहीं हुए। उनके अध्यवसाय इतने उच्च थे कि भगवान् महावीर ने चौदह हजार साधुओं में धन्यकुमार मुनि को सबसे बड़ कर दुष्कर करणी करने वाला बतलाया और श्रेष्ठिक के सम्मुख उनकी प्रशंसा की। नव मास की साधु-

१ भाव० नू०, प्र० १, पृ० ६१।

पर्याय में धन्य मुनि ने अनशनपूर्वक देहत्याग किया और वे सर्वार्थसिद्ध विमान में देव रूप से उत्पन्न हुए ।<sup>१</sup>

‘सुनक्षत्रकुमार’ भी इसी प्रकार भगवान् के पास दीक्षित हुए और अनशन कर सर्वार्थसिद्ध में उत्पन्न हुए ।

काकंदी से विहार कर भगवान् कपिलपुर, पोलासपुर होते हुए वाणिज्य-ग्राम पधारे । कपिलपुर में कुंडकौलिक ने श्रावकधर्म ग्रहण किया और पोलास-पुर में सहालपुत्र ने बारह व्रत स्वीकार किये । इनका विस्तृत विवरण उपासक दशा सूत्र में उपलब्ध होता है । वाणिज्यग्राम भगवान् विहार कर वैशाली पधारे और इस वर्ष का वर्षावास भी वैशाली में पूर्ण किया ।

### केवलीचर्या का दशम वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् भगवान् मगध की ओर विहार करते हुए राजगृह पहुँचे । वहाँ भगवान् के उपदेश से प्रभावित हो कर ‘महाशतक’ गाथापति ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया । पार्श्वचित्य स्थविर भी यहाँ पर भगवान् के सम-वशरण में आये और भगवान् महावीर से अपनी शंका का समाधान पा कर सन्तुष्ट हुए । उन्होंने महावीर को सर्वज्ञ माना और उनकी वन्दना की एवं चतुर्थाभिधर्म से पंचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर विचरने लगे ।<sup>२</sup>

उस समय रोहक मुनि ने भगवान् से लोक के विषय में कुछ प्रश्न किये जो उत्तर सहित इस प्रकार हैं :—

(१) लोक और अलोक में पहले पीछे कौन है ?

भगवान् ने कहा—“अपेक्षा से दोनों पहले भी हैं और पीछे भी हैं । इनमें कोई नियत क्रम नहीं है ।

(२) जीव पहले है या अजीव पहले ?

भगवान् ने फरमाया—“लोक और अलोक की तरह जीव और अजीव तथा भवसिद्धिक-अभवसिद्धिक और सिद्ध व असिद्ध में भी पहले पीछे का कोई नियत क्रम नहीं है ।”

(३) संसार के आदिकाल की दृष्टि से रोहक ने पूछा—“प्रभो ! अंडा पहले हुआ या मुर्गी पहले ?”

१ अणुत्तरो०, ३।१० ।

२ भग० श० ५, उ० ६ ।

भगवान् ने कहा—“अंडा किससे उत्पन्न हुआ ? मुर्गी से । मुर्गी कहां से आई ? तो कहना होगा अंडे से उत्पन्न हुई । इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि कौन पहले और कौन पीछे । इनमें शाश्वतभाव है, यह अनादि परम्परा है अतः पहले पीछे का क्रम नहीं कह सकते ।” इस प्रकार भगवान् ने रोहक की अन्य शंकाओं का भी उचित समाधान किया ।<sup>१</sup>

इसी प्रसंग में अधिक स्पष्टीकरण के लिए गौतम ने लोक की स्थिति के बारे में पूछा—“भगवन् ! संसार और पृथ्वी किस पर ठहरी हुई है, इस विषय में विविध कल्पनाएँ प्रचलित हैं, कोई पृथ्वी को शेषनाग पर ठहरी हुई कहता है तो कोई वराह के पृष्ठ पर ठहरी हुई बतलाते हैं । वस्तुस्थिति क्या है, कृपया स्पष्ट कीजिये ।”

महावीर ने कहा—“गौतम ! लोक की स्थिति और व्यवस्था आठ प्रकार की है, जो इस प्रकार है—

- (१) आकाश पर वायु है ।
- (२) वायु के आधार पर पानी है ।
- (३) पानी पर पृथ्वी टिकी हुई है ।
- (४) पृथ्वी के आधार से त्रस-स्थावर जीव हैं ।
- (५) अजीव जीव के आश्रित हैं ।
- (६) जीव कर्म के आधार से विविध पर्यायों में प्रतिष्ठित हैं ।
- (७) मन-भाषा आदि के अजीव पुद्गल जीवों द्वारा संगृहीत हैं ।
- (८) जीव कर्म द्वारा संगृहीत हैं ।

इसको समझाने के लिए भगवान् ने एक दृष्टान्त बतलाया, जैसे किसी मशक को हवा से भरकर मुँह बन्द कर दिया जाय और फिर बीच से बाँधकर मुँह खोल दिया जाय तो ऊपर खाली हो जायेगी । उसमें पानी भरकर मशक खोल दी जाय तो पानी ऊपर ही तैरता रहेगा । इसी प्रकार हवा के आधार पर पानी समझना चाहिये ।

हवा से मशक को भरकर कोई अपनी कमर में बाँधे और जलाशय में घुसे तो वह ऊपर तैरता रहेगा । इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध भी पानी में गिरी हुई सछिद्र नौका जैसा बतलाया । जिस तरह नौका के बाहर-भीतर पानी है, वैसे ही जीव और पुद्गल परस्पर बँधे हुए हैं ।<sup>१</sup>

१ (क) यथा नीश्च ह्रदोदकं चान्योन्यावगाहेन वर्तते एवं जीवश्च पुद्गलाश्चेति भावना ।

—भगवती श०, १।६।सू० ५५ । टीका ।

(ख) भगवती सूत्र, २।१।सू० ५५ ।

इस प्रकार ज्ञान की गंगा बहाते हुए भगवान् ने यह चातुर्मास राजगृह में पूर्ण किया ।

### केवलीचर्या का ग्यारहवाँ वर्ष

भगवान् महावीर की देशना में जो विश्वमैत्री और त्याग-तप की भावना थी, उससे प्रभावित होकर वेद परम्परा के अनेक परिव्राजकों ने भी प्रभु का शिष्यत्व स्वीकार किया । राजगृह से विहार कर जब प्रभु 'कृतंगला-कयंगला' नगरी पधारे तो वहाँ के 'छत्रपलाश' उद्यान में समवशरण हुआ ।

उस समय कयंगला के निकट श्रावस्ती नगर में "स्कंदक" नाम का परिव्राजक रहता था जो कात्यायन गोत्रीय 'गर्दभाल' का शिष्य था । वह वेद-वेदांग का विशेषज्ञ था । वहाँ एक समय पिंगल नाम के एक निर्भ्रंश से उसकी भेंट हुई । स्कंदक के आवास की ओर से निकलते हुए पिंगल ने स्कंदक से पूछा—“हे मागध ! लोक अन्त वाला है या अन्तरहित ? इसी प्रकार जीव, सिद्धि और सिद्ध अंत वाले हैं या अन्तरहित ? और किस मरण से मरता हुआ जीव घटता अथवा बढ़ता है ? इन चार प्रश्नों का उत्तर दो ।”

स्कंदक बहुत बार सोच कर भी निर्णय नहीं कर सका कि उत्तर क्या दिया जाय ? वह शंकित हो गया । उस समय उसने 'छत्रपलाश' में भगवान् के पधारने की बात सुनी तो उसने विचार किया कि क्यों नहीं भगवान् महावीर के पास जाकर हम शंकाओं का निराकरण कर लें । वह मठ में आया और त्रिदंड, कुंडिका, गेरुआं वस्त्र आदि धारण कर कयंगला की ओर चल पड़ा ।

उधर महावीर ने गौतम को सम्बोधन कर कहा—“गौतम ! आज तुम अपने पूर्व-परिचित को देखोगे ।”

गौतम ने प्रभु से पूछा—“भगवन् ! वह कौन पूर्व-परिचित है, जिसे मैं देखूँगा ।”

प्रभु ने स्कंदक परिव्राजक का परिचय दिया और बतलाया कि वह थोड़े ही समय बाद यहाँ आने वाला है ।

गौतम ने जिज्ञासा की—“भगवन् ! क्या वह आपके पास शिष्यत्व ग्रहण करेगा ?”

महावीर बोले—“हाँ गौतम ! स्कंदक निश्चय ही मेरा शिष्यत्व स्वीकार करने वाला है ।”

### स्कंदक के प्रश्नोत्तर

गौतम और महावीर स्वामी के बीच इस प्रकार वार्तालाप हो ही रहा

था कि परिव्राजक स्कन्दक भी आ पहुँचा। गौतम ने स्वागत करते हुए पूछा—  
“स्कन्दक ! क्या यह सच है कि पिगल नियंठ ने तुमसे कुछ प्रश्न पूछे और उनके उत्तर नहीं दे सकने से तुम यहाँ आये हो ?”

गौतम की बात सुनकर स्कन्दक बड़ा चकित हुआ और बोला—“गौतम !  
ऐसा कौन जानी है, जिसने हमारी गुप्त बात तुम्हें बतला दी ?”

गौतम ने भगवान् की सर्वज्ञता की महिमा बतलाई। स्कन्दक परिव्राजक ने  
बड़ी श्रद्धा से भगवान् को वन्दन कर अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की।

भगवान् ने लोक के विषय में कहा—“स्कन्दक ! लोक चार प्रकार का है,  
द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक। द्रव्य से लोक एक और सान्त है,  
क्षेत्र से लोक असंख्य कोटिकोटि योजन का है, वह भी सान्त है। काल से लोक  
की कभी आदि नहीं और अन्त भी नहीं। भाव से लोक वर्णादि अनन्त-अनन्त  
पर्यायों का भंडार है, इसलिये वह अनन्त है। इस प्रकार लोक सान्त भी है और  
वर्णादि पर्यायों का अन्त नहीं होने से अनन्त भी है।

जीव, सिद्धि और सिद्ध भी इसी तरह द्रव्य से एक और अन्त वस्ते हैं।  
क्षेत्र से सीमित क्षेत्र में हैं, अतः सान्त हैं। काल एवं भाव से कभी जीव या सिद्ध  
नहीं था, ऐसा नहीं है और अनन्त-अनन्त पर्यायों के आधार हैं, अतः अनन्त हैं।

मरण विषय में पूछे गये प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—बाल-मरण और  
पण्डित-मरण के रूप में मरण दो प्रकार का है। बाल-मरण से संसार बढ़ता है  
और पण्डित के ज्ञानपूर्वक समाधि-मरण से संसार घटता है। बाल-मरण के  
बारह प्रकार हैं। क्रोध, लोभ या मोहादि भाव में अज्ञानपूर्वक असमाधि से मरना  
बाल-मरण है।”<sup>१</sup>

उपर्युक्त रीति से समाधान पाकर स्कन्दक ने प्रभु के चरणों में प्रव्रजित  
होने की अपनी इच्छा एवं आस्था प्रकट की। स्कन्दक को योग्य जानकर भगवान्  
ने भी प्रव्रज्या प्रदान की तथा श्रमण-जीवन की चर्या से अवगत किया।

दीक्षा ग्रहण कर स्कन्दक मुनि बन गया। उसने बारह वर्ष तक साधु-धर्म  
का पालन किया और भिक्षु प्रतिमा व गुण-रत्न-संवत्सर आदि विविध तपों से  
आत्मा को भावित कर अंत में ‘विपुलाचल’ पर समाधिपूर्वक देह-त्याग किया।

कयंगला से सावस्थी होते हुए प्रभु ‘वाणिय ग्राम’ पधारे और वर्षा काल  
यहीं पर पूर्ण किया।





उपस्थित जनों को धर्म देशना दी । देशना से प्रभावित हो अनेक गृहस्थों ने मुनि धर्म अंगीकार किया । उनमें श्रेणिक के पद्म १, महापद्म २, भद्र ३, सुभद्र ४, महाभद्र ५, पद्मसेन ६, पद्मगुल्म ७, नलिनीगुल्म ८, आनन्द ९ और नन्दन १०, ये दस पौत्र प्रमुख थे । इनके अतिरिक्त जिनपालित आदि ने भी श्रमणधर्म अंगीकार किया । यहीं पर पालित जैसे बड़े व्यापारी ने श्रावकधर्म स्वीकार किया था । इस वर्ष का चातुर्मास चम्पा में ही हुआ ।

### केवलीचर्या का चौदहवां वर्ष

चम्पा से भगवान् ने विदेह की ओर विहार किया । बीच में काकन्दी नगरी में गाथा-पति 'खेमक' और 'धृतिधर' ने प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार की । १६ वर्षों का संयम पाल कर दोनों विपुलाचल पर सिद्ध हुए । विहार करते हुए प्रभु मिथिला पधारे और वहीं पर वर्षाकाल पूर्ण किया ।

फिर वर्षाकाल के पश्चात् प्रभु विहारक्रम से अंगदेश होकर चम्पानगरी पधारे और 'पूर्णभद्र' नामक चैत्य में समवशरण किया । प्रभु के पधारने का समाचार पाकर नागरिक लोग और राजघराने की राजरानियां वन्दन करने को गईं । उस समय वैशाली में युद्ध चल रहा था । एक ओर १८ गणराज और दूसरी ओर कौणिक तथा उसके दस भाई अपने दल-बल सहित जूझ रहे थे ।

देशना समाप्त होने पर काली आदि रानियों ने अपने पुत्रों के लिए भगवान् से जिज्ञासा की—“भगवन् ! हमारे पुत्र युद्ध में गए हैं । उनका क्या होगा ? वे कब तक कुशलपूर्वक लौटेंगे ?”

### काली आदि रानियों को बोध

उत्तर में भगवान् द्वारा पुत्रों का मरण सुनकर काली आदि रानियों को अपार दुःख हुआ । पर प्रभु के वचनों से संसार का विनश्वरशील स्वभाव समझ कर वे विरक्त हुईं और कौणिक की अनुमति से भगवान् के चरणों में दीक्षित हो गईं ।

आर्या चन्दना की सेवा में काली १, सुकाली २, महाकाली ३, कृष्णा ४, सुकृष्णा ५, महाकृष्णा ६, वीरकृष्णा ७, रामकृष्णा ८, पितृसेनकृष्णा ९ और महासेनकृष्णा १०, इन सबने दीक्षित होकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया । आर्या चन्दना की अनुमति से काली ने रत्नावली, सुकाली ने कनकावली, महा-

१ निरयावसिका २

२ निरयावसिका, अध्ययन १

काली ने लघुसिंह निष्क्रीडित, कृष्णा ने महासिंह-निष्क्रीडित, सुकृष्णा ने सप्त-सप्तति भिक्षु प्रतिमा, महाकृष्णा ने लघुसर्वतोभद्र, वीरकृष्णा ने महासर्वतोभद्र तप, रामकृष्णा ने भद्रोत्तर प्रतिमा और महासेनकृष्णा ने आर्यबिल-वर्धमान तप किया। अन्त में अनशनपूर्वक समाधिभाव से काल कर सब ने सब दुःखों का अन्त कर निर्वाण प्राप्त किया।<sup>१</sup>

कुछ काल तक चम्पा में ठहरकर भगवान् फिर मिथिला नगरी पधारे और वहीं पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

### केवलीचर्या का पन्द्रहवाँ वर्ष

फिर चातुर्मास समाप्त कर प्रभु ने वैशाली के पास होकर श्रावस्ती की ओर विहार किया। कौणिक के भाई हल्ल, वेहल्ल, जिनके कारण वैशाली में युद्ध हो रहा था, किसी तरह वहाँ से भगवान् के पास आ पहुँचे और प्रभु चरणों में श्रमण<sup>२</sup> धर्म की दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण एवं आत्मोद्धार में निरत हुए।

श्रावस्ती पहुँचकर भगवान् 'कोष्ठक' चैत्य में विराजमान हुए। मंखलि-पुत्र गोशालक भी उन दिनों श्रावस्ती में ही था। भगवान् महावीर से पृथक् होने के पश्चात् वह अधिकांश समय श्रावस्ती के आसपास ही घूमता रहा। श्रावस्ती में 'हालाहला' कुम्हारिन और अयंपुल गाथापति उसके प्रमुख भक्त थे। गोशालक जब कभी आता, हालाहला की भांडशाला में ठहरता। अब वह 'आजीवक' मत का प्रचारक बनकर अपने को तीर्थंकर बतला रहा था। जब भिक्षार्थ घूमते हुए गौतम ने नगरी में यह जनप्रवाद सुना कि श्रावस्ती में दो तीर्थंकर विचर रहे हैं, एक श्रमण भगवान् महावीर और दूसरे मंखलि गोशालक, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने भगवान् के चरणों में पहुँचकर इसकी वास्तविकता जाननी चाही और भगवान् से पूछा—“प्रभो! यह कहाँ तक ठीक है?”

गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने गोशालक का प्रारम्भ से सम्पूर्ण परिचय प्रस्तुत करते हुए कहा—“गौतम! गोशालक जिन नहीं, पर जिनप्रलापी है।” नगर में सर्वत्र गौतम और महावीर के प्रश्नोत्तर की चर्चा थी।

### गोशालक का आनन्द मुनि को भयभीत करना

मंखलिपुत्र गोशालक, जो उस समय नगर के बाहर आतापना ले रहा था,

१ अंतगढ़ सूत्र, सप्तम व अष्टमवर्ग।

२ (क) तेवि कुमारस सामिस्स सीसत्ति वोसिरन्ति, देवताए हरिता।

[भाव. नि. जिनदास, दूसरा भाग, पृ० १७४]

(ख) भरतेश्वर बाहुवली वृत्ति, पत्र १००

उसने जब लोगों से यह बात सुनी तो वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। क्रोध से जलता हुआ वह आतापना भूमि से 'हालाहला' कुम्हारिन की भांडशाला में आया और अपने आजीवक संघ के साथ क्रोधावेश में बात करने लगा। उस समय श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य आनन्द अनगार भिक्षाचार्या में घूमते हुए उधर से जा रहे थे। वे सरल और विनीत थे तथा निरन्तर छट्ट तप किया करते थे। गोशालक ने उन्हें देखा तो बोला—“आनन्द! इधर आ, जरा मेरी बात तो सुन।” आनन्द के पास आने पर गोशालक ने अपनी बात इस प्रकार कहनी आरम्भ की :—

“पुराने समय की बात है; कुछ व्यवसायी व्यापार के लिए अनेक प्रकार का किराना और विविध सामान गाड़ियों में भरकर यात्रा को जा रहे थे। मार्ग में ग्राम-रहित, निर्जल, दीर्घ अटवी में प्रविष्ट हुए। कुछ मार्ग पार करने पर उनका साथ में लाया हुआ पानी समाप्त हो गया। तृषा से आकुल लोग परस्पर सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिए। उनके सामने बड़ी विकट समस्या थी। वे चारों ओर पानी की गवेषणा करते हुए एक घने जंगल में जा पहुँचे। वहाँ एक विशाल वल्मीक था। उसके चार ऊँचे-ऊँचे शिखर थे। प्यास-पीड़ित लोगों ने उनमें से एक शिखर को फोड़ा। उससे उन्हें स्वच्छ, शीतल, पाचक और उत्तम जल प्राप्त हुआ। प्रसन्न हो उन्होंने पानी पिया, बैलों को पिलाया और मार्ग के लिए बर्तनों में भरकर भी साथ ले लिया। फिर लोभ से दूसरा शिखर भी फोड़ा। उसमें उनको विशाल स्वर्ण-भंडार प्राप्त हुआ। उनका लोभ बढ़ा, उन्होंने तीसरा शिखर फोड़ डाला, उसमें मणि रत्न प्राप्त हुए। अब तो उन्हें और अधिक प्राप्त करने की इच्छा हुई और उन्होंने चौथा शिखर भी फोड़ने का विचार किया। उस समय उनमें एक अनुभवी और सर्वहितैषी वणिक था। वह बोला—“भाई! हमको चौथा शिखर नहीं फोड़ना चाहिए। हमारी आवश्यकता पूरी हो गई, अब चतुर्थ शिखर का फोड़ना कदाचित् दुःख और संकट का कारण बन जाय, अतः हमको इस लोभ का संवरण करना चाहिए।”

व्यापारियों ने उसकी बात नहीं मानकर चौथा शिखर भी फोड़ डाला। उसमें से महा भयंकर दृष्टिविष कृष्ण सर्प निकला। उसकी विषमय उग्र दृष्टि पड़ते ही सारे व्यापारी सामान सहित जलकर भस्म हो गये। केवल वह एक व्यापारी बचा जो चौथा शिखर फोड़ने को मना कर रहा था। उसको सामान सहित सर्प ने घर पहुँचाया।

आनन्द! तेरे धर्माचार्य और धर्मगुरु श्रमण भगवान् महावीर ने भी इसी तरह श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त की है। देव-मनुष्यों में उनकी प्रशंसा होती है किन्तु वे मेरे सम्बन्ध में यदि कुछ भी कहेंगे तो मैं अपने तेज से उनको व्यापा-

रियों की तरह भस्म कर दूंगा। अतः उनके पास जाकर तू यह बात सुना दे।”

### आनन्द मुनि का भ० से समाधान

गोशालक की बात सुनकर आनन्द सरलता के कारण बहुत भयभीत हुए और महावीर के पास आकर सारा वृत्तान्त उन्होंने कह सुनाया तथा पूछा—  
“क्या गोशालक तीर्थंकर को भस्म कर सकता है?”

महावीर ने कहा—“आनन्द ! गोशालक अपने तपस्तेज से किसी को भी एक बार में भस्म कर सकता है, परन्तु अरिहन्त भगवान् को नहीं जला सकता, कारण कि गोशालक में जितना तपस्तेज है, अनगार का उससे अनन्त गुना तेज है। अनगार क्षमा द्वारा उस क्रोध का निरोध करने में समर्थ है। अनगार के तपस्तेज से स्थविर का तप अनन्त गुना विशिष्ट है। सामान्य स्थविर के तप से अरिहन्त का तपोबल अनन्त गुना अधिक है क्योंकि उसकी क्षमा अनुल है, अतः कोई उनको नहीं जला सकता। हां, परिताप-कष्ट उत्पन्न कर सकता है। इसलिए तुम जाओ और गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थों से यह कह दो कि गोशालक इधर आ रहा है। इस समय वह द्वेषवश म्लेच्छ की तरह दुर्भाव में है। इसलिए उसकी बातों का कोई कुछ भी उत्तर न दे। यहां तक कि उसके साथ कोई धर्मचर्चा भी न करे और न धार्मिक प्रेरणा ही दे।”

### गोशालक का आगमन

आनन्द ने प्रभु का सन्देश सबको सुनाया ही था कि इतने में गोशालक अपने आजीवकसंघ के साथ महावीर के पास कोष्ठक उद्यान में आ पहुँचा। वह भगवान् से कुछ दूर हटकर खड़ा हो गया और थोड़ी देर के बाद बोला—  
“काश्यप ! तुम कहते हो कि मंखलिपुत्र गोशालक तुम्हारा शिष्य है। बात ठीक है। पर, तुमको पता नहीं कि वह तुम्हारा शिष्य मृत्यु प्राप्त कर देवलोक में देव हो चुका है। मैं मंखलिपुत्र गोशालक से भिन्न कौडिन्याग्रन गोत्रीय उदायी हूँ। गोशालक का शरीर मैंने इसलिए धारण किया है कि वह परीषह सहने में सक्षम है। यह मेरा सातवाँ शरीरान्तर प्रवेश है।”

“हमारे धर्म सिद्धान्त के अनुसार जो भी मोक्ष गए हैं, जाते हैं और जाएंगे, वे सब चौरासी लाख महाकल्प के उपरांत सात दिव्य संयूथ-निकाय, सात सन्निरुद्ध और सात प्रवृत्त परिहार करके पांच लाख साठ हजार छः सौ तीन (५६०६०३) कर्मियों का अनुक्रम से क्षय करके मोक्ष गए, जाते हैं और जाएंगे।”

महाकल्प का कालमान समझाने हेतु जैन सिद्धान्त के पत्य और सागर के

समान आजीवक मत में सर और महाकल्प का प्रमाण बतलाया है। एक लाख सत्तर हजार छः सौ उनचास (१७०६४६) गंगाओं का एक सर मानकर सौ-सौ वर्ष में एक-एक बालुका निकालते हुए जितने समय में सब खाली हो उसको एक सर माना है। वैसे तीन लाख सर खाली हों तब महाकल्प माना गया है।<sup>१</sup>

गोशालक ने प्रभु को पुनः सम्बोधित करते हुए कहा :—

“आर्य काश्यप ! मैंने कुमार की प्रव्रज्या में बालवय से ही ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने की इच्छा की और प्रव्रज्या स्वीकार की। मैंने निम्न प्रकार से सात प्रवृत्त-परिहार किए, यथा ऐंशेयक, मल्लाराम, मंडिक, रोहक, भारद्वाज, अर्जुन गीतम-पुत्र और गोशालक मंखलिपुत्र।”

“प्रथम शरीरान्तरप्रवेश राजगृह के बाहर मंडिकुक्षि चैत्य में उदायन कौडिन्यायन गोत्री के शरीर का त्यागकर ऐंशेयक के शरीर में किया। बाईस वर्ष वहां रहा। द्वितीय शरीरान्तरप्रवेश उद्दण्डपुर के बाहर चन्द्रावतरण चैत्य में ऐंशेयक के शरीर का त्याग कर मल्लाराम के शरीर में किया। २१ वर्ष तक उसमें रह कर चंपानगरी के बाहर अंग मन्दिर चैत्य में मल्लाराम का शरीर छोड़ कर मंडिक के देह में तीसरा शरीरान्तर प्रवेश किया। वहां बीस वर्ष तक रहा। फिर वाराणसी नगरी के बाहर काम महावन चैत्य में मंडिक के शरीर का त्याग कर रोहक के शरीर में चतुर्थ शरीरान्तर प्रवेश किया। वहां २६ वर्ष रहा। पाँचवें में आलंबिका नगरी के बाहर प्राप्त-काल चैत्य में रोहक का शरीर छोड़कर भारद्वाज के शरीर में प्रवेश किया। उसमें १८ वर्ष रहा। छठी बार वैशाली के बाहर कुडियायन चैत्य में भारद्वाज का शरीर छोड़कर गीतमपुत्र अर्जुन के शरीर में प्रवेश किया। वहां सत्रह वर्ष तक रहा। वहां से इस बार श्रावस्ती में हालाहला कुम्हारिन के कुंभकारापण में गीतमपुत्र का शरीर त्यागकर गोशालक के शरीर में प्रवेश किया। इस प्रकार आर्य काश्यप ! तुम मुझको अपना शिष्य मंखलिपुत्र बतलाते हो, क्या यह ठीक है ?”

गोशालक की बात सुन कर महावीर बोले—“गोशालक ! जैसे कोई चोर बचाव का साधन नहीं पाकर तृण की झाड़ में अपने को छिपाने की चेष्टा करता है, किन्तु वह उससे छिप नहीं सकता, फिर भी अपने को छिपा हुआ मानता है। उसी प्रकार तू भी अपने आपको शब्दजाल से छिपाने का प्रयास कर रहा है। तू गोशालक के सिवाय अन्य नहीं होते हुए भी अपने को अन्य बता रहा है, तेरा ऐसा कहना ठीक नहीं, तू ऐसा मत कह।”

भगवान् की बात सुनकर गोशालक अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और आक्रोशपूर्ण वचनों से गाली बोलने लगा। वह जोर-जोर से चिल्लाते हुए तिरस्कारपूर्ण

शब्दों में बोला—“काश्यप ! तुम आज ही नष्ट, विनष्ट व भ्रष्ट हो जाओगे । आज तुम्हारा जीवन नहीं रहेगा । अब मुझसे तुमको सुख नहीं मिलेगा ।”

### सर्वानुभूति के वचन से गोशालक का रोष

भगवान् महावीर वीतराग थे । उन्होंने गोशालक की तिरस्कारपूर्ण बात सुनकर भी रोष प्रकट नहीं किया । अन्य मुनि लोग भी भगवान् के सन्देश से चुप थे । पर भगवान् के एक शिष्य ‘सर्वानुभूति’ अनगर, जो स्वभाव से सरल एवं विनीत थे, उनसे यह नहीं सहा गया । वे भगवद्भक्ति के राग से उठकर गोशालक के पास आए और बोले—“गोशालक ! जो गुणवान् श्रमण माहर्षण के पास एक भी धार्मिक सुवचन सुनता है, वह उनको वन्दन-नमन और उनकी सेवा करता है । तो क्या, तुम भगवान् से दीक्षा-शिक्षा ग्रहण कर उनके साथ ही मिथ्या एवं अनुचित व्यवहार करते हो ? गोशालक ! तुमको ऐसा करना योग्य नहीं है । आवेश में आकर विवेक मत छोड़ो ।”

सर्वानुभूति की बात सुनकर गोशालक तमतमा उठा । उसने क्रोध में भरकर तेजोलेश्या के एक ही प्रहार से सर्वानुभूति अणगर को जलाकर भस्म कर दिया और पुनः भगवान् के बारे में निन्दा वचन बोलने लगा । प्रभु के अन्य अन्तेवासी स्थिति को देखकर मौन थे, किन्तु अयोध्या के ‘सुनक्षत्र’ मुनि ने, जो उसके अपलाप सुने, तो उनसे भी नहीं रहा गया । उन्होंने गोशालक को कटु-वचन बोलने से मना किया । इससे रुष्ट होकर गोशालक ने सुनक्षत्र मुनि पर भी उसी प्रकार तेजोलेश्या का प्रहार दिया । इस बार लेश्या का तेज मन्द हो गया था । पीड़ा की भयंकरता देखकर सुनक्षत्र मुनि श्रमण भगवान् महावीर के पास आए और वन्दना कर भगवान् के चरणों में आलोचनापूर्वक उन्होंने पुनः महाव्रतों में आरोहण किया और फिर श्रमण-श्रमणियों से क्षमा-याचना कर समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त किया ।

गोशालक फिर भी भगवान् महावीर को अनर्गल कटुवचन कहता रहा । कुछ काल के बाद भगवान् महावीर ने सर्वानुभूति की तरह गोशालक को समझाया, पर मूर्खों के प्रति उपदेश क्रोध का कारण होता है, इस उक्ति के अनुसार गोशालक प्रभु की बात से अत्यधिक क्रुद्ध हुआ और उसने उनको भस्म करने के लिए सात आठ कदम पीछे हटकर तेजोलेश्या का प्रहार किया । किन्तु महावीर के अमित तेज के कारण गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या उन पर असर नहीं कर सकी । वह भगवान् की प्रदक्षिणा करके एक बार ऊपर उछली और गोशालक के शरीर को जलाती हुई, उसी के शरीर में प्रविष्ट हो गई ।

गोशालक अपनी ही तेजोलेश्या से पीड़ित होकर श्रमण भगवान् महावीर से बोला—“काश्यप ! यद्यपि अभी तुम बच गए हो किन्तु मेरी इस तेजोलेश्या से

पराभूत होकर तुम छः मास की अवधि में ही दाह-पीड़ा से छद्मस्थ अवस्था में काल प्राप्त करोगे। इस पर भगवान् ने कहा—“गोशालक ! मैं तो अभी सोलह वर्ष तक तीर्थंकर पर्याय से विचरण करूँगा पर तुम अपनी तेजोलेश्या से प्रभावित एवं पीड़ित होकर सात रात्रि के अन्दर ही छद्मस्थ भाव से काल प्राप्त करोगे।”<sup>१</sup>

तेजोलेश्या के पुनः पुनः प्रयोग से गोशालक निस्तेज हो गया और उसका तपस्तेज उसी के लिए घातक सिद्ध हुआ। महावीर ने निर्ग्रन्थों को बुलाकर कहा—“श्रमणी ! जिस प्रकार अग्नि से जलकर तृण या काष्ठ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार गोशालक मेरे वध के लिए तेजोलेश्या निकाल कर अब तेज भ्रष्ट हो गया है। तुम लोग उसके विचारों का खण्डन कर अब प्रश्न और हेतुओं से उसे निरुत्तर कर सकते हो।”

निर्ग्रन्थों ने विविध प्रश्नोत्तरों से उसको निरुत्तर कर दिया। अत्यन्त क्रुद्ध होकर भी गोशालक निर्ग्रन्थों को कुछ भी पीड़ा नहीं दे सका।

इधर श्रावस्ती नगरी के त्रिकमार्ग और राजमार्ग में सर्वत्र यह चर्चा होने लगी कि श्रावस्ती के बाहर कोष्ठक चैत्य में दो जिन परस्पर आलाप-संलाप कर रहे हैं। एक कहता है तुम पहले काल प्राप्त करोगे तो दूसरा कहता है पहले तुम्हारी मृत्यु होगी। इसमें कौन सच्चा और कौन भूठा है ? प्रभु की अलौकिक महिमा से परिचित, नगर के प्रमुख व्यक्ति कहने लगे—“श्रमण भगवान् महावीर सम्यग्वादी हैं और गोशालक मिथ्यावादी।”<sup>२</sup>

### गोशालक की अन्तिम चर्चा

अपनी अभिलाषा की सिद्धि में असफलता के कारण गोशालक इधर-उधर देखता, दीर्घ निश्वास छोड़ता, दाढ़ी के बालों को नोचता, गर्दन खुजलाता, पाँवों को पछाड़ता, हाय मरा-हाय मरा ! चिल्लाता हुआ आजीवक समूह के साथ ‘कोष्ठक-चैत्य’ से निकल कर ‘हालाहला’ कुम्हारिन के कुम्भकारापण में पहुँचा। वहाँ वह अपनी दाह-शान्ति के लिए कभी कच्चा आम चूसता, मद्यपान करता और बार-बार गाता-नाचता एवं कुम्हारिन को हाथ जोड़ता हुआ मिट्टी के भाँड में रखे हुए शीतल जल से गात्र का सिचन करने लगा।

१ नो खलु अहं गोसाला । तव तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं जाव कालं करिस्सामि, अहमं अभाइं सोलसवासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि । तुम्हं एणं गोसाला ! अप्पणा चेव सयेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे सत्तरत्तस्स पित्तज्जरपरिणयसरीरे जाव छच्च-मत्थे चेव कालं करिस्ससि ।

२ भग. श. १५, सूत्र ५५३, पृ० ६७८ ।

भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थों को ग्रामन्वित कर कहा—“आर्यों ! मंसलि-पुत्र गोशालक ने जिस तेजोलेश्या का मेरे वध हेतु प्रहार किया था, वह (१) अंग, (२) बंग, (३) मगध, (४) मलय, (५) मालव, (६) अच्छ, (७) वत्स, (८) कौत्स, (९) पाठ, (१०) लाट, (११) वज्र, (१२) मौजि, (१३) काशी, (१४) कोशल, (१५) अबाघ और (१६) संभुत्तर इन समस्त देशों को जलाने, नष्ट करने तथा भस्म करने में समर्थ थी । अब वह कुम्भकारा-पण में कच्चा आम चूसता हुआ यावत् ठंडे पानी से शरीर का सिंचन कर रहा है । अपने दोषों को छिपाने के लिए उसने आठ चरम बतलाये हैं, जैसे— (१) चरम-पान, (२) चरम-गान, (३) चरम-नाट्य, (४) चरम-अंजलिकर्म, (५) चरम-पुष्कलसंवर्त मेघ, (६) चरम-सेचनक गंध-हस्ती, (७) चरम-महाशिलाकंटक संग्राम और [८] चरम तीर्थंकर, अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर के रूप में अपना सिद्ध होना ।

अपना मृत्यु समय निकट जान कर गोशालक ने आजीवक स्थविरो को बुला कर कहा—“मैं मर जाऊँ तो मेरी देह को सुगन्धित जल से नहलाना, सुगन्धित वस्त्र से देह को पोछना, चन्दन का लेप करना, बहुमूल्य श्वेत वस्त्र पहिनाना तथा अलंकारों से भूषित करना और शिविका में बिठा कर यह घोषणा करते हुए ले जाना कि चौबीसवें तीर्थंकर गोशालक जिन हुए, सिद्ध हुए आदि ।”

किन्तु सातवीं रात्रि में गोशालक का मिथ्यात्व दूर हुआ । उसकी दृष्टि निर्मल और शुद्ध हुई । उसको अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा । उसने सोचा—“मैंने जिन नहीं होकर भी अपने को जिन घोषित किया है । श्रमणों का घात और धर्माचार्य का द्वेष करना वास्तव में मेरी भूल है । श्रमण भगवान् महावीर ही वास्तव में सच्चे जिन हैं ।”

ऐसा सोच कर उसने स्थविरो को बुलाया और कहा—“स्थविरो ! मैंने अपने आप के लिए जो जिन होने की बात कही है, वह मिथ्या है, ऐसा कह कर मैंने तुम लोगों से बंधना की है । अतः अब मेरी मृत्यु के पश्चात् प्रायश्चित्त-स्वरूप मेरे बाएं पैर में डोरी बाँध कर, तुम मेरे मुँह पर तीन बार थूकना और श्रावस्ती के राजमार्गों में यह कहते हुए मेरे शव को खींच कर ले जाना कि गोशालक जिन नहीं था, जिन तो महावीर ही हैं ।” उसने अपनी इस अन्तिम भावना के पालन के लिए स्थविरो को शपथ दिलायी और सातवीं रात्रि में ही उसकी मृत्यु हो गई ।



गोशालक के भक्त और स्थविरों ने सोचा—“आदेशानुसार यदि नगरी में पैर बांध कर घसीटते हुए निकालेंगे तो अपनी हल्की लगेगी और ऐसा नहीं करने से आज्ञा-भंग होगा। ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए ?” उन्होंने एक उपाय निकाला—“हालाहला कुम्हारिन के घर में ही द्वार बन्द कर नगरी और राजमार्ग की रचना करें। उसमें घुमा लेने से आज्ञा-भंग और बदनामी दोनों से ही बच जायेंगे। उन्होंने वैसा ही किया। गोशालक के निर्देशानुसार बंद मकान में शव को घुमा कर फिर नगर में धूम-धाम से शव-यात्रा निकाली और सम्मान पूर्वक उसका अन्तिम संस्कार सम्पन्न किया।

### शंका समाधान

गोशालक के द्वारा समवशरण में तेजोलेश्या-प्रहार के प्रसंग से सहज शंका उत्पन्न होती है कि महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में गोशालक की तो तेजोलेश्या से रक्षा की पर समवशरण में गोशालक द्वारा तेजोलेश्या का प्रहार किये जाने पर सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि को अपनी शीत-लेश्या के प्रभाव से क्यों नहीं बचाया ? टीकाकार आचार्य ने इस पर स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि महावीर वीतराग होने से निज-पर के भेद और रागद्वेष से रहित थे। केवली होने के कारण उनका व्यवहार निश्चयानुगामी होता था, जबकि छद्मस्थ अवस्था में व्यवहार से ही निश्चय द्योतित होता और उसका अनुमान किया जाता था। सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि का गोशालक के निमित्त से मरण अवश्यभावी था, ऐसा प्रभु ने जान रखा था। दूसरी बात यह भी है कि केवली राग और प्रमाद रहित होने से लब्धि का प्रयोग नहीं करते, इसलिए वे उस अवसर पर तटस्थ रहे। गोशालक के रक्षण के समय में भगवान् का जीवन किसी एक सूक्ष्म हृद तक पूर्णतः रागविहीन और व्यवहार निरपेक्ष जीवन नहीं था। उस समय शरणागत का रक्षण नहीं करना अनुकम्पा का प्रत्यनीकपन होता। गोशालक द्वारा तेजोलेश्या के प्रहार किये जाने के समय में प्रभु पूर्ण वीतराग थे। यही कारण है कि सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि पर गोशालक द्वारा प्रहार किये जाने के समय गोशालक को न समझा कर प्रभु ने उससे पीछे बात की।

कुछ लोग कहते हैं कि गोशालक पर अनुकम्पा दिखा कर भगवान् ने बड़ी भूल की। यदि ऐसा नहीं करते तो कुमत्त का प्रचार और मुनि-हत्या जैसी अनर्थ-माला नहीं बढ़ पाती, किन्तु उनका ऐसा कहना भूल है। सत्पुरुष अनुकम्पाभाव से बिना भेद के हर एक का हित करते हैं। उसका प्रतिफल क्या होगा, यह सौदेबाजी उनमें नहीं होती। वे जीवन भर अप्रमत्तभाव से चलते रहे, उन्होंने कभी कोई पापकर्म एवं प्रमाद नहीं किया, जैसा कि आचारंग सूत्र में स्पष्ट निर्देश है—‘छउमत्थोवि परक्कममाणो ण पमायं सइपि कुवित्था ।’<sup>१</sup>

१ आचा., श्रु. १, अघ्ययन ६, उद्देशा ४, गा. १५

### भगवान् का विहार

श्रावस्ती के 'कोष्ठक चैत्य' से विहार कर भगवान् महावीर ने जनपद की ओर प्रयाण किया। विचरते हुए प्रभु 'मेढियाग्राम' पहुँचे और ग्राम के बाहर 'सालकोष्ठक चैत्य' में पृथ्वी शिला-पट्ट पर विराजमान हुए। भक्तजन दर्शन-श्रवण एवं वंदन करने आये। भगवान् ने धर्म-देशना सुनाई।

जिस समय भगवान् साल कोष्ठक चैत्य में विराज रहे थे, गौशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेण्या के निमित्त से भगवान् के शरीर में असाता का उदय हुआ, जिससे उनको दाह-जन्य अत्यन्त पीड़ा होने लगी। साथ ही रक्तातिसार की बाधा भी हो रही थी। पर वीतराग भगवान् इस विकट वेदना में भी शान्तभाव से सब कुछ सहन करते रहे। उनके शरीर की स्थिति देख कर लोग कहने लगे कि गौशालक की तेजोलेण्या से पीड़ित भगवान् महावीर छह माह के भीतर ही छद्मस्थभाव में कहीं मृत्यु न प्राप्त कर जायँ। उस समय सालकोष्ठक के पास मालुयाकच्छ में भगवान् का एक शिष्य 'सीहा' मुनि, जो भद्र प्रकृति का था, बेले की तपस्या के साथ ध्यान कर रहा था। ध्यानावस्था में ही उसके मन में यह विचार हुआ कि मेरे धर्माचार्य को विपुल रोग उत्पन्न हुआ है और वे इसी दशा में कहीं काल कर जायँगे तो लोग कहेंगे कि ये छद्मस्थ अवस्था में ही काल कर गये और इस तरह हम सब की हँसी होगी। इस विचार से सीहा अनगार फूट-फूट कर रोने लगा।

घट-घट के अन्तर्यामी त्रिकालदर्शी श्रमण भगवान् महावीर ने तत्काल निर्ग्रन्थों को बुला कर कहा—“आर्यो ! मेरा अन्तेवासी सीहा अनगार, जो प्रकृति का भद्र है, मालुयाकच्छ में मेरी बाधा-पीड़ा के विचार से तेज स्वर में रुदन कर रहा है, अतः जाकर उसे यहाँ बुला लाओ।” प्रभु के सदेश से श्रमण-निर्ग्रन्थ मालुयाकच्छ गए और सीहा अनगार को भगवान् द्वारा बुलाये जाने की सूचना दी। सीहा मुनि भी निर्ग्रन्थों के साथ भगवान् महावीर के पास आये और वन्दना नमस्कार कर उपासना करने लगे। सीहा मुनि को सम्बोधित कर प्रभु ने कहा—“सीहा ! ध्यानान्तरिका में तेरे मन में मेरे अनिष्ट की कल्पना हुई और तुम रोने लगे, क्या यह ठीक है ?” सीहा द्वारा इस तथ्य को स्वीकृत किये जाने पर प्रभु ने कहा—“सीहा ! गौशालक की तेजोलेण्या से पीड़ित हो कर मैं छह महीने के भीतर मृत्यु प्राप्त करूँगा, ऐसी बात नहीं है। मैं सोलह वर्ष तक जिनचर्या से सुहस्ती की तरह और विचरूँगा। अतः हे आर्य ! तुम मेढियाग्राम में “रेवती” गाथापत्नी के घर जाओ और उसके द्वारा मेरे लिये तैयार किया हुआ आहार न लेकर अन्य जो बासी बिजोरा पाक है, वह ले आओ। व्याधि मिटाने के लिये उसका प्रयोजन है।”

भगवान् की आज्ञा पा कर सीहा अनगार बहुत प्रसन्न हुए और प्रभु को

वन्दन कर अचपल एवं असंभ्रान्त भाव से गौतम स्वामी की तरह शाल कोष्ठक चैत्य से निकल कर, मेढियाग्राम के मध्य में होते हुए, रेवती के घर पहुँचे। रेवती ने सीहा अनगर को विनयपूर्वक वन्दना की और आने का कारण पूछा। सीहा मुनि ने कहा—“रेवती ! तुम्हारे यहाँ दो औषधियाँ हैं, उनमें से जो तुमने श्रमण भगवान् महावीर के लिये तैयार की हैं, मुझे उससे प्रयोजन नहीं, किन्तु अन्य जो बिजोरापाक है, उसकी आवश्यकता है।”

### भगवान् की रोग-मुक्ति

सीहा मुनि की बात सुन कर रेवती आश्चर्य-चकित हुई और बोली—“मुने ! ऐसा कौनसा ज्ञानी या तपस्वी है, जो मेरे इस गुप्त रहस्य को जानता है ?” सीहा अनगर ने कहा—“श्रमण भगवान् महावीर, जो चराचर के ज्ञाता व द्रष्टा हैं, उनसे मैंने यह जाना है।” फिर तो रेवती श्रद्धावन्त एवं भाव-विभोर हो भोजनशाला में गई और बिजोरा-पाक लेकर उसने मुनि के पात्र में वह सब पाक बहरा दिया। रेवती के यहाँ से प्राप्त बिजोरापाक रूप आहार के सेवन से भगवान् का शरीर पीड़ारहित हुआ और धीरे-धीरे वह पहले की तरह तेजस्वी होकर चमकने लगा। भगवान् के रोग-निवृत्त होने से श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविका वर्ग ही नहीं अपितु स्वर्ग के देवों तक को हर्ष हुआ। सुरासुर और मानव लोक में सर्वत्र प्रसन्नता की लहर सी दौड़ गई।<sup>१</sup>

रेवती ने भी इस अत्यन्त विशिष्ट भावपूर्वक दिये गये उत्तम दान से देव-गति का आयुबन्ध एवं तीर्थंकर नामकर्म का उपाजन कर जीवन सफल किया।

### कुतर्कपूर्ण श्रम

सीहा अनगर को भगवान् महावीर ने रेवती के घर औषधि लाने के लिये भेजा, उसका उल्लेख भगवती सूत्र के शतक १५, उद्देशा १ में इस प्रकार किया गया है :

“...अहं एां अण्णाइं सोलसवासाइं जिणो सुहत्थी विहरिस्सामि, तं गच्छह एां तुमं सीहा । मिद्धियागामं एायरं रेवतीए गाहावयणीए गिहे, तस्य एां रेवतीए गाहावईए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवकखडिया तेहि एां अट्ठो अत्थि । से अण्णे परिवांसोमज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि, तेएां अट्ठो । तएां.....”

इस पाठ को लेकर ई० सन् १८८४ से अर्थात् लगभग ८७ वर्ष से पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क चल रहे हैं। जैन परम्परा से अनभिज्ञ कुछ विद्वानों की धारणा कुछ और ही तरह की रही है कि

इस पाठ में भगवान् महावीर के मांसभक्षण का संकेत मिलता है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। पाठ में आये हुए शब्दों का सही अर्थ समझने के लिये हमें प्रसंग और तत्कालीन परिस्थिति में होने वाले शब्द-प्रयोगों को लक्ष्य में लेकर ही अर्थ करना होगा। उसके लिये सबसे पहले इस बात को ध्यान में रखना होगा कि रेवती श्रमण भगवान् महावीर की परम भक्त श्रमणोपासिका एवं सती जयंती तथा सुश्राविका भृगावती की प्रिय सखी थी। अतः मत्स्य-मांसादि अभक्ष्य पदार्थों से उसका कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। रेवती ने परम उत्कृष्ट भावना से इस औषधि का दान देकर देवायु और महामहिम तीर्थंकर नामकर्म का उपाजन किया था।

भगवती सूत्र के पाठ में आये हुए खास विचारणीय शब्द “कवोयसरीर”, “मज्जारकडए कुक्कुडमंसए” शब्द हैं। जिनके लिये भगवती सूत्र के टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि और दानशेखर सूरि ने क्रमशः कुष्मांड फल और मार्जार नामक वायु की निवृत्ति के लिये बिजोरा (बीजपूरक कटाह) अर्थ किया है।

विक्रम संवत् ११२० में अभयदेव ने स्थानांग सूत्र की टीका बनाई। उस टीका में उन्होंने अन्य मत का उल्लेख तक नहीं किया है और उन्होंने स्पष्टतः निश्चित रूप से “कवोयसरीर” का अर्थ कुष्मांडपाक और “मज्जारकडए कुक्कुडमंसए” का अर्थ मार्जार नामक वायु के निवृत्त्यर्थ बीजपूरक कटाह अर्थात् बिजोरापाक किया है। अभयदेव द्वारा की गई स्थानांग सूत्र की व्याख्या में किञ्चित्मात्र ध्वनि तक भी प्रतिध्वनित नहीं होती कि इन शब्दों का अर्थ मांसपरक भी हो सकता है। जैसा कि स्थानांग की टीका के निम्नलिखित अंश से स्पष्ट है :

“भगवांश्च स्थविरैस्तमाकार्योक्तवान्—हे सिंह ! यत् त्वया व्यकल्पि न तद्भावि, यत इतोऽहं देशोनानि षोडश वर्षाणि केवलपर्यायं पूरयिष्यामि, ततो गच्छ त्वं नगरमध्ये, तत्र रेवत्यभिधानया गृहपतिपत्न्या मदर्थं द्वे कुष्मांडफल-शरीरे उपस्कृते, न च ताभ्यां प्रयोजनम् तथान्यदस्ति तद्गृहे परिवासितं मार्जाराभिधानस्य वायोनिवृत्तिकारकं कुक्कुटमांसकं बीजपूरककटाहमित्यर्थः, तदाहर, तेन नः प्रयोजनमित्येवमुक्तोऽसौ तथैव कृतवान्,.....”

स्थानांग सूत्र की टीका का निर्माण करने के ८ वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० सं० ११२८ में अभयदेव सूरि ने भगवती सूत्र की टीका का निर्माण किया। उसमें उन्होंने भगवती सूत्र के पूर्वोक्त मूल पाठ की टीका करते हुए लिखा है :

“दुवेकवोया” इत्यादेः श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते, अन्ये त्वाहुः—कपोतकः पक्षिविशेषस्तद्वद्वे फले वर्णासाधर्म्यात्ते कपोते, कुष्मांडे ह्रस्वे कपोते कपोतके ते च ते शरीरे वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे अथवा कपोतकशरीरे इव

ब्रूसरवर्णासाधम्यदिव कपोतक शरीरे-कुष्मांड फले.....परिभ्रासिए त्ति परिव्रासितं ह्यस्तनमित्यर्थः, 'मञ्जारकडए' इत्यादेरपि केचित् श्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते, अन्ये त्वाहुः—मार्जारो वायुविशेषस्तदुपशमनाय कृत-संस्कृतं मार्जारकृतम्, अपरे त्वाहुः—मार्जारो विरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेषस्तेन कृतं भावितं यत्तत्तथा किं तत् इति ? आह 'कुर्कुटक मांसकं बीजपूरक कटाहम्.....'।

[भगवती सूत्र अभयदेवकृत टीका, शतक १५, उ० १]

इसमें अभयदेव ने अन्य मत का उल्लेख किया है पर उनकी निजी निश्चित मान्यता इन शब्दों के लिये मांसपरक अर्थ वाली किसी भी दशा में नहीं कही जा सकती ।

अर्थ का अनर्थ करने को कुचेष्टा रखने वाले लोगों को यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि सामान्य जैन साधु का जीवन भी 'भ्रमभ्रमसांसिणो' विशेषण के अनुसार मद्यमांस का त्यागी होता है, तब महावीर के लिये मांस-भक्षण की कल्पना ही कैसे की जा सकती है? इसके साथ ही साथ इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को भी सदा ध्यान में रखना होगा कि भगवान् महावीर ने अपनी देशना में नरक गति के कारणों का प्रतिपादन करते हुए मांसाहार को स्पष्ट शब्दों में नरक गति का कारण बताया है ।<sup>१</sup>

आचारांग सूत्र में तो भ्रमण को यहां तक निर्दश दिया गया है कि भिक्षार्थ जाते समय साधु को यदि यह ज्ञात हो जाय कि भ्रमुक गृहस्थ के घर पर मद्य-मांसमय भोजन मिलेगा तो उस घर में जाने का साधु को विचार तक नहीं करना चाहिए ।<sup>२</sup>

भगवान् महावीर की पित्तज्वर की व्याधि को देखते हुए भी मांस अर्थ अनुकूल नहीं पड़ता किन्तु बिजौरे का गिरभाग जो मांस पद से उपलक्षित है, वही हितकर माना गया है । जैसा कि सुश्रूत से भी प्रमाणित होता है—

१ (क) ठाणांग सूत्र, ठा० ४, उ० ४, सू० ३७३

(ख) गोयमा ! महारंभायाए, महारपरिग्गहवाए, कुण्णिमाहारेणं पंचिन्दियवहेणं.....  
नेरइयाउयकम्मा-सरीर जाव पयोग वंधे ।

[भगवती सू०, शतक ८, उ० ६, सू० ३५०]

(ग) चउहि ठाणेहि जीवा एरइयत्ताए कम्मं पकरेत्ति.....कुण्णिमाहारेणं ।

[श्रीपपातिक सूत्र, सू० ५६]

२ से भिक्षु वा. जाव समाणे से जं पुण्ण जाणेज्जा मंसाइं व मच्छाइं मंस खलं व मच्छ खलं वा मच्छो खलं नो अभिसंधारिज्ज गमणाए

.....[आचारांग, भु. २, प्र. १, उ. ४, सू. २४५]

लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं मातुलुंगमुदाहृतम् ।  
 त्वक् तित्ता दुर्जरा तस्य वातकृमिकफापहा ॥  
 स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तजित् ।  
 मेघ्यं शूलानिलछर्दिकफारोचक नाशनम् ॥

निघण्टु में भी बिजौरा के गुण इस प्रकार बताये गये हैं :—

रक्तपित्तहरं कण्ठजिह्वाहृदयशोधनम् ।  
 श्वासकासारुचिहरं हृद्यं तृष्णाहरं स्मृतम् ॥१३२॥  
 बीजपूरो परः प्रोक्तो मधुरो मधुकर्कटी ।  
 मधुकर्कटिका स्वादी रोचनी शीतला गुरुः ॥१३३॥  
 रक्तपित्तक्षयश्वासकासंहिककाभ्रमापहा ॥१३४॥

[ भावप्रकाश निघण्टु ]

वैजयन्ती कोष में बीजपूरक को मधुकुक्कुटी के नाम से उल्लिखित किया गया है । यथा :—

देविकायां महाशल्का दूष्यांगी मधुकुक्कुटी ।  
 अथात्ममूला मातुलुंगी पूति पुष्पी वृकाम्लिका ।

[ वैजयन्ती कोष, भूमिकाण्ड, वनाध्याय, श्लोक ३३-३४ ]

पित्तज्वर के उपशमन में बीजपूरक ही हितावह होता है, इसलिए यहाँ पर कुक्कुडमांस शब्द से मधुकुक्कुटी अर्थात् बिजोरे का गिर ही समझना चाहिए ।

जिस संस्कृति में जीवन निर्वाह के लिए अत्यावश्यक फल, मूल एवं सचित्त जल का भी भक्ष्याभक्ष्य रूप से विचार किया गया है, वहाँ पर स्वयं उस संस्कृति के प्रणेता द्वारा मांस जैसे महारम्भी पदार्थ का ग्रहण, कभी मानने योग्य नहीं हो सकता ।

जिन भगवान् महावीर ने कौशाम्बी पधारते समय प्राणान्त संकट की स्थिति में भी क्षुधा एवं तृषा से पीड़ित मुनिवर्ग को वन-प्रदेश में सहज अचित्त जल को सम्मुख देख कर भी पीने की अनुमति नहीं दी, वे परम दयालु महामुनि स्वयं की देह-रक्षा के लिए मांस जैसे अग्राह्य पदार्थ का उपयोग करें, यह कभी बुद्धिगम्य नहीं हो सकता । अतः बुद्धिमान् पाठकों को शब्दों के बाहरी कलेवर की ओर दृष्टि न रख कर उनके प्रसंगानुकूल सही अर्थ, अर्थात् बिजोरापाक को ही प्रमाणभूत मानना चाहिए ।

साधु को किस प्रकार का आहार त्याज्य है, इस सम्बन्ध में आचारांग सूत्र के उदाहरणपरक मूल पाठ 'बहु अट्टिएण मंसेण वा मच्छेण वा बहुकण्टएण'

को लेकर सर्वप्रथम डॉक्टर हर्मन जैकोबी को भ्रम उत्पन्न हुआ और उन्होंने आचारांग के अंग्रेजी अनुवाद में यह मत प्रकट करने का प्रयास किया कि इन शब्दों का अर्थ मांस ही प्रतिध्वनित होता है। जैन समाज द्वारा हर्मन जैकोबी की इस मान्यता का डट कर उग्र विरोध किया गया और अनेक शास्त्रीय प्रमाण उनके समक्ष रखे गये। उन प्रमाणों से हर्मन जैकोबी की शंका दूर हुई और उन्होंने अपने दिनांक २४-२-२८ के पत्र में अपनी भूल स्वीकार करते हुए आचारांग सूत्र के उक्त पाठ को उदाहरणपरक माना। श्री हीरालाल रसिकलाल कांपड़िया ने 'हिस्ट्री आफ कैथानिकल लिटरेचर आव जैनाज' में डॉक्टर जैकोबी के उक्त पत्र का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है :—

There he has said that 'बहु अट्टिएण मसेण वा मच्छेण वा बहुकण्टएण' has been used in the metaphorical sense as can be seen from the illustration of नान्तरीयकत्व given by Patanjali in discussing a Vartika at Panini (III, 3, 9) and from Vachaspati's com. oh Nyayasutra (iv, 1, 54). He has concluded: "This meaning of the passage is therefore, that a monk should not accept in alms any substance of which only a part can be eaten and a greater part must be rejected."

जिस भक्ष्य पदार्थ का बहुत बड़ा भाग खाने के काम में न आने के कारण त्याग कर डालना पड़े उसके साथ नन्तरीयकत्व भाव धारण करने वाली वस्तु के रूप में उदाहरणपरक मत्स्य शब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि मत्स्य के काँटों को बाहर ही डालना पड़ता है। डॉ० हरमन जैकोबी ने नान्तरीयकत्व भाव के रूप में उपर्युक्त पाठ को माना है।

आचारांग सूत्र के उपर्युक्त पाठ का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए डॉक्टर स्टेन कोनी ने डॉक्टर वाल्थेर शूत्रिग द्वारा जर्मन भाषा में लिखी गई पुस्तक 'दाई लेह्ल देर जैनाज' की आलोचना में लिखा था :—

"I shall mention only one detail, because the common European view has here been largely resented by the Jainas. The mention of *Bahuasthiyamansa* and *Bahukantakamachha* 'meat' or 'fish' with many bones in Acharanga has usually been interpreted so as to imply that it was in olden times, allowed to eat meat and fish, and this interpretation is given on p. 137, in the Review of Philosophy and Religion,

१ देखिये—भगवान् महावीर का सिन्धु-सीवीर की राजधानी वीतभया नगरी की ओर विहार।

Vol. IV-2, Poona 1933, pp. 75. Prof. Kapadia has, however, published a letter from Prof. Jacoby on the 14th February, 1928 which in my opinion settles the matter. Fish of which the flesh may be eaten, but scales and bones must be taken out was a school example of an object containing the substance which is wanted in intimate connexion with much that must be rejected. The words of the Acharanga are consequently technical terms and do not imply that 'meat' and 'fish' might be eaten."<sup>1</sup>

ओस्ली के विद्वान् डॉक्टर स्टेन कोनो ने जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरिजी को लिखे गये पत्र में डॉ० हर्मन जैकोबी के स्पष्टीकरण की सराहना करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि पूर्ण अहिंसावादी और आस्तिक जैनों में कभी मांस-हार का प्रचलन रहा हो, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह पत्र इस प्रकार है :—

"Prof. Jacoby has done a great service to scholars in clearing up the much discussed question about meat eating among Jains. On the face of which, it has always seemed incredible to me that it had at any time, been allowed in a religion where Ahimsa and also Ascetism play such a prominent role...." Prof. Jacoby's short remarks on the other hand make the whole matter clear. My reason for mentioning it was that I wanted to bring his explanation to the knowledge of so many scholars as possible. But there will still, no doubt, be people who stick to the old theory. It is always difficult, to do away with false ditthi but in the end truth always prevails."

इन सब प्रमाणों से स्पष्टतः सिद्ध होता है कि अहिंसा को सर्वोपरि स्थान देने वाले जैन धर्म में मांस-भक्षण को सर्वथा त्याज्य और नर्क में पतन का कारण माना गया है। इस पर भी जो लोग कुतर्कों से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जैन आगमों में मांस-भक्षण का उल्लेख है, उनके लिए हम इस नीति पद को दोहराना पर्याप्त समझते हैं :—

"ज्ञानलवडुविदग्धं ब्रह्मापितं नरं न रंजयति ।"

१ तीर्थंकर महावीर भाग, २, (जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि) पृ० १२२



### गौतम की जिज्ञासा का समाधान

एक दिन गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा—“भदन्त ! आपका अन्तेवासी सर्वानुभूति अनगर, जो गोशालक की तेजोलेश्या से भस्म कर दिया गया है, यहाँ कालधर्म को प्राप्त कर कहाँ उत्पन्न हुआ और उसकी क्या गति होगी ?”

भगवान् ने उत्तर में कहा—“गौतम ! सर्वानुभूति अनगर आठवें स्वर्ग में अठारह सागर की स्थिति वाले देव के रूप से उत्पन्न हुआ है और वहाँ से च्यवन होने पर महाविदेह-क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होगा ।”

इसी तरह सुनक्षत्र के बारे में भी गौतम द्वारा प्रश्न किये जाने पर भगवान् ने फरमाया—“सुनक्षत्र अनगर बारहवें अच्युत कल्प में बाईस सागर की देवायु भोग कर महाविदेह-क्षेत्र में उत्पन्न होगा और वहाँ उत्तम करणी करके सर्व कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होगा ।

गौतम ने फिर पूछा—“भगवन् ! आपका कुशिक्ष्य मंखलिपुत्र गोशालक काल प्राप्त कर कहाँ गया और कहाँ उत्पन्न हुआ !”

प्रभु ने उत्तर में कहा—“गौतम ! गोशालक भी अन्त समय की परिणाम शुद्धि के फलस्वरूप छत्रस्थदशा में काल कर बारहवें स्वर्ग में बाईस सागर की स्थिति वाले देव के रूप में उत्पन्न हुआ है । वहाँ से पुनः जन्म-जन्मान्तर करते हुए वह सम्यग्दृष्टि प्राप्त करेगा । अन्त समय में दृढ़-प्रतिज्ञ के रूप से वह संयम धर्म का पालन कर केवलज्ञान प्राप्त करेगा और कर्मक्षय कर सर्व दुःखों का अन्त करेगा ।”

मेढियग्राम से विहार करते हुए भगवान् महावीर मिथिला पधारे और वहीं पर वर्षाकाल पूर्ण किया । इसी वर्ष जमालि मुनि का भगवान् महावीर से मतभेद हुआ और साध्वी मुदर्शना ढंक कुम्हार द्वारा प्रतिबोध पाकर फिर भगवान् के संघ में सम्मिलित हो गई ।<sup>१</sup>

### केदलीचर्या का सोलहवाँ वर्ष

मिथिला का वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् ने हस्तिनापुर की ओर विहार किया । उस समय गौतम स्वामी कुछ साधु समुदाय के साथ विचरते हुए श्रावस्ती

१ भग. श., १५, सू. ५६० पु० ५६५

२ पियदंसणा वि पइणोऽणुरामो तमार्यं चिय पवण्णा ।

ढकोवहियागणिएदइउपत्थ देसा तए भग्गइ ॥

[विशेषावश्यक, गाथा २३२५ से ]

आये और कोष्ठक उद्यान में विराजमान हुए। नगर के बाहर 'तिन्दुक उद्यान' में पार्श्व-संतानीय 'केशिकुमार' भी अपने मुनि-मण्डल के साथ ठहरे हुए थे। कुमारावस्था में ही साधु होने से ये कुमार श्रमण कहलाये। ये ज्ञान तथा क्रिया के पारगामी थे। मति, श्रुति और अवधि रूप तीनों ज्ञानों से वे रूपी द्रव्य के वस्तु-स्वरूप को जानते थे।'

श्रावस्ती में केशी और गौतम दोनों के श्रमण समुदाय समाधिपूर्वक विचार रहे थे, किन्तु दोनों के बीच दिखने वाले वेष-भूषा और आचार के भेद से दोनों समुदाय के श्रमणों के मन शंकाशील थे। दोनों श्रमण-समुदायों के मन में यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि यह धर्म कैसा और वह दूसरा कैसा? हमारी और इनकी आचार-विधि में इतना अन्तर क्यों है? पार्श्वनाथ ने चातुर्याम रूप और वर्द्धमान-महावीर ने पंच शिक्षा रूप धर्म कहा है। महावीर का धर्म अचेलक और पार्श्वनाथ का धर्म सचेलक है, ऐसा क्यों? एक लक्ष्य के लिए चलने वालों के आचार में इस विभेद का कारण क्या है?

### केशी-गौतम मिलन

केशी और गौतम दोनों ने अपने-अपने शिष्यों के मनोगत भावों को जान कर परस्पर मिलने का विचार किया। केशिकुमार के ज्येष्ठकुल का विचार कर मर्यादाशील गौतम अपनी शिष्य-मंडली सहित स्वयं 'तिन्दुक वन' की ओर पधारे। केशिकुमार ने जब गौतम को आते देखा तो उन्होंने भी गौतम का यथोचित रूप से सम्यक् सत्कार किया और गौतम को बैठने के लिए प्राशुक पराल आदि तृण आसन रूप से भेंट किये। दोनों एक दूसरे के पास बैठे हुए ऐसी शोभा पा रहे थे मानों सूर्य-चन्द्र की जोड़ी हो।

दोनों स्थविरों के इस अभूतपूर्व संगम के रम्य दृश्य को देखने के लिए बहुत से व्रती, कुतूहली और सहस्रों गृहस्थ भी आ पहुँचे। अदृश्य देवादि का भी बड़ी संख्या में समागम था। सबके समक्ष केशिकुमार ने प्रेमपूर्वक गौतम से कहा—“महाभाग! आपकी इच्छा हो तो मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।” गौतम की अनुमति पा कर केशी बोले—“पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म कहा और महावीर ने पंचशिक्षारूप धर्म, इसका क्या कारण है?”

उत्तर में गौतम बोले—“महाराज! धर्म-तत्त्व का निर्णय बुद्धि से होता है। इसलिए जिस समय लोगों की जैसी मति होती है, उसी के अनुसार धर्म-तत्त्व का उपदेश किया जाता है। प्रथम तीर्थंकर के समय में लोग सरल और जड़ थे तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर के समय में लोग वक्र और जड़ हैं। पूर्व वर्णित

लोगों को समझाना कठिन था और पश्चात् वरिष्ठ लोगों के लिये धर्म का पालन करना कठिन है, अतः भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर ने पंच महाव्रत रूप धर्म बतलाया। मध्य तीर्थकरों के समय में लोग सरल प्रकृति और बुद्धिमान होने के कारण थोड़े में समझ भी लेते और उसे पाल भी लेते थे। अतः पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म कहा है। आशय यह है कि प्रत्येक को सरलता से व्रतों का बोध हो और सभी अच्छी तरह उनको पाल सकें। यही चातुर्याम और पंच-शिक्षा रूप धर्म-भेद का दृष्टिकोण है।”

(२) गौतम के उत्तर से केशी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने दूसरी शंका वेष के विषय में प्रस्तुत की और बोले—“गौतम ! वर्द्धमान-महावीर ने अचेलक धर्म बतलाया और पार्श्वनाथ ने उत्तरोत्तर प्रधान वस्त्र वाले धर्म का उपदेश दिया। इस प्रकार दो तरह का लिंग-भेद देख कर क्या आपके मन में विपर्यय नहीं होता ?”

गौतम ने कहा—“लोगों के प्रत्ययार्थ यानी जानकारी के लिए नाना प्रकार के वेष की कल्पना होती है। संयम-रक्षा और धर्म-साधना भी लिंग-धारण का लक्ष्य है। वेष से साधु की सरलता से पहिचान हो जाती है, अतः लोक में बाह्य लिंग की आवश्यकता है। वास्तव में सद्भूत मोक्ष की साधना में ज्ञान, दर्शन और चरित्र ही निश्चय लिंग हैं। बाह्य लिंग बदल सकता है पर अन्तर्लिंग एक और अपरिवर्तनीय है। अतः लिंग-भेद के तत्वाभिमुख-गमन में संशय करने की आवश्यकता नहीं रहती।”

(३) फिर केशिकुमार ने पूछा—“गौतम ! आप सहस्रों शत्रुओं के मध्य में खड़े हैं, वे आपको जीतने के लिये आ रहे हैं। आप उन शत्रुओं पर कैसे विजय प्राप्त करते हैं ?”

गौतम स्वामी बोले—“एक शत्रु के जीतने से पाँच जीते गये और पाँच की जीत से दश तथा दश शत्रुओं को जीतने से मैंने सभी शत्रुओं को जीत लिया है।”

केशिकुमार बोले—“वे शत्रु कौनसे हैं ?”

गौतम ने कहा—“हे महामुने ! नहीं जीता हुआ अपना आत्मा (मन) शत्रुरूप है, एवं चार कषाय तथा ५ इन्द्रिया भी शत्रुरूप हैं। एक आत्मा के जय से ये सभी वश में हो जाते हैं। जिससे मैं इच्छानुसार विचरता हूँ और मुझे ये शत्रु बाधित नहीं करते।”

(४) केशिकुमार ने पुनः पूछा—“गौतम ! संसार के बहुत से जीव पाश-बद्ध देखे जाते हैं, परन्तु आप पाशमुक्त लघुभूत होकर कैसे विचरते हैं ?”

गौतम स्वामी ने कहा—“महामुने ! राग-द्वेष रूप स्नेह-पाश को मैंने उपाय पूर्वक काट दिया है, अतः मैं मुक्तपाश और लघुभूत हो कर विचरता हूँ ।”

(५) केशिकुमार बोले—“गौतम ! हृदय के भीतर उत्पन्न हुई एक लता है, जिसका फल प्राणहारी विष के समान है । आपने उसका मूलोच्छेद कैसे किया है ?”

गौतम ने कहा—“महामुने ! भव-तृष्णा रूप लता को मैंने समूल उखाड़ कर फेंक दिया है, अतः मैं निशंक होकर विचरता हूँ ।”

(६) केशिकुमार बोले—“गौतम ! शरीर-स्थित घोर तथा प्रचण्ड कषायग्नि, जो शरीर को भस्म करने वाली है, उसको आपने कैसे बुझा रखा है ?”

गौतम ने कहा—“महामुने ! वीतरागदेवरूप महामेघ से ज्ञान-जल को प्राप्त कर मैं इसे निरन्तर सींचता रहता हूँ । अध्यात्म-क्षेत्र में कषाय ही अग्नि और श्रुत-शील एवं तप ही जल है । अतः श्रुत-जल की धारा से परिषिक्त कषाय की अग्नि हमको नहीं जलाती है ।”

(७) केशिकुमार बोले—“गौतम ! एक साहसी और दुष्ट घोड़ा दौड़ रहा है, उस पर आरूढ़ होकर भी आप उन्मार्ग में किस कारण नहीं गिरते ?”

गौतम ने कहा—“श्रमणवर ! दौड़ते हुए अश्व का मैं श्रुत की लगाम से निग्रह करता हूँ । अतः वह मुझे उन्मार्ग पर न ले जा कर सुमार्ग पर ही बढ़ाता है । आप पूछेंगे कि वह कौन सा घोड़ा है, जिसको तुम श्रुत की लगाम से निग्रह करते हो । इसका उत्तर यह है कि मन ही साहसी और दुष्ट अश्व है, जिस पर मैं बैठा हूँ । धर्मशिक्षा ही इसकी लगाम है, जिससे कि मैं सम्यग्रूप से मन का निग्रह कर पाता हूँ ।”

(८) केशिकुमार ने पूछा—“गौतम ! संसार में बहुत से कुमार्ग हैं जिनमें लोग भटक जाते हैं किन्तु आप मार्ग पर चलते हैं, मार्गच्युत कैसे नहीं होते हैं ?”

गौतम ने कहा—“महाराज ! मैं सन्मार्ग पर चलने वाले और उन्मार्ग पर चलने वाले, दोनों को ही जानता हूँ, इसलिये मार्ग-च्युत नहीं होता । मैंने समझ लिया है कि कुप्रवचन के ब्रती सब उन्मार्गगामी हैं, केवल वीतराग जिनेन्द्र-प्रणीत मार्ग ही उत्तम मार्ग है ।”

(९) केशिकुमार बोले—“गौतम ! जल के प्रबल वेग में जग के प्राणी

बहे जा रहे हैं, उनके लिए आप शरण गति और प्रतिष्ठा रूप द्वीप किसे मानते हैं ?”

गौतम ने कहा—“महामुने ! उस पानी में एक बहुत बड़ा द्वीप है, जिस पर पानी नहीं पहुँच पाता । इसी प्रकार संसार के जरा-मरण के वेग में बहते हुए जीवों के लिए धर्म रक्षक होने से द्वीप का काम करता है । यही शरण, गति और प्रतिष्ठा है ।”

(१०) केशी बोले—“गौतम ! बड़े प्रवाह वाले समुद्र में नाव उत्पथ पर जा रही है, उस पर आरूढ़ होकर आप कैसे पार जा सकेंगे ?”

गौतम ने कहा—“केशी महाराज ! नौका दो तरह की होती है : (१) सञ्छिद्र और (२) छिद्ररहित । जो नौका छिद्र वाली है वह पार नहीं करती, किन्तु छिद्ररहित नौका पार पहुँचाती है । आप कहेंगे कि संसार में नाव क्या है, तो उत्तर है—शरीर नौका और जीव नाविक है । आस्रवरहित शरीर से महर्षि संसार-समुद्र को पार कर लेते हैं ?”

(११) फिर केशिकुमार ने पूछा—“गौतम ! संसार के बहुत से प्राणी घोर अंधकार में भटक रहे हैं, लोक में इन सब प्राणियों को प्रकाश देने वाला कौन है ?”

गौतम ने कहा—“लोक में विमल प्रकाश करने वाले सूर्य का उदय हो गया है, जो सब जीवों को प्रकाश-दान करेगा । सर्वज्ञ जिनेश्वर ही वह भास्कर है, जो तमसावृत संसार को ज्ञान का प्रकाश दे सकते हैं ।”

(१२) तदनन्तर केशी ने सुख-स्थान की पृच्छा करते हुए प्रश्न किया—“संसार के प्राणी शारीरिक और मानसिक आदि विविध दुःखों से पीड़ित हैं, उनके लिये निर्भय, उपद्रवरहित और शान्तिदायक स्थान कौनसा है ?”

इस पर गौतम ने कहा—“लोक के अग्रभाग पर एक निश्चल स्थान है, जहाँ जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि और पीड़ा नहीं होती । वह स्थान सबको सुलभ नहीं है । उस स्थान को निर्वाण, सिद्धि, क्षेम एवं शिवस्थान आदि नाम से कहते हैं । उस शाश्वत स्थान को प्राप्त करने वाले मुनि चिन्ता से मुक्त हो जाते हैं ।”

इस प्रकार गौतम द्वारा अपने प्रत्येक प्रश्न का समुचित समाधान पाकर केशिकुमार बड़े प्रसन्न हुए और गौतम को श्रुतसागर एवं संशयातीत कह, उनका अभिवादन करने लगे । फिर सत्यप्रेमी और गुणग्राही होने से घोर पराक्रमी केशी ने शिर नवा कर गौतम के पास पंच-महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया ।

केशी और गौतम की इस ज्ञान-गोष्ठी से श्रावस्ती में ज्ञान और शील धर्म का बड़ा अद्भुत हुआ। उपस्थित सभी सभासद इस धर्म-चर्चा से सन्तुष्ट होकर सन्मार्ग पर प्रवृत्त हुए। श्रमण भगवान् महावीर भी धर्म-प्रचार करते हुए कुरु जनपद होकर हस्तिनापुर की ओर पधारे और नगर के बाहर सहस्राश्रवण में अनुज्ञा लेकर विराजमान हुए।

### शिव राजर्षि

हस्तिनापुर में उस समय राजा शिव का राज्य था। वे स्वभाव से संतोषी, भावनाशील और धर्मप्रेमी थे। एक बार मध्यरात्रि के समय उनकी निद्रा भंग हुई तो वे राज-काज की स्थिति पर विचार करते-करते सोचने लगे—“अहो! इस समय मैं सब तरह से सुखी हूँ। धन, धान्य, राज्य, राष्ट्र, पुत्र, मित्र, यान, वाहन, कोष और कोष्ठागार आदि से बढ रहा हूँ। वर्तमान में शुभ कर्मों का फल भोगते हुए मुझे भविष्य के लिए भी कुछ कर लेना चाहिये। भोग और ऐश्वर्य का कीट बनकर जीवन-यापन करना प्रशंसनीय नहीं होता। अचछा हो, कल सूर्योदय होने पर मैं लोहमय कड़ाह, कड़चछूल और ताम्रपात्र बनवाकर ‘शिव-भद्रकुमार’ को राज्याभिषिक्त करूँ और स्वयं गंगातटवासी, दिशापोषक वान-प्रस्थों के पास जाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लूँ।”

प्रातःकाल संकल्प के अनुसार उन्होंने सेवकजनों को आज्ञा देकर शिवभद्र कुमार का राज्याभिषेक किया। तदनन्तर लोहमय भाण्ड आदि बनवाकर उन्होंने मित्र-ज्ञातिजनों का भोजनादि से उचित सत्कार किया एवं उनके सम्मुख अपने विचार व्यक्त किये। सबकी सम्मति से तापसी-दीक्षा ग्रहण कर उन्होंने यह प्रतिज्ञा की—“मैं निरन्तर छट्ठ-बेले की तपस्या करते हुए दिशा चक्रवाल से दोनों बाहें उठाकर सूर्य के सम्मुख आतापना लेते हुए विचरूँगा।” प्रातःकाल होने पर उन्होंने वैसा ही किया।

अब वह राजर्षि बन गया। प्रथम छट्ठ तप के पारण में शिव राजर्षि वल्कल पहने तपोभूमि से कुटिया में आये और कठिन संकायिका-बाँस की छाव को लेकर पूर्व दिशा को पोषण करते हुए बोले—“पूर्व दिशा के सोम महाराज प्रस्थान में लगे हुए शिव राजर्षि का रक्षण करें और कंद, मूल, त्वचा, पत्र, फूल, फल आदि के लिए अनुज्ञा प्रदान करें।” ऐसा कहकर वे पूर्व की ओर चले और वहाँ से पत्रादि छाव में भरकर तथा दर्म, कुश, समिधा आदि हवनीय सामग्री लेकर लौटे। कठिन संयामिका को रखकर प्रथम उन्होंने वेदिका का निर्माण किया और फिर दर्म सहित कलश लिए गंगा पर गये। वहाँ स्नान किया और देव-पितरों का तर्पण कर भरे कलश के साथ वे कुटिया में पहुँचे। वहाँ विधि-पूर्वक अरणि से अग्नि उत्पन्न की और अग्नि-कुण्ड के दाहिने बाजू सक्था, वल्कल,

स्थान, शय्या-भाण्ड, कर्मडलु, दण्ड, काष्ठ और अपने आपको एकत्र कर मधु एवं घृत आदि से आहुति देकर चरु तैयार किया। फिर वैश्वदेव-बलि तथा अतिथि-पूजा करने के पश्चात् स्वयं ने भोजन किया।<sup>१</sup>

इस तरह लम्बे समय तक आतापनापूर्वक तप करते हुए शिव राजर्षि को विभंग ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सात समुद्र और सात द्वीप तक जानने व देखने लगे। इस नवीन ज्ञानोपलब्धि से शिव राजर्षि के मन में प्रसन्नता हुई और वे सोचने लगे—“मुझे तपस्या के फलस्वरूप विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हुआ है। सात द्वीप और सात समुद्र के आगे कुछ नहीं है।” शिव राजर्षि ने हस्तिनापुर में जाकर अपने ज्ञान की बात सुनाई और कहा—“सात द्वीप और समुद्रों के आगे कुछ नहीं है।”

उस समय श्रमण-भगवान्-महावीर भी हस्तिनापुर आये हुए थे। भगवान् की आज्ञा लेकर इन्द्रभूति (गौतम) हस्तिनापुर में भिक्षार्थ निकले तो उन्होंने लोक-मुख से सात द्वीप और सात समुद्र की बात सुनी। गौतम ने आकर भगवान् से पूछा—“क्या शिव राजर्षि का सात द्वीप और सात समुद्र का कथन ठीक है?”

भगवान् ने सात द्वीप, सात समुद्र सम्बन्धी शिव राजर्षि की बात को मिथ्या बतलाते हुए कहा—“इस धरातल पर जंबूद्वीप आदि असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं।”

लोगों ने गौतम के प्रश्नोत्तर की बात सुनी तो नगर में सर्वत्र चर्चा होने लगी कि भगवान् महावीर कहते हैं कि द्वीप और समुद्र सात ही नहीं, असंख्य हैं।

शिव राजर्षि को यह सुनकर शंका हुई, संकल्प-विकल्प करते हुए उनका वह प्राप्त विभंग-ज्ञान चला गया। शिव राजर्षि ने सोचा—“अवश्य ही मेरे ज्ञान में कमी है, महावीर का कथन सत्य होगा।” वे तापसी-आश्रम से निकलकर नगर के मध्य में होते हुए सहस्राश्रवण पहुँचे और महावीर को वन्दन कर योग्य स्थान पर बैठ गये।

श्रमण-भगवान्-महावीर ने जब धर्म-उपदेश दिया तो शिव राजर्षि के सरल व कोमल मन पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। वे विनयपूर्वक बोले—“भगवन् ! मैं आपकी वाणी पर श्रद्धा करता हूँ। कृपा कर मुझे निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित कीजिये।” उन्होंने तापसी उपकरणों का परित्याग किया और भगव-च्चरणों में पंच मुष्टि लोचकर श्रमण-धर्म स्वीकार किया।

निर्ग्रन्थमार्ग में प्रवेश करने के बाद भी वे विविध तप करते रहे। उन्होंने

एकादश अंग का अध्ययन किया और अन्त में सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया ।<sup>१</sup>

भगवान् के पीयूषवर्षी अमोघ उपदेशों से सत्पथ को पहिचान कर यहाँ कई धर्मार्थियों ने मुनि-धर्म की दीक्षा ली, उनमें पोट्टिल भनगार का नाम उल्लेखनीय है। कुछ काल पश्चात् महावीर हस्तिनापुर से 'मोका' नगरी होते हुए फिर वाणियग्राम पधारे और वहीं पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

### केवलीचर्या का सत्रहवाँ वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होते ही भगवान् विदेह भूमि से मगध की ओर पधारे और विहार करते हुए राजगृह के 'गुणशील' चैत्य में समवशरण किया। राजगृह में उस समय नियन्त्र्य प्रवचन को मानने वालों की संख्या बहुत बड़ी थी, फिर भी अन्य मतावलम्बियों का भी अभाव नहीं था। बौद्ध, आजीवक और अन्यान्य सम्प्रदायों के श्रमण एवं गृहस्थ भी अच्छी संख्या में वहाँ रहते थे। वे समय-समय पर एक-दूसरे की मान्यताओं पर विचार-वर्चा भी किया करते थे।

एक समय इन्द्रभूति गौतम ने आजीवक भिक्षुओं के सम्बन्ध में भगवान् से पूछा—“प्रभो ! आजीवक, स्थविरों से पूछते हैं कि यदि तुम्हारे श्रावक का, जब वह सामायिक व्रत में रहा हुआ हो, कोई भाण्ड चोरी चला जाय तो सामायिक पूर्ण कर वह उसकी तलाश करता है या नहीं ? यदि तलाश करता है तो वह अपने भांड की तलाश करता है या पराये की ?”

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया—“गौतम ! वह अपने भाण्ड की तलाश करता है, पराये की नहीं। सामायिक और पोषधोपवास से उसका भाण्ड, अभाण्ड नहीं होता है। केवल जब तक वह सामायिक आदि व्रत में रहता है, तब तक उसका भाण्ड उसके लिए अभाण्ड माना जाता है। आगे चलकर प्रभु ने श्रावक के उनचास भंगों का परिचय देते हुए श्रमणोपासक और आजीवक का भेद बतलाया।

आजीवक अरिहन्त को देव मानते और माता-पिता की सेवा करने वाले होते हैं। वे गूलर, बड़, बोर, शहतूत और पीपल—इन पाँच फलों और प्याज-लहसुन आदि कंद के त्यागी होते हैं। वे ऐसे बेलों से काम लेते हैं, जिनको बधिया नहीं किया जाता और न जिनका नाक ही बेधा जाता। जब आजीवक उपासक भी इस प्रकार निर्दोष जीविका चलाते हैं तो श्रमणोपासकों का तो

<sup>१</sup> भग० श० ११, उ० ६, सूत्र ४१८।



कहना ही क्या ? श्रमणोपासक पन्द्रह कर्मादानों के त्यागी<sup>१</sup> होते हैं, क्योंकि अंगार-कर्म आदि महा हिंसाकारी खरकर्म श्रावक के लिए त्याज्य कहे गये हैं ।

इस वर्ष बहुत से साधुओं ने राजगृह के विपुलाचल पर अनशन कर आत्मा का कार्य सिद्ध किया । भगवान् का यह वर्षाकाल भी राजगृही में सम्पन्न हुआ ।

### केवलीचर्या का अठाहरवाँ वर्ष

राजगृह का चातुर्मास पूर्ण कर भगवान् ने चम्पा की ओर विहार किया और उसके पश्चिम भाग, पृष्ठचम्पा नामक उपनगर में विराजमान हुए । प्रभु के विराजने की बात सुनकर पृष्ठचम्पा का राजा शाल और उसके छोटे भाई युवराज महाशाल ने भक्तिपूर्वक प्रभु का उपदेश सुना और शालराजा ने संसार से विरक्त होकर प्रभु के चरणों में श्रमणार्थ स्वीकार करना चाहा । जब उसने युवराज महाशाल को राज्य सम्भालने की बात कही तो उसने उत्तर दिया— “जैसे आप संसार से विरक्त हो रहे हैं, वैसे मैं भी प्रभु के उपदेश सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ ।” इस प्रकार दोनों के विरक्त हो जाने पर शाल ने अपने भानजे ‘गांगली’ नामक राजकुमार को बुलाया और उसे राज्यारूढ़ कर दोनों ने प्रभु के चरणों में श्रमणार्थ की दीक्षा ग्रहण की ।

पृष्ठचम्पा से भगवान् चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में पधारे । भगवान् महावीर के पदार्पण की शुभसूचना पाकर वहाँ के प्रमुख लोग वन्दन करने की गये । श्रमणोपासक कामदेव, जो उन दिनों अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार संभलाकर विशेष रूप से धर्मसाधना में तल्लीन था, वह भी प्रभु के चरण-वन्दन हेतु पूर्णभद्र उद्यान में आया और देशना श्रवण करने लगा ।

धर्म-देशना पूर्ण होने पर प्रभु ने कामदेव को सम्बोधित करते हुए कहा— “कामदेव ! रात में किसी देव ने तुमको पिशाच, हाथी और सर्प के रूप बनाकर विविध उपसर्ग दिये और तुम झडोल रहे, क्या यह सच है ?”

कामदेव ने विनयपूर्वक कहा—“हाँ भगवन् ! यह ठीक है ।”

भगवान् ने श्रमण निर्ग्रन्थों को सम्बोधित कर कहा—“आर्यों ! कामदेव ने गृहस्थाश्रम में रहते हुए दिव्य मानुषी और पशु सम्बन्धी उपसर्ग समभाव से सहन किये हैं ।<sup>२</sup> श्रमण निर्ग्रन्थों को इससे प्रेरणा लेनी चाहिये ।” श्रमण-

१ भगवती सूत्र, श० ८, उ० ५ ।

२ उपासक दशा सूत्र, २ अ० सू० ११४ ।

श्रमणियों ने भगवान् का वचन सविनय स्वीकार किया। चम्पा में इस प्रकार प्रभु ने बहुत उपकार किया।

### दशार्णभद्र को प्रतिबोध

चम्पा से विहार कर भगवान् ने दशार्णपुर की ओर प्रस्थान किया। वहाँ का महाराजा प्रभु महावीर का बड़ा भक्त था। उसने बड़ी धूमधाम से प्रभु-वन्दन की तैयारी की और चतुरंग सेना व राज-परिवार सहित सजधज कर वन्दन को निकला। उसके मन में विचार आया कि उसकी तरह उतनी बड़ी ऋद्धि के साथ भगवान् को वन्दन करने के लिए कौन आया होगा? इतने में सहसा गगनमंडल से उतरते हुए देवेन्द्र की ऋद्धि पर दृष्टि पड़ी तो उसका गर्व चूर-चूर हो गया। उसने अपने गौरव की रक्षा के लिये भगवान् के पास तत्क्षण दीक्षा ग्रहण की और श्रमण-संघ में स्थान पा लिया। देवेन्द्र, जो उसके गर्व को नष्ट करने के लिये अद्भुत ऋद्धि से आया हुआ था, दशार्णभद्र के इस साहस को देखकर लज्जित हुआ<sup>१</sup> और उनका अभिवादन कर स्वर्गलोक की ओर चला गया।

### सोमिल के प्रश्नोत्तर

दशार्णपुर से विदेह प्रदेश में विचरण करते हुए प्रभु वारिण्यग्राम पधारे। वहाँ उस समय 'सोमिल' नाम का ब्राह्मण रहता था, जो वेद-वेदांग का जानकार और पाँच सौ छात्रों का गुरु था। नगर के 'दूति पलाश' उद्यान में महावीर का आगमन सुनकर उसकी भी इच्छा हुई कि वह महावीर के पास जाकर कुछ पूछे। सौ छात्रों के साथ वह घर से निकला और भगवान् के पास आकर खड़े-खड़े बोला—“भगवन्! आपके विचार से यात्रा, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुक विहार का क्या स्वरूप है? तुम कौसी यात्रा मानते हो?”

महावीर ने कहा—“सोमिल! मेरे मत में यात्रा भी है, यापनीय, अव्या-बाध और प्रासुक विहार भी है। हम तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि क्रियाओं में यतनापूर्वक चलने को यात्रा कहते हैं। शुभ योग में यतना ही हमारी यात्रा है।”<sup>२</sup>

सोमिल ने फिर पूछा—“यापनीय क्या है?”

महावीर ने कहा—“सोमिल यापनीय दो प्रकार का है, इन्द्रिय यापनीय और तो इन्द्रिय यापनीय। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन्द्रिय को वश में

१ (क) उत्तराध्ययन १८ अ० की टीका. (ख) त्रिष०, १० प०, १० स०।

२ भगवती सू०, १८ श०, उ० १०, सू० ६४६ ॥

रखना मेरा इन्द्रिय यापनीय है और क्रोध, मान, माया, लोभ को जाग्रूत नहीं होने देना एवं उन पर नियन्त्रण रखना मेरा नो-इन्द्रिय यापनीय है।”

सोमिल ने फिर पूछा—भगवन् ! आपका अव्याबाध क्या है ?”

भगवान् बोले—“सोमिल ! शरीरस्थ वात, पित्त, कफ और सन्निपात-जन्य विविध रोगातंकों को उपशान्त करना एवं उनको प्रकट नहीं होने देना, यही मेरा अव्याबाध है।”

सोमिल ने फिर प्रासुक विहार के लिये पूछा तो महावीर ने कहा—“सोमिल ! आराम, उद्यान, देवकुल, सभा, प्रपा आदि स्त्री, पशु-पण्डक रहित बस्तियों में प्रासुक एवं कल्पनीय पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक स्वीकार कर विचरना ही मेरा प्रासुक विहार है।”

उपर्युक्त प्रश्नों में प्रभु को निरुत्तर नहीं कर सकने की स्थिति में सोमिल ने भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी कुछ अटपटे प्रश्न पूछे—“भगवन् ! सरिसव आपके भक्ष्य है या अभक्ष्य ?”

महावीर ने कहा—“सोमिल ! सरिसव को मैं भक्ष्य भी मानता हूँ और अभक्ष्य भी। वह ऐसे कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में ‘सरिसव’ शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक सदृशवय और दूसरा सर्षप याने सरसों। इनमें से समान वय वाले मित्त-सरिसव श्रमण निर्ग्रन्थों के लिये अभक्ष्य हैं और धान्य सरिसव जिसे सर्षप कहते हैं, उसके भी सचित्त और अचित्त, एषणीय-अनेषणीय याचित्त-अयाचित्त और लब्ध-अलब्ध, ऐसे दो-दो प्रकार होते हैं। उनमें हम अचित्त को ही निर्ग्रन्थों के लिये भक्ष्य मानते हैं, वह भी उस दशा में कि यदि वह एषणीय, याचित्त और लब्ध हो। इसके विपरीत सचित्त, अनेषणीय और अयाचित्त आदि प्रकार के सरिसव श्रमणों के लिये अभक्ष्य हैं। इसलिये मैंने कहा कि सरिसव को मैं भक्ष्य और अभक्ष्य दोनों मानता हूँ।”

सोमिल ने फिर दूसरा प्रश्न रखा—“मास आपके लिये भक्ष्य है या अभक्ष्य ?”

महावीर ने कहा—“सोमिल ! सरिसव के समान ‘मास’ भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी। वह इस तरह कि ब्राह्मण ग्रन्थों में मास दो प्रकार के कहे गये हैं, एक द्रव्य मास और दूसरा काल मास। काल मास जो श्रावण से आषाढ़ पर्यन्त बारह हैं, वे अभक्ष्य हैं। रही द्रव्य मास को वात, वह भी अर्थ मास और धान्य मास के भेद से दो प्रकार का है। अर्थ मास—तुवर्ण मास और रोप्य मास श्रमणों के लिये अभक्ष्य हैं। अब रहा धान्य मास, उसमें भी शस्त्र परिणत-अचित्त, एषणीय, याचित्त और लब्ध ही श्रमणों के लिये भक्ष्य है। शेष सचित्त आदि विशेषणवाला धान्य मास अभक्ष्य है।”

सरिसव और मास के संतोषजनक उत्तर पाने के बाद सोमिल ने पूछा—  
“भगवन् ! कुलत्था आपके भक्ष्य हैं या अभक्ष्य ?”

महावीर ने कहा—“सोमिल ! कुलत्था भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी । भक्ष्याभक्ष्य उभयरूप कहने का कारण इस प्रकार है—“शास्त्रों में ‘कुलत्था’ के अर्थ कुलीन स्त्री और कुलश्री धान्य दो किये गये हैं । कुल-कन्या, कुल-दधू और कुल-माता ये तीनों ‘कुलत्था’ अभक्ष्य हैं । धान्य कुलत्था जो अचित्त, एषणीय, निर्दोष, याचित और लब्ध हैं, वे भक्ष्य हैं । शेष सचित्त, सदोष, अयाचित और अलब्ध कुलत्था निर्ग्रन्थों के लिये अभक्ष्य हैं ।”

अपने इन अटपटे प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर पा लेने के बाद महावीर की तत्त्वज्ञता को समझने के लिये उसने कुछ सैद्धान्तिक प्रश्न पूछे—“भगवन् ! आप एक हैं अथवा दो ? अक्षय, अव्यय और अवस्थित हैं अथवा भूत, भविष्यत्, वर्तमान के अनेक रूपधारी हैं ?

महावीर ने कहा—“मैं एक भी हूँ और दो भी हूँ । अक्षय हूँ, अव्यय हूँ और अवस्थित भी हूँ । फिर अपेक्षा से भूत, भविष्यत् और वर्तमान के नाना रूपधारी भी हूँ ।”

अपनी बात का स्पष्टीकरण करते हुए प्रभु ने कहा—“द्रव्यरूप से मैं एक आत्म-द्रव्य हूँ । उपयोग गुरा की दृष्टि से ज्ञान, उपयोग और दर्शन उपयोग रूप चेतना के भेद से दो हूँ । आत्म प्रदेशों में कभी क्षय, व्यय और न्यूनाधिकता नहीं होती इसलिये अक्षय, अव्यय और अवस्थित हूँ । पर परिवर्तनशील उपयोग-पर्यायों की अपेक्षा भूत, भविष्य एवं वर्तमान का नाना रूपधारी भी हूँ ।”

सोमिल ने अद्वैत, द्वैत, नित्यवाद और क्षणिकवाद जैसे वहाँ चर्चा करने पर भी न सुलभाने वाले दर्शन के प्रश्न रखे, पर महावीर ने अपने अनेकान्त सिद्धान्त से उनका क्षणभर में समाधान कर दिया, इससे सोमिल बहुत प्रभावित हुआ । उसने श्रद्धापूर्वक भगवान् की देशना सुनी, श्रावकधर्म स्वीकार किया और उनके चरणों में वन्दना कर अपने घर चला गया । सोमिल ने श्रावकधर्म की साधना कर अन्त में समाधिपूर्वक आयु पूर्ण किया और स्वर्गगति का अधि-कारी बना ।

भगवान् का यह चातुर्मास ‘वाणियग्राम’ में ही पूर्ण हुआ ।

### केवलीचर्या का उन्नीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल समाप्त कर भगवान् कौशल देश के साकेत, सावत्थी आदि

नगरों को पावन करते हुए पांचाल की ओर पधारे और कपिलपुर के बाहर सहस्राभवन में विराजमान हुए। कम्पिलपुर में अम्बड़ नाम का एक ब्राह्मण परिव्राजक अपने सात सौ शिष्यों के साथ रहता था। जब उसने महावीर के त्याग-तपोमय जीवन को देखा और वीतरागतामय निर्दोष प्रवचन सुने, तो वह शिष्य-मंडली सहित जैनधर्म का उपासक बन गया। परिव्राजक सम्प्रदाय की वेष-भूषा रखते हुए भी उसने जैन देश-विरति धर्म का अच्छी तरह पालन किया।

एक दिन भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए गौतम ने अम्बड़ के लिये सुना कि अम्बड़ संन्यासी कम्पिलपुर में एक साथ सौ घरों में आहार ग्रहण करता और सौ ही घरों में दिखाई देता है।

गौतम ने जिज्ञासापूर्णां स्वर में विनयपूर्वक भगवान् से पूछा—“भगवन् ! अम्बड़ के विषय में लोग कहते हैं कि वह एक साथ सौ घरों में आहार ग्रहण करता है। क्या यह सच है ?” प्रभु ने उत्तर में कहा—“गौतम ! अम्बड़ परिव्राजक विनीत और प्रकृति का भद्र है। निरन्तर छट्ठ तप-बेले-बेले की तपस्या के साथ आतापना करते हुए उसको शुभ-परिणामों से वीर्यलब्धि और वैक्रिय-लब्धि के साथ अवधिज्ञान भी प्राप्त हुआ है। अतः लब्धिवल से वह सौ रूप बना कर सौ घरों में दिखाई देता और सौ घरों में आहार ग्रहण करता है, यह ठीक है।”

“गौतम ने पूछा—“प्रभो ! क्या वह आपकी सेवा में श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करेगा ?”

प्रभु ने उत्तर में कहा—“गौतम ! अम्बड़ जीवाजीव का ज्ञाता श्रमणोपासक है। वह उपासक जीवन में ही आयु पूर्ण करेगा। श्रमणधर्म ग्रहण नहीं करेगा।”

### अम्बड़ की चर्या

भगवान् ने अम्बड़ की चर्या के सम्बन्ध में कहा—“गौतम ! यह अम्बड़ स्थूल हिंसा, भूठ और अदत्तादान का त्यागी, सर्वथा ब्रह्मचारी और संतोषी होकर विचरता है। वह यात्रा में चलते हुए मार्ग में आए पानी को छोड़कर अन्यत्र किसी नदी, कूप या तालाब आदि में नहीं उतरता। रथ, गाड़ी, पालकी आदि यान अथवा हाथी, घोड़ा आदि वाहनों पर भी नहीं बैठता। मात्र चरणयात्रा करता है। खेल, तमाशे, नाटक आदि नहीं देखता और न राजकथा, देशकथा आदि कोई विकथा ही करता है। वह हरी वनस्पति का छेदन-भेदन और स्पर्श भी नहीं करता। पात्र में तुम्बा, काष्ठ-पात्र और मृत्तिका-भाजन के

अतिरिक्त तांबा, सोना और चाँदी आदि किसी धातु के पात्र नहीं रखता। गेरुआ चादर के अतिरिक्त किसी अन्य रंग के वस्त्र धारण नहीं करता है। एक ताम्रमय पवित्रक को छोड़ कर किसी प्रकार का आभूषण धारण नहीं करता। एक कर्णपूर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का पुष्पहार आदि का उपयोग भी नहीं करता। शरीर पर केसर, चन्दन आदि का विलेपन नहीं करता, मात्र गंगा की मिट्टी का लेप चढ़ाता है। आहार में वह अपने लिये बनाया हुआ, खरीदा हुआ और अन्य द्वारा लाया हुआ भोजन भी ग्रहण नहीं करता। उसने स्नान और पीने के लिये जल का भी प्रमाण कर रखा है। वह पानी भी छाना हुआ और दिया हुआ ही ग्रहण करता है। बिना दिया पानी स्वयं जलाशय से नहीं लेता।”

अनेक वर्षों तक इस तरह साधना का जीवन व्यतीत कर अम्बड़ संन्यासी अन्त में एक मास के अनशन की आराधना कर ब्रह्मलोक-स्वर्ग में ऋद्धिमान् देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

अम्बड़ के शिष्यों ने भी एक बार जंगल में जल देने वाला नहीं मिलने से तृषा-पीड़ित हो गंगा नदी के तट पर बालुकामय संधारे पर आजीवन अनशन कर प्राणोत्सर्ग कर दिया और ब्रह्मकल्प में बीस सागर की स्थिति वाले देवरूप से उत्पन्न हुए। विशेष जानकारी के लिये औपपातिक सूत्र का अम्बड़ प्रकरण द्रष्टव्य है।

कम्पिलपुर से विचरते हुए भगवान् वैशाली पधारे और यहीं पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

### केवलीचर्या का बीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल समाप्त कर अनेक भूभागों में विचरण करते हुए प्रभु पुनः एक बार वाणियग्राम पधारे। वाणियग्राम के दूतिपलाश चैत्य में जब भगवान् धर्म-देशना दे रहे थे, उस समय एक दिन पार्श्व सन्तानीय ‘गांगेय’ मुनि वहाँ आये और दूर खड़े रहकर भगवान् से निम्न प्रकार बोले—

“भगवन् ! नारक जीव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर ?”

भगवान् ने कहा—“गांगेय ! नारक अन्तर से भी उत्पन्न होते हैं और बिना अन्तर के निरन्तर भी उत्पन्न होते हैं।”

इस प्रकार के अन्यान्य प्रश्नों के भी समुचित उत्तर पाकर गांगेय ने भगवान् को सर्वज्ञ रूप से स्वीकार किया और तीन बार प्रदक्षिणा एवं वन्दना कर उसने चातुर्यामि धर्म से पंच महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया। वे महावीर के श्रमणसंघ में सम्मिलित हो गये।<sup>१</sup>

तदनन्तर अन्यान्य स्थानों में विहार करते हुए भगवान् वैशाली पधारे और वहाँ पर दूसरा चातुर्मास व्यतीत किया ।

### केवलीचर्या का इक्कीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् ने वैशाली से मगध की ओर प्रस्थान किया । वे अनेक क्षेत्रों में धर्मोपदेश करते हुए राजगृह पधारे और गुणशील उपवन में विराजमान हुए । गुणशील उद्यान के पास अन्यतीर्थ के बहुत से साधु रहते थे । उनमें समय-समय पर कई प्रकार के प्रश्नोत्तर होते रहते थे । अधिकांशतः वे स्वमत का मंडन और परमत का खण्डन किया करते । गौतम ने उनकी कुछ बातें सुनीं तो उन्होंने भगवान् के सामने जिज्ञासाएं प्रस्तुत कर शंकाओं का समाधान प्राप्त किया । भगवान् ने, श्रुतसम्पन्न और शीलसम्पन्न में कौन श्रेष्ठ है, यह बतलाया और जीव तथा जीवात्मा को भिन्न मानने की लोक-मान्यता का भी विरोध किया । उन्होंने कहा—“जीव और जीवात्मा भिन्न नहीं, एक ही हैं ।”

एक दिन तीर्थिकों में पंचास्तिकाय के विषय में भी चर्चा चली । वे इस पर तर्क-वितर्क कर रहे थे । उस समय भगवान् के आगमन की बात सुनकर राजगृह का श्रद्धाशील श्रावक ‘मद्दुक’ भी तापसाश्रम के पास से प्रभु-वन्दन के लिये जा रहा था । कालोदायी आदि तीर्थिक, जो पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे थे, मद्दुक श्रावक को जाते देखकर आपस में बोले—“अहो अर्हद्भूक्त मद्दुक इधर से जा रहा है । वह महावीर के सिद्धान्त का अच्छा ज्ञाता है । क्यों नहीं प्रस्तुत विषय पर उसकी भी राय ले ली जाय ।”

ऐसा सोचकर वे लोग पास आये और मद्दुक को रोककर बोले—“मद्दुक ! तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर पंच अस्तिकायों का प्रतिपादन करते हैं । उनमें एक को जीव और चार को अजीव तथा एक को रूपी और पाँच को अरूपी बतलाते हैं । इस विषय में तुम्हारी क्या राय है तथा अस्तिकायों के विषय में तुम्हारे पास क्या प्रमाण है ?”

उत्तर देते हुए मद्दुक ने कहा—“अस्तिकाय अपने-अपने कार्य से जाने जाते हैं । संसार में कुछ पदार्थ दृश्य और कुछ अदृश्य होते हैं जो अनुभव, अनुमान एवं कार्य से जाने जाते हैं ।

तीर्थिक बोले—“मद्दुक ! तू कैसा श्रमणोपासक है, जो अपने धर्माचार्य के कहे हुए द्रव्यों को जानता-देखता नहीं, फिर उनको मानता कैसे है ?”

मद्दुक ने कहा—“तीर्थिको ! हवा चलती है, तुम उसका रंग रूप देखते हो ?”

तीर्थियों ने कहा—“सूक्ष्म होने से हवा का रूप देखा नहीं जाता ।”

इस पर मद्दुक ने पूछा—“गंध के परमाणु, जो घ्राणेन्द्रिय के तीन विषय होते हैं, क्या तुम सब उनका रूप-रंग देखते हो ?”

“नहीं, गंध के परमाणु भी सूक्ष्म होने से देखे नहीं जाते”, तीर्थियों ने कहा ।

मद्दुक ने एक और प्रश्न रखा—“अरणिकाष्ठ में अग्नि रहती है, क्या तुम सब अरणि में रही हुई आग के रंग-रूप को देखते हो ? क्या देवलोक में रहे हुए रूपों को तुम देख पाते हो ? नहीं, तो क्या तुम जिनको नहीं देख सको, वह वस्तु नहीं है ? दृष्टि में प्रत्यक्ष नहीं आने वाली वस्तुओं को यदि अमान्य करोगे तो तुम्हें बहुत से इष्ट पदार्थों का भी निषेध करना होगा । इस प्रकार लोक के अधिकतम भाग और भूतकाल की वंश-परम्परा को भी अमान्य करना होगा ।”

मद्दुक की युक्तियों से तैथिक अवाक् रह गये और उन्हें मद्दुक की बात माननी पड़ी । अन्य तीर्थियों को निरुत्तर कर जब मद्दुक भगवान् की सेवा में पहुँचा तब प्रभु ने मद्दुक के उत्तरों का समर्थन करते हुए उसकी शासन-प्रीति का अनुमोदन किया । ज्ञातृपुत्र भ० महावीर के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर मद्दुक बहुत प्रसन्न हुआ और ज्ञानचर्चा कर अपने स्थान की ओर लौट गया ।

गौतम को मद्दुक श्रावक की योग्यता देखकर जिज्ञासा हुई और उन्होंने प्रभु से पूछा—“प्रभो ! क्या मद्दुक श्रावक आगार-धर्म से अनगार-धर्म ग्रहण करेगा ? क्या यह आपका श्रमण शिष्य होगा ?”

प्रभु ने कहा—“गौतम ! मद्दुक प्रव्रज्या ग्रहण करने में समर्थ नहीं है । यह गृहस्थधर्म में रह कर ही देश-धर्म की आराधना करेगा और अन्तिम समय समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर ‘अरुणाभ’ विमान में देव होगा और फिर मनुष्य भव में संयमधर्म की साधना कर सिद्ध, बुद्ध मुक्त होगा ।”

तत्पश्चात् विविध क्षेत्रों में धर्मोपदेश देते हुए अन्त में राजगृह में ही भगवान् ने वर्षाकाल व्यतीत किया । प्रभु के विराजने से लोगों का बड़ा उपकार हुआ ।

### केवलीचर्या का बाईसवाँ वर्ष

राजगृह से विहार कर भगवान् हेमन्त ऋतु में विभिन्न स्थानों में विचरण करते एवं धर्मोपदेश देते हुए पुनः राजगृह पधारे तथा गुणशील चैत्य में विराजमान हुए ।



एक बार जब इन्द्रभूति राजगृह से भिक्षा लेकर भगवान् के पास गुरुशील उद्यान की ओर आ रहे थे, तो मार्ग में कालोदायी शैलोदायी आदि तैथिक पंचास्तिकाय की चर्चा कर रहे थे। गौतम को देख कर वे पास आये और बोले—“गौतम ! तुम्हारे धर्माचार्य ज्ञातपुत्र महावीर धर्मास्तिकाय आदि पंचास्तिकायों को प्ररूपणा करते हैं, इसका मर्म क्या है और इन रूपी-अरूपी कार्यों के सम्बन्ध में कैसा क्या समझना चाहिये ? तुम उनके मुख्य शिष्य हो, अतः कुछ स्पष्ट कर सको तो बहुत अच्छा हो।”

गौतम ने संक्षेप में कहा—“हम अस्तित्व में ‘नास्तित्व’ और ‘नास्तित्व’ में अस्तित्व नहीं कहते। विशेष इस विषय में तुम स्वयं विचार करो, चिन्तन से रहस्य समझ सकोगे।”

गौतम तीर्थियों को निरुत्तर कर भगवान् के पास आये, पर कालोदायी आदि तीर्थियों का इससे समाधान नहीं हुआ। वे गौतम के पीछे-पीछे भगवान् के पास आये। भगवान् ने भी प्रसंग पाकर कालोदायी को सम्बोधित कर कहा—“कालोदायी ! क्या तुम्हारे साथियों में पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में चर्चा चली?”

कालोदायी ने स्वीकार करते हुए कहा—“हाँ महाराज ! जब से हमने आपके सिद्धान्त सुने हैं, तब से हम इस पर तर्क-वितर्क किया करते हैं।

भगवान् ने उत्तर में कहा—“कालोदायी ! यह सच है कि इन पंचास्तिकायों पर कोई सो, बैठ या चल नहीं सकता, केवल पुद्गलास्तिकाय ही ऐसा है जिस पर ये क्रियायें हो सकती हैं।

कालोदायी ने फिर पूछा—“भगवन् ! जीवों के दुष्ट-विपाक रूप पापकर्म पुद्गलास्तिकाय में किये जाते हैं या जीवास्तिकाय में ?”

महावीर ने कहा—“कालोदायी ! पुद्गलास्तिकाय में जीवों के दुष्ट-विपाक रूप पाप नहीं किये जाते, किन्तु वे जीवास्तिकाय में ही किये जाते हैं। पाप ही नहीं सभी प्रकार के कर्म जीवास्तिकाय में ही होते हैं। जड़ होने से अन्य धर्मास्तिकाय आदि कार्यों में कर्म नहीं किये जाते।”

इस प्रकार भगवान् के विस्तृत उत्तरों से कालोदायी की शंका दूर हो गई। उसने भगवान् के चरणों में निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने की अभिलाषा व्यक्त की। अक्सर देख कर भगवान् ने भी उपदेश दिया। उसके फलस्वरूप कालोदायी निर्ग्रन्थ मार्ग में दीक्षित हो कर मुनि बन गया। क्रमशः ग्यारह अंगों का अध्ययन कर वह प्रवचन-रहस्य का कुशल ज्ञाता हुआ।<sup>१</sup>

### उदक पेड़ाल और गौतम

राजगृह के ईशान कोण में नालंदा नाम का एक उपनगर था। वहाँ 'लेव' नामक माथापति निर्धन्थ-प्रवचन का अनुयायी और श्रमणों का बड़ा भक्त था। 'लेव' ने नालंदा के ईशान कोण में एक शाला का निर्माण करवाया जिसका नाम 'शेष द्रविका' रखा गया। कहा जाता है कि गृहनिर्माण से बचे हुए द्रव्य से वह शाला बनाई गई थी, अतः उसका नाम 'शेष द्रविका' रखा गया। उसके निकटवर्ती 'हस्तियाम' उद्यान में एक समय भगवान् महावीर विराजमान थे। वहाँ पेड़ालपुत्र 'उदक', जो पार्श्वनाथ परम्परा के श्रमण थे, इन्द्रभूति-गौतम से मिले और उनसे बोले—“आयुष्मन् गौतम ! मैं तुमसे कुछ पूछना चाहता हूँ।” गौतम की अनुमति पा कर उदक बोले—“कुमार पुत्र श्रमण ! अपने पास नियम लेने वाले उपासक को ऐसी प्रतिज्ञा कराते हैं—“राजाज्ञा आदि कारण से किसी गृहस्थ या चोर को बाँधने के अतिरिक्त किसी त्रस जीव की हिंसा नहीं करूँगा।”<sup>१</sup> ऐसा पञ्चखाण दुपञ्चखाण है, यानी इस तरह के प्रत्याख्यान करना-कराना प्रतिज्ञा में दूषण रूप हैं। क्योंकि संसारी प्राणी स्थावर मर कर त्रस होते और त्रस मर कर स्थावर रूप से भी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जो जीव त्रस रूप में अघात्य थे, वे ही स्थावर रूप में उत्पन्न होने पर घात-योग्य हो जाते हैं। इसलिये प्रत्याख्यान में इस प्रकार का विशेषण जोड़ना चाहिये कि 'त्रसभूत जीवों की हिंसा नहीं करूँगा। भूत विशेषण से यह दोष टल सकता है। हे गौतम ! तुम्हें मेरी यह बात कैसी जँचती है ?”

उत्तर में गौतम ने कहा—“आयुष्मन् उदक ! तुम्हारी बात मेरे ध्यान में ठोक नहीं लगती और मेरी समझ से पूर्वाक्त प्रतिज्ञा कराने वालों को दुपञ्चखाण कराने वाला कहना भी उचित नहीं, क्योंकि यह मिथ्या आरोप लगाने के समान है। वास्तव में त्रस और त्रसभूत का एक ही अर्थ है। हम जिसको त्रस कहते हैं, उस ही को तुम त्रसभूत कहते हो। इसलिये त्रस की हिंसा त्यागने वाले को वर्तमान त्रस पर्याय की हिंसा का त्याग होता है, भूतकाल में चाहे वह स्थावर रूप से रहा हो या त्रस रूप से, इसकी अपेक्षा नहीं है। पर जो वर्तमान में त्रस पर्यायधारी है, उन सबकी हिंसा उसके लिये वर्ज्य होती है।<sup>२</sup>

त्यागी का लक्ष्य वर्तमान पर्याय से है, भूत पर्याय किसी की क्या थी, अथवा भविष्यत् में किसी की क्या पर्याय होने वाली है यह ज्ञानी ही समझ सकते हैं। अतः जो लोग सम्पूर्ण हिंसा त्यागरूप श्रामण्य नहीं स्वीकार कर पाते वे मर्यादित प्रतिज्ञा करते हुए कुशल परिणाम के ही पात्र माने जाते हैं। इस प्रकार त्रस हिंसा के त्यागी श्रमणोपासक का स्थावर-पर्याय की हिंसा से त्रस-भंग नहीं होता।”

१ सूत्र कृतांग, २।७।७२ सूत्र, (नालंदायाध्ययन)

२ सूत्र कृतांग सू०, २।७, सूत्र ७३-७४। (नालंदायाध्ययन)

गौतम स्वामी और उदक-पेड़ाल के बीच विचार-चर्चा चल रही थी कि उसी समय पार्श्वपत्य अन्य स्थविर भी वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देख कर गौतम ने कहा—“उदक ! ये पार्श्वपत्य स्थविर आये हैं, लो इन्हीं से पूछ लें।”

गौतम ने स्थविरों से पूछा—“स्थविरों ! कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनको जीवनपर्यन्त अनगार-साधु नहीं मारने की प्रतिज्ञा है। कभी कोई वर्तमान साधु पर्याय में वर्षों रह कर फिर गृहवास में चला जाय और किसी अपरिहार्य कारण से वह साधु की हिंसा त्यागने वाला गृहस्थ उसकी हिंसा कर डाले तो उसे साधु की हिंसा का पाप लगेगा क्या ?”

स्थविरों ने कहा—“नहीं, इससे प्रतिज्ञा का भंग नहीं होता।”

गौतम ने कहा—“निर्ग्रन्थो ! इसी प्रकार त्रसकाय की हिंसा का त्यागी गृहस्थ भी स्थावर की हिंसा करता हुआ अपने पञ्चखाण का भंग नहीं करता।”

इस प्रकार अन्य भी अनेक दृष्टान्तों से गौतम ने उदक-पेड़ाल मुनि की शंका का निराकरण किया और समझाया कि त्रस मिट कर सब स्थावर हो जायें या स्थावर सब के सब त्रस हो जायें, यह संभव नहीं।

गौतम के युक्तिपूर्ण उत्तर और हित-वचनों से मुनि उदक ने समाधान पाया और सरलभाव से बिना वन्दन के ही जाने लगा तो गौतम ने कहा—“आयुष्मन् उदक ! तुम जानते हो, किसी भी श्रमण-माहरण से एक भी आर्य-धर्म युक्त वचन सुन कर उससे ज्ञान पाने वाला मनुष्य देव की तरह उसका सत्कार करता है।”

गौतम की इस प्रेरणा से उदक समझ गया और बोला—“गौतम महाराज ! मुझे पहले इसका ज्ञान नहीं था, अतः उस पर विश्वास नहीं हुआ। अब आपसे सुनकर मैंने इसको संभ्रमा है, मैं उस पर श्रद्धा करता हूँ।”

गौतम द्वारा प्रेरित हो निर्ग्रन्थ उदक ने पूर्ण श्रद्धा व्यक्त की और भगवान् के चरणों में जाकर विनयपूर्वक चातुर्यामि परम्परा से पंच महाव्रत रूप धर्म-परम्परा स्वीकार की। अब ये भगवान् महावीर के श्रमण संघ में सम्मिलित हो गये।<sup>१</sup>

इधर-उधर कई क्षेत्रों में विचरण करने के पश्चात् प्रभु ने इस वर्ष का चातुर्मास भी नालन्दा में व्यतीत किया।

### केवलीचर्या का तेईसवाँ वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् नालन्दा से विहार कर विदेह की राजधानी के पास वाणियग्राम पधारे। उन दिनों वाणियग्राम व्यापार का एक अच्छा केन्द्र था। वहाँ के विभिन्न वनपतियों में सुदर्शन सेठ एक प्रमुख व्यापारी था। जब भगवान् वाणियग्राम के 'दूति पलाश' चैत्य में पधारे तो दर्शनार्थ नगरवासियों का ताँता सा लग गया। हजारों नर-नारी भगवान् को वन्दन करने एवं उनकी अमृतमयी वाणी को सुनने के लिये वहाँ एकत्र हुए। सुदर्शन भी उनके बीच सेवा में पहुँचा। सभाजनों के चले जाने पर सुदर्शन ने वन्दन कर पूछा—“भगवन् ! काल कितने प्रकार का है ?”

प्रभु ने उत्तर में कहा—“सुदर्शन ! काल चार प्रकार का है :

(१) प्रमाणकाल, (२) यथायुष्क-निवृत्तिकाल, (३) मरणकाल और (४) अद्वाकाल।”<sup>१</sup>

सुदर्शन ने फिर पूछा—“प्रभो ! पल्योपम और सागरोपम काल का भी क्षय होता है या नहीं ?”

सुदर्शन को पल्योपम का काल-मान समझाते हुए भगवान् ने उसके पूर्व-भव का वृत्तान्त सुनाया। भगवान् के मुख से अपने बीते जीवन की बात सुनकर सुदर्शन का अन्तर जागृत हुआ और चिन्तन करते हुए उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। अपने पूर्वभव के स्वरूप को देखकर वह गद्गद हो गया। हर्षाश्रु से पुलकित हो उसने द्विगुणित वैराग्य एवं उल्लास से भगवान् को वन्दन किया। श्रद्धावन्त हो उसने तत्काल वहीं पर श्रमण भगवान् महावीर के चरणों में श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। फिर क्रमशः एकादशांगी और चौदह पूर्वों का अध्ययन कर उसने बारह वर्ष तक श्रमण-धर्म का पालन किया और अन्त में कर्मक्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।<sup>२</sup>

### गौतम और आनन्द श्रावक

एक बार गणधर गौतम भगवान् की आज्ञा से वाणियग्राम में भिक्षा के लिये पधारे। भिक्षा लेकर जब वे 'दूति पलाश' चैत्य की ओर लौट रहे थे तो मार्ग में 'कोल्लाग सन्निवेश' के पास उन्होंने आनन्द श्रावक के अनशन ग्रहण की बात सुनी। गौतम के मन में विचार हुआ कि आनन्द प्रभु का उपासक शिष्य है और उसने अनशन कर रखा है, तो जाकर उसे देखना चाहिये। ऐसा विचार कर वे 'कोल्लाग सन्निवेश' में आनन्द के पास दर्शन देने पधारे।

१ भगवती सूत्र, शतक ११, उ० ११, सूत्र ४२४।

२ भग० श०, श० ११, उ० ११, सूत्र ४३२।

गौतम को पास आये देख कर आनन्द अत्यन्त प्रसन्न हुए और विनयपूर्वक बोले—“भगवन् ! अब मेरी उठने की शक्ति नहीं है, अतः जरा चरण मेरी ओर बढ़ायें, जिससे कि मैं उनका स्पर्श और वन्दन कर लूँ ।” गौतम के समीप पहुँचने पर आनन्द ने वन्दन किया और वार्तालाप के प्रसंग से वे बोले—“भगवन् ! घर में रहते हुए गृहस्थ को अवधिज्ञान होता है क्या ?”

गौतम ने कहा—“हाँ”

आनन्द फिर बोले—“मुझे गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है । मैं लवणा समुद्र में तीनों ओर ५००-५०० योजन तक, उत्तर में चुल्ल हिमवंत पर्वत तक तथा ऊपर सौधर्म देवलोक तक और नीचे ‘लोलच्छुभ्र’ नरकावास तक के रूपी पदार्थों को जानता और देखता हूँ ।”

इस पर गौतम सहसा बोले—“आनन्द ! गृहस्थ को अवधिज्ञान तो होता है, पर इतनी दूर तक का नहीं होता । अतः तुमको इसकी आलोचना करनी चाहिए ।”

आनन्द बोला—“भगवन् ! जिन-शासन में क्या सच कहने वालों को आलोचना करनी होती है ?”

गौतम ने कहा—“नहीं, सच्चे को आलोचना नहीं करनी पड़ती ।”

यह सुन कर आनन्द बोला—“भगवन् ! फिर आपको ही आलोचना करनी चाहिए ।”

आनन्द की बात से गौतम का मन शंकित हो गया । वे शीघ्र ही भगवान् के पास ‘दूति पलाश’ चैत्य में आये । भिक्षाचर्या दिखाकर आनन्द की बात सामने रखी और बोले—“भगवन् ! क्या आनन्द को इतना अधिक अवधिज्ञान हो सकता है ? क्या वह आलोचना का पात्र नहीं है ?”

भगवान् ने उत्तर में कहा—“गौतम ! आनन्द श्रावक ने जो कहा, वह ठीक है । उसको इतना अधिक अवधिज्ञान हुआ है यह सही है, अतः तुमको ही आलोचना करनी चाहिये ।”

भगवान् की आज्ञा पाकर बिना पारणा किये ही गौतम आनन्द के पास गये और उन्होंने अपनी भूल स्वीकार कर, आनन्द से क्षमायाचना की ।<sup>१</sup>

ग्राम नगरादि में विचरते हुए फिर भगवान् वैशाली पधारे और वहीं पर इस वर्ष का वर्षावास पूर्ण किया ।

### केवलीचर्या का चौबीसवाँ वर्ष

वैशाली का चातुर्मास पूर्ण कर भगवान् कोशल भूमि के ग्राम-नगरों में धर्मोपदेश करते हुए साकेतपुर पधारे। साकेत कोशल देश का प्रसिद्ध नगर था। वहाँ का निवासी जिनदेव श्रावक दिग्गयात्रा करता हुआ 'कोटिवर्ष' नगर पहुँचा। उन दिनों वहाँ म्लेच्छ का राज्य था। व्यापार के लिये आये हुए जिनदेव ने 'किरातराज' को बहुमूल्य रत्न आभूषणादि भेंट किये। अदृष्ट पदार्थों को देखकर किरातराज बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—“ऐसे रत्न कहाँ उत्पन्न होते हैं ?”

जिनदेव बोला—“राजन् ! हमारे देश में इनसे भी बढ़िया रत्न उत्पन्न होते हैं।”

किरातराज ने उत्कण्ठा भरे स्वर में कहा—“मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे यहाँ चलकर उन रत्नों को देखूँ, पर तुम्हारे राजा का डर लगता है।”

जिनदेव ने कहा—“महाराज ! राजा से डर की कोई बात नहीं है। फिर भी आपकी शंका मिटाने हेतु मैं उनकी अनुमति प्राप्त कर लेता हूँ।”

ऐसा कह कर जिनदेव ने राजा को पत्र लिखा और उनसे अनुमति प्राप्त कर ली। किरातराज भी अनुमति प्राप्त कर साकेतपुर आये और जिनदेव के यहाँ ठहर गये। संयोगवश उस समय भगवान् महावीर साकेतपुर पधारे हुए थे। नगर में महावीर के पधारने के समाचार पहुँचते ही महाराज शत्रुंजय प्रभु को वन्दन करने निकल पड़े। नागरिक लोग भी हजारों की संख्या में भगवान् की सेवा में पहुँचे। नगर में दर्शनास्थियों की बड़ी हलचल थी।

किरातराज ने जनसमूह को देखकर जिनदेव से पूछा—“सार्थवाह ! ये लोग कहाँ जा रहे हैं ?” जिनदेव ने कहा—“महाराज ! रत्नों का एक बड़ा व्यापारी आया है, जो सर्वोत्तम रत्नों का स्वामी है। उसी के पास ये लोग जा रहे हैं।”

किरातराज ने कहा—“फिर तो हमको भी चलना चाहिये।” यह कह कर वे जिनदेव के साथ धर्म-सभा की ओर चल पड़े। तीर्थंकर के छत्रत्रय और सिंहासन आदि देखकर किरातराज चकित हो गये। किरातराज ने महावीर के चरणों में वन्दन कर रत्नों के भेद और मूल्य के सम्बन्ध में पूछा।

महावीर बोले—“देवानुप्रिय ! रत्न दो प्रकार के हैं, एक द्रव्यरत्न और दूसरा भावरत्न। भावरत्न के मुख्य तीन प्रकार हैं :—(१) दर्शन रत्न, (२) ज्ञान रत्न और (३) चारित्र्य रत्न।” भावरत्नों का विस्तृत वर्णन करके प्रभु ने कहा—“यह ऐसे प्रभावशाली रत्न हैं, जो धारक की प्रतिष्ठा बढ़ाने के अतिरिक्त

उसके लोक और परलोक दोनों का सुधारते हैं। द्रव्यरत्नों का प्रभाव परिमित है। वे वर्तमान काल में ही सुखदायी होते हैं पर भावरत्न भव-भवान्तर में भी सद्गतिदायक और सुखदायी होते हैं।”

भगवान् का रत्न-विषयक प्रवचन सुनकर किरातराज बहुत प्रसन्न हुआ। वह हाथ जोड़कर बोला—“भगवन् ! मुझे भावरत्न प्रदान कीजिये।” भगवान् ने रजोहरण और मुखवस्त्रिका दिलवाये जिनको किरातराज ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया और वे भगवान् के श्रमण-संघ में दीक्षित हो गये।<sup>१</sup>

फिर साकेतपुर से विहार कर भगवान् पांचाल प्रदेश के कम्पलपुर में पधारे। प्रभु ने वहाँ से सूरसेन देश की ओर प्रस्थान किया। फिर मथुरा, सौरि-पुर, नन्दीपुर आदि नगरों में भ्रमण करते हुए प्रभु पुनः विदेह की ओर पधारे और इस वर्ष का वर्षाकाल आपने मिथिला में ही व्यतीत किया।

### केवलीचर्या का पच्चीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् ने मगध की ओर प्रयाण किया। गाँव-गाँव में निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश करते हुए प्रभु राजगृह पधारे और वहाँ के ‘गुणशोल’ चैत्य में विराजमान हुए। गुणशोल चैत्य के पास अन्य तीर्थियों के बहुत से आश्रम थे। एक बार धर्म-सभा समाप्त होने पर कुछ तैथिक वहाँ आये और स्थविरों से बोले—“आर्यो ! तुम त्रिविध-त्रिविध असंयत हो, अविरत हो, यावत् बाल हो।”

अन्य तीर्थियों की ओर से इस तरह के आक्षेप सुनकर स्थविरों ने उन्हें शान्तभाव से पूछा—“हम असंयत और बाल कैसे हैं ? हम किसी प्रकार भी अदत्त नहीं लेकर दीयमान ही लेते हैं।” इत्यादि प्रकार से तैथिकों के आक्षेप का शान्ति के साथ युक्तिपूर्वक उत्तर देकर स्थविरों ने उनको निरुत्तर कर दिया। वहाँ पर गति प्रपात अध्ययन की रचना की गई।<sup>२</sup>

### कालोदायी के प्रश्न

कालोदायी श्रमण ने एक बार भगवान् को वन्दना कर प्रश्न किया—“भगवन् ! जीव अशुभ फल वाले कर्मों को स्वयं कैसे करता है ?”

भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा—“कालोदायी ! जैसे कोई दूषित पक्वान्न या मादक पदार्थ का भोजन करता है, तब वह बहुत रुचिकर लगता है। खाने

१ “कोडीवरिस बिलाए, जिणदेवे रयणपुच्छ कहणाय।” आवश्यक नियुक्ति, दूसरा भाग, गा०, १३०५ की टीका देखिये।

२ भगवती, श० ८, उ० ७, सूत्र ३३७।

वाला स्वाद में लुब्ध हो तज्जन्य हानि को भूल जाता है किन्तु परिणाम उसका दुखदायी होता है। भक्षक के शरीर पर कालान्तर में उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार जब जीव हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ और राग-द्वेष आदि पापों का सेवन करता है, तब तत्काल ये कार्य सरल व मनोहर प्रतीत होने के कारण अच्छे लगते हैं, परन्तु इनके विपाक परिणाम बड़े अनिष्टकारक होते हैं, जो करने वालों को भोगने पड़ते हैं।<sup>१</sup>

कालोदायी ने फिर शुभ कर्मों के विषय में पूछा—“भगवन् ! जीव शुभ कर्मों को कैसे करता है ?”

भगवान् महावीर ने कहा—“जैसे श्रौषधिमिश्रित भोजन तीखा और कड़वा होने से खाने में रुचिकर नहीं लगता, तथापि बलवीर्य-वर्द्धक जान कर बिना मन भी खाया एवं खिलाया जाता है और वह लाभदायक होता है। उसी प्रकार अहिंसा, सत्य, शील, क्षमा और अलोभ आदि शुभ कर्मों की प्रवृत्तियाँ मन को मनोहर नहीं लगतीं, प्रारम्भ में वे भारी लगती हैं। वे दूसरे की प्रेरणा से प्रायः बिना मन, की जाती हैं, परन्तु उनका परिणाम सुखदायी होता है।<sup>२</sup>”

कालोदायी ने दूसरा प्रश्न हिंसा के विषय में पूछा—“भगवन् ! समान उपकरण वाले दो पुरुषों में से एक अग्नि को जलाता है और दूसरा बुझाता है तो इन जलाने और बुझाने वालों में अधिक आरम्भ और पाप का भागी कौन होता है ?”

भगवान् ने कहा—कालोदायी ! आग बुझाने वाला अग्नि का आरम्भ तो अधिक करता है, परन्तु पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति और त्रस की हिंसा कम करता है, होने वाली हिंसा को घटाता है। इसके विपरीत जलाने वाला पृथ्वी, जल, वायु वनस्पति और त्रस की हिंसा अधिक और अग्नि की कम करता है। अतः आग जलाने वाला अधिक आरम्भ करता है और बुझाने वाला कम। अतः आग जलाने वाले से बुझाने वाला अल्पपापी कहा गया है।<sup>३</sup>

### अचित्त पुद्गलों का प्रकाश

फिर कालोदायी ने अचित्त पुद्गलों के प्रकाश के विषय में पूछा तो प्रभु ने कहा—“अचित्त पुद्गल भी प्रकाश करते हैं। जब कोई तेजोलेश्याधारी मूनि तेजोलेश्या छोड़ता है, तब वे पुद्गल दूर-दूर तक गिरते हैं, वे दूर और समीप प्रकाश फैलाते हैं। पुद्गलों के अचित्त होते हुए भी प्रयोक्ता हिंसा करने वाला

१ भग०, म० ७, उ० १०, सू० ३०६।

२ भग० सू०, ७।१०, सू० ३०७।



और प्रयोग हिंसाजनक होता है। पुद्गल मात्र रत्नादि की तरह अचित्त होते हैं।”<sup>१</sup>

प्रभु के उत्तर से संतुष्ट होकर कालोदायी भगवान् को वन्दन करता हुआ और छट्ठ, अट्ठमादि तप करता हुआ अन्त में अनशनपूर्वक कालधर्म प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त करता है।

गणधर प्रभास ने भी एक मास का अनशन कर इसी वर्ष निर्वाण प्राप्त किया।<sup>२</sup> इस प्रकार विविध उपकारों के साथ इस वर्ष भगवान् का चातुर्मास राजगृह में पूरा हुआ।

### केवलीचर्या का छम्बीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् विविध ग्रामों में विचरणा कर प्रभु पुनः ‘गुणशील’ चैत्य में पधारे। गौतम ने यहाँ प्रभु से विविध प्रकार के प्रश्न किये, जिनमें परमाणु का संयोग-वियोग, भाषा का भाषापन और दुःख की अकृत्रिमता आदि प्रश्न मुख्य थे। भगवान् ने अन्य तीर्थ के क्रिया सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—“एक समय में जीव एक ही क्रिया करता है ईर्यापथिकी अथवा सांपरायिकी। जिस समय ईर्यापथिकी क्रिया करता है, उस समय सांपरायिकी नहीं और सांपरायिकी क्रिया के समय ईर्यापथिकी नहीं करता।<sup>३</sup> देखना, बोलना जैसी दो क्रियाएँ एक साथ हों, इसमें आपत्ति नहीं है, आपत्ति एक समय में दो उपयोग होने में है।”

इसी वर्ष अचलभ्राता और मेतार्य गणधरों ने भी अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् ने इस वर्ष का वर्षाकाल नालन्दा में ही व्यतीत किया।

### केवलीचर्या का सत्ताईसवाँ वर्ष

नालन्दा से विहार कर भगवान् ने विदेह जनपद की ओर प्रस्थान किया। विदेह के ग्राम-नगरों में धर्मोपदेश करते हुए प्रभु भियिला पधारे। यहाँ राजा जितशत्रु ने प्रभु के आगमन का समाचार सुना तो वे नगरी के बाहर मणिभद्र चैत्य में वन्दन करने को आये। महावीर ने उपस्थित जनसमुदाय को धर्मोपदेश दिया। लोग वन्दन एवं उपदेश-श्रवण कर यथास्थान लौट गये।

अवसर पाकर इन्द्रभूति-गौतम ने विनयपूर्वक सूर्य चन्द्रादि के विषय में प्रभु से प्रश्न किये। जिनमें सूर्य का मंडल-भ्रमण, प्रकाश-क्षेत्र, पौरुषी छाया,

१ भग० सू०, ७।१०, सू० ३०८।

२ भगवान् महावीर—कल्याणविजय।

३ भग० सू० १, उ० १०, सू० ८१।

संवत्सर का प्रारम्भ, चन्द्र की वृद्धि-हानि, चन्द्रादि ग्रहों का उपपात एवं च्यवन, चन्द्रादि की ऊँचाई एवं चन्द्र-सूर्य की जानकारी आदि प्रश्न मुख्य हैं।

इस वर्ष का वर्षाकाल भी भगवान् ने मिथिला में ही व्यतीत किया।

### केवलीचर्या का अट्ठाईसवाँ वर्ष

चातुर्मास के पश्चात् भगवान् ने विदेह में विचर कर अनेक श्रद्धालुओं को श्रमण-धर्म में दीक्षित किया और अनेक भव्यों को श्रावकधर्म के पथ पर आरूढ़ किया। संयोगवश इस वर्ष का चातुर्मास भी मिथिला में ही पूर्ण किया।

### केवलीचर्या का उनतीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल के बाद भगवान् ने मिथिला से मगध की ओर विहार किया और राजगृह पधार कर गुणशील उद्यान में विराजमान हुए। उन दिनों नगरी में महाशतक श्रावक ने अन्तिम आराधना के लिए अनशन कर रखा था। उसको अनशन में अध्यवसाय की शुद्धि से श्रवधिज्ञान उत्पन्न हो गया था। आनन्द के समान वह भी चारों दिशाओं में दूर-दूर तक देख रहा था। उसकी अनेक स्त्रियों में 'रेवती' अभद्र स्वभाव की थी। उसका शील-स्वभाव श्रमणोपासक महाशतक से सर्वथा भिन्न था। महाशतक की धर्म-साधना से उसका मन असंतुष्ट था।

एक दिन बेभान हो कर वह, जहाँ महाशतक धर्म-साधना कर रहा था, वहाँ पहुँची और विविध प्रकार के आक्रोशपूर्ण वचनों से उसका ध्यान विचलित करने लगी। शान्त होकर महाशतक सब कुछ सुनता रहा, पर जब वह सिर के बाल बिखेर कर अभद्र चेष्टाओं के साथ यद्वा, तद्वा बोलती ही रही तो वे अपने रोष को नहीं संभाल सके। महाशतक को रेवती के व्यवहार से बहुत लज्जा और खेद हुआ, वह सहसा बोल उठा—“रेवती ! तू ऐसी अभद्र और उन्मादभरी चेष्टा क्यों कर रही है ? असत्कर्मों का फल ठीक नहीं होता। तू सात दिन के भीतर ही अलस रोग से पीड़ित हो कर असमाधिभाव में आयु पूर्ण कर प्रथम नर्क में जाने वाली है।”

महाशतक के वचन सुन कर रेवती भयभीत हुई और सोचने लगी—“अहो ! आज सचमुच ही पतिदेव मुझ ऊपर क्रुद्ध हैं। न जाने मुझे क्या दण्ड देगे ?” वह धीरे-धीरे वहाँ से पीछे की ओर लौट गई। महाशतक का भविष्य कथन अन्ततोगत्वा उसके लिये सत्य सिद्ध हुआ और वह दुर्भाव में मर कर प्रथम नरक की अधिकारिणी बनी।

अन्तर्यामी भगवान् महावीर को महाशतक की विचलित मनःस्थिति तत्काल विदित हो गई। उन्होंने गौतम से कहा—“गौतम ! राजगृह में भेरा अन्तेवासी उपासक महाशतक पौषधशाला में अनशन करके विचर रहा है।

उसको रेवती ने दो-तीन बार उन्मादपूर्ण वचन कहे, इससे रुष्ट होकर उसने रेवती को प्रथम नरक में उत्पन्न होने का अप्रिय वचन कहा है। अतः तुम जाकर महाशतक को सूचित करो कि भक्त प्रत्याख्यानी उपासक को सद्भूत भी ऐसे वचन कहना नहीं कल्पता। इसके लिए उसको आलोचना करनी चाहिये।” प्रभु के आदेशानुसार गौतम ने जाकर महाशतक से यथावत् कहा और उसने विनय-पूर्वक प्रभु-वाणी को सुनकर आलोचना के द्वारा आत्मशुद्धि की।<sup>१</sup>

महावीर ने गौतम के पूछने पर ‘वैभार गिरि’ के ‘महा-तपस्तीर प्रभव’ जलस्रोत-कुण्ड की भी चर्चा की। उन्होंने कहा—“उसमें उष्ण योनि के जीव जन्मते और मरते रहते हैं तथा उष्ण स्वभाव के जल पुद्गल भी आते रहते हैं, यही जल की उष्णता का कारण है।”<sup>२</sup> फिर भगवान् ने बताया कि एक जीव एक समय में एक ही आयु का भोग करता है। ऐहिक आयु-भोग के समय परभव की आयु नहीं भोगता और परभव की आयु के भोगकाल में वह इह भव की आयु नहीं भोगता। इहभविक या परभविक<sup>३</sup> दोनों आयु सत्ता में रह सकती हैं।”

“सुख-दुःख बताये क्यों नहीं जा सकते”—अन्य तीर्थियों की इस शंका के समाधानार्थ भगवान् ने कहा—“केवल राजगृह के ही नहीं, अपितु समस्त संसार के सुख-दुःखों को भी यदि एकत्र करके कोई बताना चाहे तो सूक्ष्म प्रमाण से भी नहीं बता सकता।”

प्रसंग को सरलता से समझाने के लिए प्रभु ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया—“जैसे कोई शक्तिशाली देव सुगंध का एक डिब्बा लेकर जम्बूद्वीप के चारों ओर चक्कर काटता हुआ चारों दिशाओं में सुगन्धि बिखेर दे, तो वे गन्ध के पुद्गल जम्बूद्वीप में फैल जायेंगे, किन्तु यदि कोई उन गन्ध-पुद्गलों को फिर से एकत्र कर दिखाना चाहे तो एक लीख के प्रमाण में भी उनको एकत्र कर नहीं दिखा सकता। ऐसे ही सुख-दुःख के लिए भी समझना चाहिये।”<sup>४</sup> इस प्रकार अनेक प्रश्नों का प्रभु ने समाधान किया।

भगवान् के प्रमुख शिष्य अग्निभूति और वायुभूति नाम के दो गराधरों ने इसी वर्ष राजगृह में अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् का यह चातु-मास भी राजगृह में ही पूर्ण हुआ।

१ उपासक०, अ० ८, सू० २५७, २६१।

२ भग० २।५ सू० ११३।

३ भग० ५।६ सूत्र १८३।

४ भग० ६।६ सूत्र २५३।

### केवलीचर्या का तीसरा वर्ष

चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् भी भगवान् महावीर कुछ काल तक राजगृह नगर में विराजे रहे। इसी समय में उनके गणधर 'अव्यक्त', 'मंडित' और 'अकम्पित' गुणशील उद्यान में एक-एक मास का अनशन पूर्ण कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

#### दुषमा-दुषम काल का वर्णन

एक समय राजगृह नगर के गुणशील उद्यान में गणधर इन्द्रभूति गीतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया—“भगवन् ! दुषमा-दुषम काल में जम्बूद्वीप के इस भरतक्षेत्र की क्या स्थिति होगी ?”

छट्ठे आरे के समय में भरतक्षेत्र की सर्वतोमुखी स्थिति के सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रकाश डाला। इसका पूर्ण विवरण 'कालचक्र का वर्णन' शीर्षक में आगे दिया जा रहा है।

इस प्रकार ज्ञानादि अनन्त-चतुष्टयी के अचिन्त्य, अलौकिक आलोक से असंख्य आत्मार्थी अव्य जीवों के अन्तस्तल से अज्ञानान्धकार का उन्मूलन करते हुए इस अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में अप्रतिहत विहार कर तीस वर्ष तक देव, मनुष्य और तिर्यंचों को विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ाया। उन्होंने अपने अमोघ उपदेशों के महानाद से जन-जन के कर्णरन्ध्रों में मानवता का महामंत्र फूंक कर जनमानस को जागृत किया और विनाशोन्मुख मानवसमाज को कल्याण के प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर किया।

राजगृह से विहार कर भगवान् महावीर पावापुरी के राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा में पधारे।<sup>१</sup> प्रभु का अन्तिम चातुर्मास पावा में हुआ। सुरसमूह ने तत्काल सुन्दर समवशरणा की महिमा की। अपार जनसमूह के समक्ष धर्मोपदेश देते हुए प्रभु ने फरमाया कि प्रत्येक प्राणी को जीवन, सुख और मधुर व्यवहार प्रिय हैं। मृत्यु, दुःख और अभद्र व्यवहार सब को अप्रिय हैं। अतः प्राणिमात्र का परम कर्तव्य है कि जिस व्यवहार को वह अपने लिए प्रतिकूल समझता है, वैसा अप्रीतिकर व्यवहार किसी दूसरे के प्रति नहीं करे। दूसरों से जिस प्रकार के सुन्दर एवं सुखद व्यवहार की वह अपेक्षा करता है, वैसा ही व्यवहार वह प्राणिमात्र के साथ करे। यही मानवता का मूल सिद्धान्त और धर्म की आधारशिला है। इस सनातन-शाश्वत धर्म के सतत समाचरण से ही मानव मुक्तावस्था को प्राप्त कर सकता है और इस धर्मपथ से स्वलित हुआ प्राणी दिग्विभूत हो भवाटवी में भटकता फिरता है।

१ त्रिषष्टि श. पु. च., १०।१२। श्लोक ४४०।

प्रभु के उपदेशामृत का पान करने के पश्चात् राजा पुण्यपाल ने प्रभु को सविधि बन्दन कर पूछा—“प्रभो ! गत रात्रि के भवसानकाल में मैंने हाथी, बन्दर, क्षीरदू, (क्षीरतरु), कौआ, सिंह, पक्ष, बीज घोर कुंभ ये आठ अशुभ स्वप्न देखे हैं । करुणाकर ! मैं बड़ा चिन्तित हूँ कि कहीं ये स्वप्न किसी मावी अमंगल के सूचक तो नहीं हैं ।”

भगवान् महावीर ने पुण्यपाल के स्वप्नों का फल सुनाते हुए कहा—“राजन् ! प्रथम स्वप्न में जो तुमने हाथी देखा है, वह इस भावी का सूचक है कि अब भविष्य के विवेकशील श्रमणोपासक भी क्षणिक समृद्धिसम्पन्न गृहस्थ जीवन में हाथी की तरह मदोन्मत्त होकर रहेंगे । भयंकर से भयंकर संकटापन्न स्थिति अथवा पराधीनता की स्थिति में भी वे प्रव्रजित होने का विचार तक भी मन में नहीं लायेंगे । जो गृह त्याग कर संयम ग्रहण करेंगे, उनमें से भी अनेक कुसंगति में फँसकर या तो संयम का परित्याग कर देंगे या अच्छी तरह संयम का पालन नहीं करेंगे । विरले ही संयम का दृढ़ता से पालन कर सकेंगे ।”

दूसरे स्वप्न में कपि-दर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने कहा—“स्वप्न में जो तुमने बन्दर देखा है, वह इस अनिष्ट का सूचक है कि भविष्य में बड़े-बड़े संघपति आचार्य भी बन्दर की तरह चंचल प्रकृति के, स्वल्पपराक्रमी और व्रताचरण में प्रमादी होंगे । जो आचार्य या साधु विशुद्ध, निर्दोष संयम एवं व्रतों का पालन करेंगे तथा वास्तविक धर्म का उपदेश करेंगे, उनकी अधिकांश दुराचाररत लोगों द्वारा यत्र-तत्र खिल्ली उड़ाई जा कर धर्मशास्त्रों की उपेक्षा ही नहीं, अपितु घोर अवज्ञा भी की जायगी । इस प्रकार भविष्य में अधिकांश लोग बन्दर के समान अविचारकारी, विवेकशून्य और अतीव अस्थिर एवं चंचल स्वभाव वाले होंगे ।”

तीसरे स्वप्न में क्षीरतरु (अश्वत्थ) देखने का फल बताते हुए प्रभु ने कहा—“राजन् ! कालस्वभाव से अब आगामी काल में क्षुद्र भाव से दान देने वाले श्रावकों को साधु नामधारी पाखण्डी लोग घेरे रहेंगे । पाखण्डियों की प्रवंचना में फँसे हुए दानी सिंह के समान आचारनिष्ठ साधुओं को शृगालों की तरह शिथिलाचारी और शृगालवत् शिथिलाचारी साधुओं को सिंह के समान आचारनिष्ठ समझेंगे । यत्र-तत्र कण्टकाकीर्ण बबूल वृक्ष की तरह पाखण्डियों का पृथ्वी पर बाहुल्य होगा ।”

चौथे स्वप्न में काक-दर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने फरमाया—“भविष्य में अधिकांश साधु अनुशासन का उल्लंघन एवं साधु-मर्यादाओं का परित्याग कर कौवे की तरह विभिन्न पाखण्ड पूर्ण पंथों का आश्रय ले मत परिवर्तन करते रहेंगे । वे लोग कौवे के 'कौव-कौव' शब्द की तरह वितण्डावाद करते हुए सद्धर्म के उपदेशकों का खण्डन करने में ही सदा तत्पर रहेंगे ।”

अपने पाँचवें स्वप्न में राजा पुण्यपाल ने जो सिंह को विपन्नावस्था में देखा, उसका फल बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा—“भविष्य में सिंह के समान तेजस्वी वीतराग-प्ररूपित जैन धर्म निबल होगा, धर्म की प्रतिष्ठा से विमुख हो लोग हीन सत्व, साधारण श्वानादि पशुओं के समान मिथ्या मतावलम्बी साधु वेषधारियों की प्रतिष्ठा करने में तत्पर रहेंगे। आगे चलकर जैन धर्म के स्थान पर विविध मिथ्या-धर्मों का प्रचार-प्रसार एवं सम्मान अधिक होगा।”

छठे स्वप्न में कमलदर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने कहा—“समय के प्रभाव से आगामी काल में सुकुलीन व्यक्ति भी कुसंगति में पड़ कर धर्ममार्ग से विमुख हो पापाचार में प्रवृत्त होंगे।”

राजा पुण्यपाल के सातवें स्वप्न का फल सुनाते हुए भगवान् ने फरमाया—“राजन् ! तुम्हारा बीज-दर्शन का स्वप्न इस भविष्य का सूचक है कि जिस प्रकार एक अश्विकी किसान अच्छे बीज को ऊसर भूमि में और धुन से बीदे हुए खराब बीज को उपजाऊ भूमि में बो देता है, उसी प्रकार गृहस्थ श्रमणोपासक आगामी काल में सुपात्र को छोड़ कर कुपात्र को दान करेंगे।”

भगवान् महावीर ने राजा पुण्यपाल के आठवें व अन्तिम स्वप्न का फल सुनाते हुए फरमाया—“पुण्यपाल ! तुमने अपने अन्तिम स्वप्न में कुंभ देखा है, वह इस आशय का द्योतक है कि भविष्य में तप, त्याग एवं क्षमा आदि गुण-सम्पन्न, आचारनिष्ठ महामुनि विरले ही होंगे। इसके विपरीत शिथिलाचारी, वेषधारी, नाममात्र के साधुओं का बाहुल्य होगा। शिथिलाचारी साधु निर्मल चारित्र वाले साधुओं से द्वेष रखते हुए सदा कलह करने के लिये उद्यत रहेंगे। ग्रह-ग्रस्त की तरह प्रायः सभी गृहस्थ तत्त्वदर्शी साधुओं और वेषधारी साधुओं के भेद से अनभिज्ञ, दोनों को समान समझते हुए व्यवहार करेंगे।”

भगवान् महावीर के मुखारविन्द से अपने स्वप्नों के फल के रूप में भावी विषम स्थिति को सुनकर राजा पुण्यपाल को संसार से विरक्ति हो गई। उसने तत्काल राज्यलक्ष्मी और समस्त वैभव को ठुकरा कर भगवान् की चरण-शरण में श्रमण-धर्म स्वीकार कर लिया और तप-संयम की सम्यक् रूप से आराधना कर वह कालान्तर में समस्त कर्म-बन्धनों से विनिर्मुक्त हो निर्वाण को प्राप्त हुआ।

### कालचक्र का वर्णन

कुछ काल पश्चात् भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम ने प्रभु के चरण-कमलों में सिर झुकाकर कालचक्र की पूर्ण जानकारी के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त की।

कालचक्र का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रभु ने फरमाया—“गौतम ! काल चक्र के मुख्य दो भाग हैं, अवसर्पिणीकाल और उत्सर्पिणीकाल । क्रमिक अपकर्षोन्मुख काल अवसर्पिणीकाल कहलाता है और क्रमिक उत्कर्षोन्मुख काल उत्सर्पिणीकाल । इनमें से प्रत्येक दश कोड़ाकोड़ी सागर का होता है और इस तरह अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी को मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कालचक्र होता है ।

अवसर्पिणी काल के क्रमिक अपकर्षोन्मुख काल को छः विभागों में बाँटा जाकर उन छः विभागों को षट् आरक की संज्ञा दी गई है । उन छः आरों का निम्नलिखित प्रकार से गुरुदोष के आधार पर नामकरण किया गया है—

- |               |               |
|---------------|---------------|
| १. सुषमा—सुषम | २. सुषम       |
| ३. सुषमा—दुषम | ४. दुषमा—सुषम |
| ५. दुषम       | ६. दुषम—दुषम  |

प्रथम आरक सुषमा—सुषम एकान्ततः सुखपूर्ण होता है । चार कोड़ाकोड़ी सागर की अवस्थिति वाले सुषमा—सुषम नामक इस प्रथम आरे में मानव की आयु तीन पल्योपम की व देह की ऊँचाई तीन कोस की होती है । उस समय के मानव का शरीर २५६ पसलियों से युक्त वज्रऋषभ नाराच संहनन और सम-चतुरस्र संस्थानमय होता है । उस समय में माता, पुत्र और पुत्री को युगल रूप में एक साथ जन्म देती है । उस समय के मानव परम दिव्य रूप सम्पन्न, सौम्य भद्र, मृदुभाषी, निर्लिप्त, स्वल्पेच्छा वाले अल्पपरिग्रही, पूर्णरूपेण शान्त, सरल स्वभावी, पृथ्वी-पुष्प-फलाहारी और क्रोध, मान, मोह, मद, मात्सर्य आदि से अल्पता वाले होते हैं । उनका आहार चक्रवर्ती के सुस्वादु पीष्टिक षट्स भोजन से भी कहीं अधिक सुस्वादु और बल-वीर्यवर्द्धक होता है ।

उस समय चारों ओर का वातावरण अत्यन्त मनोरम, मोहक, मधुर, सुखद, तेजोमय, शान्त, परम रमणीय, मनोज्ञ एवं आनन्दमय होता है । उस प्रथम आरक में पृथ्वी का वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अत्यन्त सम्मोहक, प्राणि-मात्र को आनन्दविभोर करने वाला एवं अत्यन्त सुखप्रद होता है । उस समय पृथ्वी का स्वाद मिश्री से कहीं अधिक मधुर होता है ।

भोगयुग होने के कारण उस समय के मानव को जीवनयापन के लिये किञ्चिन्मात्र भी चिन्ता अथवा परिश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि दश प्रकार के कल्पवृक्ष उनकी सभी इच्छाएं पूर्ण कर देते हैं । मतंगा नामक कल्पवृक्षों से अमृततुल्य मधुर फल, भिंगा नामक कल्पवृक्षों से स्वर्णरत्नमय भोजन-पात्र, तुडियंगा नामक कल्पवृक्षों से उन्हें उनचास प्रकार के ताल-लयपूर्ण मधुर संगीत, जोई नामक कल्पवृक्षों से अद्भुत आनन्दप्रद तेजोमय प्रकाश, जिसके

कारण कि प्रथम आरक से लेकर तृतीय आरक के तृतीय चरण के लम्बे समय तक चन्द्र-सूर्य तक के दर्शन नहीं होते, दीव नामक कल्पवृक्षों से उन्हें प्रकाश-स्तम्भों के समान दिव्य रंगीन रोशनी, चित्तंगा नामक कल्पवृक्षों से मनमोहक सुगन्धिपूर्ण सुन्दर पुष्पाभरण, चित्तरसा नामक कल्पवृक्षों से अठारह प्रकार के सुस्वादु भोजन, मलयंग नामक कल्पवृक्ष से स्वर्ण, रत्नादि के दिव्य आभूषण, बयालीस मंजिले भव्य प्रासादों की आकृति वाले गेहागारा नामक कल्पवृक्षों से आवास की स्वर्गोपम सुख-सुविधा और अनिगणा नामक कल्पवृक्षों से उन्हें अनुपम सुन्दर, सुखद, अमूल्य वस्त्रों की प्राप्ति हो जाती है।

जीवनोपयोगी समस्त सामग्री की यथेप्सित रूप से सहज प्राप्ति हो जाने के कारण उस समय के मानव का जीवन परम सुखमय होता है। उस समय के मानव को तीन दिन के अन्तर से भोजन करने की इच्छा होती है।

प्रथम आरक के मानव छै प्रकार के होते हैं :

- (१) पद्मगंधा—जिनके शरीर से कमल के समान सुगन्ध निकलती रहती है।
- (२) मृगगन्धा—जिनके शरीर से कस्तूरी के समान मादक महक निकलकर चारों ओर फैलती रहती है।
- (३) अममा—जो ममतारहित हैं
- (४) तेजस्तलिनः—तेजोमय सुन्दर स्वरूप वाले।
- (५) सहा—उत्कट साहस करने वाले।
- (६) शनैश्चारिणः—उत्सुकता के अभाव में सहज शान्तभाव में चलने वाले।

उनका स्वर अत्यन्त मधुर होता है और उनके श्वासोच्छ्वास से भी कमलपुष्प के समान सुगन्ध निकलती है।

उस समय के युगलिकों की आयु जिस समय छै महीने अवशिष्ट रह जाती है, उस समय युगलिनी पुत्र-पुत्रों के एक युगल को जन्म देती है। माता-पिता द्वारा ४६ दिन प्रतिपालना किये जाने के पश्चात् वे नव-युगल पूर्ण युवा हो दाम्पत्य जीवन का सुखोपभोग करते हुए यथेच्छ विचरण करते हैं।

तीन पत्न्योपम की आयुष्य पूर्ण होते ही एक को छीक और दूसरे को उबासी आती है और इस तरह युगल दम्पति तत्काल एक साथ बिना किसी प्रकार की व्याधि, पीड़ा अथवा परित्याप के जीवनलीला समाप्त कर देवयोनि में उत्पन्न होते हैं। उनके शवों को क्षेत्राधिष्ठायक देव तत्काल क्षीरसमुद्र में डाल देते हैं।



सुषमा नामक दूसरा आरक तीन कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। इसमें प्रथम आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्याय की अनन्त गुणी हीनता हो जाती है। इस आरक के मानव की आयु दो पल्योपम, देहमान दो कोस और पसलियाँ १२८ होती हैं। दो दिन के अन्तर से उनको आहार ग्रहण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस आरक में पृथ्वी का स्वाद घटकर शक्कर तुल्य हो जाता है।

इस दूसरे आरक में भी मानव की सभी इच्छाएं उपर्युक्त १० प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा पूर्ण की जाती हैं, अतः उन्हें किसी प्रकार के श्रम की आवश्यकता नहीं होती। जिस समय युगल दम्पति की आयु छै महीने अवशेष रह जाती है, उस समय युगलिनी, पुत्र-पुत्री के एक युगल को जन्म देती है। माता-पिता द्वारा ६४ दिन तक प्रतिपालित होने के बाद ही नवयुगल, दम्पति के रूप में सुखपूर्वक यथेच्छ विचरण करने लग जाता है।

दूसरे आरे में मनुष्य चार प्रकार के होते हैं। यथा :

- |            |                |
|------------|----------------|
| (१) एका    | (२) प्रचुरजंघा |
| (३) कुसुमा | (४) सुशमना     |

आयु की समाप्ति के समय इस आरक के युगल को भी छीक एवं उबासी आती है और वह युगल दम्पति एक साथ काल कर देवगति में उत्पन्न होता है।

सुषमा-दुषम नामक तीसरा आरा दो कोड़ाकोड़ी सागर के काल प्रमाण का होता है। इस तृतीय आरक के प्रथम और मध्यम त्रिभाग में दूसरे आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्यायों की अनन्तगुणी अपकर्षता हो जाती है। इस आरे के मानव वज्रश्रृषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, २००० धनुष की ऊँचाई, एक पल्योपम की आयु और ६४ पसलियों वाले होते हैं। उस समय के मनुष्यों को एक दिन के अन्तर से आहार ग्रहण करने की इच्छा होती है। उस समय पृथ्वी का स्वाद गुड़ के समान होता है। मृत्यु से ६ मास पूर्व युगलिनी एक पुत्र तथा एक पुत्री को युगल के रूप में जन्म देती है। उन बच्चों का ७९ दिन तक माता-पिता द्वारा पालन-पोषण किया जाता है। तत्पश्चात् वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हो दम्पति के रूप में स्वतन्त्र और स्वेच्छा-पूर्वक आनन्दमय जीवन बिताते हैं। उनके जीवन की समस्त आवश्यकताएं दश प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा पूर्ण कर दी जाती हैं। अपने जीवन-निर्वाह के लिये उन्हें किसी प्रकार का कार्य अथवा श्रम नहीं करना पड़ता, अतः वह युग भोगयुग कहलाता है। अंत समय में युगल स्त्री-पुरुष को एक साथ एक को छीक और दूसरे को उबासी आती है और उसी समय वे एक साथ आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होते हैं।

यह स्थिति तृतीय आरक के प्रथम त्रिभाग और मध्यम त्रिभाग तक रहती है। उस आरक के अन्तिम त्रिभाग के मनुष्यों का छै प्रकार का संहनन, छै प्रकार का संस्थान, कई सौ धनुष की ऊँचाई, जघन्य संख्यात वर्ष की और उत्कृष्ट असंख्यात वर्ष की आयुष्य होती है। उस समय के मनुष्यों में से अनेक नरक में, अनेक तिर्यंच योनि में, अनेक मनुष्य योनि में, अनेक देव योनि में और अनेक मोक्ष में जाने वाले होते हैं।

उस तीसरे आरे के अन्तिम त्रिभाग के समाप्त होने में जब एक पत्योपम का आठवाँ भाग अवशेष रह जाता है, उस समय भरत क्षेत्र में क्रमशः '१५ कुलकर' उत्पन्न होते हैं।

उस समय कालदोष से कल्पवृक्ष उस समय के मानवों के लिये जीवनोपयोगी सामग्री अपर्याप्त मात्रा में देना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे उनमें शनैः-शनैः आपसी कलह का सूत्रपात हो जाता है। कुलकर उन लोगों को अनुशासन में रखते हुए मार्गदर्शन करते हैं। प्रथम पाँच कुलकरों के काल में हाकार दण्डनीति, छूट्टे से १०वें कुलकर तथा 'माकार' नीति और ग्यारहवें से १५वें कुलकर तक 'धिवकार' नीति से लोगों को अनुशासन में रखा जाता है।

तीसरे आरे के समाप्त होने में जिस समय चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और साढ़े आठ मास अवशेष थे, उस समय प्रथम राजा, प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ। भगवान् ऋषभदेव ने ६३ लाख पूर्व तक सुचारु रूप से राज्यशासन चला कर उस समय के मानव को असि, मसि और कृषि के अन्तर्गत समस्त विद्याएं सिखा कर भोगभूमि को पूर्णरूपेण कर्मभूमि में परिवर्तित कर दिया।

इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम धर्म-तीर्थ की स्थापना भगवान् ऋषभदेव ने की। तीसरे आरे में प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती हुए। तृतीय आरे के समाप्त होने में तीन वर्ष और साढ़े आठ मास अवशेष रहे, तब भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण हुआ।

दुषमा-मुषम नामक चतुर्थ आरक बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागर का होता है। इस आरे में तृतीय आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्यायों की तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार और पराक्रम की अन्तर्गुनी अपकर्षता हो जाती है। इस चतुर्थ आरक में मनुष्यों के छहों प्रकार के संहनन, छहों प्रकार के संस्थान, बहुत से धनुष की ऊँचाई, जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की आयु होती है तथा वे मर कर पाँचों प्रकार की गति में जाते हैं।

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भगवान् ऋषभदेव को पन्द्रहवें कुलकर के रूप में भी माना गया है।

चतुर्थ आरक में २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव और ६ प्रतिवासुदेव होते हैं ।

“गौतम ! यह भरतक्षेत्र तीर्थंकरों के समय में सुन्दर, समृद्ध, बड़े-बड़े ग्रामों, नगरों तथा जनपदों से संकुल एवं धन-धान्यादिक से परिपूर्ण रहता है । उस समय सम्पूर्ण भरतक्षेत्र साक्षात् स्वर्गतुल्य प्रतीत होता है । उस समय का प्रत्येक ग्राम नगर के समान और नगर अलकापुरी की तरह सुरम्य और सुख-सामग्री से समृद्ध होता है । तीर्थंकरकाल में यहाँ का प्रत्येक नागरिक नृपति के समान ऐश्वर्यसम्पन्न और प्रत्येक नरेश वैश्रवण के तुल्य राज्यलक्ष्मी का स्वामी होता है । उस समय के आचार्य शरद्वर्णिमा के पूर्णचन्द्र की तरह अगाध ज्ञान की ज्योत्स्ना से सदा प्रकाशमान होते हैं । उन आचार्यों के दर्शन मात्र से जनगण के नयन अतिशय तृप्ति और वाणी-श्रमण से जन-जन के मन परमाह्लाद का अनुभव करते हैं । उस समय के माता-पिता देवदम्पति तुल्य, श्वसुर पिता तुल्य और सासुएं माता के समान वात्सल्यपूर्ण हृदयवाली होती हैं । तीर्थंकरों के समय के नागरिक सत्यवादी, पवित्र-हृदय, विनीत, धर्म व अधर्म के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद को समझने वाले, देव और गुरु की उचित पूजा-सम्मान करने वाले एवं पर-स्त्री को माता तथा बहिन के समान समझने वाले होते हैं । तीर्थंकर काल में विज्ञान, विद्या, कुल-गौरव और सदाचार उत्कृष्ट कोटि के होते हैं । न तीर्थंकरों के समय में डाकुओं, आततायियों और अन्य राजाओं द्वारा आक्रमण का ही किसी प्रकार का भय रहता है और न प्रजा पर करों का भार ही । तीर्थंकरकाल के राजा लोग वीतराग प्रभु के परमोपासक होते हैं और तीर्थंकरों के समय की प्रजा पाखण्डियों के प्रति किञ्चित्मात्र भी आदर का भाव प्रकट नहीं करती ।”

भगवान् ने पंचम आरक की भीषण स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए कहा—“गौतम ! मेरे मोक्ष-गमन के तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् दुषम नामक पाँचवाँ आरा प्रारम्भ होगा जो कि इक्कीस हजार वर्ष का होगा । उस पंचम आरे के अन्तिम दिन तक मेरा धर्म-शासन अविच्छिन्न रूप से चलता रहेगा । लेकिन पाँचवें आरे के प्रारम्भ होते ही पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श के ह्रास के साथ ही साथ क्रमशः ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा, त्यों-त्यों लोकों में धर्म, शील, सत्य, शान्ति, शौच, सम्यक्त्व, सद्बुद्धि, सदाचार, शौर्य, ओज, तेज, क्षमा, दम, दान, व्रत, नियम, सरलता आदि गुणों का क्रमिक ह्रास और अधर्म-बुद्धि का क्रमशः अभ्युत्थान होता जायगा । पंचम आरक में ग्राम श्मशान के समान भयावह और नगर प्रेतों की क्रीडास्थली तुल्य प्रतीत होंगे । उस समय के नागरिक क्लृप्तदास तुल्य और राजा लोग यमदूत के समान दुःख-दायी होंगे ।”

पंचम आरक की राजनीति का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने कहा—  
 “गौतम ! जिस प्रकार छोटी मछलियों को मध्यम आकार-प्रकार की मछलियाँ  
 और मध्यम स्थिति की मछलियों को बृहदाकार वाली मछलियाँ खा जाती हैं,  
 उसी प्रकार पंचम आरक में सर्वत्र ‘मत्स्यन्याय’ का बोलबाला होगा, राज्या-  
 धिकारी प्रजाजनों को लूटेंगे और राजा लोग राज्याधिकारियों को । उस समय  
 सब प्रकार की व्यवस्थाएं अस्त-व्यस्त हो जायेंगी । सब देशों की स्थिति भीषण  
 तूफान में फँसी नाव के समान डूँबाडोल हो जायगी ।”

उस समय की सामाजिक स्थिति का वर्णन करते हुए प्रभु ने कहा—  
 “गौतम ! प्रजा को एक ओर तो चोर पीड़ित करेंगे और दूसरी ओर कमरतोड़  
 करों से राज्य । उस समय में व्यापारीगण प्रजा को दुष्ट ग्रह की तरह पीड़ित  
 कर देंगे और अधिकारीगण बड़ी-बड़ी रिश्वतें लेकर प्रजाजनों का सर्वस्व हरण  
 करेंगे । आत्मीयजनों में परस्पर सदा गृहकलह घर किये रहेगा ! प्रजाजन  
 एक दूसरे से द्वेष व शत्रुता का व्यवहार करेंगे । उनमें परोपकार, लज्जा,  
 सत्यनिष्ठा और उदारता का लवलेश भी अवशेष नहीं रहेगा ।

शिष्य गुरुभक्ति को भूल कर अपने-अपने गुरुजनों की अवज्ञा करते हुए  
 स्वच्छन्द विहार करेंगे और गुरुजन भी अपने शिष्यों को ज्ञानोपदेश देना बन्द  
 कर देंगे और अन्ततोगत्वा एक दिन गुरुकुलव्यवस्था लुप्त ही हो जायगी ।  
 लोगों में धर्म के प्रति रुचि क्रमशः बिल्कुल मन्द हो जायगी । पुत्र अपने पिता  
 का तिरस्कार करेंगे, बहुएँ अपनी सासों के सामने काली नागिनों की तरह हर  
 समय फूटकार करती रहेंगी और सासों भी अपनी बहुओं के लिये भैरवी के समान  
 भयानक रूप धारण किये रहेंगी । कुलवधुओं में लज्जा का नितान्त अभाव  
 होगा । वे हास-परिहास, विलास-कटाक्ष, वाचालता और वेश-भूषा में वेश्याओं  
 से भी बढ़ी-चढ़ी निकलेंगी । इस सबके परिणामस्वरूप उस समय किसी को  
 साक्षात् देवदर्शन नहीं होगा ।”

उस समय की धार्मिक स्थिति का वर्णन करते हुए वीर प्रभु ने कहा—  
 “गौतम ! ज्यों-ज्यों पंचम आरे का काल व्यतीत होता जायगा, त्यों-त्यों साधु,  
 साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध धर्मसंघ क्रमशः क्षीण होता जायगा ।  
 झूठ और कपट का सर्वत्र साम्राज्य होगा । धर्म-कार्यों में भी कूटनीति, कपट  
 और दुष्टता का बोलबाला होगा । दुष्ट और दुर्जन लोग आनन्दपूर्वक यथेच्छ  
 विचरण करेंगे पर सज्जन पुरुषों का जीना भी दूभर हो जायगा ।”

पंचम आरक में सर्वतोमुखी ह्रास का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने  
 कहा—“गौतम ! पंचम आरे में रत्न, मणि, माणिक्य, धन-सम्पत्ति, मंत्र, तंत्र,  
 औषधि, ज्ञान, विज्ञान, आयुष्य, पत्र, पुष्प, फल, रस, रूप-सौन्दर्य, बल-वीर्य,

समस्त सुखद-सुन्दर वस्तुओं और शारीरिक शक्ति एवं स्थिति का क्रमशः ह्रास ही ह्रास होता चला जायगा। असमय में वर्षा होगी, समय पर वर्षा नहीं होगी। इस प्रकार के ह्रासोन्मुख, क्षीणपुण्य वाले कालप्रवाह में जिन मनुष्यों की रुचि धर्म में रहेगी, उन्हीं का जीवन सफल होगा।”

भगवान् ने फिर फरमाया—“इस दुषमा नामक पंचम आरे के अन्त में दुःप्रसह आचार्य, फल्गुश्री साध्वी, नागिल श्रावक और सत्यश्री श्राविका इन चारों का चतुर्विध संघ शेष रहेगा। इस भारतवर्ष का अन्तिम राजा विमल वाहन और अन्तिम मंत्री सुमुख होगा।”

“इस प्रकार पंचम आरे के अन्त में मनुष्य का शरीर दो हाथ की ऊँचाई वाला होगा और मानव की अधिकतम आयु बीस वर्ष की होगी। दुःप्रसह आचार्य, फल्गुश्री साध्वी, नागिल श्रावक और सत्यश्री श्राविका के समय में बड़े से बड़ा तप बेला (षष्ठभक्त) होगा। उस समय में दशवैकालिक सूत्र को जानने वाला चतुर्दश पूर्वधर के समान जानवान् समझा जायगा। आचार्य दुःप्रसह अन्तिम समय तक चतुर्विध संघ को प्रतिबोध करते रहेंगे। अन्तिम समय में आचार्य दुःप्रसह संघ को सूचित करेंगे कि अब धर्म नहीं रहा, तो संघ उन्हें संघ से बहिष्कृत कर देगा। दुःप्रसह बारह वर्ष तक गृहस्थ पर्याय में रहेंगे और आठ वर्ष तक मुनिधर्म का पालन कर तैले के अनशनपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर सौधर्मकल्प में देवरूप से उत्पन्न होंगे।”

पंचम आरक की समाप्ति के दिन गणधर्म, पाखण्डधर्म, राजधर्म, चारित्रधर्म और अग्नि का विच्छेद हो जायगा। पूर्वाह्न में चारित्र धर्म का, मध्याह्न में राजधर्म का और अपराह्न में अग्नि का इस भरतक्षेत्र की धरा से समूलोच्छेद हो जायगा।”

छट्टे आरे के समय में भरतक्षेत्र की सर्वतोमुखी स्थिति के सम्बन्ध में गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने फरमाया—“गौतम ! पंचम आरक की समाप्ति के बाद वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के अनन्त पर्यवों के ह्रास को लिये हुए २१००० वर्ष का दुषमा-दुषम नामक छट्ठा आरक प्रारम्भ होगा। उस छट्टे आरे में दशों दिशाएँ हाहाकार, भाँय-भाँय (भंभाकार) और कोलाहल से व्याप्त होंगी। समय के कुप्रभाव के कारण अत्यन्त तीक्ष्ण, कठोर, घूलिमिश्रित, नितान्त असह्य एवं व्याकुल कर देने वाली भयंकर आँधियाँ एवं तृण काष्ठादि को उड़ा देने वाली संवतंक हवाएँ चलेंगी। समस्त दिशाएँ निरन्तर

१ स्थानांग और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र के आधार पर।

२ अ० श०, श० ७, उ० ६।

चलने वाले अन्धड़ों व तूफानों के कारण घूमिल तथा अन्धकारपूर्ण रहेंगी । समय की रूक्षता के कारण चन्द्रमा अत्यधिक शीतलता प्रकट करेगा और सूर्य अत्यधिक उष्णता ।”

“तदनन्तर रसरहित-अरस मेघ, विपरीत रस वाले-विरस मेघ, क्षार-मेघ, विष मेघ, अम्ल मेघ, अग्नि मेघ, विद्युत् मेघ, वज्र मेघ, विविध रोग एवं पीड़ाएँ बढ़ाने वाले मेघ प्रचण्ड हवाओं से प्रेरित हो बड़ी तीव्र एवं तीक्ष्ण धाराओं से वर्षा करेंगे । इस प्रकार की तीव्र एवं प्रचुर अतिवृष्टियों के कारण भरतक्षेत्र के ग्राम, नगर, आगर, खेड़े, कव्वड़, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन, समग्र जनपद, चतुष्पद, गौ आदि पशु, पक्षी, गाँवों और वनों के अनेक प्रकार के द्वीन्द्रियादिक त्रस प्राणी, वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, बल्ली, प्रवाल, अंकुर, तृण-वनस्पति, बादर वनस्पति, सूक्ष्म वनस्पति, औषध और वैताड्य पर्वत को छोड़कर सब पर्वत, गिरि, डूंगर, टीबे, गंगा और सिन्धु को छोड़कर सब नदियाँ, भरने, विषम गड्ढे आदि विनष्ट हो जायेंगे । भूमि सम हो जायगी ।”

“उस समय समस्त भरतक्षेत्र की भूमि अंगारमय, चिनगारियों के समान, राख तुल्य, अग्नि से तपी हुई बालुका के समान तथा भीषण ताप के कारण अग्नि की ज्वाला के समान दाहक होगी । घूलि, रेणु, पंक एवं घसान वाले दल-दलों के बाहुल्य के कारण पृथ्वी पर चलने वाले प्राणी भूमि पर इधर-उधर बड़ी कठिनाई से चल-फिर सकेंगे ।”

छट्ठे आरक में मनुष्य अत्यन्त कुरूप, दुर्वर्ण, दुर्गन्धयुक्त, दुःखद रस एवं स्पर्श वाले अग्निष्ट, चिन्तन मात्र से दुःखद, हीन-दीन, कर्णकटु अत्यन्त कर्कश स्वर वाले, अनादेय-अशुभ भाषण करने वाले, निर्लज्ज, भूठ-कपट-कलह, वध-बन्ध और वैरपूर्ण जीवन वाले, मर्यादा का उल्लंघन करने में सदा अग्रणी, कुकर्म करने के लिये सदा उद्यत, आज्ञापालन, विनयादि से रहित, विकलांग, बढ़े हुए रूक्ष नख, केश, दाढ़ी-मूछ व रोमावली वाले, काल के समान काले-कलटे, फटी हुई दाड़िम के समान ऊबड़-खाबड़ सिर वाले, रूक्ष, पीले पके हुए बालों वाले, मांसपेशियों से रहित व चर्मरोगों के कारण विरूप, प्रथम आयु में ही बुढ़ापे से घिरे हुए, सिकुड़ी हुई सलदार चमड़ी वाले, उड़े हुए बाल और टूटे हुए दांतों के कारण घड़े के समान मुख वाले, विषम आँखों वाले, टेढ़ी नाक, भौंहें व नेत्र आदि के कारण बीभत्स मुख वाले, खुजली कुष्ठ आदि के कारण उघड़ी हुई चमड़ी वाले, कसरे व खसरे के कारण तीखे नखों से निरन्तर शरीर को खुजलाते रहने के कारण घावों से परिपूर्ण विकृत शरीर वाले, ऊबड़-खाबड़ अस्थिसंधियों एवं असम अंगों के कारण विकृत आकृति वाले, दुर्बल, कुसंहनन, कुप्रमाण एवं हीन संस्थान के कारण अत्यन्त कुरूप, कुत्सित स्थान, शय्या और खानपान वाले, अशुचि के भण्डार, अनेक व्याधियों से पीड़ित, स्थूलित विह्वल गति वाले,

निरुत्साही, सत्त्वहीन, विकृत चेष्टा वाले, तेजहीन, निरन्तर शीत, ताप और उष्ण, रूक्ष एवं कठोर वायु से पीड़ित, घूलिघूसरित मलिन भंग वाले, अपार क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह वाले, दुखानुबन्धी दुःख के भोगी, अधिकांशतः धर्म-श्रद्धा एवं सम्यक्त्व से भ्रष्ट होंगे।”

“उन मनुष्यों का शरीरमान अधिक से अधिक एक हाथ के बराबर होगा, उनकी अधिक से अधिक आयु १६ अथवा २० वर्ष की होगी, बहुत से पुत्रों, न्यातियों और पीत्रों आदि के परिवार के स्नेहपाश में वे लोग प्रगाढ़ रूप से बँधे रहेंगे।”

“वैताह्य गिरि के उत्तर-दक्षिण में गंगा एवं सिन्धु नदियों के तटवर्ती ७२ बिलों में, अर्थात् उत्तरार्द्ध भरत में गंगा और सिन्धु नदी के तटवर्ती ३६ बिलों में तथा उसी प्रकार वैताह्य गिरि के दक्षिण में अर्थात् दक्षिणार्द्ध भरत में गंगा एवं सिन्धु नदियों के तटवर्ती ३६ बिलों में केवल बीज रूप में मनुष्य एवं पशु-पक्षी आदि प्राणी रहेंगे।”

“उस समय गंगा एवं सिन्धु नदियों का प्रवाह केवल रथ-पथ के बराबर रह जायगा और पानी की गहराई रथचक्र की धुरी के बराबर होगी। दोनों नदियों के पानी में मछलियों और कछुओं का बाहुल्य होगा और पानी कम होगा। सूर्योदय और सूर्यास्त बेला में वे लोग बिलों के अन्दर से शीघ्र गति से निकलेंगे। इन नदियों में से मछलियों और कछुओं को पकड़ कर तटवर्ती बालू मिट्टी में गाड़ देंगे। रात्रि की कड़कड़ाती सर्दी और दिन की चिलचिलाती धूप में वे मिट्टी में गाड़ी हुई मछलियाँ और कछुए पक कर उनके खाने योग्य हो जायेंगे।

“इस तरह २१,००० वर्ष के छट्ठे आरे में मनुष्य केवल मछलियों और कछुओं से अपना उदर-भरण करेंगे।”

“उस समय के निष्शील, निर्बल, गुणविहीन, मर्यादारहित, प्रत्याख्यान-पौषध-उपवास आदि से रहित व प्रायः मांसभक्षी मनुष्य प्रायः नरक और तिर्यच योनियों में उत्पन्न होंगे। इसी प्रकार उस समय के सिंह व्याघ्रादि पशु और ढंक, कंक आदि पक्षी भी प्रायः नरक और तिर्यच योनियों में उत्पन्न होंगे।”

### उत्सर्पिणीकाल

“अवसर्पिणीकाल के दुषमा-दुषम नामक छट्ठे आरे की समाप्ति पर उत्कर्षोन्मुख उत्सर्पिणीकाल प्रारम्भ होगा। उस उत्सर्पिणीकाल में अवसर्पिणी-काल की तरह छेँ आरे प्रतिलोम रूप से (उल्टे क्रम से) होंगे।”

“उत्सर्पिणी काल का दुषमा-दुषम नामक प्रथम आरक अवसर्पिणीकाल के छठे आरे की तरह २१ हजार वर्ष का होगा। उसमें सब स्थिति उसी प्रकार की रहेगी जिस प्रकार की कि अवसर्पिणीकाल के छठे आरे में रहती है।”

“उस प्रथम आरक की समाप्ति पर जब २१ हजार वर्ष का दुषम नामक दूसरा आरा प्रारम्भ होगा, तब शुभ समय का श्रीगणेश होगा। पुष्कर संवर्तक नामक मेघ निरन्तर सात दिन तक सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर मूसलाधार रूप में बरस कर पृथ्वी के ताप का हरण करेगा और फिर अन्यान्य मेघों से धान्य एवं औषधियों की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार पुष्करमेघ, क्षीरमेघ, घृतमेघ, अमृतमेघ और रसमेघ सात-सात दिनों के अन्तर से अनवरत बरस कर सूखी धरती की तपन एवं व्यास बुझा कर उसे हरी भरी कर देंगे।”

“भूमि की बदली हुई दशा देखकर गुफावासी मानव गुफाओं से बाहर आयेंगे और हरियाली से लहलहाती सस्यश्यामला धरती को देखकर हर्षविभोर हो उठेंगे। वे लोग आपस में विचार-विमर्श कर मांसाहार का परित्याग कर शाकाहारी बनेंगे। वे लोग अपने समाज का नवगठन करेंगे और नये सिरे से ग्राम, नगर आदि बसायेंगे। शनैः-शनैः ज्ञान, विज्ञान, कला, शिल्प आदि की अभिवृद्धि होगी।”

२१ हजार वर्ष की अवधि वाले दुषम नामक द्वितीय आरक की समाप्ति पर दुषमा-सुषम नामक तीसरा आरा प्रारम्भ होगा। वह बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का होगा। उस आरक के तीन वर्ष साढ़े आठ मास बीतने पर उत्सर्पिणीकाल के प्रथम तीर्थंकर का जन्म होगा।

उस तृतीय आरक में २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वामुदेव और ६ प्रतिवासुदेव होंगे। उत्सर्पिणीकाल के इस दुषमा-सुषम नामक आरे में अवसर्पिणीकाल के दुषमा-सुषम नामक चतुर्थ आरे के समान सभी स्थिति होगी। अन्तर केवल इतना ही होगा कि अवसर्पिणीकाल में वरुण, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श, आयु, उन्सेध, बल, वीर्य आदि अनुक्रमशः अपकर्षोन्मुख होते हैं और उत्सर्पिणी में उत्कर्षोन्मुख।

उत्सर्पिणीकाल का सुषमा-दुषम नामक चतुर्थ आरक दो कोड़ाकोड़ी सागर का होगा। इस आरक के प्रारम्भ में उत्सर्पिणीकाल के चौबीसवें तीर्थंकर और बारहवें चक्रवर्ती होंगे।”

१ दूसरे आरे में ७ कुलकर होंगे, इस प्रकार का उल्लेख ‘विविध तीर्थ कल्प’ के ‘२१ अपापा वृहत्कल्प’ में है। स्थानांग में भी प्रथम तीर्थंकर को कुलकर का पुत्र बताया है।

२ एक मान्यता यह भी है कि उत्सर्पिणीकाल के चतुर्थ आरक के प्रारम्भ में कुलकर होते हैं। यथा :

“अण्णे पढंति । तिस्सेरां समाए पढंमे तिभाये डमे पणारस कुलगरा समुप्पज्जिस्संति.....  
[जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष० २, प० १६४, शान्तिचन्द्र मणि]



इस चतुर्थ आरक का एक करोड़ पूर्व से कुछ अधिक समय बीत जाने पर कल्पवृक्ष उत्पन्न होंगे और तब यह भरतभूमि पुनः भोगभूमि बन जायगी ।

उत्सर्पिणीकाल के सुषम और सुषमा-सुषम नामक क्रमशः पाँचवें और छठे आरों में अवसर्पिणी के प्रथम दो आरों के समान ही समस्त स्थिति रहेगी ।

इस प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीकाल के छैः-छैः आरों को मिलाकर कुल बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कालचक्र होता है ।

गौतम गणधर ने भगवान् से एक और प्रश्न किया—“भगवन् ! आपके निर्वाण के पश्चात् मुख्य-मुख्य घटनाएँ क्या होंगी ?”

उत्तर में प्रभु ने फरमाया—“गौतम ! मेरे मोक्ष-गमन के तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् दुःषम नामक पाँचवाँ आरा लगेगा । मेरे निर्वाण के चौसठ (६४) वर्ष पश्चात् अन्तिम केवली जम्बू सिद्ध गति को प्राप्त होंगे । उसी समय मनःपर्यवज्ञान, परम अवधिज्ञान, पुलाकलब्धि, आहारक शरीर, क्षपकश्रेणी, उपशमश्रेणी, जिनकल्प, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यातचारित्र, केवलज्ञान और मुक्तिगमन इन बारह स्थानों का भरतक्षेत्र से विलोप हो जायगा ।”

“मेरे निर्वाण के पश्चात् मेरे शासन में पचम आरे के अन्त तक २००४ युगप्रधान आचार्य होंगे । उनमें प्रथम आर्य सुधर्मा और अन्तिम दुःप्रसह होंगे ।”

“मेरे निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गारोहण के अनन्तर अन्तिम चार वर्ष पूर्व, समचतुरस्र संस्थान, वज्रश्रृंखलाभनाराच संहनन और महाप्राणध्यान इन चार चीजों का भरतक्षेत्र से उच्छेद हो जायगा ।”

“मेरे निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् आचार्य आर्य वज्र के समय में दसवाँ पूर्व और प्रथम संहनन-चतुष्क समाप्त हो जायेंगे ।”

“मेरे मोक्षगमन के अनन्तर पालक, नन्द, चन्द्रगुप्त आदि राजाओं के अवसान के पश्चात्, अर्थात् मेरे निर्वाण के ४७० वर्ष बीत जाने पर विक्रमादित्य नामक राजा होगा । पालक का राज्यकाल ६० वर्ष, (नव) नन्दों का राज्यकाल १५५ वर्ष, मीर्यों का १०८ वर्ष, पूष्यमित्र का ३० वर्ष, बलमित्र व भानुमित्र का राज्यकाल ६० वर्ष, नरवाहन का ४० वर्ष, गर्दभिल्ल का १३ वर्ष, शक का राज्यकाल ४ वर्ष और उसके पश्चात् विक्रमादित्य का शासन होगा । सज्जन और स्वर्णपुरुष विक्रमादित्य पृथ्वी का निष्कण्टक राज्य कर अपना संवत् चलायेगा ।”

“मेरे निर्वाण के ४५३ वर्ष पश्चात् गर्दभिल्ल के राज्य का अन्त करने वाला कालकाचार्य होगा ।”<sup>१</sup>

“विशेष क्या कहा जाय, बहुत से साधु भाँडों के समान होंगे, पूर्वाचार्यों से परम्परागत चली आ रही समाचारी का परित्याग कर अपनी कपोलकल्पना के अनुसार समाचारी और चारित्र के नियम बना-बना कर उस समय के अल्पज्ञ मनुष्यों को विमुग्ध कर आगम के विपरीत प्ररूपणा करते हुए आत्मप्रशंसा और परनिन्दा में निरत रहेंगे । विपुल आत्मबल वालों की कोई पूछ नहीं रहेगी और आत्मबलविहीन लोग पूजनीय बनेंगे ।”<sup>२</sup>

“इस प्रकार अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप इस संसारचक्र में घर्मारोधन करने वाले ही वस्तुतः कालचक्र को पार कर सिद्धि प्राप्त कर पायेंगे ।”

भगवान् के द्वारा इस तरह संसार-भ्रमण और दुखों की भयंकरता का विवरण सुन हस्तिपाल आदि आदि अनेक भव्य आत्माओं ने निर्ग्रन्थ धर्म की शरण ली ।

इस वर्ष निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचुर प्रचार एवं विस्तार हुआ<sup>३</sup> और अनेक भव्यात्माओं ने निर्ग्रन्थ-धर्म की श्रमण-दीक्षाएँ स्वीकार की ।

इस प्रकार वर्षाकाल के तीन महीने बीत गये । चौथे महीने में कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातःकाल ‘रज्जुग सभा’<sup>४</sup> में भगवान् के मुखारविन्द से अन्तिम उपदेशामृत की अनवरत वृष्टि हो रही थी । सभा में काशी, कोशल के नौ लिच्छवी, नौ मल्ल एवं अठारह गणराजा भी उपस्थित थे ।

### शक्र द्वारा आयुवृद्धि की प्रार्थना

प्रभु के मोक्ष समय को निकट जानकर शक्र वन्दन करने को आया और अञ्जलि जोड़कर बोला—“भगवन् ! आपके जन्मकाल में जो उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था, उस पर इस समय भस्मग्रह संक्रान्त होने वाला है, जो कि जन्म-नक्षत्र

१ तह गद्दभिल्लसरज्जस्सुठायगो कालगायरियो होही ।

तेवण्ण चउसएहि, गुणसवकलिओ सुअपउत्तो ।।

२ विविष ती० क०, २० कल्प, अभिधान राजेन्द्र, चौथा भाग, पृ० २६०१ ।

३ महावीर चरित्र, हेमचन्द्र सूरिकृत ।

४ रज्जुगा-सेहगा, तेसि सभा रज्जुयसभा, अपरिभुज्जमाण करणसाला ।

—कल्पसूत्र, सू० १२२ । (टीका)

पर दो हजार वर्ष तक रहेगा । अतः उसके संक्रमणकाल तक आप आयु को बढ़ा लें तो वह निष्फल हो जायेगा ।”

भगवान् ने कहा—“इन्द्र ! आयु के घटाने-बढ़ाने की किसी में शक्ति नहीं है ।” प्रह तो केवल आगामी काल में शासन की जो गति होने वाली है, उसके दिग्दर्शक मात्र हैं ।” इस प्रकार इन्द्र की शंका का समाधान कर भगवान् ने उसे संतुष्ट कर दिया ।

### परिनिर्वाण

भगवान् महावीर का कार्तिक कृष्णमासमावस्या की पिछली रात्रि में निर्वाण हुआ, उस समय तक सोलह प्रहर जितने दीर्घकाल पर्यंत प्रभु अनन्त बली होने के कारण बिना खेद के प्रवचन करते रहे । प्रभु ने अपनी इस अन्तिम देशना में पुण्यफल के पचपन अध्ययनों का और पापफल विपाक के पचपन अध्ययनों का कथन किया<sup>१</sup>, जो वर्तमान में सुख विपाक और दुःख विपाक नाम से विपाक सूत्र के दो खंडों में प्रसिद्ध हैं । भगवान् महावीर ने इस अन्तिम देशना में अपृष्ट व्याकरण के छत्तीस अध्ययन भी कहे<sup>२</sup>, जो वर्तमान में उत्तराध्ययन सूत्र के रूप में प्रख्यात हैं । सैंतीसवाँ प्रधान नामक मरुदेवी का अध्ययन फरमाते-फरमाते भगवान् पर्यकासन में स्थिर हो गये ।<sup>४</sup> भगवान् ने बादर काययोग में स्थित रह क्रमशः बादर मनोयोग और बादर वचनयोग का निरोध किया, फिर सूक्ष्म काययोग में स्थित रह बादर काययोग को रोका, वाणी और मन के सूक्ष्म योग को रोका । शुक्लध्यान के सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती तीसरे चरण को प्राप्त कर सूक्ष्म काययोग का निरोध किया और समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति नाम के चौथे चरण में पहुँच अ, इ, उ, ऋ, और लृ इन पाँच अक्षरों को उच्चारण करें,

१ (क) भयवं कुराह पसार्यं, विगमह एयंपि ताव सस्येकं ।

जावेस भासरासिस्त, नूणमुध्मो भवमकमइ ॥१॥ महावीर च०, प्रस्ता० ८,  
प० ३३८ ।

(ख) अह जय गुरुणा भणियं सुरिद, तीयाइतिविहकामेऽवि ।

नो भूयं न भविस्तइ न ह्वइ नूणं इमं कण्ठं ।

जं आऊकम्म विगमेऽवि, कोऽवि अण्णैज्ज समयमेसमवि

अण्णंताणंतिविसिट्ठसत्तिपग्गारजुसोऽवि ।

२ (क) समवा०, ५५वाँ समवाय

(ख) कल्पसूत्र, १४७ सू०

३ (क) कल्पसूत्र, १४७ सू०

(ख) उत्तराध्ययन पूर्ण, पत्र २८३ ।

४ संपत्तिग्रहकं निसण्णे.....; समवायांग ।

जितने काल तक शैलेशी—दशा में रहकर चार अघातिकर्मों का क्षय किया और सिद्ध, बुद्ध, मुक्त अवस्था को प्राप्त हो गये ।<sup>१</sup>

उस समय वर्षाकाल का चौथा मास और सातवाँ पक्ष अर्थात् कार्तिक कृष्ण पक्ष की चरम रात्रि अमावस्या थी ।

निर्वाणकाल में प्रभु महावीर छट्ठभक्त (बेले) की तपस्या से सोलह प्रहर तक देशना करते रहे ।<sup>२</sup> देशना के मध्य में कई प्रश्न और चर्चाएँ भी हुईं ।

प्रभु महावीर ने अपना निर्वाण-समय सन्निकट जान प्रथम गणधर इन्द्र-भूति को, देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए अन्यत्र भेज दिया । अपने चिर-अन्तेवासी गौतम को दूर भेजने का कारण यह था कि भगवान् के निर्वाण के समय गौतम अधिक स्नेहाकुल न हों । इन्द्रभूति ने भगवान् की आज्ञा के अनुसार देव शर्मा को प्रतिबोध दिया । प्रतिबोध देने के पश्चात् वे प्रभु के पास लौटना चाहते थे पर रात्रि हो जाने के कारण लौट नहीं सके । अर्द्ध रात्रि के पश्चात् उन्हें भगवान् के निर्वाण का संवाद मिला । भगवान् के निर्वाण को सुनते ही इन्द्रभूति अति खिन्न हो गये और स्नेह-विह्वल हो कहने लगे—“भगवन् ! यह क्या ? आपने मुझे इस अन्तिम समय में अपने से दूर क्यों किया ! क्या मैं आपको मोक्ष जाने से रोकता था, क्या मेरा स्नेह सच्चा नहीं था अथवा क्या मैं आपके साथ होकर मुक्ति में आपका स्थान रोकता ? अब मैं किसके चरणों में प्रणाम करूँगा और कहाँ अपनी मनोगत शंकाओं का समाधान प्राप्त करूँगा ? प्रभो ! अब मुझे “गौतम” “गौतम” कौन कहेगा ?” इस प्रकार भावना-प्रवाह में बहते-बहते गौतम ने स्वयं को सम्हाला और विचार किया—“अरे ! यह मेरा कैसा मोह ? भगवान् तो वीतराग हैं, उनमें कैसा स्नेह ! यह तो मेरा एकपक्षीय मोह है । क्यों नहीं मैं भी प्रभु चरणों का अनुगमन करूँ, इस नश्वर जगत् के दृश्यमान पदार्थों में मेरा कौन है ?” इस प्रकार चिन्तन करते हुए गौतम ने उसी रात्रि के अन्त में घाती कर्मों का क्षय कर क्षण भर में केवलज्ञान के अक्षय आलोक को प्राप्त कर लिया ।<sup>३</sup> वे त्रिकालदर्शी हो गये ।

गौतम के लिए कहा जाता है कि एक बार अपने से छोटे साधुओं को केवलज्ञान से विभूषित देखकर उनके मन में बड़ी चिन्ता उत्पन्न हुई और वे सोचने लगे कि उन्हें अभी तक केवलज्ञान किस कारण से प्राप्त नहीं हुआ है ।

१ कल्पसूत्र, सू० १४७ ।

२ सौभाग्य पंचम्यादि पर्वकथा संग्रह, पृ० १०० । “षोडश प्रहरान् यावद् देशनां दत्तवान् ।”

३ जं रयणि च एं समरो भगवं महावीरे कालगए जाव सब्बदुक्ख पहीणे तं रयणि च एं जेट्ठस्स गोयमस्स इंदुभूइस्स.....केवलवरनाराणवंसरो समुप्पन्ने ।

[कल्पसूत्र, सूत्र १२६—सिवाना संस्करण]

घट-घट के अन्तर्यामी प्रभु महावीर ने अपने प्रमुख शिष्य गौतम की उस चिन्ता को समझ कर कहा — “गौतम ! तुम्हारा मेरे प्रति प्रगाढ़ स्नेह है । अनेक भवों से हम एक दूसरे के साथ रहे हैं । यहाँ से आयु पूर्ण कर हम दोनों एक ही स्थान पर पहुँचेंगे और फिर कभी एक दूसरे से विलग नहीं होंगे । मेरे प्रति तुम्हारा यह धर्मस्नेह ही तुम्हारे लिये केवलज्ञान की प्राप्ति को रोके हुए है । स्नेहराग के क्षीण होने पर तुम्हें केवलज्ञान की प्राप्ति अवश्य होगी ।”

प्रभु का अन्तिम निर्णय सुनकर गौतम उस समय अत्यन्त प्रसन्न हुए थे ।

भगवान् के निर्वाण के समय समवसरण में उपस्थित गण-राजाओं ने भावभीने हृदय से कहा—“अहो ! आज संसार से वस्तुतः भाव उद्योत उठ गया, अब द्रव्य प्रकाश करेंगे ।”

कार्तिक कृष्ण अमावस्या की जिस रात को श्रमण भगवान् महावीर काल-धर्म को प्राप्त हुए, जन्म, जरा-मरण के सब बन्धनों को नष्ट कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए, उस समय चन्द्र नाम का संवत्सर, प्रीतिवर्द्धन नाम का मास और नन्दिवर्द्धन नाम का पक्ष था । दिन का नाम ‘अग्निवेशम’ या ‘उपशम’ था । देवानन्दा रात्रि और अर्थ नाम का लव था । मुहूर्त नाम का प्राण और सिद्ध नाम का स्तोत्र था । नागकरण और सर्वार्थसिद्ध मुहूर्त में स्वाति-नक्षत्र के योग में जब भगवान् षष्ठ-भक्त के तप में पर्यंकासन से विराजमान थे, सिद्ध बुद्ध-मुक्त हो गये ।

### देवाकृत शरीर-क्रिया

भगवान् का निर्वाण हुआ जान कर स्वर्ग से शक्र आदि इन्द्र, सहस्रों देव-देवियाँ एवं स्थान-स्थान से नरेन्द्रादि सभी वर्गों के अपरिमेय जनौघ उद्वेलित समुद्र के समान पावापुरी में राजा हंस्तिपाल की रज्जुग सभा की ओर उमड़ पड़े और अश्रुपूर्ण नयनों से भगवान् के पाण्डव शरीर को शिविका में विराजमान कर चितास्थान पर ले गये । वहाँ देवनिमित्त गोशीर्ष चन्दन की चिता में प्रभु के शरीर को रखा गया । अग्नि कुमार द्वारा अग्नि प्रज्वलित की गई और वायु कुमार ने वायु संचारित कर सुगन्धित पदार्थों के साथ प्रभु के शरीर की दाह-क्रिया सम्पन्न की । फिर मेघ कुमार ने जल बरसा कर चिता शान्त की ।

निर्वाणकाल में उपस्थित अठारह गण-राजाओं ने अमावस्या के दिन पौषध, उपवास किया और प्रभु निर्वाणान्तर भाव उद्योत के उठ जाने से महावीर के ज्ञान के प्रतीक रूप से संस्मरणार्थ द्रव्य-प्रकाश करने का निश्चय किया, चहुँ ओर ग्राम-ग्राम, नगर-नगर और डगर-डगर में घर-घर दीप जला कर प्रभु द्वारा लोक में केवलज्ञान द्वारा किये गये अनिर्वचनीय उद्योत की स्मृति

में दीप-महोत्सव के रूप में जनगण ने द्रव्योद्योत किया। उस दिन जब दीप जला कर प्रकाश किया गया तभी से दीपावली पर्व प्रारम्भ हुआ, जो कार्तिक कृष्णा अमावस्या को प्रति वर्ष बड़ी धूम-धाम के साथ आज भी मनाया जाता है।<sup>१</sup>

### भगवान् महावीर की आयु

श्रमण भगवान् महावीर तीस वर्ष गृहवास में रहे। साधिकद्वादश वर्ष छद्मस्थ-पर्याय में साधना की और कुछ कम तीस वर्ष केवली रूप से विचरे। इस तरह सम्पूर्ण बयालीस वर्ष का संयम पाल कर बहत्तर वर्ष की पूर्ण आयु में प्रभु मुक्त हुए। समवायांग में भी बहत्तर वर्ष का सब आयु भोग कर सिद्ध होने का उल्लेख है।<sup>२</sup> छद्मस्थ पर्याय का कालमान स्थानांग में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है—बारह वर्ष और तेरह पक्ष छद्मस्थ पर्याय का पालन किया और १३ पक्ष कम ३० वर्ष केवली पर्याय में रहे।<sup>३</sup> पूर्ण आयु सब में बहत्तर वर्ष मानी गई है।

### भगवान् महावीर के चातुर्मास

श्रमण भगवान् महावीर ने अस्थिग्राम में प्रथम चातुर्मास किया। चम्पा और पृष्ठ चम्पा में तीन (३) चातुर्मास किये। वैशाली नगरी और बाणज्य ग्राम में प्रभु के बारह (१२) चातुर्मास हुए। राजगृह और उसके उपनगर नालंदा में चौदह (१४) चातुर्मास हुए। मिथिला नगरी में भगवान् ने छह (६) चातुर्मास किये। भड्डिया नगरी में दो, आलंबिका और सावत्थी में एक एक चातुर्मास हुआ। वज्रभूमि (अनार्य) में एक चातुर्मास और पावापुरी में एक अंतिम इस प्रकार कुल बयालीस चातुर्मास किये।

### भगवान् महावीर का धर्म-परिवार

भगवान् महावीर ने चतुर्विध संघ में निम्नलिखित धर्म-परिवार था :—

गणधर एवं गण—गौतम इन्द्रभूति आदि ग्यारह (११) गणधर और नव (९) गण

१ (क) गते से भावुज्जये दध्युज्जयं करिस्सामो ॥ कल्प सू., सू० १२७ (शिवाना सं.)

(ख) ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादराद्, प्रसिद्ध दीपावलिकात्र भारते।

—त्रि०, १० प० १३ स० १४८ श्लो० (हरिवंश)

(ग) एवं सुरगणपहामुज्जयं तस्सि दिरो सयलं महीमंडलं ददुहण तहण्णव कीरमारो जणवण्ण 'दीवोसवो' ति पासिद्धि गमो। ज. म., पृ. ३३४।

२ समवायांग, समवाय ७२

३ स्थानांग, ६ स्था० ३ उ० सू० ६६३। दुवालस संवच्छराइं तेरस पक्ख छउमत्थ० ॥

(मौलिक ऋषि द्वारा अनुचित, पृष्ठ = १६)

केवली	-	सात सौ (७००)
मनःपर्यवज्ञानी	-	पाँच सौ (५००)
अवधिज्ञानी	-	तेरह सौ (१,३००)
चौदह पूर्वधारी	-	तीन सौ (३००)
वादी	-	चार सौ (४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	-	सात सौ (७००)
अनुत्तरोपपातिक मुनि	-	आठ सौ (८००)
साधु	-	चौदह हजार (१४,०००)
साध्वियाँ	-	चन्दना आदि छत्तीस हजार (३६,०००)
श्रावक	-	शंख आदि एक लाख उनसठ हजार (१,५६,०००)
श्राविकाएं	-	सुलसा, रेवती प्रभृति तीन लाख अठारह हजार (३,१८,०००)

भगवान् महावीर के शासन में सात सौ साधुओं और चौदह सौ साध्वियों ने निर्वाण प्राप्त किया। यह तो केवल व्रतधारियों का ही परिवार है। इनके प्रतिरिक्त प्रभु के लाखों भक्त थे।

### गणधर

श्रमण भगवान् महावीर के धर्म-परिवार में नौ गण और ग्यारह गणधर थे जो इस प्रकार हैं—(१) इन्द्रभूति, (२) अग्निभूति, (३) वायुभूति (४) व्यक्त, (५) सुधर्मा, (६) मंडित, (७) मौर्यपुत्र, (८) अकम्पित, (९) अचल-ध्राता, (१०) मेतार्य और (११) श्री प्रभास।<sup>१</sup> ये सभी गृहस्थ-जीवन में विभिन्न क्षेत्रों के निवासी जातिमान् ब्राह्मण थे। मध्यम पावा के सोमिल ब्राह्मण का आमन्त्रण पाकर अपने-अपने छात्रों के साथ ये वहाँ के यज्ञ में आये हुए थे। केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर भगवान् भी पावापुरी पधारे और यज्ञ-स्थान के उत्तर भाग में विराजमान हुए। इन्द्रभूति आदि विद्वान् भी समवशरण की महिमा से आकर्षित हो भगवान् की सेवा में आये और अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान पाकर वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन अपने शिष्य-मंडल के साथ भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षित हुए। त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर इन्होंने चतुर्विंश पूर्व की रचना की और गणधर कहलाये। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१ समवायांग, समवाय ११।

### १. इन्द्रभूति

प्रथम गणधर इन्द्रभूति मगध देश के अन्तर्गत 'गोबर' ग्रामवासी गौतम गोत्रीय वसुभूति ब्राह्मण के पुत्र थे । इनकी माता का नाम पृथ्वी था । ये वेद-वेदान्त के पाठी थे । महावीर स्वामी के पास आत्मा विषयक संशय की निवृत्ति पाकर ये पाँच सौ छात्रों के साथ दीक्षित हुए ।

दीक्षा के समय इनकी अवस्था ५० वर्ष की थी । इनका शरीर सुन्दर, सुडौल और सुगठित था । महावीर के चौदह हजार साधुओं में मुख्य होकर भी आप बड़े तपस्वी थे । आपका विनय गुण भी अनुपम था । भगवान् के निर्वाण के बाद आपने केवलज्ञान प्राप्त किया । तीस वर्ष तक छद्मस्थ-भाव रहने के पश्चात् फिर बारह वर्ष केवली-पर्याय में विचरे । आयुकाल निकट देखकर अन्त में अपने गुणशील चैत्य में एक मास के अनशन से निर्वाण प्राप्त किया । इनकी पूर्ण आयु बाणवें वर्ष की थी ।

### २. अग्निभूति

दूसरे गणधर अग्निभूति इन्द्रभूति के भूले सहोदर थे । 'पुरुषाद्वैत' की शंका दूर होने पर इन्होंने भी पाँच सौ छात्रों के साथ ४६ वर्ष की अवस्था में श्रमण भगवान् महावीर की सेवा में मुनि-धर्म स्वीकार किया और बारह वर्ष तक छद्मस्थ-भाव में रह कर केवलज्ञान प्राप्त किया । सोलह वर्ष केवली-पर्याय में रहकर इन्होंने भगवान् के जीवनकाल में ही गुणशील चैत्य में एक मास के अनशन से मुक्ति प्राप्त की । इनकी पूर्ण आयु चौहत्तर वर्ष की थी ।<sup>१</sup>

### ३. वायुभूति

तीसरे गणधर वायुभूति भी इन्द्रभूति तथा अग्निभूति के छोटे सहोदर थे । इन्द्रभूति की तरह इन्होंने भी 'तज्जीव तच्छरीर-वाद' को छोड़ कर भगवान् महावीर से भूतातिरिक्त आत्मा का बोध पाकर पाँच सौ छात्रों के साथ प्रभु की सेवा में दीक्षा ग्रहण की । उस समय इनकी अवस्था बयालीस वर्ष की थी । दश वर्ष छद्मस्थभाव में साधना करके इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और ये अठारह वर्ष तक केवली रूप से विचरते रहे । भगवान् महावीर के निर्वाण से दो वर्ष पहले एक मास के अनशन से इन्होंने भी सत्तर [७०] वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में सिद्धि प्राप्त की ।

### ४. आर्य व्यक्त

चौथे गणधर आर्य व्यक्त कोल्लाश सन्निवेश के भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे । इनकी माता का नाम वारुणी और पिता का नाम धनमित्र था । इन्हें शंका

१ आवश्यक नियुक्ति, गाथा ६५६, पृ० १२३ (१)



थी कि ब्रह्म के अतिरिक्त सारा जगत् मिथ्या है। भगवान् महावीर से अपनी शंका का सम्यक् समाधान पाकर इन्होंने भी पाँच सौ छात्रों के साथ पचास वर्ष की वय में प्रभु के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। बारह वर्ष तक छद्मस्थ साधना करके इन्होंने भी केवलज्ञान प्राप्त किया और अठारह वर्ष तक केवली-पर्याय में रहकर भगवान् के जीवनकाल में ही एक मास के अनशन से गुणशील चैत्य में अस्सी वर्ष की वय में सकल कर्म क्षय कर मुक्ति प्राप्त की।

### ५. सुधर्मा

पंचम गणधर सुधर्मा 'कोल्लाग' सन्निवेश के अग्नि वेश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम भद्रिला और पिता का नाम धम्मिल था। इन्होंने भी जन्मान्तर विषयक संशय को मिटाकर भगवान् के चरणों में पाँच सौ छात्रों के साथ दीक्षा ग्रहण की। ये ही भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी आचार्य हुए। ये वीर निर्वाण के बीस वर्ष बाद तक संघ की सेवा करते रहे। अन्यान्य सभी गणधरों ने दीर्घजीवी समझ कर इनको ही अपने-अपने गण सँभला दिये थे। आप ५० वर्ष गृहवास में एवं ४२ वर्ष छद्मस्थ-पर्याय में रहे और ७ वर्ष केवली रूप से धर्म का प्रचार कर १०० वर्ष की पूर्ण आयु में राजगृह नगर में मोक्ष पधारें।

### ६. मंडित

छठे गणधर मंडित मौर्य सन्निवेश के वसिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम विजया देवी था। भगवान् महावीर से आत्मा का संसारित्व समझ कर इन्होंने भी गौतम आदि की तरह तीन सौ पचास ३५० छात्रों के साथ श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षाकाल में इनकी अवस्था तिरेपन वर्ष की थी। चौदह वर्ष साधना कर सड़सठ [६७] वर्ष की अवस्था में इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। भगवान् के निर्वाण-पूर्व इन्होंने भी सोलह वर्ष केवली-पर्याय में रह कर तिरासी [८३] वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में अनशनपूर्वक मुक्ति प्राप्त की।

### ७. मौर्यपुत्र

सातवें गणधर मौर्यपुत्र मौर्य सन्निवेश के काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजया देवी था। देव और देव-लोक सम्बन्धी शंका की निवृत्ति होने पर इन्होंने भी तीन सौ पचास [३५०] छात्रों के साथ पैंसठ वर्ष की वय में श्रमण दीक्षा स्वीकार की। १४ वर्ष छद्मस्थ भाव में रहकर उन्हासी [७६] वर्ष की अवस्था में इन्होंने तपस्या से केवलज्ञान प्राप्त किया और सोलह वर्ष तक केवली पर्याय में रहकर भगवान् के सामने ही

पचानवे [६५] वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में अनशनपूर्वक निर्वाण प्राप्त किया ।

#### ८. अकम्पित

आठवें गणधर अकम्पित मिथिला के रहने वाले, गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे । आपकी माता का नाम जयन्ती और पिता का नाम देव था । नरक और नारकीय जीव सम्बन्धी संशय-निवृत्ति के बाद इन्होंने भी अड़तालीस वर्ष की अवस्था में अपने तीन सौ शिष्यों के साथ भगवान् महावीर की सेवा में श्रमण-दीक्षा स्वीकार की । ६ वर्ष तक छद्मस्थ रहकर सत्तावन वर्ष की अवस्था में इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और इक्कीस वर्ष केवली-पर्याय में रह कर प्रभु के जीवन के अन्तिम वर्ष में गुणशील चैत्य में एक मास का अनशन पूर्ण कर अठहत्तर वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया ।

#### ९. अचलभ्राता

नवें गणधर अचलभ्राता कोशला निवासी हारीत गोत्रीय ब्राह्मण थे । आपकी माता का नाम नन्दा और पिता का नाम वसु था । पुण्य-पाप सम्बन्धी अपनी शंका निवृत्ति के बाद इन्होंने भी छियालीस वर्ष की अवस्था में तीन सौ छात्रों के साथ भगवान् महावीर की सेवा में श्रमण दीक्षा स्वीकार की । बारह वर्ष पर्यन्त तीव्र तप एवं ध्यान कर अट्ठावन वर्ष की अवस्था में आपने केवलज्ञान प्राप्त किया और चौदह वर्ष केवली-पर्याय में रह कर बहत्तर वर्ष की वय में एक मास का अनशन कर गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया ।

#### १०. मेतार्य

दसवें गणधर मेतार्य वत्स देशान्तर्गत तुंगिक सन्निवेश के रहने वाले कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे । इनकी माता का नाम वरुणा देवी और पिता का नाम दत्त था । इनको पुनर्जन्म सम्बन्धी शंका थी । भगवान् महावीर से समाधान प्राप्त कर तीन सौ छात्रों के साथ छत्तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने भी श्रमण-दीक्षा स्वीकार की । दश वर्ष की साधना के बाद छियालीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सोलह वर्ष केवली-पर्याय में रह कर भगवान् के जीवनकाल में ही बासठ वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया ।

#### ११. प्रभास

ग्यारहवें गणधर प्रभास राजगृह के रहने वाले, कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे । इनकी माता का नाम 'अतिभद्रा' और पिता का नाम बल था । मुक्ति विषयक शंका का प्रभु महावीर द्वारा समाधान हो जाने पर इन्होंने भी तीन सौ

शिष्यों के साथ सोलह वर्ष की अवस्था में भगवान् महावीर का शिष्यत्व स्वीकार किया। आठ वर्ष बाद चौबीस वर्ष की अवस्था में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सोलह वर्ष तक केवली-पर्याय में रहकर चालीस वर्ष की वय में गुणशील चैत्य में एक मास का अनशन कर इन्होंने भगवान् के जीवनकाल में ही निर्वाण प्राप्त किया। सबसे छोटी आयु में दीक्षित होकर केवलज्ञान प्राप्त करने वाले ये ही एक गणधर हैं।

ये सभी गणधर जाति से ब्राह्मण और वेदान्त के पारगामी पण्डित थे व इन सबका संहनन वज्र ऋषभ नाराच तथा समचतुरस्र संस्थान था। दीक्षित होकर सबने द्वादशांग का ज्ञान प्राप्त किया, अतः सब चतुर्दश पूर्वधारी एवं विशिष्ट लब्धियों के धारक थे।<sup>१</sup>

### विगम्बर परम्परा में गौतम आदि का परिचय

दिगम्बर परम्परा के मंडलाचार्य धर्मचन्द्र ने अपने ग्रन्थ “गौतम चरित्र” में प्रभु महावीर के प्रथम तीन गणधरों का परिचय दिया है, जिसका सारांश इस प्रकार है :—

#### इन्द्रभूति

मगध प्रदेश के ब्राह्मणनगर ग्राम में शाण्डिल्य नामक एक विद्वान् एवं सदाचारी ब्राह्मण रहता था। शाण्डिल्य के स्थंडिला और केसरी नाम की दो धर्मपत्नियाँ थीं, जो रूप-लावण्य-गुणसम्पन्ना एवं पतिपरायणाएँ थीं।

एक समय रात्रि के अन्तिम प्रहर में सुखप्रसुप्ता स्थण्डिला ने शुभ स्वप्न देखे और पंचम देवलोक का एक देव देवायु पूर्ण कर उसके गर्भ में आया। गर्भकाल पूर्ण होने पर माता स्थण्डिला ने एक अति सौम्य एवं प्रियदर्शी पुत्र को जन्म दिया। बालक महान् पुण्यशाली था, उसके जन्म के समय सुखद, शीतल, मन्द-मन्द सुगन्धित पवन प्रवाहित हुआ, दिशाएँ निर्मल एवं प्रकाशपूर्ण हो गईं और दिव्य जयघोषों से गगन गुंजरित हो उठा। विद्वान् ब्राह्मण शाण्डिल्य ने पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में बड़े हर्षोल्लास के साथ मुक्तहस्त हो याचकों को यथेप्सित दान दिया। नवजात शिशु की जन्म-कुण्डली देख भविष्यवाणी की कि यह बालक आगे चल कर चौदह विद्याओं का निधान एवं सकल शास्त्रों का पारगामी विद्वान् बनेगा और निखिल महीमण्डल में इसका यश प्रसृत होगा। माता-पिता ने उस बालक का नाम इन्द्रभूति रखा।

#### अग्निभूति

कुछ समय पश्चात् पंचम स्वर्ग का एक और देव अपनी देवायु पूर्ण होने

१ आब. नि., गाथा ६५८-६६०

पर ब्राह्मणी स्थण्डिला के गर्भ में आया। जिस समय बालक इन्द्रभूति था, उस समय माता स्थण्डिला ने गर्भकाल पूर्ण होने पर एक महान् तेजस्वी एवं सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। माता-पिता ने अपने इस द्वितीय पुत्र का नाम गार्ग्य रखा। यही बालक आगे चल कर अग्निभूति के नाम से विख्यात हुआ।

### वायुभूति

कालान्तर में शाण्डिल्य की द्वितीय पत्नी केसरी के गर्भ में भी पंचम स्वर्ग से च्युत एक देव उत्पन्न हुआ। समय पर केसरी ने भी पुत्ररत्न को जन्म दिया। शाण्डिल्य ने अपने उस तीसरे पुत्र का नाम भार्गव रखा। वही बालक भार्गव आगे चल कर लोक में वायुभूति के नाम से विश्रुत हुआ।

### एक बहुत बड़ा भ्रम

भगवान् महावीर के छठे गणधर मंडित और सातवें गणधर मौर्यपुत्र के सम्बन्ध में पूर्वकालीन कुछ आचार्यों और वर्तमान काल के कुछ विद्वानों ने यह मान्यता प्रकट की है कि वे दोनों सहोदर थे। उन दोनों की माता एक थी जिसका कि नाम विजयादेवी था। आर्य मण्डित के पिता का नाम धनदेव और आर्य मौर्यपुत्र के पिता का नाम मौर्य था। आर्य मण्डित को जन्म देने के कुछ काल पश्चात् विजयादेवी ने अपने पति धनदेव का निधन हो जाने पर धनदेव के मौसरे भाई मौर्य के साथ विवाह कर लिया और मौर्य के साथ दाम्पत्य जीवन बिताते हुए विजयादेवी ने दूसरे पुत्र को जन्म दिया। मौर्य का अंगज होने के कारण बालक का नाम मौर्यपुत्र रखा गया।

आचार्य हेमचन्द्र ने आर्य मण्डित और आर्य मौर्यपुत्र के माता-पिता का परिचय देते हुए 'त्रिपिट शलाका पुरुष चरित्र' में लिखा है :—

पत्न्यां विजयदेव्यां तु, धनदेवस्य नन्दनः ।  
मण्डकोऽभूत्तत्र जाते, धनदेवो व्यपद्यत ॥५३  
लोकाचारो ह्यसौ तत्रैत्यभार्यो मौर्यकोऽकरोत् ।  
भार्या विजयदेवी तां, देशाचारो हि न ह्यिये ॥५४  
क्रमाद् विजयदेव्यां तु मौर्यस्य तनयोऽभवत् ।  
स च लोके मौर्यपुत्र इति नाम्नेव पप्रथे ॥५५

[त्रिप. श. पु. च., प. १०, स. ५]

आचार्य जिनदासगणी ने भी 'आवश्यकचूर्णि' में इन दोनों गणधरों के सम्बन्ध में लिखा है :—

“.....तमि चैव मगहा जणयते मोरिय सन्नित्से मंडिया मोरिया दो भायरो ।”.....

[आव. चूर्णि, उपोद्घात पृ. ३३७]

मुनि श्री रत्नप्रभ विजयजी ने Sramana Bhagwan Mahavira, Vol. V Part I Sthaviravali के पृष्ठ १३६ और १३७ पर मंडित एवं मौर्यपुत्र की माता एक और पिता भिन्न-भिन्न बताते हुए यहां तक लिख दिया है कि उस समय मौर्य सन्निवेश में विधवा विवाह निषिद्ध नहीं था। मुनि श्री द्वारा लिखित पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

“Besides Sthavira Mandita and Sthavira Mauryaputra were brothers having one mother Vijayadevi, but have different gotras derived from the gotras of their different fathers—the father of Mandit was Dhanadeva of Vasistha-gotra and the father of Mauryaputra was Maurya of Kasyapa-gotra, as it was not forbidden for a widowed female in that country, to have a re-marriage with another person, after the death of her former husband.,”

वास्तव में उपर्युक्त दोनों गणधरों की माता का नाम एक होने के कारण ही आचार्यों एवं विद्वानों की इस प्रकार की धारणा बनी कि इनकी माता एक थी और पिता भिन्न।

उपर्युक्त दोनों गणधरों के जीवन के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण तथ्य समवायांग सूत्र में दिये हुए हैं उनके सम्यग् अवलोकन से आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त की गई उपरोक्त धारणा सत्य सिद्ध नहीं होती।

समवायांग सूत्र की तियासीवीं समवाय में आर्य मंडित की सर्वायु तियासी वर्ष बताई गई है। यथा :

“थेरेणं मंडियपुत्ते तेसीइं वासाइं सब्वाउयं पालइत्ता सिद्धे जावप्पहीणे ।”

समवायांग सूत्र की तीसवीं समवाय में आर्य मंडित के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है कि वे तीस वर्ष तक श्रमणधर्म का पालन कर सिद्ध हुए। यथा :

“थेरेणं मंडियपुत्ते तीसं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणित्ता सिद्धे बुद्धे जाव सब्बदुक्खपहीणे ।”

सूत्र के मूल पाठ से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि आर्य मंडित ने ५३ वर्ष की अवस्था में भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

आर्य मौर्यपुत्र के सम्बन्ध में समवायांग सूत्र की पैंसठवीं समवाय में लिखा है कि उन्होंने ६५ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। यथा :

“थेरेणं मौरियपुत्ते पणसट्ठिवासाइं आगारमज्जे वसित्ता मुंढे भवित्ता मगाराओ अणगारियं पव्वइये ।”

सभी ग्यारहों गणधरों ने एक ही दिन भगवान् महावीर के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की, यह तथ्य सर्वविदित है। उस दशा में यह कैसे संभव हो सकता है कि एक ही दिन दीक्षा ग्रहण करते समय बड़ा भाई ५३ वर्ष की अवस्था का हो और छोटा भाई ६५ वर्ष का, अर्थात् बड़े भाई से उम्र में १२ वर्ष बड़ा हो ?

स्वयं मुनि श्री रत्नप्रभ विजयजी ने अपने ग्रंथ *Sramana Bhagvan Mahavira, Vol. IV Part I Sthaveravali* के पृष्ठ १२२ और १२४ पर दीक्षा के दिन आर्य मंडित की अवस्था ५३ वर्ष और आर्य मौर्यपुत्र की अवस्था ६५ वर्ष होने का उल्लेख किया यथा :

“Gandhara Maharaja Mandita was fifty-three years old when he renounced the world..... After a period of fourteen years of ascetic life, Mandita acquired Kevala Gyana.....and he acquired Moksha Pada.....when he was eighty three years old.” (p. 122)

“Gandhara Maharaja Mauryaputra was sixty-five years old when he renounced the world.....After a period of fourteen years of ascetic life, Ganadhara Mauryaputra acquired Kevala Gyana.....at the age of seventynine.

Ganadhara Maharaja Mauryaputra remained a Kevali for sixteen years and he acquired Moksha Pada.....when he was ninety-five years old.” (p. 124)

इन सब तथ्यों से उपर्युक्त आचार्यों की मान्यता केवल भ्रम सिद्ध होती है। वास्तव में ये सहोदर नहीं थे। आचार्य हेमचन्द्र ने भी आगम्य वयमान को लक्ष्य में नहीं रखते हुए केवल दोनों की माता का नाम एक होने के आधार पर ही दोनों को सहोदर मान लिया और ‘लोकाचारो हि न ह्यिये’ लिख कर अपनी मान्यता का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया।

### भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या

भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या एवं श्रमणीसंघ की प्रवर्तिनी महासती चन्दनबाला थी।

चन्दनबाला चम्पानगरी के महाराजा दधिवाहन और महारानी धारिणी की प्राणदुलारी पुत्री थी। माता-पिता द्वारा आपका नाम वसुमती रखा गया।

महाराजा दधिवाहन के साथ कौशाम्बी के महाराजा शतानीक की किसी कारण से अनबन हो गई। शतानीक मन ही मन दधिवाहन से शत्रुता रख कर

चम्पा नगरी पर आक्रमण करने की टोह में रहने लगा। दधिवाहन बड़े प्रजा-प्रिय नरेश थे, अतः शतानीक ने अप्रत्याशित रूप से चम्पा पर अचानक आक्रमण करने की अभिलाषा से अपने अनेक गुप्तचर चम्पानगरी में नियुक्त किये।

कुछ ही दिनों के पश्चात् शतानीक को अपने गुप्तचरों से ज्ञात हुआ कि चम्पा पर आक्रमण करने का उपयुक्त अवसर आ गया है, अतः चार-पाँच दिन के अन्दर-अन्दर ही आक्रमण कर दिया जाय। शतानीक तो उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में ही था। उसने तत्काल एक बड़ी सेना के साथ चम्पा पर धावा करने के लिये जलमार्ग से सैनिक अभियान कर दिया। तेज हवाओं के कारण शतानीक के जहाज बड़ी तीव्रगति से चम्पा की ओर बढ़े। एक रात्रि के अल्प समय में ही शतानीक अपनी सेनाओं के साथ चम्पा जा पहुँचा और सूर्योदय से पूर्व ही उसने चम्पा नगरी को चारों ओर से घेर लिया।

इस अनभ्र वज्रपात से चम्पा के नरेश और नागरिक सभी अवाक रह गये। अपने आप को शत्रु के आकस्मिक आक्रमण का मुकाबला कर सकने की स्थिति में न पाकर दधिवाहन ने मन्त्रिपरिषद् की आपात्कालीन बैठक बुलाकर गुप्त मंत्रणा की। अन्त में मन्त्रियों के प्रबल अनुरोध पर दधिवाहन को गुप्त मार्ग से चम्पा को त्याग कर बीहड़ वनों की राह पकड़नी पड़ी।

शतानीक ने अपने सैनिकों को खुली छूट दे दी कि चम्पा के प्राकारों एवं द्वारों को तोड़कर उस को लूट लिया जाय और जिसे जो चाहिये वह अपने घर ले जाय। इस आज्ञा से सैनिकों में उत्साह और प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और वे द्वारों तथा प्राकारों को तोड़कर नगर में प्रविष्ट हो गये।

शतानीक की सेनाओं ने यथेच्छ रूप से नगर को लूटा। महारानी धारिणी राजकुमारी वसुमती सहित शतानीक के एक सैनिक द्वारा पकड़ ली गई। वह उन दोनों को अपने रथ में डालकर कौशाम्बी की ओर द्रुत गति से लौट पड़ा। महारानी धारिणी के देवांगना तुल्य रूप-लावण्य पर मुग्ध हो सैनिक राह में मिलने वाले अपने परिचित लोगों से कहने लगा—“इस लूट में इस त्रैलोक्य सुन्दरी को पाकर मैंने सब कुछ पा लिया है। घर पहुँचते ही मैं इसे अपनी पत्नी बनाऊँगा।”

इतना सुनते ही महारानी धारिणी क्रोध और घृणा से तिलमिला उठी। महान् प्रतापी राजा की पुत्री और चम्पा के यशस्वी नरेश दधिवाहन की राजमहिषी को एक अकिञ्चन व्यक्ति के मुँह से इस प्रकार की बात सुनकर वज्र से भी भीषण आघात पहुँचा। अपने सतीत्व पर आँच आने की आशंका से धारिणी सिहर उठी। उसने एक हाथ से अपनी जिह्वा को मुँह से बाहर खींच-

कर दूसरे हाथ से अपनी ठुड़ी पर अति वेग से आघात किया। इसके परिणाम-स्वरूप वह तत्क्षण निष्प्राण हो रथ में गिर पड़ी।<sup>१</sup>

### धारिणी के मरण का कारण—वचन या बलात्

धारिणी के आकस्मिक अवसान से सैनिक को अपनी भूल पर आत्म-ग्लानि के साथ साथ बड़ा दुःख हुआ। उसे निश्चय हो गया कि किसी अत्युच्च कुल की कुलवधू होने के कारण वह उसके वाग्धारियों से आहत हो मृत्यु की गोद में सदा के लिये सो गई है।

सैनिक ने इस आशंका से कि कहीं अधखिली पारिजात पुष्प की कली के समान यह सुमनोहर बालिका भी अपनी माता का अनुसरण न कर बैठे, उसने वसुमती को मृदु वचनों से आश्वस्त करने का प्रयास किया।

राजकुमारी वसुमती को लिये वह सैनिक कौशाम्बी पहुँचा और उसे विक्रय के लिये बाजार में चौराहे पर खड़ा कर दिया। धार्मिक कृत्य से निवृत्त हो अपने घर की ओर लौटते हुए घनावह नामक एक श्रेष्ठी ने विक्रय के लिये खड़ी बालिका को देखा। उसने कुसुम सी मुकुमार बालिका को देखते ही समझ लिया कि वह कोई बहुत बड़े कुल की कन्या है और दुर्भाग्यवश अपने माता-पिता से बिछुड़ गई है। वह उसकी दयनीय दशा देखकर द्रवित हो गया और उसने सैनिक को मुंहमांगा द्रव्य देकर उसे खरीद लिया। घनावह श्रेष्ठी वसुमती को लेकर अपने घर पहुँचा।

उसने बड़े दुलार से उसके माता-पिता एवं उसका नाम पूछा, पर स्वाभिमानिनी वसुमती ने अपना नाम तक भी नहीं बताया। वह मौन ही रही। अन्त में लाचार हो घनावह ने उसे अपनी पत्नी को सौंपते हुए कहा—“यह बालिका किसी साधारण कुल की प्रतीत नहीं होती। इसे अपनी ही पुत्री समझ कर बड़े दुलार और प्यार से रखना”

श्रेष्ठपत्नी मूला ने अपने पति की आज्ञानुसार प्रारम्भ में वसुमती को अपनी पुत्री के समान ही रक्खा। वसुमती श्रेष्ठी परिवार में घुल-मिल गई। उसके मृदु सम्भाषण, व्यवहार एवं विनय आदि सद्गुणों ने श्रेष्ठी परिवार एवं भृत्य वर्ग के हृदय में दुलार भरा स्थान प्राप्त कर लिया। उसके चन्दन के समान शीतल सुखद स्वभाव के कारण वसुमती उसे श्रेष्ठी परिवार द्वारा चन्दना के नाम से पुकारी जाने लगी।

१ आचार्य हेमचन्द्र ने शोकातिरेक से धारिणी के प्राण निकलने का उल्लेख किया है, देखिये—[त्रि. श. पु., पर्व १०, सं० ४, श्लो. ३२७]



चन्दना ने जब कुछ समय बाद यौवन में पदार्पण किया तो उसका अनुपम सौन्दर्य शतगुणित हो उठा। उसकी कज्जल से भी अधिक काली केशराशि बढ़कर उसकी पिण्डलियों से अठखेलियां करने लगी। उस अपार रूपराशि को देखकर श्रेष्ठिपत्नी के हृदय का सोता हुआ स्त्री-दौर्बल्य जग पड़ा। उसके अन्तर में कलुषित विचार उत्पन्न हुए और उसने सोचा—“यह अलौकिक रूप-लावण्य की स्वामिनी किसी दिन मेरा स्थान छीन कर गृहस्वामिनी बन सकती है। मेरे पति इसे अपनी पुत्री मानते हैं, पर यदि उन्होंने कहीं इसके अलौकिक रूप-लावण्य पर विमोहित हो इससे विवाह कर लिया तो मेरा सर्वनाश सुनिश्चित है। अतः फूलने-फलने से पहले ही इस विषलता को मूलतः उखाड़ फेंकना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। दिन-प्रति-दिन मूला के हृदय में ईर्ष्या की अग्नि प्रचण्ड होती गई और वह चन्दना को अपनी राह से सदा के लिये हटा देने का उपाय सोचने लगी। एक दिन दोपहर के समय ग्रीष्म ऋतु की चिल-चिलाती धूप में चल कर घनावह बाजार से अपने घर लौटा। उसने पैर धुलाने के लिये अपने सेवकों को पुकारा। पर संयोगवश उस समय कोई भी सेवक वहां उपस्थित नहीं था। धूप से श्रान्त घनावह को खड़े देख कर चन्दना जल की झारी ले सेठ के पैर धोने पहुँची। सेठ द्वारा मना करने पर भी वह उसके पैर धोने लगी। उस समय नीचे झुकने के कारण चन्दना का जूड़ा खुल गया और उसकी केशराशि बिखर गई। चन्दना के बाल कहीं कीचड़ से न सन जावें इस दृष्टि से सहज सन्ततिवात्सल्य से प्रेरित हो घनावह ने चन्दना की केशराशि को अपने हाथ में रही हुई यष्टि से ऊपर उठा लिया और अपने हाथों से उसका जूड़ा बाँध दिया।

मूला ने संयोगवश जब यह सब देखा तो उसने अपने सन्देह को वास्तविकता का रूप दे डाला और उसने चन्दना का सर्वनाश करने की ठान ली। थोड़ी ही देर पश्चात् श्रेष्ठी घनावह जब किसी कार्यवश दूसरे गाँव चला गया तो मूला ने तत्काल एक नाई को बुलाकर चन्दना के मस्तक को मुंडित करवा दिया। मूला ने बड़ी निर्दयता से चन्दना को जी भर कर पीटा। तदनन्तर उसके हाथों में हथकड़ी एवं पैरों में बेड़ी डालकर उसे एक भँवारे में बन्द कर दिया और अपने दास-दासियों एवं कुटुम्ब के लोगों को सावधान कर दिया कि श्रेष्ठी द्वारा पूछने पर भी यदि किसी ने उन्हें चन्दना के सम्बन्ध में कुछ भी बता दिया तो वह उसका कोपभाजन बनेगा।

चन्दना तीन दिन तक तलघर में भूखी प्यासी बन्द रही। तीसरे दिन जब घनावह घर लौटा तो उसने चन्दना के सम्बन्ध में पूछताछ की। सेवकों को मौन देखकर घनावह को शंका हुई और उसने क्रुद्ध स्वर में चन्दना के सम्बन्ध में सच-सच बात बताने के लिये कड़क कर कहा—“तुम लोग मूक की तरह चुप क्यों हो, बताओ पुत्री चन्दना कहाँ है?”

इस पर एक वृद्धा दासी ने चन्दना की दुर्दशा से द्रवित हो साहस बटोर कर सारा हाल कह सुनाया। तलघर के कपाट खोलकर धनावह ने ज्यों ही चन्दना को उस दुर्दशा में देखा तो रो पड़ा। चन्दना के भूख और प्यास से मुझिये हुए मुख को देखकर वह रसोईघर की ओर लपका। उसे सूप में कुछ उड़द के बाकलों के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। वह उसी को उठाकर चन्दना के पास पहुँचा और सूप चन्दना के समक्ष रखते हुए अवहट्ट कण्ठ से बोला—“पुत्री, अभी तुम इन उड़द के बाकलों से ही अपनी भूख की ज्वाला को कुछ शान्त करो, मैं अभी किसी लोहार को लेकर आता हूँ।”

यह कह कर धनावह किसी लोहार की तलाश में तेजी से बाजार की ओर निकला।

भूख से पीड़ित होते हुए भी चन्दना ने मन में विचार किया—“क्या मुझ हतभागिनी को इस अति दयनीय विषम अवस्था में आज बिना अतिथि को खिलाये ही खाना पड़ेगा? मध्याकाश से अब सूर्य पश्चिम की ओर ढल चुका है, इस बेला में अतिथि कहाँ?”

अपने दुर्भाग्य पर विचार करते-करते उसकी आँखों से अश्रुओं की अवरल धारा फूट पड़ी। उसने अतिथि की तलाश में द्वार की ओर देखा। सहसा उसने देखा कि कोटि-कोटि सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान मुखमण्डल वाले अति कमनीय, गौर, सुन्दर, सुडौल दिव्य तपस्वी द्वार में प्रवेश कर उसकी ओर बढ़ रहे हैं। हर्षातिरेक से उसके शोकाश्रुओं का सागर निमेषार्द्ध में ही सूख गया। उसके मुखमण्डल पर शरदूर्णमा की चन्द्रिका से उद्वेलित समुद्र के समान हर्ष का सागर हिलोरें लेने लगा। चन्दना सहसा सूप को हाथ में लेकर उठी। बेड़ियों से जकड़े अपने एक पैर को बड़ी कठिनाई से देहली से बाहर निकाल कर उसने हर्षगद्गद स्वर में अतिथि से प्रार्थना की—“प्रभो ! यद्यपि ये उड़द के बाकले आपके खाने योग्य नहीं हैं, फिर भी मुझ अबला पर अनुग्रह कर इन्हें ग्रहण कीजिये।”

अपने अभिग्रह की पूर्ति में कुछ कमी देखकर वह अतिथि लौटने लगा। इससे अति दुःखित हो चन्दना के मुँह से सहसा ही ये शब्द निकल पड़े—“हाय रे दुर्देव ! इससे बढ़कर मेरा और क्या दुर्भाग्य हो सकता है कि आँगन में आया हुआ कल्पतरु लौट रहा है?” इस शोक के आघात से चन्दना की आँखों से पुनः अश्रुओं की धारा बह चली। अतिथि ने यह देख कर कि उनके अभिग्रह की सभी शर्तें पूर्ण हो चुकी हैं, चन्दना के सम्मुख अपना करपात्र बढ़ा दिया। चन्दना ने हर्ष विभोर होकर अत्युत्कट श्रद्धा से सूप में रखे उड़द के बाकलों को अतिथि के करपात्र में उंडेल दिया।

यह अतिथि और कोई नहीं, भ्रमण भगवान् महावीर ही थे। तत्क्षण “महा दानं, महा दानं” के दिव्य घोष और देव दुन्दुभियों के निश्वन से गगन गूँज उठा। गन्धोदक, पुष्प और दिव्य वस्त्रों की आकाश से देवगण वर्षा करने लगे। चन्दना के दान की महिमा करते हुए देवों ने धनावह सेठ के घर पर १२॥ करोड़ स्वर्ण मुद्राओं की वर्षा की। सुगन्धित-मन्द-मधुर मलयानिल से सारा वातावरण सुरभित हो उठा। यह अद्भुत दृश्य देखकर कौशाम्बी के सहस्रों नर-नारी वहाँ एकत्रित हो गये और चन्दना के भाग्य की सराहना करने लगे।

उस महान् दान के प्रभाव से तत्क्षण चन्दना के मुण्डित शीश पर पूर्ववत् लम्बी सुन्दर. केशराशि पुनः उद्भूत हो गई। चन्दना के पैरों में पड़ी लोहे की बेड़ियां सोने के नूपुरों में और हाथों की हथकड़ियां करकंकरों के रूप में परिणत हो गईं। देवियों ने उसे दिव्य आभूषणों से अलंकृत किया। सूर्य के समान चमचमाती हुई मणियों से जड़े मुकुट को धारण किये हुए स्वयं देवेन्द्र वहाँ उपस्थित हुए और उन्होंने भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् चन्दना का अभिवादन किया।

कौशाम्बीपति शतानीक भी महारानी मृगावती एवं पुरजन-परिजन आदि के साथ धनावह के घर आ पहुँचे। उनके साथ बन्दी के रूप में आये हुए दधिवाहन के अंगरक्षक ने चन्दना को देखते ही पहचान लिया और वह चन्दना के पैरों पर गिर कर रोने लगा। जब शतानीक और मृगावती को उस अंगरक्षक के द्वारा यह विदित हुआ कि चन्दना महाराजा दधिवाहन की पुत्री है तो मृगावती ने अपनी भानजी को अंक में भर लिया।

चन्दना की इच्छानुसार धनावह उन १२॥ करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का स्वामी बना।<sup>१</sup>

इन्द्र ने शतानीक से कहा कि यह चन्दनबाला भगवान् को केवलज्ञान होने पर उनकी पट्ट शिष्या बनेगी और इसी शरीर से निर्वाण प्राप्त करेगी, अतः इसकी बड़ी सावधानी से सार-संभाल की जाय। यह भोगों से नितान्त विरक्त है इसलिये इसका विवाह करने का प्रयास नहीं किया जाय। तत्पश्चात् देवेन्द्र एवं देवगण अपने-अपने स्थान की ओर लौट गये और महाराजा शतानीक, महारानी मृगावती व चन्दनबाला के साथ राजमहलों में लौट आये।

चन्दनबाला राजप्रासादों में रहते हुए भी साध्वी के समान विरक्त जीवन व्यतीत करने लगी। आठों प्रहर यही लगन उसे लगी रहती कि वह दिन शीघ्र आये जब भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हो और वह उनके पास दीक्षित

१ चउवक्ष महापुरिस चरियं

होकर संसार सागर को पार करने के लिये तप-संयम की पूर्ण साधना में तत्परता से लग जावे ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भगवान् को केवलज्ञान होने पर चन्दन-बाला ने प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और भगवान् के श्रमणी संघ का समीचीन रूप से संचालन करते हुए अनेक प्रकार की कठोर तपश्चर्याओं से अपने समस्त कर्मों को क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया ।

### भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर का शासन-भेद

प्रागैतिहासिक काल में भगवान् ऋषभदेव ने पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया और उनके पश्चाद्वर्ती अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक के बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्यामि रूप धर्म की शिक्षा दी । उन्होंने अहिंसा, सत्य, अचौर्य और बहिस्तात्-आदान-विरमण अर्थात् बिना दी हुई ब्राह्म वस्तुओं के ग्रहण का त्याग रूप चार याम वाला धर्म बतलाया ।<sup>१</sup>

पार्श्वनाथ के बाद जब महावीर का धर्मयुग आया तो उन्होंने फिर पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया । पाँच महाव्रत इस प्रकार हैं :—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । इस तरह दोनों के व्रत-विधान में संख्या का अन्तर होने से यह प्रश्न सहज ही उठता है कि ऐसा क्यों ?

यही प्रश्न केशिकुमार ने गौतम से भी किया था । इसका उत्तर देते हुए गौतम ने बतलाया कि स्वभाव से प्रथम तीर्थंकर के साधु, ऋजु और जड़ होते हैं, अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र एवं-जड़ तथा मध्यवर्ती तीर्थंकरों के साधु ऋजु और प्राज होते हैं । इस कारण प्रथम तीर्थंकर के साधुओं के लिये जहाँ मुनि-धर्म के आचार का यथावत् ज्ञान करना कठिन होता है वहाँ चरम तीर्थंकर के शासनवर्ती साधुओं के लिये मुनि-धर्म का यथावत् पालन करना कठिन होता है । पर मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शासनवर्ती साधु व्रतों को यथावत् ग्रहण और षण्यक् रीत्या पालन भी कर लेते हैं । इसी आधार पर इन तीर्थंकरों के शासन व्रत-निर्धारण में संख्या-भेद पाया जाता है ।

---

भरत ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर को छोड़ कर मध्य के बाईस अरिहन्त भगवान् चातुर्यामि-धर्म का प्रज्ञापन करते हैं । यथा :

सर्वथा प्राणतिपात विरमण, सर्वथा मूषाबाद विरमण, सर्वथा अदत्तादान विरमण  
 ।। सर्वथा बहिद्धादान विरमण ।

[स्था०, स्था० ४, उ० १, सूत्र २६६, पत्र २०१ (१)]

उपर्युक्त समाधान से ध्वनित होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने मैथुन को भी परिग्रह के अन्तर्गत माना था ।<sup>१</sup>

कुछ लेखकों ने चातुर्यामि का सम्बन्ध महाव्रत से न बताकर चारित्र से बतलाया है पर ऐसा मानना उचित प्रतीत नहीं होता ।

बाईस तीर्थंकरों के समय में सामायिक, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात चारित्र में से कोई एक होता है । किन्तु महावीर के समय में पाँच में से कोई भी एक चारित्र एक साधक को हो सकता है । सामायिक या छेदोपस्थापनीय चारित्र के समय अन्य चार नहीं रहते । अतः चातुर्यामि का अर्थ 'चारित्र' करना ठीक नहीं ।

योगाचार्य पतञ्जलि ऋषि ने भी याम का अर्थ अहिंसा आदि व्रत ही लिया है ।<sup>२</sup> डॉ० महेन्द्रकुमार ने स्पष्ट लिखा है कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इन चातुर्यामि धर्म के प्रवर्तक भगवान् पार्श्वनाथ जी थे ।<sup>३</sup>

श्वेताम्बर आगमों की दृष्टि से भी स्त्री को परिग्रह की कोटि में ही शामिल किया गया है । भगवान् द्वारा व्रत-संख्या में परिवर्तन का कारण समय और बुद्धि का प्रभाव हो सकता है । भगवान् पार्श्व के परिनिर्वाण के पश्चात् और महावीर के तीर्थंकर होने से कुछ पूर्व संभव है, इस प्रकार के तर्क का सहारा लेकर साधक विचलित होने लगा हो और भगवान् पार्श्व की परम्परा में उस पर पूरा व दृढ़ अनुशासन नहीं रखा जा सका हो । वैसी स्थिति में भगवान् महावीर ने वक्र स्वभाव के लोग अपनी रुचि के अनुकूल परिग्रह या स्त्री का त्याग कर दूसरे का उपयोग प्रारम्भ न करें, इस भावो हित को ध्यान में रख कर ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का स्पष्टतः पृथक् विधान कर दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । संख्या का अन्तर होने पर भी दोनों परम्पराओं के मौलिक आशय में भेद नहीं है । केवल स्पष्टता के लिये पृथक्करण किया गया है ।

### चारित्र

भगवान् पार्श्वनाथ के समय में श्रमणवर्ग को सामायिक चारित्र दिया जाता था जब कि भगवान् महावीर ने सामायिक के साथ छेदोपस्थापनीय

१ उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३, गाथा २६-२७ ।

(क) मैथुनं परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिग्रहीता योषिद् भुज्यते । स्था० ६०, ४ उ० सू० २६६ । पत्र २०२ (१)

२ अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः । पतञ्जलि (योगसूत्र) सू० २०

३ डॉ० महेन्द्रकुमार-जैन दर्शन-पृ० ६०

चारित्र्य का भी प्रवर्तन किया। चारित्र्य के मुख्यार्थ समता की आराधना को ध्यान में लेकर भगवान् पार्श्वनाथ ने चारित्र्य का विभाग नहीं किया। फिर उन्हें वैसी आवश्यकता भी नहीं थी। किन्तु महावीर भगवान् के सामने एक विशेष प्रयोजन उपस्थित हुआ, एतदर्थ साधकों की विशेष शुद्धि के लिये उन्होंने सामायिक के पश्चात् छेदोपस्थापनीय चारित्र्य का उपदेश दिया।

भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ के निर्विभाग सामायिक चारित्र्य को विभागात्मक सामायिक के रूप में प्रस्तुत किया। छेदोपस्थापनीय में जो चारित्र्य पर्याय का छेद किया जाता है, पार्श्वनाथ की परम्परा में सजग साधकों के लिये उसकी आवश्यकता ही नहीं थी, अतः उन्होंने निर्विभाग सामायिक चारित्र्य का विधान किया।

भगवती सूत्र के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि जो मुनि चातुर्यामि धर्म का पालन करते, उनका चारित्र्य सामायिक कहा जाता और जब इस परम्परा को बदल कर पंच याम धर्म में प्रवेश किया, तब उनका चारित्र्य छेदोपस्थापनीय कहलाया।<sup>१</sup>

भगवान् महावीर के समय में दोनों प्रकार की व्यवस्थाएं चलती थीं। उन्होंने अल्पकालीन निर्विभाग में सामायिक चारित्र्य को और दीर्घकाल के लिये छेदोपस्थापनीय चारित्र्य को मान्यता प्रदान की।

महावीर ने इसके अतिरिक्त व्रतों में रात्रिभोजन-विरमण को भी अलग व्रत के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने स्थानांग सूत्र में स्पष्ट कहा है—“आर्यो! मैंने श्रमण-निर्ग्रथों को स्थविरकल्प, जिनकल्प, मुंडभाव, अस्नान, अर्दतधावन, अछत्र, उपानत् त्याग, भूमिशय्या, फलकशय्या, काष्ठशय्या, केशलोच, ब्रह्मचर्य-वास, भिक्षार्थ परगृहप्रवेश तथा लब्धालब्ध वृत्ति की प्ररूपणा की है। जैसे मैंने श्रमणों को पंचमहाव्रतयुक्त सप्रतिक्रमण अचेलक धर्म कहा गया है, वैसे महापद्म भी कथन करेंगे।<sup>२</sup>

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के शासन में दूसरा अन्तर सचेल-अचेल का है, जो इस प्रकार है :—

पार्श्वनाथ की परम्परा में सचेल-धर्म माना जाता था, किन्तु महावीर ने अचेल धर्म की शिक्षा दी। कल्पसमर्थन में कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर

१ सामादर्यामि उ कए, चाउज्जामं अणुत्तरं धम्मं ।

तिविहेण फासयंतो, सामादयं संजओ स खलु ।

हेतूण उ परिवारं, पोरारं जो ठवेई अप्पाणं ।

धम्ममि पंचजामे, छेदोवट्ठाणो स खलु ॥ भग०, श० २५, उ. ७।७८६।गा० १।२

२ स्थानांग, स्थान ६

का धर्म अचेलक है और बाईस तीर्थंकरों का धर्म सचेलक एवं अचेलक दोनों प्रकार का है ।<sup>१</sup>

अभिप्राय यह है कि भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिये यह विधान है कि वे श्वेत और मानोपेत वस्त्र रखें पर बाईस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिये ऐसा विधान नहीं है । वे विवेकनिष्ठ और जागरूक होने से चमकीले, रंग-विरंगे और प्रमाण से अधिक भी वस्त्र रख सकते थे, क्योंकि उनके मन में उत्तम वस्त्रों के प्रति आसक्ति नहीं होती थी ।

“अचेलक” पद का सीधा अर्थ वस्त्राभाव होता है किन्तु यहाँ “अ” का अर्थ सर्वथा अभाव न मान कर अल्प मानना चाहिये । व्यवहार में भी सम्पदाहीन को “अधन” कहते हैं । साधारण द्रव्य होने पर भी व्यक्ति व्यवहार-जगत् में “अधन” कहलाता है । आचारांग सूत्र की टीका में यही अल्प अर्थ मानकर अचेलक का अर्थ “अल्प वस्त्र” किया है ।<sup>२</sup> उत्तराध्ययन सूत्र और कल्प की टीका में भी मानप्रमाण सहित जीर्णप्राय<sup>३</sup> और श्वेतवस्त्र को अचेल में माना गया है ।

जैन श्रमणों के लिये दो प्रकार के कल्प बताये गये हैं—जिनकल्प और स्थाविरकल्प । नियुक्ति और भाष्य के अनुसार जिनकल्पी श्रमण वह हो सकता है जो वज्रऋषभ नाराच संहनन वाला हो, कम से कम नव पूर्व की तृतीय आचार-वस्तु का पाठी हो और अधिक से अधिक कुछ कम दश पूर्व तक का श्रुतपाठी हो । जिनकल्पी भी पहले स्थविरकल्पी होता है ।<sup>४</sup>

जिनकल्प के भी दो प्रकार हैं—(१) पाणिपात्र और (२) पात्रघारी । पाणिपात्र के भी चार भेद बतलाये हैं । जिनकल्पी श्रमण नग्न और निष्प्रतिकर्म शरीरी होने से आँख का मल भी नहीं निकालते । वे रोग-परीषहों को

१ आचेलुक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिस्स य जिणस्स ।

मज्झिमन्याण जिणायं, होई सचेलो अचेलो य ॥ [कल्प समर्थन, गा० ३, पृ० १]

२ अचेलः—अल्पचेलः ।

[आचा० टी०, पत्र २२१]

३ लघुत्व जीर्णत्वादिना चेलानि वस्त्राप्यस्येत्येवमचेलकः ।

[उतरा० बृहद् वृत्ति, प० ३५६]

(ख) “अचेलत्वं श्री आदिनाथ—महावीर साधूनां वस्त्रं मानप्रमाण सहितं जीर्णप्रायं धवलं च कल्पते । श्री अजितादि द्वाविंशती तीर्थंकर साधूनां तु पंचवर्षम् ॥

[कल्प सूत्र कल्पलता, प० २।१। समयसुन्दर]

४ जिनकल्पिकस्य तावज्जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारवस्तु ।

[विशेषा० बृहद् वृत्ति, पृष्ठ १३, गा० ७ की टीका]

सहन करते, कभी किसी प्रकार की चिकित्सा नहीं कराते ।<sup>१</sup> पात्रधारी हों या पात्र-रहित, दोनों प्रकार के जिनकल्पी रजोहरण और मुखवस्त्रिका, ये दो उपकरण तो रखते ही हैं । अतः यहाँ पर अचेलक का अर्थ सम्पूर्ण वस्त्रों का त्यागी नहीं, किन्तु अल्प मूल्य वाले प्रमाणोपेत जीर्ण-शीर्ण वस्त्र-धारी समझना चाहिये ।

इसीलिये भाष्यकार ने कहा है कि अचेलक दो प्रकार के होते हैं—सद-चेल और असदचेल । तीर्थंकर असद-चेल होते हैं । वे देवदूष्य वस्त्र गिर जाने पर सर्वदा वस्त्ररहित रहते हैं । शेष सभी जिनकल्पिक आदि साधु सदचेल कहे गये हैं ।<sup>२</sup> कम से कम भी रजोहरण और मुखवस्त्रिका का तो उनको सद्भाव रहता ही है ।

वस्त्र रखने वाले साधु भी मूर्च्छारहित होने के कारण अचेल कहे गये हैं, क्योंकि वे जिन वस्त्रों का उपयोग करते हैं वे दोषरहित, पुराने, सारहीन और अल्प प्रमाण में होते हैं । इसके अतिरिक्त उनका उपयोग भी कदाचित् का होता है जैसे भिक्षार्थ जाते समय देह पर वस्त्र डाला जाता है, उसे भिक्षा से लौटने पर हटा दिया जाता है । इस प्रकार कटि-वस्त्र भी रात्रि में अलग कर दिया जाता है ।

लोकोक्ति में जीर्ण-शीर्ण-तार-तार फटे वस्त्र को धारण करने वाला नग्न ही कहा जाता है । जैसे कोई बुद्धिया जिसके शरीर पर पुरानी व अनेक स्थानों से फटी हुई साड़ी लिपटी है, तन्तुवाय से कहती है—“भाई ! मेरी साड़ी जल्दी तैयार कर देना । मैं नंगी फिरती हूँ ।”<sup>३</sup>

तो यह फटा पुराना कपड़ा होने पर भी नग्नपन कहा गया है । इसी प्रकार अल्प वस्त्र रखने वाला मुनि अचेल माना गया है ।

१ तिप्पडिकम्मसरीरा, अवि अच्छिमलंपि न अ अवणिति ।

विसहंति जिणा रोगं, कारिति कयाड न तिगिच्छं ॥

[विशेषावश्यक प्रथम भाग, प्रथम अंश. पृ० १४, गाथा ७ की टोका की गाथा ३]

२ (क) वृह० भा० १ उ०—दुविहो होति अचेलो, संताचेलो असंतचेलोय तित्थगर असंत चेला, संताचेता अवे सेसा ॥

(ख) सवसंतचेलगोअचेलगो य जं लोग—समयसंसिद्धो ।

तेणाचेलो मुयाओ संतेहि, जिणा असंतेहि ॥

[विशेषावश्यक भाष्य, गा० २५६८]

३ तह थोव-जुअ-कुच्छिय चेलेहि वि भन्नए अचेलोत्ति ।

जहन्तरसालिय लहुं दो पोत्ति नाम्मया मोत्ति ॥

[वि० २६०१, पृ० १०३५]



मूल बात यह है कि परिग्रह मूर्च्छाभाव में है। मूर्च्छाभाव रहित मुनियों को वस्त्रों के रहते हुए भी मूर्च्छाभाव नहीं होने से अचेलक कहा गया है। दशवेकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा गया है—“न सो परिग्रहो वृत्तो” वह परिग्रह नहीं है। परिग्रह मूर्च्छाभाव है—“मूर्च्छा परिग्रहो वृत्तो।”

भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ के सचेल धर्म का साधुओं में दुरुपयोग समझा और निमित्त से प्रभावित मंदमति साधक-भोह-मूर्च्छा न गिरे, इस हेतु अचेल धर्म के उपदेश से साधुवर्ग को वस्त्र-ग्रहण में नियन्त्रित रखा। उत्तराध्ययन सूत्र में केशी श्रमण की जिज्ञासा का उत्तर देते हुए गौतम ने कहा है कि भगवान् ने वेष धारण के पीछे एक प्रयोजन धर्म-साधना को निभाना और दूसरा साधु रूप को अभिव्यक्त करना कहा है।<sup>१</sup>

डॉ० हर्मन जेकोबी ने भगवान् महावीर की अचेलता पर आजीवक गोशालक का प्रभाव माना है, किन्तु यह निराधार जँचता है, क्योंकि गोशालक से प्रथम ही भगवान् देवदूष्य वस्त्र गिरने से नग्नत्व धारण कर चुके थे। फिर भगवती सूत्र में स्पष्ट लिखा है—

“साडियाओ य पाडियाओ य कुडियाओ य पाहणाओय  
चित्तफलणं च माहणे आयामेति आयामेत्ता स उत्तरोट्ठं मुंडं करोति।”

इस पाठ से यह सिद्ध होता है कि गोशालक ने भगवान् महावीर का अनुसरण करते हुए उनके साधना के द्वितीय वर्ष में नग्नत्व स्वीकार किया।

### सप्रतिक्रमण धर्म

अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरों के समय में प्रतिक्रमण दोनों समय करना नियत नहीं था। कुछ आचार्यों का ऐसा अभिमत है कि इन बाईस तीर्थंकरों के समय में दैवसिक और राइय ये दो ही प्रतिक्रमण होते थे शेष नहीं<sup>२</sup>, किन्तु जिनदास महत्तर का स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में नियमित रूप में उभयकाल प्रतिक्रमण करने का विधान है और साथ ही दोष के समय में भी ईर्यापथ और भिक्षा आदि के रूप में तत्काल प्रतिक्रमण का विधान है। बाईस तीर्थंकरों के शासनकाल में दोष लगते ही शुद्धि कर ली जाती थी, उभयकाल नियम रूप से प्रतिक्रमण का उनके लिये

१ विभाणेण समागमम, धम्मसाहणमिच्छियं।

जत्तरथं गहणत्थं च, लोणे लिंगपओयणं। उ० २३

२ वेत्तिय, राइय, पक्खिय चउमासिय वच्छरिय नामाओ।

दुण्हं पण पडिक्कमणा, मज्झिमगाणं तु दो पडम।

[सप्ततिशतस्थान प्र०। पा० ३०५]

विधान नहीं था ।<sup>१</sup> स्थानांग सूत्र में कहा है कि प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकरों का धर्म सप्रतिक्रमण है ।<sup>२</sup> इस प्रकार भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों के लिये दोष लगे या न लगे, प्रतिदिन दोनों संध्या प्रतिक्रमण करना अनिवार्य बताया है ।<sup>३</sup>

### स्थित कल्प

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में सभी (१) अचेलक्य, (२) उद्देशिक, (३) शय्यातर पिंड, (४) राजपिंड, (५) कृतिकर्म, (६) व्रत, (७) ज्येष्ठ, (८) प्रतिक्रमण, (९) मासकल्प और (१०) पर्युषणकल्प अनिवार्य होते हैं । अतः इन्हें स्थितकल्प कहा जाता है । अजितादि बाईस तीर्थंकरों के लिये चार कल्प—(१) शय्यातर, (२) चातुर्याम धर्म का पालन, (३) ज्येष्ठ पर्याय-वृद्ध का वंदन और (४) कृतिकर्म, ये चार स्थित और छे कल्प (१) अचेलक, (२) औद्देशिक, (३) प्रतिक्रमण, (४) राजपिंड, (५) मासकल्प एवं (६) पर्युषण ये अस्थित माने गये हैं ।<sup>४</sup>

भगवान् महावीर के श्रमणों के लिये मासकल्प आदि नियत हैं । बाईस तीर्थंकरों के साधु चाहें तो दीर्घकाल तक भी रह सकते हैं, पर महावीर के साधु-साध्वी मासकल्प से अधिक बिना कारण न रहें, यह स्थितकल्प है । आज जो साधु-साध्वी बिना खास कारण एक ही ग्राम-नगर आदि में धर्म-प्रचार के नाम से बैठे रहते हैं, यह शास्त्र-मर्यादा के अनुकूल नहीं है ।

### भगवान् महावीर के निन्हव

भगवान् महावीर के शासन में सात निन्हव हुए हैं, जिनमें से दो भगवान् महावीर के सामने हुए, प्रथम जमालि और दूसरा तिष्यगुप्त । जो इस प्रकार है :—

१ पुरिम पच्छिमएहि उभमो कालं पडिक्कमित्तव्वं इरियावहियमागतेहि उच्चार पासवण आहारादीण वा विवेगं कातूण पदोस पूच्चूसेसु, अतियारो होतु वा मा वा तहावस्सं पडिक्कमित्तव्वं एतेहि चेव ठारोहि । मज्झिमगाणं तित्थे जदि अतियारो अत्थि तो दिवसो होतु रत्ती वा, पुव्वण्हो, अवरण्हो, मज्झण्हो, पुव्वरत्तोवरत्तं वा, अड्ढरत्तो वा ताहेचेव पडिक्कमंति । नत्थि तो न पडिक्कमंति । जेण ते असडा पण्यवता परिणामगा न य पमादोबहुलो, तेण तेसि एवं भवति, पुरिमा उज्जुजडा, पच्छिमा वक्कजडा नीसाणाणि मगंति पमादबहुला य, तेण तेहि अबस्सं पडिक्कमित्तव्वं ।

[आव० सू०, उत्तर भाग, पृ० ६६]

२ (क) मए समणाणं निग्गंधाणं पंचमहव्वइए सपडिक्कम्मणो.... [स्थानांग, स्था. ६]

(ख) सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्सय पच्छिमस्स य जिणाणं ॥ [आव० नि० गा० १२४१]

३ आचेलक्कुद्देसिय पडिक्कमण रायपिंड मासेसु ।

पज्जुसणाकप्पाम्म य, अट्टियकप्पो मुण्येयव्वो ॥

[अभिधान राजेन्द्र, शाखा १]

४ मूलाचार-७:१२५-१२६ ।

## जमालि

जमालि महावीर का भानेज और उनकी एकमात्र पुत्री प्रियदर्शना का पति होने से जामाता भी था। श्रमण भगवान् महावीर के पास इसने भी भावपूर्वक श्रमण दीक्षा ली और भगवान् के केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर चौदह वर्ष के बाद प्रथम निन्हव के रूप में प्रख्यात हुआ।

जमालि के प्रवचन-निन्हव होने का इतिहास इस प्रकार है :—

दीक्षा के कुछ वर्ष बाद जमालि ने भगवान् से स्वतन्त्र विहार करने की आज्ञा माँगी। भगवान् ने उसके पूछने पर कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उसने दुहरा-तिहरा कर अपनी बात प्रभु के सामने रखी, किन्तु भगवान् मौन ही विराजे रहे। प्रभु के मौन को ही स्वीकृति समझ कर पाँच सौ साधुओं के साथ जमालि अनंगार महावीर से पृथक् हो कर जनपद की ओर विहार कर गया।

अनेक ग्राम-नगरों में विचरण करते हुए वह 'सावत्थी' आया और वहाँ के कोष्ठक उद्यान में अनुमति लेकर स्थित हुआ। विहार के अन्त, प्रान्त, रूक्ष एवं प्रतिकूल आहार के सेवन से जमालि को तीव्र रोगातंक उत्पन्न हो गया। उसके शरीर में जलन होने लगी। भयंकर दाह-पीड़ा के कारण उसके लिये बैठे रहना भी संभव नहीं था। उसने अपने श्रमणों से कहा—“आर्यों! मेरे लिये संथारा कर दो जिससे मैं उस पर लेट जाऊँ। मुझसे अब बैठा नहीं जाता।” साधुओं ने “तथास्तु” कह कर संथारा-आसन करना प्रारम्भ किया। जमालि पीड़ा से अत्यंत व्याकुल था। उसे एक क्षण का भी विलम्ब असह्य था। अतः उसने पूछा—“क्या आसन हो गया?” विनयपूर्वक साधुओं ने कहा—“महाराज! कर रहे हैं, अभी हुआ नहीं है।”

साधुओं के इस उत्तर को सुन कर जमालि को विचार हुआ—“श्रमण भगवान् महावीर जो चलमान को चलित एवं क्रियमाण को कृत कहते हैं, वह मिथ्या है। मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि क्रियमाण शय्या संस्तारक अकृत है। फिर तो चलमान को भी अचलित ही कहना चाहिये। ठीक है, जब तक शय्या-संस्तारक पूरा नहीं हो जाता तब तक उसको कृत कैसे कहा जाय?” उसने अपनी इस नवीन उपलब्धि के बारे में अपने साधुओं को बुला कर कहा—“आर्यों! श्रमण भगवान् महावीर जो चलमान को चलित और क्रियमाण को कृत आदि कहते हैं, वह ठीक नहीं है। चलमान आदि को पूर्ण होने तक अचलित कहना चाहिये।”

बहुत से साधु, जो जमालि के अनुरागी थे, उसकी बात पर श्रद्धा करने

लगे और जो भगवद्वाणी पर श्रद्धाशील थे, उन्होंने युक्तिपूर्वक जमालि को समझाने का प्रयत्न किया, पर जब यह बात उसकी समझ में नहीं आई तो वे उसे छोड़कर पुनः भगवान् महावीर की शरण में चले गये।

जमालि की अस्वस्थता की बात सुनकर साध्वी प्रियदर्शना भी वहाँ आई। वह भगवान् महावीर के परमभक्त ढंक कुम्हार के यहाँ ठहरी हुई थी। जमालि के अनुराग से प्रियदर्शना ने भी उसका नवीन मत स्वीकार कर लिया और ढंक को भी स्वमतानुरागी बनाने के लिये समझाने लगी। ढंक ने प्रियदर्शना को मिथ्यात्व के उदय से आक्रान्त जान कर कहा—“आर्ये ! हम सिद्धान्त की बात नहीं जानते, हम तो केवल अपने कर्म-सिद्धान्त को समझते हैं और यह जानते हैं कि भगवान् वीतराग ने जो कहा है, वह मिथ्या नहीं हो सकता।” उसने प्रियदर्शना को उसकी भूल समझाने का मन में पक्का निश्चय किया।

एक दिन प्रियदर्शना साध्वी ढंक की शाला में जब स्वाध्यायमग्न थी, ढंक ने अवसर देखकर उसके वस्त्रांचल पर एक अंगार का कण डाल दिया। शालांचल जलने से साध्वी बोल उठी—“श्रावक ! तुमने मेरी साड़ी जला दी।” उसने कहा—“महाराज ! साड़ी तो अभी आपके शरीर पर है, जली कहाँ है ? साड़ी का कोण जलने से यदि उसका जलना कहती हैं तो ठीक नहीं। आपके मन्तव्यानुसार तो दह्यमान वस्तु अदग्ध कही गई है। अतः कोण के जलने से साड़ी को जली कहना आपकी परम्परानुसार मिथ्या है। ऐसी बात तो भगवान् महावीर के अनुयायी कहें तो ठीक हो सकती है। जमालि के मत से ऐसी बात ठीक नहीं होती।” ढंक की युक्तिपूर्ण बातें सुन कर साध्वी प्रियदर्शना प्रतिबुद्ध हो गई।

प्रियदर्शना ने अपनी भूल के लिये “मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु” कहकर प्रायश्चित्त किया और जमालि को समझाने का प्रयत्न किया तथा जमालि के न मानने पर वह अपनी शिष्याओं के संग भगवान् के पास चली गई। शेष साधु भी धीरे-धीरे जमालि को अकेला छोड़कर प्रभु की सेवा में चले गये। अन्तिम समय तक भी जमालि अपने दुराग्रह पर डटा रहा।<sup>१</sup>

जमालि का मन्तव्य था कि कोई भी कार्य लंबे समय तक चलने के बाद ही पूर्ण होता है, अतः किसी भी कार्य को ‘क्रियाकाल’ में किया कहना ठीक नहीं है। भगवान् महावीर का ‘करेमाणे कडे’ वाला सिद्धान्त ‘ऋजुसूत्र’ नय की दृष्टि से है। ऋजुसूत्र-नय केवल वर्तमान को ही मानता है। इसमें किसी भी कार्य का वर्तमान ही साधक माना गया है। इस विचार से कोई भी क्रिया अपने वर्तमान समय में कार्यकारी हो कर दूसरे समय में नष्ट हो जाती है।

१ विशेष गा० २३०७, पृ० ६३४ से ६३६।

प्रथम समय की क्रिया प्रथम समय में और दूसरे समय की क्रिया दूसरे समय में ही कार्य करेगी। इस प्रकार प्रति-समय भावी क्रियाएं प्रति समय होने वाले पर्यायों का कारण हो सकती हैं, उत्तरकाल भावी कार्य के लिये नहीं, अतः महावीर का 'करमाणे कडे' सिद्धान्त सत्य है।

जमालि इस भाव को नहीं समझ सका। उसने सोचा कि पूर्ववर्ती क्रियाओं में जो समय लगता है, वह सब उत्तरकालभावी कार्य का ही समय है। पट-निर्माण के प्रथम समय में प्रथम तन्तु, फिर दूसरा, तीसरा आदि, इस प्रकार प्रत्येक का समय अलग-अलग है। जिस समय जो क्रिया हुई, उसका फल उसी समय हो गया। विशेषावश्यक भाष्य में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

जमालि को जिस समय 'बहुरत दृष्टि' उत्पन्न हुई, उस समय भगवान् महावीर चंपा में विराजमान थे। जमालि भी कुछ काल के बाद जब रोग से मुक्त हुआ, तब सावत्थी के कोष्ठक चैत्य से विहार कर चम्पा नगरी आया और पूर्णभद्र उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर के पास उपस्थित होकर बोला—  
“देवानुप्रिय! जैसे आपके बहुत से शिष्य छद्मस्थ विहार से विचरते हैं, मैं जैसे छद्मस्थ विहार से विचरने वाला नहीं हूँ। मैं केवलज्ञान को धारण करने वाला अरहा, जिन केवली होकर विचरता हूँ।”

जमालि की असंगत बात सुन कर गौतम ने कहा—“जमालि! केवली का ज्ञान पर्वत, स्तूप, भित्ति आदि में कहीं रुकता नहीं, तुम्हें यदि केवलज्ञान हुआ है तो मेरे दो प्रश्नों का उत्तर दो :—

“(१) लोक शाश्वत है या अशाश्वत? (२) जीव शाश्वत है या अशाश्वत?”

जमालि इन प्रश्नों का कुछ भी उत्तर नहीं दे सका और शंका, कांक्षा से मन में विचलित हो गया।<sup>१</sup>

भगवान् महावीर ने जमालि को सम्बोधित कर कहा—“जमालि! मेरे बहुत से अन्तेवासी छद्मस्थ हो कर भी इन प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं, फिर भी वे अपने को तुम्हारी तरह केवली नहीं कहते।” बाद में गौतम ने जमालि को लोक का शाश्वतपन और अशाश्वतपन किस अपेक्षा से है, विस्तार से समझाया। बहुत सम्भव है, जमालि का यह 'बहुरत' सम्प्रदाय उसके पश्चात् नहीं रहा हो क्योंकि उसके अनुयायी उसकी विद्यमानता में ही साथ छोड़ कर चले गये थे। अतः अपने मत को मानने वाला वह अकेला ही रह गया था।<sup>२</sup>

१ भग०, श० ६, उ ३३।

२ इच्छामो संबोहणमज्जो, पियदंसणादयो वंकां।

बोसुं जमालिमेवकं, मोसूण गया जिएसगासं ॥ वि. २३३२।

बहुत कुछ समझाने पर भी जमालि की भगवान् के वचनों पर श्रद्धा, प्रतीति नहीं हुई और वह भगवान् के पास से चला गया। मिथ्यात्व के अभि-निवेश से उसने स्व-पर को उन्मागंगामी बनाया और बिना आलोचना के मरण प्राप्त कर किल्बिषी देव हुआ।

## २. (निन्हव) तिष्यगुप्त

भगवान् महावीर के केवलज्ञान के सोलह वर्ष बाद दूसरा निन्हव तिष्य-गुप्त हुआ। वह आचार्य वसु का, जो कि चतुर्दश पूर्वविद् थे, शिष्य था। एक बार आचार्य वसु राजगृह के गुणशील चैत्य में पधारे हुए थे। उनके पास आत्म-प्रवाद का आलापक पढ़ते हुए तिष्यगुप्त को यह दृष्टि पैदा हुई कि जीव का एक प्रदेश जीव नहीं, वैसे दो, तीन, संख्यात आदि भी जीव नहीं—किन्तु असंख्यात प्रदेश होने पर ही उसे जीव कहना चाहिये। इसमें एक प्रदेश भी कम हो तो जीव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीव लोकाकाश-प्रदेश तुल्य है<sup>१</sup>, ऐसा शास्त्र में कहा है।

इस आलापक को पढ़ते हुए तिष्यगुप्त को नय-दृष्टि का ध्यान नहीं होने से विपर्यास हो गया। उसने समझा कि अन्ति प्रदेश में ही जीवत्व है। गुरु द्वारा विविध प्रकार से समझाने पर भी तिष्यगुप्त की धारणा जब नहीं बदली तो गुरु ने उसे संघ से बाहर कर दिया।

स्वच्छन्द विचरता हुआ तिष्यगुप्त 'आमलकल्पा' नगरी में जाकर 'आम्रसालवन' में ठहरा। वहाँ 'मित्रश्री' नाम का एक श्रावक था। उसने तिष्यगुप्त को निन्हव जानकर समझाने का उपाय सोचा। उसने सेवक-पुरुषों द्वारा भिक्षा जाते हुए तिष्यगुप्त को कहलाया 'आज आप कृपा कर मेरे घर पधारें।' तिष्यगुप्त भी भावना समझ कर चला गया। मित्रश्री ने तिष्यगुप्त को बैठा कर बड़े आदर से विविध प्रकार के अन्न-पान-व्यञ्जन और वस्त्रादि लाकर देने को रखे और उनमें से सबके अन्तिम भाग का एक-एक कण लेकर मुनि को प्रतिलाभ दिया। तिष्यगुप्त यह देखकर बोले—“श्रावक! क्या तुम हँसी कर रहे हो या हमको विधर्मी समझ रहे हो?”

श्रावक ने कहा—“महाराज! आपका ही सिद्धान्त है कि अन्तिम प्रदेश जीव है, फिर मैंने गलती क्या की है? यदि एक कण में भोजन नहीं मानते तो आपका सिद्धान्त मिथ्या होगा।”

मित्रश्री की प्रेरणा से तिष्यगुप्त समझ गये और श्रावक मित्रश्री ने भी

१ विशेषावश्यक, गा. २३३३ से २३३६।

विधिपूर्वक प्रतिलाभ देकर तिष्यगुप्त को प्रसन्न किया एवं सादर उन्हें गुरु-सेवा में भेज कर उनकी संयम शुद्धि में सहायता प्रदान की।

### महावीर और गोशालक

भगवान् महावीर और गोशालक का वर्षों निकटतम सम्बन्ध रहा है। जैन शास्त्रों के अनुसार गोशालक प्रभु का शिष्य हो कर भी प्रबल प्रतिद्वन्दी के रूप में रहा है। भगवती सूत्र में इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। भगवान् ने गोशालक को अपना कुशिष्य कह कर, परिचय दिया है। यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से गोशालक पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

डॉ० विमलचन्द्र झा ने गोशालक को चित्रकार अथवा चित्रविक्रेता का पुत्र बतलाया है।<sup>१</sup> कुछ इतिहास लेखकों ने मंखलि का अर्थ बांस की लाठी ले कर चलने वाला साधु किया है, पर उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में प्रस्तुत कथन प्रमाणित नहीं होता। वास्तव में गोशालक का पिता मंखलि-मंख था, मंख का अर्थ चित्रकार या चित्रविक्रेता नहीं होता। मंख केवल शिव का चित्र दिखला कर अपना जीवनयापन करता था।<sup>२</sup> कारपेंटियर ने भी अपना यही मत प्रकट किया है।<sup>३</sup>

जैन सूत्रों में गोशालक के साथ मंखलि-पुत्र शब्द का भी प्रयोग मिलता है जो गोशालक के विशेषण रूप से प्रयुक्त है। टीकाकार अभयदेवसूरि ने भगवती सूत्र की टीका में कहा—“चित्रफलकं हस्ते गतं यस्य स तथा”। इसके अनुसार मंख का अर्थ चित्र-पट्ट हाथ में रख कर जीविका चलाने वाला होता है। पूर्व समय में मंख एक जाति थी, जिसके लोग शिव या किसी देव का चित्रपट्ट हाथ में रखकर अपनी जीविका चलाते थे। आज भी ‘डाकोत’ जाति के लोग शनि देव की मूर्ति या चित्र दिखा कर जीविका चलाते हैं।

### गोशालक का नामकरण

गोशालक के नामकरण के सम्बन्ध में भगवती सूत्र में स्पष्ट निर्देश मिलता है। वहाँ कहा गया है कि ‘मंख’ जातीय मंखली गोशालक का पिता था और भद्रा माता थी। मंखली की गर्भवती भार्या भद्र ने ‘सरवण’ ग्राम के गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में, जहाँ कि मंखली जीविका के प्रसंग से चलते

१ इन्डोलोजिकल स्टडोज सैकिड, पेज २४५ ॥

२ डियस० आफ पेटी प्रोपर नेम्न पार्ट १ पेज ४० ।

३ (क) केदारपट्टिक, पृ० २४१ ।

(ख) हरिभद्रीय भाष० वृ०, पृ० २४१ ।

चलते पहुँच गया था, बालक को जन्म दिया। इसलिए उसका नाम 'गोशालक' रखा गया। मंखलि का पुत्र होने से वह मंखलि-पुत्र और गोशाला में जन्म लेने के कारण 'गोशालक' कहलाया। बड़ा होने पर चित्रफलक हाथ में लेकर गोशालक मंखलपने से विचरने लगा।

त्रिपिटक में आजीवक नेता को मंखलि गोशालक कहा गया है। उसके मंखलि नामकरण पर बौद्ध परम्परा में एक विचित्र कथा प्रचलित है। उसके अनुसार गोशालक एक दास था। एक बार वह तैल का घड़ा उठाये आगे आगे चल रहा था और पीछे पीछे उसका मालिक। मार्ग में आगे फिसलन होने से मालिक ने कहा— 'तात मंखलि ! तात मंखलि ! अरे स्खलित मत होना, देख कर चलना' किन्तु मालिक के द्वारा इतना सावधान करने पर भी गोशालक गिर गया, जिससे घड़े का तैल भूमि पर बह चला। गोशालक स्वामी के डर से भागने लगा तो स्वामी ने उसका वस्त्र पकड़ लिया। फिर भी वह वस्त्र छोड़ कर नंगा ही भाग चला। तब से वह नग्न साधु के रूप में रहने लगा और लोग उसे<sup>२</sup> मंखलि कहने लगे।

व्याकरणकार 'पाणिनि' और भाष्यकार पतंजलि ने 'मंखलि' का शुद्ध रूप 'मस्करी' माना है। "मस्कर मस्करिणौ वेणु-परिव्राजकयोः" ६।१।२५४ में मस्करी का सामान्य अर्थ परिव्राजक किया है। भाष्यकार का कहना है कि मस्करी वह साधु नहीं जो हाथ में मस्कर या बांस की लाठी ले कर चलता है, किन्तु मस्करी वह है जो 'कर्म मत करो' का उपदेश देता है और कहता है— "शान्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है।"<sup>३</sup>

यहाँ गोशालक का नाम स्पष्ट नहीं होने पर भी दोनों का अभिमत उसी ओर संकेत करता है। लगता है, गोशालक जब समाज में एक धर्माचार्य के रूप से विख्यात हो चुका, तब 'कर्म मत करो' की ब्याख्या प्रचलित हुई, जो उसके नियतिवाद की ओर इशारा करती है।

आचार्य गुणचन्द्र रचित 'महावीर चरिय' में गोशालक की उत्पत्ति विषयक सहज ही विश्वास कर लेने और मानने योग्य रोचक एवं सुसंगत विवरण मिलता है। उसमें गोशालक के जीवनचरित्र का भी पूर्णरूपेण परिचय उपलब्ध होता है, इस दृष्टि से आचार्य गुणचन्द्र द्वारा दिये गये गोशालक के विवरण का अविकल अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है :—

१ भगवती सूत्र, अ० १५।१।

२ (क) धाचार्य बुद्धघोष, धम्मपद अट्ठकथा १।१४३

(ख) मज्झिमनिकाय अट्ठकथा, १।४२२।

३ न वै मस्कोऽस्मास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि भाङ्गत कर्मणि भाङ्गत कर्माणि, शान्तिर्वैः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः ॥ [पातञ्जल महाभाष्य ६-१-१५४]



“उत्तरापथ में सिलिन्ध नाम का सन्निवेश था । वहाँ केशव नाम के एक ग्रामरक्षक की शिवा नाम की प्राणप्रिया एवं विनीता पत्नी की कुक्षि से मंख नामक एक पुत्र का जन्म हुआ । क्रमशः वह मंख युवावस्था को प्राप्त हुआ । एक दिन मंख अपने पिता के साथ स्नानार्थ एक सरोवर पर गया और स्नान करने के पश्चात् एक वृक्ष के नीचे बैठ गया । वहाँ बैठे-बैठे मंख ने देखा कि एक चक्रवाक-युगल परस्पर प्रगाढ़ प्रेम से लबालब भरे हृदय से अनेक प्रकार की प्रेम-क्रीड़ाएँ कर रहा है । कभी तो वह चक्रवाक-मिथुन अपनी चंचुओं से कुतरे गये नवीन ताजे पद्मनाल के टुकड़े की छीना-भ्रष्टी करके एक दूसरे के प्रति अपने प्रणय को प्रकट करता था तो कभी सूर्य के अस्त हो जाने की आशंका से दूसरे को अपने प्रगाढ़ आलिंगन में जकड़ लेता था तो कभी जल में अपने प्रतिबिम्ब को देख कर विरह की आशंका से अस्त हो निष्कपट भाव से एक दूसरे को अपना सर्वस्व समर्पण करते हुए मधुर प्रेमालाप में आत्मविभोर हो जाता था ।

चक्रवाक-युगल को इस प्रकार प्रेमकेलि में खोये हुए जानकर काल की तरह चुपके से सरकते हुए शिकारी ने आकण्ठान्त धनुष की प्रत्यंचा खींचकर उन पर तीर चला दिया । दैव संयोग से वह तीर चकवे के लगा और वह उस प्रहार से मर्माहत हो छटपटाने लगा । चक्रवाक की तथाविध व्यथा को देखकर चकवी ने क्षणभर विलाप कर प्राण त्याग दिये । मुहूर्त्त भर बाद चकवा भी कालधर्म को प्राप्त हुआ ।

इस प्रकार चकवे और चकवी की यह दशा देखकर मंख की आँखें मुँद गई और मूर्च्छित होकर धरणीतल पर गिर पड़ा । जब केशव ने यह देखा तो वह विस्मित हो सोचने लगा कि यह अकल्पित घटना कैसे घटी । उसने शीतलोपचारों से मंख को आश्वस्त किया और थोड़ी देर पश्चात् मंख की मूर्च्छा दूर होने पर केशव ने उससे पूछा—“पुत्र ! क्या किसी बात दोष से, पित्त दोष से अथवा और किसी शारीरिक दुर्बलता के कारण तुम्हारी ऐसी दशा हुई है जिससे कि तुम चेष्टा-रहित हो बड़ी देर तक मूर्च्छित पड़े रहे ? क्या कारण है, सच सच बताओ ?”

मंख ने भी अपने पिता की बात सुनकर दीर्घ विश्वास छोड़ते हुए कहा—“तात ! इस प्रकार के चक्रवाक-युगल को देखकर मुझे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया । मैंने पूर्वजन्म में मानसरोवर पर इसी प्रकार चक्रवाक के मिथुन रूप से रहते हुए एक भील द्वारा छोड़े गये बाण से अभिहत हो विरह-व्याकुला चकवी के साथ मरण प्राप्त किया था और तत्पश्चात् मैं आपके यहाँ पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ हूँ । इस समय मैं स्मृतिवश अपनी उस चिरप्रणयिनी चकवी के विरह को सहने में असमर्थ होने के कारण बड़ा दुखी हूँ ।”

केशव ने कहा—“वत्स ! अतीत दुःख के स्मरण से क्या लाभ ? कराल

काल का यही स्वभाव है, वह किसी को भी चिरकाल तक प्रिय-संयोग से सुखी नहीं देख सकता। जैसे कि कहा भी है :—

“स्वर्ग के देवगण भी अपनी प्रणयिनी के विरहजन्य दुःख से संतप्त होकर मूर्च्छित की तरह किसी न किसी तरह अपना समय-यापन करते हैं, फिर तुम्हारे जैसे प्राणी, जिनका चर्म से मंदा हुआ शरीर सभी आपत्तियों का घर है, उनके दुःखों की गणना ही क्या है ? इसलिये पूर्वभव के स्मरण को भूलकर वर्तमान को ध्यान में रखकर यथोचित व्यवहार करो। क्योंकि भूत-भविष्यत् की चिन्ता से शरीर क्षीण होता है। इससे यह और भी निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि यह संसार असार है, जहां जन्म-मरण, जरा, रोग-शोक आदि बड़े-बड़े दुःख हैं।”

इस प्रकार विविध हेतुओं और युक्तियों से मंख को समझाकर केशव किसी तरह उसे घर ले गया। घर पहुँच कर भी मंख बिना अन्नजल ग्रहण किये शून्य मन से धरणीतल की ओर निगाह मड़ाये, किसी बड़े योगी की तरह निष्क्रिय होकर, निरन्तर चिन्तामग्न हो, अपने जीवन को तृण की तरह तुच्छ मानता हुआ रहने लगा।

मंख की ऐसी दशा देखकर चिन्तित स्वजनवर्ग ने, कहीं कोई छलना-विकार तो नहीं है, इस विचार से तान्त्रिक लोगों को बुलाकर उन्हें उसे दिखाया। मंख का अनेक प्रकार से उपचार किया गया, पर सब निरर्थक।

एक दिन देशान्तर से एक वृद्ध पुरुष आया और केशव के घर पर ठहरा। उसने जब मंख को देखा तो वह केशव से पूछ बैठा—“भद्र ! यह तरुण रोगादि से रहित होते हुए भी रोगी की तरह क्यों दिख रहा है ?”

केशव ने उस वृद्ध पुरुष को सारी स्थिति से अवगत किया। वृद्ध पुरुष ने पूछा—“क्या तुमने इस प्रकार के दोष का कोई प्रतिकार किया है ?”

केशव ने उत्तर दिया—“इसे बड़े-बड़े निष्णात मान्त्रिकों और तान्त्रिकों को दिखाया है।”

वृद्ध ने कहा—“यह सभी उपक्रम व्यर्थ है, प्रेम के ग्रह से प्रस्त का वे बेचारे क्या प्रतिकार करेंगे ?” कहा भी है :—

“भयंकर विषधर के डस लेने से उत्पन्न वेदना को शान्त करने में कुशल, सिंह, दुष्ट हाथी और राक्षसी का स्तंभन करने में प्रवीण और प्रेतबाधा से उत्पन्न उपद्रव को शान्त करने में सक्षम उच्चकोटि के मान्त्रिक अथवा तान्त्रिक भी प्रेमपरवश हृदय वाले व्यक्ति को स्वस्थ करने में समर्थ नहीं होते।”

केशव ने पूछा—“तो फिर अब इसका क्या किया जाय ?”

वृद्ध ने उत्तर दिया—“यदि तुम मुझ से पूछते हो तो जब तक कि यह दशवीं दशा (विक्षिप्तावस्था) प्राप्त न कर ले उससे पहले-पहले इसके पूर्वजन्म के वृत्तान्त को एक चित्रपट पर अंकित करवालो, जिसमें यह दृश्य अंकित हो कि भील ने बाण से चकवे पर प्रहार किया, चकवा घायल हो गिर पड़ा, चकवी उस चकवे की इस दशा को देखकर मर गई और उसके पश्चात् वह चकवा भी मर गया।”

“इस प्रकार का चित्रफलक तैयार करवा कर मंख को दो जिसे लिये-लिये यह मंख ग्राम-नगरादि में परिभ्रमण करे। कदाचित् ऐसा करने पर किसी तरह विधिवशात् इसकी पूर्वभव की भार्या भी मानवी भव को पाई हुई उस चित्रफलक पर अंकित चक्रवाक-मिथुन के उस प्रकार के दृश्य को देखकर पूर्वभव की स्मृति से इसके साथ लग जाय।”

“प्राचीन शास्त्रों में इस प्रकार के वृत्तान्त सुने भी जाते हैं। इस उपाय से आशा का सहारा पाकर यह भी कुछ दिन जीवित रह सकेगा।”

वृद्ध की बात सुनकर केशव ने कहा—“आपकी बुद्धि की पहुँच बहुत ठीक है। आप जैसे परिणत बुद्धि वाले पुरुषों को छोड़कर इस प्रकार के विषम अर्थ का निर्णय कौन जान सकता है?”

इस प्रकार वृद्ध की प्रशंसा कर केशव ने मंख से सब हाल कहा। मंख बोला—“तात ! इसमें क्या अनुचित है ? शीघ्र ही चित्रपट को तैयार करवा दीजिये। कुविकल्पों की कल्लोलमाला से आकुल चित्त वाले के समाधानार्थ यही उपक्रम उचित है।”

मंख के अभिप्राय को जानकर केशव ने भी यथावस्थित चक्रवाक-मिथुन का चित्रपट पर आलेखन करवाया और वह चित्रफलक और मार्ग में जीवन-निर्वाह हेतु संबल के रूप में द्रव्य मंख को प्रदान किया।

मंख उस चित्रफलक और एक सहायक को साथ लेकर ग्राम, नगर सन्निवेशादि में बिना किसी प्रकार का विश्राम किये आशापिशाचिनी के वशीभूत हो धूमने लगा। मंख उस चित्रफलक को घर-घर और नगर के त्रिक-चतुष्क एवं चौराहों पर ऊंचा करके दिखाता और कुतूहल से जो भी चित्रपट के विषय में उससे पूछता उसे सारी वास्तविक स्थिति समझाता। निरन्तर विस्तार के साथ अपनी आत्मकथा कहकर यह लोगों को चित्रफलक पर अंकित चक्रवाक-मिथुन की ओर इंगित कर कहता—“देखो, मानसरोवर के तट पर परस्पर प्रेमकेलि में निमग्न यह चकवा-चकवी का जोड़ा किसी शिकारी द्वारा छोड़े गये बाण से शरीर त्याग कर एक दूसरे से बिछुड़ गया। इस समय यह प्रियमिलन के लिये छटपटा रहा है।”

मंख के मुख से इस प्रकार की कथा सुनकर कुछ लोग उसकी खिल्ली उड़ाते, कुछ भला बुरा कहते तो कुछ उस पर दयार्द्र हो अनुकम्पा करते ।

इस प्रकार मंख भी अपने कार्यसाधन में दत्तचित्त हो घूमता हुआ चम्पा नगरी पहुँचा । उसका पाथेय समाप्त हो चुका था, अतः जीवन-निर्वाह का अन्य कोई साधन न देख मंख उसी चित्रफलक को अपनी वृत्ति का आधार बनाकर गाने गाता हुआ भिक्षार्थ घूमने लगा और उस भिक्षाटन के कार्य से क्षुधा-शान्ति एवं अपनी प्रेयसी की तलाश, ये दोनों कार्य करने लगा ।

उसी नगर में मंखली नाम का एक गृहस्थ रहता था । उसकी स्त्री का नाम सुभद्रा था । वह वारिण्य कला से नितान्त अनभिज्ञ, नरेन्द्र सेवा के कार्य में अकुशल, कृषि कार्यों में सामर्थ्यहीन एवं आलसी तथा अन्य प्रकार के प्रायः सभी सामान्य कष्टसाध्य कार्यों को करने में भी अविचक्षण था । सारांश यह कि वह केवल भोजन का भाण्ड था । वह निरन्तर इसी उपाय की टोह में रहता था कि किस प्रकार वह आसानी से अपना निर्वाह करे । एक दिन उसने मंख को देखा कि वह केवल चित्रपट को दिखाकर प्रतिदिन भिक्षावृत्ति से सुखपूर्वक निर्वाह कर रहा है ।

उसे देखकर मंखली ने सोचा—“अहो ! इसकी यह वृत्ति कितनी अच्छी है जिसे कभी कोई चुरा नहीं सकता । नित्यप्रति दूध देने वाली कामधेनु के समान, बिना पानी के धान्यनिष्पत्ति की तरह यह एक क्लेशरहित महानिधि है । चिरकाल से जिस वस्तु की मैं चाह कर रहा था उसकी प्राप्ति से मैं जीवन पा चुका हूँ । यह बहुत ही अच्छा उपाय है ।”

ऐसा सोचकर वह मंख के पास गया और उसकी सेवा करने लगा । उसने उससे कुछ गाने सीखे और अपने पूर्वभव की भार्या के विरह-वज्र से जर्जरित हृदय वाले उस मंख की मृत्यु के पश्चात् मंखली अपने आपको सारभूत तत्त्व का ज्ञाता समझते हुए बड़े विस्तृत विवरण के साथ वैसा चित्रफलक तैयार करवाकर अपने घर पहुँचा ।

मंखली ने अपनी गृहिणी से कहा—“प्रिये ! अब भूख के सिर पर वज्र मारो और विहार-यात्रा के लिये स्वस्थ हो जाओ ।”

मंखली की पत्नी ने उत्तर दिया—“मैं तो तैयार ही हूँ, जहाँ आपकी रुचि हो वहीं चलिये ।”

चित्रफलक लेकर मंखली अपनी पत्नी के साथ नगर से निकल पड़ा और मंखवृत्ति से देशांतर में भ्रमण करने लगा । लोग भी उसे ध्राया देखकर पहले देखे हुए मंख के खयाल से “मंख आ गया, यह मंख आ गया” इस तरह कहने लगे ।

इस प्रकार मंख द्वारा उपदिष्ट पासंड व्रत से संबद्ध होने के कारण वह मंखली मंख कहलाया ।

अन्यदा मंख परिभ्रमण करते हुए सरवण ग्राम में पहुँचा और गोबहुल बाह्यण की गोशाला में ठहरा । गोशाला में रहते हुए उसकी पत्नी सुभद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया । गोशाला में उत्पन्न होने के कारण उसका गुणनिष्पन्न नाम गोशालक रखा गया ।

अनुक्रम से बढ़ता हुआ गोशालक बाल्यक्य को पूर्ण कर तरुण हुआ । वह स्वभाव से ही दुष्ट प्रकृति का था, अतः सहज में ही विविध प्रकार के अनर्थ कर डालता, माता-पिता की आज्ञा में नहीं चलता और सीख देने पर द्वेष करता । सम्मानदान से संतुष्ट किये जाने पर क्षण भर सरल रहता और फिर कुत्ते की पूँछ की तरह कुटिलता प्रदर्शित करता । बिना थके बोलते ही रहने वाले, कूड़-कपट के भण्डार और परम मर्मवेधी उस वैताल के समान गोशालक को देखकर सभी सशंक हो जाते ।

माँ के द्वारा यह कहने पर—“हे पाप ! मैंने नव मास तक तुझे गर्भ में वहन किया और बड़े लाड़ प्यार से पाला है, फिर भी तू मेरी एक भी बात क्यों नहीं मानता ?” गोशालक उत्तर में यह कहता—“अम्ब ! तू मेरे उदर में प्रविष्ट हो जा मैं दुगुने समय तक तुझे धारण कर रखूँगा ।”

जब तक गोशालक अपने पिता के साथ कलह नहीं कर लेता तब तक उसे खुलकर भोजन करने की इच्छा नहीं होती । निश्चित रूप से सारे दोष समूहों से उसका निर्माण हुआ था जिससे कि सम्पूर्ण जगत् में उसके समान कोई और दूसरा दृष्टिगोचर नहीं होता था ।

इस प्रकार की दुष्ट प्रकृति के कारण उसने सब लोगों को अपने से पराङ्मुख कर लिया था । लोग उसको दुष्टजनों में प्रथम स्थान देने लगे । विष-वृक्ष और दृष्टि-विष वाले विषघर की तरह वह प्रथम उद्गमकाल में ही दर्शनमात्र से भयंकर प्रतीत होने लगा ।

किसी समय पिता के साथ खूब लड़-भगडकर उसने वैसा ही चित्रफलक तैयार करवाया और एकाकी भ्रमण करते हुए उस शाला में चला आया, जहाँ भगवान् महावीर विराजमान थे ।

[महावीर चरियं (गुणचन्द्र रचित) प्रस्ताव ६, पत्र १८३-१८६]

### जैनागमों की मौलिकता

इस विषय में जैनागमों का कथन इसलिये मौलिक है कि उसे मंखलि का पुत्र बतलाने के साथ गोशाला में उत्पन्न होना भी कहा है । पाणिनि कृत-

“गोशालायां जातो गोशालः” इस व्युत्पत्ति से भी इस कथन की पुष्टि होती है। बौद्ध आचार्य बुद्धघोष ने ‘सामन्न फलसुत्त’ की टीका में गोशालक का जन्म गोशाला में हुआ माना है।<sup>१</sup> इतिहास लेखकों ने पाणिनि का काल ई० पूर्वं ४०० से ई० पूर्वं ४१० माना है।<sup>२</sup> गोशालक के निधन और पाणिनि के रचनाकाल में लगभग एक सौ बयालीस वर्ष का अन्तर है। संभव है, गोशालक-मत्त के उत्कर्ष-काल में यह व्याख्या की गई हो।

गोशालक का आजीवक सम्प्रदाय में प्रमुख स्थान रहा है। कुछ विद्वानों ने उसे आजीवक सम्प्रदाय का प्रवर्तक भी बताया है। पर सही बात यह है कि आजीवक सम्प्रदाय गोशालक के पूर्व से ही चला आ रहा था। जैनागम एवं त्रिपिटक में गोशालक की परम्परा को आजीवक या आजीविक कहा है। दोनों का अर्थ एक ही है। प्रतिपक्ष द्वारा निर्धारित इस नाम की तरह वे स्वयं इसका क्या अर्थ करते होंगे, यह स्पष्ट नहीं होता। हो सकता है, उन्होंने इसका शुभरूप स्वीकार किया हो।

डॉ० बरुआ ने आजीविक के सम्बन्ध में लिखा है कि यह ऐसे संन्यासियों की एक श्रेणी है, जिनके जीवन का आधार भिक्षावृत्ति है, जो नग्नता को अपनी स्वच्छता एवं त्याग का बाह्य चिह्न बनाये हुए हैं, जिनका सिर मुंडा हुआ रहता है और जो हाथ में बांस के डंडे रखते हैं। इनकी मान्यता है कि जीवन-मरण, सुख-दुःख और हानि-लाभ यह सब अनतिक्रमणीय हैं, जिन्हें टाला नहीं जा सकता। जिसके भाग्य में जो लिखा है, वह होकर ही रहता है।

### गोशालक से महावीर का सम्पर्क

साधना के दूसरे वर्षावास में जब भगवान् महावीर राजगृह के बाहर नालन्दा में मासिक तप के साथ चातुर्मास कर रहे थे, उस समय गोशालक भी हाथ में परम्परानुकूल चित्रपट लेकर ग्राम-ग्राम घूमता हुआ प्रभु के पास तन्तुवाय शाला में आया। अन्य योग्य स्थान न मिलने के कारण उसने भी उसी तन्तुवाय शाला में चातुर्मास व्यतीत करने का निश्चय किया।

भगवान् महावीर ने प्रथम मास का पारणा ‘विजय’ गाथापति के यहाँ किया। विजय ने बड़े भक्तिभाव से प्रभु का सत्कार किया और उत्कृष्ट अशन-पान आदि से प्रतिलाभ दिया। त्रिविध-त्रिकरण शुद्धि से दिये गये उसके पारणा-दान की देवों ने महिमा की, उसके यहाँ पंच-दिव्य प्रकट हुए। क्षणभर में यह अद्भुत समाचार अनायास नगर भर में फैल गया और दृश्य देखने को जन-समूह उमड़ पड़ा। मंखलिपुत्र गोशालक भी भीड़ के साथ चला आया और द्रव्य-वृष्टि आदि आश्चर्यजनक दृश्य देखकर दंग रह गया। वह वहाँ से लौटकर भगवान्

१ सुमंगल त्रिलासिनी (दीर्घनिकाम अठ्ठकहा) पृ० १४३-४४

२ बासुदेवशरण अग्रवाल। पाणिनीकालीन भारतवर्ष।

महावीर के पास आया और प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन करके बोला—“भगवन् ! आज से आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हूँ। मैंने मन में भली-भाँति सोचकर ऐसा निश्चय किया है। मुझे अपनी चरण-शरण में लेकर सेवा का अवसर दें।” प्रभु ने सहज में उसकी बात सुन ली और कुछ उत्तर नहीं दिया।

भगवान् महावीर के चतुर्थ मासिक तप का पारणा नालन्दा के पास ‘कोल्लाग’ गाँव में ‘बहुल’ ब्राह्मण के यहाँ हुआ था। गोशालक की अनुपस्थिति में भगवान् गोचरी के लिये बाहर निकले थे, अतः गोशालक जब पुनः तन्तुवाय-शाला में आया तो वहाँ प्रभु को न देखकर उसने सारी राजगृही छान डाली मगर प्रभु का कुछ पता नहीं लगा। अन्त में हार कर उदास मन से वह तन्तुवाय-शाला में लौट आया और अपने वस्त्र, पात्र, जूते आदि ब्राह्मणों को बाँटकर स्वयं दाढ़ी मूँछ मुँडवा कर प्रभु की खोज में कोल्लाग सन्निवेग की ओर चल दिया।

### शिष्यत्व की ओर

मार्ग में जन-समुदाय के द्वारा ‘बहुल’ के यहाँ हुई दिव्य-वृष्टि के समाचार सुनकर गोशालक को पक्का विश्वास हो गया कि निश्चय ही भगवान् यहाँ विराजमान हैं, क्योंकि उनके जैसे तपस्तेज की ऋद्धि वाले अन्यत्र दुर्लभ हैं। उनके चरण-स्पर्श के बिना इस प्रकार की द्रव्य-वृष्टि संभव नहीं है। इस तरह अनुमान के आधार पर पता लगाते हुए वह महावीर के पास पहुँच गया।

गोशालक ने प्रभु को सविधि वन्दन कर कहा—“प्रभो ! मुझसे ऐसा क्या अपराध हो गया जो इस तरह बिना बताये आप यहाँ चले आये ? मैं आपके बिना अब एक क्षण भी अन्यत्र नहीं रह सकता। मैंने अपना जीवन आपके चरणों में समर्पित कर दिया है। मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हूँ।”

प्रभु ने जब गोशालक के विनयावनत अन्तःकरण को देखा तो उसकी प्रार्थना पर “तथास्तु” की मुहर लगा दी। प्रभु के द्वारा अपनी प्रार्थना स्वीकृत होने पर वह छः वर्ष से अधिक काल तक शिष्य रूप में भगवान् के साथ विभिन्न स्थानों में विचरता रहा, जिसका उल्लेख महावीर-चर्या के प्रसंग में यथास्थान किया जा चुका है।

### बिरुद्धाचरण

प्रभु के साथ विहार करते हुए गोशालक ने कई बार भगवान् की बात को मिथ्या प्रमाणित करने का प्रयत्न किया, परन्तु उसे कहीं भी सफलता नहीं मिली। दुराग्रह के कारण उसके मन में प्रभु के प्रति श्रद्धा में कमी आयी किन्तु वह प्रभु से तेजोलेख्या का ज्ञान प्राप्त करना चाहता था, अतः उस अवधि

तक वह मन मसोस कर भी जैसे-तैसे उनके साथ चलता रहा । अन्ततः एक दिन भगवान् से तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि जानकर वह उनसे अलग हो गया और नियतिवाद का प्रबल प्रचारक एवं समर्थक बन गया । कुछ दिनों के बाद उसे कुछ मत-समर्थक साथी या शिष्य भी मिल गये, तब से वह अपने को जिन और केवली भी घोषित करने लगा ।

भगवान् जिस समय श्रावस्ती में विराजमान थे, उस समय गोशालक का जिन रूप से प्रचार जोरों से चल रहा था । गोशालक के जिनत्व के सम्बन्ध में गौतम द्वारा जिज्ञासा करने पर प्रभु ने कहा—“गौतम ! गोशालक जिन नहीं, जिन-प्रलापी है ।” प्रभु की यह वाणी श्रावस्ती नगरी में फैल गई । गोशालक ने जब यह बात सुनी तो वह क्रोध से तिलमिला उठा । उसने महावीर के शिष्य आनन्द को बुलाकर भला-बुरा कहा और स्वयं आवेश में प्रभु के पास पहुँचकर रोषपूर्ण भाषा बोलने लगा ।

महावीर ने पहले से ही अपने श्रमणों को सूचित कर रखा था कि गोशालक यहाँ आने वाला है और वह अभद्र वचन बोलेंगा, अतः कोई भी मुनि उससे संभाषण नहीं करे । प्रभु द्वारा इस प्रकार सावचेत करने के उपरान्त भी गोशालक के अनर्गल प्रलाप और अपमानजनक शब्दों को सुनकर भावावेश में दो मुनि उससे बोल गये । गोशालक ने क्रुद्ध हो उन पर तेजोलेश्या फेंकी, जिससे वे दोनों मुनि काल कर गये । भगवान् द्वारा उद्बोधित किये जाने पर उसने भगवान् को भी तेजोलेश्या से पीड़ित किया । वास्तव में मूढमति पर किये गये उपदेश का ऐसा ही कुपरिणाम होता है, जैसा कि कहा है—“पयः पानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम् ।” विशेष जानकारी के लिये साधनाकालीन विहारचर्या द्रष्टव्य है ।

### आजीवक नाम की सार्थकता

गोशालक-परम्परा का आजीवक नाम केवल आजीविका का साधन होने से ही पड़ा हो, ऐसी बात नहीं है । इस मत के अनुयायी भी विविध प्रकार के तप और ध्यान करते थे । जैसे कि जैनागम स्थानांग में आजीवकों के चार प्रकार के तप बतलाये हैं । कल्प चूरा आदि ग्रन्थों में पाँच प्रकार के श्रमणों का उल्लेख है, जिसमें एक औष्टिका श्रमण का भी उल्लेख है । ये मिट्टी के बड़े बर्तन में ही बैठ कर तप करते थे ।

उपर्युक्त निर्देशों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जाना कठिन है कि आजीवकमति केवल उदरार्थी होते थे । आश्चर्य की बात तो यह है कि वे आत्मवादी, निर्वाणवादी और कष्टवादी होकर भी कट्टर नियतिवादी थे । उनके मत में पुरुषार्थ कुछ भी कार्यसाधक नहीं था, फिर भी अनेक प्रकार के तप और



आत्मापनायें किया करते थे। मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार वे अपनी इस विरोधात्मक प्रवृत्ति के कारण ही विरोधी लोगों के आक्षेप के पात्र बने। लोग कहने लगे कि ये जो कुछ भी करते हैं, आजीविका के लिये करते हैं, अन्यथा नियतिवादी को इसकी क्या आवश्यकता है ?

आजीवक नाम प्रचलित होने के मूल में चाहे जो अन्य कारण रहे हों पर इस नाम के सर्वमान्य होने का एक प्रमुख कारण आजीविका भी है।

जैनागम भगवती के अनुसार गोशालक निमित्त-शास्त्र का भी अभ्यासी था। वह समस्त लोगों के हानि-लाभ, सुख-दुःख एवं जीवन-मरण विषयक भविष्य बताने में कुशल और सिद्धहस्त माना जाता था। अपने प्रत्येक कार्य में वह उस ज्ञान की सहायता लेता था। आजीवक लोग इस विद्या के बल से अपनी मुख-सामग्री जुटाया करते थे। इसके द्वारा वे सरलता से अपनी आजीविका चलाते। यही कारण है कि जैन शास्त्रों में इस मत को आजीवक और लिंग-जीवी कहा है।

इस तरह नियतिवादी होकर भी विविध क्रियाओं के करने और आजीविका के लिये निमित्त विद्या का उपयोग करने से वे विरोधियों, खासकर जैनों द्वारा 'आजीवक' नाम से प्रसिद्ध हुए हों, यह संगत प्रतीत होता है।

### आजीवक-चर्या

'मज्झिमनिकाय' के अनुसार निर्गन्धों के समान आजीविकों की जीवन-चर्या के नियम भी कठोर बताये गये हैं। 'मज्झिमनिकाय' में आजीविकों की भिक्षाचरी का प्रशंसात्मक उल्लेख करते हुए एक स्थान पर लिखा है—“गाँवों, नगरों में आजीवक साधु होते हैं, उनमें से कुछ एक दो घरों के अन्तर से, कुछ एक तीन घरों के अन्तर से, यावत् सात घरों के अन्तर से भिक्षा ग्रहण करते हैं। संसार-शुद्धि की दृष्टि से जैनों के चौरासी लाख जीव-योनि के सिद्धान्त की तरह वे चौरासी लाख महाकल्प का परिमाण मानते हैं। छः लेश्याओं की तरह गोशालक ने छः अभिजातियों का निरूपण किया है, जिनके कृष्ण, नील आदि नाम भी बराबर मिलते हैं।”

भगवती में आजीवक उपासकों के आचार-विचार का संक्षिप्त परिचय मिलता है, जो इस प्रकार है :—

“गोशालक के उपासक अरिहन्त को देव मानते, माता-पिता की सेवा करते, मूलर, बड़, बेर, अंजीर, एवं पिलंखु इन पाँच फलों का भक्षण नहीं करते,

बैलों को लांछित नहीं करते, उनके नाक, कान का छेदन नहीं करते एवं जिससे त्रस प्राणियों की हिंसा हो, ऐसा व्यापार नहीं करते थे ।<sup>१</sup>

### आजीवक मत का प्रवर्तक

अभी तक बहुत से जैन-अजैन विद्वान् गोशालक को आजीवक मत का संस्थापक मानते आ रहे हैं । जैन शास्त्रों के अनुसार गोशालक नियतिवाद का समर्थक और आजीवक मत का प्रमुख आचार्य रहा है, किन्तु कहीं भी उसका इस मत के संस्थापक के रूप में नामोल्लेख नहीं मिलता ।

जैन शास्त्रों में जो अन्य तीर्थों के चार प्रकार बतलाये गये हैं, उनमें नियतिवाद का स्थान चौथा है । इससे महावीर के समय में "नियतिवादी" संघ पूर्व से ही प्रचलित होना प्रमाणित होता है । बौद्धागम 'विनयपिटक' में बुद्ध के साथ एक 'उपक' नाम के आजीवक भिक्षु के मिलने की बात आती है । यदि आजीवक मत की स्थापना गोशालक से मानी जाय तो उसका मिलना संभव नहीं होता, क्योंकि महावीर की बत्तीस वर्ष की वय में जब पहले पहल गोशालक उनसे मिला तब वह किशोरावस्था में पन्द्रह-सोलह वर्ष का था । जिस समय वह महावीर के साथ हुआ, उस समय प्रव्रज्या के दो वर्ष हो चुके थे । इसके बाद उसने नौवें वर्ष में पृथक् हो, श्रावस्ती में छैः माह तक आतापना लेकर तेजोलेश्या प्राप्त की । फिर निमित्त शास्त्र का अध्ययन कर वह आजीवक संघ का नेता बन गया । निमित्त ज्ञान के लिये कम से कम तीन-चार वर्ष का समय माना जाय तो गोशालक द्वारा आजीवक संघ का नेतृत्व ग्रहण करना लगभग महावीर के तीर्थकरपद-प्राप्ति के समय हो सकता है । ऐसी स्थिति में बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त होने के समय गोशालक के मिलने की बात ठीक नहीं लगती । फिर बौद्ध ग्रन्थ "दीर्घ निकाय" और "मज्झिम निकाय" में मंखलि गोशालक के अतिरिक्त "किस्स संकिच्च" और "तन्दवच्छ" नाम के दो और आजीवक नेताओं के नाम मिलते हैं । इससे यह अनुमान होता है कि गोशालक से पूर्व ये दोनों आजीवक भिक्षु थे । इन्होंने आजीवक मत स्वीकार करने के बाद गोशालक को लब्धिधारी और निमित्त शास्त्र का ज्ञाता जान कर संघ का नायक बना दिया हो, यह संभव है ।

आजीवक मत की स्थापना का स्पष्ट निर्देश नहीं होने पर भी गोशालक के शरीरान्तर प्रवेश के सिद्धान्त से यह अनुमान लगाया जाता है कि उदायी

१ इन्वेण दुवालस आजीविओवासगा अरिहंत देवयागा अम्मपिउमुस्सुसगा पंचफल-पडिक्कन्ता न० उडंबरेह बडेहि बोरेहि, सतरेहि, पिलक्खूहि, पलडुलहसूएकन्दमूलविवज्जगा अशिल्लं-छिएहि अराक्कभिण्णेहि तसपाएण विवज्जिएहि चित्तेहि वित्ति कप्पेभाएणा विहरंति ।

[भगवती सूत्र, शतक ८, उ० ५, सू० ३३०, अभयदेवीपावृत्ति, प० ३७०(१)]

कुण्डियायन आजीवक संघ का आदिप्रवर्तक हो, जो गोशालक के स्वर्गवास से १३३ वर्ष पूर्व हो चुका था। गोशालक के सम्बन्ध में इन वर्षों में काफी गवेषणा हुई है। पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने भी बहुत कुछ नयी शोध की है, फिर भी यह निश्चित है कि गोशालक विषयक जो सामग्री जैन और बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कुछ विद्वान् इस बात को भूल कर मूल से ही विपरीत सोचते हैं। उनका कहना है कि जैन दृष्टि गोशालक को महावीर के ढोंगी शिष्यों में से एक मानती है, पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। डॉ० बरुआ ने अपनी इस धारणा की पृष्ठभूमि में माना है कि—महावीर पहले तो पाश्वनाथ के पंथ में थे, किन्तु एक वर्ष बाद वे अचेलक हुए, तब अचेलक पंथ में चले गये।<sup>१</sup> इन्होंने यह भी माना कि गोशालक को महावीर से दो वर्ष पूर्व ही जिनत्व प्राप्त हो गया। उनके ये सब विचार कल्पनाश्रित हैं, फिर भी साधारण विचारकों पर उनका प्रभाव होना सहज है। जैसा कि गोपालदास जीवाभाई पटेल ने बरुआजी के ग्रन्थ से प्रभावित हो कर लिखा—“जैन सूत्रों में गोशालक के विषय में जो परिचय मिलता है, उसमें उसको चरित्र-ध्रष्ट तथा महावीर का शिष्य ठहराने का इतना अधिक प्रयत्न किया गया है कि उन लेखों को आधारभूत मानने को ही मन नहीं मानता।<sup>२</sup>

वास्तव में गोपालदास ने जैन सूत्रों के भाव को नहीं समझा, वे पश्चिमी विचार के प्रभाव में ऐसा लिख गये। अमल में जैन और बौद्ध परम्पराओं में टूटकर यदि इसका अन्वेषण किया जाय तो संभव है कि गोशालक नाम का कोई व्यक्ति ही हमें न मिले। जब हम कुछ आधारों को सही मानते हैं, तब किसी कारण से कुछ अन्य को असत्य मान लें, यह उचित प्रतीत नहीं होता। भले ही जैन और बौद्ध आधार किसी अन्य भाव या भाषा में लिखे गये हों, फिर भी वे हमें मान्य होने चाहियें। क्योंकि वे निर्हेतुक नहीं हैं, निर्हेतुक होते तो दो भिन्न परम्पराओं के उल्लेख में एक दूसरे का समर्थन एवं साम्य नहीं होता। यदि जैन आगम उसे शिष्य बतलाते और बौद्ध व आजीवक शास्त्र उसे गुरु लिखते तो यह शंका उचित हो सकती थी, पर वैसी कोई स्थिति नहीं है।

### जैन शास्त्र की प्रामाणिकता

जैन आगमों के एतद्विषयक वर्णनों को सर्वथा आपेक्षात्मक समझ बैठना भी भूल होगा। जैन शास्त्र जहाँ गोशालक एवं आजीवक मत की हीनता व्यक्त करते हैं, वहाँ वे गोशालक को अच्युत स्वर्ग तक पहुँचा कर मोक्षगामी भी बतलाते हैं, साथ ही उनके अनुयायी भिक्षुओं को अच्युत स्वर्ग तक पहुँचने की

१ महावीर नो संयम धर्म (सूत्र कृतांग का गुजराती संस्करण), पृ० ३४।

२ आगम और त्रिपिटक—एक अनुशीलन, पृ० ४४-४५।

क्षमता देकर गौरव प्रदान करते हैं।<sup>१</sup> एकांगी विरोध की ही दृष्टि होती तो उस में ऐसा कभी संभव नहीं होता।

### आजीवक वेष

विभिन्न मतावलम्बियों के विभिन्न प्रकार के वेष होते हैं। कोई धातु रक्ताम्बर धारण करता है तो कोई पीताम्बर, किन्तु आजीवक के किसी विशेष वेष का उल्लेख नहीं मिलता। बौद्ध शास्त्रों में भी आजीवक भिक्षुओं को नग्न ही बताया गया है, वहाँ उनके लिये अचेलक शब्द का प्रयोग किया गया है। उसके लिंग-धारण पर महावीर का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है, क्योंकि वह जब नालन्दा की तन्तुवायशाला में भगवान् महावीर से प्रथम बार मिला तब उसके पास वस्त्र थे। पर चातुर्मास के बाद जब भगवान् महावीर नालन्दा से विहार कर गये तब वह भी वस्त्रादि ब्राह्मणों को देकर मुंडित हो कर महावीर की खोज में निकला और कोत्लाग सन्निवेश में उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

आजीवकों के आचार के सम्बन्ध का वर्णन “मज्झिम निकाय” में मिलता है। वहाँ छत्तीसवें प्रकरण में निर्ग्रन्थ संघ के साधु “सच्चक” के मुख से यह बात निम्न प्रकार से कहलायी गयी है :—

“वे सब वस्त्रों का परित्याग करते हैं, शिष्टाचारों को दूर रख कर चलते हैं, अपने हाथों में भोजन करते हैं, आदि।” “दीर्घ निकाय” में भी कश्यप के मुख से ऐसा स्पष्ट कहलाया गया है।

### महावीर का प्रभाव

गोशालक की वेष-भूषा और आचार-विचार से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस पर भगवान् महावीर के आचार का पूर्ण प्रभाव था। “मज्झिम निकाय” में आजीवकों के आचार का निम्नांकित परिचय मिलता है :—

“वे भिक्षा के लिये अपने आने अथवा राह देखने सम्बन्धी किसी की बात नहीं सुनते, अपने लिये बनवाया आहार नहीं लेते, जिस बर्तन में आहार पकाया गया हो, उसमें से उसे नहीं लेते, देहली के बीच रखा हुआ, ओखली में कूटा हुआ और चूल्हे पर पकता हुआ भोजन ग्रहण नहीं करते। एक साथ भोजन करने वाले युगल से तथा सगर्भा और दुधमुँहे बच्चे वाली स्त्री से आहार नहीं लेते। जहाँ आहार कम हो, जहाँ कुत्ता खड़ा हो और जहाँ मक्खियाँ भिन-भिनाती हों, वहाँ से आहार नहीं लेते। मत्स्य, मांस, मदिरा, मरेय और खट्टी कांजी को वे स्वीकार नहीं करते....। कोई दिन में एक बार, कोई दो-दो दिन

१ भगवती श०, श० १५। सू० ६२६, पत्र ५८८ (१)।

बाद एक बार, कोई सात-सात दिन बाद एक बार और कोई पन्द्रह-पन्द्रह दिन बाद एक बार आहार करते हैं। इस प्रकार नाना प्रकार के वे उपवास करते हैं।<sup>१</sup>

इस प्रकार का आचार निग्रन्थ परम्परा के अतिरिक्त नहीं पाया जाता। इस उल्लेख से गोशालक पर महावीर के आचार का स्पष्ट प्रभाव कहे बिना नहीं रहा जा सकता।

### निग्रन्थों के भेद

आजीवक और निग्रन्थों के आचार की आंशिक समानता देखकर कुछ विद्वान् सोचते हैं कि इन दोनों के आचार एक हैं, परन्तु वास्तव में दोनों परम्पराओं के आचार में मौलिक अन्तर भी है। “मज्झिम निकाय” में जो भिक्षा के नियम बतलाये हैं, संभव है, वे सभी आजीवकों द्वारा नहीं पाले जा कर कुछ विशिष्ट आजीवक भिक्षुओं द्वारा ही पाले जाते हों। मूल में निग्रन्थ और आजीवकों के आचार में पहला भेद सच्चित्त-असच्चित्त सम्बन्धी है। जहाँ निग्रन्थ परम्परा में सच्चित्त का स्पर्श तक भी निषिद्ध माना जाता है, वहाँ आजीवक परम्परा में सच्चित्त फल, बीज और शीतल जल ग्राह्य बताया गया है। अतः कहा जा सकता है कि जिस प्रकार उनमें उग्र तप करने वाले थे, वैसे शिथिलता का प्रवेश भी चरम सीमा पर पहुँच चुका था।

आर्द्रक कुमार के प्रकरण में आजीवक भिक्षुओं के अब्रह्म सेवन का भी उल्लेख है। इसे केवल आक्षेप कहना भूल होगा, क्योंकि जैनागम के अतिरिक्त बौद्ध शास्त्र से भी आजीवकों के अब्रह्म-सेवन की पुष्टि होती है।<sup>१</sup> वहाँ पर निग्रन्थ ब्रह्मचर्यवास में और आजीवक अब्रह्मचर्यवास में गिनाये गये हैं।<sup>२</sup>

गोशालक ने बुद्ध, मुक्त और न बुद्ध न मुक्त ऐसी तीन अवस्थाएँ बतलायी हैं। वे स्वयं को मुक्त-कर्मलेप से परे मानते थे। उनका कहना था कि मुक्त पुरुष स्त्री-सहवास करे तो उसे भय नहीं।<sup>३</sup> इन लेखों से स्पष्ट होता है कि आजीवकों में अब्रह्म-सेवन को दोष नहीं माना जाता था।

### आजीवक का सिद्धान्त

आजीवक परम्परा के धार्मिक सिद्धान्तों के विषय में कुछ जानकारी जैन

१ (क) मज्झिम निकाय, भाग १, पृ० ५१४।

(ख) एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, डॉर हार्नेले, पृ० २६१।

२ मज्झिमम निकाय, संदक सुत्त, पृ० २३६।

३ (क) महावीर कथा, गोपालदास पटेल, पृ० १७७।

(ख) श्रीचन्द रामपुरिया, तीर्थंकर वर्द्धमान, पृ० ८३।

और बौद्ध सूत्रों से प्राप्त होती है। गोशालक ने अपने धार्मिक सिद्धान्त के विषय में भगवान् महावीर के समक्ष जो विचार प्रकट किये, उनका विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त आजीवकों के नियतिवाद का भी विभिन्न सूत्रों में उल्लेख मिलता है। उपासक दशांग सूत्र के छठे और सातवें अध्यायन में नियतिवाद की चर्चा है। वहाँ कहा गया है कि गोशालक मंखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति इसलिये सुन्दर है कि उसमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम आदि आवश्यक नहीं, क्योंकि उसके मत में सब भाव नियत हैं और महावीर के मत में सब भाव अनियत होने से उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम की आवश्यकता मानी गई है। बौद्ध सूत्र दीर्घ निकाय में भी इससे मिलता जुलता सिद्धान्त बतलाया गया है, यथा— प्राणियों की भ्रष्टता के लिये निकट अथवा दूर का कोई कारण नहीं है। वे बिना निमित्त या कारण के ही पवित्र होते हैं। कोई भी अपने या पर के प्रयत्नों पर आधार नहीं रखता। यहाँ कुछ भी पुरुष-प्रयास पर अवलम्बित नहीं है, क्योंकि इस मान्यता में शक्ति, पौरुष अथवा मनुष्य-बल जैसी कोई वस्तु नहीं है।” प्रत्येक सविचार उच्चतर प्राणी, प्रत्येक सैन्द्रिय-वस्तु, अधमतर प्राणी, प्रत्येक प्रजनित वस्तु (प्राणिमात्र) और प्रत्येक सजीव वस्तु—सर्व वनस्पति बलहीन, प्रभावहीन एवं शक्तिहीन है। इनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ विधिवश या स्वभाववश होती हैं और षड्वर्गों में से एक अथवा दूसरे की स्थिति के अनुसार मनुष्य सुख दुःख के भोक्ता बनते हैं।

### दिगम्बर परम्परा में गोशालक

श्वेताम्बर परम्परा में गोशालक को भगवान् महावीर का शिष्य बताया गया है, किन्तु दिगम्बर परम्परा में गोशालक का परिचय अन्य प्रकार से मिलता है। यहाँ पार्श्वनाथ परम्परा के मुनि रूप में गोशालक का चित्रण किया गया है। कहा जाता है कि मस्करी गोशालक और पूर्ण काश्यप (ऋषि) महावीर के प्रथम समवशरण में उपस्थित हुए, किन्तु महावीर की देशना नहीं होने से गोशालक रूष्ट होकर चला गया। कोई कहते हैं कि वह गणधर होना चाहता था, किन्तु उसे गणधर पद पर नियुक्त नहीं करने से वह पृथक् हो गया। पृथक् हो कर वह सावत्थी में आजीवक सम्प्रदाय का नेता बना और अपने को तीर्थकर कहने लगा। उसने कहा—“ज्ञान से मुक्ति नहीं होती, अज्ञान ही श्रेष्ठ है, उसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है। देव या ईश्वर कोई नहीं है। अतः स्वेच्छापूर्वक

शून्य का ध्यान करना चाहिये ।”<sup>१</sup>

### आजीवक और पासत्थ

आजीवक संप्रदाय का मूल स्रोत श्रमण परम्परा में निहित है ।<sup>२</sup> आजीवकों और श्रमणों में मुख्य अन्तर इस बात का है कि वे आजीविकोपार्जन करने के लिये अपनी विद्या का प्रयोग करते हैं, जब कि जैन श्रमण इसका सर्वथा निषेध करते हैं ।<sup>३</sup> आजीवक मूलतः पार्श्वनाथ परम्परा से सम्बन्धित माने गये हैं । सूत्र कृतांग में नियतिवादी को “पासत्थ” कहा गया है ।<sup>४</sup> इस पर भी कुछ विद्वान् आजीवक को पार्श्वनाथ की परम्परा में मानने का विचार करते हैं । “पासत्थ” का संस्कृत रूप पार्श्वस्थ होता है, पर उसका अर्थ पार्श्वनाथ की परम्परा करना संगत प्रतीत नहीं होता । भगवान् महावीर द्वारा तीर्थस्थापन कर लेने पर शिथिलतावश जो उनके तीर्थ में नहीं आये, उनके लिये चारित्रिक शिथिलता के कारण पार्श्वस्थ शब्द का प्रयोग हो सकता है । संभव है, महावीर के समय में कुछ साधुओं ने पार्श्वनाथ की परम्परा का अतिक्रमण कर स्वच्छन्द विहार करना स्वीकार किया हो ।

पर पार्श्व शब्द केवल पार्श्व-परम्परा के साधुओं के लिये ही नहीं, किन्तु जो भी स्नेह-बन्धन में बद्ध हो या ज्ञानादि के बाजू (पार्श्व-सान्निध्य) में रहता हो, वह चाहे महावीर परम्परा का हो या पार्श्वनाथ परम्परा का हो, उसे “पासत्थ” कह सकते हैं । टीकाकार ने इसका अर्थ “सदनुष्ठानाद् पार्श्वं तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था”<sup>५</sup> अर्च्छे अनुष्ठान के बाजू-पार्श्व में रहने वाले । अथवा “साधुः गुणानां पार्श्वं तिष्ठति” किया है ।

१ मयसरि-पूरणारिसिरो उप्पणो पासणाहत्तिरम्मि ।  
सिरिवीर समवसरणे, अगहिय भुरिणा नियत्तेण ॥  
बहिसिग्गएण उत्तं मज्झं. एयार सांगघारिस्स ।  
णिग्गइ भुरिणा अरुहो, णिग्गय विस्सास सीसस्स ॥  
एण मुणइ जिणकहिय सुयं, संपइ दिक्खाय गहिय गोयमओ ।  
विप्पो वेयभ्रासी तम्हा, मोक्खं एण एणाम्मो ॥  
अण्णाराणाम्मो मोक्ख, एवं लोयाण पयइमाणो हु ।  
देवो अ एत्थि कोई, मुण्णं भाएह इच्छाए ॥

[भावसंग्रह, गाथा १७६ से १७८]

२ हिस्ट्री एण्ड डॉक्टराइन्स आफ आजीवकाज. पृ० ६८ ।

३ उत्तराध्ययन सूत्र, ८।१३, १५।७ ।

४ सूत्र कृतांग, १।१।२ गा० ४ व ५ ।

५ सूत्र कृतांग १ श्रु० ३ अ० ४ ३०

“पासत्थ” साधुओं की दो श्रेणियाँ की गई हैं—सर्वतः पार्श्वस्थ और देशतः पार्श्वस्थ, भगवान् महावीर के तीर्थ प्रवर्तन के पश्चात् भी जो ज्ञानादि रत्नत्रयी से विमुख हो कर मिथ्या दृष्टि का प्रचार करने में लगे रहे, उनको सर्वतः पासत्थ कहा गया है<sup>१</sup> और जो शय्यातर पिंड, अभिहृत पिंड, राजपिंड, नित्यपिंड, अग्रपिंड आदि आहार का उपयोग करते हों वे देशतः पासत्थ कहलाये।<sup>२</sup>

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार ‘पासत्थ’ का अर्थ पार्श्व-परम्परा के साधु ही करना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि “पासत्थ” को शास्त्रों में अवन्दीय कहा है। जैसा कि—“जै भिवखू पासत्थं पसंसति, पसंतं वा साइज्जइ” के अनुसार उनके लिये वन्दन-प्रशंसन भी वर्जित किया गया है, किन्तु पार्श्वनाथ की परम्परा का साधु वन्दीय रहा है। भगवती सूत्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों ने आनन्द आदि पार्श्व परम्परा के स्थविरों का वन्दन-सत्कार आदि भक्तिपूर्वक किया है।<sup>३</sup> वे गांगेय मुनि आदि की तरह भ० महावीर की परम्परा में प्रव्रजित भी नहीं हुए थे। यदि पार्श्वनाथ के सन्तानीय श्रमण आजीवक की तरह “पासत्थ” होते तो जैसे सहाल-पुत्र श्रावक ने गोशालक के वन्दन-नमन का परिहार किया, उसी तरह पार्श्वनाथ के साधु तुंगिका के श्रावकों द्वारा अवन्दीय माने जाते, पर ऐसा नहीं है। अतः “पासत्थ” का अर्थ पार्श्वस्थ (पार्श्व परम्परा के साधु) करना ठीक नहीं। आजीवक को पासत्थ इसलिये कहा है कि वे ज्ञानादि-त्रय को पार्श्व में रखे रहते हैं। इसलिये पासत्था कहे जाने से आजीवक गोशालक को पार्श्व-परम्परा में मानना ठीक नहीं जँचता।

जैनागमों से प्राप्त सामग्री के अनुसार गोशालक को महावीर की परम्परा से सम्बन्धित मानना ही अधिक युक्तियुक्त एवं उचित प्रतीत होता है।

१ दुविहो खलु पासत्थो, देसे सब्बे य होई नायब्बो ।

सब्बे तिसि विकप्पा, देसे सेज्जायर कुलादी ॥२२६॥

दंसण एण्णचरित्ते, सत्थो अत्थति त्तिहं न उज्जमति ।

एएणं पासत्थो एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥२२८॥

पासो त्ति बंधरां ति य, एगट्ठं बंधहेयओ पासो ।

पासत्थिओ पासत्थो, आण्णो वि य एस पज्जाओ ॥२२९॥

[अभिधान राजेन्द्र, पृ० ६११ (ब्य० भा०)]

२ सेज्जायर कुलानिसिय, ठवरकल पलोयणा अभिहडेय ।

पुब्बि पच्छा संथव, निइमागपिड, भोइ पासत्थो ॥२३०॥अभि रा० ६११ ।

३ तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासंति । भग० सू०, सूत्र १०६ ॥



## महावीरकालीन धर्म परम्पराएँ

भगवान् महावीर के समय में इस देश में किन धर्म-परम्पराओं का किस रूप में अस्तित्व था, इसको जानने के लिये जैन साहित्य और आगम पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करते हैं। मूल में धर्म-परम्परा चार भागों में बाँटी गई थी— (१) क्रियावादी, (२) अक्रियावादी, (३) अज्ञानवादी और (४) विनयवादी।<sup>१</sup> स्थानांग और भगवती में इन्हीं को चार समोसरण के नाम से बताया गया है। इनकी शाखा-प्रशाखाओं के भेदों-प्रभेदों का शास्त्रों में विशद वर्णन उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है :

क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयवादी के ३२। इस तरह कुल मिलाकर पाण्डी-व्रतियों के ३६३ भेद होते हैं।<sup>२</sup>

### १. क्रियावादी

क्रियावादी आत्मा के साथ क्रिया का समवाय सम्बन्ध मानते हैं। इनका मत है कि कर्त्ता के बिना पुण्य-पाप आदि क्रियायें नहीं होतीं। वे जीव आदि नव पदार्थों को एकान्त अस्ति रूप से मानते हैं। क्रियावाद के १८० भेद इस प्रकार हैं :—(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आस्रव, (६) बंध, (७) संवर, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष—ये नव पदार्थ हैं। इनमें से प्रत्येक के स्वतः, परतः और नित्य, अनित्य, काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव रूप भेद करने से १८० भेद होते हैं।

### २. अक्रियावादी

इनकी मान्यता है कि क्रिया-पुण्यादि रूप नहीं है, क्योंकि क्रिया स्थिर पदार्थ को लगती है और उत्पन्न होते ही विनाश होने से संसार में कोई भी स्थिर पदार्थ नहीं है। ये आत्मा को भी नहीं मानते। इनके ८४ प्रकार हैं :

[१] जीव, [२] अजीव, [३] आस्रव, [४] संवर, [५] निर्जरा, [६] बंध और [७] मोक्ष रूप सप्त पदार्थ, स्व और पर एवं उनके [१] काल, [२] ईश्वर, [३] आत्मा, [४] नियति, [५] स्वभाव और [६] यदृच्छा-इन

१ [क] सूत्र कृता०, गा० ३०, ३१, ३२।

[ख] स्या० ४।४।३४५ सू०।

[ग] भग०, ३० श०, १ उ०, सू० ८२४।

२ समवायांग, सू० १३७।

छः भेदों से गुरान करने पर चौरासी [८४] होते हैं। आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करने से इनके मत में नित्य-अनित्य भेद नहीं माने जाते।<sup>१</sup>

### ३. अज्ञानवादी

इनके मत से ज्ञान में भ्रगड़ा होता है, क्योंकि पूर्ण ज्ञान तो किसी को होता नहीं और अधूरे ज्ञान से भिन्न-भिन्न मतों की उत्पत्ति होती है। अतः ज्ञानोपार्जन व्यर्थ है। अज्ञान से ही जगत् का कल्याण है।

इनके ६७ भेद बताये गये हैं। जीवादि ६ पदार्थों के [१] सत्व, [२] असत्व, [३] सदसत्व, [४] अवाच्यत्व, [५] सदवाच्यत्व, [६] असदवाच्यत्व और [७] सदसदवाच्यत्व रूप सात भेद करने से ६३ तथा उत्पत्ति के सत्त्वादि चार विकल्प जोड़ने से कुल ६७ भेद होते हैं।<sup>२</sup>

### ४. विनयवादी

विनयपूर्वक चलने वाला विनयवादी कहलाता है। इनके लिंग और शास्त्र पृथक् नहीं होते। ये केवल मोक्ष को मानते हैं। इनके ३२ भेद हैं—[१] सुर [२] राजा [३] यति [४] ज्ञाति [५] स्थविर [६] अधम [७] माता और [८] पिता। इन सब के प्रति मन, वचन, काया से देश-कालानुसार उचित

१ इह जीवाइपयाई पुन्नं पावं विणा उविज्जंति ।

तेसिमहोभायम्मि ठविज्जए सपरसद् दुगं ॥६४

१ २

तस्सवि अहो लिहिज्जई काल जहिच्छा य पयदुगसमेयं

१ २ ३ ४

नियइ स्सहाव ईसर अण्णत्ति इमं पय चउक्कं ॥६५॥

[प्रवचन सारोद्धार उत्तरार्द्ध सटीक, पत्र ३४४-२]

२ संत १ मसंत २ संतासंत ३ भवसत्त्व ४ सयभवसत्त्व ५

असय भवसत्त्व ६ सयवसत्त्व ७ च सत्तपया ॥६६

जीवाइ नवपयाणं अहोकेमेणं इमाइ ठविज्जणं ।

अइ कीरइ अहिलावो तह साहिज्जइ निसामेह ॥१००

संतो जीवो को जाणइ अहवा कि व तेण नाएणं ।

सेसपएहिंवि भंगा इय जाया सत्त जीवस्स ।

एवमजीवाइएणवि पत्तेयं सत्त मिलिय ते सट्ठी ।

तह अन्नेणवि हु भंगा चत्तारि इमे उ इह हुति ।

संती भादुप्पसी को जाणइ कि च तीए नायाए ।

[वही]

दान देकर विनय करे ।<sup>१</sup> इस प्रकार ८ को चार से गुणा करने पर ३२ होते हैं । आचारांग में भी चार वादों का उल्लेख है, यथा—“आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी ।”<sup>२</sup> इसके अतिरिक्त सभाष्य निशीथ चूणि में उस समय के निम्नलिखित दर्शन और दार्शनिकों का भी उल्लेख है :—

[१] आजीवक [२] ईसरमत [३] उलूग [४] कपिलमत [५] कबिल [६] कावाल [७] कावालिय [८] चरग [९] तच्चन्निय [१०] परिव्वायग [११] पंडरंग [१२] बोड़ित [१३] भिच्छुग [१४] भिक्खू [१५] रत्तपड़ [१६] वेद [१७] सकक [१८] सरक्ख [१९] सुतिवादी [२०] सेयवड़ [२१] सेय भिक्खू [२२] शाक्यमत [२३] हदुसरक्ख ।<sup>३</sup>

### बिम्बसार-श्रेणिक

महाराज श्रेणिक अपर नाम बिम्बसार अथवा भम्भासार इतिहास-प्रसिद्ध शिशुनाग वंश के एक महान् यशस्वी और प्रतापी राजा थे । वाहीक प्रदेश के मूल निवासी होने के कारण इनको वाहीक कुल का कहा गया है ।

मगधाधिपति महाराज श्रेणिक भगवान् महावीर के भक्त राजाओं में एक प्रमुख महाराजा थे । इनके पिता महाराज प्रसेनजित पार्श्वनाथ परम्परा के उपासक सम्यग्दर्शित श्रावक थे ।<sup>४</sup> उन दिनों मगध की राजधानी राजगृह नगर में थी और मगध राज्य की गणना भारत के शक्तिशाली राज्यों में की जाती थी । श्रेणिक-बिम्बसार जन्म से जैन धर्मावलम्बी होकर भी अपने निर्वासन काल में जैनधर्म के सम्पर्क से हट गये हों ऐसा जैन साहित्य के कुछ कथा-ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त होता है । इसका प्रमाण है । महारानी चेलना से महाराज श्रेणिक का धार्मिक संघर्ष । यदि महाराज श्रेणिक सिंहासनाारूढ़ होने के समय स ही जैन धर्म के उपासक होते तो महारानी चेलना के साथ उनका धार्मिक संघर्ष नहीं होता ।

अनाथी मुनि के साथ हुए महाराज श्रेणिक के प्रश्नोत्तर एवं उनके द्वारा अनाथी मुनि को दिये गये भोग-निमन्त्रण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे उस समय

१ सुर १ निवइ २ जइ ३ नाई ४ थविराड ५ बम ६ साई ७ पहसु ८ एएसि मण १ वयण

२ काय ३ दाशोहि ४ चउन्विहो कीरण विणओ । ५७।

अटठवि चउक्कगुणिया, बत्तीसा हवंति देणइय भेया ।

सव्वेहि पिडिएहि, तिन्नि सया हुंति ते सट्ठा ॥

[प्रब० सारो० सटीक, उत्तरार्ध, पत्र ३४४ (२)]

२ आचा० सटीक, श्रु० १, अ० १, उ० १, पत्र २० ।

३.....निशथी सूत्र० चू० भा० १, पृ० १५ ।

४ श्रीमत्पार्श्वजिनाधीशशासनांभोजपट्टपदः ।

सम्यग्दर्शन पुण्यत्मा, सोऽणुव्रतधरोऽभवत् ॥

[त्रिष, १० प, ६ स० श्लोक ८]

तक जैन धर्मानुयायी नहीं थे अन्यथा मुनि को भोग के लिये निर्मन्त्रित नहीं करते । अनाथी मुनि के त्याग, विराग एवं उपदेश से प्रभावित होकर श्रेणिक निर्मल चित्त से जैन धर्म में अनुरक्त हुए ।<sup>१</sup> यहीं से श्रेणिक को जैन धर्म का बोध मिला, यह कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा । जैनागम-दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर जब राजगृह पधारे तब कौटुम्बिक पुरुषों ने आकर श्रेणिक को भगवान् के शुभागमन का शुभ-संवाद सुनाया । महाराज श्रेणिक इस संवाद को सुनकर बड़े संतुष्ट एवं प्रसन्न हुए और सिंहासन से उठकर जिस दिशा में प्रभु विराजमान थे उस दिशा में सात-आठ पैर (पद) सामने जाकर उन्होंने प्रभु को वन्दन किया । तदनन्तर वे महारानी चेलना के साथ भगवान् महावीर को वन्दन करने गये और भगवान् के उपदेशामृत का पान कर बड़े प्रमुदित हुए । उस समय महाराज श्रेणिक एवं महारानी चेलना के अलौकिक सौंदर्य को देखकर कई साधु-साध्वियों ने निधाणा (निदान) कर लिया । महावीर प्रभु ने साधु-साध्वियों के निदान को जाना और उन्हें निदान के कुफल से परिचित कर पतन से बचा लिया ।

श्रेणिक और चेलना को देखकर त्यागी वर्ग का चकित होना इस बात को सूचित करता है कि वे साधु-साध्वियों के साक्षात्कार में पहले-पहल उसी समय आये हों ।

### श्रेणिक की धर्मनिष्ठा

महाराज श्रेणिक की निर्ग्रन्थ धर्म पर बड़ी निष्ठा थी । मेघकुमार की दीक्षा के प्रसंग में उन्होंने कहा कि निर्ग्रन्थ धर्म सत्य है, श्रेष्ठ है, परिपूर्ण है, मुक्तिमार्ग है, तर्कसिद्ध और उपमा-रहित है ।<sup>२</sup> भगवान् महावीर के चरणों में महाराज श्रेणिक की ऐसी प्रगाढ़ भक्ति थी कि उन्होंने एक बार अपने परिवार, सामन्तों और मन्त्रियों के बीच यह घोषणा की—“कोई भी पारिवारिक व्यक्ति भगवान् महावीर के पास यदि दीक्षा ग्रहण करना चाहे तो मैं उसे नहीं रोकूंगा ।”<sup>३</sup> इस घोषणा से प्रेरित हो श्रेणिक के जालि, मयालि आदि २३ (तेईस) पुत्र दीक्षित हुए<sup>४</sup> और नन्दा आदि तेईस रानियां भी साध्वियां बनीं ।<sup>५</sup> केवलज्ञान के प्रथम वर्ष में भगवान् महावीर जब राजगृह पधारे तो उस

१ धम्मणुरत्तो विमलेण च्छेयसा ॥ उत्तराध्ययन २०

२ ज्ञाताधर्मं कथा १।१

३ गुणधन्द्र कृत महावीर चरियं, पृ. ३३४

४ धनुस्तरोववाह्य, १।१-१० अ । २-१-१३ ।

५ अंतगड दसा, ७ व., ८ व.

समय श्रेणिक ने सम्यक्त्व-धर्म तथा अभयकुमार आदि ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया।<sup>१</sup> मेघकुमार और नन्दिसेन की दीक्षा भी इसी वर्ष होती है।<sup>२</sup>

श्रेणिक के परिवार में त्याग-वैराग्य के प्रति अभिरुचि की अभिवृद्धि उनके देहावसान के पश्चात् भी चलती रही। भगवान् महावीर जब चम्पा नगरी पधारे तो श्रेणिक से पद्म, महापद्म, भद्र, सुभद्र, पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनीगुल्म आनन्द और नन्दन नामक १० पौत्रों ने भी श्रमण-दीक्षा ग्रहण की और अन्त समय में संलेखना के साथ काल कर क्रमशः सौधर्म आदि देवलोकों में वे देवरूप से उत्पन्न हुए। इस प्रकार महाराज श्रेणिक की तीसरी पीढ़ी तक श्रमण धर्म की आराधना होती रही। नेमिनाथ के शासनकाल में कृष्ण की तरह भगवान् महावीर के शासन में श्रेणिक की शासन-सेवा व भक्ति उत्कृष्ट कोटि की मानी जाकर वीर-शासन के मूर्धन्य सेवकों में उनकी गणना की जाती है।

महाराज श्रेणिक ने अपने शासनकाल में ही उस समय का सर्वश्रेष्ठ सेचनक हाथी और देवता द्वारा प्रदत्त अमूल्य हार चेलना के कृणिक से छोटे दो पुत्रों हल्ल और विहल्लकुमार को दिये थे, जिनका मूल्य पूरे मगध राज्य के बराबर आँका जाता था। वीर निर्वाण से १७ वर्ष पूर्व कृणिक ने अपने काल, महाकाल आदि दश भाइयों को अपनी ओर मिलाकर महाराज श्रेणिक को कारागृह में बन्द कर दिया और स्वयं मगध के सिंहासन पर आसीन हो गया। कृणिक ने अपने पिता श्रेणिक को विविध प्रकार की यातनाएं दीं।

एक दिन कृणिक की माता चेलना ने जब उसे श्रेणिक द्वारा उसके प्रति किये गये महान् उपकार और अनुपम प्यार की घटना सुनाई तो उसको अपने दुष्कृत्य पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। कृणिक के हृदय में पिता के प्रति प्रेम उमड़ पड़ा और वह एक कुल्हाड़ी ले पिता के बन्धन काटने के लिये बड़ी तेजी से कारागार की ओर बढ़ा।

श्रेणिक ने समझा कि कृणिक उन्हें मार डालने के लिये कुल्हाड़ी लेकर आ रहा है। अपने पुत्र को पितृहत्या के घोर पापपूर्ण कलंक से बचाने के लिये महाराज श्रेणिक ने अपनी अंगूठी में रखा कालकूट विष निगल लिया। कृणिक के वहाँ पहुँचने से पहले ही आशुविष के प्रभाव से श्रेणिक का प्राणान्त हो गया और पूर्वोपाजित निकाचित कर्मबन्ध के कारण वे प्रथम नरक में उत्पन्न हुए।

१ (क) श्रुत्वा तां देशानां भर्तुः, सम्यक्त्वं श्रेणिकोऽभ्रयत्।

श्रावकधर्मत्वभयकुमाराद्याः प्रपेदिरे ॥

[त्रिष. श., १० प., ६ स०, ३१६ श्लोक]

(ख) एमाई धम्मकहं, सोउं सेणिय निवाइया भव्वा।

समत्तं पडिवन्ना, केइ पुणं वेस विरयाइ ॥

[नेमिचन्द्रकृत महावीर चरियम् गा. १२६४]

२ तीर्थंकर महावीर दूसरा भाग।

जैनतर विद्वानों ने भी श्रेणिक का जैन होना स्वीकार किया है। डॉ० बी.ए. स्मिथ ने लिखा है—“वह अपने आप में जैन धर्मावलम्बी प्रतीत होता है। जैन परम्परा उसे संप्रति के समान जैन धर्म का प्रभावक मानती है।

श्रेणिक ने महावीर के धर्मशासन की बड़ी प्रभावना की थी। भ्रष्टी होकर भी उन्होंने शासन-सेवा के फलस्वरूप तीर्थंकर-गोत्र-उपाजित किया। प्रथम नारक भूमि से निकलकर वह पद्मनाभ नाम के भगली चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर रूप से उत्पन्न होंगे। वहाँ भगवान् महावीर की तरह वे भी पंच-महाव्रत रूप संप्रति-क्रमण धर्म की देशना करेंगे।

भगवान् महावीर के शासन में श्रेणिक और उसके परिवार का धर्म-प्रभावना में जितना योग रहा उतना किसी अन्य राजा का नहीं रहा।

### राजा चेटक

श्रेणिक की तरह राजा चेटक भी जैन परम्परा में दृढधर्मी उपासक माने गये हैं, वह भगवान् महावीर के परम भक्त थे। आवश्यक चूर्णि में इनको व्रतधारी<sup>१</sup> श्रावक बताया (माना) गया है। महाराजा चेटक की सात कन्याएँ थीं, वे उस समय के प्रख्यात राजाओं को ब्याही गई थीं। इनकी पुत्री प्रभावती वीतभय के राजा उदायन को, प्रभावती भंग देश के राजा दधिवाहन को, मृगावती वत्सदेश के राजा शतानीक को, शिवा उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत को, सुज्येष्ठा भगवान् महावीर के भाई नन्दिवर्धन को और चेलना मगधराज बिम्बसार को ब्याही गई थीं। इनमें से सुज्येष्ठा ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

चेटक वैशाली के गणतंत्र के अध्यक्ष थे। वैशाली गणतन्त्र क ७७०७ सदस्य थे<sup>२</sup> जो राजा कहलाते थे। भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ भी इनमें से एक थे।<sup>३</sup> डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन के अनुसार चेटक के दस पुत्र थे, जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र सिंह अथवा सिंहभद्र वज्जिगण का प्रसिद्ध सेनापति था।<sup>४</sup>

महाराज चेटक हैहयवंशी राजा थे। भगवान् महावीर के परम भक्त श्रावक होने के साथ-साथ अपने समय के महान् योद्धा, कुशल शासक और न्याय के कट्टर पक्षपाती थे। उन्होंने अपने राज्य, कुटुम्ब और प्राणों पर संकट भा पड़ने पर भी अन्तिम दम तक अन्याय के समक्ष सिर नहीं झुकाया। अपनी शरण में आये हुए हल्ल एवं विहल्ल कुम्भार की उन्होंने न केवल रक्षा ही की अपितु

१ सो चेटको सावजो ।आ० चू, पृ० २४५ ।

२ जातक अट्टकथा ।

३ तीर्थंकर महावीर भाग १ ।

४ भारतीय इतिहास—एक दृष्टि—पृ० ५६ ।

उनके न्यायपूर्ण पक्ष का बड़ी निर्भीकता के साथ समर्थन किया। अपनी शरणागतवत्सलता और न्यायप्रियता के कारण महाराज चेटक को चम्पाधिपति कूणिक के आक्रमण का विरोध करने के लिए बड़ा भयंकर युद्ध करना पड़ा और अन्त में वैशाली पतन से निर्वेद प्राप्त कर उन्होंने अनशन कर समाधिपूर्वक काल कर देवत्व प्राप्त किया।

कूणिक के साथ चेटक के युद्ध का और वैशाली के पतन आदि का विवरण आगे कूणिक के प्रसंग में दिया जा रहा है।

यहां पर अब कुछ ऐतिहासिक तथ्य समक्ष आ रहे हैं जिनसे इतिहास-प्रसिद्ध कलिंग नरेश चण्डराय, क्षेमराज (जिनके साथ भीषण युद्ध कर अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त की) और महामेघवाहन-खारवेल आदि का महाराज चेटक के वंशधर होने का आभास मिलता है। इन तथ्यों पर इस पुस्तक के दूसरे भाग में यथासंभव विस्तृत विवेचन किया जायगा। आशा की जाती है कि उन तथ्यों से भारत के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा और एक लम्बी अवधि का भारत का धूमिल इतिहास सुस्पष्ट हो जायगा।

### अजातशत्रु कूणिक

भगवान् महावीर के भक्त राजाओं में कूणिक का भी प्रसुख स्थान है। महाराज श्रेणिक इनके पिता और महारानी चेलना माता थीं। माता ने सिंह का स्वप्न देखा। गर्भकाल में उसकी दोहद उत्पन्न हुआ कि श्रेणिक राजा के कलेजे का मांस खाऊं। बौद्ध परम्परानुसार बाहु का रक्तपान करना माना गया है। राजा ने अभयकुमार के बुद्धि कौशल से दोहद की पूर्ति की। गर्भकाल में बालक की ऐसी दुर्भावना देखकर माता को दुःख हुआ। उसने गर्भस्थ बालक को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया पर बालक का कुछ नहीं बिगड़ा। जन्म के पश्चात् चेलना ने उसको कचरे की ढेरी पर डलवा दिया। एक भुर्गे ने वहां उसकी कनिष्ठा अंगुली काटली जिसके कारण अंगुली में मवाद पड़ गई। अंगुली की पीड़ा से बालक क्रंदन करने लगा। उसकी चीत्कार सुनकर श्रेणिक ने पता लगाया और पुत्र-मोह से व्याकुल हो उसे उठाकर फिर महल में लाया गया। बालक की वेदना से खिन्न हो श्रेणिक ने चूस-चूसकर अंगुली का मवाद निकाला और उसे स्वस्थ किया। अंगुली के घाव के कारण उसका नाम कूणिक रक्खा गया।

कूणिक के जन्मान्तर का बैर अभी उपशान्त नहीं हुआ था, अतः बड़े होकर कूणिक के मन में राज्य करने की इच्छा हुई। उसने अन्य दश भाइयों को साथ लेकर अपना राज्याभिषेक कराया और महाराज श्रेणिक को कारावास में डलवा दिया।

एक दिन कूणिक माता के चरण-वन्दन को गया तो माता ने उसका चरण-

वन्दन स्वीकार नहीं किया। कृणिक ने कारण पूछा तो बोली—“जो अपने उपकारी पिता को कारावास में बंद कर स्वयं राज्य करे ऐसे पुत्र का मुंह देखना भी पाप है।” उपकार की बात सुनकर कृणिक का पितृ-प्रेम जागृत हुआ और वह तत्काल हाथ में परशु लेकर पिता के बन्धन काटने कारागृह की ओर बढ़ा। श्रेणिक ने परशु हाथ में लिये कृणिक को आते देखकर अनिष्ट की आशंका से सोचा—“यह मुझे मारे इसकी अपेक्षा मैं स्वयं अपना प्राणान्त कर लूँ तो यह मेरा पुत्र पितृहत्या के कलंक से बच जायगा।” यह सोचकर श्रेणिक ने तालपुट विष खाकर तत्काल प्राण त्याग दिये।

श्रेणिक की मृत्यु के बाद कृणिक को बड़ा अनुताप हुआ। वह मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़ा। क्षणभर बाद सचेत हुआ और आर्त स्वर में रुदन करने लगा—“अहो! मैं कितना अभागा एवं अधन्य हूँ कि मेरे निमित्त से देवतुल्य पिता श्रेणिक कालगत हुए। शोकाकुल हो कृणिक ने राजगृह छोड़कर चम्पा में मगध की राजधानी बसायी और वहीं रहने लगा।

कृणिक की रानियों में पद्मावती,<sup>१</sup> धारिणी,<sup>२</sup> और सुभद्रा<sup>३</sup> प्रमुख थी। आवश्यक चूर्ण में आठ राजकन्याओं से विवाह करने का भी उल्लेख है।<sup>४</sup> पर उनके नाम उपलब्ध नहीं होते। महारानी पद्मावती का पुत्र उदाई था<sup>५</sup> जो कृणिक के बाद मगध के राज-सिंहासन पर बैठा। इसी ने चम्पा से अपनी राजधानी हटाकर पाटलिपुत्र में स्थापित की।<sup>६</sup>

चेलना के संग और संस्कारों ने कृणिक के मन में भगवान् महावीर के प्रति अटूट भक्ति भरदी थी।

आवश्यक चूर्ण, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र आदि जैन ग्रन्थों में महाराज कृणिक का एक दूसरा नाम अशोकचन्द्र भी उपलब्ध होता है। भगवान् महावीर के प्रति उसके हृदय में कितनी प्रगाढ़ भक्ति और अनुपम श्रद्धा थी, इसका अनुमान औपपातिक सूत्र के अधोलिखित पाठ से सहज ही में लगाया जा सकता है :—

तस्स रां कोणियस्स रण्णो एक्के पुरिसे विउलकय-वित्ति ए भगवधो पवित्तिवाउए भगवधो तद्देवसिधं पवित्ति गिधेएइ, तस्स रां पुरिसस्स बहवे ण्णो

१ तस्सरां कुणियस्स रण्णो पउमावई नाम वेवी होत्था।

[निरयावली, सूत्र ८]

२ उववाई सूत्र ७।

३ उववाई सूत्र २३।

४ कुणियस्स अट्टुहि रायवर कन्नाहि समं विवाहो कतो। [भाष० चूर्ण उक्त० पत्र ११७]

५ आवश्यक चूर्ण, पत्र १७१।

६ आवश्यक चूर्ण, पत्र १७७।



पुरिसा दिष्णभत्तिभत्तवेअणा भगवओ पवित्तिवाउआ भगवओ तद्देवसियं पवित्ति  
ग्गिधेदेति ।”

[श्रीपपातिक सूत्र, सूत्र ८]

सूत्र के इस पाठ से स्पष्ट है कि कूणिक ने भगवान् महावीर की दैनिक  
विहारचर्या आदि की सूचनाएं प्रतिदिन प्राप्त करते रहने की दृष्टि से एक कुशल  
अधिकारी के अधीन अलग स्वतंत्र रूप से एक विभाग ही खोल रखा था और  
इस पर वह पर्याप्त धनराशि व्यय करता था ।

एक समय भगवान् महावीर का चम्पा नगरी के उपवन में शुभागमन  
हुआ । प्रवृत्ति-वार्ता निवेदक (संवाददाता) से जब भंभसार (बिम्बसार) के पुत्र  
कूणिक ने यह शुभ समाचार सुना तो वह अत्यन्त हर्षित हुआ । उसके नयन-नीरज  
खिल उठे । प्रसन्नता की प्रभा से उसका मुखमंडल प्रदीप्त हो गया । वह शीघ्रता-  
पूर्वक राज्य सिंहासन से उठा । उसने पादुकाएं खोलीं और खड्ग, छत्र, मुकुट,  
उपानत्-एवं चामर रूप सभी राज्यचिह्न उतार दिये । वह एक साटिक उत्तरासंग  
किये अंजलिबद्ध होकर भगवान् महावीर के पधारने की दिशा में सात-आठ कदम  
आगे गया । उसने बायें पैर को संकुचित कर, दायें पैर को मोड़ कर धरती पर  
रखा । फिर थोड़ा ऊपर उठकर हाथ जोड़, अंजलि की मस्तक पर लगाकर  
“सामोत्थुरा” से अभिवादन करते हुए वह बोला—“तीर्थंकर श्रमण भगवान्  
महावीर, जो सिद्ध गति के अभिलाषी और मेरे धर्माचार्य तथा उपदेशक हैं, उन्हें  
मेरा नमस्कार हो । मैं तत्र विराजित प्रभु को यहीं से वन्दन करता हूं और वे  
वहीं से मुझे देखते हैं ।”<sup>१</sup>

इस प्रकार श्रद्धा सहित वन्दन कर राजा पुनः सिंहासनारूढ़ हुआ । उसने  
संवाददाता को एक लाख आठ हजार रजत मुद्राओं का प्रीतिदान किया और  
कहा—“जब भगवान् महावीर चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में पधारें तो मुझे पुनः  
सूचना देना ।”

प्रातःकाल जब भगवान् नगरी में पधारे और संवाददाता ने कूणिक को  
यह हर्षवर्द्धक समाचार सुनाया तो कूणिक ने हर्षातिरेक से तत्काल साढ़े बारह  
लाख रजत-मुद्राओं का प्रीतिदान किया ।

तदनन्तर कूणिक ने अपने नगर में घोषणा करवा कर नागरिकों को  
प्रभु के शुभागमन के सुसंवाद से अजगत कराया और अपने समस्त अन्तःपुर,  
परिजन, पुरजन, अधिकारी-वर्ग एवं चतुरंगिणी सेना के साथ प्रभु-दर्शन के लिये  
प्रस्थान किया ।

१ उबवाई और महावस्तु ।

दूर से ही प्रभु के छत्रादि अतिशय देखकर कूणिक अपने हस्तिरत्न से नीचे उतरा और समस्त राजचिह्न उतार कर प्रभु के समवशरण में पहुँचा। उसने आदक्षिणा-प्रदक्षिणा के साथ बड़ी भक्तिपूर्वक प्रभु को वन्दन किया और त्रिविध उपासना करने लगा।<sup>१</sup> भगवान् की अमृततुल्य दिव्यध्वनि को सुनकर कूणिक आनन्दविभोर हो बोला—“भगवन् ! जो धर्म आपने कहा है, वैसा अन्य कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं कह सकता।”

तत्पश्चात् कूणिक भगवान् महावीर को वन्दन कर अपने परिवार सहित राजप्रासाद की ओर लौट गया।

कूणिक प्रारम्भ से ही बड़ा तेजस्वी और शौर्यशाली था। उसने अपने शासनकाल में अनेक शक्तिशाली और दुर्जेय शत्रुओं को परास्त कर उन पर विजय प्राप्त की, अतः वह अजातशत्रु के नाम से कहा जाने लगा और इतिहास में आज इसी नाम से विख्यात है।

### कूणिक द्वारा वैशाली पर आक्रमण

कूणिक का वैशाली गणतन्त्र के शक्तिशाली महाराजा चेटक के साथ बड़ा भीषण युद्ध हुआ। उस युद्ध के कारण हुए भयंकर नरसंहार में मृतकों की संख्या एक करोड़, अस्सी लाख बतायी गयी है।

इस युद्ध का उल्लेख गोशालक ने चरम रथ-मूसल संग्राम के रूप में किया है। बौद्ध ग्रन्थों में भी इस युद्ध का कुछ विवरण दिया गया है, पर जैन आगम ‘भगवती सूत्र’ में इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख उपलब्ध होता है।

यह तो पहले बताया जा चुका है कि श्रेणिक की महारानी चेलना महाराज चेटक की पुत्री थी और कूणिक महाराज चेटक का दौहित्र। अपने नाना चेटक के साथ कूणिक के युद्ध के कारण जैन साहित्य में यह बताया गया है कि श्रेणिक द्वारा जो हाथी एवं हार हल्ल और विहल्ल कुमार को दिये गये थे, उनके कारण वे दोनों राजकुमार बड़े सौभाग्यशाली और समृद्ध समझे जाते थे। हल्ल और विहल्ल कुमार अपनी रानियों के साथ उस हस्ती-रत्न पर आरूढ़ हो प्रतिदिन गंगानदी के तट सर जलक्रीड़ा करने जाते। देवप्रदत्त देदीप्यमान हार धारण किये उनको उस सुन्दर गजराज पर बैठे देख कर नागरिक मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा करते और कहते कि राज्य-श्री से भी बढ़ कर देवोपम वैभव का उपभोग तो ये दोनों कुमार कर रहे हैं।

हल्ल-विहल्ल के सौभाग्य की सराहना सुनकर कूणिक की महारानी

पद्मावती ने हल्ल-विहल्ल से हार और हाथी हथियाने का कूणिक के सम्मुख हठ किया। प्रारम्भ में तो कूणिक ने यह कह कर टालना चाहा कि पिता द्वारा उन्हें प्रदत्त हार तथा हाथी उनसे लेना किसी तरह न्यायसंगत नहीं होगा पर अन्त में नारीहठ के समक्ष कूणिक को झुकना पड़ा।

कूणिक ने हल्ल और विहल्ल कुमार के सामने सेचनक हाथी और देवदिक्ष हार उसे देने की बात रखी।

हल्ल और विहल्ल ने उत्तर में कहा कि पिताजी द्वारा दिये गये हार और हाथी पर उन दोनों भाइयों का वैधानिक अधिकार है। इस पर भी चम्पा-नरेश लेना चाहते हैं तो उनके बदले में आधा राज्य दें।

कूणिक ने अपने भाइयों की न्यायोचित माँग को अस्वीकार कर दिया। इस पर हल्ल और विहल्ल बल-प्रयोग की आशंका से अपने परिवार सहित सेचनक पर सवार हो, हार लेकर वैशाली नगर में अपने नाना चेटक के पास चले गये।

हल्ल-विहल्ल के सपरिवार वैशाली चले जाने की सूचना पा कर कूणिक बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने महाराज चेटक के पास दूत भेज कर कहलवाया कि हार एवं हाथी के साथ हल्ल और विहल्ल कुमार को उसके पास भेज दिया जाय।

महाराज चेटक ने दूत के साथ कूणिक के पास सन्देश भेजा कि दोनों कुमार उनके शरणागत हैं। एक क्षत्रिय से कभी यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपनी शरण में आये हुए को अन्याय में पिलने के लिये असहाय के रूप में छोड़ दे। चम्पाधीश यदि हार और हाथी चाहते हैं तो उनके बदले में चम्पा का आधा राज्य दोनों कुमारों को दे दें।

महाराज चेटक के उत्तर से क्रुद्ध हो अपनी और अपने दस भाइयों की प्रबल सेनाओं के साथ कूणिक ने वैशाली पर आक्रमण कर दिया। महाराज चेटक भी अपनी, काशी तथा कोशल के नौ लिच्छवी और नौ मल्ली गणराजाओं की विशाल वाहिनी के साथ रणांगण में आ डटे। अपने भाई काल कुमार को कूणिक ने सेनापतिपद पर अभिषिक्त किया। काल कुमार ने गरुड़व्यूह की रचना की और महाराज चेटक ने शकटव्यूह की। रणवाद्यों के तुमुलघोष से आकाश को आलोकित करती हुई दोनों सेनाएं आपस में भिड़ गईं। दोनों और के अगणित योद्धा रणक्षेत्र में जूझते हुए घराशायी हो गये, पर दोनों सेनाओं की व्यूह रचना अभेद्य बनी रही।

बिना किसी प्रकार की नवीन उपलब्धि के ही युद्ध के प्रथम दिवस का अवसान होने जा रहा है यह देख कर कृष्णिक के सेनापति काल ने कृतान्त की तरह क्रुद्ध हो महाराज चेटक की ओर अपना हाथी बढ़ाया और उन्हें युद्ध के लिये आमन्त्रित किया। विशाल भाल पर त्रिवली के साथ उपेक्षा की मुस्कान लिये चेटक ने भी गजवाहक को अपना गजराज कालकुमार की ओर बढ़ाने का आदेश दिया। दोनों योद्धाओं की आयु में आकाश-पाताल का सा अन्तर था। बुढ़ापे और यौवन की अद्भुत स्पर्धा पर क्षण भर के लिये दोनों ओर की सेनाओं की अपलक दृष्टि जम गई।

मातामह का समादर करते हुए काल कुमार ने कहा—“देवार्य ! पहले आप अपने दौहित्र पर प्रहार कीजिये।”

धन-गम्भीर स्वर में चेटक ने कहा—“वत्स ! पहले तुम्हें ही प्रहार करना पड़ेगा क्योंकि चेटक की यह अटल प्रतिज्ञा सर्वविदित है कि वह प्रहर्ता पर ही प्रहार करता है।”

कालकुमार ने आकर्णित कोदण्ड की प्रत्यंचा तान कर चेटक के भाल को लक्ष्य बना अपनी पूरी शक्ति से सर छोड़ा। चेटक ने अद्भुत हस्तलाघव से सब को आश्चर्यचकित करते हुए अपने अर्द्धचन्द्राकार फल वाले बाण से काल-कुमार के तीर को अन्तराल मार्ग (बीच राह) में ही काट डाला।

तदनन्तर अपने धनुष की प्रत्यंचा पर सर-संधान करते हुए महाराज चेटक ने काल कुमार को सावधान करते हुए कहा—“कुमार ! अब इस वृद्ध के शर-प्रहार से अपने प्राणों का त्राण चाहते हो तो रणक्षेत्र से मुँह मोड़ कर चले जाओ अन्यथा मृत्यु का आर्तिगन करने के लिए तत्पर बनो।”

काल कुमार अपने शैलेन्द्र-शिला सम विशाल वक्षस्थल को फुलाये रण-क्षेत्र में डटा रहा।

दोनों ओर की सेनाएं श्वास रोके यह सब दृश्य देख रही थी। अनिष्ट की आशंका से कृष्णिक के सैनिकों के हृदय धड़कने लगे। क्योंकि सब इस तथ्य से परिचित थे कि भगवान् महावीर के परमभक्त श्रावक होने के कारण चेटक ने यद्यपि यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि वे एक दिन में केवल एक ही बाण चलायेंगे पर उनका वह शरप्रहार भी मृत्यु के समान अमोघ और अचूक होता है।

महाराज चेटक ने कुमार काल के भाल को निशाना बनाकर अपने अमोघ शर का प्रहार किया। रक्षा के सब उपाय निष्फल रहे और काल कुमार उस शर के प्रहार से तत्क्षण काल कवलित हो अपने हाथी के होदे पर सदा के लिये सो गये।

कूणिक के सेनापति के देहावसान के साथ ही दिवस का भी अन्वसान हो गया, मानो काल कुमार की अकाल मृत्यु से अन्वसन्न हो अंशुमाली अस्ताचल की ओट में हो गए। उस दिन का युद्ध समाप्त हुआ। कूणिक की सेनाएँ शोक-सागर में डूबी हुई और वंशाली की सेनायें हर्ष सागर में हिलोरें लेती हुई अपने-अपने शिविरों की ओर लौट गईं।

काल कुमार की मृत्यु के पश्चात् उसके महाकाल आदि शेष ६ भाई भी प्रतिदिन एक के बाद एक क्रमशः कूणिक द्वारा सेनापति पद पर अभिषिक्त किये जाकर वंशाली गणराज्य की सेना से युद्ध करने के लिए रण क्षेत्र में जाते रहे और महाराज चेटक द्वारा ६ ही भाई प्रतिदिन एक एक शर के प्रहार से ६ दिनों में यमधाम पहुँचा दिये गए।

इन दिनों में ही अपने दुर्द्धर्ष योद्धा दस भाइयों और सेना का संहार देख कर कूणिक की जयाशा निराशा में परिणत होने लगी। वह अगाध शोक सागर में निमग्न हो गया। अन्त में उसने दैवीशक्ति का सहारा लेने का निश्चय किया। उसने दो दिन उपोषित रह कर शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र का चिन्तन किया। पूर्वजन्म की मैत्री और तप के प्रभाव से दोनों इन्द्र कूणिक के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने उससे उन्हें याद करने का कारण पूछा।

कूणिक ने आशान्वित हो कहा—“यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो कृपा कर चेटक को मौत के घाट उतार दीजिए। क्योंकि मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि या तो वंशाली को पूर्णतः विनष्ट करके वंशाली की भूमि पर गधों से हल चलवाऊँगा, अन्यथा उत्तुंग शैलशिखर से गिर कर प्राणान्त कर लूँगा। इस चेटक ने अपने अमोघ बाणों से मेरे दस भाइयों को मार डाला है।”

देवराज शक्र ने कहा—“प्रभु महावीर के परम भक्त श्रावक और मेरे स्वधर्मी बन्धु चेटक को मैं मार तो नहीं सकता पर उसके अमोघ बाण से तुम्हारी रक्षा अवश्य करूँगा।”

यह कह कर कूणिक के साथ अपने पूर्वभव की मित्रता का निर्वाह करते हुए शक्र ने कूणिक को वज्रोपम एक अभेद्य कवच दिया।

चमरेन्द्र पूरण तापस के अपने पूर्वभव में कूणिक के पूर्वभवीय तापस-जीवन का साथी था। उस प्रगाढ़ मैत्री के वशीभूत चमरेन्द्र ने कूणिक को ‘महाशिला कंटक’ नामक एक भीषण प्रक्षेपणास्त्र और ‘रथमूसल’ नामक एक प्रलयकर अस्त्र (आधुनिक वैज्ञानिक युग के उत्कृष्ट कोटि के टैंकों से भी कहीं अधिक शक्तिशाली युद्धोपकरण) बनाने व उनके प्रयोग की विधि बताई।

### महाशिला-कंटक युद्ध

चमरेन्द्र के निर्देशानुसार कूणिक महाशिलाकंटक नामक महान् संहारक अस्त्र (प्रक्षेपणास्त्र) को लेकर उद्वेलित सागर की तरह भीषण, विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ रणांगण में उतरा। काशी कोशल के ६ मल्ली और ६ लिच्छवी, इन १८ गणराज्यों की और अपनी दुर्दान्त सेना के साथ महाराज चेटक भी रणक्षेत्र में कूणिक की सेना से लोहा लेने आ डटे। दोनों सेनाओं में बड़ा लोमहर्षक युद्ध हुआ। कूणिक की सहायता के लिए शक्र और चमरेन्द्र भी उनके साथ युद्धस्थल में उपस्थित थे। देखते ही देखते युद्धभूमि दोनों पक्षों के योद्धाओं के रूण्ड मुण्डों से आच्छादित हो गयी। चेटक और १८ गणराज्यों की सेनाओं ने बड़ी वीरता के साथ डट कर कूणिक की सेना के साथ युद्ध किया।

चेटक ने अपने हाथी को आगे बढ़ाया, अपने धनुष पर शरसन्धान कर प्रत्यंचा को अपने कान तक खींचा और कूणिक पर अपना अमोघ तीर चला दिया। पर इस बार वह तीर शक्र द्वारा प्रदत्त कूणिक के वज्र कवच से टकरा कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। अपने अमोघ बाण को मोघ हुआ देख कर भी सत्यसन्ध चेटक ने उस दिन दूसरा बाण नहीं चलाया।

कूणिक ने चमरेन्द्र द्वारा विकुर्वित 'महाशिला कंटक' अस्त्र का प्रयोग किया। इस यंत्र के माध्यम से जो तूण, काण्ठ, पत्र, लोण्ठ अथवा बालुका-कण वैशाली की सेना पर फेंके जाते उनके प्रहार विस्तीर्ण शिलाओं के प्रहारों से भी अति भयंकर होते। कुछ ही समय में वैशाली के लाखों योद्धा धैराशायी हो गये। शक्र की सेना में इन शिलोपम प्रहारों से भगदड़ मच गई। अठारहों मल्ली और लिच्छवी गणराजाओं की सेनाएं इस प्रलय से बचने के लिये रणक्षेत्र में पीठ दिखा कर भाग गई।

इस एक दिन के महाशिलाकंटक संग्राम में ८४ लाख योद्धा मारे गये। 'महाशिलाकंटक' नामक नरसंहारक युद्धोपकरण का प्रयोग किये जाने के कारण इस दिन का युद्ध 'महाशिलाकंटक संग्राम' के नाम से विख्यात हुआ।

### रथमूसल संग्राम

दूसरे दिन कूणिक 'रथमूसल' नामक प्रलयंकर स्वचालित यंत्र लेकर अपनी सेनाओं के साथ रणक्षेत्र में पहुँचा।

महाराज चेटक और उनके सहायक १८ गणराज्यों की सेनाओं ने बड़ी देर तक कूणिक की सेनाओं के साथ प्राणपण से युद्ध किया। चेटक ने आगे बढ़ कर कूणिक पर एक बाण का प्रहार किया, पर चमरेन्द्र के आग्रस पट्ट से टकरा

कर वह टूक-टूक हो गया। दृढ़-प्रतिज्ञ चेटक ने उस दिन फिर कोई दूसरा बाण नहीं चलाया।

जिस समय युद्ध उग्र रूप धारण कर रहा था उस समय कृष्णिक ने वैशाली की सेनाओं पर 'रथमूसल' अस्त्र का प्रयोग किया। प्रलय के दूत के समान दैत्याकार लोहसार का बना स्वचालित रथमूसल यन्त्र बिना किसी वाहन, वाहक और आरोही के, अपनी प्रलयकालीन घनघोर मेघ घटाओं के समान घर्षाहट से धरती को कँपाता हुआ विद्युत्वेग से वैशाली की सेनाओं पर भपटा। उसमें लगे यमदण्ड के समान मूसल स्वतः ही अनवरत प्रहार करने लगे। उसकी गति इतनी तीव्र थी कि वह एक क्षण में चारों ओर सब जगह शत्रुओं का संहार करता हुआ दिखाई दे रहा था।

तपस्वी १२ व्रतधारी श्रावक योद्धा नाग का पौत्र वरुण षष्ठभक्त का पारण किये बिना ही अष्टम भक्त तप कर चेटक आदि के अनुरोध पर रथमूसल अस्त्र को विनष्ट करने की इच्छा लिये संग्राम में आगे बढ़ा। कृष्णिक के सेनापति ने उसे युद्ध के लिये ललकारा। वरुण ने कहा कि वह श्रावक होने के कारण किसी पर पहले प्रहार नहीं करता। इस पर कृष्णिक की सेना के सेनापति ने वरुण के मर्मस्थल पर तीर का तीक्ष्ण प्रहार किया। मर्माहत होते हुए भी वरुण ने एक ही शरप्रहार से उस सेनापति को मौत के घाट उतार दिया। अपनी मृत्यु सन्निकट जान कर वह युद्धभूमि से दूर चला गया और आलोचना-अनशनादिपूर्वक प्राण त्याग कर प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न हुआ।

उधर तीव्रगति से चारों ओर घूमते हुए रथमूसल यंत्र ने वैशाली की सेना को पीस डाला। युद्ध के मैदान में चारों ओर रुधिर और मांस का कीचड़ ही कीचड़ दृष्टिगोचर हो रहा था।

रथमूसल अस्त्र द्वारा किये गये प्रलयोपम भीषण नरसंहार व रुधिर, मांस और मज्जा के कदम के वीभत्स एवं हृदयद्रावक दृश्य को देखकर महिलियों और लिच्छवियों के १८ गणराज्यों की सेनाओं के अवशिष्ट सैनिक भयभीत हो प्राण बचाकर अपने २ नगरों की ओर भाग गये।

इस एक दिन के रथमूसल संग्राम में ६६ लाख सैनिकों का संहार हुआ। इस दिन के युद्ध में 'रथमूसल' अस्त्र का उपयोग किया गया, इसलिये इस दिन का युद्ध 'रथमूसल संग्राम' के नाम से विख्यात हुआ।

सब सैनिकों के मैदान छोड़कर भाग खड़े होने पर और कोई उपाय न देख महाराज चेटक ने भी बचे खुचे अपने योद्धाओं के साथ वैशाली में प्रवेश किया और नगर के सब द्वार बन्द कर दिये।

कूणिक ने अपनी सेनाओं के साथ वैशाली के चारों ओर घेरा डाल दिया। जैन आगम और आगमोत्तर साहित्य से ऐसा आभास होता है कि कूणिक ने काफी लम्बे समय तक वैशाली को घेरे रखा। रात्रि के समय में हल्ल और विहल्ल कुमार अपने अलौकिक सेचनक हाथी पर आरूढ़ हो नगर के बाहर निकल कर कूणिक की सेना पर भीषण शस्त्रास्त्रों की वर्षा करते और कूणिक के सैनिकों का संहार करते। उस दिव्य हस्तिरत्न पर आरूढ़ हल्ल विहल्ल का कूणिक के सैनिक बाल तक बाँका नहीं कर सके।

वैशाली के अभेद्य प्राकार को तोड़ने हेतु कूणिक ने अनेक प्रकार के उपाय और प्रयास किये, पर उसे किंचित् मात्र भी सफलता नहीं मिली। उधर प्रत्येक रात्रि को सेचनक हाथी पर सवार हो हल्ल विहल्ल द्वारा कूणिक की सेना के संहार करने का क्रम चलता रहा जिसके कारण कूणिक की सेना की बड़ी भारी क्षति हुई। कूणिक दिन प्रतिदिन हताश और चिन्तित रहने लगा।

अन्ततोगत्वा किसी अद्भुत शक्ति से कूणिक को वैशाली के भंग करने का उपाय विदित हुआ कि चम्पा की मागधिका नाम की वारांगना यदि कूलवालक नामक तपस्वी श्रमण को अपने प्रेमपाश में फँसा कर ले आये तो वह कूलवालक श्रमण वैशाली का भंग करवा सकता है। कूणिक ने अनेक प्रलोभन देकर इस कार्य के लिए मागधिका को तैयार किया। चतुर गणिका मागधिका ने परम श्रद्धालु श्राविका का छद्म-वेश बना कर कूलवालक श्रमण को अपने प्रेमपाश में बाँध लिया और श्रमण धर्म से भ्रष्ट कर उसे मगधेश्वर कूणिक के पास प्रस्तुत किया। कूणिक अपनी चिर-अभिलषित आशालता को फलवती होते देख बड़ा प्रसन्न हुआ और कूलवालक के वैशाली में प्रविष्ट होने की प्रतीक्षा करने लगा।

इसी बीच हल्ल विहल्ल द्वारा प्रतिरात्रि को जा रही अपनी सैन्यशक्ति की क्षति के सम्बन्ध में कूणिक ने अपने मन्त्रियों के साथ मंत्रणा की। मंत्रणा के निष्कर्ष स्वरूप सेचनक के आगमन की राह में एक खाई खोदकर खैर के जाज्वल्यमान अंगारों से उसे भर दिया और उसे लचीली धातु के पत्रों से आच्छादित कर दिया।

रात्रि के समय शस्त्रास्त्रों से सन्नद्ध हो हल्ल और विहल्ल सेचनक हाथी पर आरूढ़ हो वैशाली से बाहर आने लगे तो सेचनक अपने विभंग-ज्ञान से उस खाई को अंगारों से भरी जान कर वहीं रुक गया। इस पर हल्ल विहल्ल ने कुपित हो सेचनक पर वाग्दाराओं की बौछार करते हुए कहा—“कायर ! तू युद्ध से कतरा कर अड़ गया है। तेरे लिये हमने अपने नगर एवं परिजन को छोड़ा, देवोपम पूज्य नानाजी की घोर संकट में डकेला, पर आज तू युद्ध से डर कर



स्वामिभक्ति से मुंह मोड़ रहा है, तुझ से तो एक कुत्ता ही अच्छा जो मरते दम तक भी स्वामिभक्ति से विमुख नहीं होता।”

अपने स्वामी के असह्य वाग्दाराओं से सेचनक तिलमिला उठा। मूक पशु बोलता तो क्या उसने अपनी पीठ पर से दोनों कुमारों को उतारा और तत्काल प्रच्छन्न आग में कूद पड़ा। हल्ल और विहल्ल के देखते ही देखते वह धधकती हुई आग में जलकर राख हो गया। हल्ल और विहल्ल को यह देख कर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्हें अपने जीवन से घृणा हो गई। उन्होंने निश्चय किया कि यदि भगवान् महावीर के चरणों की शरण में नहीं पहुँच सके तो वे दोनों अपने जीवन का अन्त कर लेंगे।

जिनशासन-रक्षिका देवी ने उन्हें अन्तर्मन से दीक्षित समझ कर तत्काल प्रभु की चरण-शरण में पहुँचा दिया। हल्ल और विहल्ल कुमार ने प्रभु महावीर के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। उधर कूलवालक ने नैमित्तिक के रूप में बड़ी सरलता से वैशाली में प्रवेश पा लिया।

संभव है, उसने वैशाली भंग के लिये नगरी में घूम कर श्रद्धालु नागरिक-जनों में भेद डालने और कूणिक को आक्रमण के लिए सुविधा प्रदान करने की भूमिका का निर्माण किया हो। बौद्ध साहित्य में वस्सकार द्वारा वैशाली के सुसंगठित नागरिकों में फूट डालने के उल्लेख की भी पुष्टि होती है।

पर आवश्यक नियुक्ति और चूणिकार ने वैशाली भंग में कूलवालक द्वारा स्तूप के पतन को कारण माना है, जो इस प्रकार है :—

“कूलवालक ने वैशाली में घूम कर पता लगा लिया कि भगवान् मुनि-सुव्रत के एक भव्य स्तूप के कारण वैशाली का प्राकार अभेद्य बना हुआ है।

दुश्मन के घेरे से ऊबे हुए नागरिकों ने कूलवालक को नैमित्तिक समझकर बड़ी उत्सुकता से पूछा—“विद्वन् ! शत्रु का यह घेरा कब तक हटेगा ?”

कूलवालक ने उपयुक्त अवसर देख कर कहा—“यह स्तूप बड़े अशुभ मुहूर्त में बना है। इसी के कारण नगर के चारों ओर घेरा पड़ा हुआ है। यदि इसे तोड़ दिया जाय तो शत्रु का घेरा हट जायगा।

कुछ लोगों ने स्तूप को तोड़ना प्रारम्भ किया। कूलवालक ने कूणिक को संकेत से सूचित किया। कूणिक ने अपने सैनिकों को घेरा-समाप्ति का आदेश दिया। स्तूप के ईषत् भंग का तत्काल चमत्कार देखकर नागरिक बड़ी संख्या में

स्तूप का नामोनिशां तक मिटा देने के लिये टूट पड़े। कुछ ही क्षणों में स्तूप का चिह्न तक नहीं रहा।

कूलबालक से इष्टसिद्धि का संकेत पा कूणिक ने वैशाली पर प्रबल आक्रमण किया। उसे इस बार वैशाली का प्राकार भंग करने में सफलता प्राप्त हो गई।

कूणिक ने अपनी सेना के साथ वैशाली में प्रवेश किया और बड़ी निर्दयतापूर्वक वैशाली के वैभवशाली भवनों की ईंट से ईंट बजा दी।

वैशाली भंग का समाचार सुनकर महाराज चेटक ने अनशनपूर्वक प्राणत्याग किया और वे देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुए।

उधर कूणिक ने वैशाली नगर की उजाड़ी गई भूमि पर गधों से हल फिरवाये और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर सेना के साथ चम्पा की ओर लौट गया।

परम प्रामाणिक माने जाने वाले 'भगवती-सूत्र' और 'निरयावलिका' में दिये गये इस युद्ध के विवरणों से यह सिद्ध होता है कि वैशाली के उस युद्ध में आज के वैज्ञानिक युग के प्रक्षेपास्त्रों और टैंकों से भी अति भीषण संहारकारक 'महाशिलाकंटक' और 'रथमूसल' अस्त्रों का उपयोग किया गया। इनके सम्बन्ध में भगवती सूत्र के दो मूल पाठकों के विचारार्थ यहाँ दिये जा रहे हैं। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा :—

“से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चई महासिलाकंटए संगामे ?”

भगवान् महावीर ने गौतम द्वारा प्रश्न करने पर फरमाया—“गोयमा ! महासिलाकंटए णं संगामे वट्टमाणे जे तत्थ आसे वा, हत्थी वा, जोहे वा, सारही वा तरणेणवा, पत्तेण वा, कट्ठेण वा, सक्कराए वा अभिहम्मइ सव्वे से जाणइ महासिलाए अहं अभिहए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चई महासिलाकंटए संगामे ।”—

[भगवती, श० ७, उ० ६]

इस एक दिन के महाशिलाकंटक युद्ध में मृतकों की संख्या के सम्बन्ध में गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने फरमाया—“गोयमा ! चउरासीइ जणसयसाहस्सियाओ बहियाओ !”

इसी प्रकार गौतम गणधर ने रथमूसल संग्राम के सम्बन्ध में प्रश्न किये—“से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ रहमुसले संगामे ?”

उत्तर में भगवान् महावीर ने फरमाया—“गोयमा ! रहमुसलेणं संगामे वट्टमाणे एगे र्हे अणासए असारहिए, अणारोहए, समुसले, महयामहया

जगत्त्रयं, जरावहं, जणप्पमदं, जरासंवट्टकप्पं रहिरकदमं करेमाणे सव्वओ समंता परिधावित्था, से तेराट्ठेणं जाव रहमुसले संगामे ।”

गीतम द्वारा ‘रसमूसल संग्राम’ में मृतकों की संख्या के सम्बन्ध में किये गये प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु महावीर ने कहा—“गोयमा ! छण्णाउई जरासयसा-हस्सीओ वहियाओ ।”

भगवती सूत्र के उपर्युक्त उद्धरणों से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रलय के समान शक्ति रखने वाले वे दोनों अस्त्र कितने भयंकर होंगे ।

उन दो महान् शक्तिशाली युद्धास्त्रों को पाकर कूणिक अपने आपको विश्व-विजयी एवं अजेय समझने लगा, तथा संभव है, इसी कारण उसके हृदय में अधिक महत्वाकांक्षाएं जगीं और उसके सिर पर चक्रवर्ती बनने की धुन सवार हुई ।

उन दिनों भगवान् महावीर चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में विराजमान थे । कूणिक भगवान् महावीर की सेवा में पहुंचा । सविधि वन्दन के पश्चात् उसने भगवान् से पूछा—“भगवन् ! क्या मैं भरत-क्षेत्र के छे खण्डों को जीतकर चक्रवर्ती बन सकता हूँ ?”

भगवान् महावीर ने कहा—“नहीं कूणिक ! तुम चक्रवर्ती नहीं बन सकते । प्रत्येक उत्सर्पिणीकाल और अवसर्पिणीकाल में बारह-बारह चक्रवर्ती होते हैं । तदनुसार-प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल के बारह चक्रवर्ती हो चुके हैं, अतः तुम चक्रवर्ती नहीं हो सकते ।

कूणिक ने पुनः प्रश्न किया—“भगवन् ! चक्रवर्ती की पहचान क्या है ?”

भगवान् महावीर ने कहा—“कूणिक ! चक्रवर्ती के यहाँ चक्रादि चौदह रत्न होते हैं ।”

कूणिक ने भगवान् महावीर से चक्रवर्ती के चौदह रत्नों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त की और प्रभु को वन्दन कर वह अपने राजप्रासाद में लौट आया ।

कूणिक भली भाँति जानता था कि भगवान् महावीर त्रिकालदर्शी हैं, किन्तु वह वैशाली के युद्ध में महाशिलाकंटक अस्त्र और रथमूसल यन्त्र का अत्यद्भुत चमत्कार देख चुका था, अतः उसके हृदय में यह अहम् धर कर गया कि उन दो कल्पान्तकारी यन्त्रों के रहते संसार की कोई भी शक्ति उसे चक्रवर्ती बनने से नहीं रोक सकती । उसने उस समय के श्रेष्ठतम शिल्पियों से चक्रवर्ती के चक्रादि कृत्रिम रत्न बनवाये और अष्टम भक्त कर घट्खण्ड-विजय के लिये उन अद्भुत शक्तिशाली यन्त्रों एवं प्रबल सेना के साथ निकल पड़ा ।

महाशिलाकण्ठक अस्त्र और रथमूसल यन्त्र के कारण उस समय दिग्दिगन्त में कूणिक की धाक जम चुकी थी, अतः ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारतवर्ष और अड़ोस-पड़ोस की कोई राज्यशक्ति कूणिक के समक्ष प्रतिरोध करने का साहस नहीं कर सकी। कूणिक अनेक देशों को अपने अधीन करता हुआ तिमिस्र गुफा के द्वार तक पहुंच गया। अष्टम भक्त कर कूणिक ने तिमिस्र गुफा के द्वार पर दण्ड-प्रहार किया।

तिमिस्र गुफा के द्वाररक्षक देव ने अदृश्य रहते हुए पूछा—“द्वार पर कौन है ?”

कूणिक ने उत्तर दिया—“चक्रवर्ती अशोकचन्द्र ?”

देव ने कहा—“चक्रवर्ती तो बारह ही होते हैं और वे हो चुके हैं।

कूणिक ने कहा—“मैं तेरहवाँ चक्रवर्ती हूँ।”

इस पर द्वाररक्षक देव ने क्रुद्ध होकर हुंकार की और कूणिक तत्क्षण वहीं भस्मसात् हो गया। मर कर वह छठे नरक में उत्पन्न हुआ।

भगवान् महावीर का परमभक्त होते हुए भी कूणिक स्वार्थ और तीव्र लोभ के उदय से मार्गच्युत हो गया और तीव्र आसक्ति के कारण वह दुर्गति का अधिकारी बना। कूणिक की सेना कूणिक के भस्मसात् होने के दृश्य को देखकर भयभीत हो चम्पा की ओर लौट गई।

वस्तुतः कूणिक जीवन भर भगवान् महावीर का ही परमभक्त रहा। कूणिक के महावीर-भक्त होने में ऐतिहासिकों के विचार इस प्रकार हैं :—

डॉ० स्मिथ कहते हैं—“बौद्ध और जैन दोनों ही अज्ञातशत्रु को अपना-अपना अनुयायी होने का दावा करते हैं, पर लगता है, जैनों का दावा अधिक प्राधारयुक्त है।”

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार—“महावीर और बुद्ध की वर्तमानता में तो अज्ञातशत्रु महावीर का ही अनुयायी था।” उन्होंने यह भी लिखा है—“जैसा प्रायः देखा जाता है, जैन अज्ञातशत्रु और उदाहभद्द दोनों को अच्छे चरित्र का बतलाते हैं, क्योंकि दोनों जैन धर्म को मानने वाले थे। यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थों में उनके चरित्र पर कालिख पोती गई है।

इन सब प्रमाणों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि कूणिक-अज्ञातशत्रु जीवन भर भगवान् महावीर का परमभक्त रहा।

१ कूणिक का वास्तविक नाम अशोकचन्द्र था। अंगुली के ब्रह्म के कारण सब उसे कूणिक कहते थे।

[माघ० कूणिक]

## महाराजा उदायन

भगवान् महावीर के उपासक, परमभक्त अनेकानेक शक्तिशाली छत्रपतियों को गणना में श्रेणिक, कूणिक और चेटक की तरह महाराजा उदायन भी अग्र-गण्य नरेश माने गये हैं।

महाराजा उदायन सिन्धु-सौवीर राज्य के शक्तिशाली एवं लोकप्रिय नरेश थे। आपके राज्य में सोलह बड़े-बड़े जनपद एवं ३६३ सुन्दर नगर और इतनी ही बड़ी-बड़ी खदानें थीं। दस छत्र-मुकुटधारी महीपाल और अनेक छोटे-मोटे अरुनीपति एवं सार्धवाह आदि महाराज उदायन की सेवा में निरन्तर निरत रहते थे। सिन्धु-सौवीर राज्य की राजधानी वीतिभय नगर था, जो उस समय के नगरों में बड़ा विशाल, सुन्दर और सब प्रकार की समृद्धि से सम्पन्न था। महाराज उदायन की महारानी का नाम प्रभावती और पुत्र का नाम अभीच कुमार था। केशी कुमार नामक इनका भानजा भी उनके पास ही रहता था। उदायन का उस पर बड़ा स्नेह था।<sup>१</sup>

महाराजा उदायन एक महान् शक्तिशाली राज्य के एकछत्र अधिपति होते हुए भी बड़े धर्मानुरागी और भगवद्भक्त थे। वे भगवान् महावीर के बारह व्रतधारी श्रावक थे। उनके न्याय-नीतिपूर्ण शासन में प्रजा पूर्णरूपेण सुखी थी। महाराज उदायन की भगवान् महावीर के वचनों पर बड़ी श्रद्धा थी।

एक समय महाराजा उदायन अपनी पीषधशाला में पीषध किये हुए जद रात्रि के समय धर्मचिंतन कर रहे थे उस समय उनके मन में भगवान् महावीर के प्रति उत्कृष्ट भक्ति के उद्रेक से इस प्रकार की भावना उत्पन्न हुई—“धन्य है वह नगर, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान हैं। अहोभाग्य है उन नरेशों और भव्य नागरिकों का जो भगवान् के दर्शनों से अपना जीवन सफल करते और उनके पतितपावन चरणारविन्दों में सविधि वन्दन करते हैं, उनकी मनसा, वाचा, कर्मणा सेवा करके कृतकृत्य हो रहे हैं तथा भगवान् की भवभयहारिणी सकल कल्मष विनाशिनी अमृतमयी अमोघ वाणी सुनकर भवसागर से पार हो रहे हैं। मेरे लिए वह सुनहरा दिन कब उदित होगा जब मैं अपने इन नेत्रों से जगद्गुरु श्रमण भगवान् महावीर के दर्शन करूँगा, उन्हें सविधि वन्दन करूँगा, पर्युपासना-सेवा करूँगा और उनकी पीयूषवाषिणी वाणी सुनकर अपने कर्ण-रन्ध्रों को पवित्र करूँगा।

महाराज उदायन की इस प्रकार की उत्कृष्ट अभिलाषा त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ प्रभु से कैसे छिपी रह सकती थी? प्रभु दूसरे ही दिन चम्पा नगरी के पूर्ण-

१ भगवती कृतक, अ० १२, उ० २।

भद्र उद्यान से विहार कर क्रमशः वीतभया नगरी के मृगवन नामक उद्यान में पधार गये । सत्य ही है—उत्कृष्ट अभिलाषा सद्यः फलप्रदायिनी होती है ।

भगवान् के शुभागमन का सुसंवाद सुनकर उदायन के आनन्द का पारावार नहीं रहा । इच्छा करते ही जिस व्यक्ति के सम्मुख स्वयं कल्पतरु उपस्थित हो जाय उसके आनन्द का कोई क्या अनुमान कर सकता है ? उदायन ने प्रभु के आगमन का संवाद सुनते ही सहसा सिंहासन से समुत्थित हो सात आठ उग उस दिशा की ओर बढ़कर, जिस दिशा में त्रिलोकीनाथ प्रभु विराजमान थे, प्रभु को तीन बार भावविभोर हो सविधि वन्दन किया और तत्क्षण सकल परिजन, पुरजन तथा अधिकारीगण सहित वह प्रभु की सेवा में मृगवन उद्यान में पहुँचा । यथाभिलषित सविधि वन्दना, पर्युपासना के पश्चात् उसने प्रभु का हृदयहारी, पुनीत प्रवचन सुना ।

भगवान् महावीर ने संसार की क्षणभंगुरता एवं असारता, वैराग्य की अभयता-महत्ता तथा मोक्ष-साधन की परम उपादेयता का चित्रण करते हुए ज्ञानादि की ऐसी त्रिवेणी प्रवाहित की कि सभी सभासद चित्रलिखित से रह गये । महाराजा उदायन पर भगवान् के वीतरागतामय उपदेश का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह संसार के भोगोपभोगों को विषतुल्य हेय समझकर अक्षय शिव-सुख की कामना करता हुआ भगवान् से निवेदन करने लगा—“भगवन् ! मेरे अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो गये हैं, मुझे यह संसार दावानल के समान दिख रहा है । प्रभो ! मैं अपने पुत्र अभीचिकुमार को राज्य सौंपकर श्रीचरणों में दीक्षित होना चाहता हूँ । प्रभो ! आप मुझे अपने पावन चरणों में स्थान दीजिये ।

प्रभु ने फरमाया—“जिस कार्य से सुख प्राप्त हो, उस कल्याणकारी कार्य में प्रमाद मत करो ।”

महाराजा उदायन परम संतोष का अनुभव करते हुए प्रभु को वन्दन कर नगर की ओर लौटे । मार्ग में उनके मन में विचार आया—“जिस राज्य को महा दुखानुबन्ध का कारण समझ कर मैं छोड़ रहा हूँ उस राज्य का अधिकारी अगर मैंने अपने पुत्र अभीचिकुमार को बना दिया तो वह अधिक मोही होने से राज्य-भोगों में अनुरक्त एवं मृद्ध होकर न मालूम कितने अपरिमित समय तक भवभ्रमण करता हुआ जन्म-मरण के असह्य दुःखों का भागी बन जायगा । अतः उसका कल्याण इसी में है कि उसे राज्य न देकर मेरे भानजे केशिकुमार को राज्य दे दूँ । तदनुसार राजप्रासाद में आकर महाराज उदायन ने अपने अधीनस्थ सभी राजाओं और सामन्तों को अपना निश्चय सुनाया और अपने भानजे केशिकुमार को अपने विशाल राज्य का अधिकारी बनाकर स्वयं भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हो गये ।

पिता द्वारा अपने जन्मसिद्ध पैतृक अधिकार से वंचित किये जाने के

कारण अभीचिकुमार के हृदय पर बड़ा गहरा आघात पहुँचा फिर भी कुलोन होने के कारण उसने पिता की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। वह किसी प्रकार के संघर्ष में नहीं उलझा और अपनी जल सम्पत्ति ले सकुटुम्ब मगध-सम्राट् कृणिक के पास चम्पा नगरी में जा बसा। सम्राट् कृणिक ने उसे अपने यहाँ ससम्मान रखा। अभीचिकुमार के मन में पिता द्वारा अपने अधिकार से वंचित रखे जाने की कसक जीवन भर कांटे की तरह चुभती रही। वह भगवान् का श्रद्धालु श्रमणोपासक रहा, पर उसने कभी अपने पिता महाश्रमण उदायन को नमस्कार तक नहीं किया और इस बैर को अन्तर्मन में रखे हुए ही श्रावकधर्म का पालन करते हुए एक मास की संलेषणा से आयुष्य पूर्ण कर पिता के प्रति अपनी दुर्भावना की आलोचना बिना किये असुरकुमार देव हो गया। असुरकुमार की आयु पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र में मानवभव प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

महाश्रमण उदायन ने दीक्षित होने के पश्चात् एकादश अंगों का अध्ययन किया और कठोर तपस्या से वे अपने कर्म-बन्धनों को काटने में तत्परता से संलग्न हो गये। विविध प्रकार की घोर तपस्याओं से उनका शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया। अन्त-प्रान्तादि प्रतिकूल आहार से राजर्षि उदायन के शरीर में भयंकर व्याधि उत्पन्न हो गई। वे वैद्यों के अनुरोध से औषधि-रूप में दधि का सेवन करने लगे।

एकदा भगवान् की आज्ञा से राजर्षि उदायन एकाकी विचरते हुए वीतभय नगर पहुँचे। मंत्री को मालूम हुआ तो उसने दुर्भाव से महाराज केशी के मन को बदलने के लिये कहा कि परीषहों से पराजित हो राजर्षि उदायन पुनः राज्य लेने के लिये यहाँ आ गये हैं। केशी ने कहा—“कोई बात नहीं, यह राज्य उन्हीं का दिया हुआ है, यदि वे चाहेंगे तो मैं समस्त राज्य उन्हें लौटा दूँगा।” दुष्ट मंत्री ने अनेक प्रकार से समझाते हुए केशीकुमार से कहा—“राजन्! यह राजधर्म नहीं है, हाथ में आई राज्यलक्ष्मी का जो निरादर करता है वह कहीं का नहीं रहता। अतः येन केन-प्रकारेण विष प्रयोगादि से उदायन को मौत के घाट उतारने में ही अपना कल्याण है।”

मंत्री की घृणित राय से केशी भी आखिर सहमत हो गया और उदायन को विषमिश्रित भोजन देने का षड्यंत्र रचा गया। एक स्वालिन के द्वारा राजर्षि उदायन को विषमिश्रित दधि तीन बार बहराया गया, पर राजर्षि के भक्त एक देव द्वारा तीनों ही बार उस दही का अपहरण कर लिया गया और मुनि उसे नहीं खा सके। किन्तु एक बार देव की असावधानी से मुनि को विषमिश्रित दही गूजरों द्वारा बहरा ही दिया गया। दही के अभाव में मुनि के शरीर में असमाधि रहने लगी थी, अतः उन्होंने दही ले लिया। दही खाने के थोड़ी ही देर बाद विष का प्रभाव होते देख राजर्षि उदायन सँभल गये और उन्होंने समभाव से संथारा-

आमरण अनशन धारण कर शुक्ल ध्यान से क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो केवल-ज्ञान प्राप्त किया और अर्ध मास की संलेखना से ध्रुव, अक्षय, अव्यावाध शाश्वत निर्वाण प्राप्त किया।

यही राजर्षि उदायन भगवान् महावीर द्वारा अन्तिम मोक्षगामी राजा बताये गये हैं। धन्य है उनकी परम निष्ठा, अविचल श्रद्धा व समता की!

### भगवान् महावीर के कुछ अविस्मरणीय संस्मरण

पोत्तनपुर नगर की बात है, एक बार भगवान् महावीर नहाँ के मनोरम नामक उद्यानस्थ समवशरण में विराजमान थे। पोत्तनपुर के महाराज प्रसन्नचन्द्र प्रभु को वन्दन करने आये और उनका वीतरागपूर्णा उपदेश सुनकर सांसारिक भोगों से विरक्त हो दीक्षित हुए तथा स्थविरों के पास विनयपूर्वक ज्ञानाराधन करते हुए सूत्रार्थ के पाठी हो गये।

कुछ काल के बाद पोत्तनपुर से विहार कर भगवान् राजगृह पधारे। मुनि प्रसन्नचन्द्र, जो विहार में भगवान् के साथ थे, राजगृह में भगवान् से कुछ दूर जाकर एकान्त मार्ग पर ध्यानावस्थित हो गये। संयोगवश भगवान् को वन्दन करने के लिये राजा श्रेणिक अपने परिवार व सैन्य सहित उसी मार्ग से गुजरे। उन्होंने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को मार्ग पर एक पैर से ध्यान में खड़े देखा। भक्ति से उन्हें प्रणाम कर वे महावीर प्रभु के पास आये और सविनय वंदन कर बोले—“भगवन् ! नगरी के बाहर जो राजर्षि उग्र तप के साथ ध्यान कर रहे हैं, वे यदि इस समय काल धर्म को प्राप्त करें तो कौनसी गति में जायें ?”

प्रभु ने कहा—“राजन् ! वे सप्तम नरक में जायें।”

प्रभु की वाणी सुनकर श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे मन ही मन सोचने लगे—क्या ऐसा उग्र तपस्वी भी नरक में जाये, यह संभव हो सकता है? उन्होंने क्षणभर के बाद पुनः जिज्ञासा करते हुए पूछा—“भगवन् ! वे यदि अभी कालधर्म को प्राप्त करें, तो कहाँ जायेंगे ?”

भगवान् महावीर ने कहा—“सर्वार्थसिद्ध विमान में।”

इस उत्तर को सुनकर श्रेणिक और भी अधिक विस्मित हुए और पूछने लगे—“भगवन् ! दोनों समय की बात में इतना अन्तर क्यों? पहले आपने सप्तम नरक कहा और अब सर्वार्थसिद्ध विमान फरमा रहे हैं? इस अन्तर का कारण क्या है?”

भगवान् महावीर बोले—“राजन् ! प्रथम बार जब तुमने प्रश्न किया था, उस समय ध्यानस्थ मुनि अपने प्रतिपक्षी सामन्तों से मानसिक युद्ध कर रहे थे और बाद के प्रश्नकाल में वे ही अपनी भूल के लिये आलोचना कर उच्च विचारों



की श्रेणी पर आरूढ़ हो गये थे । इसलिये दोनों प्रश्नों के उत्तर में इतना अन्तर दिखाई दे रहा है ।”

श्रेणिक ने उनकी भूल का कारण जानना चाहा तो प्रभु ने कहा—“राजन्! वन्दन को आते समय तुम्हारे दो सेनापतियों ने राजर्षि को ध्यानमग्न देखा । उनमें से एक “सुमुख” ने राजर्षि के तप की प्रशंसा की और कहा—“ऐसे घोर तपस्वी को स्वर्ग या मोक्ष दुर्लभ नहीं है ।” पर दूसरे साथी “दुमुख” को उसकी यह बात नहीं जँची । वह बोला—“अरे ! तू नहीं जानता, इन्होंने बड़ा पाप किया है । अपने नादान बालक पर राज्य का भार देकर स्वयं साधु रूप से ये ध्यान लगाये खड़े हैं । उधर विरोधी राज्य द्वारा, इनके अबोध शिशु पर, जिस पर कि मंत्री का नियन्त्रण है, आक्रमण हो रहा है । संभव है, बालकुमार को मंत्री राज्यच्युत कर स्वयं राज्याधिकार प्राप्त कर ले या शत्रु—राजा ही उसे बन्दी बना ले ।

दुमुख की बात ध्यानान्तरिका के समय तपस्वी के कानों में पड़ी और वे ध्यान की स्थिति में अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे । वे मन ही मन पुत्र की ममता से प्रभावित होकर विरोधी राजा एवं अपने धूर्त मंत्री के साथ घोर युद्ध करने लगे । परिणामों की उस भयंकरता के समय तुमने प्रश्न किया, अतः उन्हें सातवीं नरक का अधिकारी बताया गया, किन्तु कुछ ही काल के बाद राजर्षि ने अपने मुकुट से शत्रु पर आघात करना चाहा और जब सिर पर हाथ रखा तो उन्हें सिर मुड़ित प्रतीत हुआ । उसी समय ध्यान आया—“मैं तो मुनि हूँ । मुझे राज-ताज के हानि-लाभ से क्या मतलब ?” इस प्रकार अत्मालोचन करते हुए जब वे अर्धव-सायों की उच्च श्रेणी पर आरूढ़ हो रहे थे तब सर्वार्थसिद्ध विमान की गति बतलाई गई ।”

इधर जब भगवान् श्रेणिक को अपने कथन के रहस्य को समझा रहे थे उसी समय आकाश में दुन्दुभि-नाद सुनाई दिया । श्रेणिक ने पूछा—“भगवन् ! यह दुन्दुभि-नाद कैसा ?”

प्रभु ने कहा—“वही प्रसन्नचन्द्र मुनि, जो सर्वार्थसिद्ध विमान के योग्य अर्धवसाय पर थे, शुक्ल-ध्यान की विमल श्रेणी पर आरूढ़ हो मोह कर्म के साथ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का भी क्षय कर केवलज्ञान, केवलदर्शन के अधिकारी बन गये हैं । उसी की महिमा में देवों द्वारा दुन्दुभि बजायी जा रही है ।” श्रेणिक प्रभु की सर्वज्ञता पर मन ही मन प्रमुदित हुए ।

दूसरी घटना राजगृही नगरी की है । एक बार भगवान् महावीर वहाँ के उद्यान में विराजमान थे । उस समय एक मनुष्य भगवान् के पास आया और चरणों पर गिर कर बोला—नाथ ! आपका उपदेश भवसागर से पार लगाने में जहाज के समान है । जो आपकी वाणी श्रद्धापूर्वक सुनते और तदनुकूल आचरण करते हैं, वे धन्य हैं ।”

“मुझे एक बार आपकी वाणी सुनने का लाभ मिला था और उस एक बार के ही उपदेश ने मेरे जीवन को संकट से बचा लिया है। आज तो हृदय खोलकर मैं आपकी अमृतमयी वाणी के श्रवण का लाभ उठाऊंगा।”

इस तरह मन में दृढ़ निश्चय कर उसने प्रभु का उपदेश सुना। उपदेश-श्रवण के प्रभाव से उसके मन में वैराग्यभाव उदित हो गया। उसको अपने पूर्वकृत्यों पर अत्यन्त पश्चात्ताप तथा ग्लानि हुई। उसने हाथ जोड़कर प्रभु से निवेदन किया—“भगवन् ! क्या एक चोर और अत्याचारी भी मुनि-धर्म पाने का अधिकारी हो सकता है ? मेरा पूर्व-जीवन कुकृत्यों से काला बना हुआ है। क्या उसकी सफाई या निर्मलता के लिए मैं आपकी पुनीत सेवा में स्थान पा सकता हूँ ?”

उसके इस निश्छल वचन को सुनकर भगवान् ने कहा—“रोहिण्येय ! अन्तः-करण के पश्चात्ताप से पाप की कालिमा धुल जाती है। अतः अब तू श्रमणपद पाने का अधिकारी बन गया है। तेरे मन के वे सारे क्लुष, जो अब तक के तुम्हारे कुकृत्यों से वंचित हुए थे, आत्मालोचना की भट्टी में जलकर राख हो गये हैं।”

प्रभु की वाणी से प्रख्यात चोर रोहिण्येय देखते ही देखते साधु बन गया और अपने सत्कृत्यों और तपश्चर्या से बहुत आगे बढ़ गया। ठीक ही है, पारस का संयोग लोहे को भी सोना बना देता है। उसी प्रकार वीतराग प्रभु की वाणी पापी को भी धर्मदिमा बना देती है। निर्मल अन्तःकरण या सात्त्विक प्रकृति वाला व्यक्ति यदि प्रव्रज्या ग्रहण करे, व्रत-विधान का पालन करे, तो यह कोई बड़ी बात नहीं है। किन्तु जब एक जन्मजात कुख्यात चोर प्रभु के प्रताप और उपदेश के प्रभाव से पूज्य पुरुष बन जाय तो निश्चित रूप से यह एक बड़ी और असाधारण बात है।

### राजगृही के प्रांगण से अभयकुमार

राजगृही के महाराज श्रेणिक और उनके परिवार की भगवान् महावीर के प्रति भक्ति उल्लेखनीय रही है। उसमें राज-मंत्री अभयकुमार का बड़ा योगदान रहा। भंभसार-श्रेणिक की नन्दा रानी से “अभय” का जन्म हुआ।<sup>१</sup> नन्दा “वैत्रातट” के “धनावह” सेठ की पुत्री थी।

अभयकुमार श्रेणिक-भंभसार का परममान्य मंत्री भी था<sup>२</sup> उसने कई बार राजनैतिक संकटों से श्रेणिक की रक्षा की। एक बार उज्जयिनी के राजा

१ सेणियस्स रन्नो पुत्ते नंदा ए देवीए अत्तए अभए नाम कुमारी होत्था ।

[निरयावलिका, सू० २३]

२ भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति, पृ० ३८ ।

चण्डप्रद्योत ने चौदह राजाओं के साथ राजगृह पर आक्रमण किया। अभय ने ही उस समय राज्य का रक्षण किया था। उसने जहाँ शत्रु का शिविर लगना था, वहाँ पहले ही स्वर्ण मुद्राएं गड़वा दीं। जब चण्डप्रद्योत ने आकर राजगृह को घेरा तो अभय ने उसे सूचना करवाई—“मैं आपका हितैषी होकर एक सूचना कर रहा हूँ कि आपके साथी राजा श्रेणिक से मिल गये हैं। अतः वे आपको पकड़ कर श्रेणिक को संभलाने वाले हैं। श्रेणिक ने उनकी बहुत धनराशि दी है। विश्वास न हो तो आप अपने शिविर की भूमि खुदवा कर देख लें।”

चण्डप्रद्योत ने भूमि खुदवाई तो उसे उस स्थान पर गड़ी हुई स्वर्ण-मुद्राएं मिलीं। भय खाकर वह ज्यों का त्यों ही उज्जयिनी लौट गया।<sup>१</sup>

राजगृही में एक बार एक द्रुमक लकड़हारा सुधर्मा स्वामी के पास दीक्षित हुआ। जब वह दीक्षा के लिए नगरी में गया तो लोग उसका उपहास करते हुए बोले—“ये आये हैं बड़े त्यागी पुरुष, कितना बड़ा वैभव छोड़ा है इन्होंने?” लोगों के इस उपहास वचन से नवदीक्षित मुनि व्यथित हुए। उन्होंने सुधर्मा स्वामी से आकर कहा। द्रुमक मुनि की खेद-निवृत्ति के लिए सुधर्मा स्वामी ने भी अगले ही दिन वहाँ से विहार करने का सोच लिया।

अभयकुमार को जब इस बात का पता चला तो उसने आर्यं सुधर्मा को ठहरने के लिए निवेदन किया तथा नगर में आकर एक-एक कोटि स्वर्ण-मुद्राओं की तीन राशियां लगवाईं और नगर के लोगों को आमंत्रित किया। उसने नगर में घोषणा करवाई कि जो जीवन भर के लिए स्त्री, अग्नि और पानी का परित्याग करे, वह इन तीन कोटि स्वर्ण-मुद्राओं को ले सकता है।

स्त्री, अग्नि और पानी छोड़ने के भय से कोई स्वर्ण लेने को नहीं आया, तब अभयकुमार ने कहा—“देखो वह द्रुमक मुनि कितने बड़े त्यागी हैं। उन्होंने जीवन भर के लिए स्त्री, अग्नि और सच्चित्त जल का परित्याग कर दिया है।” अभय की इस बुद्धिमत्ता से द्रुमक मुनि के प्रति लोगों की व्यंग्य-चर्चा समाप्त हो गई।<sup>२</sup> अभयकुमार की धर्मसेवा के ऐसे अनेकों उदाहरण जैन साहित्य में भरे पड़े हैं।

भगवान् महावीर जब राजगृह पधारे तो अभयकुमार भी वन्दन के लिए उद्यान में आया। देशना के अन्त में अभय ने भगवान् से सविनय पूछा—“भगवन् ! आपके शासन में अन्तिम नोक्षगामी राजा कौन होगा ?”

१ (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष, पृ० १० - ११, श्लो० १८४।

(ख) आवश्यक चूणि उत्तरार्ध।

२ धर्मरत्न प्रकरण—“अभयकुमार कथा।”

उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा—“वीतभय का राजा उदयन, जो मेरे पास दीक्षित मुनि है, वही अन्तिम मोक्षगामी राजा है।”

अभयकुमार ने सोचा—“मैं यदि राजा बन कर दीक्षा ग्रहण करूँगा तो मेरे लिए मोक्ष का रास्ता ही बन्द हो जायगा। अतः क्यों न मैं कुमारवस्था में ही दीक्षा ग्रहण कर लूँ।”

अभयकुमार वैराग्य-भावना से श्रेणिक के पास आया और अपनी दीक्षा की बात कही। श्रेणिक ने कहा—“वत्स! दीक्षा ग्रहण का दिन तो मेरा है, तुम्हें तो अभी राज्य-ग्रहण करना चाहिए। अभयकुमार द्वारा विशेष आग्रह किये जाने पर श्रेणिक ने कहा—“जिस दिन मैं तुमको रुष्ट हो कर कहूँ—‘जा मुझे आकर मुँह नहीं दिखाना,’ उसी दिन तुम प्रव्रजित हो जाना।”

कालान्तर में फिर भगवान् महावीर राजगृह पधारे। उस समय भीषण शीतकाल था। एक दिन राजा श्रेणिक रानी चेलना के साथ घूमने गये। सायंकाल उपवन से लौटते हुए उन्होंने नदी के किनारे एक मुनि को ध्यानस्थ देखा। रात्रि के समय रानी जगी तो उसे मुनि की याद हो आई। सहसा उसके मुँह से निकला—“आह! वे क्या करते होंगे?” रानी के वचन सुन कर राजा के मन में उसके प्रति अविश्वास हो गया। प्रातःकाल भगवद्-वन्दन को जाते हुए उन्होंने अभयकुमार को आदेश दिया—“चेलना का महल जला दो, यहाँ दुराचार बढ़ता है।”

अभयकुमार ने महल से रानियों को निकाल कर उसमें आग लगवा दी।

उधर श्रेणिक ने भगवान् के पास रानियों के आचार-विषयक जिज्ञासा रखी तो महावीर ने कहा—“राजन्! तेरी चेलना आदि सारी रानियाँ निष्पाप हैं, शीलवती हैं।” भगवान् के मुख से रानियों के प्रति कहे गये वचन सुन कर राजा अपने आदेश पर पछताने लगा। वह इस आशंका से कि कहीं कोई हानि न हो जाय, सहसा महल की ओर लौट चला।

मार्ग में ही अभयकुमार मिल गया। राजा ने पूछा—“महल का क्या किया?”

अभय ने कहा—“आपके आदेशानुसार उसे जला दिया।”

“अरे मेरे आदेश के बावजूद भी तुम्हें अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये या,” खिन्न-हृदय से राजा बोला।

यह सुन कर अभय बोला—“राजाज्ञा-भंग का दण्ड प्राण-नाश होता है, मैं इसे अच्छी तरह जानता हूँ।”

“फिर भी तुम्हें कुछ रुक कर, समय टाल कर आदेश का पालन करना चाहिये था,” व्यथित मन से राजा ने कहा ।

इस पर अभय ने जवाब दिया—“इस तरह बिना सोचे समझे आदेश ही नहीं देना चाहिये । मैंने तो अपने से बड़ों की आज्ञा के पालन को ही अपना धर्म समझा है और आज तक उसी के अनुकूल आचरण भी किया है ।”

अभय के इस उत्तर-प्रत्युत्तर एवं अपने द्वारा दिये गये दुष्टादेश से राजा अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा । दूसरा होता तो राजा तत्क्षण उसके सिर को धड़ से अलग कर देता किन्तु पुत्र के ममत्व से वह ऐसा नहीं कर सका । फिर भी उसके मुख से सहसा निकल पड़ा—“जारे अभय ! यहाँ से चला जा । भूल कर भी कभी मुझे अपना मुँह मत दिखाना ।”

अभय तो ऐसा चाहता ही था । अंधा जैसे आँख पाकर गद्गद् हो जाता है, अभय भी उसी तरह परम प्रसन्न हो उठा । वह पितृ-वचन को शिरोधार्य कर तत्काल वहाँ से चल पड़ा और भगवान् के चरणों में जाकर उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली ।

राजा श्रेणिक ने जब महल एवं उसके भीतर रहने वालों को सुरक्षित पाया तो उसको फिर एक बार अपने सहसा दिये गये आदेश पर दुःख हुआ । उसे यह समझने में किंचित् भी देर नहीं लगी कि आज के इस आदेश से मैंने अभय जैसे चतुर पुत्र एवं राज्य-कार्य में योग्य व नीतिज्ञ मंत्री को खो दिया है । वह आज्ञा के बल पर शीघ्रता से लौट कर पुनः महावीर के पास आया । वहाँ उसने देखा कि अभयकुमार तो दीक्षित हो गया है । अब पछताने के सिवा और क्या होता ? अभयकुमार मुनि विशुद्ध मुनिधर्म का पालन कर विजय नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र बने ।<sup>१</sup>

### ऐतिहासिक दृष्टि से निर्वाणकाल

जैन परम्परा के प्रायः प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी प्रकार के ग्रन्थों में इस प्रकार के पुष्ट और प्रबल प्रमाण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं जिनके आधार पर पूर्ण प्रामाणिकता के साथ यह माना जाता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७वें वर्ष में हुआ ।

आधुनिक ऐतिहासिक शोधकर्त्ता विद्वानों ने भी इस विषय में विभिन्न दृष्टियों से गहन गवेषणाएँ करने का प्रयास किया है । उन विद्वानों में सर्वप्रथम डॉ० हर्मन जैकोबी ने जैन सूत्रों की भूमिका में इस विषय पर चर्चा की है ।

१ अनुत्तरोपपातिक.....

भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण प्रसंग पर डॉ० जैकोबी ने दो स्थानों पर चर्चा की है पर वे दोनों चर्चाएँ परस्पर विरोधी हैं ।

पहली चर्चा में डॉ० जैकोबी ने भगवान् महावीर का निर्वाणकाल ई. पू. ५२६ माना है । इसके प्रमाण में उन्होंने लिखा है—“जैनों की यह सर्वसम्मत मान्यता है कि जैन सूत्रों की वाचना वल्लभी में देवद्वि क्षमाश्रमण के तत्वावधान में हुई । इस घटना का समय वीर निर्वाण से ६८० अथवा ६६३ वर्ष पश्चात् का है अर्थात् ई. सन् ४५४ या ४६७ का है, जैसा कि कल्पसूत्र की गाथा १४८ में उल्लिखित है ।”<sup>१</sup>

यहाँ पर डॉ० जैकोबी ने वीर-निर्वाणकाल ई० पू० ५२६ माना है, क्योंकि ५२६ में ४५४ जोड़ने पर ६८० और ४६७ जोड़ने पर ६६३ वर्ष होते हैं ।

इसके पश्चात् डॉ० जैकोबी ने दूसरे खण्ड की भूमिका में भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाणकाल के सम्बन्ध में विचार करते हुए भगवान् महावीर के निर्वाणकाल पर पुनः दूसरी बार चर्चा की है । उस चर्चा के निष्कर्ष के रूप में उन्होंने अपनी पहली मान्यता के विपरीत अपना यह अभिमत प्रकट किया है कि बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८४ में हुआ था तथा महावीर का निर्वाण ई० पू० ४७७ में हुआ था ।<sup>२</sup>

डॉ० जैकोबी ने अपने इस परिवर्तित निर्णय के औचित्य के सम्बन्ध में कोई भी प्रमाण अथवा आधार प्रस्तुत नहीं किया ! उनके द्वारा बुद्ध को बड़ा और महावीर को छोटा मानने में प्रमुख तर्क यह रखा गया है कि कूणिक का चेटक के साथ जो युद्ध हुआ उसका जितना विवरण बौद्ध शास्त्रों में मिलता है, उससे अधिक विस्तृत विवरण जैन आगमों में मिलता है । जहाँ बौद्ध शास्त्रों में अजातशत्रु के अमात्य वस्सकार द्वारा बुद्ध के समक्ष वज्जियों पर विजय प्राप्ति के लिए केवल योजना प्रस्तुत करने का उल्लेख है, वहाँ जैन आगमों में कूणिक और चेटक के बीच हुए ‘महाशलाकटक संग्राम’, ‘रथमूसल संग्राम’ और वंशाली के प्राकार-भंग तक स्पष्ट विवरण मिलता है । इस तर्क के आधार पर डॉ० जैकोबी ने कहा है—“इससे यह प्रमाणित होता है कि महावीर बुद्ध के बाद कितने ही वर्षों तक जीवित रहे थे ।”

वास्तव में बौद्ध शास्त्रों में सम्यक् पर्यवेक्षण से डॉ० जैकोबी का यह तर्क बिल्कुल निर्बल और नितान्त पंगु प्रतीत होगा, क्योंकि वस्सकार की कूटनीतिक चाल के माध्यम से वज्जियों पर कूणिक की विजय का जैनागमों में दिये गये विवरण से भिन्न प्रकार का विवरण बौद्ध शास्त्रों में उपलब्ध होता है ।

१ एस. बी. ई. बोल्यूम २२, इन्ट्रोडक्टरी, पृ. ३७ ।

२ ‘श्रमण’ वर्ष १३, अंक ६ ।

बौद्ध ग्रन्थ दीर्घनिकाय अट्ठकहा में वस्सकार द्वारा छलछाप से वज्जियों में फूट डाल कर कूणिक द्वारा वैशाली पर आक्रमण करने, वज्जियों की पराजय व कूणिक की विजय का संक्षेप में पूरा विवरण उल्लिखित है। बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि एकता के सूत्र में बँधे हुए वज्जियों में फूट, द्वेष और भेद उत्पन्न करने के लक्ष्य रख कर वस्सकार बड़े नाटकीय ढंग से वैशाली गया। वह वज्जी गणतन्त्र में अमात्य का पद प्राप्त करने में सफल हुआ। वस्सकार ३ वर्ष तक वैशाली में रहा और अपनी कूटनीतिक चालों से वज्जियों में ईर्ष्या-विद्वेष फैलाकर वज्जियों की अजेय शक्ति को खोखला और निर्बल बना दिया।

अन्ततोगत्वा, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, वस्सकार के संकेत पा कूणिक ने वैशाली पर प्रबल आक्रमण किया और वज्जियों को परास्त कर दिया। केवल 'रथमूसल' और 'महाशिलाकंटक' संग्राम का परिचय बौद्ध साहित्य में नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि राजा कूणिक भगवान् महावीर का परम भक्त था। उसने अपने राजपुरुषों द्वारा भगवान् महावीर की दैनिक चर्या के सम्बन्ध में प्रतिदिन की सूचना प्राप्त करने की व्यवस्था कर रखी थी। भगवान् महावीर के बाद सुधर्मा स्वामी की परिषद् में भी वह सभक्ति उपस्थित हुआ। अतः जैनागमों में उसका अधिक विवरण होना और बौद्ध साहित्य में संक्षिप्त निर्देश होना स्वाभाविक है।

डॉ० जैकोबी ने महावीर के पूर्व निर्वाण सम्बन्धी बौद्ध शास्त्रों में मिलने वाले तीन प्रकरणों को अर्थार्थ प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु प्राप्त सामग्री के अनुसार वह ठीक नहीं है। बौद्ध साहित्य में इन तीन प्रकरणों के अतिरिक्त कहीं भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जो महावीर-निर्वाण से पूर्व बुद्ध-निर्वाण को प्रमाणित करता हो, अपितु ऐसे अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं जो बुद्ध का छोटा होना और महावीर का ज्येष्ठ होना प्रमाणित करते हैं। अतः डॉ० जैकोबी का वह दूसरा निर्णय प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। डॉ० जैकोबी ने अपने दूसरे मन्तव्य में महावीर का निर्वाण ४७७ ई. पू. और बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८४ माना है। पर उन्होंने उस सारे लेख में यह बताने का यत्न नहीं किया कि यही तिथियाँ मानी जायँ, ऐसी अनिवार्यता क्यों पैदा हुई? उन्होंने बताया है कि जैनों की सर्वमान्य परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक महावीर के निर्वाण के २१५ वर्ष बाद हुआ था, परन्तु आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार यह राज्याभिषेक महावीर के निर्वाण के १५५ वर्ष पश्चात् हुआ। इतिहास के विद्वानों ने इसे श्री हेमचन्द्राचार्य की भूल माना

है। इस विषय में सर्वाधिक पुष्ट धारणाएँ हैं कि भगवान् महावीर जिस दिन निर्वाण को प्राप्त होते हैं उसी दिन-उज्जैन में पालक राजा गद्दी पर बैठता है। उसका राज्य ६० वर्ष तक चला, उसके बाद १५५ (एक सौ पचपन) वर्ष तक नन्दों का राज्य और तत्पश्चात् मौर्य राज्य का प्रारम्भ होता है, अर्थात् महावीर के निर्वाण के २१५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य गद्दी पर बैठता है। यह प्रकरण 'तित्थोगाली पद्मत्रय' का है जो परिशिष्ट पर्व से बहुत प्राचीन माना जाता है। बाबू श्री पूर्णचन्द्र नाहर तथा श्री कृष्णचन्द्र घोष के अनुसार हेमचन्द्राचार्य की गणना में असावधानी से पालक राज्य के ६० वर्ष छूट गये हैं।<sup>१</sup>

सम्भव है, जिस श्लोक (३३६) के आधार पर डॉ० जैकोबी ने महावीर निर्वाण के समय को निश्चित किया है उसमें भी वैसी ही असावधानी रही हो। स्वयं हेमचन्द्राचार्य ने अपने समकालीन राजा कुमारपाल का काल बताते समय महावीर निर्वाण का जो समय माना है, वह ई० पू० ५२७ का ही है, न कि ई० पू० ४७७ का। हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं कि जब भगवान् महावीर के निर्वाण से १६६६ वर्ष बीतेंगे तब चौलुक्य कुल में चन्द्रमा के समान राजा कुमारपाल होगा।<sup>३</sup>

अब यह निर्विवाद रूप से माना जाता है कि राजा कुमारपाल ई० सन् ११४३ में हुआ। हेमचन्द्राचार्य के कथन से यह काल महावीर के निर्वाण से १६६६ वर्ष का है। इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने भी महावीर निर्वाणकाल १६६६-११४२ ई० पू० ५२७ ही माना है।

डॉ० जैकोबी की धारणा के बाद ३२ वर्ष के इस सुदीर्घ काल में इतिहास ने बहुत कुछ नई उपलब्धियाँ की हैं, इसलिए भी डॉ० जैकोबी के निर्णय को अन्तिम रूप से मान लेना यथार्थ नहीं है।

१ जं रयणि सिद्धिमग्नो अरहा तित्थं करो महावीरो ।

तं रयणिमवन्ति, अभिसित्तो पालग्नो राया ॥

पालग रण्णो सट्ठी, पण पण सयं वियाणि शंदाणम् ।

मुरियाण सट्ठिसयं, तीसा पुण पुसमित्ताणम् ॥ [तित्थोगाली पद्मत्रय ६२०-२१]

२ Hemchandra must have omitted by oversight to count the period of 60 years of King Palaka after Mahaveera,

[Epitome of Jainism Appendix A, P. IV]

३ अस्मिन्निर्वाणतो वर्षंजातन्यमय षोडश ।

नव षष्टिश्च यास्यन्ति, यदा तत्र पुरे तदा ॥

कुमारपाल भूपालो, चौलुक्यकुलचन्द्रमाः ।

भविष्यति महाबाहुः, प्रचण्डाक्षश्चकासनः ॥

[त्रिषष्टि शलाका पु. च., पर्व १०, सर्ग १२, श्लो० ४५-४६]



डॉ० के० पी० जायसवाल ने भी महावीर निर्वाण को बुद्ध से पूर्व माना है। इनका कहना है कि बौद्धागमों में वर्णित महावीर के निर्वाण प्रसंग ऐतिहासिक तथ्यों के निर्धारण में किसी प्रकार उपेक्षा के योग्य नहीं हैं। सामगाम मुत्त में बुद्ध महावीर-निर्वाण के समाचार सुनते हैं और प्रचलित धारणाओं के अनुसार इसके २ वर्ष बाद वे स्वयं निर्वाण प्राप्त करते हैं।<sup>१</sup> (बौद्धों की दक्षिणी परम्परा के अनुसार महावीर का निर्वाण ई० पू० ५४६ में होता है और बुद्ध निर्वाण ई० पू० ५४४ में।)

डॉ० जायसवाल ने महावीर निर्वाण सम्बन्धी बौद्ध उल्लेखों की अपेक्षा न करने की जो बात कही है वह ठीक है, पर सामगाम मुत्त के आधार पर बुद्ध से २ वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण मानना और महावीर के ४७० वर्ष बाद विक्रमादित्य की मान्यता में १८ वर्ष जोड़कर महावीर और विक्रम के मध्यकाल की अवधि निश्चित करना पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है। उन्होंने सरस्वतीगच्छ की पट्टावली के अनुसार वीर निर्वाण और विक्रम-जन्म के बीच का अन्तर ४७० वर्ष माना है और फिर १८वें वर्ष में विक्रम के राज्यासीन होने पर संवत् का प्रचलन हुआ, इस दृष्टि से वीर निर्वाण से ४७० वर्ष बाद विक्रम संवत्सर मानने की बात को भूल कहा है। किन्तु इतिहासकारों का कथन है कि यह मान्यता किसी भी प्रामाणिक परम्परा पर आधारित नहीं है। आचार्य मेरुतुंग<sup>२</sup> ने वीर निर्वाण और विक्रमादित्य के बीच ४७० वर्ष का अन्तर माना है। वह अन्तर विक्रम के जन्मकाल से नहीं अपितु शक राज्य की समाप्ति और विक्रम की विजय से सम्बन्धित है।<sup>३</sup>

डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी ने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ (हिन्दू सभ्यता) में डॉ० जायसवाल की तरह भगवान् महावीर की ज्येष्ठता और पूर्व निर्वाण-प्राप्ति का युक्तिपूर्वक समर्थन किया है। पुरातत्त्व गवेषक मुनि जिन विजयजी ने भी डॉ० जायसवाल के मतानुसार भगवान् महावीर की ज्येष्ठता स्वीकार की है।<sup>४</sup>

१ जर्नल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, १-१०३।

२ विक्रम रज्जारंभा परओ सिरि वीर निव्वुइ भण्डिया।

सुन्न मुणि वेय जुत्ते विक्कम कालाउ जिण कालो ॥ विचार श्रेणी पृ. ३-४

३ The suggestion can hardly be said to rest on any reliable tradition. Merutunga places the death of the last Jian or Teerthankara 470 years before the end of Saka Rule and the victory and not birth of the traditional Vikrama [An Advanced History of India by R. C. Majumdar., H. C. Roy Chaudhari & K. K. Dutta, Page 85.]

४ वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना-भूमिका पृ० १

श्री धर्मानन्द कौशाम्बी का निश्चित मत है कि तत्कालीन सातों धर्माचार्यों में बुद्ध सबसे छोटे थे। प्रारम्भ में उनका संघ भी सबसे छोटा था।<sup>१</sup> कौशाम्बी जी ने कालचक्र की बात को यह कह कर गौण कर दिया है कि बुद्ध की जन्म तिथि में कुछ कम या अधिक अन्तर पड़ जाता है तो भी उससे उनके जीवन-चरित्र में किसी प्रकार का गौणत्व नहीं आ सकता।<sup>२</sup>

इसी प्रकार डॉ० हर्नले ने अपने "हेस्टिंगाका एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स" ग्रन्थ में भी इसकी चर्चा की है। उनके मतानुसार बुद्ध निर्वाण महावीर से ५ वर्ष बाद होता है। तदनुसार बुद्ध का जन्म महावीर से ३ वर्ष पूर्व होता है।

मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार भगवान् महावीर से बुद्ध १४ वर्ष ५ मास, १५ दिन पूर्व निर्वाण प्राप्त कर चुके थे, यानी भगवान् महावीर से बुद्ध आयु में लगभग २२ वर्ष बड़े थे। बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ५४२ (मई) और महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२८ (नवम्बर)<sup>३</sup> होता है। भगवान् महावीर का निर्वाण उन्होंने ई० पू० ५२७ माना है, जो परम्परा-सम्मत भी है और प्रमाण-सम्मत भी।

श्री विजयेन्द्र सूरि द्वारा लिखित 'तीर्थंकर महावीर' में भी विविध प्रमाणों के साथ भगवान् महावीर का निर्वाणकाल ई० पू० ५२७ ही प्रमाणित किया गया है।

भगवान् महावीर के निर्वाणकाल का विचार जिन आधारों पर किया गया है, उन सब में साक्षात् व स्पष्ट प्रमाण बौद्ध पिटकों का है। जिन प्रकरणों में निर्वाण की चर्चा है वे क्रमशः मज्झिमनिकाय-सामगामसुत्त, दीर्घनिकाय-पासादिक सुत्त और दीर्घनिकाय-संगीति पर्याय सुत्त हैं। तीनों प्रकरणों की आत्मा एक है, पर उनके ऊपर का ढाँचा निराला है। इनमें बुद्ध ने आनन्द और चुन्द से भगवान् महावीर के निर्वाण की बात कही है। कुछ लेखकों ने माना है कि इन प्रकरणों में विरोधाभास है। डॉ० जेकोबी ने उक्त प्रकरणों को इसलिए भी अप्रमाणित माना है कि इनमें से कोई समुल्लेख महापरिनिव्वाण सुत्त में नहीं है जिससे कि बुद्ध के अन्तिम जीवन प्रसंगों का व्योरा मिलता है।<sup>४</sup> जहाँ तक बुद्ध से भगवान् महावीर के पूर्व निर्वाण का प्रश्न है, हमें इन प्रकरणों की

१ भगवान् बुद्ध, पृ० ३३-१५५

२ भगवान् बुद्ध-भूमिका, पृ० १२

३ ईस्वी पूर्व ५२८ के नवम्बर महीने में और ई. पू. ५२७ में केवल २ महीने का ही अन्तर है। अतः महावीर निर्वाण का काल सामान्यतः ई. पू. ५२७ का ही लिखा जाता है।

४ भ्रमण वर्ष १३, अंक ६।

वास्तविकता में इसलिये भी संदेह नहीं करना चाहिए कि जैन आगमों में महावीर निर्वाण के सम्बन्ध में इससे कोई विरोधी उल्लेख नहीं मिल रहा है। यदि जैन आगमों में भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण की पूर्वापरता के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख होता तो हमें भी इन प्रकरणों की वास्तविकता के सम्बन्ध में संदेह हो सकता था। फिर बौद्ध शास्त्रों में भी इन तीन प्रकरणों के अतिरिक्त कोई ऐसा प्रकरण होता जो महावीर-निर्वाण से पूर्व बुद्ध-निर्वाण की बात कहता तो भी हमें गम्भीरता से मोचना होता। किन्तु ऐसा कोई बाधक कारण दोनों ओर के साहित्य में नहीं है। ऐसी स्थिति में उन्हें प्रमाण-भूत मानना असंगत प्रतीत नहीं होता। इसमें जो कालावधि का भेद है उसे हम आगे स्पष्ट कर रहे हैं कि भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् बुद्ध का निर्वाण हुआ।

मुनि नगराजजी के अनुसार महावीर की ज्येष्ठता को प्रमाणित करने के लिए और भी अनेक प्रसंग बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होते हैं जिनमें बुद्ध स्वयं अपने को तात्कालिक सभी धर्मनायकों में छोटा स्वीकार करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) एक बार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में अनाथ पिंडिक के जेत्तवन में विहार कर रहे थे। राजा प्रसेनजित (कोशल) भगवान् के पास गया और कुशल पूछकर जिज्ञासा व्यक्त की—“गौतम ! क्या आप भी यह अधिकारपूर्वक कहते हैं कि आपने अनुत्तर सम्यक् संबोधि को प्राप्त कर लिया है ?”

बुद्ध ने उत्तर दिया—“महाराज ! यदि कोई किसी को सचमुच सम्यक् संबुद्ध कहे तो वह मुझे ही कह सकता है, मैंने ही अनुत्तर सम्यक् संबोधि का साक्षात्कार किया है।”

प्रसेनजित् ने कहा—गौतम ! दूसरे श्रमण ब्राह्मण, जो संघ के अधिपति, गणाधिपति, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थंकर और बहुजन सम्मत, पूरण काश्यप, मकखलि गोशाल, निगण्ठ नायपुत्त, सजय वेलट्ठिपुत्त, प्रकृद्ध कात्यायन, अजितकेश कम्बली आदि से भी ऐसा पूछे जाने पर वे अनुत्तर सम्यक् संबोधि-प्राप्ति का अधिकारपूर्वक कथन नहीं करते। आप तो अल्प-वयस्क व सद्यः-प्रव्रजित हैं, फिर यह कैसे कह सकते हैं ?”

बुद्ध ने कहा—“क्षत्रिय, सर्प, अग्नि व भिक्षु को अल्प-वयस्क समझकर कभी उनका पराभव या अपमान नहीं करना चाहिये।” (संयुक्तनिकाय, दहर सुत्त पृ० १।१ के आधार से)

उस समय के सब धर्मनायकों में बुद्ध की कनिष्ठता का यह एक प्रबल प्रमाण है।

(२) एक बार बुद्ध राजगृह के वेणुवन में विहार कर रहे थे। उस समय एक देव ने आकर सभिय नामक एक परिव्राजक को कुछ प्रश्न सिखाये और कहा कि जो इन प्रश्नों का उत्तर दे, उन्हीं का तू शिष्य होना। सभिय; श्रलण, ब्राह्मण संधनायक, गरुणायक, साधुसम्मत पूरण काश्यप, मक्खलि गोशाल, अजित-केश कम्बली, प्रकृष्न कात्यायन, संजय वेलट्ठपुत्त और निगण्ठ नायपुत्त के पास क्रमशः गया और उनसे प्रश्न पूछे। सभी तीर्थंकर उसके प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके और सभिय के प्रति कोप, द्वेष एवं अप्रसन्नता ही व्यक्त करने लगे। सभिय परिव्राजक इस पर बहुत असंतुष्ट हुआ, उसका मन विविध ऊहापोहों से भर गया। उसने निर्णय किया—“इससे तो अच्छा हो कि गृहस्थ होकर सांसारिक आनन्द लूटूँ ?”

सभिय के मन में आया कि श्रमण गौतम भी संघी, गरुण, बहुजन-सम्मत हैं, क्यों न मैं उनसे भी प्रश्न पूछूँ। उसका मन तत्काल ही आशंका से भर गया। उसने सोचा “पूरण काश्यप और निगण्ठ नायपुत्त जैसे धीरे, वृद्ध, वयस्क उत्तरावस्था को प्राप्त, वयातीत, स्थविर, अनुभवी, चिर प्रव्रजित संघी, गरुण, गरुणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थंकर, बहुजन-सम्मानित, श्रमण ब्राह्मण भी मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके, उल्टे अप्रसन्नता व्यक्त कर मुझ से ही इनका उत्तर पूछते हैं; तो श्रमण गौतम मेरे प्रश्नों का क्या उत्तर दे सकेंगे? वे तो आयु में कनिष्ठ और प्रव्रज्या में नवीन हैं। फिर भी श्रमण युवक होते हुए भी महद्भिक और तेजस्वी होते हैं, अतः श्रमण गौतम से भी इन प्रश्नों को पूछूँ।”<sup>२</sup> (सुत्तनिपात महावग्ग सभिय सुत्त के आधार से)

यहाँ बुद्ध की अपेक्षा सभी धर्मनायकों को जिण्णा, बुद्धा, महल्लका, अद्दगता, वयोअनुपत्ता, थेरा, रत्तंभू, चिरपव्वजिता विशेषण दिये हैं।

(३) फिर एक समय भगवान् (बुद्ध) राजगृह में जीवक कौमार भृत्य के आम्रवन में १२५० भिक्षुओं के साथ विहार कर रहे थे, उस समय पूर्णमासी के उपोसथ के दिन चातुर्मासि को कौमुदी से पूर्ण पूर्णिमा की रात को राजा मागध अजातशत्रु वैदेही पुत्र आदि राजामात्यों से घिरा हुआ प्रासाद के ऊपर बैठा हुआ था। राजा ने जिज्ञासा की—“किसका सत्संग करें, जो हमारे चित्त को प्रसन्न करे ?”

राजमंत्री ने कहा—“पूरण काश्यप से धर्मचर्चा करें। वे चिरकाल के साधु व वयोवृद्ध हैं।”

१ सुत्त निपात, महावग्ग ।

२ पन्हे पुट्ठो व्याकरिस्सति ! समणो हि गौतमो दहुरो वेव, जातिया नवो च पव्वज्जायाति  
[सुत्त निपात, सभिय सुत्त, पृ० १०६]

दूसरे मंत्री ने कहा—“मस्खलि गोशाल संघस्वामी हैं।”

अन्य ने कहा—“अजित केश कम्बली संघस्वामी हैं।”

फिर दूसरे मंत्री ने प्रक्रुद्ध कात्यायन का और इससे भिन्न मंत्री ने संजय वेलट्टिपुत्त का परिचय दिया। एक मंत्री ने कहा—“निगण्ठ नायपुत्त संघके स्वामी हैं। उनका सत्संग करें।”

सब की बात सुनकर मगध-राज चुप रहे। उस समय जीवक कीमार भृत्य से अजातशत्रु ने कहा कि तुम चुप क्यों हो? उसने कहा—“देव! भगवाम् अहंत् मेरे आम के बगीचे में १२५० भिक्षुओं के साथ विहार कर रहे हैं। उनका सत्संग करें। आपके चित्त को प्रसन्नता होगी।”

यहाँ पर भी पूरण काश्यप आदि को चिरकाल से साधु और वयोवृद्ध कहा गया है।

इन तीनों प्रकरणों में महावीर का ज्येष्ठत्व प्रमाणित किया गया है। वह भी केवल वयोमान की दृष्टि से ही नहीं, अपितु ज्ञान, प्रभाव और प्रज्ञा की दृष्टि से भी ज्येष्ठत्व बतलाया गया है। इनमें स्पष्टतः बुद्ध को छोटा स्वीकार किया गया है।

इन सब आधारों को देखते हुए महावीर के ज्येष्ठत्व और पूर्व निर्वाण में कोई संदेह नहीं रह जाता।

इस तरह जहाँ तक भगवान् महावीर के निर्वाणकाल का प्रश्न है वह पारम्परिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों व आधारों से ई० पू० ५२७ मुनिश्चित ठहरता है।

इसी विषय में एक अन्य प्रमाण यह भी है कि इतिहास के क्षेत्र में सम्राट् चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ई० पू० ३२२ माना गया है।<sup>१</sup> इतिहासकार इतिहास के इस अन्धकारपूर्ण वातावरण में इसे एक प्रकाशस्तंभ मानते हैं। यह समय सर्वमान्य और प्रामाणिक है। इसी को केन्द्रबिन्दु मानकर इतिहास शास्त्राब्दियों पूर्व और पश्चात् की घटनाओं का समय-निर्धारण करता है।

जैन परम्परा में मेरुत्तु ग की—“त्रिचार श्रेणी”, तित्थोगाली पइस्य तथा तीर्थोद्धार प्रकीर्ण आदि प्राचीन ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण महावीर-

१ Dr. Radha Kumud Mukherji, Chandragupta Maurya & his times, pp. 44-6

(ख) श्री नेम पाण्डे, भारत का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग—प्राचीन भारत, चतुर्थ संस्करण, पृ० २४२।

निर्वाण के २१५ वर्ष पश्चात् माना है। वह राज्यारोहण भवन्ती का माना गया है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलीपुत्र राज्यारोहण के दस वर्ष पश्चात् अपना राज्य स्थापित किया था।<sup>१</sup>

इस प्रकार जैन काल मरणा और सामान्य ऐतिहासिक धारणा से महावीर निर्वाण का समय ई० पू० ३१२ + २१५ = ५२७ होता है।

ऐसे अनेक इतिहास के विशेषज्ञों ने भी महावीर-निर्वाण का असंदिग्ध समय ई० पू० ५२७ माना है। महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा (श्री जैन सत्य-प्रकाश, वर्ष २, अंक ४, ५ पृ० २१७-८१ व "भारतीय प्राचीन लिपिमाला", पृ० १६३), पं० बलदेव उपाध्याय (धर्म और दर्शन, पृ० ८६), डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल (तीर्थंकर भगवान् महावीर, भाग २, भूमिका पृ० १६), डॉ० हीरालाल जैन (तत्त्व समुच्चय, पृ० ६), महामहोपाध्याय पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ (भारत का प्राचीन राजवंश खण्ड २, पृ० ४३६) आदि विद्वान् उपर्युक्त निर्वाणकाल के निर्णय से सहमत प्रतीत होते हैं।

इन सबके अतिरिक्त ई० पू० ५२७ में भगवान् महावीर के निर्वाण को असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करने वाला सबसे प्रबल और सर्वमान्य प्रमाण यह है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी प्राचीन आचार्यों ने एकमत से महावीर निर्वाण के ६०५ वर्ष और ५ मास पश्चात् शक संवत् के प्रारम्भ होने का उल्लेख किया है। यथा :

छहि वासाणसएहि, पंचहि वासेहि पंच मासेहि ।

मम निव्वारणगयस्सउ उपज्जिसइ सगो राया ॥

[महावीर चरियं, (आचार्य नेमिचन्द्र) रचनाकाल वि० स० ११४१]

पण छस्सयवस्सं पणमासजुदं ।

गमिय वीरनिव्वुइयो सगराओ ॥ ८४८

[त्रिलोकसार, (नेमिचन्द्र) रचनाकाल ११वीं शताब्दी]

गिण्वारो वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु ।

पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिसो अहवा ॥

[तिस्रोय पण्णत्ती, भा० १, महाधिकार ४, गा० १४६६]

१ (क) The date 313 B.C. for Chandragupta accession, if it is based on correct tradition, may refer to his acquisition of Avanti in Malva, as the chronological Datum is found in verse where the Maurya King finds mention in the list of succession of Palak, a king of Avanti. [H. C. Ray Chaudhary—Political History of Ancient India, P. 295.]

(ख) The Jain date 313 B.C. if based on correct tradition may refer to acquisition of Avanti, (Malva).

आचार्य यति वृषभ ने उपर्युक्त गाथा से पूर्व की गाथा संख्या १४६६, १४६७ और १४६८ में वीर निर्वाण के पश्चात् क्रमशः ४६१ वर्ष, ६७८५ वर्ष तथा ५ मास और १४७६३ वर्ष व्यतीत होने पर भी शक राजा के उत्पन्न होने का उल्लेख किया है। अनेक विद्वान् यति वृषभ द्वारा उल्लिखित मतवैभिन्य को देखकर असमंजस में पड़ जाते हैं, पर वास्तव में विचार में पड़ने जैसी कोई बात नहीं है। ४६१ में जिस शक राजा के होने का उल्लेख है वह वीर निर्वाण सं० ४६५ में हो चुका है जैसा कि इसी पुस्तक के पृ० ४६८ पर उल्लेख है। इससे आगे की २ गाथाएं किन्हीं भावी शक राजाओं का संकेत करती हैं, जो क्रमशः वीर निर्वाण संवत् ६७८५ और १४७६३ में होने वाले हैं।

उपरिलिखित सब प्रमाणों से यह पूर्णतः सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण शक संवत्सर के प्रारम्भ से ६०५ वर्ष और ५ मास पूर्व हुआ। इसमें शंका के लिये कोई अवकाश ही नहीं रहता, क्योंकि भगवान् महावीर के निर्वाणकाल से प्रारम्भ होकर सभी प्राचीन जैन आचार्यों की काल-गणना शक संवत्सर से आकर मिल जाती है। वीरनिर्वाण-कालगणना और शक संवत् का शक संवत् के आरंभ काल से ही प्रगाढ़ संबन्ध रहा है और इन दोनों काल-गणनाओं का आज तक वही सुनिश्चित अन्तर चला आ रहा है।

इन सब पुष्ट प्रमाणों के आधार पर वीरनिर्वाण-काल ई० पूर्व ५२७ ही असंदिग्ध एवं सुनिश्चित रूप से प्रमाणित होता है। वीर-निर्वाण संवत् की यही मान्यता इतिहाससिद्ध और सर्वमान्य है।

### भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण का ऐतिहासिक विश्लेषण

भगवान् महावीर और बुद्ध समसामयिक थे, अतः इनके निर्वाणकाल का निर्णय करते समय प्रायः सभी विद्वानों ने दोनों महापुरुषों के निर्वाणकाल को एक दूसरे का निर्वाणकाल निश्चित करने में सहायक मान कर साथ-साथ चर्चा की है। इस प्रकार के प्रयास के कारण यह समस्या सुलझाने के स्थान पर और अधिक जटिल बनी है।

वास्तविक स्थिति यह है कि भगवान् महावीर का निर्वाणकाल जितना सुनिश्चित, प्रामाणिक और असंदिग्ध है उतना ही बुद्ध का निर्वाणकाल आज तक भी अनिश्चित, अप्रामाणिक एवं संदिग्ध बना हुआ है। बुद्ध के निर्वाणकाल के संबन्ध में इतिहास के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ताओं की आज भिन्न-भिन्न बीस प्रकार की मान्यताएं ऐतिहासिक जगत् में प्रचलित हैं। भारत के लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञ रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय प्राचीन निपिमाला' में 'बुद्ध निर्वाण संवत्' की चर्चा करते हुए लिखा है :-

“बुद्ध का निर्वाण किस वर्ष में हुआ, इसका यथार्थ निर्णय अब तक नहीं हुआ। सीलोन<sup>१</sup> (सिंहल द्वीप, लंका), ब्रह्मा और स्याम में बुद्ध का निर्वाण ई० संवत् से ५४४ वर्ष पूर्व होना माना जाता है और ऐसा ही आसाम के राजगुरु मानते हैं।<sup>२</sup> चीन वाले ई० सं० पूर्व ६३८ में उसका होना मानते हैं।<sup>३</sup> चीनी यात्री फाहियान ने, जो ई० सन् ४०० में यहाँ आया था, लिखा है कि इस समय तक निर्वाण के १४६७ वर्ष व्यतीत हुए हैं।<sup>४</sup> इससे बुद्ध के निर्वाण का समय ई० सन् पूर्व (१४६७-४००) = १०६७ के आस-पास मानना पड़ना है। चीनी यात्री हुएनत्सांग के निर्वाण से १००वें वर्ष में राजा अशोक (ई० सन् पूर्व २६६ से २२७ तक) का राज्य दूर-दूर फैलना बतलाया है।<sup>५</sup> जिससे निर्वाणकाल ई० सं० पूर्व चौथी शताब्दी के बीच आता है। डॉ० बलर ने ई० सं० पूर्व ४८३-२ और ४७२-१ के बीच<sup>६</sup>, प्रोफेसर कर्न<sup>७</sup> ने ई० सं० पूर्व ३८८ में, फर्गुसन<sup>८</sup> ने ४८१ में, जनरल कनिगहाम<sup>९</sup> ने ४७८ में, मैक्समूलर<sup>१०</sup> ने ४७७ में, पंडित भगवानलाल इन्दरजी<sup>११</sup> ने ६३८ में (गया के लेख के आधार पर), मिस डफ<sup>१२</sup> ने ४७७ में, डॉ० बार्नेट<sup>१३</sup> ने ४८३ में डॉ० फ्लीट<sup>१४</sup> ने ४८३ में और वी० ए० स्मिथ<sup>१५</sup> ने ई० सं० पू० ४८७ या ४८६ में निर्वाण होने का अनुमान किया है।”

मुनि कल्याण विजयजी ने अपनी पुस्तक “वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना” में अपनी ओर से प्रबल तर्क रखते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि महात्मा बृद्ध भगवान् महावीर से वय में २२ वर्ष ज्येष्ठ थे और बुद्ध

१ कार्पूस इन्डिक्रणन्म इण्डिकेशन्म (जनरल कनिगहाम संपादित), जि० १ की भूमिका, पृ० ३

२ मि. ए. जि. २ युगफुल टेबल्स, पृ० १६५।

३ वही

४ वी. बु. रे. वे. व; जि. १ की भूमिका, पृ० ७५

५ वी. बु. रे. वे. व; जि. १, पृ० १५०

६ इ. एं.; जि. ६, पृ० १५४

७ साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डिया जि. १, पृ० ४६२

८ कार्पूस इन्डिक्रणन्म इण्डिकेशन्म जि. १ की भूमिका, पृ० ६

९ वही

१० मं. हि. ए. सं. नि; पृ० २६८

११ इ. एं. जि. १०, पृ० ३४६

१२ ड. क्रॉ. इं, पृ० ६

१३ वा. एं. इं, पृ० ३७

१४ ज. रॉ. ए. सो. ई. स. १६०६, पृ० ६६७

१५ स्मि. अ. हि. इं, पृ० ४७, तीसरा संस्करण



के निर्वाण से १४ वर्ष, ५ मास और १५ दिन पश्चात् भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। इससे बुद्ध निर्वाण ई० स० पूर्व ५१२ में होना पाया जाता है।

ख्यातनामा चीनी यात्री हुएनत्सांग ई० सन् ६३० में भारत आया था। उसने अपनी भारत-यात्रा के विवरण में लिखा है—

“श्री बुद्ध देव ८० वर्ष तक जीवित रहे। उनके निर्वाण की तिथि के विषय में बहुत से मतभेद हैं। कोई वैशाख की पूर्णिमा को उनकी निर्वाण-तिथि मानता है, सर्वास्तिवादी कार्तिक पूर्णिमा को निर्वाण-तिथि मानते हैं, कोई कहते हैं कि निर्वाण को १२०० वर्ष हो गए। किन्हीं का कथन है कि १५०० वर्ष बीत गए, कोई कहते हैं कि अभी निर्वाणकाल को ६०० वर्ष से कुछ अधिक हुए हैं।”

मुनि नगराज जी ने भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाणकाल के सम्बन्ध में बहुत विस्तार से चर्चा करते हुए अनेक तर्क देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भगवान् महावीर बुद्ध से १७ वर्ष ज्येष्ठ थे और बुद्ध का निर्वाण महावीर के निर्वाण से २५ वर्ष पश्चात् हुआ। उन्होंने अपने इस अभिमत की पुष्टि में अशोक के एक शिलालेख, बर्मी इत्जाना संवत् की कालगणना में बुद्ध के जन्म, गृहत्याग, बोधिलाभ एवं निर्वाण के उल्लेख और अवन्ती नरेश प्रद्योत एवं बुद्ध की समवयस्कता सम्बन्धी तिब्बती परम्परा, ये तीन मुख्य प्रमाण दिये हैं। पर इन प्रमाणों के आधार पर भी बुद्ध के निर्वाण का कोई एक सुनिश्चित काल नहीं निकलता।

इस प्रकार बुद्ध के निर्वाणकाल के सम्बन्ध में अनेक मनीषी इतिहास-वेत्ताओं ने जो उपर्युक्त बीस तरह की भिन्न-भिन्न मान्यताएं रखी हैं उनमें से अधिकांशतः तर्क और अनुमान के बल पर ही आधारित हैं। किसी ठोस, प्रकाट्य, निष्पक्ष और सर्वमान्य प्रमाण के अभाव में कोई भी मान्यता बलवती नहीं मानी जा सकती।

हम यहाँ उन सब विद्वानों की मान्यताओं के विश्लेषण की चर्चा में न जाकर केवल उन तथ्यों और निष्पक्ष ठोस प्रमाणों को रखना ही उचित समझते हैं जिनसे कि बुद्ध के सही-सही निर्वाण समय का पता लगाया जा सकता है।

हमें आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले की घटना के सम्बन्ध में निर्णय करना है। इसके लिये हमें भारत की प्राचीन धर्म-परम्पराओं के धार्मिक एवं ऐतिहासिक साहित्य का अन्तर्वेधी और तुलनात्मक दृष्टि से पर्यवेक्षण करना होगा।

१ भगवान् बुद्ध, पृ० ८६, मूिका पृ० १२

यह तो सर्वविदित है कि उस समय सनातन, जैन और बौद्ध ये तीन प्रमुख धर्म-परम्पराएं मुख्य रूप से थीं जो आज भी प्रचलित हैं ।

बुद्ध के जीवन के सम्बन्ध में जैनागमों में कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता । बौद्ध शास्त्रों और साहित्य में बुद्ध के निर्वाण के सम्बन्ध में जो विवरण उपलब्ध होते हैं वे वास्तव में इतने अधिक और परस्पर विरोधी हैं कि उनमें से किसी एक को भी तब तक सही नहीं माना जा सकता जब तक कि उसको पुष्ट करने वाला प्रमाण बौद्धोंतर अथवा बौद्ध साहित्य में उपलब्ध नहीं हो जाता ।

ऐसी दशा में हमारे लिये सनातन धर्म के पौराणिक साहित्य में बुद्ध विषयक ऐतिहासिक सामग्री को खोजना आवश्यक हो जाता है । सनातन परम्परा के परम माननीय ग्रन्थ श्रीमद्भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध, अध्याय ६ के श्लोक संख्या २४ में बुद्ध के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होता है जिसकी ओर संभवतः आज तक किसी इतिहासज्ञ की सूक्ष्म-दृष्टि नहीं गई । वह श्लोक इस प्रकार है—

ततः कलौ संप्रवृत्ते, सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।  
बुद्धो नाम्नाजनसुतः, कीकटेषु भविष्यति ॥

अर्थात् उसके बाद कलियुग आजाने पर मगध देश (बिहार) में देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिए अंजनी (आंजनी) के पुत्ररूप में आपका बुद्धावतार होगा ।

इस श्लोक में प्रयुक्त 'नाम्नाजनसुतः' यह पाठ किसी लिपिकार द्वारा अशुद्ध लिखा गया है ऐसा गीता प्रेस से प्रकाशित श्रीमद्भागवत, प्रथम खंड के पृष्ठ ३६ पर दिये गये टिप्पण से प्रमाणित होता है । इस श्लोक पर टिप्पण संख्या १ में लिखा है—

“प्रा० पा०—जिनसुतः”

जिन शब्द का अर्थ है—राग-द्वेष से रहित । राग-द्वेष से रहित पुरुष के पुत्रोत्पत्ति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । वास्तव में यह शब्द था 'आंजनि-सुतः' जिसकी न पर लगी इ की मात्रा ज पर किसी प्राचीन लिपिकार द्वारा लगा दी गई । तदनन्तर किसी विद्वान् लिपिकार ने किसी जिन के पुत्र होने की संभावना को आकाश-कुसुम की तरह असंभव मानकर 'अजनसुतः' लिख दिया ।

ऐतिहासिक घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से यह प्रमाणित होता है कि वास्तव में इस श्लोक का मूल पाठ 'बुद्धो नाम्नाजनसुतः था ।' श्रीमद्भागवत और अन्य पुराणों में प्राचीन इतिहास को सुरक्षित रखने के लिये प्राचीन प्रतापी राजाओं का किसी घटनाक्रम के प्रसंग में नामोल्लेख किया गया है ।

वस्तुतः उपर्युक्त श्लोक में महाभारतकार ने बुद्ध के प्रसंग में उस समय के प्रतापी राजा 'अंजन' के नाम का उल्लेख किया है। बौद्ध, जैन, सनातन और भारत की उस समय की अन्य सभी धर्मपरम्पराओं के साहित्यों में बुद्ध सम्बन्धी विवरणों में बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन लिखा गया है, अतः श्रीमद्भागवत के उपरिलिखित श्लोक के आधार पर बुद्ध को अंजन का पुत्र मानना तो श्रीमद्भागवतकार की मूल भावना के साथ अन्याय करना होगा, क्योंकि वास्तव में भागवतकार ने बुद्ध को राजा अंजन की सुता अंजनी का पुत्र बताया है।

ऐसी स्थिति में उपर्युक्त पाठ में अनुस्वार के लोप और 'इ' की मात्रा के विपर्यय वाले पाठ को शुद्ध कर "बुद्धो नाम्नाऽऽजनिमुतः" के रूप में पढ़ा जाय तो वह शुद्ध और युक्तिसंगत होगा। किसी लिपिकार द्वारा प्रमादवश अथवा वास्तविक तथ्य के ज्ञान के अभाव में अशुद्ध रूप से लिपिबद्ध किये गये उपर्युक्त अशुद्ध पाठों को शुद्ध कर देने पर एक नितान्त नया ऐतिहासिक तथ्य संसार के समक्ष प्रकट होगा कि महात्मा बुद्ध महाराज अंजन के दौहित्र थे। अंजन-सुता के सुत बुद्ध का श्रीमद्भागवतकार ने अंजनिमुत के रूप में जो परिचय दिया है वह व्याकरण के अनुसार भी बिलकुल ठीक है। जिस प्रकार रामायणकार ने जनक की पुत्री जानकी, मैथिल की पुत्री मैथिली के रूप में सीता का परिचय दिया है ठीक उसी प्रकार श्रीमद्भागवतकार ने भी अंजन की पुत्री का अंजनी के रूप में उल्लेख किया है।

यह सब केवल कल्पना की उड़ान नहीं है अपितु बर्मी बौद्ध परम्परा इस तथ्य का पूर्ण समर्थन करती है। बर्मी बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध के नाना (मातामह) महाराज अंजन शाक्य क्षत्रिय थे। उनका राज्य देवदह प्रदेश में था। महाराज अंजन ने अपने नाम पर ई० सन् पूर्व ६४८ में १७ फरवरी को आदित्यवार के दिन ईत्थाना संवत् चलाया।<sup>१</sup> बर्मी भाषा में 'ईत्थाना' शब्द का अर्थ है अंजन।

बर्मी बौद्ध परम्परा में बुद्ध के जन्म, गृहत्याग, बोधि-प्राप्ति और निर्वाण का तिथिक्रम ईत्थाना संवत् की कालगणना में इस प्रकार दिया है :—

१. बुद्ध का जन्म ईत्थाना<sup>२</sup> संवत् के ६८वें वर्ष की बैशाखी पूर्णिमा को शुक्रवार के दिन विशाखा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा के योग के समय में हुआ।

२. बुद्ध ने दीक्षा ईत्थाना<sup>३</sup> संवत् ६६ की आषाढी पूर्णिमा, सोमवार के दिन चन्द्रमा का उत्तराषाढा नक्षत्र के साथ योग होने के समय में ली।

<sup>१</sup> Prabuddha Karnataka, a Kannada Quarterly published by the Mysore University. Vol. XXVII (1945-46) No. 1 PP. 92-93. The Date of Nirvana of Lord Mahavira in Mahavira Commemoration Volume, PP. 93-94.

<sup>२</sup> Ibid Vol. 11 PP. 71-72.

<sup>३</sup> Life of Gautama, by Bigandet Vol. 1 PP. 62-63

३. बुद्ध को बोधि-प्राप्ति ईत्जाना संवत् १०३ की वैशाखी पूर्णिमा को बुधवार के दिन चन्द्रमा का विशाखा नक्षत्र के सीधे योग होने के समय में हुई।

४. बुद्ध का निर्वाण ईत्जाना संवत् १०५ की वैशाखी पूर्णिमा को मंगलवार के दिन चन्द्रमा का विशाखा नक्षत्र के सीधे योग होने के समय में हुआ।

एम. गोविन्द पाई<sup>२</sup> ने बुद्ध के जीवन संबंधी ऊपर बरिगत किये गये ईत्जाना संवत् के कालक्रम को ई० सन् पूर्व के अथोर्कृतित न्यासक्रम के रूप में आवद्ध किया है :—

बुद्ध का जन्म	: ई० पू० ५८१, मार्च ३०, शुक्रवार
बुद्ध द्वारा गृहत्याग	: ई० पू० ५५३, जून १८, सोमवार।
बुद्ध को बोधिलाभ	: ई० पू० ५४६, अप्रैल ३, बुधवार।
बुद्ध का निर्वाण	: ई० पू० ५०१, अप्रैल १५, मंगलवार। <sup>३</sup>

इस प्रकार श्रीमद्भागवत और बर्मी बौद्ध परम्परा के उल्लेखों से बुद्ध के मातामह (नाना) राजा अंजन एक ऐतिहासिक राजा सिद्ध होते हैं तथा बर्मी परम्परा के अनुसार ईत्जाना संवत् के आधार पर उल्लिखित बुद्ध के जीवन की चार मुख्य घटनाओं के कालक्रम से बुद्ध की सर्वमान्य पूर्णायु ८० वर्ष की सिद्ध होने के साथ २ यह भी प्रमाणित होता है कि बुद्ध ने २८ वर्ष की अवस्था होते ही ई० पूर्व ५५३ में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के ८ वर्ष पश्चात् ई० पूर्व ५४६ में जब वे ३५ वर्ष के हुए तब उन्हें बोधि-प्राप्ति हुई और ४५ वर्ष तक बौद्ध धर्म का प्रचार करने के पश्चात् ई० पूर्व ५०१ में ८० वर्ष की आयु पूर्ण करने पर उनका निर्वाण हुआ।

बुद्ध के जन्म, बुद्धत्वलाभ और निर्वाणकाल को निर्णायक रूप से प्रमाणित करने वाला दूसरा प्रमाण वायुपुराण का है, जो कि आवश्यक चर्चा और तिब्बती बौद्ध परम्परा द्वारा कतिपय अंशों में समर्थित है। सनातन, जैन और बौद्ध परम्पराओं के युगन्तु पर्यवेक्षण से बुद्ध के जन्म, बोधिलाभ और निर्वाण सम्बन्धी अब तक के विवादास्पद जटिल और पहेली बने हुए प्रश्नों का सदा सर्वदा के लिये हल निकल आता है।

१ Ibid Vol. I P. 97 Vol. II PP. 72-73

Ibid Vol. II P. 69

३ Prabuddha Karnataka, a Karnatak Quarterly published by the Mysore University. Volume XXVII (1945-46) No. 1 PP 92-93 the Date of Nirvana of Lord Mahaveera in Mahaveera Commemoration Volume PP 98-94.

इस जटिल समस्या को सुलझाने में सहायक होने वाले वायुपुराण के वे श्लोक इस प्रकार हैं :—

वृहद्रथेष्वतीतेषु वीतहोत्रेषु वर्तिषु ॥१६८॥  
 मुनिकः स्वामिनं हत्वा, पुत्रं समभिषेक्ष्यति ।  
 मिषतां क्षत्रियाणां हि प्रद्योतो मुनिको बलात् ॥१६९॥  
 स वै प्रगतसामन्तो, भविष्ये नयवर्जितः ।  
 त्रयोविंशत्समा राजा भविता स नरोत्तम ॥१७०॥

अर्थात् वाहंद्रथों (जरासंध के वंशजों) का राज्य समाप्त हो जाने पर वीतहोत्रों के शासनकाल में मुनिक सब क्षत्रियों के देवत-देवतों अपने स्वामी की हत्या कर अपने पुत्र को अवन्ती के राजसिंहासन पर बैठायेगा । हे राजन् ! वह प्रद्योत सामन्तों को अपने वश में कर तेईस वर्ष तक न्याय-विहीन ढंग से राज्य करेगा ।

अन्तिम श्लोक में जो यह उल्लेख है कि प्रद्योत २३ वर्ष तक राज्य करेगा, यह तथ्य वस्तुतः बुद्ध के साथ भगवान् महावीर के जन्म, दीक्षा, कैवल्य अथवा बोधि, निर्वाण तथा पूर्ण आयु आदि कालमान को निर्गायिक एवं प्रामाणिक रूप से निश्चित करने वाला तथ्य है ।

तिब्बती बौद्ध-परम्परा की यह मान्यता है कि जिस दिन बुद्ध का जन्म हुआ उसी दिन चण्डप्रद्योत का भी जन्म हुआ और जिस दिन चण्डप्रद्योत का अवन्ती के राजसिंहासन पर अभिषेक हुआ उसी दिन बुद्ध को बोधिलाभ हुआ ।

बुद्ध की पूर्ण आयु ८० वर्ष थी, उन्होंने २८ वर्ष की उम्र में गृहत्याग किया और ३५ वर्ष की आयु में उन्हें बोधि-प्राप्ति हुई—इन ऐतिहासिक तथ्यों को सभी इतिहासकार एकमत से स्वीकार करते हैं ।

जिस दिन बुद्ध को बोधिलाभ हुआ उस दिन बुद्ध ३५ वर्ष के थे, इस सर्वसम्मत अभिमत के अनुसार बुद्ध और प्रद्योत के समवयस्क होने के कारण यह स्वतः प्रामाणिक है कि प्रद्योत ३५ वर्ष की आयु में अवन्ती का राजा बना । वायुपुराण के इस उल्लेख से कि प्रद्योत ने २३ वर्ष तक राज्य किया, यह स्पष्ट है कि प्रद्योत ५८ वर्ष की आयु तक शासनारूढ़ रहा । उसके पश्चात् प्रद्योत का पुत्र पालक अवन्ती का राजा बना ।

जैन परम्परा के सभी प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों में यह उल्लेख है कि भगवान् महावीर का जिस दिन निर्वाण हुआ उसी दिन प्रद्योत के पुत्र पालक का उसके पिता की मृत्यु के पश्चात् अवन्ती में राज्याभिषेक हुआ ।

इस प्रकार सनातन, जैन और बौद्ध इन तीनों मान्यताओं द्वारा परिपुष्ट

प्रमाणों के समन्वय से यह सिद्ध होता है कि जिस दिन भगवान् महावीर ने ७२ वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त किया उस दिन प्रद्योत का ५८ वर्ष की उम्र में देहावसान हुआ और उस दिन बुद्ध ५८ वर्ष के हो चुके थे। बुद्ध की पूरी आयु ८० वर्ष मानी गई है। इससे बुद्ध का जन्मकाल भगवान् महावीर के जन्म से १४ वर्ष पश्चात्, बुद्ध का दीक्षाकाल महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति के आसपास, बोधिप्राप्ति भगवान् महावीर की केवली-चर्या के आठवें वर्ष में और बुद्ध का निर्वाणकाल भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् का सिद्ध होता है।

चण्डप्रद्योत भगवान् महावीर से उम्र में छोटे थे इस तथ्य की पुष्टि श्री मज्जिमदासगणि महत्तर रचित आवश्यक चूर्णी से भी होती है। चूर्णिकार ने लिखा है कि जिस समय भगवान् २८ वर्ष के हुए उस समय उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। तदनन्तर महावीर ने अपने अपरिग्रह के अनुसार प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की, पर नन्दीवर्द्धन आदि के अनुरोध पर संयम के साथ विरक्त की तरह दो वर्ष गृहवास में रहने के पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करना स्वीकार किया। महावीर द्वारा इस प्रकार की स्वीकृति के पश्चात् श्रेणिक और प्रद्योत आदि कुमार वहाँ से विदा हो अपने-अपने नगर की ओर लौट गये। इस सम्बन्ध में चूर्णिकार के मूल शब्द इस प्रकार हैं :—

“.....ताहे सेणियपज्जोयादयो कुमारा पडिगता, एा एस चविकत्ति।”

चूर्णिकार के इस वाक्य पर वायुपुराण और महावीर-निर्वाणकाल के संदर्भ में विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रद्योत की आयु महाराज सिद्धार्थ और त्रिशला देवी के स्वर्ग गमन के समय १४ वर्ष की थी। तदनुसार ५२७ ई० पूर्व भगवान् महावीर का प्रामाणिक निर्वाणकाल मानने पर महावीर का जन्म ई० पूर्व ५६६ में और बुद्ध का जन्म ई० पूर्व ५८५ होना सिद्ध होता है।

इन सब तथ्यों को एक दूसरे के साथ जोड़ कर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पूर्व ५२७ में हुआ और बुद्ध का निर्वाण भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० पूर्व ५०५ में हुआ।

अशोक के शिलालेखों में अंकित २५६ के अंक जो विद्वानों द्वारा बुद्ध निर्वाण वर्ष के सूचक माने जाते हैं, उनसे भी यही प्रमाणित होता है कि बुद्ध का निर्वाण ईस्वी पूर्व ५०५ में हुआ। इस सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :—

अशोक द्वारा लिखवाये गये लघु शिलालेख जो कि रूपनाथ, सहसराम और वैराट से मिले हैं,<sup>१</sup> उनमें शिलालेखों के खुदवाने के काल तिथि के स्थान पर केवल २५६ का अंक खुदा हुआ है। इसके सम्बन्ध में अनेक विद्वानों का अभिमत

१ जनार्दन भट्ट, अशोक के धर्मलेख।

है कि ये अंक बुद्ध के निर्वाणकाल के सूचक हो सकते हैं। उसका अनुमान है कि जिस दिन ये शिलालेख लिखवाये गये उस दिन बुद्ध की निर्वाण-प्राप्ति के २५६ वर्ष बीत चुके थे।

इतिहास-प्रसिद्ध राजा अशोक का राज्याभिषेक ई० पूर्वं २६६ में हुआ, इससे सभी इतिहासज्ञ सहमत हैं। अपने राज्याभिषेक के ८ वर्ष पश्चात् अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त की। कलिंग के युद्ध में हुए भीषण नरसंहार को देख कर अशोक को युद्ध से बड़ी धृणा हो गई और वह बौद्ध धर्मानुयायी बन गया। अशोक ने उपर्युक्त १ सं० के शिलालेख में यह स्वीकार किया है कि बौद्ध बनने के २३ वर्ष पश्चात् तक वह कोई अधिक उद्योग नहीं कर सका। उसके एक वर्ष पश्चात् वह संघ में आया।

संघ उपेत होने के पश्चात् अशोक ने अपनी और अपने राज्य की पूरी शक्ति बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार में लगा दी। उसने भारत और भारत के बाहर के राज्यों से बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए सन्धियाँ कीं। बौद्ध संघ की काफी अंशों में अभ्युन्नति करने और अपनी महान् धार्मिक उपलब्धियों के पश्चात् उसने स्थान-स्थान पर अपनी धार्मिक आज्ञाओं को शिलालेखों पर टंकित करवाया। अनुमान लगाया जा सकता है कि इन कार्यों में कम से कम नौ-दस वर्ष तो अवश्य लगे ही होंगे। तो इस तरह उपर्युक्त शिलालेख अपने राज्याभिषेक से बीसवें वर्ष में अर्थात् ई० सन् से २४६ वर्ष पूर्व तैयार करवाये होंगे, जिस दिन कि बुद्ध का निर्वाण हुए २५६ वर्ष बीत चुके थे।

इस प्रकार के अनुमान और कल्पना के बल पर बुद्ध का निर्वाण ई० सन् ५०५ में होना पाया जाता है।

यह अनुमान प्रमाण वायुपुराण में उल्लिखित प्रद्योत के राज्यकाल के आधार पर प्रमाणित बुद्ध के निर्वाणकाल का समर्थन करता है। इस प्रकार तीन बड़ी धार्मिक परम्पराओं में उल्लिखित विभिन्न तथ्यों के आधार पर प्रमाणित एवं अशोक के शिलालेखों से समर्थित होने के कारण बुद्ध का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५०५ ही प्रामाणिक ठहरता है।

उक्त तीनों परम्पराओं के प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थों में प्रद्योत को युद्धप्रिय और उग्र स्वभाव वाला बताया है, यह उल्लेखनीय समानता है। प्रद्योत के जन्म के साथ महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ और उसके देहावसान के दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, यह कितना अद्भुत संयोग है, जिसने प्रद्योत को एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक राजा के रूप में भारत के इतिहास में अमर बना दिया है।

इन सब अकाट्य ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर असंदिग्ध एवं प्रामाणिक रूप से यह कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५२७ में और बुद्ध का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५०५ में हुआ।

### निर्वाणस्थली

डॉ० जैकोबी ने बौद्ध शास्त्रों में वर्णित महावीर-निर्वाणस्थली पावा को शाक्यभूमि में होना स्वीकार किया है, जहाँ कि अन्तिम दिनों में बुद्ध ने भी प्रवास किया था। पर जैन मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर की निर्वाणस्थली पटना जिले के अन्तर्गत राजगृह के समोपस्थ पावा है, जिसे आज भव्य मन्दिरों ने एक जैन तीर्थ बना दिया है। किन्तु इतिहासकार इससे सहमत प्रतीत नहीं होते, क्योंकि भगवान् महावीर के निर्वाण-अवसर पर मल्लों और लिच्छवियों के अठारह गण-राजा उपस्थित थे, जिनका उत्तरी बिहार की पावा में ही होना संभव जँचता है, कारण कि उधर ही उन लोगों का राज्य था, दक्षिण बिहार की पावा तो उनका शत्रु-प्रदेश था।

पं० राहुल सांकृत्यायन ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।<sup>१</sup> उनका कहना है कि भगवान् महावीर का निर्वाण वस्तुतः गंगा के उत्तरी अंचल में आई हुई पावा में ही हुआ था जो कि वर्तमान गोरखपुर जिले के अन्तर्गत पपुहर नामक ग्राम है। श्री नाथूराम प्रेमी ने भी ऐसी ही संभावना व्यक्त की है।<sup>२</sup>

१ दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ४४४, टिप्पण ३।

२ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १८६।



---

# परिशिष्ट

---



## परिशिष्ट १

# तीर्थंकर परिचय-पत्र

## पितृ नाम

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संवर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संवर्भ-ग्रंथ	
		समवायाम	हरिवंश पुराण	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती
१	ऋषभदेव	नाभि	नाभि	नाभि	नाभिराय
२	भजितनाथ	जितशत्रु	जितशत्रु	जितशत्रु	जितशत्रु
३	संभवनाथ	जितारी	जितारि	दृढराज्य	जितारि
४	भगिनन्दन	संवर	संवर	स्वयंवर	संवर
५	सुमतिनाथ	मेघ	मेघप्रभ	मेघरथ	मेघप्रभ
६	पद्मप्रभ	धर	धरण	धरण	धरण
७	सुपाश्वनाथ	प्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ
८	चन्द्रप्रभ	महासेन	महासेन	महासेन	महासेन
९	सुविधिनाराथ	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव
१०	कीर्तलनाथ	दृढरथ	दृढरथ	दृढरथ	दृढरथ
११	श्रेयांसनाथ	विष्णु	विष्णुराज	विष्णु	विष्णु
१२	वासुपूज्य	वसुपूज्य	वसुपूज्य	वसुपूज्य	वसुपूज्य
१३	विमलनाथ	कृतवर्मा	कृतवर्मा	कृतवर्मा	कृतवर्मा
१४	अनन्तनाथ	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन
१५	धर्मनाथ	भानु	भानुराज	भानु	भानुरेन्द्र
१६	शान्तिनाथ	विश्वसेन	विश्वसेन	विश्वसेन	विश्वसेन
१७	कुशुनाथ	सूर	सूर्य	सूरसेन	सूर्यसेन
१८	अरनाथ	सुदर्शन	सुदर्शन	सुदर्शन	सुदर्शन
१९	मल्लिनाथ	कुम्भ	कुम्भ	कुम्भ	कुम्भ
२०	मुनिसुव्रत	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्र
२१	नमिनाथ	विजय	विजय	विजय	विजयनरेन्द्र
२२	अरिष्टनेमि	समुद्रविजय	समुद्रविजय	समुद्रविजय	समुद्रविजय
२३	पाश्वनाथ	अश्वसेन	अश्वसेन	अश्वसेन	अश्वसेन
२४	महावीर	सिद्धार्थ*	सिद्धार्था	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ

\* सत्तरिसयद्धार. प्रथमन सारोद्धार और आब० नि. मा. ३८७ से ३८९ में यही नाम दिये हैं।

† श्लो० १८२ से २०५

## मातृ नाम

क्र.सं.	तीर्थकर नाम	श्वेताम्बर संबन्ध-ग्रंथ			दिगम्बर संबन्ध-ग्रंथ		
		समवायांग	प्रवचन	आवश्यक नि.	हरिवंशपुराण	उत्तर पुराण	तिलोथ पण्णत्ती
१	कृपभदेव	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी
२	सज्जितनाथ	विजया	विजया	विजया	विजया	विजयमेतः	विजया
३	सभवनाथ	सेना	सेना	सेना	सेना	सुसेना	सुसेना
४	प्रभिनन्दन	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था
५	सुमतिनाथ	मंगला	मंगला	मंगला	सुमंगला	मंगला	मंगला
६	पद्मप्रभ	सुमीमा	सुमीमा	सुमीमा	सुमीमा	सुमीमा	सुमीमा
७	सुपाश्वनाथ	पृथ्वी	पृथ्वी	पृथ्वी	पृथ्वी	पृथिवीपेग्गा	पृथिवी
८	चन्द्रप्रभ	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	(लक्ष्मणा) लक्ष्मीमती
९	सुविधिनाथ	रामा	रामा	श्यामा	रामा	जयश्यामा	रामा
१०	शीतलनाथ	नन्दा	नन्दा	नन्दा	सुनन्दा	सुनन्दा	नन्दा
११	श्रेयांसनाथ	विष्णु	विष्णु	विष्णु	विष्णुश्री	सुनन्दा	वेणुदेवी
१२	वासुपुज्य	जया	जया	जया	जया	जयावती	विजया
१३	विमलनाथ	सामा	सामा	रामा	शर्मा	जयश्यामा	जयश्यामा
१४	अनन्तनाथ	सुजशा	सुजशा	सुजशा	सर्वशशा	जयश्यामा	सर्वशशा
१५	धर्मनाथ	सुव्रता	सुव्रता	सुव्रता	सुव्रता	सुप्रभा	सुव्रता
१६	शान्तिनाथ	अचिरा	अचिरा	अचिरा	ऐरा	ऐरा	ऐरा (अडराण)
१७	कुशुनाथ	श्री	श्री	श्री	श्रीमती	श्रीकान्ता	श्रीमतीदेवी
१८	धरनाथ	देवी	देवी	देवी	सित्रा	सित्रसेना	सित्रा
१९	मल्लिनाथ	प्रभावती	प्रभावती	प्रभावती	रक्षिता	प्रजावती	प्रभावती
२०	मुनिमुत्रन	पद्मावती	पद्मावती	पद्मावती	पद्मावती	सामा	पद्मा
२१	तमिनाथ	वप्रा	वप्रा	वप्रा	वप्रा	वपिना	वप्रिना
२२	अरिष्टनेमि	शिवा	शिवा	शिवा	शिवा	शिवदेवी	शिवदेवी
२३	पाश्वनाथ	वामा (वम्मा)	वामा	वम्मा	वर्मा	ब्राह्मी	वमिला (वामा)
२४	महावीर	त्रिशला	त्रिशला	त्रिशला	प्रियकारिणी	प्रियकारिणी	प्रियकारिणी

## जलप-भूमि

क्र.सं.	तीर्थकर नाम	श्वेताम्बर संघर्ष-ग्रंथ		दिगम्बर संघर्ष-ग्रंथ		
		सत्तरिम्य द्वार	प्रावश्यक नि०	हरिवंश पुराण	उत्तर पुराण	तिलोय पण्यत्ती
१	ऋषभदेव	इक्ष्वाकुभूमि	इक्ष्वाकुभूमि	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या
२	अजितनाथ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	साकेत
३	संभवनाथ	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती
४	अभिनन्दन	अयोध्या	विनीता	अयोध्या	अयोध्या	साकेतपुरी
५	सुमतिनाथ	अयोध्या	कोसलपुर	अयोध्या	अयोध्या	साकेतपुरी
६	पद्मप्रभ	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी
७	सुपाशर्वनाथ	वाराणसी	वाराणसी	काशी	वाराणसी	वाराणसी
८	चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी
९	सुविधिनाथ	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी
१०	शीतलनाथ	भद्विल्लपुर	भद्विल्लपुरी	भद्विल्लापुरी	भद्रपुर	भद्विल्लपुर
११	श्रेयांसनाथ	सिंहपुर	सिंहपुर	सिंहनादपुर	सिंहपुर	सिंहपुरी
१२	वासुपुण्य	चम्पा	चम्पा	चम्पापुरी	चम्पा	चम्पानगरी
१३	विमलनाथ	कंपिल्य	कंपिलपुर	कंपिल्यपुर	काम्पिल्यपुर	कंपिलापुरी
१४	अनन्तनाथ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्यानगरी	अयोध्या	अयोध्यापुरी
१५	धर्मनाथ	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर
१६	शान्तिनाथ	गजपुर	गजपुरम्	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
१७	कुंभुनाथ	गजपुर	गजपुरम्	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
१८	अरनाथ	गजपुर	गजपुरम्	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
१९	मल्लिनाथ	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिलानगरी	मिथिलापुरी
२०	मुनिसुव्रत	राजशृह	राजशृही	कुशाग्रनगर	राजशृह	राजशृह
२१	नमिनाथ	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिलापुरी
२२	अरिष्टनेमि	सौरिम्यपुर	सौर्यपुरम्	सूर्यपुरनगर	द्वारावती	शोरीपुर
२३	पाशर्वनाथ	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी
२४	महावीर	कुण्डपुर	कुण्डपुर	कुण्डपुर	कुण्डपुर	कुण्डपुर

## चमत्वन-लिधि

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-प्रंथ	दिगम्बर संदर्भ-प्रंथ
		मत्त०द्वार १४गा. ५६ से ६३	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	आषाढ कृ० ४	—
२	अजितनाथ	वैशाख शु० १३	ज्येष्ठ कृ० १५
३	संभवनाथ	फाल्गुन शु० ८	फाल्गुन शु० ८
४	अभितन्दन	वैशाख शु० ४	वैशाख शु० ६
५	सुमतिनाथ	श्रावण शु० २	श्रावण शु० २
६	पद्मप्रभ	माघ कृ० ६	माघ कृ० ६
७	सुपाश्वनाथ	भाद्रपद कृ० ८	भाद्रपद शु० ६
८	चन्द्रप्रभ	चैत्र कृ० ५	चैत्र कृ० ५
९	सुविधिनाथ	फाल्गुन कृ० ९	फाल्गुन कृ० ९
१०	शीतलनाथ	वैशाख कृ० ६	चैत्र कृ० ८
११	श्रेयांसनाथ	ज्येष्ठ कृ० ६	ज्येष्ठ कृ० ६
१२	वासुपूज्य	ज्येष्ठ शु० ९	आषाढ कृ० ६
१३	विमलनाथ	वैशाख शु० १२	ज्येष्ठ कृ० १०
१४	अनन्तनाथ	श्रावण कृ० ७	कार्तिक कृ० १
१५	धर्मनाथ	वैशाख शु० ७	वैशाख शु० १२
१६	शान्तिनाथ	भाद्रपद कृ० ७	भाद्रपद कृ० ७
१७	कुंथुनाथ	श्रावण कृ० ९	श्रावण कृ० १०
१८	अरनाथ	फाल्गुन शु० २	फाल्गुन कृ० ३
१९	मल्लिनाथ	फाल्गुन शु० ४	चैत्र शु० १
२०	मुनिसुव्रत	श्रावण शु० १५	श्रावण कृ० २
२१	नमिनाथ	आश्विन शु० १५	आश्विन कृ० २
२२	अरिष्टनेमि	कार्तिक कृ० १२	कार्तिक शु० ६
२३	पार्श्वनाथ	चैत्र कृ० ४	वैशाख कृ० २ विशाखा
२४	महावीर	आषाढ शु० ६	आषाढ शु० ६

### उद्यवन-नक्षत्र

क्र.सं.	नाम तीर्थकर	श्वेतान्बर	विगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	संभवनाथ	मृगशिरा	मृगशिरा
४	अभिनन्दन	पुनर्वसु	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपाश्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा
११	श्रेयांसिनाथ	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपूज्य	शतभिषा	शतभिषा
१३	विमलनाथ	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्रपद
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	रेवती
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुशुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुप्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	उत्तराषाढा
२३	पाश्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	उत्तराषाढा

### उच्यते-स्थल

क्र.सं	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संवर्ध-ग्रंथ		विगम्बर संवर्ध-ग्रंथ	
		सत० द्वार १२ गाथा ५४-५६		उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती गाथा ५२२-२५
१	ऋषभदेव	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
२	अजितनाथ	विजय विमान	विजय विमान	विजय से	विजय से
३	संभवनाथ	सातवाँ ग्रंथेयक	सुदर्शन विमान	अधोग्रंथेयक	अधोग्रंथेयक
४	अभिनन्दन	जयंत विमान	विजय विमान	विजय से	विजय से
५	सुमतिनाथ	जयंत विमान	वैजयन्त	जयन्त	जयन्त
६	पद्मप्रभ	नौवाँ ग्रंथेयक	ऊर्ध्वं ग्रंथेयक	ऊर्ध्वं ग्रंथेयक	ऊर्ध्वं ग्रंथेयक
७	सुपाश्वनाथ	छठा ग्रंथेयक	मध्य ग्रंथेयक	मध्य ग्रंथेयक	मध्य ग्रंथेयक
८	चन्द्रप्रभ	वैजयंत विमान	वैजयन्त	वैजयंत विमान	वैजयंत विमान
९	सुविधिनाथ	अनंत स्वर्ग	प्राणत स्वर्ग	अनंत युगल	अनंत युगल
१०	शीतलनाथ	प्राणत स्वर्ग	अनंत १५वाँ स्वर्ग	अनंत युगल	अनंत युगल
११	श्रेयांसनाथ	अच्युत स्वर्ग	अच्युत स्वर्ग	पुष्पोत्तर विमान	पुष्पोत्तर विमान
१२	वासुपूज्य	प्राणत स्वर्ग	महाशुक विमान	महाशुक	महाशुक
१३	विमलनाथ	सहस्रार	सहस्रार स्वर्ग	शतारकल्प से	शतारकल्प से
१४	अनन्तनाथ	प्राणत	पुष्पोत्तर विमान	पुष्पोत्तर विमान	पुष्पोत्तर विमान
१५	धर्मनाथ*	विजय विमान	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
१६	शान्तिनाथ	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
१७	कुंधुनाथ	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
१८	अरनाथ	सर्वार्थसिद्ध	जयंत	अपराजित	अपराजित
१९	मल्लिनाथ	जयंत विमान	अपराजित विमान	अपराजित विमान	अपराजित विमान
२०	मुनिसुव्रत	अपराजित विमान	प्राणत	अनंत विमान	अनंत विमान
२१	नमिनाथ	प्राणत स्वर्ग	अपराजित	अपराजित विमान	अपराजित विमान
२२	अरिष्टनेमि	अपराजित विमान	जयन्त	अपराजित	अपराजित
२३	पाश्वनाथ	प्राणत स्वर्ग	प्राणत स्वर्ग (इन्द्र)	प्राणत कल्प	प्राणत कल्प
२४	महावीर	प्राणत स्वर्ग	पुष्पोत्तर विमान	पुष्पोत्तर विमान	पुष्पोत्तर विमान

\*श्री धर्मनाथ ने स्वर्ग की मध्यम आयु और शेष तीर्थंकरों ने उत्कृष्ट आयु भोगी ।



## जन्म-तिथि

क्र.सं.	नाम तीर्थकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		बिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		सत्त० २१ द्वा. गा. ७८ से ८१		हरिवंश पुराण भा. १६६-१८०	उत्तर पुराण	तिलाय पण्णत्ती भा. ५२६-५४६
१	ऋषभदेव	चैत्र कृ. ८		चैत्र कृ. ६	चैत्र कृ. ६	चैत्र कृ. ६
२	अजितनाथ	माघ शु. ८	माघ शु. १०	माघ शु. ६	माघ शु. १०	माघ शु. १०
३	संभवनाथ	मार्ग. शु. १४	फाल्गुन शु. ८	मार्ग. शु. १५	कातिक शु. १५	मंगसिर शु. १५
४	अभिनन्दन	माघ शु. २		माघ शु. १२	माघ शु. १२	माघ शु. १२
५	सुमतिनाथ	वैशाख शु. ८	चैत्र शु. ११	श्रावण शु. ११	चैत्र शु. ११	श्रा. शु. ११
६	पद्मप्रभ	कातिक कृ. १२		कातिक कृ. १३	कातिक कृ. १३	भासोज कृ. १३
७	सुपाशर्वनाथ	ज्येष्ठ शु. १२		ज्येष्ठ शु. १२	ज्येष्ठ शु. १२	ज्येष्ठ शु. १२
८	चन्द्रप्रभ	पौष कृ. १२		पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११
९	सुविधिनाथ	मार्गशी. कृ. ५		मार्गशी. शु. १	मार्गशीर्ष शु. १	मार्गशी. शु. १
१०	शीतलनाथ	माघ कृ. १२		माघ कृ. १२	माघ कृ. १२	माघ कृ. १२
११	श्रेयासनाथ	फाल्गुन कृ. १२		फाल्गुन कृ. ११	फाल्गुन कृ. ११	फाल्गुन शु. ११
१२	वासुपूज्य	फाल्गुन कृ. १४		फाल्गुन कृ. १४	फाल्गुन कृ. १४	फाल्गुन शु. १४
१३	विमलनाथ	माघ शु. ३		माघ शु. १४	माघ शु. ४*	माघ शु. १४
१४	अनन्तनाथ	वैशाख कृ. १३		ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. १२
१५	धर्मनाथ	माघ शु. ३		माघ शु. १३	माघ शु. १३	माघ शु. १३
१६	शान्तिनाथ	ज्येष्ठ कृ. १३		ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ शु. १२
१७	कुन्धुनाथ	वैशाख कृ. १४		वैशाख शु. १	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १
१८	भरनाथ	मार्गशी. शु. १०		मार्गशी. शु. १४	मार्गशी. शु. १४	मार्गशी. शु. १४
१९	मल्लिनाथ	मार्गशी. शु. ११		मार्गशी. शु. ११	मार्गशी. शु. ११	मार्गशी. शु. ११
२०	मुनिसुवत	ज्येष्ठ कृ. ८		आश्विन शु. १२	×	आश्विन शु. १२
२१	निर्मनाथ	श्रावण कृ. ८		आषाढ कृ. १०	आषाढ कृ. १०	आषाढ शु. १०
२२	अरिष्टनेमि	श्रावण शु. ५		वैशाख शु. १३	श्रावण शु. ६	वैशाख शु. १३
२३	पाशर्वनाथ	पौष कृ. १०		पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११
					पर्व ७३	
					श्लो. ६०	
२४	महावीर	चैत्र शु. १३		चैत्र शु. १३	चैत्र शु. १३	चैत्र शु. १३

\*कुछ प्रतियों के अनुसार माघ शु. १४। × श्री मुनिसुवतस्वामी की जन्मतिथि उत्तर पुराण में दी ही नहीं है।

## जन्म-नक्षत्र

क्र०सं०	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	संभवनाथ	मृगशिरा	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	पुष्य	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपाश्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	दुषिधिनाथ	मूल	मूल
१०	दीप्तकनाथ	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा
११	शैवीकिवाक	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपुण्य	शतभिषा	विशाखा
१३	विभक्तनाथ	उत्तराभाद्रपद	पूर्वाभाद्रपद
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुंथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	भरनाथ	रेवती	रोहिणी
१९	भल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पाश्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	उत्तराफाल्गुनी

## वर्ण

क्र.सं.	तीर्थकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			द्विगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन० द्वार ३०	मत्त० द्वा. ४६	आव० ति०	हरिवंश पुराण	तिलोय पण्णात्ती	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीत	स्वर्ण के समान
२	अजितनाथ	" "	" "	" "	" "	" "	सुवर्ण के समान पीत
३	संभवनाथ	" "	" "	" "	" "	" "	—
४	अभिनन्दन	" "	" "	" "	" "	" "	चन्द्रमा के समान
५	सुमतिनाथ	" "	" "	" "	" "	" "	तपाये स्वर्ण के समान
६	पद्मप्रभ	लाल	लाल	लाल	लाल वर्ण	मूंगे के समान रक्त वर्ण	लाल कमल के समान
७	सुपाश्वनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	हरित वर्ण	हरित वर्ण	चन्द्रमा के समान
८	चंद्रप्रभ	गौर श्वेत	गौर श्वेत	चंद्र गौर	गौर श्वेत	कुन्द पुष्प	चन्द्र गौर
९	सुविधिनाथ	" "	" "	चंद्र गौर	शंख के समान	" "	—
१०	शीतलनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीत	सुवर्ण के समान
११	श्रेयांसनाथ	" "	" "	" "	" "	" "	सुवर्ण के समान
१२	वासुपूज्य	लाल	लाल	लाल	लाल वर्ण	मूंगे के समान रक्त वर्ण	कुंकुम के समान
१३	विमलनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीत	सुवर्ण के समान

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संबर्भ-ग्रंथ			विश्वम्बर संबर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन० द्वार ३०	सत्त० द्वा. ४६	भाव० नि०	हरिवंश पुराण	तिलोय पण्णत्ती	उत्तर पुराण
१४	अनंतनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान	सुवर्ण के समान
१५	धर्मनाथ	" "	" "	" "	" "	" "	" "
१६	शान्तिनाथ	" "	" "	" "	" "	" "	" "
१७	कुशुनाथ	" "	" "	" "	" "	" "	" "
१८	अरनाथ	" "	" "	" "	" "	" "	" "
१९	मल्लिनाथ	प्रियंगु (नीले)	प्रियंगु (नीले)	प्रियंगु नील	"	"	स्वर्ण के समान
२०	मुनिसुव्रत	काला	काला	काला	नीलवर्ण	नीलवर्ण	नीलवर्ण (मयूर के कंठ के समान)
२१	नमिनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान	सुवर्ण के समान
२२	अरिष्टनेमि	काला (श्याम)	काला (श्याम)	काला	नीलवर्ण	नीलवर्ण	नीलवर्ण
२३	पार्श्वनाथ	प्रियंगु (नीले)	प्रियंगु (नीले)	प्रियंगु नील	श्यामल	हरितवर्ण	हरित
२४	महावीर	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीले	

## लक्षण

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संबन्ध-ग्रंथ		श्वेताम्बर संबन्ध-ग्रंथ
		प्रवचन० द्वार २६ गा. ३७६-८०	सत्त० द्वा. ४२ गाथा १२१-१२२	तिलोय पण्णात्ती गा. ६०४-६०५
१	ऋषभदेव	वृषभ	वृषभ	बैल
२	अजितनाथ	गज	गज	गज
३	संभवनाथ	तुरय (भ्रश्व)	भ्रश्व	भ्रश्व
४	अभिनन्दन	वानर	वानर	बन्दर
५	सुमतिनाथ	कुंचु (कौंच)	कुंचु	चकवा
६	पद्मप्रभ	कमल	रक्त कमल	कमल
७	सुपाश्वर्नाथ	स्वस्तिक	स्वस्तिक	नंदावर्त
८	चन्द्रप्रभ	चन्द्र	चन्द्र	शर्द्ध चन्द्र
९	सुविघ्नाथ	मगर	मगर	मगर
१०	शीतलनाथ	श्रीवत्स	श्रीवत्स	स्वस्तिक
११	श्रेयांसनाथ	गण्डय खड़ी (गेंडा)	गेंडा	गेंडा
१२	वासुपूज्य	महिष	महिष	भैंसा
१३	विमलनाथ	वराह	वराह	शुकर
१४	अनन्तनाथ	श्येन	श्येन	सेही
१५	वर्मनाथ	वज्र	वज्र	वज्र
१६	शान्तिनाथ	हरिण	हरिण	हरिण
१७	कुंचुनाथ	छाग	छाग	छाग
१८	अरनाथ	नंदावर्त	नंदावर्त	तगर कुसुम (मत्स्य)
१९	मल्लिनाथ	कलश	कलश	कलश
२०	भुनिसुव्रत	कूर्म	कूर्म	कूर्म
२१	नमिनाथ	नीलोत्पल	नीलोत्पल	उत्पल (नील कमल)
२२	अरिष्टनेमि	शंख	शंख	शंख
२३	पाशर्वनाथ	सर्प	सर्प	सर्प
२४	महावीर	सिंह	सिंह	सिंह

पृ० २१६

## शारीर-ज्ञान

क्र.सं.	तीर्थकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			शिवम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		भाव० नि०	सप्ततिशत गाथा ४६	समवायांग	हरिवंश पुराण	तिलाय पष्पात्ती	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष
२	अजितनाथ	४५० "	४५० "	४५० "	४५० "	४५० "	४५० "
३	संभवनाथ	४०० "	४०० "	४०० "	४०० "	४०० "	४०० "
४	अभिनन्दन	३५० "	३५० "	३५० "	३५० "	३५० "	३५० "
५	सुमतिनाथ	३०० "	३०० "	३०० "	३०० "	३०० "	३०० "
६	पद्मप्रभ	२५० "	२५० "	२५० "	२५० "	२५० "	२५० "
७	सुपाशर्वनाथ	२०० "	२०० "	२०० "	२०० "	२०० "	२०० "
८	चन्द्रप्रभ	१५० "	१५० "	१५० "	१५० "	१५० "	१५० "
९	सुविधिनाथ	१०० "	१०० "	१०० "	१०० "	१०० "	१०० "
१०	शीतलनाथ	६० "	६० "	६० "	६० "	६० "	६० "
११	श्रेयांसनाथ	८० "	८० "	८० "	८० "	८० "	८० "
१२	वासुपूज्य	७० "	७० "	७० "	७० "	७० "	७० "
१३	द्विमलनाथ	६० "	६० "	६० "	६० "	६० "	६० "
१४	अनन्तनाथ	५० "	५० "	५० "	५० "	५० "	५० "
१५	धर्मनाथ	४५ "	४५ "	४५ "	४५ "	४५ "	१८० हाथ
१६	शान्तिनाथ	४० "	४० "	४० "	४० "	४० "	४० धनुष
१७	कुशुनाथ	३५ "	३५ "	३५ "	३५ "	३५ "	३५ "
१८	अरनाथ	३० "	३० "	३० "	३० "	३० "	३० "
१९	मल्लिनाथ	२५ "	२५ "	२५ "	२५ "	२५ "	२५ "
२०	मुनिसुव्रत	२० "	२० "	२० "	२० "	२० "	२० "
२१	नमिनाथ	१५ "	१५ "	१५ "	१५ "	१५ "	१५ "
२२	अरिष्टनेमि	१० "	१० "	१० "	१० "	१० "	१० "
२३	पार्श्वनाथ	६ हाथ	६ हाथ	६ हाथ (रत्नी)	६ हाथ	६ हाथ	६ हाथ
२४	महावीर	७ हाथ	७ हाथ	७ हाथ (रत्नी)	७ हाथ	७ हाथ	७ हाथ

## श्रीशार्य जीवन

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आवश्यक नि० मा. २६६-३२२	सत्तरि० द्वार ४५ मा. १३५ से १३७	हरिवंश पुराण ३३० से ३३१	तिलोय पण्णत्ती मा. ५८३-५८५	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व
२	मज्जितनाथ	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व
३	संभवनाथ	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व
४	शभिनन्दन	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व
५	सुमतिनाथ	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व
६	पद्मप्रभ	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व
७	सुपाश्वरनाथ	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व
८	चन्द्रप्रभ	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व
९	सुविधिनाथ	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व
१०	शीतलनाथ	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व
११	श्रेयांसनाथ	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष
१२	वासुपूज्य	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष
१३	विमलनाथ	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष
१४	अनन्तनाथ	७५०००० वर्ष	७५०००० वर्ष	७५०००० वर्ष	७५०००० वर्ष	७५०००० वर्ष
१५	धर्मनाथ	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष
१६	शान्तिनाथ	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष
१७	कुशुनाथ	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष
१८	अरनाथ	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष
१९	मल्लिनाथ	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष
२०	मुनिसुन्नत	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष
२१	नमिनाथ	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	३०० वर्ष	३०० वर्ष	३०० वर्ष	३०० वर्ष	३०० वर्ष
२३	पाश्र्वनाथ	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष
२४	महावीर	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष

पृ० ७३१-७३२ पृ० २१० से २१६

## राज्य काल

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेतान्धर संबर्ध-पंच		द्विगन्धर संबर्ध-पंच		
		श्रावण्यक नि. गा. २६६-३२२	सत्तरिसय ५५ माथा १३८-१४१	हरिवंश पुराण पृ० ७३१ से ७३२	तिलोय पण्णत्ती पृ० २१७ से २१६	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	६३ लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	—
२	अजितनाथ	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांक	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग
३	संभवनाथ	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग
४	अभिनन्दन	३६ लाख ५० हजार पूर्व ८ पूर्वांग	३६ लाख ५० हजार पूर्व ८ पूर्वांग	३६ लाख ५० हजार पूर्व ८ पूर्वांग	३६ लाख ५० हजार पूर्व ८ पूर्वांग	३६५००००
५	सुमतिनाथ	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग
६	पद्मप्रभ	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ अंग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ अंग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ पूर्वांग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ पूर्वांग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ पूर्वांग कम
७	सुपाश्वनाथ	१४ लाख पूर्व २० अंग	१४ लाख पूर्व २० अंग	१४ लाख पूर्व २० पूर्वांग	१४ लाख पूर्व २० पूर्वांग	१४ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम
८	चन्द्रप्रभ	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ अंग	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ अंग	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ पूर्वांग	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ पूर्वांग	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ पूर्वांग
९	सुविधिनाथ	५० हजार पूर्व २८ अंग	५० हजार पूर्व २८ अंग	५० हजार पूर्व २८ पूर्वांग	५० हजार पूर्व २८ पूर्वांग	५० हजार पूर्व २८ पूर्वांग
१०	शीतलनाथ	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व
११	श्रेयांसनाथ	४२ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष	५० लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष*

\*एवं पचस्रपक्षाब्धिमितसंवत्सरावधौ, राज्यकालेऽयमन्येद्युर्वसन्तपरिवर्तनम् ॥ उत्तर पु., अ. ५७ श्लो. ४३



क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संवर्ध-ग्रंथ		विगम्बर संवर्ध-ग्रंथ		
		आवश्यक नि. गा. २६६-३२२	सत्तरिसय ५५ गाथा १३८-१४१	हरिवंश पुराण पृ० ७३१ से ७३२.	तिलोथ पण्णत्ती पृ० २१७ से २१६	उत्तर पुराण
१२	वासुपूज्य*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
१३	विमलनाथ	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष
१४	अनन्तनाथ	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष
१५	धर्मनाथ	५ लाख वर्ष	५ लाख वर्ष	५ लाख वर्ष	५ लाख वर्ष	५००००० वर्ष
१६	शान्तिनाथ	२५ हजार वर्ष मांडलिक २५ ह. वर्ष चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष मांडलिक २५ हजार चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष मांडलिक २५ ह. वर्ष चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष मांडलिक २५ ह. वर्ष चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष मांडलिक २५ ह. वर्ष चक्रवर्ती
१७	कुंथुनाथ	२३७५० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२३७५० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२३७५० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२३७५० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२३७५० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती
१८	अरनाथ	२१००० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२१००० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२१००० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२१००० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२१००० वर्ष मांडलिक २१००० वर्ष चक्रवर्ती
१९	मल्लिनाथ*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
२०	मुनिमुव्रत	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष
२१	नमिनाथ	५००० वर्ष	५००० वर्ष	५००० वर्ष	५००० वर्ष	५००० वर्ष
२२	अरिष्टनेमि*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
२३	पार्श्वनाथ*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
२४	महावीर*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव

\*तारांकित ५ तीर्थंकरों ने राज्य का उपभोग ही नहीं किया

## क्षीक्षा-लिपि

क्र. सं.	तीर्थकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रन्थ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रन्थ	
		मत्त द्वाद ५६, माथा १४४ मे १४७	त्रिचित्र पुराण माथा २२६-२३६	निलीय पद्मगुप्ती माथा ६४४-६६७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	चैत्र कृ. ८	चैत्र कृ. ६	चैत्र कृ. ६	चैत्र कृ. ६
२	अजितनाथ	माघ शु. ६	माघ शु. ६	माघ शु. ६	माघ शु. ६
३	संभवनाथ	मार्गशीर्ष शु. १५	मार्गशीर्ष शु. १५	मार्गशीर्ष शु. १५	—
४	अभिनन्दन	माघ शु. १२	माघ शु. १२	माघ शु. १२	माघ शु. १२
५	सुमतिनाथ	वैशाख शु. ६	मार्गशीर्ष कृ. १०	वैशाख शु. ६	वैशाख शु. ६
६	पद्मप्रभ	कार्तिक कृ. १३	कार्तिक कृ. १३	कार्तिक कृ. १३	कार्तिक कृ. १३
७	सुपाशर्वनाथ	ज्येष्ठ शु. १३	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ शु. १२	ज्येष्ठ शु. १२
८	चन्द्रप्रभ	पौष कृ. १३	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११
९	सुविधिनाथ	मार्गशीर्ष कृ. ६	मार्गशीर्ष शु. १	पौष शु. ११	मार्गशीर्ष शु. १
१०	शीतलनाथ	माघ कृ. १२	माघ कृ. १२	माघ कृ. १२	माघ कृ. १२
११	श्रेयांसनाथ	फाल्गुन कृ. १३	फाल्गुन कृ. १३	फाल्गुन कृ. ११	फाल्गुन कृ. ११
१२	वासुपूज्य	फाल्गुन कृ. ३०	फाल्गुन कृ. १४	फाल्गुन कृ. १४	फाल्गुन कृ. १४
१३	विमलनाथ	माघ शु. ४	माघ शु. ४	माघ शु. ४	माघ शु. ४
१४	अनन्तनाथ	वैशाख कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. १२
१५	धर्मनाथ	माघ शु. १३	माघ शु. १३	भाद्रपद शु. १३	माघ शु. १३
१६	शान्तिनाथ	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १३	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १४
१७	कुशुमाय	वैशाख कृ. ५	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १
१८	अरनाथ	मार्गशीर्ष शु. ११	मार्गशीर्ष शु. १०	मार्गशीर्ष शु. १०	मार्गशीर्ष शु. १०
१९	मल्लिनाथ	मार्गशीर्ष कृ. ११	मार्गशीर्ष शु. ११	मार्गशीर्ष शु. ११	मार्गशीर्ष शु. ११
२०	मुनिसुवत	ज्येष्ठ शु. १२	वैशाख कृ. ६	वैशाख कृ. १०	वैशाख कृ. १०
२१	तमिनाथ	श्रावण कृ. ६	आषाढ कृ. १०	आषाढ कृ. १०	आषाढ कृ. १०
२२	अरिष्टनेमि	श्रावण शु. ६	श्रावण शु. ४	श्रावण शु. ६	—
२३	पार्वनाथ	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	माघ शु. ११	पौष कृ. ११
२४	महावीर	मार्गशीर्ष कृ. १०*	मार्गशीर्ष कृ. १०	मार्गशीर्ष कृ. १०	मार्गशीर्ष कृ. १०

\*सत्तरिसय द्वार में चैत्र शु. १० उल्लेखित है ।

## तीर्थंकरों के क्षीक्षा-नक्षत्र

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	संभवनाथ	अभिजित	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	मृगशीरा	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपाश्र्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	अनुराधा
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढा	मूल
११	श्रेयाननाथ	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपूज्य	शतभिषा	विशाखा
१३	विमलनाथ	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्रपद
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुशुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पाश्र्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	उत्तरा

## श्रीक्षेत्र साथी

क्र.सं.	तोर्थकर नाम	श्वेताम्बर संबर्भ ग्रंथ			विद्यम्बर संबर्भ ग्रंथ		
		प्रवचन सारोद्धार गाथा ३८३ से ३८४	सत्तरिसय गाथा १५३-५५	समवायांग समवाय २५	हरिवंशपुराण गाथा ३५०-३५१	तिलोय- पण्णात्ती गा. ६६८ से ६६६	उत्तर पुराण
१	कृष्णभद्र	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००
२	अजितनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
३	संभवनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
४	अभिनन्दन	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
५	सुमतिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
६	पद्मप्रभ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
७	सुपाश्वनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
८	चन्द्रप्रभ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
९	सुविधिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१०	शीतलनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
११	श्रेयांसनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१२	वासुपूज्य	६००	६००	६००	६०६	६७६	६७६
१३	विमलनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१४	अनन्तनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१५	धर्मनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१६	शान्तिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१७	कुण्डुनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१८	अरनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१९	मल्लिनाथ	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३००
२०	मुनिसुब्रत	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२१	नमिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२२	अरिष्टनेमि	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२३	पाश्वनाथ	३०० पुरुष	३००	३००	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३००
२४	महावीर	एकाकी	एकाकी	एकाकी	एकाकी	एकाकी	१०००*

\*गन्ता मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववाञ्छितम् ॥

—उत्तर पुराण, पर्व ७६, श्लोक ५१२

## प्रथम लप

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संबर्भ ग्रंथ			दिगम्बर संबर्भ ग्रंथ		
		सम. गा. २६, प्र० सा० ४३ द्वा०	आवश्यक नि०	सप्त. द्वार ६३ गाथा १४६	हरिवंशपुराण गाथा २१६ से २२०	तिलोयपम्पत्ती गाथा ६४४ से ६६७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	बेला (छट्टभक्त)	बेला	बेला	छमास धनसन	षष्ठ उपवास	—
२	अजितनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला (छट्टभक्त)	अष्टम भक्त	बेला
३	संभवनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	—
४	अभिनन्दन	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
५	सुमतिनाथ	नित्यभक्त	बेला	नित्यभक्त	तेला	तेला	बेला
६	पद्मप्रभ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
७	सुपाशर्वनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
८	चन्द्रप्रभ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
९	सुविधिनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
१०	शीतलनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
११	श्रेयांसनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
१२	वासुपूज्य	चतुर्थ-भक्त	चतुर्थ-भक्त	चतुर्थ-भक्त	एक उपवास	एक उपवास	बेला
१३	विमलनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
१४	अनन्तनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
१५	धर्मनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
१६	शान्तिनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
१७	कुशुनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	तेला
१८	अरनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	तेला
१९	मल्लिनाथ	तीन उपवास (अष्टम-तप)	तीन उपवास	तीन उपवास	तीन उपवास	षष्ठ भक्त	बेला
२०	मुनिसुन्नत	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
२१	नमिनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
२२	अरिष्टनेमि	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	तेला
२३	पाशर्वनाथ	तीन उपवास (अष्टम-तप)	तीन उपवास	तीन उपवास	एक उपवास	षष्ठभक्त	तेला
२४	महावीर	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	तेला

## प्रथम पारणा-शाला

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संवर्ध प्र'थ			विगम्बर संवर्ध प्र'थ	
		आवश्यक नि० गा. ३२३ से ३२६	सत्त० द्वार ७७ गा. १६३-१६५	समन्वायांग गा. ७६-७७	उत्तर पुराण पर्व ४८ से ६६	हरिवंश पुराण ७२४
१	ऋषभदेव	श्रेयांस	श्रेयांस	श्रेयांस	श्रेयांस	श्रेयांस
२	अजितनाथ	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त	ब्रह्माराज	ब्रह्मदत्त
३	संभवनाथ	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त
४	अभिनन्दन	इन्द्रदत्त	इन्द्रदत्त	इन्द्रदत्त	इन्द्रदत्तराजा	इन्द्रदत्त
५	सुमतिनाथ	पद्म	पद्म	पद्म	पद्मराजा	पद्मक
६	पद्मप्रभ	सोमदेव	सोमदेव	सोमदेव	सोमदत्तराजा	सोमदत्त
७	सुपाशर्वनाथ	महेन्द्र	महेन्द्र	महेन्द्र	महेन्द्रदत्तराजा	महादत्त
८	चन्द्रप्रभ	सोमदत्त	सोमदत्त	सोमदत्त	सोमदत्तराजा	सोमदेव
९	सुविधिनाथ	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्यमित्रराजा	पुष्यक
१०	शीतलनाथ	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसुराजा	पुनर्वसु
११	श्रेयांसनाथ	पूर्णांद	नंद	पूर्णांद	नंदराजा	सुनन्द
१२	वासुपूज्य	सुनन्द	सुनन्द	सुनन्द	सुन्दरराजा	जय
१३	विमलनाथ	जय	जय	जय	कनकप्रभु	विशाल
१४	अनन्तनाथ	विजय	विजय	विजय	विशालराजा	धर्मसिंह
१५	धर्मनाथ	धर्मसिंह	धर्मसिंह	धर्मसिंह	धन्य	सुमित्र
१६	शान्तिनाथ	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्रराजा	धर्ममित्र
१७	कुंठुनाथ	व्याघ्रसिंह (वगसीह)	व्याघ्रसिंह	वगसिंह	धर्ममित्रराजा	अपराजित
१८	अरनाथ	अपराजित	अपराजित	अपराजित	अपराजितराजा	नन्दिषेस
१९	मल्लिनाथ	विश्वसेन	विश्वसेन	विश्वसेन	नन्दीषेण	वृषभदत्त
२०	मुनिमुद्रत	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त	ऋषभसेन	वृषभसेन	दत्त
२१	नमिनाथ	दिस	दिस	दिस	दन्तराजा	वरदत्त
२२	अरिष्टनेमि	वरदत्त	वरदिस	वरदत्त	वरदत्त	नृपति
२३	पाशर्वनाथ	धन्य	धन्य	धन्य	धन्यराजा	धन्य
२४	महावीर	बहुल	बहुल	बहुल	कूल	बकुल

प्रथम चारणा स्थल

क्र.सं.	तीर्थकर नाम	श्वेतान्तर संदर्भ ग्रंथ			विगम्बर संदर्भ ग्रंथ	
		आव. नियुक्ति. मत्त० द्वार ७६ : ३२३ से ३२६ गा० १६०-१६१	ममवायांग ७६-७७	उत्तर पुराण पर्व ४८ से ६६	हरिवंश पु० पृ० ७२४	
१	ऋषभदेव	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
२	अजितनाथ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	साकेतपुरी	अयोध्या
३	संभवनाथ	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती
४	अभिनन्दन	साकेतपुर	अयोध्या	साकेतपुर	साकेत (अयोध्या)	विनीता
५	सुमतिनाथ	विजयपुर	विजयपुर	विजयपुर	सौमनस नगर	विजयपुर
६	पद्मप्रभ	ब्रह्मस्थल	ब्रह्मस्थल	ब्रह्मस्थल	वर्द्धमान नगर	मंगलपुर
७	सुपाशर्वनाथ	पाटलिखंड	पाटलिखंड	पाटलिखंड	सौमखेट नगर	पाटलिखंड
८	चन्द्रप्रभ	पद्मखंड	पद्मखंड	पद्मखंड	नलिन नगर	पद्मखंड
९	सुविधिनाथ	श्रेयःपुर	श्रेयःपुर	श्रेयःपुर	शंलपुर नगर	श्वेतपुर
१०	शीतलनाथ	रिष्ठपुर	रिष्ठपुर	रिष्ठपुर	अरिष्ठ नगर	अरिष्ठपुर
११	श्रेयांसनाथ	सिद्धार्थपुर	सिद्धार्थपुर	सिद्धार्थपुर	सिद्धार्थ नगर	सिद्धार्थपुर
१२	वासुपूज्य	महापुर	महापुर	महापुर	महानगर	महापुर
१३	विमलनाथ	धान्यकड	धान्यकड	धान्यकड	नन्दनपुर	धान्यबटपुर
१४	अनन्तनाथ	वर्द्धमानपुर	वर्द्धमानपुर	वर्द्धमानपुर	साकेतपुर	वर्द्धमानपुर
१५	धर्मनाथ	सौमनस	सौमनस	सौमनस	पाटलिपुत्र	सौमनसपुर
१६	शान्तिनाथ	मंदिरपुर	मंदिरपुर	मंदिरपुर	मंदिरपुर	मंदिरपुर
१७	कुशुनाथ	चक्रपुर	चक्रपुर	चक्रपुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
१८	अरनाथ	राजपुर	राजपुर	राजपुर	चक्रपुरनगर	चक्रपुर
१९	मल्लिनाथ	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिलानगर	मिथिला
२०	मुनिसुव्रत	राजगृह	राजगृह	राजगृह	राजगृह नगर	राजगृह
२१	नमिनाथ	वीरपुर	वीरपुर	वीरपुर	वीरपुर	वीरपुर
२२	अरिष्टनेमि	द्वारावती	द्वारावती	द्वारावती	द्वारावती	द्वारावती
२३	पाशवंनाथ	कोपकट	कोपकट	कोपकट	गुल्मखेट	काम्यकृत
२४	महावीर	कोल्लाक ग्राम	कोल्लाक ग्राम	कोल्लाक ग्राम	कूलग्राम	कुंडपुर

## छद्मस्थ-काल

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ ग्रंथ	
		सप्त० ८४ द्वा. भा. १७२-१७४	आ० नि० २३८-२४०	हरिवंश पुराण श्लो. ३३७-३४०	तिलाय पण्णात्तो भा. ६७५-६७८	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष
२	अजितनाथ	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष
३	संभवनाथ	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष
४	अभिनन्दन	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष
५	सुमतिनाथ	बीस वर्ष	बीस वर्ष	बीस वर्ष	बीस वर्ष	बीस वर्ष
६	पद्मप्रभ	छैं महिना	छैं महिना	छैं मास	छैं मास	छैं मास
७	सुपाश्वनाथ	नो महिना	नो महिना	नो वर्ष	नो वर्ष	नो वर्ष
८	चन्द्रप्रभ	तीन महिना	तीन महिना	तीन मास	तीन मास	तीन मास
९	सुविधिनाथ	चार महिना	चार महिना	चार मास	चार वर्ष	चार वर्ष
१०	शीतलनाथ	तीन महिना	तीन महिना	तीन मास	तीन वर्ष	तीन वर्ष
११	श्रेयांसनाथ	दो महिना	दो महिना	दो मास	दो वर्ष	दो वर्ष
१२	वासुपूज्य	एक महिना	एक महिना	एक मास	एक वर्ष	एक वर्ष
१३	विमलनाथ	दो महिना	दो महिना	तीन मास	तीन वर्ष	तीन वर्ष
१४	अनन्तनाथ	तीन वर्ष	तीन वर्ष	दो मास	दो वर्ष	दो वर्ष
१५	धर्मनाथ	दो वर्ष	दो वर्ष	एक मास	एक वर्ष	एक वर्ष
१६	शान्तिनाथ	एक वर्ष	एक वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष
१७	कुंथुनाथ	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष
१८	अरनाथ	तीन वर्ष	तीन वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष
१९	मत्स्लिनाथ	*एक अहोरात्र	एक अहोरात्र	छ दिन	छैं दिन	छैं दिन
२०	मुनिसुव्रत	ग्यारह महिना	ग्यारह महिना	ग्यारह मास	ग्यारह मास	ग्यारह मास
२१	नमिनाथ	नव महिना	नव मास	नव वर्ष	नव मास	नव वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	चौवन दिन	चौवन दिन	छप्पन दिन	छप्पन दिन	छप्पन दिन
२३	पाश्वनाथ	चौरासी दिन	चौरासी दिन	चार मास	चार मास	चार मास
२४	महावीर	साढ़े बारह वर्ष पन्द्रह दिन	साढ़े बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष

\* जं केव दिवसं पञ्चदशे तस्सेव दिवसस्स पुब्बावरहकालसमर्थसि...केवलवर नारायंससो समुप्पन्ने ।

-जाता., श्रु. १, अ. ८, सूत्र ८४



## केवलज्ञान-लिथि

क्र.सं.	नाम तीर्थकर	श्वेताम्बर संबर्ध-पथ		विगम्बर संबर्ध-पथ		
		श्राव० नि०	सत्त० द्वार८७ मा. १७६-८३	तिलोय पम्पल्ली चौ. महा. गाथा ६७६ से ७०१	हरिवंश पुराण ४२५ पृ.	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	फा. कृ. ११ उत्तरा.	फाल्गुन कृ. ११	फाल्गुन कृ. ११	फाल्गुन कृ. ११	फाल्गुन कृ. ११
२	भ्रजितनाथ	पौ. शु. ११ रोहिली	पौष शु. ११	पौष शु. १४	पौष शु. १४	पौष शु. ११
३	संभवनाथ	का. कृ. ५ मृग.	कार्तिक कृ. ५	कार्तिक कृ. ५	कार्तिक कृ. ५	कार्तिक कृ. ४
४	अभिनन्दन	पौ.शु.१४अभि.	पौष शु. १४	कार्तिक शु. ५	पौष शु. १५	पौष शु. १४
५	सुमतिनाथ	चै.शु.११ मघा	चैत्र शु. ११	पौष शु. १५	चैत्र शु. १०	चैत्र शु. ११
६	पद्मप्रभ	चै.शु.१५ चित्रा	चैत्र शु. १५	वैशाख शु. १०	चैत्र शु. १०	चैत्र शु. १५
७	सुपाशर्वनाथ	फा.कृ.६ विशा.	फा. कृ. ६	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ. ६
८	चन्द्रप्रभ	फा.कृ.७ अशु.	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ. ७
९	सुविधिनाथ	का. शु. ३ मूल	कार्तिक शु. ३	कार्तिक शु. ३	कार्तिक शु. ३	कार्तिक शु. २
१०	शीतलनाथ	पौ.कृ.१४पू. वा.	पौष कृ. १४	पौष कृ. १४	पौष कृ. १४	पौष कृ. १४
११	श्रेयांसिनाथ	माघ.कृ.३०श्रव.	माघ कृ. ३०	माघ कृ. ३०	माघ कृ. ३०	माघ कृ. ३०
१२	वासुपूज्य	माघ शु. २ शत.	माघ शु. २	माघ शु. २	माघ शु. २	माघ शु. २
१३	बिम्बलनाथ	पौ.शु.६ ज.भा.	पौ. शु. ६	पौष शु. १०	पौष कृ. १०	माघ शु. ६
१४	अनन्तनाथ	वै.कृ.१४रेवती	वैशाखकृ. १४	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०
१५	धर्मनाथ	पौ.शु.१५ पुष्य	पौष शु. १५	पौष शु. १५	पौष शु. १५	पौष शु. १५
१६	ज्ञान्तिनाथ	पौ.शु.६ भरणी	पौष शु. ६	पौष शु. ११	पौष शु. ११	पौष शु. १०
१७	कुशुनाथ	चै. शु. ३ कृत्ति.	चैत्र शु. ३	चैत्र शु. ३	चैत्र शु. ३	चैत्र शु. ३
१८	धरनाथ	का.शु. १२रेव.	कार्तिकशु.१२	कार्तिकशु.१२	कार्तिक शु.१२	कार्तिकशु.१२
१९	मल्लिनाथ	मार्ग.शु.११श्राश्वि.	मार्गशीर्ष शु.११	फाल्गुन कृ.१२	फाल्गुन कृ.११	मार्ग शु. ११
२०	मुनिसुव्रत	फा.कृ.१२श्रवण	फाल्गुन कृ.१२	फाल्गुन कृ. ६	फाल्गुन कृ. ६	वैशाख कृ. ६
२१	नमिनाथ	मार्ग शु.११श्राश्वि.	मार्गशीर्ष शु.११	चैत्र शु. ३	चैत्र शु. ३	मार्ग. शु. ११
२२	धरिष्टनेमि	श्राश्वि. कृ. ३० चित्रा	आसोज शु. ३०	आसोज शु. १	श्राश्वि.शु. १	आसोज कृ.३०
२३	पाशर्वनाथ	चै.कृ. ४विशा.	चैत्र कृ. ४	चैत्र कृ. ४	चैत्र कृ. ४	चैत्र कृ. १३
२४	महावीर	वै.शु.११हस्तो० मा. २६३से२७४	वैशाख शु. १०	वैशाख शु. १० पृ. २२७-२३०	वैशाख शु. १०	वैशाख शु. १०

## तीर्थंकरों के केवलज्ञान-नक्षत्र

क. सं.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर	द्विगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	संभवनाथ	मृगशिरा	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	अभिजित	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	हस्त
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	मुपाश्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	श्रीतलनाथ	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा
११	श्रेयांसनाथ	श्रवणा	श्रवणा
१२	वासुपूज्य	शतभिषा	विशाखा
१३	विमलनाथ	उत्तरभाद्रपद	उत्तराषाढा
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुशुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	भुनिसुवत	श्रवणा	श्रवणा
२१	हमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पाश्र्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	मघा

## केवलज्ञान-स्थल

क्र.सं.	नाम तीर्थकर	दिगम्बर संबंध-ग्रन्थ	
		सप्ततिशतस्थान गा. १८४-१८६	उत्तर पुराण तिलोय पम्प्लासी गाथा. ६७६-७०१
१	ऋषभदेव	पुरिमताल नगरी (शकटमुख उद्यान)	पुरिमताल पुरिमताल नगर
२	भ्रजितनाथ	भ्रयोध्यानगरी	— सहेतुकवन
३	संभवनाथ	श्रावस्ती	सहेतुकवन सहेतुकवन
४	भ्रभिनन्दन	भ्रयोध्या	भ्रभ्रउद्यान उभवन
५	सुमतिनाथ	भ्रयोध्या	सहेतुकवन सहेतुकवन
६	पद्मप्रभ	कौशाम्बी	— मनोहरउद्यान
७	सुपाशर्वनाथ	वाराणसी	सहेतुकवन सहेतुकवन
८	चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	सर्वतुंकवन सर्वार्थवन
९	सुविधिनाथ	काकन्दी	पुष्पकवन पुष्पवन
१०	शीतलनाथ	भद्विलपुरी	— सहेतुकवन
११	श्रेयांसनाथ	सिहपुर	मनोहरउद्यान मनोहरउद्यान
१२	वासुपूज्य	चम्पा	मनोहरउद्यान मनोहरउद्यान
१३	विमलनाथ	कंपिलपुर	सहेतुकवन सहेतुकवन
१४	अनन्तनाथ	भ्रयोध्या	सहेतुकवन सहेतुकवन
१५	धर्मनाथ	रत्नपुर	रत्नपुर (शालवन) सहेतुकवन
१६	शान्तिनाथ	गजपुरम्	सहस्राभवन भाभवन
१७	कुण्डुनाथ	गजपुरम्	सहेतुकवन (हस्तिनापुर) सहेतुकवन
१८	भ्ररनाथ	गजपुरम्	सहेतुकवन सहेतुकवन
१९	भ्रल्लिनाथ	मिथिला	श्वेतवन (मिथिला) मनोहरउद्यान
२०	भ्रुनिसुव्रत	राजगृही	नीलवन (राजगृह) नीलवन
२१	नमिनाथ	मिथिला	चैत्रवनउद्यान (मिथिला) चित्रवन
२२	भ्ररिष्टनेमि	उज्जयन्त	रैवतक ऊर्जयंतगिरि
२३	पाशर्वनाथ	वाराणसी	भ्रश्ववन (वाराणसी) शक्रपुर
२४	महाकीर	जूमिका नगरी ऋजु बालिका नदी पृष्ठ ४५	ऋजुकुला नदी (मनोहरवन) पृ. २२७-२३०

## तीर्थंशुरों के चैत्य-वृक्ष

क्र.सं.	तीर्थकर नाम	ऊंचाई	शबेताम्बर	द्विगम्बर
			समवा. गा. ३३-३७	हरिवंश पृ. ७१६-७२१
१	ऋषभदेव	३ गव्युति	न्यग्रोध के नीचे ज्ञानोत्पत्ति	बट
२	अजितनाथ	शरीर की ऊंचाई से बारह गुना	शक्तिपर्ण	सप्तपर्ण
३	संभवनाथ	"	शाल	शाल
४	अभिनन्दन	"	पियय	सरल
५	सुमतिनाथ	"	प्रियंगु	प्रियंगु
६	पद्मप्रभ	"	छत्राभ	प्रियंगु
७	सुपाश्वर्कनाथ	"	सिरीष	सिरीष
८	चन्द्रप्रभ	"	नागवृक्ष	नागवृक्ष
९	सुविधिनाथ	"	माली	शाली
१०	शीतलनाथ	"	पिलकखु	प्लक्ष
११	श्रेयांसनाथ	"	तिन्दुक	तिन्दुक
१२	वासुपूज्य	"	पाटल	पाटला
१३	विमलनाथ	"	जम्बु	जामुन
१४	अनन्तनाथ	"	अश्वत्थ	पीपल
१५	धर्मनाथ	"	दधिपर्ण	दधिपर्ण
१६	ज्ञान्तिनाथ	"	नन्दिवृक्ष	नन्दिवृक्ष
१७	कुशुनाथ	"	पिलकखु	पिलकखु
१८	अरनाथ	"	आम्र	आम्र
१९	मल्लिनाथ	"	अशोक	अशोक
२०	मुनिसुव्रत	"	चम्पक	चम्पक
२१	नमिनाथ	"	बकुल	बकुल
२२	अरिष्टनेमि	"	बेतस	भेदासींगी
२३	पाश्र्वनाथ	"	धातकी	धव
२४	महावीर	३२ धनुष	शाल	शाल

## गणधर संसुदाय

क्र.सं.	नाम तीर्थंकर	भाष० नि० गा. २६६ से ६८	समवायांग	प्रवचन सारोद्धार द्वार १५	हरिवंश पुराण गा. ३४१ से ४५	तिलोय पण्णासी गा. ३५६ से ६३	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	८४	८४	८४	८४	८४	८४
२	भजितनाथ	६५	६०	६५	६०	६०	६०
३	संभवनाथ	१०२	१०२	१०२	१०५	१०५	१०५
४	अभिनन्दन	११६	११६	११६	१०३	१०३	१०३
५	सुमतिनाथ	१००	१००	१००	११६	११६	११६
६	पद्मप्रभ	१०७	१०७	१०७	१११	१११	११०
७	सुपाश्र्वनाथ	६५	६५	६५	६५	६५	६५
८	चन्द्रप्रभ	६३	६३	६३	६३	६३	६३
९	सुविधिनाथ	८८	८६	८८	८८	८८	८८
१०	शीतलनाथ	८१	८३	८१	८१	८१	८७
११	श्रेयांसनाथ	७२	६६	७६	७७	७७	७७
१२	वासुपूज्य	६६	६२	६६	६६	६६	६६
१३	विमलनाथ	५७	५६	५७	५५	५५	५५
१४	अनन्तनाथ	५०	५४	५०	५०	५०	५०
१५	धर्मनाथ	४३	४८	४३	४३	४३	४३
१६	शान्तिनाथ	३६	६०	३६	३६	३६	३६
१७	कुशुनाथ	३५	३७	३५	३५	३५	३५
१८	अरनाथ	३३	३३	३३	३०	३०	३०
१९	मल्लिनाथ	२८	२८	२८	२८	२८	२८
२०	मुनिमुव्रत	१८	१८	१८	१८	१८	१८
२१	नमिनाथ	१७	—	१७	१७	१७	१७
२२	अरिष्टनेमि*	११	—	११	११	११	११
२३	पाश्र्वनाथ	१०	८	१०	१०	१०	१०
२४	महावीर	११	११	११	११	११	११

\* (क) कल्पसूत्र में भगवान् अरिष्टनेमि के गणधरों की संख्या १८ दी गई है ।

(ख) अरिष्टनेमेरेकादश नेमिनाथस्याष्टादशेति केचिन्मन्यन्ते । प्रब०, पृ० ८६, भाग-१

## प्रथम-शिष्य

क्र.सं.	नाम तीर्थकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रन्थ			विगम्बर संदर्भ-ग्रन्थ	
		प्रचवन सारोद्धार ८ द्वार गा. ३०४-३०६	समवायांग गा. ३६-४१	सत्तरि. द्वा., १०३ द्वा. गा. २१४-२१५	हरिवंश गा. ३४६-३४६	तिलोय प.व ६६४-६६६
१	ऋषभदेव	उषभसेन	उषभसेन	पुंडरीक	वृषभसेन	वृषभसेन
२	अजितनाथ	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन	केसरीसेन
३	संभवनाथ	चारु	चारु	चारु	चारुदत्त	चारुदत्त
४	अभिनन्दन	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रचमर
५	सुमतिनाथ	चमर	चमर	चमरगणी	चमर	वज्र
६	पद्मप्रभ	प्रद्योत	सुव्रत	सुज्ज-सुद्योत	वज्रचमर	चमर
७	सुपाश्वनाथ	विदर्भ	विदर्भ	विदर्भ	बली	बलदत्त
८	चन्द्रप्रभ	दिप्त पहव	दिप्त	दिप्त	दत्त	वैदर्भ
९	सुविधिनाथ	वराह	वराह	वराह	विदर्भ	नाग
१०	शीतलनाथ	प्रभुनंद	आनन्द	नंद	अनगार	कुंथु
११	श्रेयांसनाथ	कोस्तूभ	गोस्तूभ	कुच्छुभ	कुंथु	धर्म
१२	वासुपूज्य	सुभोम	सुधर्मा	सुभूम	सुधर्म	मन्दिर
१३	विमलनाथ	मन्दर	मन्दर	मन्दर	मन्दरार्य	जय
१४	अनन्तनाथ	यश	यश	यश	जय	अरिष्ठ
१५	धर्मनाथ	अरिष्ठ	अरिष्ठ	अरिष्ठ	अरिष्ठसेन	सेन
१६	शान्तिनाथ	चक्रायुध	चक्राभ	चक्रायुध	चक्रायुध	चक्रायुध
१७	कुंथुनाथ	संब	सयंभू	संब	स्वयंभू	स्वयंभू
१८	अरनाथ	कुम्भ	कुंभ	कुम्भ	कुन्धु	कुम्भ
१९	मल्लिनाथ	भिसय	इन्द्र	भिसय	विषाल	विषाल
२०	मुनिसुव्रत	मल्ली	कुम्भ	मल्ली	मल्ली	मल्ली
२१	नमिनाथ	शुंभ	शुंभ	शुंभ	सोमक	सुप्रभ
२२	अरिष्ठनेमि	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त
२३	पार्श्वनाथ	अजदिप्त	दिप्त	आर्यदत्त	स्वयंभू	स्वयंभू
२४	महावीर	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति

## प्रथम शिष्या

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संवर्भ-पंथ			द्विगम्बर संवर्भ-पंथ		
		समवायांग	प्रव.सा.गा. ३०७-६	सत्त.व्र. .... १०४ गा. २१६-२१७	हरि. पुराण परि. ५६	तिलोय प. गा. ११७८ से ११८०	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी
२	अजितनाथ	फलगू	फलगू (फगू)	फगुरणी	प्रकुब्जा	प्रकुब्जा	प्रकुब्जा
३	संभवनाथ	श्यामा	सामा	श्यामा	धर्मश्री	धर्मश्री	धर्मश्या
४	अभिनन्दन	अजीता	अजिया	अजीता	मेरुसेना	मेरुषेणा	मेरुषेणा
५	सुमतिनाथ	कासवी	कासवी	कासवी	अनन्ता	अनन्ता	अनन्तमती
६	पद्मप्रभ	रति	रति	रति	रतिसेना	रतिषेणा	रतिषेणा
७	सुपाशर्वनाथ	सोमा	सोमा	सोमा	मीना	मीना	मीना
८	चन्द्रप्रभ	सुमना	सुमणा	सुमणा	वरुणा	वरुणा	वरुणा
९	सुविधिनाथ	वारुणी	वारुणी	वारुणी	घोषा	घोषा	घोषा
१०	शीतलनाथ	सुलसा	सुजसा	सुजसा	धरणा	धरणा	धरणा
११	श्रेयांसनाथ	धारणी	धारिणी	धारिणी	चारणा	चारणा	धारणा
१२	वासुपूज्य	धरणी	धरिणी	धरणी	वरसेना	वरसेना	सेना
१३	विमलनाथ	धरणीधरा	धरा	धरा	पद्मा	पद्मा	पद्मा
१४	अनन्तनाथ	पद्मा	पद्मा	पद्मा	सर्वश्री	सर्वश्री	सर्वश्री
१५	धर्मनाथ	शिवा	अज्जासिवा	अज्जासिवा	सद्गता	सुदता	सुदता
१६	शान्तिनाथ	सुयी (श्रुती)	सुहा	सुई	हरिसेना	हरिषेणा	हरिषेणा
१७	कृष्णनाथ	अंजुया	दामणी	दामिणी	भाविता	भाविता	भाविता
		भावितात्मा					
१८	अरनाथ	रत्नी	रक्ली	रक्लिष्ठा	कुंभुसेना	कुंभुसेना	यक्षिला
१९	मल्लिनाथ	बंधुमती	बंधुमती	बंधुमती	मधुसेना	मधुसेना	बंधुषेणा
२०	मुनिसुव्रत	पुष्पवती	पुष्पवती	पुष्पवती	पूर्वदत्ता	पूर्वदत्ता	पुष्पवन्ता
२१	नमिनाथ	अमिला	अनिला	अनिला	मागिणी	मागिणी	मंमिनी
२२	परिष्वेनेमि	जक्षिणी	जक्खदिष्ठा	जक्खादिष्ठा	यक्षी	यक्षिणी	यक्षी
		(जक्षिणी)					
२३	पाशर्वनाथ	पुष्पचूला	पुष्पचूला	पुष्पचूला	सुलोका	सुलोका	सुलोचना
२४	महावीर	चन्दना	चन्दना	चन्दनचूला	चन्दना	चन्दना	चन्दना

## साधु-संख्या

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	शवेताम्बर संबर्ध-ग्रंथ			दिगम्बर संबर्ध-ग्रंथ		
		भावश्यक नियुं. गा. २५६-२५६	प्रवचन सार. गाथा ३३१-३३४	सत्त. द्वार. ११२ गा. २३२-२३४	हरिवंश पुराण गा. ३५२-३५६	तिलोय प.गा. १०६२ से १०६७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०८४
२	भजितनाथ	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००
३	संभवनाथ	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००
४	भभिनन्दन	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००
५	सुमतिनाथ	३२००००	३२००००	३२००००	३२००००	३२००००	३२००००
६	पद्मप्रभ	३३००००	३३००००	३३००००	३३००००	३३००००	३३००००
७	सुपाश्वर्धनाथ	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००
८	चन्द्रप्रभ	२५००००	२५००००	२५००००	२५००००	२५००००	२५००००
९	सुविधिनाथ	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००
१०	शीतलनाथ	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००
११	श्रेयांसनाथ	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००
१२	वासुपूज्य	७२०००	७२०००	७२०००	७२०००	७२०००	७२०००
१३	विमलनाथ	६८०००	६८०००	६८०००	६८०००	६८०००	६८०००
१४	अनन्तनाथ	६६०००	६६०००	६६०००	६६०००	६६०००	६६०००
१५	धर्मनाथ	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००
१६	शान्तिनाथ	६२०००	६२०००	६२०००	६२०००	६२०००	६२०००
१७	कुशुनाथ	६००००	६००००	६००००	६००००	६००००	६००००
१८	अरनाथ	५००००	५००००	५००००	५००००	५००००	५००००
१९	मल्लिनाथ	४००००	४००००	४००००	४००००	४००००	४००००
२०	मुनिसुव्रत	३००००	३००००	३००००	३००००	३००००	३००००
२१	नमिनाथ	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००
२२	अरिष्टनेमि	१८०००	१८०००	१८०००	१८०००	१८०००	१८०००
२३	पार्वनाथ	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००
२४	महावीर	१४०००	१४०००	१४०००	१४०००	१४०००	१४०००



## साध्वी-संख्या

क्र.सं.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संवर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संवर्भ-ग्रंथ		
		प्र. सा. द्वा. १७ गा. ३३५-३९	सत्त. द्वा. ११३ गा. २३५-२३९	हरिवंश पुराण गा. ४३२-४४०	तिलोथ पण्णात्ती गा. ११६६ से ११७६	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	३०००००	३०००००	३५००००	३५००००	३५००००
२	अजितनाथ	३३००००	३३००००	३२००००	३२००००	३२००००
३	संभवनाथ	३३६०००	३३६०००	३३००००	३३००००	३२००००
४	अभिनन्दन	६३००००	६३००००	३३००००	३३०६००	३३०६००
५	सुमतिनाथ	५३००००	५३००००	३३००००	३३००००	३३००००
६	पद्मप्रभ	४२००००	४२००००	४२००००	४२००००	४२००००
७	सुपार्ष्वनाथ	४३००००	४३००००	३३००००	३३००००	३३००००
८	चन्द्रप्रभ	३८००००	३८००००	३८००००	३८००००	३८००००
९	सुविधिनाथ	१२००००	१२००००	३८००००	३८००००	३८००००
१०	शीतलनाथ	१००००६	१००००६	३८००००	३८००००	३८००००
११	श्रेयांसनाथ	१०३०००	१०३०००	१२००००	१३००००	१२००००
१२	वासुपूज्य	१०००००	१०००००	१०६०००	१०६०००	१०६०००
१३	विमलनाथ	१००८००	१००८००	१०३०००	१०३०००	१०३०००
१४	अनन्तनाथ	६२०००	६२०००	१०८०००	१०८०००	१०८०००
१५	धर्मनाथ	६२४००	६२४००	६२४००	६२४००	६२४००
१६	शान्तिनाथ	६१६००	६१६००	६०३००	६०३००	६०३००
१७	कुशुनाथ	६०६००	६०६००	६०३५०	६०३५०	६०३५०
१८	अरनाथ	६००००	६००००	६००००	६००००	६००००
१९	मल्लिनाथ	५५०००	५५०००	५५०००	५५०००	५५०००
२०	मुनिसुव्रत	५००००	५००००	५००००	५००००	५००००
२१	नमिनाथ	४१०००	४१०००	४५०००	४५०००	४५०००
२२	अरिष्टनेमि	४००००	४००००	४००००	४००००	४००००
२३	पार्ष्वनाथ	३८०००	३८०००	३८०००	३८०००	३६०००
२४	महावीर	३६०००	३६०००	३५०००	३६०००	३६०००

## श्रावण-संख्या

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संबर्ध-ग्रंथ			द्विगम्बर संबर्ध-ग्रंथ		
		अ. सा. डा. २४ गा. ३६४-६७	आ० नि०	सत्त. डा. ११४ गा. २४०-२४२	हिर. पु. गा. ४४१	तिलोय पण्णासी गा. ११८१ से ११८२	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	३०५०००	३०५०००	३०५०००	३०००००	३०००००	३०००००
२	अजितनाथ	२६८०००	२६८०००	२६८०००	३०००००	३०००००	३०००००
३	संभवनाथ	२६३०००	२६३०००	२६३०००	३०००००	३०००००	३०००००
४	अभिनन्दन	२८८०००	२८८०००	२८८०००	३०००००	३०००००	३०००००
५	सुमतिनाथ	२८१०००	२८१०००	२८१०००	३०००००	३०००००	३०००००
६	पद्मप्रभ	२७६०००	२७६०००	२७६०००	३०००००	३०००००	३०००००
७	सुपाश्वनाथ	२५७०००	२५७०००	२५७०००	३०००००	३०००००	३०००००
८	चन्द्रप्रभ	२५००००	२५००००	२५००००	३०००००	३०००००	३०००००
९	सुविधिनाथ	२२६०००	२२६०००	२२६०००	२०००००	२०००००	२०००००
१०	श्रीतलनाथ	२८६०००	२८६०००	२८६०००	"	"	२०००००
११	श्रेयांसनाथ	२७६०००	२७६०००	२७६०००	"	"	२०००००
१२	वासुपूज्य	२१५०००	२१५०००	२१५०००	"	"	२०००००
१३	विमलनाथ	२०८०००	२०८०००	२०८०००	"	"	२०००००
१४	अनन्तनाथ	२०६०००	२०६०००	२०६०००	"	"	२०००००
१५	धर्मनाथ	२०४०००	२०४०००	२०४०००	"	"	२०००००
१६	शान्तिनाथ	२६००००	२६००००	२६००००	"	"	२०००००
१७	कुशुनाथ	१७६०००	१७६०००	१७६०००	१०००००	१०००००	२०००००
१८	अरनाथ	१८४०००	१८४०००	१८४०००	"	"	१६००००
१९	मल्लिनाथ	१८३०००	१८३०००	१८३०००	"	"	१०००००
२०	मुनिसुव्रत	१७२०००	१७२०००	१७२०००	"	"	१०००००
२१	नमिनाथ	१७००००	१७००००	१७००००	"	"	१०००००
२२	अरिष्टनेमि	१७१०००	१६६०००	१६६०००	"	"	१०००००
२३	पार्श्वनाथ	१६४०००	१६४०००	१६४०००	"	"	१०००००
२४	महावीर	१५६०००	१५६०००	१५६०००	"	"	१०००००

श्राविका-संख्या

क्र.सं.	तीर्थकर नाम	श्वेतान्बर संवर्भं ग्रंथ			विगन्बर संवर्भं ग्रंथ		
		प्रा.सा.द्वा. २५ गा. ३६८-७२	समवायाम	सत्त. द्वा. ११५ गा. २४३-२४६	हरिवंशपुराण गा. ४४२	तिलोय पं. गा. ११८३	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	५५४०००	५५४०००	५५४०००	५०००००	५०००००	५०००००
२	अजितनाथ	५४५०००	५४५०००	५४५०००	"	"	५०००००
३	संभवनाथ	६३६०००	६३६०००	६३६०००	"	"	५०००००
४	अभिनन्दन	५२७०००	५२७०००	५२७०००	"	"	५०००००
५	सुमतिनाथ	५१६०००	५१६०००	५१६०००	"	"	५०००००
६	पद्मप्रभ	५०५०००	५०५०००	५०५०००	"	"	५०००००
७	मुपाश्वर्चनाथ	४९३०००	४९३०००	४९३०००	"	"	५०००००
८	चन्द्रप्रभ	४९१०००	४९१०००	४९१०००	"	"	५०००००
९	सुविधिनाथ	४७१०००	४७१०००	४७१०००	४०००००	४०००००	५०००००
१०	शीतलनाथ	४५८०००	४५८०००	४५८०००	"	"	३०००००
११	श्रेयांसनाथ	४४८०००	४४८०००	४४८०००	"	"	४०००००
१२	वामुपूज्य	४३६०००	४३६०००	४३६०००	"	"	४०००००
१३	विमलनाथ	४२४०००	४२४०००	४२४०००	"	"	४०००००
१४	अनन्तनाथ	४१४०००	४१४०००	४१४०००	"	"	४०००००
१५	धर्मनाथ	४१३०००	४१३०००	४१३०००	"	"	४०००००
१६	शान्तिनाथ	३९३०००	३९३०००	३९३०००	"	"	४०००००
१७	कुशुनाथ	३८१०००	३८१०००	३८१०००	३०००००	३०००००	३०००००
१८	अरनाथ	३७२०००	३७२०००	३७२०००	"	"	३०००००
१९	मल्लिनाथ	३७००००	३७००००	३७००००	"	"	३०००००
२०	मुनिसुव्रत	३५००००	३५००००	३५००००	"	"	३०००००
२१	नमिनाथ	३४८०००	३४८०००	३४८०००	"	"	३०००००
२२	अरिष्टनेमि	३३६०००	३३६०००	३३६०००	"	"	३०००००
२३	पाशर्वनाथ	३३६०००	३२७०००	३३६०००	"	"	३०००००
२४	महावीर	३१८०००	३१८०००	३१८०००	"	"	३०००००

## केवल-ज्ञानी

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			द्विगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन द्वा.	सत्त. द्वा.	ज्ञाता	हरिवंश	तिलोय	उत्तर पुराण
		२१६ गा. ३५१-३५४	११६ गा. २४७-२४८		पुराण गा. ३५८ से ४३१	पण्णात्ती गा. ११००-११६१	
१	ऋषभदेव*	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००
२	अजितनाथ	"	"	"	"	"	"
३	संभवनाथ	१५०००	१५०००	१५०००	१५०००	१५०००	१५०००
४	अभिनन्दन	१४०००	१४०००	१४०००	१६०००	१६०००	१६०००
५	सुमतिनाथ	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००
६	पद्मप्रभु	१२०००	१२०००	१२०००	१२८००	१२०००	१२०००
७	सुपाशर्वनाथ	११०००	११०००	११०००	११३००	११०००	११०००
८	चन्द्रप्रभ	१००००	१००००	१००००	१००००	१८०००	१००००
९	सुविधिनाथ	७५००	७५००	७५००	७५००	७५००	७०००
१०	शीतलनाथ	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००
११	श्रेयांसनाथ	६५००	६५००	६५००	६५००	६५००	६५००
१२	वासुपूज्य	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१३	विमलनाथ	५५००	५५००	५५००	५५००	५५००	५५००
१४	अनन्तनाथ	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००	५००५
१५	धर्मनाथ	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००
१६	शान्तिनाथ	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००
१७	कुंथुनाथ	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००
१८	अरनाथ	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००
१९	मल्लिनाथ	२२००	२२००	३२००	२६५०	२२००	२२००
२०	मुनिसुव्रत	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००
२१	नमिनाथ	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००
२२	अरिष्टनेमि*	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००
२३	पार्श्वनाथ*	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२४	महावीर*	७००	७००	७००	७००	७००	७००

\*जम्बूद्वीप प्रशस्ति कालाधिकार में भगवान् ऋषभदेव की ४०००० प्रायिकाओं के सिद्ध होने का उल्लेख है।

कल्प सूत्र में भगवान् अरिष्टनेमि की ३०००, भगवान् पार्श्वनाथ की २००० और भगवान् महावीर की १४०० साध्वियों के मुक्त होने का उल्लेख है।

उपरिवर्णित सूचिपट्ट में श्वेताम्बर संदर्भ ग्रन्थों के अनुसार केवल पुरुष केवलियों की संख्या दी हुई है।

## अनःपर्यवहारी

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ ग्रंथ			विगम्बर संदर्भ ग्रंथ		
		प्र. द्वा. २२ गाथा ३५५-३५६	समवायांग	सत्त. द्वा. ११७ गा. २५०-२५४	हरि. पुराण गा. ३५८ से ४३१	तिलोय प. गा. ११०१ से ११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	१२७५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०
२	सजितनाथ	१२५००	१२५००	१२५००	१२४००	१२४५०	१२४५०
३	संभवनाथ	१२१५०	१२१५०	१२१५०	१२०००	१२१५०	१२१५०
४	अभिनन्दन	११६५०	११६५०	११६५०	११६५०	२१६५०	११६५०
५	सुमतिनाथ	१०४५०	१०४५०	१०४५०	१०४००	१०४००	१०४००
६	पद्मप्रभ	१०३००	१०३००	१०३००	१०६००	१०३००	१०३००
७	सुपाशर्वनाथ	६१५०	६१५०	६१५०	६६००	६१५०	६१५०
८	चन्द्रप्रभ	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००
९	सुविधिनाथ	७५००	७५००	७५००	६५००	७५००	७५००
१०	शीतलनाथ	७५००	७५००	७५००	७५००	७५००	७५००
११	श्रेयांसनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१२	वासुपूज्य	"	"	"	"	"	६०००
१३	बिमलनाथ	५५००	५५००	५५००	६०००	५५००	५५००
१४	अनन्तनाथ	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००
१५	धर्मनाथ	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००
१६	शास्तिनाथ	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००
१७	कुशुनाथ	३३४०	८१००	३३४०	३३५०	३३५०	३३००
१८	अरनाथ	२५५१	२५५१	२५५१	२०५५	२०५५	२०५५
१९	मल्लिनाथ	१७५०	५७००	१७५०	२२००	१७५०	१७५०
२०	मुनिमुक्त	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००
२१	नमिनाथ	१२६०	१२६०	१२५०	१२५०	१२५०	१२५०
२२	अरिष्टनेमि	१०००	१०००	१०००	६००	६००	६००
२३	पार्व्वनाथ	७५०	७५०	७५०	७५०	७५०	७५०
२४	महावीर	५००	५००	५००	५००	५००	५००

## अवधि ज्ञानी

क्र.सं.	तीर्थकर नाम	श्वेताम्बर संवर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संवर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन द्वा. २० गा. ३४८-३५०	सत्त.रि.द्वा ११८ गा. २५५-२५७	समवायांग	हरिवंश पुराण गाथा ३५८-४३१	तिलोय पण्णात्ती गा. ११०० से ११६१	उत्तर (महा) पुराण
१	ऋषभदेव	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
२	अजितनाथ	६४००	६४००	६४००	६४००	६४००	६४००
३	संभवनाथ	६६००	६६००	६६००	६६००	६६००	६६००
४	अभिनन्दन	६८००	६८००	६८००	६८००	६८००	६८००
५	सुमतिनाथ	११०००	११०००	११०००	११०००	११०००	११०००
६	पद्मप्रभ	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००
७	सुपाशर्वनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
८	चन्द्रप्रभ	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००
९	सुविधिनाथ	८४००	८४००	८४००	८४००	८४००	८४००
१०	शीतलनाथ	७२००	७२००	७२००	७२००	७२००	७२००
११	श्रेयांसनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१२	वासुपुज्य	५४००	५४००	५४००	५४००	५४००	५४००
१३	विमलनाथ	४८००	४८००	४८००	४८००	४८००	४८००
१४	अनन्तनाथ	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००
१५	धर्मनाथ	३६००	३६००	३६००	३६००	३६००	३६००
१६	शान्तिनाथ	३०००	३०००	३०००	३०००	३०००	३०००
१७	कुशुनाथ	२५००	२५००	६१००	२५००	२५००	२५००
१८	अरनाथ	२६००	२६००	२६००	२६००	२६००	२६००
१९	मल्लिनाथ	२२००	२२००	५६००	२२००	२२००	२२००
२०	मुनिमुद्रत	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००
२१	नमिनाथ	१६००	१६००	३६००	१६००	१६००	१६००
२२	अरिष्टनेमि	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००
२३	पाशर्वनाथ	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००
२४	महावीर	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००
					पृ० ७३५ से ७३६	पृ० २८७ से २८६	

## वैक्रियलब्धि-धारी

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		द्वियम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन., द्वारा २१८ गाथा २६१-२६३	सत्तरिसय द्वा. १२० गाथा २६१-२६३	हरिवंश पुराण श्लो. ३५८-४३१	तिलोय- पण्यत्ती भा. ११०० से ११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	२०६००	२०६००	२०६००	२०६००	२०६००
२	अजितनाथ	२०४००	२०४००	२०४५०	२०४००	२०४००
३	संभवनाथ	१६८००	१६८००	१६८००	१६८००	१६८००
४	अभिनन्दन	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००
५	सुमतिनाथ	१८४००	१८४००	१८४००	१८४००	१८४००
६	पद्मप्रभ	१६८००	१६८००	१६३००	१६८००	१६८००
७	सुपाश्वनाथ	१५३००	१५३००	१५१५०	१५३००	१५३००
८	चन्द्रप्रभ	१४०००	१४०००	१०४००	६००	१४०००
९	सुविधिनाथ	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००
१०	शीतलनाथ	१२०००	१२०००	१२०००	१२०००	१२०००
११	श्रेयांसनाथ	११०००	११०००	११०००	११०००	११०००
१२	वासुपूज्य	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००
१३	विमलनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१४	अनन्तनाथ	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००
१५	धर्मनाथ	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००
१६	शान्तिनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१७	कुशुनाथ	५१००	५१००	५१००	५१००	५१००
१८	अरनाथ	७३००	७३००	४३००	४३००	४३००
१९	मल्लिनाथ	२६००	२६००	१४००	२६००	२६००
२०	मुनिपुत्र	२०००	२०००	२२००	२२००	२२००
२१	नमिनाथ	५०००	५०००	१५००	१५००	१५००
२२	अरिष्टनेमि	१५००	१५००	११००	११००	११००
२३	पाशर्वनाथ	११००	११००	१०००	१०००	१०००
२४	महावीर	७००	७००	६००	६००	६००

पृ. ७३५-७३६ पृ. २८७-२८६

## पूर्वछारी

क्र.स.	तीर्थकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन द्वा.	समवायांग	सत्त. द्वा.	हरिवंश	तिलोय पण्णाती	उत्तर पुराण
		२३ गा. ३६०-३६३		११६ गा. २५८-२६०	पुराण गाथा ३५८-४३१	गा. ११०० से ११६१	
१	ऋषभदेव	४७५०	४७५०	४७५०	४७५०	४७५०	४७५०
२	अजितनाथ	३७२०	३७२०	२७२०	३७५०	३७५०	३७५०
३	संभवनाथ	२१५०	२१५०	२१५०	२१५०	२१५०	२१५०
४	अभिनन्दन	१५००	१५००	१५००	२५००	२५००	२५००
५	सुमतिनाथ	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
६	पद्मप्रभ	२३००	२३००	२३००	२३००	२३००	२३००
७	सुपाश्वनाथ	२०३०	२०३०	२०३०	२०३०	२०३०	२०३०
८	चन्द्रप्रभ	२०००	२०००	२०००	२०००	४०००	२०००
९	सुविधिनाथ	१५००	१५००	१५००	५०००	१५००	१५००
(श्रुत केवली)							
१०	शीतलनाथ	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००
११	श्रेयांसनाथ	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००
१२	वासुपूज्य	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००
१३	विमलनाथ	११००	११००	११००	११००	११००	११००
१४	अनन्तनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१५	धर्मनाथ	६००	६००	६००	६००	६००	६००
१६	शान्तिनाथ	८००	६३०	८००	८००	८००	८००
१७	कुशुनाथ	६७०	६७०	६७०	७००	७००	७००
१८	अरनाथ	६१०	६१०	६१०	६००	६१०	६१०
१९	मल्लिनाथ	५६८	५६८	६६८	७५०	५५०	५५०
२०	मुनिसुवत	५००	५००	५००	५००	५००	५००
२१	नमिनाथ	४५०	४५०	४५०	४५०	४५०	४५०
२२	अरिष्टनेमि	४००	४००	४००	४००	४००	४००
२३	पाश्वनाथ	३५०	३५०	३५०	३५०	३५०	३५०
२४	महावीर	३००	३००	३००	३००	३००	३००

पृ. ७३५-७३६ पृ. २८७-२८६



## वाणी

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संवर्भ-ग्रंथ			विगम्बर संवर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन. द्वा १६ गा. ३४४-३४७	समवायांग	सत्त. द्वा. १२१ गा. २६४-२६६	हरिवंश पुराण श्लो. ३५८ ४३१	तिलोय प. गा. ११०० से ११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	१२६५०	१२६५०	१२६५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०
२	अजितनाथ	१२४००	१२४००	१२४००	१२४००	१२४००	१२४००
३	संभवनाथ	१२०००	१२०००	१२०००	१२१००	१२०००	१२०००
४	अभिनन्दन	११०००	११०००	११०००	११६५०	६०००	११०००
५	सुमतिनाथ	१०६५०	१०६५०	१०४५०	१०४५०	१०४५०	१०४५०
६	पद्मप्रभ	६६००	६६००	६६००	६०००	६६००	६६००
७	सुपाश्वनाथ	८४००	८६००	८४००	८०००	८६००	८६००
८	चन्द्रप्रभ	७६००	७६००	७६००	७६००	७०००	७६००
९	सुविधिनाथ	६०००	६०००	६०००	७६००	६६००	६६००
१०	शीतलनाथ	५८००	५८००	५८००	५७००	५७००	५८००*
११	श्रेयांसनाथ	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००
१२	वासुपूज्य	४७००	४७००	४२००	४२००	४२००	४२००
१३	विमलनाथ	३२००	३२००	३६००	३६००	३६००	३६००
१४	मनन्तनाथ	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००
१५	धर्मनाथ	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००
१६	शान्तिनाथ	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
१७	कुशुनाथ	२०००	२०००	२०००	२०००	२०००	२०५०
१८	भरनाथ	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००
१९	मल्लिनाथ	१४००	१४००	१४००	२२००	१४००	१४००
२०	मुनिसुव्रत	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००
२१	नमिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२२	अरिष्टनेमि	८००	८००	८००	८००	८००	८००
२३	पाश्वर्षनाथ	६००	६००	६००	६००	६००	६००
२४	महावीर	४००	४००	४००	४००	४००	४००

पृ. ७३५ से पृ. २८७ से  
७३६ २८६

\*शून्य द्वयद्विपञ्चोक्त वादि मुख्यांचितक्रमः ॥ उत्तर पुराण, पर्व ५६ श्लो० ५३

## साधक जीवन

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ ग्रंथ		विगम्बर संदर्भ ग्रंथ
		आवश्यक नियुक्ति गा. २६४-२६८	सत्त. १४५ गाथा २६६-३०१	हरिवंश पुराण पृ० ७३२
१	ऋषभदेव	१ लाख पूर्व	१ लाख पूर्व	१ लाख पूर्व
२	अजितनाथ	१ लाख पूर्व एक पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १ पूर्वांग कम
३	संभवनाथ	१ लाख पूर्व ४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ४ पूर्वांग कम
४	अभिनन्दन	१ लाख पूर्व ८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ८ पूर्वांग कम
५	सुमतिनाथ	१ लाख पूर्व १२ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १२ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १२ पूर्वांग कम
६	पद्मप्रभ	१ लाख पूर्व १६ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १६ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १६ पूर्वांग कम
७	सुपाश्वनाथ	१ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम
८	चन्द्रप्रभ	१ लाख पूर्व २४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २४ पूर्वांग कम
९	सुविधिनाथ	१ लाख पूर्व २८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २८ पूर्वांग कम
१०	शीतलनाथ	२५००० पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व
११	श्रेयांसनाथ	२१०००० वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष
१२	वासुपूज्य	५४ लाख वर्ष	५४ लाख वर्ष	५४ लाख वर्ष
१३	विमलनाथ	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष
१४	अनन्तनाथ	साढ़े सात लाख वर्ष	साढ़े सात लाख वर्ष	साढ़े सात लाख वर्ष
१५	धर्मनाथ	ढाई लाख वर्ष	ढाई लाख वर्ष	ढाई लाख वर्ष
१६	शान्तिनाथ	२५ हजार वर्ष	२५ हजार वर्ष	२५ हजार वर्ष
१७	कुंथुनाथ	२३ हजार सात सौ पचास वर्ष	२३ हजार ७५० वर्ष	२७३५० वर्ष
१८	अरनाथ	२१ हजार वर्ष	२१ हजार वर्ष	२१ हजार वर्ष
१९	मल्लिनाथ	५४ हजार नौ सौ वर्ष	५४ हजार नौ सौ वर्ष	५४६०० वर्ष
२०	मुनिसुव्रत	साढ़े सात हजार वर्ष	साढ़े सात हजार वर्ष	साढ़े सात हजार वर्ष
२१	नमिनाथ	ढाई हजार वर्ष	ढाई हजार वर्ष	ढाई हजार वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	सात सौ वर्ष	सात सौ वर्ष	सात सौ वर्ष
२३	पाशर्वनाथ	सत्तर वर्ष	सत्तर वर्ष	सत्तर वर्ष
२४	महावीर	४२ वर्ष	४२ वर्ष	४२ वर्ष

## आयु प्रमाण

क्र.सं.	लीपिकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		श्राव. नि. गाथा ३२५-३२७	सत. द्वा. ४६ गाथा ३०२-३०३	प्र. प्रा. ३८५-३८७	हरि. पुराण गा. ३१२ से ३१६	ति. प. गा. ५७६ से ५८२	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.
२	अजितनाथ	७२ " "	७२ " "	७२ " "	७२ " "	७२ " "	७२ " "
३	संभवनाथ	६० " "	६० " "	६० " "	६० " "	६० " "	६० " "
४	अभिनन्दन	५० " "	५० " "	५० " "	५० " "	५० " "	५० " "
५	सुमतिनाथ	४० " "	४० " "	४० " "	४० " "	४० " "	४० " "
६	पद्मप्रभ	३० " "	३० " "	३० " "	३० " "	३० " "	३० " "
७	सुपाश्वनाथ	२० " "	२० " "	२० " "	२० " "	२० " "	२० " "
८	चन्द्रप्रभ	१० " "	१० " "	१० " "	१० " "	१० " "	१० " "
९	सुर्वाधिनाथ	२ " "	२ " "	२ " "	२ " "	२ " "	२ " "
१०	शीतलनाथ	१ " "	१ " "	१ " "	१ " "	१ " "	१ " "
११	श्रेयांसनाथ	८४ लाख व.	८४ लाख व.	८४ लाख व.	८४ लाख व.	८४ लाख व.	८४ लाख व.
१२	वासुपूज्य	७२ " "	७२ " "	७२ " "	७२ " "	७२ " "	७२ " "
१३	विमलनाथ	६० " "	६० " "	६० " "	६० " "	६० " "	६० " "
१४	अनन्तनाथ	३० " "	३० " "	३० " "	३० " "	३० " "	३० " "
१५	धर्मनाथ	१० " "	१० " "	१० " "	१० " "	१० " "	१० " "
१६	शान्तिनाथ	१ " "	१ " "	१ " "	१ " "	१ " "	१ " "
१७	कुण्डुनाथ	६५ ह. वर्ष	६५ ह. वर्ष	६५ ह. वर्ष	६५ ह. वर्ष	६५ ह. वर्ष	६५ ह. वर्ष
१८	भरनाथ	८४ " "	८४ " "	८४ " "	८४ " "	८४ " "	८४००० वर्ष
१९	मल्लिनाथ	५५ " "	५५ " "	५५ " "	५५ " "	५५ " "	५५,००० वर्ष
२०	मुनिसूत्रत	३० " "	३० " "	३० " "	३० " "	३० " "	३०,००० वर्ष
२१	नमिनाथ	१० " "	१० " "	१० " "	१० " "	१० " "	१०,००० वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	१ " "	१ " "	१ " "	१ " "	१ " "	१,००० वर्ष
२३	पाश्वनाथ	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष
२४	महावीर	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष

## तीर्थंकरों के माता-पिता की गति

क्र. सं.	तीर्थंकर नाम	माता का नाम	माता की गति	पिता का नाम	पिता की गति
१	ऋषभदेव	मरुदेवी	सिद्ध	नाभि	नागकुमार
२	अजितनाथ	विजया	"	जितशत्रु	दूसरे देवलोक इशान में
३	संभवनाथ	सेना	"	जितारि	"
४	अभिनन्दन	सिद्धार्थी	"	संवर	"
५	सुमतिनाथ	मंगला	"	मेघ	"
६	पद्मप्रभ	सुसीमा	"	धर	"
७	सुपाश्वनाथ	पृथिवी	"	प्रतिष्ठ	"
८	चन्द्रप्रभ	लक्षणा	"	महासेन	"
९	सुविधिनाथ	रामा	तृतीय सनत्कुमार देवलोक में	सुग्रीव	तीसरे देवलोक सनत्कुमार में
१०	शीतलनाथ	नन्दा	"	हृदय	"
११	श्रेयांसनाथ	विष्णुदेवी	"	विष्णु	"
१२	वासुपूज्य	जया	"	धसुपूज्य	"
१३	विमलनाथ	श्यामा	"	कृतवर्मा	"
१४	अनन्तनाथ	सुयशा	"	सिंहसेन	"
१५	धर्मनाथ	सुव्रता	"	भानु	"
१६	शान्तिनाथ	अचिरा	"	विश्वसेन	"
१७	कुशुनाथ	श्री	बीथे माहेन्द्र देवलोक में	शूर	बीथे देवलोक माहेन्द्र में
१८	अरनाथ	देवी	"	सुदशन	"
१९	मल्लिनाथ	प्रभावती	"	कुम्भ	"
२०	मुनिमुन्नत	पद्मावती	"	सुमित्र	"
२१	नमिनाथ	वप्रा	"	विजय	"
२२	अरिष्टनेमि*	शिवा	"	समुद्रविजय	"
२३	पाश्वनाथ	वामा	"	अश्वसेन	"
२४	महावीर	१ शिवला	"	१ सिद्धार्थ	आचारारंग सूत्र में इन दोनों का बारहवें स्वर्ग में जाने का उल्लेख है २ सिद्ध
		२ देवानन्दा	२ सिद्ध	२ ऋषभदत्त	

(१) जितशत्रु शिवं प्राप, सुमित्रस्त्रिदिवं गतः ॥

(२) महावीर के प्रथम माता-पिता के मुक्त होने का.....सत्तरिसय द्वार आदि में उल्लेख है ।

तीर्थंकरों के पिता एवं माता की गति के सम्बन्ध में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा में मूल भेद तो यह है कि दिगम्बर परम्परा स्त्री-मुक्ति नहीं मानती ।

## निर्वाण-तप

क्र. सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ ग्रंथ		दियम्बर संदर्भ-ग्रंथ
		प्रवचन द्वार ४५ गा. ४५६	सत्त १५३ द्वार गा. ३१७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	६ उपवास	६ उपवास	चौदह दिन
२	अजितनाथ	मासिक तप	मासिक तप	मासिक तप
३	संभवनाथ	" "	" "	" "
४	अभिनन्दन	" "	" "	" "
५	सुमतिनाथ	" "	" "	" "
६	पद्मप्रभ	" "	" "	" "
७	सुपाशर्वनाथ	" "	" "	" "
८	चन्द्रप्रभ	" "	" "	" "
९	सुविधिनाथ	" "	" "	—
१०	शीतलनाथ	" "	" "	" "
११	श्रेयांसनाथ	" "	" "	" "
१२	वासुपूज्य	" "	" "	" "
१३	बिमलनाथ	" "	" "	" "
१४	अनन्तनाथ	" "	" "	" "
१५	धर्मनाथ	" "	" "	" "
१६	शान्तिनाथ	" "	" "	" "
१७	कुंघुनाथ	" "	" "	" "
१८	अरनाथ	" "	" "	" "
१९	मल्लिनाथ	" "	" "	" "
२०	मुनिसुव्रत	" "	" "	" "
२१	नमिनाथ	" "	" "	" "
२२	अरिष्टनेमि	" "	" "	" "
२३	पार्श्वनाथ	" "	" "	" "
२४	महावीर	२ उपवास	२ उपवास	—

## निर्वाण-तिथि

क्र. सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		द्विगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवच०	सत्त द्वा. १४७ गा. ३०६-३१०	हरिवंश पुराण गा. २६६-२७५	तिलोय प. गा. ११८४-१२०८	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	माघ कृ. १४	माघ कृ. १३	माघ कृ. १४	माघ कृ. १४	माघ कृ. १४
२	अजितनाथ	चैत्र शु. ५	चैत्र शु. ५	चैत्र शु. ५	चैत्र शु. ५	चैत्र शु. ५
३	संभवनाथ	चैत्र शु. ६	चैत्र शु. ५	चैत्र शु. ६	चैत्र शु. ६	चैत्र शु. ६
४	अभिनन्दन	वैशाख शु. ७	वैशाख शु. ८	वैशाख शु. ७	वैशाख शु. ७	वैशाख शु. ६
५	सुमतिनाथ	चैत्र शु. १०	चैत्र शु. ९	चैत्र शु. १०	चैत्र शु. १०	चैत्र शु. ११
६	पद्मप्रभ	फाल्गुन कृ. ४	मार्गशीर्ष कृ. ११	फाल्गुन कृ. ४	फाल्गुन कृ. ५	फाल्गुन कृ. ४
७	सुपाश्र्वनाथ	फाल्गुन कृ. ६	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ. ६	फाल्गुन कृ. ६	फाल्गुन कृ. ७
८	चन्द्रप्रभ	भाद्रवा शु. ७	भाद्रवा कृ. ७	भाद्रवा शु. ७	भाद्रवा शु. ७	फाल्गुन शु. ७
९	सुविधिनाथ	भाद्रवा शु. ८	भाद्रवा शु. ९	भाद्रवा शु. ८	आसोज शु. ८	भाद्रवा शु. ८
१०	शीतलनाथ	आश्विन शु. ५	वैशाख कृ. २	आश्विन शु. ५	कार्तिक शु. ५	आश्विन शु. ८
११	श्रेयांसनाथ	श्रावण शु. १५	श्रावण कृ. ३	श्रावण शु. १५	श्रावण शु. १५	श्रावण शु. १५
१२	वासुपूज्य	फाल्गुन शु. ५	आषाढ शु. १४	फाल्गुन शु. ५	फाल्गुन कृ. ५	भाद्रपद शु. १४
१३	विमलनाथ	आषाढ कृ. ८	आषाढ कृ. ७	आषाढ कृ. ८	आषाढ शु. ८	आषाढ कृ. ८
१४	अनन्तनाथ	चैत्र कृ. ३०	चैत्र शु. ५	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०
१५	धर्मनाथ	ज्येष्ठ शु. ४	ज्येष्ठ शु. ५	ज्येष्ठ शु. ४	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ शु. ४
१६	शान्तिनाथ	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १३	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १४
१७	कुशुनाथ	वैशाख शु. १	वैशाख कृ. १	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १
१८	अरनाथ	चैत्र कृ. १५	मार्गशीर्ष शु. १०	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०
१९	मल्लिनाथ	फाल्गुन शु. १०	फाल्गुन शु. १२	फाल्गुन शु. ५	फाल्गुन कृ. ५	फाल्गुन शु. ५
२०	मुनिसुव्रत	फाल्गुन कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. ९	फाल्गुन कृ. १२	फाल्गुन कृ. १२	फाल्गुन कृ. १२
२१	नमिनाथ	वैशाख कृ. १४	वैशाख कृ. १०	वैशाख कृ. १४	वैशाख कृ. १४	वैशाख कृ. १४
२२	अरिष्टनेमि	आषाढ शु. ८	आषाढ शु. ८	आषाढ शु. ८	आषाढ कृ. ८	आषाढ शु. ७
२३	पारश्वनाथ	श्रावण शु. ५	श्रावण शु. ८	श्रावण शु. ७	श्रावण शु. ७	श्रावण शु. ७
२४	महावीर	कार्तिक कृ. १४	कार्तिक कृ. ३०	कार्तिक कृ. १४	कार्तिक कृ. १४	

पृ. ७२५ से ७२६ पृ. २६९ से ३०२

## तीर्थंकरों के निर्वाण नक्षत्र

क्र.सं.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर परम्परा	दिगम्बर परम्परा
१	ऋषभदेव	अभिजित	उत्तराषाढ़ा
२	अजितनाथ	मृगशिरा	भरणी
३	संभवननाथ	आर्द्रा	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	पुष्य	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	पुनर्वसु	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपाश्वनाथ	अनुराधा	अनुराधा
८	चन्द्रप्रभ	ज्येष्ठा	ज्येष्ठा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा
११	श्रेयांसनाथ	घनिष्ठा	घनिष्ठा
१२	वासुपूज्य	उत्तरा भाद्रपद	अश्विनी
१३	विमलनाथ	रेवती	पूर्वाभाद्रप
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुशुनाथ	कृतिका	कृतिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	भरणी	भरणी
२०	मुनिमुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	स्वाति	स्वाति

## निर्वाणस्थली

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संबर्भ ग्रंथ		विगम्बर संबर्भ ग्रंथ		
		प्रवचन द्वार. ३४ भा. ३६२	सत्त. १५० द्वार. भा. ३१५	हरिवंश पुराण श्लो. १८२ से २०५	उत्तर पुराण	तिलोदपष्पल्ली भा. ११८४ से १२०८
१	ऋषभदेव	अष्टापद	अष्टापद	कैलाश	कैलाश	कैलाश
२	अजितनाथ	सम्मेदशिक्षर	सम्मेदशिक्षर	सम्मेदाचल	सम्मेदाचल	सम्मेदशिक्षर
३	संभवनार्थ	"	"	"	"	"
४	अभिनन्दन	"	"	"	"	"
५	सुमतिनाथ	"	"	"	"	"
६	पद्मप्रभ	"	"	"	"	"
७	सुपाश्वनाथ	"	"	"	"	"
८	चन्द्रप्रभ	"	"	"	"	"
९	सुविधिनाथ	"	"	"	"	"
१०	शीतलनाथ	"	"	"	"	"
११	श्रेयांसनाथ	"	"	"	"	"
१२	वासुपूज्य	चंपा	चंपा	चम्पापुरी	मन्दरभिरि मनोहरोद्यान	चम्पापुरी
१३	विमलनाथ	सम्मेदशिक्षर	सम्मेदशिक्षर	सम्मेदशिक्षर	सम्मेदशिक्षर	सम्मेदशिक्षर
१४	अनन्तनाथ	"	"	"	"	"
१५	धर्मनाथ	"	"	"	"	"
१६	शान्तिनाथ	"	"	"	"	"
१७	कुण्डुनाथ	"	"	"	"	"
१८	अरनाथ	"	"	"	"	"
१९	मल्लिनाथ	"	"	"	"	"
२०	मुनिसुव्रत	"	"	"	"	"
२१	नमिनाथ	"	"	"	"	"
२२	अरिष्टनेमि	उज्जयंत गिरि	रेवताचल	उज्जयंत गिरि	(रैवतक) गिरिनार	उज्जयंत गिरि
२३	पाश्वनाथ	सम्मेदशिक्षर	सम्मेदशिक्षर	सम्मेदशिक्षर	सम्मेदाचल	सम्मेदशिक्षर
२४	महावीर	पावापुरी	पावापुरी	पावापुरी		पावापुरी

पृ. ७१९ से ७२०

पृ. २६६ से ३०२



## निर्वाण सार्थी

क्र.सं.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संबर्ध-ग्रंथ			विद्यम्बर संबर्ध-ग्रंथ		
		प्रवचन ३३ द्वार गाथा ३८८-३९१	भाष० नि० भा० ३०६	सप्त० द्वार १५४ गाथा ३१८-३२०	हरिवंश पुराण श्लो. २८३-२८५	तिलोय पष्णात्ती गाथा ११८५ से १२०८	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००	अनेक
२	अजितनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	—
३	संभवनाथ	"	"	"	"	"	१०००
४	अभिनन्दन	"	"	"	"	"	अनेक
५	सुमतिनाथ	"	"	"	"	"	१०००
६	पद्मप्रभ	३०८	३०८	३०८	३००	३२४	१०००
७	सुपाशर्वनाथ	५००	५००	५००	५००	५००	१०००
८	चन्द्रप्रभ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
९	सुविधिनाथ	"	"	"	"	"	"
१०	शीतलनाथ	"	"	"	"	"	"
११	श्रेयासभाथ	"	"	"	"	"	"
१२	वासुपूज्य	६००	६००	६००	६०१	६०१	६४
१३	विमलनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६००	८६००
१४	अनन्तनाथ	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००	६१००
१५	धर्मनाथ	८००	८००	८००	८०१	८०१	८०६
१६	शान्तिनाथ	६००	६००	६००	६००	६००	६०००
१७	कुंथुनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१८	अरनाथ	"	"	"	"	"	"
१९	मल्लिनाथ	५००	५००	५००	५००	५००	५०००
२०	मुनिसुव्रत	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२१	नमिनाथ	"	"	"	"	"	"
२२	अरिष्टनेमि	५३६	५३६	५३६	५३६	५३६	५३३
२३	पाशर्वनाथ	३३	३३	३३	५३६	३६	३६
२४	महावीर	१	१	एकाकी	२३	एकेले	१००० <sup>१</sup>
					पृ० ७२६ से ७२७	पृ० २६६ से ३०२	

१ गन्ता मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्वैर्वाञ्छितम् । [उत्तर पुराण. पर्व ७६, श्लो. ५१२]

## पूर्वभव नाम

क्र.सं.	नाम तीर्थकर	श्वैताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		द्विगम्बर संदर्भ-ग्रंथ	
		समवायांग	सत. द्वार ७ गा. ४४-४६	हरिवंशपुराण श्लो. १५०-१५५	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रनाभि	
२	अजितनाथ	विमल	विमल वाहन	विमल	विमल वज्र
३	संभवनाथ	विमल वाहन	विपुल बल	विपुल वाहन	विमल वाह
४	अमिनन्दन	धर्मसिंह	महाबल	महाबल	महाबल
५	सुमतिनाथ	सुमित्र	अतिबल	अतिबल	रतिषेण
६	पद्मप्रभ	धर्ममित्र	अपराजित	अपराजित	अपराजित
७	सुपाशर्वनाथ	सुन्दरबाहु	नंदिसेन	नंदिषेण	नंदिषेण
८	चन्द्रप्रभ	दीर्घबाहु	पद्म	पद्म	पद्मनाभ
९	सुविधिनाथ	युगबाहु	महापद्म	महापद्म	महापद्म
१०	शीतलनाथ	लघुबाहु	पद्म	पद्मगुल्म	पद्मगुल्म
११	श्रेयांसनाथ	दिश	नलिनीगुल्म	नलिन गुल्म	नलिन प्रभ
१२	वासुपूज्य	इन्द्रदत्त	पद्मोत्तर	पद्मोत्तर	पद्मोत्तर
१३	विमलनाथ	सुन्दर	पद्मसेन	पद्मासन	पद्मसेन
१४	अनन्तनाथ	माहिन्द्र	पद्मरथ	पद्म	पद्मरथ
१५	धर्मनाथ	सिहरथ	दशरथ	दशरथ	दशरथ
१६	कान्तिनाथ	मेघरथ	मेघरथ	मेघरथ	मेघरथ
१७	कुन्धुनाथ	रुक्मी (रूपी)	सिहाबह	सिहरथ	सिहरथ
१८	अरनाथ	सुदर्शन	अनपति	अनपति	अनपति
१९	मल्लिनाथ	नंदन	वैश्रमण	वैश्रमण	वैश्रमण
२०	मुनिसुव्रत	सिंहगिरि	श्रीवर्मा	श्रीधर्म	हरिवर्मा
२१	नमिनाथ	अदीन शत्रु	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ
२२	अरिष्टनेमि	मंस	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ
२३	पाशर्वनाथ	सुदर्शन	आनंद	आनंद	आनन्द
२४	महावीर	नन्दन	नंदन	नंदन	नन्द

पृ० ७१७ से ७१८

## तीर्थंकरों का अन्तरालकाल स्वेलाम्बर और विगम्बर द्वारा परम्पराओं द्वारा सम्मल

१. ऋषभदेव	नीमरे आरे के निवामी पक्ष अर्थात् ३ वर्ष माड़े घाठ मास शेष रहे तत्र मुक्ति पधारे
२. अजितनाथ	पचास लाख करोड़ सागर
३. संभवनाथ	तीस लाख करोड़ सागर
४. अभिनन्दन	दश लाख करोड़ सागर
५. सुमतिनाथ	नव लाख करोड़ सागर
६. पद्मप्रभ	नब्बे हजार करोड़ सागर
७. सुपार्श्वनाथ	नव हजार करोड़ सागर
८. चन्द्रप्रभ	नव सौ करोड़ सागर
९. सुवर्णिनाथ	नब्बे करोड़ सागर
१०. शीतलनाथ	नव करोड़ सागर
११. श्रेयांसनाथ	द्वियाम्ठ लाख छब्बीस हजार एक सौ सागर कम एक करोड़ सागर
१२. वासुपूज्य	चौवन सागर
१३. विमलनाथ	तीस सागर
१४. अनन्तनाथ	नव सागर
१५. धर्मनाथ	चार सागर
१६. शान्तिनाथ	पौन पत्योपम कम तीन सागर
१७. कुशुनाथ	अर्द्ध पत्य
१८. अरनाथ	एक हजार करोड़ वर्ष कम पाव पत्य
१९. मल्लिनाथ	एक हजार करोड़ वर्ष
२०. मुनिसुव्रत	चौवन लाख वर्ष
२१. नमिनाथ	छः लाख वर्ष
२२. अरिष्टनेमि	पांच लाख वर्ष
२३. पार्श्वनाथ	तिदासी हजार मान सौ पचास वर्ष
२४. महावीर	दो सौ पचास वर्ष बाद महावीर सिद्ध हुए

## तीर्थंकर और धर्म विच्छेद

१. सुविधिनाथ और शीतलनाथ के अन्तरालकाल में ३ पाव पत्योपम तक तीर्थ (धर्म) का विच्छेद । गुणभद्र ने शीतलनाथ के तीर्थ के अन्तिम भाग में काल दोष से धर्म का नाश माना है ।

२. भगवान् शीतलनाथ और श्रेयांसनाथ के अन्तरालकाल में ३ पाव पत्योपम तक तीर्थ विच्छेद ।

३. भगवान् श्रेयांसनाथ और वासुपूज्य के अन्तरालकाल में (पत्योपमे सम्बन्धिन-स्त्रियचतुर्भागा) पौन पत्योपम तीर्थ विच्छेद ।

४. भगवान् वासुपूज्य और विमलनाथ के अन्तरालकाल में ३ पाव पत्योपम तक तीर्थ विच्छेद ।

५. भगवान् विमलनाथ और अनन्तनाथ के अन्तरालकाल में पौन पत्योपम तक तीर्थ विच्छेद रहा । जैसे कि पत्योपम सम्बन्धिनस्त्रियचतुर्भागास्तीर्थ विच्छेदः ।

६. भगवान् अनन्तनाथ और धर्मनाथ के अन्तरालकाल में ३ पाव पत्योपम तक तीर्थ विच्छेद ।

७. धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तरालकाल में ३ पाव पत्योपम तक तीर्थ विच्छेद ।

तिलोयपण्णसी में सुविधिनाथ से सात तीर्थों में धर्म की विच्छिन्ति गयी गयी है । इन सात तीर्थों में क्रम से पाव पत्य, अर्ध पत्य, पौन पत्य, पत्य, पौन पत्य, अर्ध पत्य और पाव पत्य कुल ४ पत्य धर्म तीर्थ का विच्छेद रहा । उस समय धर्म रूप सूर्य अस्त हो गया था ।

(तिलोय ४) १२७८।७।१।३० ३१३

गुणभद्र के उत्तरपुराण के अनुसार उस समय मलय देश के राजा मेघरथ का मंत्री सत्यकीर्ति जैन धर्मानुयायी था । राजा द्वारा दान कंसा हो वह जिज्ञासा करने पर शास्त्रदान, अन्नदान और त्यागी मुनियों को अन्नदान की श्रेष्ठता बतलाई । राजा कुछ अन्य दान करना चाहता था, उसको मंत्री की बात से संतोष नहीं हुआ । उस समय भूति शर्मा ब्राह्मण के पुत्र मुञ्जालायन ने कहा—महाराज ! ये तीन दान तो भुनि या दरिद्र मनुष्य के लिये हैं । बड़ी इच्छा वाले राजाओं के तो दूसरे उत्तमदान हैं । शापानुग्रह-समर्थ ब्राह्मण को पृथ्वी एवं सुवर्णादि का दान दीजिये । ऋषि-प्रणीत शास्त्रों में भी इसकी महिमा बतायी है । उसने राजा को प्रसन्न कर अपना भक्त बना लिया । मंत्री के बहुत समझाने पर भी राजा को उसकी बात पसंद नहीं आयी । उसने मुञ्जालायन द्वारा बतलाये कन्यादान, हस्तिदान, सुवर्णादान, अश्वदान, गोदान, दासीदान, तिलदान, रथदान, भूमिदान और गृहदान इन १० दानों का प्रचार किया ।<sup>१</sup> संभव है राज्याश्रित विरोधी प्रचार और दान के प्रलोभनों से नबे जैन नहीं बने हों और प्राचीन लोगों ने शर्म-शर्मः धर्म परिवर्तन कर लिया हो ।

[उत्तर० पर्व ७६ पृ० ६६ से ७८ । स्तो० ६४ से ६६ तक]

## आगामी उत्सर्जणीकाल के चौबीस तीर्थंकर

१. महापद्म	(श्रेणिक का जीव)*
२. सुरदेव	(सुपाश्व का जीव)*
३. सुपाश्व	उदायी*
४. स्वयंप्रभ	(पोट्टिल भ्रगगार)*
५. सर्वानुभूति	(द्व्वायु)*
६. देवभूति	(कार्तिक)
७. उदय	(शंख)*
८. पेठालपुत्र	(नंद)
९. पोट्टिल	(सुनन्द)
१०. शतकीर्ति	शतक*
११. मुनिसुव्रत	देवकी
१२. भ्रमम	कृष्ण
१३. सर्व भावित	सात्यकि
१४. निष्कषाय	बलदेव (कृष्ण के बड़े भाई नहीं)
१५. निष्पुलाक	रोहिणी
१६. निर्मम	सुलसा*
१७. चित्रमुप्त	रेवती*
१८. समाधि	शताली
१९. संवर	भयाली
२०. अनिवृत्ति	कृष्ण द्वैपायन
२१. विजय	नारद
२२. विमल	भ्रम्बड़
२३. देवोपपात	दाशमृत
२४. अनन्त विजय	स्वातिबुद्ध

\* तारंकित पुण्यात्माओं ने भगवान् महावीर के शासनकाल में तीर्थंकर नाम-कर्म का उपाजर्जन किया, यथा :- "समणस्स भगवउ महावीरस्स तित्थसि नव्वहि जीवेहि तित्थकर-नामगोयकम्मे निवित्तिए तंजहा सेणिएणं सुपासेणं, उदाइसा, पुट्टेणं भ्रगगारेणं, दढाउसा, संखेणं, सथएणं सुलसाए, सायियाए रेवईए ।"

[स्थानांग, ठाणा ६, (भ्रभयदेव सूरि) पत्र ५२०, ५२१]

## चक्रवर्तियों के नाम व उनका काल

१. भरत	(प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समय में)
२. सगर	(द्वि० तीर्थंकर धृजितनाथ के समय में)
३. मधवा	(पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथजी और १६वें तीर्थंकर मान्तिनाथजी के अन्तराल काल में)
४. सनत्कुमार	" " "
५. मान्तिनाथ	(सोलहवें तीर्थंकर)
६. कुन्धुनाथ	(सत्रहवें तीर्थंकर)
७. धरनाथ	(अठारहवें तीर्थंकर)
८. सुभूम	(अठारहवें तीर्थंकर व ७वें चक्रवर्ती धरनाथ व १९वें ती० मल्लिनाथ के अन्तरालकाल में)
९. पद्म	(२०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समय में)
१०. हरिवेण	(इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ के समय में)
११. जयसेन	(नमिनाथ और अरिष्टनेमि के अन्तरालकाल में)
१२. ब्रह्मदत्त	(अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ के अन्तरालकाल में)

## अवसर्पिणीकाल के बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव

बलदेव	वासुदेव	प्रतिवासुदेव	तीर्थंकरकाल
१) विजय	(१) त्रिपृष्ठ	(१) भस्वधीव	म. श्रेयांसनाथ के तीर्थ-काल में
२) अन्नल	(२) द्विपृष्ठ	(२) तारक	म. वासुपूज्य " " "
३) सुधर्म	(३) स्वयम्भू	(३) मेरक	म. विमलनाथ " " "
४) सुप्रभ	(४) तुरुषोत्तम	(४) मधुकैटभ	म. अनन्तनाथ " " "
५) सुदर्शन	(५) पुरुषसिंह	(५) निशुम्भ	म. धर्मनाथ " " "
६) नन्दी	(६) पुरुष पुण्डरीक	(६) बलि	म. धरनाथ और मल्लिनाथ के अन्तराल काल में
७) नन्दिमित्र	(७) दत्त	(७) प्रह्लाद*	" "
८) राम	(८) नारायण	(८) रावण	म. मुनिसुव्रत और म. नमिनाथ के अन्तराल काल में
९) पद्म	(९) कृष्ण	(९) जरासंध	म. नेमिनाथ के शासनकाल में

तिस्रो पण्णासी में प्रह्लाद के स्थान पर प्रहरण नाम उल्लिखित है ।

# परिशिष्ट २





## तिलोयपणती में कुलकर

तिलोयपणती में १४ कुलकरों का वर्णन करते हुए आचार्य ने उस समय के मानवों की अपने-अपने समय में आई हुई समस्याओं का कुलकरों द्वारा किस प्रकार हल हुआ, इसका बड़े विस्तार के साथ सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। वह संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है :—

जब उस समय के मानवों ने सर्वप्रथम आकाश में चन्द्र और सूर्य को देखा तो किसी आकस्मिक घोर विपत्ति की आशंका से वे बड़े अस्त हुए। तब प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति ने निर्णय करते हुए लोगों को कहा कि अनादिकाल से ये चन्द्र और सूर्य नित्य उगते एवं अस्त होते हैं पर इतने दिन तेजांग जाति के प्रकाशपूर्ण कल्पवृक्षों के कारण दिखाई नहीं देते थे। अब उन कल्पवृक्षों का प्रकाश कालक्रम से मन्द पड़ गया है, अतः ये प्रकट दृष्टि-गोचर होते हैं। इनकी ओर से किसी को भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।

प्रथम मनु प्रतिश्रुति के देहावसान के कुछ काल पश्चात् सन्मति नामक द्वितीय मनु उत्पन्न हुए। उनके समय में 'तेजांग' जाति के कल्पवृक्ष नष्टप्राय हो गये। अतः सूर्यास्त के पश्चात् अदृष्टपूर्व अन्धकार और चमचमाते तारामण्डल को देखकर लोग बड़े दुःखित हुए। 'सन्मति' कुलकर ने भी लोगों को निर्भय करते हुए उन्हें यह समझाकर आश्वस्त किया कि प्रकाश फलाने वाले कल्पवृक्षों के सर्वथा नष्ट हो चुकने से सूर्य के अस्त हो जाने पर अन्धकार हो जाता है और तारामण्डल, जो पहले उन वृक्षों के प्रकाश के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता था, अब दिखने लगा है। वास्तविक तथ्य यह है कि सूर्य, चन्द्र और तारे अपने मण्डल में मेह पर्वत की नित्य ही प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इसमें भय करने की कोई बात नहीं है।

कालान्तर में तृतीय कुलकर 'क्षेमकर' के समय से व्याघ्रादि पशु समय के प्रभाव से क्रूर स्वभाव के होने लगे तो लोग बड़े अस्त हुए। 'क्षेमकर' ने उन लोगों को व्याघ्रादि पशुओं का विश्वास न करने की और समूह बनाकर निर्भय रहने की सलाह दी।

इसी तरह चौथे कुलकर 'क्षेमघर' ने अपने समय के लोगों को सिंहादि हिंसक जानवरों से बचने के लिये दण्डादि रखकर बचाव करने की शिक्षा दी।

पाँचवें कुलकर 'सीमंकर' के समय में कल्पवृक्ष अल्प मात्रा में फल देने लगे। अतः स्वामित्व के प्रश्न को लेकर उन लोगों में परस्पर भगड़े होने लगे तो 'सीमंकर' ने सीमा आदि की समुचित व्यवस्था कर उन लोगों को संघर्ष से बचाया।

इन पाँचों कुलकरों ने भोग-युग के समाप्त होने और कर्म-युग के आगमन की पूर्व सूचना देते हुए अपने-अपने समय के मानव समुदाय को आगे आने वाले कर्म युग के अनुकूल जीवन बनाने की शिक्षा दी। अपराधियों के लिये ये 'हाकार' नीति का प्रयोग करते रहे।

छठे कुलकर 'सीमंघर' ने अपने समय के कल्पवृक्षों के स्वामित्व के प्रश्न को लेकर लोगों में परस्पर होने वाले झगड़ों को शान्त कर वृक्षों को चिह्नित कर सीमाएं नियत कर दीं ।

'विमल वाहन' नामक सातवें कुलकर अथवा मनु ने लोगों के गमनागमन आदि की समस्याओं का समाधान करने हेतु उन्हें हाथी आदि पशुओं को पालतू बनाकर उन पर सवारी करने की शिक्षा दी ।

आठवें मनु 'चक्षुष्मान्' के समय में भोगभूमिज युगल अपनी बाल-युगल संतान को देखकर बड़े भयभीत होते । चक्षुष्मान् उन्हें समझाते कि ये तुम्हारे पुत्र-पुत्री हैं, इनके पूर्ण चन्द्रोपम मुखों को देखो । मनु के इस उपदेश से वे स्पष्ट रूप से अपने बाल-युगल को देखते और बच्चों का मुंह देखते ही मृत्यु को प्राप्त हो विलीन हो जाते ।

नवम मनु 'यशस्वी' ने युगलों को अपनी सन्तान के नामकरण महोत्सव करने की शिक्षा दी । उस समय के युगल अपनी युगल-संतति का नामकरण-संस्कार कर थोड़े समय बाद कालकर विलीन हो जाते थे ।

दशम कुलकर 'अभिचन्द' ने कुलों की व्यवस्था करने के साथ-साथ बालकों के रदन को रोकने, उन्हें खिलाने, बोलना सिखाने, पालन-पोषण करने आदि की युगलियों को शिक्षा दी । ये युगल थोड़े दिन बच्चों का पोषण कर मृत्यु को प्राप्त करते ।

छठे से दशवें ५ कुलकर 'हा' और 'मा' दोनों दण्ड-नीतियों का उपयोग करते थे ।

ग्यारहवें 'चन्द्राभ' नामक मनु के समय में अति शीत, तुषार और तीव्र वायु से दुखित हो भोग भूमिज मनुष्य तुषार से आच्छन्न चन्द्रादिक ज्योतिष समूह को भी नहीं देख पाने के कारण भयभीत हो गये । मनु 'चन्द्राभ' ने उन्हें समझाया कि अब भोग-युग की समाप्ति होने पर कर्म-युग निकट आ रहा है । यह शीत और तुषार सूर्य की किरणों से नष्ट होंगे ।

बारहवें कुलकर 'मरुदेव' के समय में बादल गड़गड़ाहट और बिजली की चमक के साथ बरसने लगे । कीचड़युक्त जल-प्रवाह वाली नदियां प्रवाहित होने लगीं । उस समय का मानव-समाज इन सत्य और अभूतपूर्व घटनाओं को देखकर बड़ा भय-भ्रान्त हुआ । 'मरुदेव' ने उन लोगों को काल-विभाग के सम्बन्ध में समझाते हुए कहा कि अब कर्म-भूमि (कर्मक्षेत्र) तुम्हारे सन्निकट आ चुकी है । अतः निडर होकर कर्म करो । 'मरुदेव' ने नार्यों से नदियां पार करने, पहाड़ों पर सीढ़ियां बनाकर चढ़ने एवं वर्षा आदि से बचने के लिये छाता आदि रखने की शिक्षा दी ।

तेरहवें मनु 'प्रसेनजित' के समय में जरायु से वेष्टित युगल बालकों के जन्म से उस समय के मानव बड़े भयभीत हुए। 'प्रसेनजित' ने जरायु हटाने और बालकों का समुचित रूप से पालन करनेकी उन लोगों को शिक्षा दी।

चौदहवें मनु 'नाभिराय' के समय में बालकों का नाभि नाल बहुत लम्बा होता था। उन्होंने लोगों को उसके काटने की शिक्षा दी। इनके समय में कल्पवृक्ष नष्ट हो गये और सहज ही उत्पन्न विविध औषधियां, धान्यादिक और भीठे फल दृष्टिगोचर होने लगे। नाभिराय ने भूखे व भयाकुल लोगों को स्वतः उत्पन्न शालि, जौ, बल्ल, तुवर, तिल और उड़द आदि के भक्षण से क्षुधा की ज्वाला शान्त करने की शिक्षा दी।

[तिलोयपण्यात्ती, महाधिकार ४, गा० ४२१-४०६, पृ० १६७-२०६]

## पंचम आरक (विगम्बर मान्यता)

तिलोयपण्णत्ती के अनुसार एक-एक हजार वर्ष से एक-एक कल्की और पाँच-पाँच सौ वर्षों से एक-एक उपकल्पी होता है। कल्की अपने-अपने शासनकाल में मुनियों से भी अग्रपिण्ड मांगते हैं। मुनिगण उस काल के कल्की को समझाने का पूरा प्रयास करते हैं कि अग्रपिण्ड देना उनके श्रमण-आचार के विपरीत और उनके लिये अकल्पनीय है, पर अन्ततोगत्वा कल्कियों के दुराग्रह के कारण उस समय के मुनि अग्रपिण्ड दे निराहार रह जाते हैं। उन मुनियों में से किसी एक मुनि को अवधिज्ञान हो जाता है। कल्की भी क्रमशः समय-समय पर असुर द्वारा मार दिये जाते हैं। प्रत्येक कल्की के समय में चातुर्वर्ण्य संघ भी बड़ी स्वल्प संख्या में रह जाता है।

इस प्रकार धर्म, आयु, शारीरिक अवगाहना आदि की हीनता के साथ-साथ पंचम आरे की समाप्ति के कुछ पूर्व इक़ीसवां कल्की होगा। उसके समय में वीरांगज नामक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका, अग्निदत्त (अग्निनल) श्रावक और पंगुश्री श्राविका होंगे। कल्की अनेक जनपदों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अपने मन्त्री से पूछेगा—“क्या मेरे राज्य में ऐसा भी कोई व्यक्ति है जो मेरे वंश में नहीं है ?”

कल्की यह सुनते ही तत्काल अपने अधिकारियों को मुनि से अग्रपिण्ड लेने का आदेश देगा। वीरांगज मुनि राज्याधिकारियों को अग्रपिण्ड देकर स्यानक की ओर लीट पड़ेगे। उन्हें उस समय अवधिज्ञान प्राप्त हो जायगा और वे अग्निनल श्रावक, पंगुश्री श्राविका और सर्वश्री आर्यिका को बुलाकर कहेंगे—“अब दुष्काल का अन्त आ चुका है। तुम्हारी और मेरी अब केवल तीन दिन की आयु शेष है। इस समय जो यह राजा है, यह अन्तिम कल्की है। अतः प्रसन्नतापूर्वक हमें चतुर्विध आहार और परिग्रह आदि का त्याग कर आजीवन संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये।”

वे चारों तत्काल आहार, परिग्रह आदि का त्याग कर संन्यास सहित कार्तिक कृष्णा, अमावस्या को स्वाति नक्षत्र में समाधि-मरण को प्राप्त होंगे और सौधर्म कल्प में देवरूप से उत्पन्न होंगे। उसी दिन मध्याह्न में कुपित हुए असुर द्वारा कल्की मार दिया जायगा और सूर्यास्तवेला में भरत क्षेत्र से उसकी सत्ता विलुप्त हो जायगी। कल्की नरक में उत्पन्न होगा। उस दिवस के ठीक तीन वर्ष और साढ़े आठ मास पश्चात् महाविषम दुष्कालादुष्काल नामक छठा आरक प्रारम्भ होगा।

[ तिलोयपण्णत्ती, ४।१५।१६-१५।३५ ]

# परिशिष्ट ३



## पारिभाषिक शब्दार्थानुक्रमणिका

- अंग** -- तीर्थकरों से अर्थ (वाणी) सुनकर गणधरों द्वारा अर्चित सूत्र ।
- अकल्पनीय** -- सदोष अघ्राह्य वस्तु ।
- अघाती-कर्म** -- आरम्भिक गुणों की हानि नहीं करने वाले भ्रायु, नाम, गोत्र और वेदनीय नामक चार कर्म ।
- अतिशय** -- सर्वोत्कृष्ट विभिन्न गुण ।
- अन्तराय-कर्म** -- लाभ प्रादि में बाधा पहुंचाने वाला कर्म ।
- अनुसरोपपातिक** -- अनुसर-विमान में जाने वाले जीव ।
- अपूर्वकरण गुणस्थान** -- षाठवें गुणस्थान में स्थितिघात, रसघात, मुराश्रेणी और गुणसंक्रमण प्रादि अपूर्व क्रियाएं होती हैं । अतः उसे अपूर्वकरण कहते हैं ।
- अभिग्रह** -- युक्त प्रतिज्ञा ।
- अवग्रह** -- पांच इन्द्रियों एवं मन से ग्रहण किया जाने वाला मति ज्ञान का एक भेद ।
- अवसर्पिणीकाल** -- कालचक्र का दस कोटाकोटि सागर की स्थिति वाला वह अर्द्धभाग, जिसमें पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श एवं प्राणियों की आयु, अवगाहना, संहनन, संस्थान, बल-वीर्य प्रादि का क्रमिक अपकर्ष होता है ।
- अयोगी-भाव** -- योगरहित चौदहवें गुणस्थान में होने वाली आत्मपरिणति ।
- आध्यात्मसत्र** -- वह तपस्या, जिसमें रूखा भोजन दिन में एक बार अर्चित जल के साथ ग्रहण किया जाता है ।
- आरा-अथवा-आरक** -- अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी के छैः-छैः काल-विभाग ।
- उत्सर्पिणी-काल** -- अपकर्षान्मुक्त अवसर्पिणीकाल के प्रतिलोम (उल्टे) क्रम से उत्कर्षान्मुक्त दस कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति वाला काल ।
- उपांग** -- द्वादशांगों में वर्णित विषय को स्पष्ट करने हेतु श्रुतकेवली अथवा पूर्ववर आचार्यों द्वारा रचित आंगम ।
- कल्पवृक्ष** -- भोग-युग के मानव को सभी प्रकार की आवश्यक सामग्री देने वाले वृक्ष ।

- क्षयक श्रेणी** — क्रोध, मान्, भाया, लोभ आदि मोह-कर्म की प्रकृतियों को क्रमिक क्षय करने की पद्धति ।
- कालचक्र** — दस कोड़ाकोड़ी सागर के एक अवसर्पिणीकाल और दस कोड़ा-कोड़ी सागर के एक उत्सर्पिणीकाल को मिलाते पर बीस कोड़ा-कोड़ी सागर का एक कालचक्र कहलाता है ।
- कुलकर** — कुल की व्यवस्था करने वाला विशिष्ट पुरुष ।
- केवलज्ञान** — ज्ञानावरणीय कर्म को पूर्णरूपेण क्षय करने पर बिना मन और इन्द्रियों की सहायता के केवल आत्मसाक्षात्कार से सम्पूर्ण संसार के समस्त पदार्थों की तीनों काल की सभी पर्यायों को हस्तामलक के समान युगपद् जानने वाला सर्वोत्कृष्ट पूर्णज्ञान ।
- गच्छ** — एक आचार्य का श्रमण परिवार ।
- गाथापति** — एक अत्यन्त वैभवाशाली सम्पन्न परिवार का गृहस्वामी ।
- घाती-कर्म** — आत्मिक गुणों की हानि करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय नामक चार कर्म ।
- अ्यवन** — देव-गति की आयु पूर्ण कर प्राणी का अन्य गति में जाना ।
- छयस्थ** — ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय नामक चार छय (घाती) कर्मों के आवरणों से आच्छादित आत्मा ।
- जातिस्मरण-ज्ञान** — मति-ज्ञान का वह भेद, जिसके द्वारा प्राणी को अपने एक से लेकर नौ पूर्व-भवों तक का ज्ञान हो जाता है ।  
— एक मान्यता यह भी है कि जातिस्मरण ज्ञान से प्राणी को अपने ६०० पूर्व भवों तक का स्मरण हो सकता है ।
- जिन** — राम-द्वेष पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करने वाली आत्मा ।
- देवानुप्रिय** — देवों का प्रिय । एक स्नेह पूर्ण सम्बोधन ।
- द्वादशांगी** — गणधरों द्वारा ग्रथित बारह अंग शास्त्र ।
- निकाचित-कर्म** — प्रगाढ चिक्कण कर्म-बन्ध, जिसका फल अनिवायं रूप से भोगना ही पड़ता है ।
- परिणामी-निश्च** — विविध अवस्थाओं में परिणामन (परिवर्तन) करते हुए मूल द्रव्य रूप से विद्यमान रहना ।
- परिषह-परीषह** — क्षुधा आदि कष्ट, जो साधुओं द्वारा सहन किये जायें ।
- पण्योपम** — एक योजन (४ कोस) लम्बे, चौड़े और गहरे कुए को एक दिन से लेकर सात दिन तक की आयु वाले उत्तरकुरु के यौगलिक शिशुओं के सूक्ष्मातिमूषम केश-खण्डों से (प्रत्येक केश के असंख्यात



खण्ड कर) इस प्रकार कूट-कूट कर ठसाठस भर दिया जाय कि यदि उस पर से चक्रवर्ती की पूरी सेना निकल जाय तो भी वह भ्रंश मात्र लचक न पाये, न उसमें जल प्रवेश कर सके और न अग्नि ही जला सके। उसमें से एक-एक केश-खण्ड को सौ-सौ वर्षों के अन्तर से निकालने पर जितने समय में वह कूटों केश-खण्डों से पूर्णरूपेण रिक्त हो, उतने असंख्यात वर्षों का एक पल्योपम होता है।

- पूर्व** — सत्तर लाख, छप्पन हजार करोड़ वर्ष का एक पूर्व।
- पौषघ** — एक दिन व एक रात तक के लिये चारों प्रकार के आहार व अशुभ-प्रवृत्तियों का त्याग धारण करना।
- पौषा साला** — वह स्थान जहाँ पर पौषघ आदि घर्म-क्रिया की जाय।
- प्रति भ्रमण** — अशुभ योगों को त्याग कर शुभ योगों में जाना।
- माण्डलिक-राजा** — एक मण्डल का अधिपति।
- युग**
- |                  |                |
|------------------|----------------|
| — कृत या सत्ययुग | १७,२८,००० वर्ष |
| — त्रेतायुग      | १२,९६,००० वर्ष |
| — द्वापरयुग      | ८,६४,००० वर्ष  |
| — कलियुग         | ४,३२,००० वर्ष  |

कुल ४३,२०,००० वर्ष

ऐसा माना जाता है कि युगों की उत्तरोत्तर घटती हुई अवधि के अनुसार शारीरिक और नैतिक शक्ति भी मनुष्यों में बराबर गिरती गई है; सम्भवतः इसीलिये कृतयुग को स्वर्णयुग और कलियुग को लौहयुग कहते हैं।

[संस्कृत-हिन्दी कोष : वामन शिवराम आण्डे कृत, पेज ८३६, सन् १९६६, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली द्वारा प्रकाशित]

[संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पेज ८५४, एम. मोन्योर विलियम कृत, १९७० एडीशन]

[युगचतुष्टय सम्बन्धी विस्तृत विवेचन 'शब्द कल्पद्रुम', चतुर्थ काण्ड, पृष्ठ ४३-४४ पर भी देखें]

- रजोहरण** — भूमि आदि के प्रमार्जन हेतु काम में आने वाला जैन श्रमणों का एक उपकरण-विशेष।
- सोकात्मिक** — ब्रह्म नाम के पाँचवें देवलोक के छः प्रतरों (मंजिलों) में से तीसरे अरिष्ट नामक प्रतर के पास दक्षिण दिशा में स्थित असनाड़ी के अन्दर आठों दिशा-चिदिशाओं की आठ-कृष्ण, रात्रियों में तथा मध्यभाग में स्थित (१) अग्नि, (२) अग्निमाल, (३) वैरोचन

(४) प्रभंकर, (५) चन्द्राभ, (६) सूर्याभ, (७) शुक्राभ, (८) सुप्रतिष्ठ और (९) रिष्टाभ नामक नौ लोकान्तिक विमानों में रहने वाले देवों में से मुख्य ९ देव, जो शाश्वत परम्परा के अनुसार तीर्थंकरों द्वारा दीक्षा ग्रहण करने से एक वर्ष पूर्व उनसे दीक्षा ग्रहण करने एवं संसार का कल्याण करने की प्रार्थना करने के लिये उनके पास आते हैं। ये देव एक भवावतारी होने के कारण लोकान्तिक और विषय-वासना से प्रायः विमुक्त होने के कारण देवर्षि भी कहलाते हैं।

- वर्षादान** - दीक्षा-ग्रहण से पूर्व प्रतिदिन एक वर्ष तक तीर्थंकरों द्वारा दिया जाने वाला दान।
- विद्याधर** - विशिष्ट प्रकार की विद्याओं से युक्त मानव जाति का व्यक्ति-विशेष।
- शुबलध्यान** - राग-द्वेष की अत्यन्त मन्द स्थिति में होने वाला चतुर्थ ध्यान।
- शैलेशी अवस्था** - चौदहवें गुणस्थान में मन, वचन एवं काय-योग का निरोध होने पर शैलेन्द्र-मेरु-पर्वत के समान निष्कम्प-निश्चल ध्यान की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई स्थिति।
- सम्यक्त्व** - सम्यक् रूपेण यथार्थ तत्त्व-श्रद्धान।
- स्थविर** - दीक्षा, प्रायु एवं ज्ञान की दृष्टि से स्थिरता-प्राप्त व्यक्ति।  
स्थविर तीन प्रकार के होते हैं—(१) प्रव्रज्यास्थविर, जिनका २० वर्ष का दीक्षाकाल हो, (२) वय-स्थविर, जिनकी आयु ६० वर्ष या इससे अधिक हो गई हो तथा (३) श्रुत-स्थविर, जिन साधुओं ने स्थानांग, समवायांग आदि शास्त्रों का विधिवत् ज्ञान प्राप्त कर लिया हो।
- सागर-सागरोपम** - दस कोटाकोटि पत्य का एक सागर या सागरोपम कहलाता है।

## शाब्दानुक्रमणिका

[क] तीर्थंकर, प्राचार्य, मुनि, राजा, श्रावकादि

(अ)

अंगति-५०८, ५०९  
 अंगिरस-३२६  
 अंजन-७७८, ७७९, ७८०  
 अंजिक-४३१  
 अंजु-५२२  
 अद्भुत श्रमणा-३४१  
 अकम्पित-६७६, ६९५, ६९८  
 अक्रूर-४३५  
 अक्षोभ-३३०, ४२५, ४३४  
 अग्निकुमार-४१२  
 अग्निदेव-७४  
 अग्निद्योत-५३६, ५४०  
 अग्निभूति-७४, ५३६, ५४०, ६१६, ६७५  
 ६९४, ६९६  
 अग्निमित्र-७४  
 अग्निसह-५४०  
 अग्नीध्र-१४  
 अचल-७४, २१२, २१३, २१४, २४९,  
 ३३०, ४२५, ४३४  
 अचलभाता-६७३, ६९५, ६९८  
 अचला-५२२  
 अचिरा-२३९  
 अच्छेदक-५७९, ५८०  
 अच्छरा-५२२  
 अच्युतदेव-४७८  
 अज-३२२  
 अजयमान-२९  
 अजातशत्रु-५००, ७४३, ७४६, ७५६, ७५७  
 ७६६, ७७२  
 अजितकेशकम्बल-५०, ७७१, ७७३  
 अजितनाथ-१४९, १५१, १५२, १५३, १५४  
 १५५, १५६, १५७, १५८, २१८  
 ७०८, ७१३

अजितसेन-३८४  
 अजुंन-३५२, ३५४, ३५५, ३५६, ३५८  
 ३६०, ४२७, ६३७  
 अजुंनमाली-६२५  
 अतिबल-७५  
 अतिभद्रा-६९८  
 अतिमुक्तक-३४१  
 अदीनशत्रु-२७०  
 अनंगमुंदरी-५२७, ५२९  
 अनन्तनाथ-२२४, २२५, २२६  
 अनाथपिठिक-७७१  
 अनाथी-७३९  
 अनावृष्टि-३५४, ३५५, ३५६, ४२५  
 अनिरुद्ध-४२५  
 अनिहत ऋषु-३८४  
 अनीकसेन-३८४  
 अनुपम-७५  
 अन्धकवृष्णि-३३०, ३३१, ४२५, ४३२  
 अपराजित-२९, ७४, १९६, २४६  
 अपराजिता-५२१  
 अपलातून-५३३  
 अभयकुमार-६१७, ६२५, ६२६, ६२९, ६३८  
 ७४३, ७६२, ७६३, ७६४  
 अभयदेवसूरि-५३९, ६१७, ६४४, ६४५  
 ७१९  
 अभिचन्द्र-४, ६, ७, २५२, ३१८, ३३०  
 ४३४  
 अभीच, अभीचिकुमार-७५७, ७५८, ७५९  
 अभिनव श्रेष्ठी-६०४  
 अभिनन्दन-१७२, १७३, १७५  
 अभिमन्यु-४०६  
 अभरपति-२८५

अमरसेन-२८५  
 अमल-२६  
 अमितबाहन-४५८  
 अमोलक ऋषि-६६४  
 अम्बड-६६१  
 अयंपुल गाथापति-६३४  
 अयधर-३१८  
 अरनाथ-२४५, २४६  
 अरविन्दकुमार-२४६  
 अरिजय-३०  
 अरिहमन-१४६  
 अरिष्टनेमि-३१३, ३१५, ३१८, ३४६,  
 ३४७, ३४८, ३५५, ३५८, ३५९,  
 ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५,  
 ३७०, ३७३, ३७७, ३७८, ३८०,  
 ३८३, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७,  
 ३८८, ३९४, ३९५, ३९७, ४०१,  
 ४०७, ४०८, ४११  
 अचिमाली-५२२  
 अर्द्धबाहु-३२६  
 अर्हन्क-२६२, २६४  
 अवर-२६  
 अभ्यक्त-६७६  
 अक्षोक-७७६, ७७७, ७८३  
 अशोकचन्द्र-७४४, ७५६  
 अश्व-४३२  
 अश्वघोष-२१२, २१४, ४३२, ५३६, ५३७  
 अश्वबाहु-४३२  
 अश्वसेन-२३०, ४८१, ४८६, ४९३  
 अश्वसेना-३४०  
 असित-३५४  
 अस्त्रिका-४५८  
 (आ)  
 आजनी-७७८, ७७९  
 आम्नी-१३२  
 आतपा-५२२

आदिनाथ-४२, ४७, ४८, ११७, १३२, ४२६  
 आनन्दन-२८  
 आनन्द-२८, ४८०, ५६८, ५६९, ६३२,  
 ६३४, ६३५, ६६८, ६६९,  
 ६७३, ७२८, ७३५, ७७०  
 आर्द्रक-६२६, ७३३  
 आर्यघोष-४६५  
 आलारकालाम, आलारकलाम-५०१, ५०६

(इ)

इन्दरजी, भगवानलाल पंडित-७७६  
 इन्द्रगिरि-३१७  
 इन्द्रदत्त-१७०  
 इन्द्रभूति गौतम-५४५, ६१३, ६१६, ६५५  
 ६५६, ६६५, ६६६, ६७३, ६९२,  
 ६९५, ६९६  
 इन्द्र शर्मा-५७६  
 इन्द्र सार्वणि-७, ८  
 इर्जा केल-५३३  
 इला-५२०  
 इलादेवी-५१६

(ई)

ईतजाना संवत्-७७७, ७७९

(उ)

उग्रसेन-३३३, ३४३, ३४४, ३४८, ३४९,  
 ३४४, ३६१, ३६६, ३७०, ३८२  
 उत्तम-७  
 उत्तमा-५२१  
 उत्पल-५८६  
 उत्पला-५२१  
 उदक-६६६, ६६७  
 उदयन, उदायन-६२०, ६२३, ६२४, ६२७,  
 ६३७, ७४२, ७५७, ७६०, ७६४  
 उदाई-७४४  
 उदायी कुंडियायन-७३०, १३१  
 उद्योतन सूरि-६१७

उदकराम-५०१, ५०५  
 उद्दालक-४७६  
 उन्मुक-४१०  
 उपक-७३०  
 उपनन्द-५८७  
 उपयालि-४२६  
 उपालि-६२६  
 उल्लाग-७३६  
 उषगु-२४७

( ऋ )

ऋतुषामा-८  
 ऋमु-८

ऋषभ, ऋषभदेव-३, ६, ७, ९, ११, १३,  
 १७, २०, २१, २२, २३, २४, २५,  
 २६, २७, २८, ३०, ३१, ३२, ३३,  
 ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ४२, ४३,  
 ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०,  
 ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७,  
 ५९, ६०, ६७, ७१, ७३, ७४,  
 १२०, १२१, १२३, १२५, १२७,  
 १२८, १२९, १३०, १३२, १३३,  
 १३४, १३५, १३६, १३८, १३९,  
 १४०, १४१, १४२, १४७, ३६८,  
 ५०२, ५४८, ६८३, ६८४, ७०८,  
 ७११

ऋषभदत्त-५४२, ५४३, ६१६  
 ऋषभसेन-७३, ७४  
 ऋषिदत्त-७४  
 ऋषिभद्र-६२६

( ए )

एकत-३२६  
 एच० सी० राय चौधरी-४३०, ७६६, ७७४  
 एम० गोविन्द पार्ई-७८०

( ऐ )

ऐरोग्यक-६३७

( ओ )

ओभा, गौरीशंकर हीराचन्द-७७४, ७७५  
 ओत्तमि-७, ८

( क )

कंस-३३१ - ३३३, ३४०, ३४३ - ३५२,  
 ३५६, ३८५, ५४६,  
 कटक-४३८, ४५३,  
 कटकवती-४५३, ४५४

कटपूतना-६०६  
 करीमुदत्त-४३८, ४५३  
 कण्व-३२६  
 कनककेतु-४६५  
 कनकप्रभा-५२१  
 कनका-५२१  
 कनकोज्ज्वल-५४०  
 कनिधम-७७६

कपिल-२९, ११७, ३२६, ४०४, ४०५,  
 ५४७

कपिला-३४०, ६२६

कमठ-४७८, ४८१, ४८७, ४८८, ४९१-  
 ४९३

कमलप्रभा-५२१

कमलश्री-२४६

कमला-५२१

कम्बल-५८४

कम्पित-४२५

करकंडु-५०७

कराँ-३५६

कर्न प्रो०-७७६

कल्याण विजय मुनि-५५७, ६७३, ७२६,  
 ७७०, ७७६

कविल-७३६

कश्यप-७३२

कांगफयूत्सी-५३२

कान्त-२९

कामताप्रसाद-१३६

कामदेव-२९, ७५, ६५७,

कारपेटियर-७१६

कालकाचार्य-६६०

कालकुमार-३४३, ३४४, ३४७, ३५३,  
 ३५६, ७४७, ७४८, ७४९

कालमुख-३३६

कालशौकारिक-६२५, ६२६

कालश्री-५१६  
 कालहस्ती-५११  
 कालिदास-५५६  
 काली } ५१६, ५२०, ५२१,  
 कालीदेवी } ६३३  
 कालोदायी-६६३, ६६५, ६७१, ६७२  
 कावाल-७३६  
 कावालिया-७३६  
 काश्यप-२०, ३०,  
 किकत-६२५  
 किरणदेव-४७८  
 किरातराज-६७०, ६७१  
 किस्स संकिच्च-७३०  
 कीर्ति-५१६  
 कीर्तिकल-२६  
 कुंजरवल-२६  
 कुंडकौलिक-६२८  
 कुंथुनाथ-२४२, २४३, २४४  
 कुंभ-७४  
 कुण्डिम-३१८  
 कुन्ती-४०२, ४०६  
 कुब्जा-३३४  
 कुमारपाल-७६८  
 कुठमति-४७०  
 कुलिशबाहु-४७८  
 कृषिक } ६३२, ६३३, ७४१, ७५२,  
 कृषिक } ७५३, ७५४, ७५५, ७५६,  
 ७६६, ७६७  
 कूपक-४२५  
 कूपनय-५८६  
 कुलवालक-७५२, ७५३, ७५४  
 कृष्णा, श्रीकृष्णा-३४२, ३४३, ३४८, ३४९,  
 ३५२, ३५३, ३५४, ३५७, ३५८,  
 ३७०, ३७२, ३७७, ३८०, ३८१,  
 ३८२, ३९१, ३९४, ३९५, ३९७,  
 ३९९, ४००, ४०२, ४०३, ४०४,  
 ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४०९,  
 ४१०, ४१३, ४१४, ४१५, ५४७,  
 ७४१  
 कृष्णाचन्द्र घोष-७६८  
 कृष्णाराजि-५२२  
 कृष्णा-५२२, ६३४

कृतवर्मा-२२१, ३५४  
 के. के. दत्ता-७६६  
 केतुमती-३४०, ५२१  
 के. पी. जायसवाल-७६८  
 केशव-७२१, ७२२  
 केशिकुमार } ५२७, ५२८, ५२९, ५३०,  
 केशीमिश्रण } ५३१, ६५०, ६५१, ६५२,  
 ६५३, ६५४, ७०८, ७५७,  
 ७५८, ७५९  
 कीमारभृत्य-७७२  
 कीशाम्बी, घर्मानन्द-४२६, ४६७, ५००,  
 कौशिक-५३६, ५४०, ५८१, ६०२  
 कोशल-२६  
 क्रोष्टा-४३१, ४३२, ४३३, ४३७  
 क्रोष्टु-४३५  
 क्षीरकदम्ब ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२३,  
 क्षीरगिरि-४७६  
 क्षेमंकर-६, ७, २३६, २३७  
 क्षेमंघर-६, ७,  
 क्षेमराज-७४३  
 (ल)  
 खण्डा-४४६, ४५०, ४५४  
 खरक-६०६  
 खेचरेन्द्र-४७६  
 खेमक-६३३  
 खेमिल-५८४  
 ख्यातकीर्ति-२६  
 (ग)  
 गंधारी-४६  
 गंधारी-२६, ४२५  
 गजसुकुमाल-३६३, ३६७  
 गन्धदेवी-५१६  
 गन्धर्वदत्ता-३५०  
 गर्दभाल-६३०  
 गवेषणा-४३२  
 गांगली-६५७  
 गांगेय-६६२

गांग्योयण-४७६  
 गालव ऋषि-४७६,  
 गुणचन्द्र-४८१, ५३६, ५४७, ५५५,  
 गुणपुंज-४६३  
 गुणभद्र-४८०, ४६१, ५३६  
 गुप्त-७४  
 गुप्तफल्गु-७४  
 गृहदत्त-६२६  
 ग्रैवेयक देव ४७८  
 गोपालदास जीवाभाई पटेल-७३१, ७३३  
 गोबर-६६६  
 गोबहुल-७१६, ७२५  
 गोभद्र-६२२  
 गोशालक-५४६, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८,  
 ५८९, ५९०, ५९१, ५९३, ५९४,  
 ५९५, ५९७, ६३४, ६३६, ६३७,  
 ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२,  
 ६४६, ७१३, ७१६, ७२०, ७२६,  
 ७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१,  
 ७३२, ७३३, ७३४, ७३६, ७४६,  
 ७७१, ७७२  
 गौतम-५०८, ५०९, ५१०, ५१२, ५१३,  
 ५१५, ५१६, ५१९, ५२१, ६१३,  
 ६१५, ६१६, ६१९, ६२५, ६२६,  
 ६३०, ६३१, ६३२, ६३४, ६६४,  
 ६६५, ६६६, ६६७, ६६८, ६६९,  
 ६७४, ६७६, ६८३, ६८४, ६८५,  
 ६९२, ६९३, ६९८, ७०८, ७१७,  
 ७२८, ७५४, ७५५, ७७२

गौरी-४६

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-७७४, ७७५

(घ)

घनरथ-२३७

घासीलालजी-६३२

घोर भांगिरस-४२६

घोष आर्य-४६५

(च)

चक्रायुष-२४०

चक्री-२२६

चक्षुष्मान-४, ६

चण्डकौत्तिक-५८०, ५८३

चण्डप्रद्योत-६२६, ७४२, ७६३, ७८१, ७८३

चण्डराय-७४३

चतुरानन-१३८

चन्दनबाला-५४७, ७०२

चन्दना-६०७, ६३३, ६६५, ७०५, ७०६,

७०७

चन्द्रगुप्त-६८६, ७६७, ७७३

चन्द्रचूड-७५

चन्द्रछांगि-२६८,

चन्द्रजसा-५

चन्द्रदेव, ५२४

चन्द्रप्रभ स्वामी-२०२, २०५

चन्द्रप्रभा त्रिविका-२०६, ५६६

चन्द्रप्रभा-५२०

चन्द्रसेन-२६

चन्द्राभ-६, ७, ३३७

चमर-५४८

चमरेन्द्र-५१८, ५१९, ६०४, ६०५

चम्पकमाला-४६६

चाक्षुष-७, ८

चाणूर-३४२

चारुकुष्ण-३६३

चार्ल आर्पेटियर, डॉ.-४७६

चित्त-४५६, ४५७, ४५८, ४६३, ४६४,

४६५,

चित्तहर-३०

चित्रक-४३२, ४३३, ४३५

चित्रचूल-२३६,

चित्ररथ-४३२, ४३३, ४३७

चित्रांग-२६

चुन्द-५०६, ७७०

चुलना-४३६, ४४२

चुलनी-४३८, ४५४

चुल्लशतक-६२५

चुल्लिनी पिता-६२४

चेटक महाराजा-५३५, ५५६, ५६०, ६२०,  
७४२, ७४३, ७४६, ७५१, ७५४,  
७५७, ७६६

चेदिराज-३२४

चेलना-७३६, ७४६, ७६४,

चौथा-२७२, २७३, २७४

(ज)

जंघाचारण-४१८

जगदीशचन्द्र जैन-६१७

जगन्नन्द-२०५

जगन्नाथ तीर्थकर-४७६

जटिल ब्राह्मण-५४०

जनक-४७६, ७७६

जनार्दन भट्ट-७८२

जमालि-५५७, ६३२, ६४६, ७१४, ७१५,  
७१६, ७१७, ७१८

जम्बू-६८६

जय-२६, ३०६, ३५४, ४६६

जयदेव-३०

जयद्रथ-३५६

जयन्ती-१३३, ५८६, ६२०, ६२१, ६६८

जयसेन-३५४, ३५६, ४८६, ५२६

जयादेवी-२१७

जरथुष्ट-५३३

जरकुमार-३५४, ४०७, ४१४, ४१५, ४२६

जरासंध-३३२, ३३३, ३३७, ३३६, ३४३  
३४५, ३४६, ३४७, ३४६, ३५०,  
३५२, ३५३, ३५५, ३५६, ३५७,  
३५८, ७८१

जसमती-४५७

जानकी-७७६

जाम्बवती-३, ७, ४११, ४२६

जायसवाल-७६६

जालि-४२६, ६२६, ७४०

जितशत्रु-१४७, १४८, १४६, १५१, २७३,  
२७५, २७६, २७७, २७८, ५१६,  
५३८, ५६५, ६२४, ६२७, ६७३

जितारि-१६८, १६६, ३१३

जिनदत्त-६०४

जिनदास-६, २४५, ६३४, ७००, ७१३,  
७८२

जिनदेव-६७०

जिनपालित-६३३

जिन विजयमुनि-७६६

जिनसेन-६, १४, २०, ३०, ६७, ७४,  
१२४, २१७, ४८०, ५५१, ५५६

जिम्भर-१३६

जिरेमिया-५३३

जीर्णसेठ-६०४

जीवक-७७२

जीवयशा-३३२, ३३३, ३४१, ३४३, ३५६

जीवानन्द-११, १३

ज्ञातपुत्र-५६१

ज्योतिप्रसाद-४७५, ५०७, ७४२

ज्योत्स्नाभा-५२२

(ट)

टॉड कर्नल-४२६

टोडरमल-४३०

(ड)

डफ मिस-७७६

(ढ)

ढंक-७१६

ढंढणा मुनि-३६८, ४००, ४०१

ढंढणा रानी-३६८

(ण)

तच्चम्रिय-७३६

तथ्यवादी-६०७

तापस-७

तामस-७, ८

तिष्यमुत्त-७१४, ७१८, ७१६.

तेजसेन-३५४

तेजस्वी-७४

त्रित-३२६



त्रिपृष्ठ-२१२, २१३, २१४, २१५, ५३७,  
५४०, ५८४

त्रिशला-५३५, ५३६, ५४५, ५४६, ५५०,  
५५१, ५५६, ५६०, ५६५, ७८२

(थ)

थवर-२६

थावच्चापुत्र-४१६, ४२०, ४२१

(द)

दक्षसावर्णि-७, ८

दत्त-२६, ६२३, ६६८

दत्ता के० के०-७६६

दधिमूल-३३८

दधिवाहन-७०२, ७०३, ७०७, ७४२

दन्तवक्त्र-३३७, ३३८, ३३९

दमघोष-३३७, ३३८

दर्शनविजय-५२६

दशार्ण-२६

दशार्णभद्र-६५८

दानशेखरसूरि-६४४

दारुक-४०३, ४२५

दिन्न आर्य-५०१

दिलीप-५५६

दीर्घ-४३८, ४४१, ४४४, ४४८, ४५१,  
४५३

दीर्घदंत-६२६

दीर्घबाहु-२६, ३२६

दीर्घसेन-६२६

दुःप्रसह-६८५, ६८६

दुर्जय-२६

दुर्द्धर्ष-२६

दुर्मुख-४२५, ५०७, ७६१

दुर्योधन-३५२, ३५३, ३५६

दुःशासन-३५६

दुड्डज्जनक-५७३

देव-६६८

देवक-३४०

देवकी-३४०, ३४१, ३४२, ३८१, ३८२,  
३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८,  
३९०, ३९२, ३९३, ३९४, ३९५,  
४३३, ५४६

देवभद्रसूरि-४८०, ४८२, ४८६, ४८६

देवमीढुप-४३२, ४३३, ४३५, ४३८

देवद्वि क्षमा श्रमण-७६६

देवशर्मा-७४, ६६२

देवसावर्णि-८

देवसेन-३८४

देवानंदा-५३८, ५४५, ५४६, ६१६

देवाग्नि-७७

हठनेमि-३५४, ४२६, ४३४

हठरथ-३०, ७४, २०८, २२७, २३७, २४०

द्रुम-६२६

द्रुमसेन-६२६

द्रुमक मुनि-७६३

द्रौपदी-४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४२६,  
४२७, ५४६

द्वित-३२६

द्विपृष्ठ-२१६

द्विमूल-५०७

द्वैपायन-४०७, ४१०

(घ)

घनदेव-७४, ६६७, ७००

घनपति-२४५

घनमित्र-६६६

घनवाहिक-७५

घनश्री-३४०

घनावह-४५०, ४५२, ७०४, ७०७, ७६२

घनु-४३६, ४४२, ४४३, ४४४, ४४८, ४५०

घनुकुमार-३१४

घनुपूर्णा-४४०

घनुष-३२६

घन्ना-१०, ११, ६०७, ६२३

घन्य-४६०

घन्यकुमार मुनि-६२७

धन्या-६२४  
 धम्मिल-६६७  
 धर-१६६, १६७, ३६१  
 धरणा-३३०, ४२५, ४३४,  
 धरणेन्द्र-४६, ४८६, ४६१, ४६२, ५२४  
 धर्मघोष-११, २१५, २४६, ४२६,  
 धर्मनाथ-२२७, २२६, २३३, २३४  
 धर्मभृत-४३२  
 धर्मसावर्णि-७, ८  
 धर्मसिंह, २२८  
 धर्मसेन-२६  
 धर्मानन्द कौशाम्बी-४२६, ४६७, ५००  
 ७६६  
 धारिणी-१३, २४६, ४२५, ७०२, ७०३,  
 ७४४  
 धी-५१६  
 ध्रुव-२६  
 धृतराष्ट्र-३५६  
 धृतिधर-६३३  
 धेनुसेन-५२७

(न)

नइरसेणा-५२१  
 नकुल-३५४, ४२७  
 नगराज मुनि-७७१, ७७७  
 नगेन्द्रनाथ बसु-४२६  
 नचिकेता-५०४  
 नन्द-२६, २१२, २८५, ३४२, ५४१, ५८७  
 ६८६  
 नन्दन-७४, ५३८, ५४१, ६२५, ६३३  
 नन्दमती-६२६  
 नन्दमित्र-२८५  
 नन्दवच्छ-७३०  
 नन्दा-४५२, ४६३, ६०६, ६२६, ६६८,  
 ७४०, ७६२  
 नन्दिनी-५०१  
 नन्दिवर्धन-५६७, ५६६, ७४२, ७८२  
 नन्दिषेण-५६३, ६१८, ६१६, ६२६, ७४१

नन्दी-७५  
 नन्दीमित्र-७५  
 नन्दीषेण-३३०, ३३१  
 नन्दोत्तरा-६२६  
 नमि. }  
 नमिनाथ } -४६, ७५, ३०७, ३०६  
 नमिया-५२१  
 नमि राजसि-३०६, ३६७  
 नमि राजा- ४६६  
 नमूची-४५६, ४६१, ४६२  
 नयसार-३४१, ५३६, ५४०, ५४१  
 नरगिरी-३१७  
 नरदेव-३०  
 नरवर्मा-४८३  
 नरवाहन-६८६  
 नरोत्तम-२६  
 नलकूबर-३८३  
 नवमिया-५२२  
 नहषेण-३१८  
 नाग-७५१  
 नागजित-५०७  
 नागदत्त-३०  
 नागदत्ता शिविका-२२८  
 नागबल-४६६  
 नागराज-४६६, ४६७  
 नागसेन-५८४  
 नागाति-५०७  
 नागिल-६८५  
 नाथ्योन्मत्त विद्याधर-४४६, ४४७  
 नाथूराम प्रेमी-७८४  
 नाभि. }  
 नाभिराज } - ४, ६, ७, ६, २२, ३३, ३४,  
 १३२, १३३, १३५, १३६,  
 १३७, १३८, १३६  
 नारद-३१८, ३१६, ३२०, ३२३, ४०२  
 नारायण-३२६  
 निगण्ट नायपुत्त-७७१, ७७२

निरंभा-५२०

निशुंभा-५२०

निसङ्क-४१०

नील-४३१

नीलयशा-३४०

नेम नारद-३४०, ४०१

नेमिचन्द्र-६१६, ६१७, ७४१, ७७४

नेमि, } २१८, ३१४, ३६५, ३६६-  
नेमिनाथ } ३७८, ३८१-३८३, ३६०,  
३६२, ३६७-४०१, ४०८, ४१५,  
४१७, ४२३, ४२५, ४२७, ४२६,  
४८१, ४८७, ४८६, ५६५, ७४१

(प)

पंडरंग-७३६

पंथक-४२३, ४२४

पतंजलि-६४७, ७०६, ७२०

पद्म-१६५, ७४१

पद्मकीर्ति-४८१, ४८६, ४८६, ४६१, ४६३

पद्मनाभ-३०, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४,  
४०५, ७४२

पद्मप्रभ-१६६, १६७, १६६

पद्मभद्र-७४१

पद्मरथ-२२४

पद्मश्री-३४०

पद्मसेन-२२१, ७४१

पद्मा-३४०, ४७६, ४६६, ५२१

पद्मावती-२६८, ३४०, ४६२, ५२४,  
७४२, ७४४, ७४७

पद्मोत्तर-२०८, २१७, ४७६

पद्मानय-५२७

पद्मोद-४३१

पद्मरूप-७४

पद्मसर-४०७

परिव्यायण-७३६

परीक्षित-४०६

पर्वत-३१८, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३

पल्लीपति-३१३

पाद्मयोगोरस-५०५, ५३३

पाई: एम० गोविन्द-७८०

पाणिनी-६४७, ७२०, ७२५, ७२६

पाण्डव-४१३, ४१४, ४२६, ४२७

पाण्डु-३३७, ३३६, ४०६

पातंजलि-६४७

पार्श्वनाथ-४२८, ४३८, ४७५-४७८, ४८०,  
४८१, ४८२, ४८३, ४८४-५१०,  
५१३, ५१४, ५१६, ५१७, ५१६,  
५२१, ५२२-५३१, ५३३, ५३५,  
५६५, ५६६, ५८८, ५६३, ५६८,  
६१७, ६५०, ६५१, ६६६, ७०८,  
७१०, ७१३, ७३१, ७३५, ७३६,  
७३६

पारासर-३६६

पालक-६८६, ७६८, ७८१

पालित-६३३

पिगल-६३०

पितृदत्त-५६०

पितृसेन कृष्णा-६३३

पिप्पलाद-५०३

पिशाच-६१७

पिहृदय-३२६

पिहिताश्रव-१६६, ५०६

पीठ-१३

पुंडरीक-७४

पुण्यपाल-६७७, ६७८

पुण्यमानी-४५२, ४५४

पुण्यविजय-४५

पुद्गल-६२४

पुनर्वसु-२०६

पुरुवर-५४०

पुरुषसिंह-२२६, ५८८

पुरुषसेन-४२६, ६२६

पुष्प-२०५

पुष्पचूल-४४०, ४४१, ४४६

पुष्पचूलके-४३८, ४५३

पुष्पचूला-५०१, ५१७, ५१८, ५१६

पुष्पचूलिका-५१६

पुष्पदन्त-२०५, ४८१, ४८६  
 पुष्पयुत-२६  
 पुष्पवती-४४०, ४४२, ४४६, ४४७, ४५४,  
 ४५७, ५२१  
 पुष्य-५८४, ५८५  
 पुष्यमित्र-५३६, ५४०, ६८६  
 पूजनिका-४७३  
 पूज्यपाद आचार्य-५५६  
 पूरण-३३०, ४२५, ४३५, ५४८, ६०४,  
 ६०५  
 पूर्ण काश्यप-७३४, ७७१, ७७२  
 पूर्णचन्द्र नाहर-७६८  
 पूर्णसेन-६२६  
 पूर्णा-५२१  
 पृथु-४३२  
 पृथुकीर्ति-४३३  
 पृथ्वीरानी-१६७  
 पृथ्वीपति-३१७  
 पेठाल-६६६  
 पोंडा-३४०  
 पोट्टिल-५३६, ५४०  
 पोट्टिलाचार्य-५३८, ६५६  
 प्रकृद्ध कार्यायन-५०४, ७७१, ७७२  
 प्रगल्भा-५६३  
 प्रजापति-७४, १३८, ३१८  
 प्रज्ञप्ति-४६  
 प्रतिबुद्ध-२६१  
 प्रतिश्रुति-६  
 प्रतिष्ठसेन-१६६  
 प्रदेशी-५२८, ५३१, ५८४  
 प्रद्युम्न-३४७, ३५१, ३६२, ३७५, ३८२,  
 ४१०  
 प्रमकरा-५२२  
 प्रभंगा-५२२  
 प्रभंजन-३०  
 प्रभव-६७५  
 प्रभाकर-२६

प्रभावती-३४०, ४८३, ४८५, ४८६, ४८७,  
 ४६४, ७४२, ७५७  
 प्रभास-६७३, ६६५, ६६८  
 प्रसन्नचंद्र-७६०, ७६१  
 प्रसेनजित-४, ६, ४८३, ४८४, ४८५, ४६६,  
 ५२५, ७३६, ७७१  
 प्राणतदेव-४७८  
 प्राणनाथ विद्यालंकार-४२६  
 प्रियंग सुन्दरी-३४०  
 प्रियकारिणी-५६०  
 प्रियदर्शना-३४०, ६२०, ७१५, ७१६  
 प्रियमती-२३७  
 प्रियमित्र-५३८, ५४१  
 प्रियव्रत-१३२  
 प्रिया-५१६, ५१७

(क)

फर्गुसन-७७६  
 फर्लाग-४७५  
 फल्गुश्री-६८५  
 फाहियान-७७६  
 फूर्हर-४२६  
 फलीट-७७६

(ख)

वकुलमति-२३१  
 बडेसा-५२१  
 बंधुमती-३४०, ४४३, ४५४,  
 बप्प-५००, ५०३  
 बरुआ-७२६, ७३१  
 बल-३०, ६६८  
 बलदेव-३४४, ३५१, ३७२, ४१३,  
 ४१४-४१६, ४२५  
 बलदेव उपाध्याय-७७४  
 बलभद्र-३७०, ३८१, ३८२  
 बलमित्र-२८५, ६८६  
 बलराम-३४०, ३४२, ३४३, ३४५-३४८,  
 ३५२, ३५४, ३५८, ३५९, ३६०

३६३, ३६५, ३७०, ३६१, ४०८,  
४०९, ४१८, ४३४

बलीन्द्र-५१८, ५२०

बसु, नगेन्द्रनाथ-४२९

बहुपुत्रिका-५१३, ५१५, ५२१

बहुबाहु-४३२

बहुरूपा-५२१

बहुल-५७१, ५८६, ७२७

बहुला-५९९

बानेट-७७६

बाहु-१३

बाहुबली-२८, २९, ४७, ११७, १२१-  
१२४

बिम्बसार-७३९, ७४२, ७४५, ७६२

बुद्ध-४२९, ४९८ - ५००, ५०२, ५०५,  
५०६, ५३२, ५३५, ७३०, ७४६,  
७६६, ७६७, ७६९ - ७८२, ७८३

बुद्धकीर्ति-५०६

बुद्धधोष-७२०, ७२६

बुद्धि-५१६

बुद्धिकर-२९

बुद्धिल-४४८, ४४९

बूलर-७७६

बेहल-६२६

बेहास-६२६

बोद्धित-७३९

ब्रह्म-४३८, ४३९, ४४४, ४४२, ४५३,  
४९५

ब्रह्मदत्त-२९९, ४३८ - ४५७, ४६३, ४७४

ब्रह्मदत्ता-४८१

ब्रह्मसार्वाणि-७, ८

ब्रह्मसेना-२९

ब्रह्मा-१३८

ब्राह्मी-२८, ३०, ४१, ७३, ११७, ११८,  
११९, १२४, १२८, ४८१

(म)

भगदत्त-३५६, ४५३

भगवानलाल इन्दरजी, पं०-७७६

भद्र-६३३, ७४१

भद्रबल-७५

भद्रबाहु-५२४, ५४५, ५६१, ६१०, ६८९

भद्रमित्रा-३४०

भद्रयश-४९६

भद्रा-२१३, २२९, ६२२, ६२६, ६२७,  
७१९

भद्रावलि-७५

भरत-२८, २९, ३८, ४३, ४५, ६७, ६८,  
७३, ७६ - १२२, १२४ - १२७,  
१३३, १३५, १३६, १३७

भागदत्त-७५

भागफलु-७४

भानु-२१, २२७, ३२९, ३४५, ३५४

भानुमित्र-२८५, ६८९

भामर-३४५, ३५४

भारद्वाज-५०४, ५३६, ५४०, ६३७

भार्वा-५२१

भाषदेव-४८९

भिक्षु-७३९

भिक्षुग-७३९

भीम-३५२, ३५४, ३५६, ४२७, ४३५

भीष्म-३५४

भुजना-५२१

भूतदत्ता-६२६

भूतविष-४५८

भूता-५१७, ५१८

भूतानन्द-५२१, ६०४, ६०५

भूरिश्रवा-३५६

भृगु-४७६

भोगवृषिणा-३३०, ४३४

भोजराज-३४८

भौत्य-८

(न)

मंकाई-६२५

मंख-७२१, ७२२, ७२३, ७२५

मंखलि-४९४, ४९५, ५०५, ५८५, ६३६,  
७१९, ७२१, ७२२, ७२३, ७२५

मंडिक-६३७  
 मंडित-६६५, ६६७, ७०१, ७०२  
 मघवा-२२६  
 मज्जमदार-७६६  
 मणिभद्र-६०८  
 मणिशेखर-३१४  
 मत्स्य-३१८  
 मदनवेगा-३४०  
 मदन्या-५२०  
 मद्दुक-६६३, ६६४  
 मनु-६, ७, ८, १३६  
 मनोरमा-२३७  
 मयालि-४२६, ६२६, ७४०  
 मरीचि-११६, ११७, ५३६  
 मरुदेव-४, ६, ७  
 मरुदेवा-६२६  
 मरुदेवी-६, १३, १४, ७१, ७२, १३२,  
 १३३, १३६, ६६१  
 मरुभूति-४७८, ४८०  
 मरुया-६२६  
 मल्लदिन्न-२७०  
 मल्लराम-६३७  
 मल्लिनाथ-२१८, २४६, २५५, २८६, २८७,  
 २८८, २८९  
 मल्लीकुमारी-२६०, २६२, २६८, २६९,  
 २७३, २८३  
 मल्ली भगवती-२६०, २६१, २६२, २६६,  
 २६६, २७०, २७१, २७४, २७७,  
 २७८, २८०, २८१, २८२, २८४,  
 २८५, ५४६, ५६६  
 महसेन-२६  
 महाकच्छ-४६, ७४, ७५,  
 महाकच्छा-५२१  
 महाकाल--७४६  
 महाकाली-६३३  
 महागिरि-३१७  
 महादेवी-२४५  
 महाद्युति-३५४  
 महाद्रुमसेन-६२६  
 महानुभाव-७५  
 महानेमि-३५४, ३५५, ३५६, ३६१  
 महापथ-२०५, ६३३, ७४१

महापीठ-१३  
 महाबल-७५, १७२, २४६,  
 महाभद्र-६३३  
 महाभूतिल-६०१  
 महामस्ता-६२६  
 महामेघवाहन-खारवेल-७४३  
 महारथ-७५  
 महावीर भगवान् ४२८, ४७५ - ४७७, ४८७,  
 ४६८, ५००, ५०३, ५०५, ५०८,  
 ५०९, ५१२, ५१५, ५१६, ५१८-  
 ५२१, ५३०, ५५१, ५५७, ५५८,  
 ५६१-५७६, ५७८-५८०, ५८२,  
 ५८३, ५८६, ५९०, ५९१, ५९६,  
 ५९९, ६०१, ६०४, ६०६, ६०९,  
 ६१०-६१५, ६१८, ६२६, ६३०,  
 ६३४, ६३६, ६३८, ६४०, ६४२,  
 ६४५, ६४६, ६५५, ६५८, ६५९,  
 ६६०, ६६५, ६७०, ६७२, ६७४,  
 ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६९१,  
 ६९२, ६९३, ६९४, ६९५, ७००,  
 ७०२, ७०८-७११, ७१३-७१६,  
 ७२६, ७२८, ७३१, ७३२, ७३४,  
 ७३५, ७३६, ७३७, ७३९-७४३,  
 ७४५, ७५४-७५८, ७६०-७७१,  
 ७७३-७७७, ७८१-७८४  
 महाशतक-६२८, ६७४, ६७५  
 महाशाल-६५७  
 महाशिलाकंटक युद्ध-७४६, ७५४, ७५६,  
 ७६६, ७६७  
 महासिहसेन-६२६  
 महासुंदरी-४६६  
 महासेन-२०२, २८५, ३५४, ६२६  
 महासेनकृष्णा-६३३, ६३४  
 महीजय-३५४, ३५६  
 महीषर-११, १२, ७४, ४६५  
 महेन्द्र-२००, ४६५,  
 महेन्द्रकुमार-७०६  
 महेन्द्रवत्त-७५, ३१८  
 महेन्द्रसिंह-२३०

(घ)

माघ-२६  
 माघिका-७५२  
 मातलि-३५५, ३५६, ३५८, ३६१  
 माद्री-४३२  
 माघव-४३५  
 मान-२६  
 माहेन्द्र-७४  
 मित्र-७४  
 मित्रफल्यु-७४  
 मित्रश्री-७१८  
 मुकुन्द-५२७  
 मुण्डक-४३०, ५०४  
 मुनिक-७८१  
 मुनिचन्द्र-५८८, ५८९  
 मुनिसुवत-२६८, २६९, ३००, ३०७, ३१७,  
 ३६८, ४०४, ४८२, ७५३  
 मुष्टिक-३४३  
 मूल-३१८  
 मूलदत्ता-४२६  
 मूलश्री-४२६  
 मूला-६०७, ७०४, ७०५,  
 मृगावती-५४७, ६०७, ६२०, ६२६, ६४४,  
 ७०७, ७४२  
 मेघ-१६३, १६४, ३५४, ५६१, ६१८,  
 ७४०  
 मेघमाली-४८६, ४६१, ४६२  
 मेघरथ-२३७, २३८  
 मेघातिथि-३२६  
 मेतार्य-६७३, ६६५, ६६८  
 मेरु-७४  
 मेरुतुंग-७६६, ७७३  
 मेरुसावर्णि-८  
 मैक्समूलर-७७६  
 मैथिल-७७६  
 मैथिली-७७६  
 मोन्वोर विलियम-७  
 मौर्य-७००  
 मौर्यपुत्र-६६५, ६६७, ७००, ७०१, ७०२

यक्षिणी-३८२  
 यज्ञ-७४  
 यज्ञगुप्त-७४  
 यज्ञदत्त-७४  
 यज्ञदेव-७४  
 यज्ञमित्र-७४  
 यदु-३२६, ४३१, ४३३, ४३४, ४३५, ४३७  
 यवन-४८३, ४२५  
 यशःकीर्ति-२६  
 यशस्कर-२६  
 यशस्वी-४, ६, ७, ५६०  
 यशोदा-५६४, ५६५  
 यशोधर-२६  
 यशोधरा-४६६  
 यशोमती-२४०, ३१४  
 यशोमान-६  
 याज्ञवल्क्य-४७६  
 युगन्धर-२०२  
 युगबाहु-३०६  
 युषाजित-४३२, ४३३, ४३५  
 युधिष्ठिर-३५४, ३५६, ४२६  
 (र)  
 रंभा-५२०  
 रईप्रिया-५२१  
 रत्नवती-३४०  
 रत्नप्रभविजय-७०१, ७०२  
 रत्नमाला-२३७  
 रत्नवती-४४६, ४५०, ४५४  
 रत्नसंचया-२३७  
 रत्नावली-४७६  
 रथनेमि-३७८, ३७९, ३८०, ३८३, ३८४,  
 ४३४  
 रथमर्दन-४०७  
 रथसूत्रसंग्राम-७४६, ७५०, ७५१, ७५४,  
 ७५५, ७५६, ७६७

रविसेन-४८०  
 रसदेवी-५१६  
 रसवर्णिक-३३१, ३३३  
 राजशेखर-५१३  
 राजीमती-३६६ - ३७३, ३७४-३८४, ४३४,  
 ४६६  
 राजेन्द्रसूरि-५२६  
 राधाकुमुद मुखर्जी-७५६, ७६६, ७७३  
 राधाकृष्णन्-४२६, ५०३  
 राम-३००, ३४६  
 रामकृष्णा-६३३  
 रामघारीसिंह-१३५  
 रामूरविक्षया-५२२  
 रामा-५२२  
 रामादेवी-२०५  
 राय चौधरी, एच० सी०-४३०, ७६६, ७७३  
 राण्ड-२६  
 राष्ट्रकूट-५१५  
 राहुल सांकृत्यायन-७८४  
 रत्नमनाभ-३६१  
 रत्नमणी-३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३८२,  
 ४१०  
 रुक्मी-३५२, ३५६  
 रुधिर-३३७, ३३८, ३३९, ३५६  
 रुद्रसावर्णि-७, ८  
 रूपकान्ता-५२१  
 रूपकावती-५२१  
 रूपनाथ-७८२  
 रूपप्रभा-५२१  
 रूपवती-५२१  
 रूपा-५२१  
 रूपासा-५२१  
 रूपी-२६८, २६९  
 रेवती-६४३, ६४४, ६७४, ६७५, ६९५  
 रेश्म-३२६  
 रैवत-७, ८, ४३५  
 रोह-६३७

रोहक-६२८, ६२९  
 रोहिणी-४६, ३३७, ३३९, ३४०, ३५२,  
 ३८१, ३८२, ३८५, ४१३, ५२१,  
 ५२२, ५४६  
 रोहिण्येय-७६२  
 रौच्य-८  
 रौच्यदेव सावर्णि-७

(ग)

लक्ष्मण-३००  
 लक्ष्मी-५१६  
 लक्ष्मीवल्लभ-४८०  
 ललितश्री-३४०  
 लघ्टदंत-६२६  
 लाभोत्से-५३२  
 लीलावती-४६५  
 लेव-६६६  
 लोकेश-१३८  
 लोहारमला-५६५  
 लोहित्याचार्य-५२६, ५२७

(घ)

वज्र-७५  
 वज्रदन्त-२११  
 वज्रनाभ-१३, २१७, ४७८  
 वज्रबाहु-३२६  
 वज्रसेन-१३  
 वज्रायुध-२३६, २३७  
 वटेश्वर-४३०  
 वत्स-२६  
 वनमाला-४३०  
 वप्रा-३०७  
 वरदत्त-२६, ३८१, ५२६, ६२५  
 वरधनु-४३६, ४४२, ४४३, ४४४, ४४८,  
 ४५०, ४५२  
 वराह-२६  
 वरिम-३१८  
 वरुण-७४, ७५१  
 वरुणा-४८१, ६६८



वर्द्धमान-५०३, ५६१, ५६३, ५६४, ५६५,  
५६६, ५७१, ६५०

वर्मिला-४८१

वल्लभ-३३५, ३३६

वशिष्ट-४६५

वसंतकुमार चट्टोपाध्याय-५५६

वसु-२६, २४२, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१,  
३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६,  
३२७, ३२८, ३२९, ४३६, ५२२,  
६६८, ७१८

वसुगिरी-३१७

वसुदत्ता-५२२

वसुदेव-७४, ३३०-३४२, ३५१, ३५२,  
३६१, ३६१, ३६२, ३६४, ४१३,  
४२६, ४३३-४३८

वसुन्धर-७४

वसुन्धरा-५२२

वसुन्धरी-४८१

वसुभूति-६६६

वसुमती-५२१, ७०२, ७०३, ७०४

वसुमित्र-७४

वसुमित्रा-५२२

वसुवर्मा-२६

वसुसेन-७४

वस्सकार ७५३, ७६६, ७६७

वस्सपालक-६०२

वातराज्ञा-१३३

वादिराज-४८१, ४८६, ४९०

वामस-४७५

वामा-४८१, ४८३, ४९४

वायु शर्मा-७४

वारनेट प्रो०-४२६

वारिवेण-४२६, ४६६, ६२६

वाक्या-४६६, ६६६

वाल्धेर शूर्विग-६४७

वामुदेवशरण भद्रवाल-७२६, ७७४

वामुपूज्य-२१७, २१८, २१९, २२०, ४८०,  
५६५

बिक्रम  
बिक्रमादित्य }-६८६, ७६६

बिक्रान्त-२६

बिजय-२६, ७४, ३०७, ३०८, ४२०, ४२१,  
४६६, ५८५, ७२६

बिजयगुप्त-७४

बिजयन्त-२६

बिजयमित्र-७४

बिजयश्री-७४

बिजयश्रुति-७५

बिजयसेन-१७५, ३५४

बिजयसेना-३४०

बिजयादेवी-१४७, १४८, ५६३, ६०७,  
६६७, ७००

बिजयेन्द्र सूरि-५५७, ६४८, ७७०

विदेशी मुनि-५२७

विदेहदिज्ञा-५६०

विद्युन्मती-५८७

विनयनंदन-१७७

विनमि-४६, ७५

विनयविजय-४६५

विपुलवाहन-१६८

विपृथु-४३२

विमल-२६

विमलचन्द्र-१७२, ७१६

विमलनाथ-२२१, २२३, २२४

विमलवाहन-४, ५, ६, ७, १४२, २२७,  
६८५

विमलसूरि-५५५

विमला-५२१

विमेलक-५६४

विविधकर-२६

विशाखभूति-५३६

विशाखा-४४६, ४५०, ४५४

विशाल-३१८

विशाला शिविका-४६०

विश्व-२६

विश्वकर्मा-२६  
 विश्वगर्भ-४३५  
 विश्वनन्दी-५४०  
 विश्वभूति-५३६, ५४०  
 विश्वकसेन-८  
 विश्वसेन-२६, २३६, ४८१  
 विश्वेश्वरनाथ रेऊ-७७४  
 विष्णु-२११, ४२५  
 विह्वलकुमार-७४१, ७४२, ७४६, ७४७, ७५२, ७५३  
 वी. ए. स्मिथ-७४२, ७५६, ७७६  
 वीतशोक-४८०  
 वीर-२६, ३२६, ४३४  
 वीरक-३१५, ३१६  
 वीरकृष्णा-६३४  
 वृजिनिवान-४३७  
 वृषभयति-७७५  
 वृषभदेव-२०, १३६, १३८  
 वृषभसेन-७४  
 वृष्णि-४३२, ४३५  
 वृहदध्वज-३५४  
 वृहस्पति-३२६  
 वेद-७३६  
 वेदव्यास-४३१, ४३३, ४७०  
 वेहत्ल-६३४  
 वेहास-६३२  
 वैजयन्त-१६३  
 वैदर्भीकुमार-४२६  
 वैदेहीपुत्र-७७२  
 वैर-७५  
 वैराट-७८२  
 वैरोठ्या-४६२  
 वैवस्वत-७, ८  
 वैशम्पायन-३२६  
 वैश्रवण-२५२, ३८३, ४५२  
 व्यक्त-६६५, ६६६  
 न्याघ्रसिंह-२४३

व्रतिनी-४३४

(श)

शंख-२६, ३१३, ३१४, ३१८, ५६७, ५६८, ६१६, ६६५  
 शक-६८६, ७७४  
 शकुनि-३५२, ३५६  
 शक्र-६६०  
 शतक-६१६  
 शतानीक-६०७, ६२०, ७०२, ७०३, ७०७, ७४२  
 शत्रुदमन-७४  
 शत्रुसेन-३८४  
 शम्बर-४६३  
 शम्बल-५८४  
 शल्य-३५६  
 शाण्डिल्यायन-४५७  
 शान्तिचन्द्र गणि-६८८  
 शांतिनाथ-२३६, २३६, २४२  
 शांतिमती-४६५  
 शाम्ब-३४७, ३५१, ३६२, ३७५, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४२६  
 शाल-६५७  
 शालिभद्र-६२२  
 शालिहोत्र-६२६  
 शिव-१३५, ६५४, ७१६  
 शिवभद्रकुमार-६५४  
 शिव राजषि-६५४, ६५५  
 शिवादेवी-३६२, ३७२, ३८१, ३८२, ५२२, ७२१, ७४२  
 शिशुपाल-३५२, ३५७  
 शीतलनाथ-२०८, २११, ३१५  
 शीलांक-२१८, २३८, ३५५, ४८६, ६१२, ६३२  
 शुभा-५२०  
 शुक्र-४२३, ४२४  
 शुक्र-५०६, ५२४  
 शुद्धदंत-६२६

सागरदत्त-४४८, ४४९  
 सात्यकि-३५४, ३५६  
 साधुसेन-७४  
 सामली-३४०  
 सारणकुमार-३५७, ३८४, ४१०, ४२५  
 सारथि-४१७  
 सावर्णि-७, ८  
 सिंह-२६, ६२६  
 सिंहभद्र-७४२  
 सिंहरथ-२२७, ३३२, ३३३  
 सिंहसेन-२२४, ६२६  
 मिहावह-२४२  
 मिकन्दर-४६६  
 मिद्धसेन-५२४  
 सिद्धार्थ-३०७, ४०८, ४१५, ४१७, ४१९  
 ५३६, ५३८, ५४४, ५४६, ५५०  
 ५५५, ५५८, ५६०, ५६४, ५७१  
 ५७३, ५७६, ५८०, ५८५, ५८६  
 ५९४, ५९६, ५९७, ६००, ६०१  
 ६०६, ७४२, ७८२  
 सिद्धार्थ-१७२  
 सीता-३००, ७७६  
 सीमंकर-६, ७  
 सीमंघर-६, ७  
 सीहा-६४२, ६४३  
 सुकच्छ-७५  
 सुकगत-५३३  
 सुकाली-६३३  
 सुकृष्णा-६३३  
 सुखर-३०  
 सुग्रीव-२०५, २०६  
 सुगुप्त-६०६, ६०७  
 सुघोष-२६, ३४५  
 सुघोषा-५२१  
 सुजाता-६२६  
 सुजाति-३०  
 सुजेष्ठा-७४२  
 सुदर्शन-२२६, २४५, २४६, ३०७, ४२३  
 ५१६, ५१७, ६६८

सुदर्शना-१७५, ४७८, ५२१, ६४६,  
 सुधर्मा-२६, ४३२, ५६२, ६८६, ६६५  
 ६९७, ७६३, ७६७  
 सुनक्षत्र-५४६, ६२८, ६५१  
 सुनन्द-२६, ५०१, ५८५  
 सुनन्दा-२८, २१८, ४६२, ४६३  
 भुनाम-३०  
 सुनेमि-३५४  
 सुन्दरी-२८, ३०, ११७, ११८, ११९, १२०  
 सुपाश्वर्य-५६८  
 सुपाश्वर्यक-४३२  
 सुपाश्वर्यनाथ-१६६  
 सुप्रतिष्ठ-५०६, ६२२  
 सुप्रभ-२२६, ३०८  
 सुब्राह्म-१३, ७४, ३२६, ४३२  
 सुबुद्धि-४८, ४५२  
 सुमगा-५२१  
 सुमद्रा-४०६, ५१३, ५१४, ६२३, ६२६  
 ६३३, ७२४, ७२५, ७४४  
 सुभानु-३२६  
 सुमंगला-२८, २६, १६४, २१७  
 सुमति-६, ७, ३०  
 सुमतिनाथ-१७५, १६४  
 सुमता-६२६  
 सुमनोभद्र-६२२  
 सुमरिया-६२६  
 सुमागध-६०१  
 सुमित्र-१४६, २४०, २८५, २६८  
 सुमुख-४२५, ६८५, ७६१  
 सुमुह-३१५  
 सुयण-२६  
 सुयणा-२२४  
 सुरदत्त-७४  
 सुरश्रेष्ठ-२६८  
 सुरादेव-६२४  
 शुद्धोदन-५३५, ७७६  
 शुभदत्त-४६४, ४६५, ५०१, ५२६  
 शुभमति-३०

शूर-४३३, ४३५, ४३७, ४३८  
 शूलपाणि-५७५  
 शूलक-४२३, ४२५  
 शूलविचारी-२६  
 शूलोदायी-६६५  
 श्यामा-२२१, ६२४  
 श्यामाक-६११  
 श्री-५१६  
 श्रीकान्ता-४४७, ४५४  
 श्रीदेवी-५१६, ५१८  
 श्रीनेत्र पाण्डे-७७३  
 श्रेणिक-७४०, ७५७  
 श्रेयांस-४८

(स)

संगम-२६, ५४७, ५६६, ६००, ६०१  
 ६०२, ६०३  
 संजती-३१८  
 संजय-३०, ३५४  
 संजय वेलट्टिपुल्ल-७७१, ७७३  
 संदीपन-३४७  
 संप्रति-७४२  
 संभवनाथ-१६८, १६९, १७२  
 संभूत-४५८, ४६१, ४६२  
 संभूति-४६५  
 संवर-७४, २४२  
 सकलकीर्ति-४६८  
 सक्क-७३६  
 सगर-३२४, ४२६  
 सच्च-४५८  
 सच्चक-७३२  
 सती-५२२  
 सतेरा-५२०  
 सत्यदेव-७४  
 सत्यरक्षिता-३४०

सत्यनेमि-३५४, ४२६, ४३४  
 सत्यभामा-३४३, ३४५, ३६६, ३६७, ३६८  
 ३६९, ४३४  
 सत्ययश-७४  
 सत्यवान-७४  
 सत्वत-४३५  
 सत्यवेद-७४  
 सत्यश्री-६८५  
 सहालपुत्र-६२८, ७३६  
 सनतकुमार-२३०, २३१, २३२, २३३  
 ४५६, ४६२, ४६३, ५३६  
 ५४०  
 समिय-७७२  
 समयमुन्दर-७११  
 समरकेतु-३१३  
 समरवीर-५६२  
 समरसिंह-४६६  
 समुद्र-४२५  
 समुद्रविजय-२२६, ३१५, ३३०, ३३२, ३३७  
 ३३९, ३४२, ३४६, ३५२, ३५४  
 ३५६, ३६१, ३६२, ३६६, ३७२  
 ३७४, ४२६, ४३३, ४३४  
 समुद्रसूरि-५२७, ५२९, ५३१  
 सरकल-७३६  
 सरस्वती-५२१  
 सर्वगुप्त-७४  
 सर्वदेव-७४  
 सर्वप्रिय-७४  
 सर्वसह-७४  
 सर्वानुभूति-५४६, ६४१, ६४६  
 सहदेव-३४४, ३५४, ३५६, ३६१, ४२७  
 सहसराम-७८२  
 सहस्रद-४३१  
 सहस्रायुध-२३७  
 सहस्रारदेव-३७८  
 सागर-२६, ३३०, ४२५, ४३४

सुरादेवी-५१६  
सुराष्ट्र-२६  
सुरूपा-५२१  
सुरेन्द्र-१७०  
सुलक्षण-२६  
सुलक्षणा-२०२  
सुलसा-३८४, ३८६, ३८८, ३८९, ६१६,  
६६५  
सुवर्मा-२६  
सुवमु-३२६  
सुविधि-११  
सुविधिनाथ-२०५, २०७, २०८, ५४८  
सुविशाल-७५  
सुव्रता-२२७, ४२७, ५१४, ५१५, ५२१,  
५२२  
सुसीमा-१६६  
सुसुमार-२६  
सुवेण-२६  
सुसेना-१६८  
सुश्रुत-६४५  
सुसारा-५२१  
सुस्थितदेव-३४५, ४०२, ४०३, ४०५  
सुहस्ती-६४२, ६४३  
सूर-२६  
सूरप्रभा-५२२  
सूरिकान्त-५२८  
सूरिकान्ता-५२८  
सूर्यदेव-५२४  
सेन-१६  
सेनादेवी-१६८  
सेयभिकखु-७३६  
सेयवड़-७३६  
सोम-४६५, ५१०  
सोमदत्त-७४  
सोमदेव-१६७  
सोमप्रभ-४७, ५१, ५५  
सोमश्री-३४०, ३६४  
सोमा-३६४, ३६६, ५१५, ५८६

सोमिल-३६४, ३६६, ३६८, ५०६ - ५१३,  
६५८ - ६६०, ६६५  
सोयामणि-५२०  
सोधर्मदेव-५४०  
सौरी-३२६, ४३४  
स्कन्दक-६३०, ६३१  
स्टेनकोनो-६४७, ६४८  
स्तिमित-३३०, ४२५, ४३४  
सस्ताष-२०८  
स्थावर-५३६, ५४०  
स्रष्टा-१३६  
स्वफलक-४३२, ४३५  
स्वर्गप्रभ सूरि-५२८  
स्वयंबुद्ध-३०६  
स्वयंभू-७, १३६, २२२, २२३  
स्वर्गबाहु-४७८ - ४८१  
स्वातिदत्त-६०८  
स्वायंभुव-७, ८, १४, ७४, १३२  
स्वारोचिष्-७, ८

(ह)

हंस-३५२, ३५३  
हनुसरख-७३६  
हयसेन-४८१  
हरि-३१६, ३१७, ५४७, ५४८  
हरिसौगमेषी-३४१, ३८८, ३८९, ३९४,  
५४३, ५४४, ५४५, ५४६  
हरिदत्त-५२६, ५२७  
हरिशेखर-४६६  
हरिश्चन्द्र-४८०  
हरिवेण-२६, ३०६, ३१०, ३१८  
हरिसन-४२६  
हर्मन जैकोवी-४७५; ४६८, ४६९, ५०२,  
५५६, ५५९, ६४७, ६४८, ७१३,  
७६५ - ७६८, ७८४  
हयंशव-४३५

हलधर-७४, ३५२, ४१६  
 हलायुध-४१८  
 हल्ल-६२६, ६३४, ७४१, ७४२, ७४६,  
 ७४७, ७५२, ७५३  
 हस्तपाल-६७६, ६६०, ६६३  
 हार्नेल-५५७, ५५८, ५५९, ७३३, ७७०  
 हालाहला-६३५, ६३७, ६३९, ६४१  
 हिमगिरि-३१७  
 हिमवन्त-४२५  
 हिमवान्-३३०

हिरण्यभर्म-२१, १३८, १३९  
 हिरण्यनाभ-३५४, ३५६, ३६१  
 हीरालाल जैन-७७४  
 हीरालाल रसिकलाल कागड़िया-६४७  
 हेमचन्द्र-१२२, २१७, २१८, २२५, ३१६,  
 ४८०, ४९०, ४९३ ५३६, ५५५,  
 ५८६, ६१२, ६६०, ७००, ७०२,  
 ७०४, ७६८  
 हेमविजय गणिस-४८६  
 ह्नी-५१६, ५१८, ५२१  
 ह्ने नत्सांग-४९६, ७७७

### [ख] ग्राम, नगर, प्रान्त, स्थानादि

(अ)

अंग-२६, ४६८, ५२८, ५३५, ५५७, ५८७,  
 ६३३, ६४०, ७४२  
 अंगमन्दिर चैत्य-६३७  
 अंडवइत्ला-अटकप्रदेश-१२६  
 अक्छ-६४०  
 अजय नदी-५६२  
 अनुराधापुर-५२७  
 अन्तरवेदी प्रदेश-६१७  
 अफगानिस्तान-४६६  
 अबाध-६४०  
 अमरकंका नगरी-४०१, ४०३, ४०५, ५४७  
 अयोध्यापुरी-५५, १७३, १६३, २२४, ४८६  
 अरक्खुरी नगरी-५२२  
 अरिजयपुर-३३८  
 अरिष्ठपुर-२०६, ३३७, ३४०  
 अरिष्ठा नगरी-२२४  
 अवन्ति, अवन्ती-४६८, ५२८, ५३५, ७७४,  
 ७७७, ७८१  
 अष्टापद-१२६, १३०, १६४, १६५  
 अस्थिग्राम-५७५, ५७६, ५६६, ६६४  
 अहिच्छत्र-४६१

(आ)

आगरा-४३०  
 आनन्दपुर-३६२  
 आनर्त-३८४  
 आभीर-४६८  
 आमलकप्पा-५०२  
 आमलकल्पा-५१६, ७१८  
 आमलकल्पा-५३५  
 आम्रघाल वन-५१०, ७१८  
 आलम्बिया नगरी-५६५, ६०४, ६२४,  
 ६२६, ६३७, ६६४  
 आवर्त-५६१  
 आश्रमपद उद्यान-४६०, ४६३, ४६५  
 आसाम-७७६  
 (इ)  
 इन्द्रपुर-३१८  
 इन्द्रप्रस्थ नगर-४०१  
 इलावर्द्धन नगर-३१८  
 (ई)  
 ईरान-५३३  
 (उ)  
 उज्जयंत पर्वत-३७७, ३८०, ४२७, ४२८

उज्जैन-उज्जयिनी-५२७, ५२९, ७४२,  
७६२, ७६३, ७६८

उद्दण्डपुर-६३७

उद्गाण-५९६

उत्तर कुरु-३७६

उत्तर वाचाला-५८०

उत्तरी कोशल-५३५

उत्तरी विहार-७८४

(ख)

ऋजु बालुका नदी-६११, ६१२

(घ)

ग्रोस्तो-६४८

(क)

कंडाग सन्निवेश-५९५

कच्छ-४६, ७४, ४९८

कदम्ब वन-४०८

कपली समागम-५९३

कपिलवस्तु-५०१, ५३५

कम्पिलपुर-२२१, २७२, ४९५, ५२२,  
६२८, ६६१, ६६२

कम्बोज-३५४

कम्मशाला-५९४

कयंगला-५९०, ६३०, ६३१

कर्नाटक-४९८, ६१७

कलंबुका-५९१

कलिग-२९, ३८४, ४८३, ४९८, ५०७,  
५२८, ५३५, ७४३, ७८३

कान्दी नगरी-२०५, ६२७, ६२८, ६३३

कादम्बरी गुफा-४०८, ४०९

काम महावन चैत्य-६३७

काम्पिल्यनगर-४३८, ४३९, ४४१, ४४२,  
४४८ ४५१, ४५३, ४५५, ४५६,  
४६५, ४७०

कालाय सन्निवेश-५८७

कार्लिजर पर्वत-४५८, ४७२

काशी-२६९, ४३८, ४३९, ४५८, ४५९,  
४९८, ५२८, ५३५, ६४०, ६९०,  
७४७, ७५०

काश्मीर-४९८

कियारिशी-४९९

कीरप्रदेश-६१७

कुण्डाम-३१८

कुण्डाला-२६८

कुण्डग्राम-५९१, ५९७, ६०१

कुण्डनपुर-५५६

कुण्डपुर-५४४, ५५७, ५५८

कुण्डिणी-३१८

कुण्डियाथन-६३७

कुमारक-सन्निवेश-५८८, ५८९

कुम्भकारापण-६३७

कुरु-२९, ४९८

कुरुदेश-२७०

कुमारग्राम-५७०, ६०९

कुशास्थल नगर-४८३, ४८४, ४८५

कुशीनारा-५३५

कसट्ट-३८४

कूर्म ग्राम-५९६

कुसुमपुर-३४३

कूविय सन्निवेश-५९३

केरल-३५४

कौकरा-४९८, ५२८

कोटिग्राम-५५८

कोटिवर्ष-६७०

कोपकटक-४९०, ४९९

कोपारि प्रदेश-४९९

कोल्य गणाराज्य-५३५

कोल्लयर-३१८

कोल्लग सन्निवेश-५५७, ५७१, ५७३,  
५८६, ६६८, ७२७, ७३२

कोष्ठक उद्यान-६३४, ६३६, ६५०, ७१५

कोष्ठक ग्राम-४४२, ४४३

कोष्ठक चैत्य-६२४, ६३६, ६४२, ७१७  
कोशाल-३६१, ४६८, ५२८, ५३५, ६१७,  
६४०, ६६०, ६७०, ६६०, ७४७,  
७५०

कोशला-६६८

कोशाम्बी-१६६, ३०७, ३१५, ४४८, ४४९,  
४५०, ५२२, ६०४, ६०६, ६०७,  
६२०, ६२२, ६२६, ६२७, ६३२,  
६४६, ७०२-७०४, ७०७

कोशाम्बी वन-४०७, ४१४

कौत्स-६४०

क्षत्रियकुण्डग्राम-५३६, ५५६-५५८, ५६८,  
५६९, ६१६

क्षितिप्रतिष्ठनगर-१०, ४६५

क्षीरवर्ण वन-४७६

क्षेमपुरी-१६८, ५६५

(ग)

गंगा नदी-३८४, ४०५, ४४१, ५८४, ५८५,  
६५४, ६६२, ६८७, ७४६, ७८४

गङ्गकी नदी-५६८

गजपुर-३१८

गन्धमादन पर्वत-३४५

गया-७७६

गान्धार-३५३, ४०७

ग्रामक सन्निवेश-५६४

गिरी-५२७

गुजरात-५४८, ६१७

गुणशील उद्यान, चैत्य, वन-५०८, ५०९,  
५१३, ५१६, ६१७, ६२२, ६३२,  
६५६, ६६३, ६६४, ६७१, ६७३,  
६७४, ६७६, ६६६-६६९

गुहमखेट नगर-४६१

गोकुल-३४२, ३४७, ३५७

गोरक्षपुर-२०, ५८६, ७८४

गोल्ल प्रदेश-६१७

गोष्ठ-३७८

गौड़-६१७

गौडूमि-५६६

(घ)

चक्रपुर-२४३

चन्द्रपुरी-२०२

चन्द्रावतरण-६२०, ६३७

चमरचञ्चा-६०५

चम्पानमरी-७०, २१७, २६७, २६८, ३१६,  
४०४, ४३८, ४५३, ५४७, ५८७,  
६०८, ६२३, ६२२, ६३३, ६३७,  
६५७, ६५८, ६६४, ७०२, ७०३,  
७१७, ७२४, ७४१, ७४४, ७४५,  
७४७, ७५२, ७५४-७५७, ७५९

चरग-७३६

चीन-५३२, ७७६

चुल्ल हिमवन्त-६६६

चेदि देश-३२०, ३२५

चोरपल्ली-४४७

चोराक सन्निवेश-५८६, ५६०

चोराचौरी-५८६

(ङ)

छत्र पलाश-६३०

छत्रा नगरी-५३८

छम्माणि-६०८

(च)

चर्चित ग्राम-६०८, ६१२

चुम्बियाग्राम-६११

जम्बूद्वीप-२३०, ४०१, ४०४, ५१६, ५५६,  
६५५, ६७५, ६७६

जम्बूसंघ-४३०, ६२५

जयपुर-४३०, ६२५

जीर्ण उद्यान-६११

जेतवन-७७१

ज्ञातृखण्ड उद्यान-५६६

(छ)

ठबक प्रदेश-६१७

(त)

तंवाय सन्निवेश-५६३



ताइय देश-६१७  
 ताम्रलिप्त नगर-४६६  
 तिकुक उद्यान-६५०  
 तुंगिक सन्निवेश-६६८  
 तुंगिका-६३२  
 तुंगिया गिरि-४१८  
 तुंगिया नगरी-७३६  
 तेलंग-५१८  
 तौमलि गाँव-६०१

(ब)

दक्षिण बिहार-७८४  
 दशार्णपुर-६५८  
 दूति पलाश उद्यान, चैत्य-६५८, ६६२,  
 ६६८, ६६६  
 देवदह प्रदेश-७७६  
 द्रविड-३५४, ४६८  
 दृक् भूमि-५२६  
 द्वारवती नगरी-३६५, ३६७  
 द्वारिका-२१६, २२२, ३४५-३४७, ३५०,  
 ३५२, ३५३, ३६२, ३६३, ३६६,  
 ३७१, ३८५-३८६, ३८६,  
 ३९०, ३९४, ३९५, ३९८, ४००,  
 ४०६-४१४, ४१७, ४१६,  
 ४२०, ४२२, ४२५, ४२६, ४३०

(घ)

घातकी खण्ड-२२०, ४०१, ४०२, ४०४  
 आन्यपुर-३६६

(न)

नन्दन उद्यान-४२०, ४२५  
 नन्दपाटक-५८७  
 नन्दिग्राम-६०६  
 नन्दीपुर-६७१  
 नग्रसार ग्राम-५३६, ५४०  
 ननिनशुल्भ-२११, ६३३, ७४१  
 नांगला-५६१  
 नागपुर-५२१

नालन्दा-५८५, ५८६, ६६६, ६६७, ६६८,  
 ६७३, ६६४, ७२६, ७२७, ७३२

नीलाशोक उद्यान-४२४

नेपाल-४६८, ५०५

(प)

पंजाब-२७१  
 पटना-७८४  
 पत्तकालय-५८८  
 पद्मगुल्म-६३३, ७४१  
 पद्मक-परिया-१२६  
 पपुहर-७८४  
 पलाशानगर-५०६  
 पल्लव क्षेत्र-४६८  
 पांचाल जनपद-२७१, २७२, २७३, २७४,  
 ४३८, ४७०, ४७१, ४६८, ५०७,  
 ५२८, ६६१, ६७१

पाटलिखण्ड-२००

पाण्डिपुत्र-७४४, ७७४

पाठ-६४०

पालक गाँव-६०७

पाकापुरी-५३५, ६१२, ६७६, ७८४

पिप्पलिवन-५३५

पुण्डरीक पर्वत-४२५

पुण्डरी किण्णी-२३७

पुराण पुर-४७६

पुरिमताल नगर-६१, ४६३, ५६६

पुलहाश्रम-१३३

पुष्कर द्वीप-२११, २१७

पुष्कलावती विजय-१३, १७५, २०५

पूर्णाकलाश ग्राम-५६३

पूर्णाभद्र उद्यान-४०४, ६२३, ६३२, ६३३,  
 ६५७, ७१७, ७४५, ७५५, ७५७

पृष्ठ चम्पा-५६०, ६५७, ६६४

पैताल उद्यान-५६६

पोतनपुर-२१२, ७६०

पोलास चैत्य-५६६

पोलासपुर-३८७, ६२८

पीण्ड-४६८

प्रतिष्ठानपुर-५३६

(फ)

फिलिस्तीन-५३३

(ब)

बंग-४६८, ५२८, ५३५, ६४०

बर्बर-३५४

बल्ल नगर-४६६

बहली देश-१२१, १२६

बहुशाल-५५७, ५६५, ६१६, ६३२

बालुका-६०१

बिहार-४६६

ब्रह्मस्थल-१६७

ब्राह्मणकुण्ड ग्राम-५४२, ५४४, ५५७, ५५८,

५८७, ६१६, ६३२

(भ)

भद्रगा सन्निवेश-५६५

भद्रिका नगरी-५६५

भद्रिया नगरी-६६४

भद्रिलपुर-२०८, २२७, ३१८, ३८४, ३८६,

३८८, ३८९

भद्रिला नगरी-५६३

भरत क्षेत्र-४३, ४४, ७६, ७७, ८१, ८२,

८४, ८५, ९०, ९१, ९३, ९५, ९७,

९८, ९९, १०३, १०५,

१०७, १०९, २३०, २३१, ४०१,

४०२, ४०४, ५३२, ६७६, ६८२,

६८३, ६८५-६८६

भारत, भारतवर्ष-४२, ४३, ४४, ११३,

१२६, १३३, १३६-१३८, २११,

२१७, ४०७, ४२४, ४२८, ४५४,

४५५, ४७४, ४८१, ५३२, ५३३,

५५६, ६७६, ६८५, ७५६, ७७५,

७७७, ७८३

भांगपुर-६०६

(घ)

भंगलावती-२०२, २१७, २३६

भंडि कुक्षि चैत्य-६३७

भंदिरपुर-२४०

भगध-३६१, ३६६, ४६८, ५२८, ५३५,

५५६, ५५७, ५६५, ६२८, ६४०,

६५६, ६६३, ६७१, ६७४, ६६६,

७३६, ७४४, ७७८

भगधपुर-४५०

भगिभद्र चैत्य-६७३

भक्तकुंज उद्यान-४६६

भथुरा-३२६, ३३३, ३४०-३४४, ३४६,

३६१, ४०६, ४१३, ४१५, ४२६,

५२२, ६७१

भध्य एशिया-४६६

भध्यम पावा-६०६, ६१२, ६१६, ६१७

भनोरम उद्यान-७६०

भयंग नदी-४५८

भरहुट्ट देश-६१७

भरुदेश-६१७

भलय देश-५६३, ६४०

भलभ गाँव-६०१

भल्ल गगाराज्य-५३५, ६६०, ७४७

महापुरी नगरी-२२१

महाराष्ट्र-५२८, ६१७

महा विदेह-१०

महासेन वन-६१६

भागध तीर्थ-८०, ८१, ८२, ४०२

मान भूमि, ४६६

मालव-४६८, ६१७, ६४०

मालुक कच्छ-६४२

माल्यवान् पर्वत-३४५

माहेश्वरी नगरी-३१८

मिथिला-२५६, २६२, २६६-२७२, २७४-

२७७, २८२, २८४, २८६, ३०७,

३०९, ३१८, ३६७, ४६६, ६०४,

६२७, ६३३, ६३४, ६४६, ६७१,

६७३, ६६४, ६६८

मुजफ्फर नगर-५५८  
 मुका नगरी-११६  
 मृगवन-७५८  
 मुक्तिकावती नगरी-३४०  
 मेढिय ग्राम-६०६, ६०८, ६४२, ६४३,  
 ६४६  
 मेवाड़-४६८  
 मोका नगरी-६५६  
 मोराक सन्निवेश-५७३, ५७६, ५८०  
 मोरीय गण-५३५  
 मोसलि ग्राम-६०१  
 मोहन जोदढी-१३५  
 मौजिदेश-६४०  
 मौर्य राज्य-७६८

(घ)

यमुना नदी-३४२, ३८४  
 यूनान-१२६, ५३३

(र)

रत्नपुर-२२७  
 रथनेउर-४६  
 रांची-४६६  
 राजगृह-२६८, २६६, ३४३, ३४५, ४५०-  
 ४५२, ४६५, ५०१, ५०५, ५०८,  
 ५०६, ५१३, ५१६, ५१६, ५२२,  
 ५८५, ५८६, ५६४, ५६६, ६०४,  
 ६१७, ६१६, ६२२, ६२३, ६२५,  
 ६२६, ६२८, ६३०, ६३२, ६३७,  
 ६४६, ६५७, ६६२, ६६४, ६६५,  
 ६७१, ६७३-६७६, ६६४, ६६७,  
 ६६८, ७१८, ७२६, ७२७, ७३६,  
 ७४०, ७४४, ७६०-७६३, ७७२,  
 ७८४

राजपुर-२४६  
 राठवेश-५६२  
 रण्यकूला नदी-५८०  
 रैबत, रैबताबल-३४५, ३६६, ३८०, ३८३,  
 रैबतक पर्वत-३८०, ४१०

(स)

लंका-५२७, ७७६  
 लवण समुद्र-८१, ८६, ८८, १००, १०५,  
 १०६, २५१, ३६३, ४०२, ४०५,  
 ४०६, ६६६  
 लवण सागर-४०३  
 लवणोदधि-४०३  
 लाट देश-६१७, ६४०  
 लाठ देश-५६२, ५६६  
 लिच्छवी गणराज्य-५०७, ५३५, ७४७

(ष)

वज्जिगण-७४२  
 वज्जी देश-५५८  
 वज्ज-६४०  
 वज्ज भूमि-५६२  
 वत्स-४६८, ५३५, ६२०, ६३२, ६४०,  
 ६६८, ७४२

वनियां वसाह-५५८  
 वद्धमान पर-२२५  
 वल्लभी-७६६  
 वसन्तपुर-११, ४४७, ५६५  
 वाराणसी-३१८  
 वाणियागव } ५६८, ६२२, ६२४, ६२८,  
 वाणिज्यगाम } ६३१, ६३२, ६५६, ६५८, ६६०,  
 ६६२, ६६८, ६६४  
 वाराणसी-१६६, ४५२, ४५३, ४५८, ४५६,  
 ४७७, ४८१, ४८५, ४६०, ४६१,  
 ४६३, ५०२, ५१०, ५१३, ५२१,  
 ५२२, ६०४

वासुकुंड-५५८  
 वाहीक प्रदेश-७३६  
 विजयपुर-१६५  
 विदर्भ-४६८, ५०७, ६१७  
 विदेह-२६, ४६६, ५५६, ५५७, ६१६,  
 ६३३, ६५६, ६५८, ६७१, ६७३,  
 ६७४

विनीता-१६, ३४, ४५, ७७-८०, १०२,  
 १०३, १०५-११०, १४७, १४६,  
 १५५, १५६

विन्ध्यपर्वत-३४४  
 विपुलाचल-६३१, ६३२  
 विभेल सन्निवेश-५१५  
 वीतभय नगरी-६२३, ६४७, ७४२, ७५७,  
 ७५८, ७५९, ७६४  
 वीतशोका नगरी-२५१, २५३  
 वेणुवन-७७२  
 वेणवती नदी-४५८  
 वेष्ठातट-७६२  
 वैताड्य गिरि-८५-८८, ९७, १००, ३३७,  
 ३५१, ३६१, ६८६, ६८७  
 वैभार गिरि-६२३, ६७५  
 वैशाली-५०७, ५३५, ५५६, ५५७, ५५८,  
 ५५९, ५६०, ५६४, ५६७, ५६८,  
 ६०४, ६२०, ६२७, ६२८, ६३४,  
 ६३७, ६६२, ६६३, ६६६, ६७०,  
 ६९४, ७४२, ७४६, ७४७, ७४९,  
 ७५०, ७५१, ७५२, ७५३, ७५४,  
 ७६६, ७६७

वज्र-३४२

वज्रगावि-६०२, ६०४

(श)

शंखवन उद्यान-६२४  
 शाक राज्य-७६९  
 शाकटमुल्ल उद्यान-६१, ७२, ५९६  
 शुक्तिमती (नदी, नगरी)-३२५, ३२९  
 शत्रुजय-४२७  
 शाक्य, शाक क्षेत्र-४९८, ५००, ५०३,  
 ५०५, ७८४  
 शाल कोष्ठक चैत्य-६४२, ६४३  
 शालिग्राम-१५८, १६२  
 शालि शीर्ष-५९४, ५९५  
 शिवपुरी-४९१  
 शम्भूमि-५९२, ५९६  
 शैलकपुर-४२३, ४२४  
 शैलराज रैवत-३४५  
 शौर्यपुर, सौरिपुर-३२९, ३३२, ३४०, ३४४,  
 ३४६, ३६१, ४३०, ६७१  
 श्रावस्ती, सावस्थी-१७०, ५०८, ५०९,  
 ५२२, ५२८, ५९०, ५९१, ५९८,  
 ६०४, ६३४, ६३७, ६३९, ६४०,  
 ६४२, ६४९, ६५०, ६५४, ६६०,  
 ६६४, ७१५, ७३४

श्वेतपुर-२०६

श्वेताम्बिका-५२८, ५३०, ५८४, ६०४

(स)

संभुतर-६४०

समरकन्द-४९९

समरोद्यान-६०४

सम्मोद (त) गिल्लर-२०७, २३३, २४४,  
 २४८, ३०९, ५०२

सरयू नदी-५०६

सरवण-७१९, ७२५

सरस्वती-३५०, ३६२

सर्वाथं सिद्ध-१३, २३९, २४२

सलिलावती-२४९

सहस्राक्ष उद्यान-१५५, १५६, ३७७, ३८०,  
 ३९४, ३९५, ४२७, ६२७, ६५४,  
 ६५५, ६६१

साकेत-१५५, ६६०, ६७०

साकेतपुर-१७३, २६१, ५२२, ६७०, ६७१

साकेता-४८०

सानुलटिठ्य सन्निवेश-५९८

सिंहपुर-३३२

सिंहपुरी नगरी-२११

सिंहल-८७

सिद्धार्थपुर-२१२, ५९६, ५९७, ६०२

सिनीपल्ली-३५०, ३६२

सिन्धु-८४-८८, ९६, ३५३, ५२८, ६१७,  
 ६८७, ७५७

सिलिन्ध सन्निवेश-७२१

सीलोन-७७६

सुगाम-३३६

सुश्रेता ग्राम-६०१, ६०७

सुदमंनपुर-३०९

सुन्सुमार-६०४-६०६

सुमंगल-६०७

सुमदिरपुर-२३७

सुमेरु पर्वत-४७

सुयोग-६०१  
 सुरपुर नगर-४६५  
 सुरभिपुर-५८४  
 सुवर्ण कूला नदी-५८०  
 सुसीमा नगरी-२०८, २४५  
 सूरसेन-५२८, ६७१  
 सेयबिया नगरी-५८१  
 सोज्ज-३१८  
 सौमन्धिका नगरी-४२३  
 सोमनस नगर-२२८  
 सोमनस पर्वत-३४५  
 सोराष्ट्र-३४५, ४२५, ४२७, ४६८  
 सोवीर-३२६, ५२८, ५५७  
 स्केन्डिनेविया-४२६  
 स्थूणाक सन्निवेश-५८४

स्याम-७७६  
 स्वर्ण खल-५८६  
 स्वर्ण भूमि-१२६

(ह)

हरिवास-३१६  
 हलेदुग-५६१  
 हस्तकल्प नगर-४२७  
 हस्तिनापुर-५३, ५५, २३०, २३६, २४०,  
 २४२, २४५, २७०, २६०, ३१३,  
 ३६६, ४०२, ४०६, ४३८, ४५३,  
 ४५६, ४६१, ५२२, ६४६, ६५४,  
 ६५५, ६५६  
 हस्तिधाम उद्यान-६६६  
 हस्तिशीर्ष गाँव-६०१  
 हेमवन्त गिरि-१३५

## [ ग ] सूत्र ग्रन्थादि

(अ)

अमृतरनिकाय-५०३, ५०४  
 अंतगड, अन्तकृत दशांगसूत्र-३८४, ३८६,  
 ३६०, ३६३, ४११, ६२५, ६२६,  
 ६३४, ७४०  
 अगस्त्य ऋषि कृत चूण्डि-२०  
 अग्निपुराण-१३७  
 अथर्ववेद-४३०  
 अणुत्तरोववाही-६२२, ६२६, ६२८, ७४०  
 अभयदेवीया वृत्ति-७३०  
 अभिधान चिन्तामणि-५५६  
 अभिधान राजेन्द्र कोश-६१, ६८, ६६,  
 ५२६, ६६०, ७१४, ७३६  
 अशोक के धर्मलेख-७८२

(आ)

आकक्षेय सूत-५०६  
 आगम और त्रिपिटक-७३१

आचारांग सूत्र-५२३, ५४२, ५४४, ५५५,  
 ५५८, ५६०, ५६६, ५६७, ५६८,  
 ५६६, ५७०, ५७२, ५७३, ५७५,  
 ५६२, ५६३, ६४१, ६४५, ७११

आजकल-१३५

आदि पुराण-५, ४२, १३६, ४८०, ५५५

आष्टे संस्कृत-इंग्लिश डिक्सनरी-५६६

आवश्यक चूण्डि-६, ६, २०, २३, २७, ३७,  
 ४६, ४७, ४८, ६८, ७२, ७३,  
 १२२, १२३, १२७, १५०, १६४,  
 २२८, २६८, ३०७, ३१५, ४८२,  
 ५३३, ५६२, ५६३, ५६४, ५६७,  
 ५६८, ५६६, ५७१, ५७२,  
 ५७४-५७६, ५७६, ५८०, ५८४,  
 ५८५-५६६, ६०१, ६०२, ६०६,  
 ६०८, ६२६, ६२७, ७००, ७१४,  
 ७४४, ७५६, ७६३

आवश्यक नियुक्ति-३, ४, ५, ६, १०, १३,  
 १४, २१, २३, २४, ३१, ३६,  
 ३७, ४५, ४६, ६७, ६६, ७३,

७४, ११४, ११५, ११६, १७३,  
२४१, ३०८, ४२८, ५४७, ५५७,  
५६५, ५७५, ५८३, ६०६, ६१३,  
६३४, ६६६, ६६६

भावश्यक मलयगिरि वृत्ति-१२, २४, ४८,  
७४, ११७, १२२, १२४, ५३३,  
५७५, ५७७, ६०३, ६०६

(इ)

इंडियन एन्टीक्वेरी-५००, ५०३  
इंडियन फिलोसोफी-५०३  
इंडियोलोजिकल स्टडीज-७१६

(ई)

ईशान संहिता-१३२

(उ)

उत्तर पुराण-४८०, ४८१, ४८३, ४८६,  
४८८, ४६१, ५३६

उत्तराध्ययन चूर्ण-६६१

उत्तराध्ययन सूत्र-३१५, ३३०, ३७०, ३७२,  
३७७, ३८२, ३८३, ४६३, ५३०,  
५४८, ६५०, ६५८, ७०६, ७२५

उपकेश गच्छ-चरितावली-५२५, ५२६

उपकेश गच्छ-पट्टावली-५२७, ५२६

उपामक दशांग सूत्र-६२८, ६५७, ६६६,  
६७५, ७३४

उववाई सूत्र-७०, ७४४, ७४५, ७४६

(ख)

ऋग्वेद-४२६

ऋषिभाषित सुत-४२६

(ए)

एकविंशतिस्थान प्रकरण-५६६

एन एड्वान्स्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया-७६६

७७४

एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडिया-७७६

एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड

एथिक्स-७३३

एन्सियेन्ट जोशाफी ग्रॉफ इण्डिया-५५८

एपिटोम ग्रॉफ जैनिज्म-७६८

एस. बी. ई. बोल्सूम-७६६

(ऐ)

ऐन्द्र व्याकरण-५६४

(ओ)

ओपपातिक सूत्र-६१६, ६३२, ६४५, ६६२,  
७४५

(क)

कठोपनिषद्-४७६

कल्पचूर्ण-७२८

कल्पसूत्र-१३, १४, २०, ४५, ६१, ६७,  
४२८, ४६३, ४६४, ५०१, ५२३,  
५४३, ५४५, ५५१, ५५६, ५६०,  
५६१, ६०६, ६१०, ६६०, ६६१,  
६६२, ६६४

कल्प किरणावली-३०

कल्पसूत्र मुबोधिनी टीका-३०, ३८, ४१,  
४६५, ५७५

कहावली-२१, २३

कार्म इन्स्क्रिप्शन्स इंडिकेशन्स-७७६

कालमाधवीय नागर खण्ड-१३२

कुवलय भाठा-६१७

कूर्म पुराण-१३७

केदार पट्टिक-७१६

केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया-५०३

(ख)

खनतरगच्छ बृहद् गुर्वावली-५४

(ग)

गीता-४७७

गीतम धर्मसूत्र-५३४

(घ)

अजयन् महापुरिस चरियं-१४६, १६७,  
१६६, १७२, १६६, १६६, २०२,  
२१८, २२४, २२७, २२८, २३८,  
२३६, २४२, २४५, २६२, २६७-

२६७, ३०७, ३१७, ३३२, ३४०,  
३४१, ३४३, ३४८, ३५०, ३५१,  
३५५, ३६०, ३६६, ३६९-३६३,  
४०७, ४१०, ४१८, ४१६, ४२६,  
४५८, ४६१-४६३, ४६६-४७२,  
४७६, ४८८, ४६१, ४६२, ६१२,  
६३२, ६६४, ७०७

चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स-७७३

चातुर्याम-५००

(छ)

छान्दोग्योपनिषद्-४७७

(ज)

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति-३, ७, ६, १८, १६, ४१,

४५, १२८, १३२, ५५५, ६२२, ६८८

जनन ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिमर्न्स

सोसायटी-७६६

जातक अटूठकथा-७४२

जीवन विज्ञान-५५८

जैन दर्शन-७०६

जैन परम्परा नो इतिहास-५२६

जैन साहित्य और इतिहास-७८४

जैन साहित्य का इतिहास-४३०

जैन सूत्र (एस. बी. ई.)-५०६

जाताधर्म कथांग सूत्र-१०, २८०, २८१,

२८६, २८७, ४०१-४०४, ४०६,

४०७, ४२७, ५१८, ५२०, ७४०

(त)

तत्त्वार्थ सूत्र-१०

तित्वांगाली पद्मत्रय-७६८, ७७३

तिलोथ पण्णाति-५, ८, १६२, १६८, १७३,

१७४, २२३, ४८०, ४८१, ४८६,

४६३, ४६४, ५६६, ६१६, ७७४

तीर्थंकर महावीर-५८६, ५६५, ६४८,

७४१, ७४२

तीर्थंकर वर्द्धमान-७३३

तीर्थोद्धार प्रकीर्ण-७७३

त्रिपिटक-७२०

त्रिलोकसार-७७४

त्रिपिटि शलाका पुष्प चरित्र-५१, ५४, ५६,

७२, ११७, ११८, १२२, १६२,

१६७, १७२, १७४, १६६, २०२,

२०५, २०८, २११-२१३, २१५,

२२१, २२४, २२५, २२८, ३१६,

३४५, ३४६, ३५१, ३५२, ३५५,

३५६, ३६०, ३६२, ३६८, ३७०,

३७६, ३७८, ३८०, ३८२, ३६३,

४०४-४०७, ४०६, ४११, ४१८,

४१६, ४२६, ४२७, ४६१, ४६२,

४७०, ४७२, ४७६, ४८०, ४८२,

४८४-४६०, ५३७, ५३८, ५४६,

५५१, ५५४, ५६०, ५६१, ५६३,

५७१, ५७४, ५७६, ५८५, ५८६,

५८६, ५६४, ६०८, ६१७, ६१६,

६२०, ६२२, ६२३, ६३२, ६५८,

६७६, ६८५, ६६४, ७००, ७३६,

७४१, ७६३, ७६८

(ध)

दर्शन दिग्दर्शन-७८४

दर्शनसार-५०६, ५०७

दश भक्ति-५५६, ५६०

दशवैकान्तिक सूत्र ३८३, ६८५, ७१३

दशाश्रुत मन्त्र-७८०

दाद लैह देर जैनाज (जर्मन) ६४७

दीर्घनिवाय-५००, ५०६, ७२६, ७३०,

७३२, ७३३, ७६७, ७७०

दी उत्तराध्ययन सूत्र इन्द्रोद्वेगन-४७६

दी फिलासाफीज ऑफ इण्डिया-१३६

दी वन्डर देट वाज इण्डिया-४७५

दी सेन्ट्रेट बुक्स ऑफ दी ईस्ट-४७५, ५०२,

५५६

दीवी भागवत-८

दुःख विभाव-६६१

(घ)

धम्मपद-१३५, ७२०

धर्म और दर्शन-७७४

धर्मरत्न प्रकरण-७६३

(न)

नन्दोपत्र भक्ति-६४

नय सूत्र-६४७

नारद पुराण-११३

नासदीय सूक्त-४७६  
 निरिद्यावलि-५०७, ५०९, ५१३, ५१६,  
 ६२३, ७४४, ७५४, ७६२  
 निर्युक्ति दीपिका-२३  
 निमोय चरित्र-६१७, ७२६

(घ)

पञ्चम चरित्र-६, ३००, ३१५, ३५५  
 पद्म चरित्र-४८०, ४८६  
 पद्म पुराण-३००, ५६६  
 परिशिष्ट पत्र-७६७, ७६८  
 पाण्ड्य लच्छी नाममाला-५८  
 पाणिनी कालीन भारतवर्ष-७२६  
 पातञ्जल महाभाष्य-७२०  
 पातञ्जल योग सूत्र-७०९  
 पार्श्वचरित्र-४६४, ४६८, ४६९  
 पार्श्वनाथ का चातुर्थीय धर्म-४६८, ५००,  
 ५०५, ५०६

पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास-५२६,  
 ५३०

पार्श्वनाथ चरित्र-४८३, ४६८, ४६९  
 पत्सनाह चरित्र-४०९, ४०२, ४०८, ४६१,  
 ४६२

पासादिक सूक्त-५०६

पौलिकाल हिन्दी आफ एन्सियेण्ट इण्डिया-  
 ७७४

प्रबुद्ध कर्नाटिका-७७६, ७८०

प्रभावक चरित्र-५६

प्रभास पुराण-४३०

प्रवचन सारोद्धार-१७४, २२३, ४२८,  
 ५०२, ७३८, ७३९

प्रश्न व्याकरण सूत्र-७२, ७३, ७६८

प्राकृत भाषाओं का व्याकरण-६१७

प्राकृत साहित्य का इतिहास-६१७

प्राचीन भारत-७०३

(ङ)

बाल्मीकीय रामायण-५०२

विलोमस आफ दी बौद्ध-५०४

बुद्धिष्ट इण्डिया-५३५

ब्रह्माण्ड पुराण-७३, १३७

ब्रह्मवर्त पुराण-१३३

(च)

भगवती सूत्र-५५७, ५८५, ५८६, ५९७,  
 ६०५, ६१६, ६२०, ६२२, ६२५,  
 ६२८, ६२९, ६३१, ६३२, ६३७,

६३८, ६४०, ६४३, ६४५, ६४९,  
 ६५५, ६५८, ६६०, ६६२, ६६५,  
 ६६८, ६७१-६७३, ७७५, ६८५,  
 ६८७, ७१०, ७१७, ७२०, ७३०,  
 ७३२, ७३६, ७३७, ७४६, ७५४,  
 ७५५, ७५७

भगवतीसूत्र अभयदेवीया टीका-६४५

भगवान् बुद्ध-७७०, ७७१

भगवान् महावीर-६७३

भरनेश्वर वाङ्मयी वसि-६२०, ६२४, ७६२

भारत का बहत्तु इतिहास-७७३

भारतीय इतिहास एक टूरिस्ट-४७५, ७४२

भारतीय इतिहास में जैन धर्म का योगदान-  
 ५०७

भारतीय प्राचीन लिपि माला-७७५

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान-  
 ४७७

भाव प्रकाश निष्पत्ति-६४६

भाव संग्रह-७२५

मज्झिम निकाय-५००, ७६०, ७२६, ७३०,  
 ७३२, ७३३, ७३७

मत्स्य पुराण-८

मनुस्मृति-७, २१, १२८, ५३३, ५३४

महापरिनिष्वाण सूक्त-५५८, ७७०

महा पुराण-६, १४, २०, ३०, ४७, ५७,  
 ५८, ११७-११९, १२४, १३६,  
 ४८१, ४८२, ४८६, ४८९

महाभारत-३२४-३२६, ४२६, ४३०,  
 ४३१, ४३७, ४७०

महावंश-५२७

महावीर कथा-७३३

महावीर चरित्र-५४७, ५४९, ५५०, ५६०,  
 ६१२, ६१६, ६१७, ६२०, ६२६,  
 ६६०, ६६१, ७२५, ७४०, ७४१,  
 ७७४

महावीर नो संयम धर्म ७३१

महासिंहनाद सूक्त-५००



मार्कण्डेय पुराण-८, १३६  
मूलाचार-७१४  
मोक्षमार्ग प्रकाश-४३०  
मोन्योर-मोन्योर विलिय संस्कृत इंग्लिश  
डिक्शनरी-७

(घ)

यजुर्वेद-४३०  
यजुर्वेद संहिता-४३०

(र)

रघुवंश महाकाव्य-५५६  
रत्नकरण्ड श्रावकाचार-५०६  
राज वास्तिक-५०४  
राय प्रसेखी सूत्र-५३०  
रिव्यू आफ फिलोसफी एण्ड रिलीजन-६४७

(ल)

लाइफ आफ गौतम-७७६  
लिंग पुराण-१३८  
लोक प्रकाश-५६६

(व)

वण्डर डेट वाज इण्डिया-४७५  
वसिष्ठ स्मृति-५३४  
वसुदेव हिण्डी-५१, ११३, २३८, २३६,  
३१६, ३१८-३२१, ३२४, ३२६,  
३४२, ५४७  
वाक्सनेयि माध्यंदिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता-  
४३०

वायु पुराण-१३७, ७८१-७८३  
वाराह पुराण-१३७  
वाल्मीकि रामायण-५०२  
विचार श्रेणि-७६६, ७७३  
विनय पिटक-७३०  
विपाक सूत्र-६२३, ६६१  
दिविष तीर्थकल्प-६८६, ६९०  
विशेषावश्यक भाष्य-३८, ६४६, ७११,  
७१२, ७१५-७१८  
विष्णु पुराण-१३२, १३३, १३८  
वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना-  
७६६

वीर विहार मीमांसा-६०८  
वैजयन्ती कोष-४८७, ६४६

बृहत्कल्प-६१७, ६२४  
बृहदारण्यक उपनिषद्-५०२, ५०४  
व्याख्या प्रज्ञप्ति-६१७

(श)

शब्दरत्न समन्वय कोष-४८७, ५६६  
शिव पुराण-१३५  
श्रमण भगवान् महावीर-७०१, ७०२  
श्रीमद्भागवत-८, २०, ११३, १२०, १३३-  
१३५, ३३१, ४१४, ४३२, ५४६,  
७७८, ७७६, ७८०

(ष)

षट्सण्डागम-६१५  
षडदर्शन प्रकरण-५१३

(स)

संयत्त निकाय-७७१  
सत्तरिसय द्वार-१६८, १७३, १७४, १६८,  
२२३, २८५, २६६, ३०८,  
सप्ततिशत स्थान-७१३  
समवायंग-६, ३८, ६४, ६६, १६२, १७२,  
२४१, २६०, ४११, ४६४, ६१६,  
६६१, ६६४, ६६५, ७०१, ७३७  
समागम सुस्त-७६६  
सरस्वती गच्छ की पट्टावली-७६६  
साइनो इण्डियन स्टडीज-५५८  
सामन्न फल सुत्त की टीका-७२६  
सिरिपासनाह चरितं-४८२, ४८८, ४८६  
सुँख विपाक-६६१  
सुत्तनिपात-७७२  
सुत्तागम-३  
सुमंगल विलासिनी-७२६  
सूत्र कृतांग-६६६, ६६७, ७३१, ७३५,  
७३७  
सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट-४७५, ५०२,  
५५६  
सौभाग्य पंचम्यादि धर्मकथा संग्रह-६६२  
स्कन्ध पुराण-१३८  
स्थानांग सूत्र-३, ६, ५०, १३०, १८७,  
६४४, ६४५, ६८५, ६६४, ७०८,  
७१०, ७१४, ७३७

स्थानांग सूत्र की टीका-६४४, ६४५  
(ह)

हरिमन्त्रीय भावशयक-७१६

हरिवंश व्यास (व्यास)-४३१-४३४, ४३६  
४३७

हरिवंश पुराण (त्रिनसेन) ४५, ५१-५३,  
७४, १६२, १७२, १७४, २२३,  
३४१, ५५६,

हिन्दी विश्वकोष-८

हिरण्यगर्भ सूक्त-४७६

हिस्टोरिकल बिगिनिंग ग्रॉफ जैनिज्म-४७७

हिस्ट्री ग्रॉफ इण्डिया (एडवान्स्ड)-७६६

हिस्ट्री ग्रॉफ कैनानिकल लिटरेचर ग्रॉफ  
जैनाज्-६४७

हिस्ट्री एण्ड डॉक्टराइन्स ग्रॉफ आजीवकाज्-  
७३५

### [ घ ] मत, सम्प्रदाय, बंश, गोत्रादि

(अ)

प्रक्रियावादी-७३७

प्रज्ञानवादी-७३७, ७३८

(आ)

आजीवक-५०२, ६५६, ७२०, ७२६,  
७२८-७३६, ७३६.

(इ)

इम्यकुल-४२०

इस्वाकु बंश-२३, ४८२, ५६०

(ई)

ईसरमत-७३६

(उ)

उग्रबंश-४८२

उग्रभोगबंश-४२२

उलूम-७३६

(क)

कपिल मत-७३६

कम्मावादी-७३६

कविल-७३६

कावाल-७३६

कावालिय-७३६

काश्यप गोत्र-४८२

कियावादी-७३७, ७३६

(ग)

गोशालकमती-५०२

गौतम गोत्र-३१५, ४८२

(घ)

चरग-७३६

चौलुक्य कुल-७६८

(ग)

तच्चन्निय-७३६

तिम्बती परम्परा-७७७

तिम्बती बौद्ध परम्परा-७८०, ७८१

(द)

दशार्ह-३४३, ३४४, ३४६, ३४८,

दिगम्बर परंपरा-१४, २०, ३०, ५१, ५२,

६१, ६५, ७२, २१८, ४८७,

४६३, ५३६, ५४०, ५४५, ५५५,

५५६, ५६०, ५६५, ६१४, ६६६,

७३४, ७७४

(म)

निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय-४६६, ५०० ५०२, ५०३

(न)

पासरथ-७३५, ७३६

(ब)

बर्मी बौद्ध परम्परा-७७६, ७८०

बहुरत सम्प्रदाय-७१७

बुलिगला-५३५

बौद्ध-१३५, १३६, ४७५, ४६६, ५००,

५०४, ५०५, ५२७, ७३०, ७३३,

७३४, ७४३, ७५३, ७६६, ७६७,

७६६, ७७०, ७७६-७८१, ७८३,

७८४

(भ)

भरल-७८४

मुण्डक सम्प्रदाय-५०४

(घ)

यदुवंश-४०७, ४२६

यादववंश-४३१, ४३३, ४३७

(ङ)

लिंगजीवी मत-७२६

लिच्छवी-७५१, ७८४

लोयावादी-७३६

(च)

चञ्जि-७६६, ७६७

विनयवादी-७३७, ७३८

वीतहोत्र-७८१

(छ)

शाक्य मत-७३६

शिशुनाग वंश-७३६

श्वेताम्बर परम्परा-५१, ४८७, ५३६,

५४०, ५५५, ५६०, ५६५, ७३४,

७७४

(ज)

सुतिवादी-७२६

(झ)

हरिवंश-१३०, ३१५, ३१७, ३१८, ३२६,

५४७, ५४८

## संज्ञक ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
अंतगङ्ग वशा	१. अमोलक ऋषिजी महाराज २. आ० हस्तीमलजी महाराज
अग्निपुराण	व्यास
अमृतरोचकाद्वय	श्री घासीलालजी महाराज
अभिधान चिन्तामणि	आ० हेमचन्द्र
अभिधान राजेन्द्र कोष-भाग १-७	राजेन्द्र सूरि
अमरकोष	अमरसिंह
अरिहन्त अरिष्टनेमि और वासुदेव श्रीकृष्ण	श्रीचन्द रामपुरिया
अशोक के धर्म लेख	जनार्दन भट्ट
आगम और त्रिपिटक-एक अनुशीलन	मुनि श्री नगराजजी
आचारसंग्रह टीका	
आचारसंग्रह सूत्र, भाग १ व २	सम्पा. पुष्प भिक्खु
आषारसंग्रह सूत्र टीका	
आदिपुराण	आचार्य जिनसेन
आष्टे की संस्कृत इंग्लिश द्विवचनरी	
आर्य मंजूश्री	
आवश्यक-चूणि दोनों भाग	आचार्य जिनदास गरिण
आवश्यक नियुक्ति	मलयगिरि
आवश्यक-नियुक्तिदीपिका	मारिक्य शेखर
आवश्यक मलयवृत्ति, भाग १-३	मलयगिरि
आवश्यक हारिभद्रोप	
इण्डियन एन्टीक्वेरी, वोल्यूम ६	
इण्डियन फिलोसोफी, वोल्यूम १	डॉ० राधाकृष्णन्
ईशान संहिता	
उत्तर पुराण	आचार्य गुणभद्र, भारतीय ज्ञानपीठ. काशी
उत्तराध्ययन सूत्र	सं० घासीलालजी महाराज
उपासकवशा (टीका)	अभयदेव सूरि
उववाई (टीका)	” ”
ऋग्वेद	
ऋग्वेद-संहिता	
ऋग्वेद-एक अनुशीलन	देवेन्द्र मुनि शास्त्री
एकविंशतिस्थान प्रकरण	
एन एड्वांस्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया	आर. सी. मजूमदार, एच. सी. राय राय चौधरी और के. के. दत्ता

ग्रन्थ का नाम

एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स  
 एन्साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डिया  
 एपिटोम ऑफ जैनिज्म, एपेंडिक्स ए. पी. ४  
 ओपप्रातिक सूत्र  
 कम्पैरेटिव स्टडीज वी परिनिव्वान सुत्त एण्ड इट्स  
 चाइनीज वर्शन

कल्प-समर्थन

कल्पसूत्र-प्रथेजी अनुवाद  
 कल्पसूत्र (गुजराती)  
 कल्पसूत्र, हिन्दी अ०  
 कल्पसूत्र किरणावली  
 कल्पसूत्र सुशोधा  
 कल्पसूत्र (बंगला)  
 कालमाधवीय नागर खण्ड

कर्मपुराण

केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १

गौतम धर्मसूत्र

चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम

अउपपन्न महापुरिस चरियं

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति

जनल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी

जाताधर्मकथा-सूत्र

जातिक अट्टकहा

जैन-वर्शन

जैन धर्म का संक्षिप्त इतिहास

जैन धर्म नो प्राचीन इतिहास

जैन परम्परा नो इतिहास भाग १ व २

जैन सूत्र (एस. बी. ई.), भाग १

तित्थोगोपालीपट्टनघ

तिस्रोप-परणत्ति, भाग १ व २

त्रिवण्टिहालाकापुक्ख चरित्र, पर्व १-१०

तीर्थंकर महावीर, भाग १ व २

तीर्थंकर बर्धमान

वर्शन बिरवर्शन

वर्शनसार

ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम

डॉ. हार्नेले

आ० घासीलालजी

Faibh

मुनि श्री पुण्य विजयजी

श्री देवेन्द्र मुनि

वसंतकुमार

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी

आचार्य शीलांक

आ० अमोलक ऋषिजी

श्री घासीलालजी महाराज

महेन्द्रकुमार

कामता प्रसाद

पं० ह्रीरालाल

त्रिपुटी महाराज

आचार्य यतिवृषभ

आ० हेमचन्द्र

विजयेन्द्र सूरि

श्रीचन्द्र रामपुरिया

देवसेनाचार्य

## ग्रन्थ का नाम

दशबेकालिक अगस्त्य चूर्ण

दशभक्ति

ही फिलोसफी ऑफ इण्डिया

धम्मपद अट्टकहा

धर्मरत्न प्रकाश

नगदीश्वर भक्ति

नारद पुराण

निरयावसिका

निशीथसूत्र चूर्ण

पउम-चरियं

परिशिष्ट पर्व

प्रवचन सारोद्धार वृत्ति, पूर्व और उत्तर भाग

प्रश्न व्याकरण

प्राकृत साहित्य का इतिहास

पाणिनिकालीन भारत

पातंजल महाभाष्य

पार्श्वनाथ

पार्श्वनाथ का चातुर्वर्ग धर्म

पार्श्वनाथ चरित्र

पार्श्वनार्थ चरित्र

पासनाह चरियं

पोलिटिकल, हिस्ट्री ऑफ एन्शिसेण्ट इण्डिया

ब्रह्माण्ड पुराण

बालकाण्ड (वाल्मीकीय रामायण)

बिलिंग्स ऑफ बुद्धा, भाग २

भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास,

भाग १ व २

भगवती सूत्र, हिन्दी अ०

भगवती सूत्र अभयदेवीया वृत्ति

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर (अंग्रेजी में) १२ जिल्दें

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध

भरतेश्वरबाहुबली-वृत्ति

भागवत श्रीमद्

भारत का वृहत् इतिहास

## ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम

आचार्य पूज्यपाद

आचार्य बुद्धघोष

मुनि पुष्य विजयजी

आ. हेमचन्द्र

सिद्धसेन सूरि

वासुदेवशरण अग्रवाल

श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री

धर्मानन्द कौशाम्बी

सकलकीर्ति

अभवदेवसूरि

पद्मकीर्ति

एच. सी. राय चौधरी

मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी

आगमोदय समिति

मुनि कल्याण विजयजी

रत्नप्रभ विजयजी

कामता प्रसाद जैन

व्यास

नेत्र पाण्डे

ग्रन्थ का नाम

भारतीय इतिहास-एक दृष्टि  
भारतीय प्राचीन लिपिमाला

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान

भाषा संग्रह

मज्झिम निकाय

मनुस्मृति

महापुराण

महाभारत, १ से १८ पर्व

महावीर कथा

महावीर चरित्र

महावीर चरित्रं

महावीर नो संयम धर्म

मूलाक्षर

मोन्डोर मोन्डोर संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी

यजुर्वेद

योगसूत्र

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

रामपसेली

लिंगपुराण

लोक-प्रकाश

वशिष्ठ स्मृति

वसुदेव हिण्डी प्रथम खण्ड

वसुदेव हिण्डी, द्वितीय खण्ड

बृहत्साल्य भाष्य

बाजसनेयि माध्यंदिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता

वायुपुराण

बाराहपुराण

विचार श्रेणी

विपाकसूत्र

विविध तीर्थकल्प

विशेषावश्यक भाष्य

विशेषावश्यक बृहद् वृत्ति

विष्णु-पुराण

वीर विहार भीमांसा

ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का

रायबहादुर पं० गौरीशंकर  
हीराचन्द श्रोभा

आचार्य जिनसेन

व्यास

पं० गोपाल दास

आ० नेमिचन्द्र

आ० भृगुभद्र

सर एम. मोन्डोर

दामोदर सातवलेकर संस्करण

पतंजलि

संघदास गणि

॥

हेमचन्द्र सूरि

व्यास

ग्रन्थ का नाम

जीर निर्धारण संबन्ध और जैन कालगणना

वैजयन्ती कोष

शिवपुराण

षट् शतिकागम

सत्तरिसय प्रकरण

समवायांगसूत्र

समवायांग वृत्ति

स्कन्ध-पुराण

स्थानांगसूत्र

स्थानांगसूत्र-टीका

साइनो इन्डियन स्टडीज, बोम्बेयूम १ जुलाई १९४५

सुसामिवात

सुसामने

सुमंगल विलासिनी (दीर्घकाय भट्टकहा)

सूत्र कृतांग

सेन्ट्रल बुक्स ऑफ बी ईस्ट

हरिवंशपुराण

हरिवंशपुराण

हिस्टोरिकल बिगिनिंग्स ऑफ जैनियम

हिस्ट्री एण्ड डोक्टरीन ऑफ आजीवकाज

ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम

मुनि कल्याण विजयजी

सोमतिलक सूरि

पं० चासीलालजी द्वारा सम्पादित

अमोलक ऋषिजी

धर्मविष्ठा फूलचन्दजी मह

आचार्य जिनसेन

व्यास

ए. एल. बासम





परस्पररोपग्रहो जीवानाम्





प्रकाशक

जैन इतिहास समिति  
चौड़ा रास्ता, जयपुर - 302 003

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल  
बापू बाजार, जयपुर-3 फोन : 565997